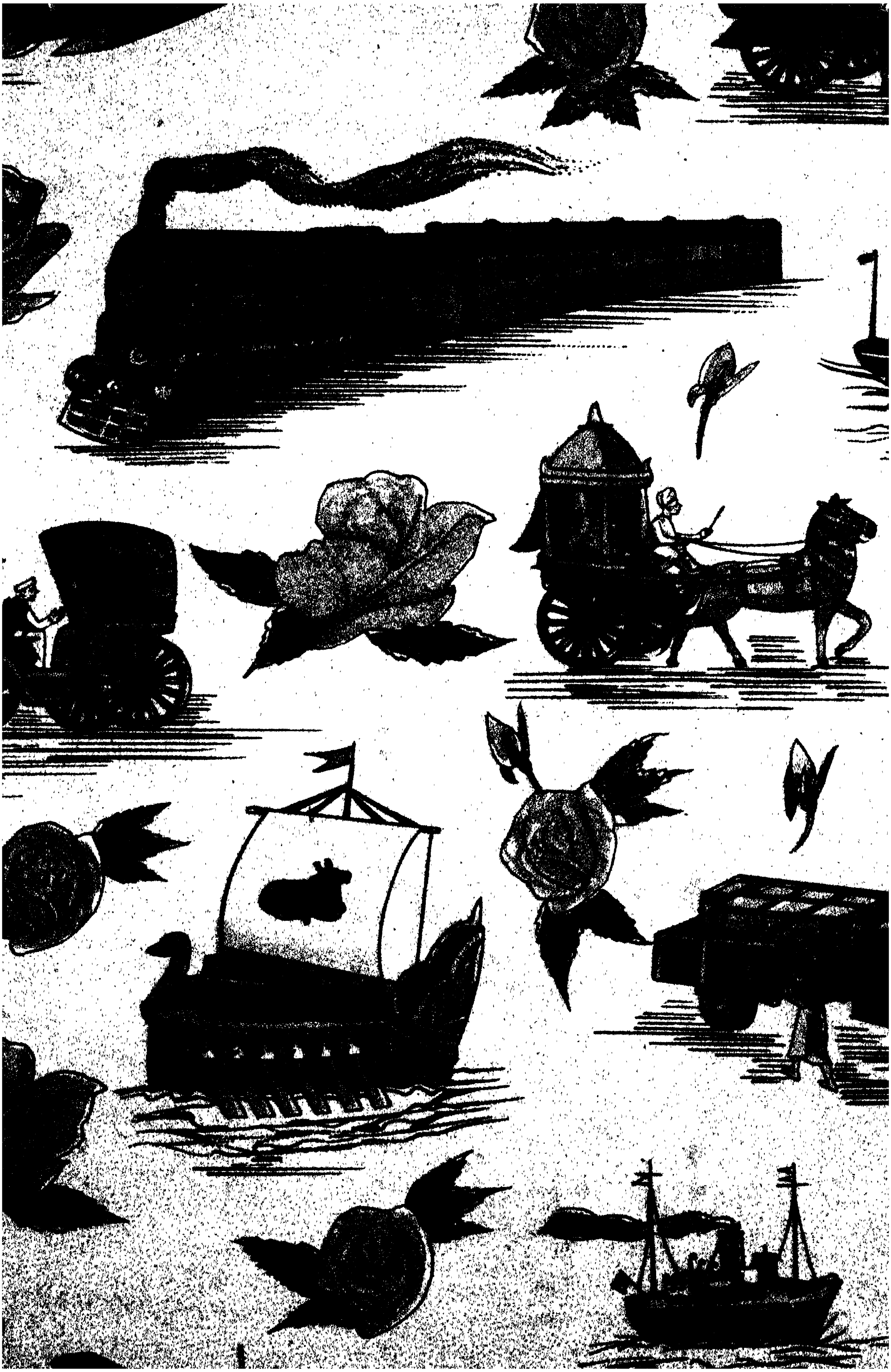
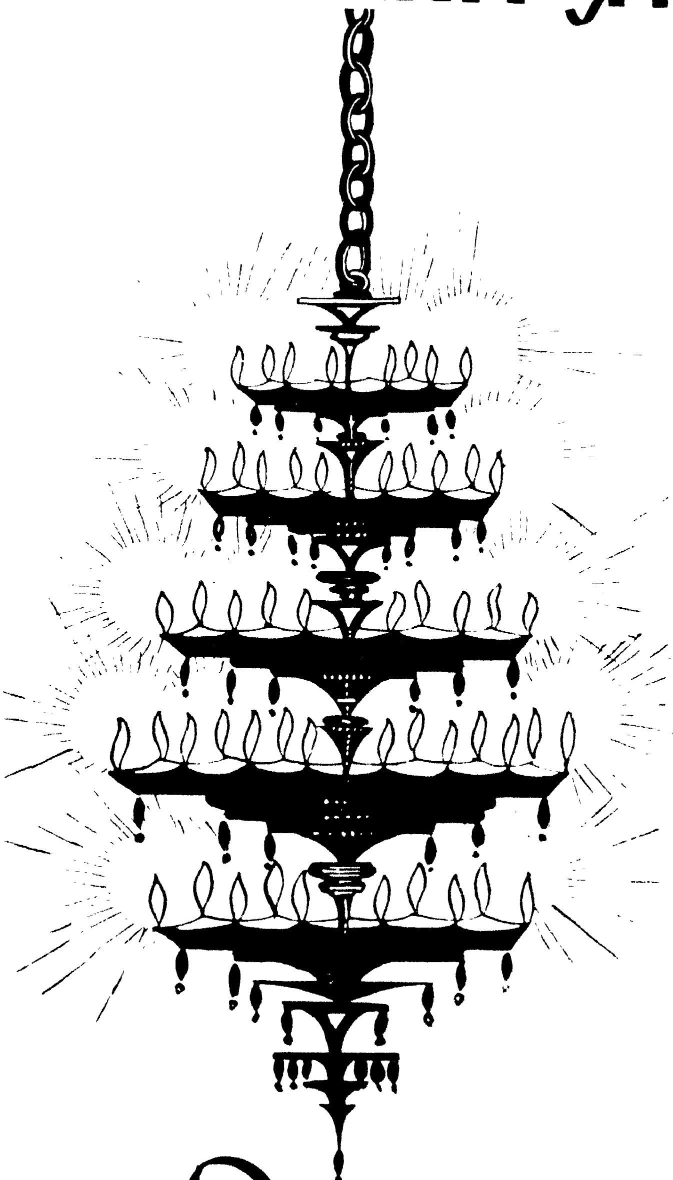






नयी सामाजिक क्रान्ति के स्रष्टा



जगजीवन, जुग जुग जियो

देश गौरव

जगजीवनराम अभिनन्दन ग्रन्थ

| विगत दो शताब्दियों की सामाजिक घटनाएँ एवं तत्सम्बन्धी आन्दोलनों का मार्ग-दर्शन तथा राष्ट्र की ज्वलंत समस्याओं का विशद विवेचन |

सम्पादक

जी० एस० पथिक

१९५९

जगजीवनराम अभिनन्दन समिति
कलकत्ता

प्रकाशक : स्वामी सरूपानन्द
जगजीवनराम अभिनन्दन समिति,
३५, दर्पनारायण टैगोर स्ट्रीट, कलकत्ता

55·00

आवरण मुद्रक
फाइन आर्ट प्रिण्टिंग कम्पनी
६९, सी० धर्मतल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता

मुद्रक : ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा० लि०
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता – ७

प्राक्कथन

भारतीय-स्वातंत्र्य-संग्राम के भीषण संघर्ष के बीच में, हमने सपने देखे थे, नक्शे खींचे थे और यह कहा था कि स्वतंत्र होने पर हम ऐसा नया भारत बनाएँगे, ऐसे समाज का निर्माण करेंगे, जिसमें मानव मानव में भेद न रहेगा, न कोई ऊँच होगा, न कोई नीच होगा, न कोई कुलीन होगा, न कोई हीन होगा। जातिगत भेदभाव का नाम शेष हो जाएगा। रूढ़ियाँ, प्रथाएँ और अंधविश्वास जो समाज के जीवन में सदियों से बने हुए हैं, वे सब मिट जाएँगे। नया समाज इन सब से मुक्त होगा। तब हमने शिखर पर से यह भी उद्घोषित किया था कि हमारी नई व्यवस्था में न कोई गरीब होगा और न कोई अमीर होगा। ये छोटे-बड़े के भेद न रहेंगे। धन और सम्पदा कुछ परिवारों में जमा न रहकर समाज में सब के लिए वितरित होगी। प्रत्येक जन राष्ट्रीय सम्पदा का समान स्तर पर उपभोग करने का हकदार होगा। तब फिर समाज में क्षुधा, भुखमरी, बेकारी, दीनता, हीनता, अशिक्षा और अन्य निर्बलताएँ सदा के लिए लोप हो जाएँगी। अन्न, वस्त्र और छाया जीवन की प्राथमिक वस्तुएँ सब के लिए सुलभ होंगी। हरएक व्यक्ति की जिन्दगी एक इन्सान की तरह बीतेगी। हमारी इन प्रेरणाओं से, इन उद्‌गारों से, स्वतंत्रता के युद्ध में मोर्चे पर खड़े हुए लाखों और करोड़ों दीवाने स्त्री-पुरुष जूझ पड़ते, बलिदान देते, कुर्बानियाँ देते और कष्ट पर कष्ट झेलते। राष्ट्र-पिता गांधीजी ने भी कहा था—'मेरे सपनों का भारत।' महात्माजी के ऐसे ही आश्वासनों पर देश आगे बढ़ा था। इन संदेशों से लोगों में जोश आता, वे उमड़ पड़ते और इस प्रकार उन्हें जूझते देख कर शत्रु कांप उठता था। इस युद्ध में जूझने वाले कौन थे ? वे ही—समाज के परित्यक्त दीन-हीन पुरुष और चहरदीवारियों में बन्द रहनेवाली नारियाँ।

एक दिन आया, देश स्वतंत्र हुआ। पर हमने हताश होकर क्या देखा ? देखा, अपने कर्तव्य के प्रति पराङ्मुखता। हमारे सपने, हमारे नक्शे और हमारे इकरार साकार रूप न ग्रहण कर सके। दुर्भाग्यवश हम पहले से भी अधिक त्रस्त हो गए। सामाजिक और आर्थिक जीवन के परिवर्तन के लिए हमने जनता को जो वचन दिए थे, जो विश्वास दिए थे, उन्हें हम पूरा करने में आगे न बढ़े। जिन तरीकों से समाज का नया निर्माण होना था, कायापलट होनी थी, उनमें से एक को भी हमने नहीं अपनाया। जिस पुराने छकड़े पर समाज जा रहा था, आजादी के बाद भी उसी पर जा रहा है। केवल अन्तर इतना पड़ा कि हमारे अपने आदमियों के हाथ में बागडोर आ गयी है। हमने हरिजन और स्त्रियों के दम दिलासे के लिए समाज सुधार संबंधी कई कानून बनाए। ये सब कानून किताबों में दर्ज हैं। पर क्या इन कानूनों से समाज का कायापलट होना संभव है ? उनसे समाज बदल सकता है ? कहना न होगा कि, जिनके हाथ में सामाजिक और आर्थिक सत्ता है, उनके कानों में जूँ तक न रेंगी। ये कानून उन्हें जरा विचलित न कर सके। इसलिए समाज के नवनिर्माण के लिए जो क्रान्ति अपेक्षित थी, उस ओर हमारा कदम न बढ़ा। गांधीजी ने अहिंसक क्रान्ति द्वारा ही राष्ट्र में नवचेतना उत्पन्न की थी। भयभीत लोगों का भय छुड़ाया था, निर्भयता पैदा की थी, और गिरी हुई अवस्था से हमें ऊपर उठा कर खड़ा किया था। आज की पीढ़ी सोच नहीं सकती कि १६२१ में उस महापुरुष ने देश में किस विद्रोह की आग पैदा की थी। गांधीजी ने समाज के जो बंधन तोड़े थे, उससे दलित वर्ग आगे आकर खड़ा हो सका था और घरों में बंद स्त्रियाँ बाहर निकल सकी थीं। वैसी ही क्रान्ति की समाज अपेक्षा करता रहा।

देश की नब्बे प्रतिशत जनता दीन-हीन बनी हुई है। गरीबी, अज्ञानता और सामाजिक अत्याचारों से ग्रस्त जिन्दगी बिताने के लिए लोग मजबूर किए गए हैं। ऊँच-नीच के जातीय भेदभाव की खाइयाँ पाटने का हमने पग नहीं बढ़ाया। हमने स्त्री-पुरुष के समान अधिकार तो माने, किंतु पुरुष को हमने इतना दुरुस्त नहीं किया, जिससे वह कभी दहेज लेने का साहस न करता। दहेज प्रथा जारी रहने देकर हमने स्त्री-जाति

की परम हीनता प्रकट की। इन सब कार्यों से हम अपनी क्षुद्रता प्रकट कर रहे हैं। हम अफ्रीका और अमेरिका के काले लोगों के प्रति होनेवाले जघन्य अत्याचारों पर रोष प्रकट करते हैं, लेकिन क्या हम अपने तईं यह भूल जाते हैं कि सहस्रों वर्षों से जाति प्रथा को जीवित रखकर हम देश की बहुसंख्यक जनता को यातना-शिविरों में बंद कर रखे हुए हैं। एक ओर सामाजिक क्षेत्र में करोड़ों स्त्री और पुरुष जाति भेद, कुप्रथाएँ और अमानवीय व्यवहारों के शिकार बने हुए हैं, तो दूसरी ओर आर्थिक क्षेत्र में दीन-हीनों का शोषण जारी है। इस सन्निधि में हमने समाज को समाजवादी बनाने का संकल्प किया है। पर साथ ही यह कहा गया कि अभी राष्ट्रीय सम्पदा का वितरण होकर क्या होगा? उत्पादन बढ़ने पर ही समाजवाद स्थापित हो सकेगा। मगर आज उत्पादन उत्तरोत्तर बढ़ने पर गरीबी और अमीरी की खाई पहले से अधिक चौड़ी होती जा रही है। स्वतंत्रता के उपरांत हमारे समाजरूपी शरीर में और कई नए रोग लग गए हैं। या यों कहिए कि जो रोग दबे पड़े थे, वे उभर आए हैं। वैयक्तिक स्वच्छंदता, विभिन्न संस्कृतियाँ और जातीयता तथा भाषा के संरक्षण के नाम पर एक राष्ट्रीयता के निर्माण में रोड़े डाले जा रहे हैं। अंगरेज तो चले गए, पर वे जाति भेद, भाषा भेद और प्रान्त भेद के जो तत्व पैदा कर गए वे आज हम में तेजी से पनप रहे हैं। यह हम मानते हैं कि इन सब रोगों का मूल कारण जातिभेद है, क्योंकि ये सब रोग हिन्दुओं में पैदा हुए, अन्य जातियों में नहीं। जिस दिन जाति भेद मिट जाएगा, समाज में ये रोग न रहेंगे, उस दिन कन्याकुमारी से हिमालय तक एक जातीयता, एक संस्कृति और एक भाषा गूँज उठेगी।

जो लोग रूढ़िवाद और जातिभेद से चिपके हुए हैं, उन्हें समय चुनौती दे रहा है, और वह उन्हें भी चुनौती दे रहा है, जो अपने जीवन और वर्ग का लक्ष्य केवल लाभार्जन (Profit motive) बनाए हुए हैं और समाज में आर्थिक विषमता की खाई पैदा किए हुए हैं। समाज के इन तत्वों को देखना चाहिए कि अब हवा का रुख किधर है? समाज गतिशील है, वह कभी स्थिर नहीं रहता है। यदि उसकी गतिशीलता मिट जाए, तो वह नष्ट हो जाता है। उसकी सभ्यता, उसकी संस्कृति और उसका धर्म कुछ भी नहीं रहता है। हिन्दू समाज में अनेक रोगों के होते हुए भी गतिशीलता बनी रही है। इसी से समाज नष्ट होने से बचा है। और इसका श्रेय उन महापुरुषों और सुधारकों को है, जो इसे गतिमान रखते हुए आए हैं।

जिस बङ्ग प्रदेश में आज हम देशगौरव जगजीवनरामजी का अभिनन्दन कर रहे हैं, उसने अतीत में न केवल देश का महान राजनीतिक नेतृत्व किया, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना भी दी। इसी प्रदेश के प्राङ्गण में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानंद जैसी बिभूतियाँ पैदा हुईं, जिन्होंने समाज के नव-उत्थान का महा मंत्र दिया। राजा राममोहन राय नए भारत के पिता माने गए। उन्होंने जाति भेद तथा धर्म और संस्कृति के तंग दायरों से निकल कर समाज को नया रूप दिया। बंगाल सामाजिक आन्दोलन में सदा गतिशील रहा। विगत काल में भी कलकत्ते से अछूतोद्धार और सामाजिक आन्दोलन को बड़ा बल मिला। अछूतोद्धार के लिए इस क्षेत्र के नेतृत्व की सेवाएँ भुलायी नहीं जा सकतीं। यद्यपि देश के सामाजिक आन्दोलन में मेरा कार्यक्षेत्र कई प्रदेशों में रहा, किंतु कलकत्ते के आन्दोलन से मेरा और अन्य साथियों का सदा सहयोग रहा। धार्मिक अंध विश्वास के उन काले दिनों में हम सबको कितना विरोध सहना पड़ा, कितनी प्रतारणाएँ, कितनी लांछनाएँ और कितनी ताड़नाएँ सहनी पड़ीं, उन सब का यहाँ उल्लेख करना सम्भव नहीं है। मेरे एक युवा साथी का जीवन अछूतोद्धार की वेदी पर बलिदान हो गया, जो सवर्ण हिन्दू था और मारवाड़ी समाज का अंग था। अछूतों और विधवाओं की रक्षा के लिए बड़ा बाजार के अंचल से जो काम हुआ, उसमें बिड़ला परिवार का बड़ा सम्बल प्राप्त हुआ। देश के जिस-जिस भाग में अछूतोद्धार आन्दोलन में संकट खड़े होते, आर्थिक सहायता तथा कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती, यहाँ से ही धन जन सब कुछ पहुँचता। गांधीजी और महामना मालवीयजी के विरोध में होनेवाले आन्दोलनों का भी संगठन यहीं हुआ था, और देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ यहीं से साधन और स्रोत पाती थीं। इसके सिवा सामाजिक आन्दोलन में भी इस क्षेत्र ने देश का नेतृत्व किया। ये सामाजिक

आन्दोलन इतने भीषण थे, उनका इतना भारी प्रतिरोध था कि आज अनुमान नहीं किया जा सकता। तब से आज समाज बहुत आगे बढ़ गया है। आज तो धार्मिक और जातीय संस्थाओं का लोप हो गया है। उनके पनपने का वातावरण ही मिट गया। कलकत्ते का क्षेत्र विशृंखलित हो गया। यदि यहाँ से नए समाज के निर्माण के लिए सामाजिक आन्दोलन प्रारंभ हो तो देश में पुनः चेतना आ सकती है। इसलिए यह सुझाव मेरे सामने आया कि इसका सूत्रपात देशगौरव श्री जगजीवनरामजी के अभिनन्दन से किया जाए। उनका नेतृत्व हिन्दू-जाति के नव-निर्माण के लिए वरदान है। तब मैंने अपने जीर्ण-शीर्ण स्वास्थ्य और कई कार्यों में संलग्न रहने पर भी अभिनन्दन ग्रंथ के सम्पादन का भार लिया।

जगजीवनरामजी का अभिनन्दन सामाजिक आन्दोलन का एक निमित्त है, उनके अभिनन्दन के रूप में हम समाज की गतिविधि का लेखा-जोखा लगाते हैं कि एक वर्ष में वह कितना आगे बढ़ा है और कितना पीछे है। हमने इस अभिनन्दन को सामाजिक आन्दोलन का प्रतीक मान लिया है। अन्यथा, जगजीवन रामजी मान-सम्मान से परे हैं, उनका सम्मान इस बात में है कि हम समाज को कितनी गतिविधि दें। अतः इस अभिनन्दन ग्रंथ में जगजीवनरामजी के व्यक्तिगत जीवन की चर्चा के साथ समाज की रचना और विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस ग्रंथ की विभिन्न सामाजिक रचनाएँ और सुधारकों के जीवन से हमें नई प्रेरणाएँ मिलें, नया मार्ग दर्शन मिले और हम यह सोच सकें कि कैसे आगे बढ़ें, कैसा क्षेत्र तैयार करें। इन सब लक्ष्यों से ग्रंथ का निर्माण किया गया है। इस कार्य की सफलता का सारा श्रेय विद्वान लेखकों और सुधारकों को है, जिनकी रचनाओं से यह ग्रंथ अलंकृत हुआ है। और इसमें जो कुछ त्रुटियाँ रह गयी हैं, उन सब के लिए मैं उत्तरदायी हूँ। इसका मुझे बड़ा खेद है कि अनेक सज्जनों की रचनाएँ ग्रंथ में स्थान न पा सकीं। एक ही विषय की अनेक रचनाएँ आने से, उनमें से किसी एक का ही दिया जाना संभव था। फिर ऐसे कई विषय थे, जिनका इस ग्रंथ में मैं विवेचन चाहता था, पर वे रचनाएँ बहुत बाद में आने से स्थान पाने से रह गयीं। जिन मित्रों ने कुछ रचनाएँ संकलित कर भेजीं, उन्हें भी स्थान दिया है। इसलिए मैं सभी लेखकों से क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं कह नहीं सकता कि यह ग्रंथ कैसा तैयार हुआ है। इधर मैं चाहता था कि भारतवर्ष के विगत तीस-पैंतीस वर्षों के समाज सुधार आन्दोलन पर एक ग्रन्थ लिखूँ, जिसमें पञ्जाब से दक्षिण भारत तक की गति विधियों का उल्लेख हो। एक तो मैं आन्दोलनों में संलग्न रहा, कार्यकर्ताओं से परिचित रहा और फिर ऐसे धुरी केन्द्र में रहा, जिससे सभी घटनाओं से बराबर अवगत होता रहा; किन्तु यह विचार पूरा न हो पाया। दिवस के अवसान में अब यह कब सम्भव है। पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी के प्रयास से मैं 'सरस्वती' में कुछ संस्मरण अवश्य लिख सका। अन्त में मेरी इतनी कामना है कि यदि इस ग्रन्थ से समाज को कुछ प्रेरणा मिलेगी, तो मैं अपने इस प्रयत्न को सफल मानूँगा।

एक-डेढ़ दशक के उपरांत कलकत्ते के अपने आगमन में राजनीतिक और सामाजिक कार्यों के दो अनुष्ठानों में योगदान देने का मुझे जो अवसर मिला, इसका मुझे हर्ष है। इसके लिए मैं अपने मित्रों और सहयोगियों का कृतज्ञ हूँ।

कलकत्ता
८—६—५६

जी० एस्० पथिक
सम्पादक

अनुक्रमणिका

पंचम खण्ड—नए समाज के निर्माता

षष्ठ खण्ड—राजनीति के प्राङ्गण में

विषय		लेखक		पृष्ठ संख्या

सप्तम खण्ड—हमारा बिहार

अष्टम खण्ड—साहित्य और कला

मंगल कामना

जगजीवनराम जी को जब मैंने देखा, तो वे लगन से काम करनेवाले और होनहार व्यक्ति प्रकट हुए। इसके उपरान्त वे आहिस्ता-आहिस्ता कांग्रेस के काम में आ जुटे और जब समय आया तो औरों के साथ जेल यात्रा भी करते गए। जब १९३७ में देश में पहले पहल कांग्रेस मंत्रिमण्डल बनाने की बात चली और महात्माजी ने यह शर्त लगाई कि अगर गवर्नर यह वचन दे दे कि वह मंत्रियों की राय से सब काम किया करेंगे, तब कांग्रेस मंत्रिमंडल बना सकेंगी। तब शुरू में सभी गवर्नरों ने इस तरह का वचन देना नामंजूर कर दिया था। इस समय अनेक प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था। इसलिए कोई मंत्रिमंडल वैधानिक रीति से, जिसका कांग्रेस के सदस्यों का समर्थन न हो, चल नहीं सकता था। तो भी गवर्नमेण्ट की नीति के अनुसार गवर्नरों ने प्रयत्न किया कि सभी जगहों में किसी न किसी तरह मंत्रिमंडल बन जाएं। ऐसा ही प्रयत्न बिहार में भी किया गया और कुछ दिनोंके लिए यूनुस ने मंत्रिमंडल बनाया। उस समय जगजीवनराम जी वहां की धारा सभा के एक सदस्य चुने गए थे और श्री यूनुस ने इस बात का बहुत प्रयत्न किया कि उन को किसी तरह से फोड़ करके अपने मंत्रिमंडल में ले लें और उनके साथ जो हरिजन सदस्य थे, उन की सहायता वह प्राप्त कर लें। पर जगजीवनरामजी की एक वाणी ने एक वारगी इस चीज को नामंजूर कर दिया और उन के दिए हुए मंत्रिपद को ठुकरा दिया। यह बात मुझ को मालूम हो गयी और मैंने उसी समय महात्मा गांधी को को इस बात की सूचना दी की, जिस से वह बहुत प्रसन्न हुए थे और जिस का जहां तक मुझे स्मरण है, उन्हों ने अपने लेख में जिक्र भी किया था। इस घटना के साथ जो मेरी श्रद्धा और प्रेम श्री जगजीवनराम जी के प्रति था वह और भी बढ़ गया और मैंने देख लिया वह लगनवाले और काम करनेवाले ही नहीं हैं, पर समय पर त्याग करने में भी किसी से पीछे नहीं रहेंगे। उस के बाद जहां तक मुझे स्मरण है वह बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की कार्य-कारिणी में शरीक हुए और जब कुछ दिनों के बाद कांग्रेस ने मंत्रिमण्डल बनाया, तो उन को पार्लामेण्टरी सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त किया गया। इस पद पर रह कर उन्होंने अपनी जवाबदेही और काम को खूब अच्छी तरह से संभाला, जिस की प्रशंसा उस समय के सभी लोग किया करते थे। उन का सम्बन्ध कांग्रेस और कांग्रेस कर्मियों के साथ दिन प्रति दिन अधिक घनिष्ट होता गया और १९४१ से फिर जब महात्मा जी का महान आन्दोलन शुरू हुआ, उस में उन्होंने यथोचित भाग लिया। १९४६ में जब केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में कांग्रेस ने शरीक होने का निश्चय किया, तो उस में स्वभावत: खयाल उन की ओर आया और उन को स्थान मिला। अवस्था उन की कम थी। तब भी सभी मंत्रि विभाग उन्हों ने अच्छी तरह से खूबी के साथ संभाले। अनुभव काफी उन्हों ने

इस बीच में प्राप्त कर लिया है। सादा जीवन है। काम करने की लगन है। श्रम से नहीं डरते और जो ठीक समझते हैं उस को कहने और करने में नहीं हिचकते। जब कोई चीज सामने आती है तो उस पर हर पहलू से विचार करके ही कोई राय कायम करते हैं। और विचार निश्चित कर लेने पर उस से जल्द डिगते नहीं।

मेरा उन से सम्पर्क और अधिक दिन प्रति दिन घनिष्ट होता गया। उन का भविष्य और अधिक उज्वल होगा। अभी उनकी अवस्था कम कही जा सकती है। और इसलिए काम का क्षेत्र और काम करने का समय और शक्ति भी उनके सामने बहुत है। हमारी यह सद्भावना और सदिच्छा है कि वह समय और शक्ति को देश की सेवा में उसी तत्परता से लगाएंगे, जिस तत्परता से उन्होंने आज-तक काम किया है और अपने काम में सफल होते गए हैं।

राजेन्द्र प्रसाद

भारत के राष्ट्रपति

जगजीवन अभिनन्दन के आयोजक

श्री जगजीवनराम अभिनन्दन समिति

माननीय श्री ईश्वरदास जालान
विधि तथा स्वायत्त शासन मन्त्री, पश्चिम बंगाल
के द्वारा समारोह का अनावरण

सभापति

श्री प्रफुल्लचन्द्र सेन
खाद्य मन्त्री पश्चिम बंगाल

सम्पादक

श्री जी० एस० पथिक

व्यवस्थापकगण

श्री क्षितीश्वरप्रसाद,
बी० ए०, एल-एल० बी०, प्रबन्ध सम्पादक

श्री गजानन्द खेतान
स्वागत मन्त्री

श्री सरूपानन्द संन्यासी
प्रबन्ध मन्त्री तथा व्यवस्थापक 'अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन'

सदस्य

श्री आर० अहमद
श्रम मन्त्री पश्चिम बंगाल

श्री तुषारकान्ति घोष
सम्पादक 'अमृतबाजार पत्रिका'

श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल
सम्पादक 'विश्वमित्र'

श्री सीताराम सेकसरिया

श्री रामानन्ददास

श्री नेपालराय, एम० एल० ए०

श्री सत्यनारायण मिश्र,
सभापति बड़ाबाजार जिला कांग्रेस

हमारे सम्मुख इतिहास के संकटापन्न और निर्णायक क्षणों में श्री जगजीवनराम जी हरिजन-नेता के रूप में आए। भारत के विदेशी शासकों ने सोचा था, यदि भारतीय राष्ट्रीयता का मुख्याधार हिन्दू समाज विघटित हो जाए तो राष्ट्रीयता की भित्ति अत्यन्त कमजोर हो जाएगी। एक सबल सरकार की सारी पटुता तथा शक्ति का उपयोग इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया गया। महात्माजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने आसन्न विपत्ति को देखा और इसके परिहार के लिए उन्होंने अपने जीवन की बाजी लगायी। श्री जगजीवनराम बापू के इस अपूर्ण कार्य को बहुत आगे ले आए और वे आज हरिजन बन्धुओं की आशाओं तथा आकांक्षाओं के मूर्त प्रतीक हैं। उन्हें बड़ी ही संवेदनशील आत्मा मिली है; इस कारण उनका हृदय हरिजन समुदाय की दयनीय दुर्दशा देख कर पीड़ित होता है। उनका पोषण संत परम्परा में हुआ। फलतः उन्होंने हिन्दू कट्टरता की दासता में जकड़े हुए करोड़ों मनुष्यों की आत्मा को मुक्त करने के निमित्त, एक नयी धर्म-संस्था स्थापित करने की कल्पना भी की।

आन्तरिक व्यथा से उद्भूत इस स्वप्न की ही प्रेरणा थी जिसमें उनको उस समय समाज-सुधारक बनाया जब वे स्कूल के विद्यार्थी मात्र थे। समाज-सुधारक का राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञ में विकास पाना उनके प्रौढ़ चिन्तन का परिणाम था। उन्होंने अनुभव किया कि आधुनिक सामाजिक संगठन में राजनीति का रूप सर्व-व्यापी होगा और जीवन के सभी अंग उसकी परिधि में आएँगे। किन्तु राजनीति उनकी मूल प्रेरणा को निर्मूल नहीं कर सकी। वर्णमुक्त गणतांत्रिक हिन्दू समाज की कल्पना अभी भी उन्हें आधार तथा दिशा देती है।

किसी भी प्रस्तुत समस्या के प्रत्येक अंग तथा प्रत्येक विस्तार की ओर सतर्कता रखना, उनके स्वभाव में है। किन्तु बाह्य उपकरण एवं औपचारिकताएं, लोकप्रिय होने पर भी, उनको आकर्षित नहीं करतीं। इस सन्तुष्ट धारणा में उन्हें विश्वास नहीं कि यदि भारतीय अर्थ-प्रणाली की उत्तम व्यवस्था हो जाए, तो जातिवाद तथा हरिजनों की समस्या स्वतः हल हो जाएगी। मानव के उलझे अस्तित्व को द्रव्य की सामान्य व्याख्या में कसने पर अधिक-से-अधिक एक सुगम साधारणीकरण मात्र कहा जायगा। उनका कहना है कि हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता विचार-प्रक्रिया की क्रान्ति है, हमारे अन्तःकरण तथा संस्कृति का पुनर्जागरण है। शेष समाधान स्वयं उपलब्ध हो जाएंगे।

वे अपेक्षाकृत युवा हैं; और हम, जिनकी यात्रा समाप्त-प्राय है, उनकी ओर आशा और विश्वास से देखते हैं। अथक प्रयास तथा उच्च उद्देश्य की अनन्य निष्ठा द्वारा प्राप्त महानता के वे स्फूर्तिमय आदर्श हैं।

श्रीकृष्ण सिंह
मुख्य मंत्री, बिहार



इकला चलो, इकला चलो

—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ

पथ में कांटे बिछे हैं, कोई साथी नहीं है, फिर भी अकेले आगे बढ़ते चलो। महाकवि रवीन्द्रनाथ के इस मार्गदर्शन को पश्चिम बंगाल के प्रसिद्ध कलाकार राय देवप्रसाद चौधरी ने महात्मा गाँधी की मूर्ति में अङ्कित कर राष्ट्र को नई चेतना दी है।

BAPU'S BLESSING

My heart goes out in respectful admiration to Jagjivan Ram for his having emerged the purest gold out of fire.

MAHATMA GANDHI

राष्ट्र-गान

अयि भुवन मनोमोहिनी ।
अयि निर्मल सूर्य करोज्वल धरणी ।
जनक - जननी - जननी ।।

नील सिंधु जल धौत चरणतल ।
अनल विकम्पित श्यामल अंचल ।
अम्बर चुम्बित भाल हिमाचल,
शुभ्र तुषार किरिटनी ।।

प्रथम प्रभात उदय तब गगने ।
प्रथम साम रव तब तपोवने ।
प्रथम प्रचारित तब वन भवने ।
ज्ञान - धर्म कृत - काव्य काहिनी ।।

चिर कल्याणमयी तुमि धन्य,
देश विदेश वितरिछ अन्न ।।
जाह्नवी यमुना विगलित करुणा ।
पुण्य पीयूष स्तन्य - वाहिनी ।।

—कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर

★

जगजीवन ! तुम्हारा पावन नाम

तुल न सके धरती धन धाम,
धन्य तुम्हारा पावन नाम।
लेकर तुम सा लक्ष ललाम,
सफल काम जग जीवनराम।

— राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

श्री जगजीवनराम प्रशस्तिः

सदा हाससमायुक्तो रामोऽयं जगजीवनः
सदा कर्मसु संयुक्तो यथा वैदेहि जीवनः ।।१।।

सर्वेषु समदृष्टिर्यो निर्गवित्वाज्जनप्रियः ।
सर्वलोकहितस्यार्थे सर्वत्यागेऽस्य निश्चयः ।।२।।

अल्पभाषी महायत्नो मृदुवाक् सरलःशुचिः ।
वपुः प्रकर्षसम्पन्नो अस्यास्ति हृदयं मृदु ।।३।।

ददातु भगवानस्मै दीर्घायुश्च यशःश्रियम् ।
देश कल्याणकार्येषु मग्नाय शरदां शतं ।।४।।

इयं माला सुमित्राय भारती कुसुमगुंफिता ।
दत्तात्रयेण सप्रेमं सादरं च समर्पिता ।।५।।

—श्री दत्तात्रय परशुराम करमरकर
(वाणिज्य मंत्री, भारत सरकार)



देश गौरव जगजीवन राम

मध्यप्रदेश राज्य के भूतपूर्व उद्योग तथा कृषि मंत्री
तथा वर्तमान अ० भा० कांग्रेस कमेटी के
महामंत्री श्री तख्तमल जैन :—

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुयी है कि भारत सरकार के रेलवे मंत्री श्री जगजीवनराम की राष्ट्रव्यापी सेवाएँ और उनके यशस्वी जीवन पर प्रकाश डालनेवाला वृहद अभिनन्दन ग्रंथ आप प्रकाशित कर रहे हैं। यह ग्रंथ समस्त भारतीयों के लिए मार्गदर्शन का कार्य करेगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

श्री जगजीवनरामजी का प्रादुर्भाव भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के अमर सेनानी बाबू कुंवरसिंह के जन्म स्थान के निकट आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व एक ग्राम में हुआ था। आपने वहां की पावन मिट्टी से निर्भीकता, अडिग विश्वास, कर्तव्य परायणता एवं दृढ़ चरित्र का पाठ अपनाया, जो आज भारत के लिए मार्ग प्रदर्शक ज्योति का कार्य कर रहा है।

आपने यह सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार मनुष्य निर्धनता में धनी, निम्नता में उच्च एवं सामाजिक विषमताओं के मध्य स्वाभिमानी हो सकता है। आपका जीवन राष्ट्र सेवा में अर्पित राष्ट्र भक्ति एवं देश सेवा की एक कहानी है।

श्री जगजीवनरामजी के जीवन से हम सब को प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं आत्मबल प्राप्त होगा और हम देश के उन्नयन में रत रहेंगे, यह मेरी दृढ़ धारणा है।

इस अवसर पर मैं उनके स्वास्थ्य सुख एवं यश की मंगल कामना करता हूँ।

तख्तमल जैन

ब्रिटिश प्रधानमंत्री मेकडानल्ड के एवार्ड के प्रतिरोध में महात्मा गांधी ने ऐतिहासिक उपवास किया था। उसके परिणाम स्वरूप हरिजनों के स्वत्वों के संबंध में हरिजन नेता और सवर्ण नेताओं ने जो इकरारनामा किया था, पूना पैक्ट के नाम से घोषित हुआ। कम्यूनियल एवार्ड रद्द हुआ और हरिजन हिन्दुओं के दायरे से पृथक न हो पाए। इसके साथ ही 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना हुई और गांधीजी के अनुरोध से श्री घनश्यामदास बिड़ला सभापति हुए और ठक्कर बापा मंत्री। इस दिशा में बिड़लाजी की महत् सेवाएँ अब तक जारी हैं। अभिनन्दन ग्रंथ के सम्बन्ध में बिड़लाजी का पत्र इस प्रकार है :—

श्री घनश्यामदास बिड़ला का पत्र

८ इंडिया एक्सचेंज प्लेस
कलकत्ता १
६ दिसम्बर, १६५८

प्रिय पथिक जी,

आपका पत्र मिला। श्री जगजीवनराम अभिनन्दन ग्रंथ के लिए मेरा सन्देश यह है :-

जगजीवनराम जी ने परिश्रम किया और लगन से अपने आप को ऊँचा उठाया। अन्य लोग जो ऊँचा उठना चाहते हैं, उनके लिए यह सबक है। गरीब घर में जन्म लेकर जगजीवनराम जी ने अध्यवसाय से विद्योपार्जन किया। अपने ध्येय को सामने रख कर कदम बढ़ाते चले गए। देश की सेवा की जिसके कारण लोकप्रिय बने। यह सब अभिनन्दनीय और अनुकरणीय है।

घनश्यामदास बिड़ला

आशीर्वाद और शुभकामनाएँ

मैसूर राज्य के मुख्य मंत्री श्री एस० निजलिंगप्पा
बी० ए०, एल०-एल्० बी० :—

कार्ल्टन हाउस
बंगलौर

इस बात से मुझे बड़ा आनन्द हुआ कि भारत सरकार के रेलवे मंत्री श्री जगजीवनरामजी को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट दिया जाएगा।

संसद के सदस्य होने के नाते मुझे उनके निकटतम सम्पर्क में आने का अवसर मिला। स्वतंत्रता प्राप्ति के काल से वे भारत सरकार के मंत्रिमण्डल के सदस्य हैं, विभिन्न पदों पर रह कर उन्होंने कार्य किए अर्थात् श्रम मंत्री, संवहन और यातायात मंत्री और अब रेलवे मंत्री। १९४६ से वे बराबर मंत्रि पदों पर कार्य करते आ रहे हैं। इन सब विभागों में उन्होंने भारी लगन, तत्परता और योग्यता से कार्य किया है। एक सच्चे और दृढ़ सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में दलित वर्गों के उत्थान के लिए उन्होंने सदा सक्रिय भाग लिया है। भारत में पिछड़ी जातियों के वे माने हुए नेता हैं। वे उन व्यक्तियों में हैं, जो सदा यह दृढ़ विश्वास रखते हैं और सही रखते हैं कि समाज के निर्बल वर्ग तभी केवल आगे बढ़ सकते हैं, जब कि उन्हें विशेष सुविधाएँ दी जाएँ। इसलिए वे ऐसे समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं, जिसमें सब के प्रति आर्थिक न्याय हो और समाज के सब वर्गों को समान सुविधाएँ उपलब्ध हों।

मैं यह आशा करता हूँ कि यह अभिनन्दन ग्रंथ साहित्य में एक महत्वपूर्ण योगदान होगा जिसमें उन महानुभावों का परिचय होगा, जिन्होंने त्याग और बलिदान द्वारा भारत की अनुपम सेवाएँ की हैं और वर्तमान में कर रहे हैं।

श्री जगजीवनरामजी का अतीत काल कष्ट सहन, त्याग और साथ ही महान उपलब्धियों से परिपूर्ण रहा है। और मुझे यकीन है कि उनका भविष्य भी सुन्दर है।

मातृभूमि की सेवा में, मैं उनके दीर्घजीवन की कामना करता हूँ।

एस० निजलिंगप्पा
मुख्य मंत्री

देश की स्वतंत्रता के आन्दोलन में जिन सम्पन्न परिवारों ने भारी कुर्बानियां दीं, उनमें बाबू भगवानदासजी और उनके सुयोग्य पुत्र बाबू श्रीप्रकाशजी का स्थान श्रेष्ठतर है। गाँधीजी का आन्दोलन छिड़ने पर स्वर्गीय बाबू भगवानदासजी जब गिरफ्तार हुए, तब देश में ही नहीं, विदेशों में भी सनसनी फैल गयी थी। कारण, वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के दार्शनिक विद्वान थे। उनके पुत्र बाबू श्रीप्रकाशजी भी जहां अंग्रेजी और हिन्दी के विद्वान हैं, वहां वे कर्मठ कांग्रेस कार्यकर्ता हैं। जब से वे अपना कारबार छोड़कर कांग्रेस में आए, तब से वे बराबर उसमें योगदान दे रहे हैं। स्वतंत्र होने पर राष्ट्र ने उनका सम्मान किया और वे कई ऐसे राज्यों के राज्यपाल हुए, जहां उन्हें प्रान्तों के संघर्षों का सामना करना पड़ा। सम्प्रति, वे विशाल बम्बई राज्य के राज्यपाल हैं। बाबू जगजीवनरामजी के प्रति उनका यह संदेश है :—

प्रिय पथिक जी,

मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि श्री जगजीवनरामजी के व्यक्तित्व और सेवाओं के उपलक्ष में उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ प्रदान करने का आपने विचार किया है। यों तो श्री जगजीवनरामजी का नाम मैंने पहले से ही सुन रक्खा था, पर उनके साथ काम करने का मुझे अवसर सन् १९४६ में मिला जब वे दिल्ली के मन्त्री के पद पर स्थापित हुए। उस समय मैं केन्द्र की विधान सभा का सदस्य था।

उसी समय से मैंने उनकी योग्यता, सहृदयता, सज्जनता और सहानुभूति का परिचय पाया। तब से आप लगातार एक-न-एक मन्त्री के पद को सुशोभित करते रहे और सभी स्थानों पर सुन्दरता और सफलता से उन्होंने काम किया। वे अपने देश-वासियों के धन्यवाद के पात्र हैं कि वे लगातार सार्वजनिक जीवन में रहकर जन-साधारण की सेवा करते रहे और जो हमारे समाज में जाति-गत भेदभाव है उसकी कटुता को दूर करने में बराबर बड़े साहस और तत्परता से लगे रहे हैं।

मेरी इस अवसर पर यही शुभकामना है कि वे अभी हमारे बीच बहुत दिनों तक रहकर देश और समाज की सेवा करते रहें और जन-साधारण उनके उदाहरण से लाभ उठा कर उनके काम में सहयोग देता रहे और देश की एकता और देश की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रहने में सहायता प्रदान करे।

श्रीप्रकाश
राज्यपाल, बम्बई राज्य

भारतीय गणतंत्र राज्य के उपराष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन

I am very pleased to know that you are publishing Shri Jag Jivan Ram Abhinandan Granth, to be presented to him on his birthday occasion. His work, official and non-official for the improvement of the conditions of the Harijans is well known. It is our earnest hope and desire that he may live long to continue his work.

S. Radha Krishnan

उड़ीसा राज्य के मुख्य मंत्री श्री हरिकृष्ण महताब

भुवनेश्वर

श्री जगजीवनराम अपने साथियों में अभी तरुण हैं। किन्तु सेवा और त्याग द्वारा समाज के एक बड़े भाग के लोक-प्रसिद्ध नेतृत्व के लिए उन्होंने स्वतः अपने को बनाया है। दलित वर्ग के साथ वे सदा रहे हैं और दलितों ने भी अपने लिए उन्हें ऐसा नेता पाया जो कभी पीछे हटने वाला न हुआ।

मैं उनके दीर्घ और सेवा और लगन के सक्रिय जीवन की कामना करता हूं।

एच० महताब

पश्चिम बंगाल सरकार के विकास, शरणार्थी और पुनर्स्थापन मन्त्री श्री टी० के० घोष

राजभवन

कलकत्ता

श्री जगजीवनरामजी की सेवाओं के उपलक्ष में अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन का समाचार पाकर, मैं अत्यंत प्रसन्न हुआ।

भारत के वे अत्यंत जनप्रिय नेताओं में हैं और व्यक्तिगत रूप से उनके प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है। मेरी कामना है कि आपके प्रयत्न यशस्वी हों।

भवदीय

टी० के० घोष

श्री आर० अहमद, कृषि मंत्री पश्चिम बंगाल सरकार

कलकत्ता

यह मैंने बड़े हर्ष से सुना कि आप श्री जगजीवनराम जी का अभिनन्दन ग्रंथ तैयार कर रहे हैं। कठोर परिश्रम और लगन से मनुष्य कितनी सफलता प्राप्त कर सकता है, श्री जगजीवनराम जी का जीवन और कार्य उसके मूर्तमंत उदाहरण हैं। वे एक सच्चे देशभक्त और निःस्वार्थ कार्यकर्ता हैं। जगजीवनरामजी, उन सबसे प्रेम और सम्मान पाते हैं, जो एक बार भी उनके निकट में आते हैं।

हम उनके दीर्घ और समृद्ध जीवन की कामना करते हैं।

आर० अहमद

मद्रास राज्य के राज्यपाल श्री विस्नूराम मेहदी

राज्यभवन

गिंडी, मद्रास

मुझे यह जान कर हर्ष है कि भारत सरकार के रेलवे मंत्री श्री जगजीवनराम जी को समर्पित किए जानेवाले अभिनन्दन ग्रंथ का आप सम्पादन कर रहे हैं।

श्री जगजीवनराम जी ने स्वतंत्रता के युद्धकाल में जो महान सेवाएं कीं और स्वतंत्रता के प्राप्त होने पर जिन विभिन्न सार्वजनिक जिम्मेवार पदों पर उन्हें आसीन किया गया और वहां उन्होंने प्रशासन में जो कुशलता प्रकट की, वह देश में सर्वत्र विख्यात है। देश के विभिन्न क्षेत्रों की समस्याओं के हल के लिए उन्होंने जो विशाल और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण प्रकट किया और उन पर पार पाने के लिए उन्होंने जिस संजीदगी से प्रयत्न किए, उससे वे जाति और सम्प्रदाय से परे सभी देशवासियों के प्रिय पात्र बने।

मैं अभिनन्दन ग्रंथ के प्रणयन की हर प्रकार से सफलता चाहता हूं।

विस्नूराम मेहदी

राज्यपाल

नए मध्य प्रदेश के राज्यपाल श्री एच० बी० पाटस्कर

राजभवन
भूपाल

मैं यह पढ़ कर प्रसन्न हुआ कि श्री जगजीवनरामजी के सन्मान में अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। उन्होंने न केवल देश की स्वतंत्रता के आन्दोलन में एतिहासिक पार्ट अदा किया, बल्कि स्वतंत्रता के एकीकरण में भी उनकी महान शक्तियां लगीं। उनका नाम इस रूप में सदा स्मरणीय रहेगा। उन्होंने देश के राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न तत्वों को एकीकरण करने में बहुत बड़ा कार्य किया है। स्वतंत्रता के उपरांत हमारे राष्ट्र की अभिवृद्धि में उनका कार्य प्रशंसनीय है। वह सदा सामाजिक और आर्थिक न्याय की मांग में आगे रहे। पिछले कई वर्षों से वह भारत सरकार की केबिनेट के उल्लेखनीय सदस्य हैं। और इस दिशा में एक योग्य मंत्री होने तथा प्रशासन की अपनी कार्यक्षमता साबित करने में समर्थ हुए हैं।

मैं जगजीवनराम जी के दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ जिससे कि वे अधिक काल तक राष्ट्र की सेवा करते रहें।

एच० बी० पाटस्कर
राज्यपाल

केरल राज्य के राज्यपाल श्री बी० रामकृष्णराव

राजभवन
ट्रावनकोर

मैं यह पढ़ कर प्रसन्न हुआ कि केन्द्रीय सरकार के रेलवे मंत्री श्री जगजीवनराम जी को अभिनन्दन ग्रंथ दिया जाएगा।

श्री जगजीवनराम जी ने देश की बड़ी सेवा की है और इस दिशा में उन का सम्मान करने में हम अपना ही सम्मान करते हैं।

इस अभिनन्दन ग्रंथ के सफल प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक बधाइयां लीजिए।

आपका
बी० रामकृष्ण राव

श्री प्रतापसिंह कैरों मुख्य मंत्री, पंजाब राज्य

चंडीगढ़

श्री जगजीवनराम का नाम इतिहास में भारत के एक योग्यतम पुत्र के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा। दलितों के वे एक तेजस्वी नेता हैं। राष्ट्र हित के लिए उन्होंने बड़ी सेवाएँ कीं। उनका आकर्षक व्यक्तित्व, उनकी मधुरता और सरलता, उनकी सादगी और स्पष्टता उनके जीवन के प्रमुख रूप हैं। अपने चरित्र की इन विशिष्ट योग्यताओं ने उन्हें उच्च स्थान पर पहुँचाया और करोड़ों देशवासियों के लिए उन्हें मूर्तिमंत बनाया। हरिजनों के लिए वे एक बड़े योद्धा तथा उद्धारक हुए। श्री जगजीवनरामजी ने अपना जीवन इस प्रकार निर्माण किया कि जो हजारों युवकों के दिलों को प्रेरणा देगा कि वे सामाजिक दृष्टि से दलित के हितों को पूरा करते हुए राष्ट्रसेवा में बढ़ें।

अपनी ओर से तथा पंजाब के वीर पुरुषों की ओर से मैं इस अवसर पर हर्ष के भाव प्रकट करता हूँ।

प्रतापसिंह

श्री पी० एस० देशमुख मिनिस्टर आफ कोआपरेशन भारत सरकार, नई दिल्ली

मुझे यह जानकर बड़ा आनन्द हुआ कि मेरे मित्र श्री जगजीवनराम, केन्द्रीय सरकार के रेलवे मिनिस्टर और हरिजन नेता को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। देश के लिए उनकी सेवाएँ और विशेष रूप से हरिजनों तथा समस्त पिछड़ी हुयी जातियों के लिए इतनी महत् हैं कि उनकी जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है। वे एक अत्यंत कुशल शासक भी प्रकट हुए हैं और साथ ही वे देश के लाखों तथा करोड़ों लोगों की मित्रता तथा सद्भावनाएँ प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं। यह निर्विवाद है कि उनका अभी भी सुन्दर भविष्य उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। और मेरी यह हार्दिक प्रार्थना है कि वे भारत के पिछड़े हुए वर्गों की सहायता करने और उनके नेतृत्व के लिए चिरजीवी रहें।

पी० एस० देशमुख

श्री अशोक सेन, ला मिनिस्टर भारत सरकार, नई दिल्ली

मुझे यह जान कर अत्यंत प्रसन्नता हुयी कि आप श्रीजगजीवनरामजी के जन्म दिवस पर उन्हें अभिनंदन ग्रंथ भेंट दे रहे हैं। श्री जगजीवनराम जी केवल हरिजनों के नेता नहीं हैं, बल्कि वे सारे भारत के नेता हैं। स्वतंत्रता के पूर्व और स्वतंत्रता के पश्चात देश के लिए उनकी सेवाओं को देशवासी सदा आभार युक्त होकर स्मरण करेंगे। ईश्वर उन्हें दीर्घायु प्रदान करे, जिससे वे देश तथा राष्ट्र की सेवा करते रहें।

भारत की प्राचीन सभ्यता अनेक जातियों और धर्मों के मिश्रण की प्रतीक है, जो हमारे राष्ट्रीय जीवन में विभिन्न विचारों द्वारा प्रकट होती है। हमारे राष्ट्रीय जीवन के इस महासागर में आर्य, अनार्य, द्रविड़, हून, पठान, मुगल तथा पूर्व काल में आनेवाली अन्य अनेक जातियों ने हमारी संस्कृति को मूल्यवान बनाया है।

अशोक सेन

पश्चिम बंगाल सरकार के श्रममंत्री श्री अब्दुल सत्तार

श्रम मन्त्रालय
पश्चिम बंगाल
कलकत्ता

श्री जगजीवनराम अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन का इससे अधिक दूसरा कोई उपयुक्त अवसर नहीं हो सकता था। समाज में सदियों से प्रचलित अवरोधक असमानताएँ और आर्थिक विषमताओं के विनाशकारी प्रभावों से मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस नेतृत्व के जीवन और कार्यों का अध्ययन करें, जो सामाजिक पुनरोत्थान के आन्दोलन में अग्रगण्य रहा है। श्री जगजीवनराम जी ऐसे ही एक नेता हैं। स्वतंत्रता संग्राम के एक महान सैनिक, दलित और पीड़ित वर्गों की सेवा में सदा तत्पर रहने वाले, जगजीवनरामजी को करोड़ों देशवासी प्रेम और सन्मान करते हैं। मैं प्रेम और श्रद्धा से उनका अभिनन्दन करता हूँ।

अब्दुल सत्तार

आसाम के राज्यपाल श्री एस० फजल अली

राजभवन
शिलांग

यह खुशी है कि मुझे भारत के एक प्रसिद्ध पुत्र के प्रति अपनी श्रद्धा और गहरा सन्मान प्रकट करने का अवसर मिला, जिनका जीवन अप्रतिम देशभक्ति और बलिदानों का रहा है।

महात्मा गांधी के सच्चे अनुयायी के रूप में श्री जगजीवनरामजी ने हमारे समाज के गिरे हुए और पिछड़े वर्गों के उद्धार के लिए सदा सच्ची भक्ति से प्रयत्न किए हैं।

भारत के रेलवे मंत्री के रूप में, उन्होंने अपने कार्य द्वारा अपनी प्रशासन योग्यता उच्च स्तर की प्रकट की है।

उनकी सेवाओं के उपलक्ष में जिस अभिनन्दन ग्रंथ का सम्पादन हो रहा है, उनके विशिष्ट व्यक्तित्व की योग्यतम श्रद्धा का प्रतीक होगा।

यह अभिनन्दन ग्रंथ उनके अनेक देशवासियों को उनके प्रेम, विचार और कार्यों के महान उदाहरणों द्वारा आगे बढ़ने की प्रेरणाएँ देगा। अपने देश और अपने देशवासियों के प्रति उनकी सेवाएँ जारी रहें, और वे दीर्घजीवी हों, यह मेरी कामना है।

एस० फजलअली
राज्यपाल मद्रास

केरल राज्य के मुख्य मंत्री श्री ई० एम० एस० नम्बूद्रीपाद

श्री जगजीवनरामजी के गौरव में अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन मेरे लिए आनन्द का विषय है। मुझे विश्वास है कि उसकी सामग्री हमारे सहस्रों स्त्री और पुरुषों को प्रोत्साहन देगी, राष्ट्र के लिए जगजीवनरामजी ने अपना जीवन किस प्रकार अर्पित किया है, उनकी जीवन कथा समाज को नयी चेतना देगी।

ई० एम० एस० नम्बूद्रीपाद

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री यू० एन० ढेबर

७, जन्तर मन्तर रोड
नई दिल्ली

यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि श्री जगजीवनरामजी को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट दिया जाएगा। इस ग्रंथ से जगजीवनराम जी के द्वारा की गयी राष्ट्र सेवा के संबंध में महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ेगा।

अभिनन्दन ग्रंथ के सफल प्रकाशन की पूर्ण कामना है।

आपका
यू० एन० ढेबर

भारत सरकार के सिंचायी और विद्युत मंत्री श्री एस० के० पाटिल

सिंचायी और विद्युत् मंत्रालय
नई दिल्ली

परम पूज्य महात्मा गांधी के पश्चात, यदि किसी महानुभाव ने हरिजन वर्ग की तन मन धन से सेवा की है तो उन सब में श्री जगजीवनरामजी का नाम आगे रहेगा। बचपन से उन्होंने समाज की जो सेवा की, राष्ट्र के नव निर्माण में जो हाथ बटाया तथा मंत्रिपद पर रह कर शासन के कार्यों में जो कुशलता प्रकट की, निःसन्देह उससे उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रकट हुआ है। जगजीवनरामजी की राष्ट्रव्यापी सेवा पर तथा उनके यशस्वी जीवन पर प्रकाश डालने वाला आपका यह नियोजित अभिनन्दन ग्रंथ भारत की आम जनता को मार्ग दर्शन देगा, इसमें सन्देह नहीं। आपकी विद्वत्तापूर्ण रचना के द्वारा इस अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन की मैं सफलता चाहता हूँ।

एस० के० पाटिल

कम्यूनिष्ट पार्टी के प्रमुख नेता श्री ए० के० गोपालन एम० पी०

श्री जगजीवनराम अभिनन्दन ग्रंथ के प्रकाशन के लिए मेरी पूर्ण सहानुभूति है। आपके सम्पादन में अभिनन्दन ग्रंथ में ऐसी सामग्री होगी जो दलित जातियों के उत्थान के लिए मार्गदर्शन देगी। इस महान कार्य के लिए मेरा आप को सहयोग और सद्भावनाएँ हैं। मेरी बधाई लीजिए।

ए० के० गोपालन

श्री प्रफुल्ल चन्द्र सेन, खाद्यान्न, रिलीफ और सप्लाई मंत्री, पश्चिम बंगाल सरकार

कलकत्ता

मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता है कि हमारे लोकप्रिय मंत्री श्री जगजीवनरामजी को देश के प्रति उनकी सेवाओं की सराहना करते हुए अभिनन्दन ग्रंथ भेंट दिया जाएगा।
मैं आशा करता हूँ कि जगजीवनरामजी की ख्याति और मिशन को बल प्रदान करने वाला यह अभिनन्दन ग्रंथ होगा।

प्रफुल्लचन्द्र सेन

पश्चिम बंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री अतुल्य घोष एम० पी०

कांग्रेस भवन
५९ बी, चौरंगी रोड
कलकत्ता।

मैंने अत्यंत आनन्द से यह समाचार जाना कि भारत के एक महान पुत्र श्री जगजीवनरामजी को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट दिया जा रहा है। यद्यपि वे दलित जाति के एकमात्र नेता हैं, किंतु उनकी दिलचस्पी और उनके कार्य किसी एक जाति और वर्ग के लिए सीमित नहीं रहे और आज वे भारत के राष्ट्रीय नेताओं में उच्चतम गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं।

इस अवसर पर मैं इस महान पुरुष को अपनी बधाई देता हूँ।

भवदीय
अतुल्य घोष

भूदान नेता आचार्य श्री बिनोबा भावे

श्री जगजीवनरामजी ने जातिवाद का मिथ्यात्व अपने जीवन से सिद्ध कर दिया है, उनका सच्चा अभिनन्दन तब होगा, जब छूत-अछूत का भेदभाव भारत से मिट जाएगा और जैसा कि जगजीवनरामजी ने यह कहा है कि मेहतरों को अपने काम से मुक्ति मिलेगी।

विनोबा भावे

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, एम० पी०

श्री जगजीवनरामजी से मेरा परिचय उनके केन्द्रीय शासन के मंत्री होने के बहुत पहले से है, प्रारम्भिक परिचय के समय ही मैं उनकी सद्भावना और पैनी बुद्धि से आकर्षित हुआ था।

हरिजनों की स्थिति सुधारने की ओर उनका सदा ध्यान रहा और मैंने भी इस दिशा में बहुत वर्ष पहले से काम किया। इसलिए उनकी ओर मेरा आकर्षण होना स्वाभाविक है।

जब मैं कांग्रेस का सभापति १६५० में निर्वाचित हुआ; उस समय मैंने नियमानुकूल जो कार्य समिति बनायी थी, उसमें श्री जगजीवनरामजी को रखा था। कार्य समिति के सदस्य के नाते उनका कार्य मेरे लिए बहुत सहायक था। मुझे स्मरण है कि प्रदेशों के आपसी झगड़ों के कई काम मैंने उनके सुपुर्द किए थे। जिस न्यायप्रियता और पक्षपात-रहित वृत्ति से उन्होंने बराबर काम किया उससे मेरे हृदय में उनके प्रति बहुत विश्वास उत्पन्न हुआ।

उनमें परिश्रम करने की अच्छी शक्ति है। मेरी कामना है कि वह स्वस्थ रह कर देश की बड़ी सेवा करते रहें और अपने अनुभव और अपनी सद्भावना से देश की प्रगति में सहायक हों।

—पुरुषोत्तमदास टण्डन

उत्तर प्रदेश राज्य के मुख्य मंत्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द

श्री जगजीवनरामजी ने भारतीय मजदूरों तथा दूसरे दुर्बल वर्गों की सेवा करना अपना सतत ध्येय रखा है। इसलिए वह अभिस्तुति के पात्र हैं। उनके अभिनन्दन में, जो ग्रन्थ प्रकाशित होगा, वह उनके अनुरूप होगा, ऐसी मैं आशा करता हूँ।

सम्पूर्णानन्द

श्री महावीर त्यागी, एम० पी०

श्री जगजीवनरामजी का जीवन देश के नवयुवकों के लिए बहुत ही उत्साह-वर्द्धक और प्रेरणाशील सिद्ध होगा, क्योंकि उन्होंने भारतवर्ष की राजनीति में जो उच्च पद प्राप्त किया है, वह केवल अपने त्याग-तपस्या और योग्यता के आधार पर किया है। विद्यार्थी जीवन के बाद महात्मा गांधी के एक सच्चे स्वयंसेवक की हैसियत से उनके संदेश का प्रचार करने के लिए मीलों पैदल सफर करके और गाँव-गाँव में घूम कर आपने अपनी सच्चाई और कर्मठता की ऐसी छाप अपने प्रान्त के सहकारियों पर लगायी कि जब पहले पहल बिहार में लोकप्रिय मंत्रिमण्डल में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया गया तब जिस शान के साथ आपने केन्द्रीय सरकार में कार्य किया है, उसमें केवल हरिजन भाइयों का ही सिर ऊँचा नहीं हुआ है, बल्कि उनके सभी कांग्रेस के साथियों का मान और गौरव बढ़ा है।

मंत्री होने पर कोई भी गरीब से गरीब आदमी भी उनसे मिल कर यह अनुभव नहीं करेगा कि उसने किसी हाकिम से बात की। वह श्री जगजीवनराम की प्रशंसा करता हुआ उनकी दीर्घायु की प्रार्थना करेगा।

भारत के राजनीतिक क्षेत्र में और विशेष रूप से हरिजन-उद्धार के समस्त आन्दोलन में उनका नाम सुनहरे अक्षरों में लिखने योग्य है।

जगजीवनरामजी मेरे गहरे मित्र हैं और मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि उनकी राष्ट्रीय सेवाओं के उपलक्ष में जनता की ओर से उनको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है।

श्री महावीर त्यागी

भारत सरकार के गृह-मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत

जगजीवनरामजी का सारा जीवन देश की सेवा में और विशेष कर हरिजनों के उत्थान में लगा है। वे बुद्धिमत्ता, सहिष्णुता, साहस और लगन से राष्ट्र निर्माण के कार्य में हाथ बटाते आए हैं और उनके द्वारा इस तरह राष्ट्र का हित होता रहेगा। वे दीर्घजीवी होकर सेवा-कार्य में निरन्तर अग्रसर और सफल होते रहें यह मेरी शुभ-कामना है।

गोविन्दवल्लभ पन्त

केन्द्रीय सरकार के सूचना तथा प्रसार मंत्री श्री बालकृष्ण वि० केसकर

जगजीवनरामजी की राष्ट्र-सेवा सर्व-विश्रुत है और हरिजनों को ऊपर उठा कर दूसरों के बराबर लाने के कार्य में उनका नाम उल्लेखनीय है। उनके नेतृत्व ने यह दिखला दिया है कि हरिजन किसी से कम नहीं हैं और बुद्धि में और राष्ट्र की सेवा में सब के बराबर हैं। मैं उनके दीर्घ जीवनकी कामना करता हूं।

बालकृष्ण वि० केसकर

नए मध्यप्रदेश राज्य के प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक पत्र 'नव प्रभात' के संचालक एवं कर्मठ कांग्रेसी तथा प्रसिद्ध समाज-सेवी श्री दामोदरदास नागोरी

आपका अपने जीर्ण-शीर्ण स्वास्थ्य तथा अन्य कार्यों में व्यस्त रहने पर भी श्री जगजीवनरामजी के अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादन का भार लेना यह प्रकट करता है कि पिछले तीस वर्षों में आपने जिस सामाजिक आन्दोलन में भाग लिया है, इस अभिनन्दन ग्रन्थ द्वारा उसे नयी चेतना मिलेगी। मैं यह मानता हूँ कि श्री जगजीवनरामजी का जीवन समाज की कायापलट करनेवाला है। श्री जगजीवनराम अभिनन्दन ग्रन्थ सामाजिक आन्दोलन को तेजी से अग्रसर करने का प्रतीक होगा। जगजीवन बाबू यश और मान के भूखे नहीं हैं, उससे वे कोसों दूर हैं। अतएव, उनका सच्चा अभिनन्दन इस बात में है कि हम उनके मिशन को देश के सामने रखें।

मैं श्री जगजीवनरामजी के दीर्घ जीवन की प्रार्थना करता हूँ।

दामोदरदास नागोरी
ग्वालियर

भारत की प्रसिद्ध सुधारक वयोवृद्ध महिला श्रीमती रामेश्वरी नेहरू

नई दिल्ली

जगजीवनरामजी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट देने का मैं स्वागत करती हूँ। मैं अपनी शुभ-कामनाएँ इस अवसर पर भेजती हूँ।

ईश्वर जगजीवनरामजी को बड़ी आयु दे और उनकी सेवाओं से देश और जाति लाभ उठाए।

रामेश्वरी नेहरू

Raj Bhawan
JAIPUR

We pay our tributes in different forms to our patriots and great leaders to express the deep debt of gratitude that we owe to them for their selfless devoted service to the nation. I am, therefore, glad to hear that it is proposed to bring out an Abhinandan Granth in honour of Shri Jagjivan Ram. He is one of those leaders in the front rank of public life today who has worked with great ability during the formative period of the country's political life and for the uplift and advancement of what is termed as the backward and Scheduled classes in India. Shri JagjivanRam shaped public opinion in this regard and mobilized it for their betterment.

Posterity sometimes is apt to skip over the sterling services rendered in the past by its greatmen. There is thus no better way to perpetuate their great work and life than by publicising it in the form of a book which will inspire the future generations.

I hope the Abhinandan Granth will find a wide circulation.

I wish Shri Jagjivanramjee many years of fruitful life and continuance of his valuable national work and constructive service.

Gurmukh Nihal Singh
Governor, Rajasthan.

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, भारत के अन्तिम गवर्नर जनरल

I am very glad, a very worthy servant of the nation is being feliciated. Personally Sri Jagjeewan Ram and I have greatly benefited by mutual affection and regard. I have been watching his steady good work in the Government of India with great satisfaction, during these later days when I have been away from the proximity that I previously enjoyed.

On this occassion I may perhaps record my views briefly about the uplift of the Harijans. It ts the duty of every one more fortunately to extend help and practice compassion to all those less favourably situated. But the time has arrived when a word of caution must be uttered to prevent the Harijans from becoming chronic recepients of external help. The spirit suffers unless self-help and compe. titive energy are maintained. The law of growth demands and increasing emphasis on self-celp and healthy competition and a decreasing dependence on externnal help. The temporary disadvantage that may result from self-help and non-dependence is really what urges to greater effort and steady progress and equality.

C. Rajagopalachari

सहारनपुर
विजयादशमी १९५८

पूज्य पथिकजी, प्रणाम लें।

यह लीजिए संस्मरण, मेरी राय में यह बाबूजी के सामाजिक विचारों का तो परिचय देता ही है उनके स्वभाव का और परिवार का भी परिचय देता है। मेरा अनुरोध है कि इसे अवश्य दें।

मैं बाबूजी के दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

विनम्र
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

श्री हरिभाऊ उपाध्याय, वित्त मन्त्री, राजस्थान

यह बहुत ही हर्ष का विषय है कि ऐसे ही एक कर्मठ सेवक, लोकनेता, श्री जगजीवनरामजी को, उनकी राष्ट्र-व्यापी सेवाओं के लिए, अभिनन्दन किया जा रहा है। वास्तव में ऐसे अवसरों की बहुत आवश्यकता है जब मानवता की निष्काम सेवा के वृद्धवर्तीजनों के जीवन और चरित्र का हम स्मरण कर सकें और उनके कार्य और त्यागमय जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर मानवता की सेवा में अधिकाधिक प्रवृत्त हो सकें। हम निकटवर्ती लोग श्री जगजीवन-रामजी को 'बाबूजी' संबोधन करके अपनेपन का सुख प्राप्त करते हैं। आपके सम्पादन में अभिनन्दन ग्रन्थ का मैं स्वागत करता हूँ।

इस शुभ अवसर पर हम बाबूजी का शत-शत अभिनन्दन करें।

विनीत
हरिभाऊ उपाध्याय

पण्डित सत्यनारायण मिश्र, सभापति बड़ाबाजार जिला कांग्रेस कमेटी, कलकत्ता

प्रिय पथिकजी,

अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन मेरे लिए हर्ष का विषय है; क्योंकि आप जानते हैं कि जगजीवनराम जी का बड़ाबाजार जिला कांग्रेस और कलकत्ते के जीवन से बड़ा संबंध रहा है। जब वे यहां अध्ययन करते थे। उस समय उन्होंने कांग्रेस कर्मियों में अपना स्थान प्राप्त किया था। आप के सम्पादन में जो अभिनन्दन ग्रंथ तैयार हो रहा है, उससे देश और समाज को मार्ग दर्शन मिलेगा। मैं जगजीवन बाबू के दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

आपका
सत्यनारायण मिश्र

अकोला (विदर्भ)
१५-११-५८

भाई पथिकजी,

सविनय वन्दे !

आपका तारीख ५ नवम्बर का पत्र मिला। खेद है कि मैं उत्तर न दे सका और आपकी आज्ञा का पालन भी न कर सका। कुछ विलम्ब हो गया है, तथापि आपकी आज्ञा का पालन और भाई जगजीवनरामजी के प्रति मेरा कर्त्तव्य इस नाते मैं कुछ पंक्तियाँ लिख कर इस पत्र के साथ भेज रहा हूँ। आशा है अभिनन्दन ग्रन्थ में इन पंक्तियों को आप स्थान दे सकेंगे। आपका ग्रन्थ खूब अच्छा निकलेगा यह आशा है। बाबू जी दीर्घ-काल तक देश की सेवा करते रहें, मेरी यह ईश्वर से प्रार्थना है।

आपका

ब्रिजलाल बियाणी

कलकत्ता
१ जनवरी, १९५९

भारत के रेलमंत्री श्री जगजीवनरामजी के अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन भावी पीढ़ी के चरित्र निर्माण में बड़ा ही सहायक होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। जगजीवनरामजी ने सादे जीवन तथा सादगी के बीच देश-भक्ति, विचार-दृढ़ता तथा उच्चतम आदर्शों को जिस प्रकार अपनाया है, वह हमारी भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का सुन्दर प्रतीक है।

भगवान से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि इनकी उम्र बहुत लम्बी हो और वे दीर्घजीवी हों और उनसे देश के दलितों को प्रेरणा मिलती रहे।

रतनलाल सुरेका

श्री शान्तिप्रसाद् जैन का पत्र

११, क्लाइव रो, कलकत्ता
२-४-५९

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि कलकत्ते से श्री जगजीवनरामजी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट दिया जा रहा है। जगजीवनरामजी का व्यक्तित्व खरे सोने की तरह चमकता हुआ है। उनकी प्रतिभा और गुण किसी से छिपे हुए नहीं हैं।

वे दीर्घायु प्राप्त करें, जिससे देश और समाज उनकी सेवाओं से सतत लाभ उठाए।

आपका

शान्तिप्रसाद् जैन

शुद्ध खादी भंडार, कलकत्ता

प्रिय भाई पथिकजी,

आपका पत्र मिला था। खेद है कि मैं लिखना भूल गया। जगजीवनरामजी जब शुरू में कलकत्ते में थे, उस समय की घटनाएँ मुझे स्मरण दिलाती हैं। तब हम में से किसी ने यह न सोचा था कि एक दिन ऐसा आएगा कि वे देश का नेतृत्व करेंगे। अपने प्रयत्नों से वे ऊपर बढ़े हैं। उनका यह जीवन नवयुवकों के लिए आदर्श है। उनके नेतृत्व से हरिजनों का मस्तक ऊँचा हुआ है।

सीताराम सेकसरिया

पटना
२२-१०-५८

मान्यवर पथिकजी,

सादर प्रणाम !

आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद। इसी पत्र के साथ मेरा संस्मरण अभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए जा रहा है। रचना के सम्बन्ध में अपनी राय लिखें।

मैं जगजीवनरामजी के दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

आपका

शिवपूजन सहाय

**

IN THE SERVICE OF NATION

A GREAT SON OF INDIA

Shri Jagjiwan Ram is a great son of India. Though an undisputed leader of the back-ward masses, his interest has never been confined to any caste or creed; and to-day he is held in highest esteem as one of the National Leaders of India.

Atulya Ghosh
President of
West Bengal Pradesh Congress.

PLAYED A HISTORICAL ROLE

Shri Jagjiwan Ram has played a historical role not only in the freedom movement of the country but also in the consolidation of that freedom. He will always be remembered as one who has contributed considerably to the unification of the defferent elements in the national life of our country. Even after freedeom, his work in the cause of the progress of our nation is commendable. He has always stood for social and economic justice. He is a ceaseless worker devoted to duty.

H. V. Pataskar
Governor, Madhya Pradesh.

TRUE DISCIPLE OF MAHATMA GANDHI

Shri Jagjiwan Ram is an eminent son of India whose life has been marked by sacrifices and unswerving Patriotism. As a true disciple of Mahatma Gandhi, Shri Jagjiwan Ram has always striven with steadfast devotion to improve the lot of the under priviledged and back-ward sections of our people. As India's Railway Minister, he has brought to bear upon his work administrative ability of a very high order.

S. Fazl Ali
Governor of Assam

RICH IN EXPERIENCE

Ever sinec independence, Shri Jagjiwan Ram, has been a member of the Union Cabinet in various capacities namely, Minister for Labour, Communications and Transport and Railways continueously from the year 1956. He has worked with commendable zeal, earnestness and efficiency. Though comparatively young, he is rich in experience. A devoted and staunch social worker, he has always taken active interest in the uplift of depressed classes and he is naturally acclaimed as accredited leader of the Scheduled Castes in India. He has been striving to establish a society in which eonomic justice and providing of opportunities are available for all the members of the society.

S. Nijalingappa
Chief Minister of Mysore.

FRONT RANK LEADER

Shri Jagjiwan Ram is one of those leaders in the Front Rank of Public life today who has worked with great ability during the formative period of the country's political life, and for the uplift and advancement of what is termed as the Backward and Scheduled classes in India. Shri Jagjiwan Ram shaped public opinion in this regard and mobilized it for their betterment.

Prosterity sometimes is apt to Skip over the sterving services rendered in the past by its great men. There is thus no better way to perpetuate their great work and life than by publicising it in the form of a book which will inspire the future generations.

Guramukh Nihal Singh
Governor of Rajasthan.

ADMINISTRATIVE ACUMEN

The great and out standing meritorious service rendered in the country by Shri Jagjiwan Ram during our struggle for independence and the administrative acumen he has displayed in various responsible public assignments after the attainment of Independence, are well known throughout the country. His broad and sympathetic out-look for solution of important problems with which the different region is confronted and his earnest efforts for over-coming those difficulties have endeared him to all people irrespective of caste and creed.

Bishnuram Medhi
Governor of Madras.

द्वितीय खण्ड

संस्मरण

महाराष्ट्र के लौह पुरुष



श्री सदाशिव कानोजी पाटिल

आपकी अध्यक्षता में अभिनन्दन-ग्रंथ समर्पण का समारोह



श्री जगजीवनराम : बहुमुखी सौम्य प्रभावित व्यक्तित्व

श्री ब्रिजलाल बियाणी,

एम० एल० ए०, बम्बई

श्री जगजीवनरामजी का और मेरा अनेक वर्षों से निकट का परिचय रहा है। उनको मैंने उनके व्यक्तिगत जीवन में, कांग्रेस के क्षेत्र में, मंत्रित्व के कार्य में और हरिजन-सेवा, मजदूर संगठन आदि अनेक क्षेत्रों में समीप से देखा है। उनका व्यक्तित्व मिलनसार है, अहंकार रहित है और सादगी से भरा हुआ है। स्वच्छता और सौन्दर्य उनके जीवन में दिखाई देते हैं। मैंने उन्हें कभी क्रुद्ध नहीं देखा। सदैव स्मित और हास्य उनके चेहरेपर दिखाई देता है। जो कार्यकर्त्ता उनके संपर्क में आते हैं उनकी प्रगति की कामना और प्रयत्न वे करते हैं। इन्हीं गुणों के कारण देश में अनेक कार्यकर्त्ताओं का उनमें विश्वास है और ऐसे व्यक्तियों की बहुत बड़ी संख्या है। हरिजन कार्यकर्त्ता ही नहीं ; अन्य जातियों और धर्मों के व्यक्ति भी उनसे प्रेरित और प्रभावित होते हैं।

कांग्रेस के क्षेत्र में उनका महत्व का स्थान है। कई वर्षों से वे वर्किंग कमेटी में हैं और पार्लमिण्टरी बोर्ड में हैं। कांग्रेस के क्षेत्र में कोई बड़ा कदम उनकी सहायता और सलाह बिना उठाया नहीं जाता। कांग्रेस के कार्यकर्त्ता सदा उनकी ओर सहायता के लिए देखते हैं। कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं के प्रति उनका दृष्टिकोण सदा निष्पक्ष रहता है। और साथ ही संस्था को बलवान बनाने की ओर उनका प्रयत्न होता है।

मंत्रित्व के क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली रूप में प्रकट हुआ है। जिस किसी विभाग को उन्होंने संभाला, बहुत कुशलता के साथ उसका संचालन किया है।

हरिजन सेवा के कार्य में उनका बहुत बड़ा स्थान है। हरिजनों की प्रगति के लिए गांधी जी के पश्चात् यदि किसी की ओर ध्यान जाता है, तो वह हैं श्री जगजीवनराम। हरिजनों का उन पर अटूट विश्वास है। हरिजनों के क्षेत्र में उनका मार्ग-दर्शन सामयिक और प्रभावपूर्ण रहता है।

श्री जगजीवनराम अच्छे वक्ता हैं। अपने विषय को बहुत कुशलता से जनता के सम्मुख रखते हैं। उनके व्याख्यान में मैंने सामयिकता और सुसंगतता पाई है। हरिजनों के समक्ष बोलते समय वे उनके विषय की चर्चा करते हैं और मजदूरों के साथ उनके प्रश्नों का विवेचन। उनके व्याख्यानों में विषय की गहराई और अध्ययन मिलता है। व्याख्यान के पश्चात् श्रोताओं में विचारों को तारतम्यता मिलती है।

इसप्रकार मैं भाई जगजीवनराम जी में एक बहुमुखी प्रतिभा पाता हूँ। पर यह प्रतिभा बड़ी सौम्य है, जिसका सतत प्रकाश है ; परन्तु जहाँ उग्रता का अभाव है। यही उसका महान् आकर्षण है। मेरा उनके साथ विविध क्षेत्रों में सम्बन्ध रहा और मैंने उनसे सदा ममत्व पाया।

**



श्री जगजीवनराम शतंजीवी हों

आचार्य श्री शिवपूजनसहाय

महात्मा गांधी ने जब अन्त्यज वर्ग के लिए "हरिजन" शब्द के प्रयोग का श्रीगणेश किया था तब लोगोंके कान खड़े हो गए थे। उस समय पूज्य बापू अपने भाषणों में प्रायः कहा करते थे कि प्रत्यक्ष नरक से समाज का उद्धार करनेवालों के लिए 'हरिजन' से बढ़ कर उपयुक्त शब्द नहीं मिल सकता। अन्ततोगत्वा उनकी अमरवाणी और लेखनी से प्रसूत यह शब्द अमर होकर ही रहा।

हरिजनों को हिन्दू समाज का परमावश्यक अंग मनवाने के लिए उन्होंने जब आमरण अनशन का व्रत ठाना, तब उस संकल्प की सिद्धि के पश्चात् वे अपने सार्वजनिक व्याख्यानों में 'हरिजन' शब्द का भाष्य करते रहे। उनका वह भगीरथ प्रयास ऐतिहासिक महत्व का है। उनके व्याख्यानों के श्रोताओं को स्मरण होगा कि उन्होंने चराचरमात्र में चार वर्णों का अस्तित्व बतलाया था। मनुष्य के शरीर से लेकर पशु-पक्षी, कीट-पतंग और वनस्पतियों तक में चार वर्णों की सृष्टि एवं चेष्टा देखने, समझने के लिए वे सब से अनुरोध करते थे। वे शास्त्रीय मंतव्य का अर्थ करने में बड़ी गहराई तक पैठते थे और शास्त्रकारों के वास्तविक उद्देश्य की भी नस पकड़ लेते थे। भगवान के चरणों से अन्त्यजों और गंगा की उत्पत्ति माननेवालों से वे कहते थे कि हरिजन ही समाज के धरातल पर गंगा के तुल्य हैं—गंगा के समान वे भी पाप-ताप-नाशक हैं।

महात्मा जी के भाषण या उपदेशों को देश ने एक कान से सुना और दूसरे से निकाल बाहर किया ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी जिन समझदारों के अन्तःकरण में उनकी बातें बस गईं वे आज भी उन बातों के तह तक गोता लगा कर आनन्द का ही अनुभव करते हैं तथा उनकी दूरदर्शिता के सामने सिर झुकाते हैं।

महात्मा जी के और उनके सच्चे भक्तों के दृष्टिकोण के अनुसार, समाज की धरती के गंगा तुल्य समझे गए हरिजनों के मुकुटमणि हैं श्री जगजीवनराम जी, जिनका शुभनाम भी इसका साक्षी है। महात्माजी ने दलित शोषित मानव जाति में आत्म बोध जागृत करने का जो सत्प्रयास किया, उसकी सफलता के प्रतीक श्री जगजीवनरामजी का अभिनन्दन देश और समाज की राष्ट्रीय चेतना के उद्बुद्ध होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भारतीय हरिजनों के इस सिरमौर की अभ्यर्थना महात्मा जी के सिद्धान्त की आराधना है।

श्री जगजीवनराम शतंजीवी हों

श्री जगजीवनरामजी मेरे जिले शाहाबाद के निवासी हैं। उनकी छात्रावस्था से ही मैं उन्हें जानता हूँ। मैं आरा नगर के एक हाईस्कूल में हिन्दी शिक्षक था। उस समय वे एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी माने जाते थे। किन्तु; उनके वर्तमान भाग्योत्कर्ष की कल्पना उस समय कोई नहीं कर सका था। अपनी प्रखर बुद्धि और सुशीलता के बल पर वे उत्तरोत्तर उन्नति करते गए। आज उनमें ईश्वरीय विभूति का किंचित् अंश देख कर जब उनके विद्यार्थी जीवन की बातों पर ध्यान जाता है, तब सचमुच यह मानना पड़ता है कि भविष्य को भगवान अपनी मुट्ठी में छिपा कर रखते हैं।

मेरे एक स्नेही बन्धु श्री बंशीधरप्रसाद ने 'जगजीवन रहस्य' नामक एक शिक्षाप्रद पुस्तक लिख कर आरा से प्रकाशित की है। वह श्री जगजीवनरामजी को ही समर्पित है। उनके जीवन की सफलता के रहस्यों को उसमें व्यावहारिक ढंग से समझाने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि उसकी सभी बातें स्वतंत्र गति से लिखी गई हैं, तथापि पुस्तक के नामानुसार उनके जीवन के क्रमविकास पर ही वह आश्रित है। उनका जीवन वस्तुतः महत्वाकांक्षी मनुष्य के लिए एक वस्तुपाठ है।

उस दिन बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभा-भवन में बिहार के युवक कवि श्री हरेन्द्रदेवनारायण ने अपना भोजपुरी-काव्य 'कुंअरसिंह' उनको समर्पित किया। उस भेंट को स्वीकार करते हुए उन्होंने जो संक्षिप्त भाषण किया, वह लोकभाषा के साहित्यिक की विशेषता एवं उपयोगिता प्रकट करनेवाला तो था ही, उनकी साहित्यिक अभिरुचि का भी परिचायक था।

आरा नगर में बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के सभापतित्व में हुआ था। उसमें भोजपुरी सम्मेलन भी डा० विश्वनाथप्रसाद की अध्यक्षता में हुआ था, जिसका उद्घाटन श्री जगजीवनरामजी ने ही किया। उनका उद्घाटन भाषण बड़ा रोचक एवं आकर्षक हुआ था। उससे जान पड़ा कि लोकभाषा के महत्व पर उन्होंने साहित्यिक दृष्टि से भी विचार किया है। उनकी वक्तृता मनोरंजक वार्त्ता होती है।

मुजफ्फरपुर में भाई बेनीपुरीजी के प्रकाशन कार्यालय का उद्घाटन करने के लिए मैं पटना से गया था। संयोगवश श्री जगजीवनरामजी उस दिन मुजफ्फरपुर में ही थे। वे भी सादर निमंत्रित होकर उस साहित्यिक समारोह में सम्मिलित हुए। मुख्य अतिथि के रूप में उनका जो भाषण हुआ, उसको सब लोग सराहते फिरे। वे भरी सभा को आकृष्ट करने की कला में निपुण हैं और गोष्ठी में भी रंग जमाना खूब जानते हैं।

विगत वर्ष में दिल्ली गया था तो उनसे मिलने का सुयोग हुआ। अस्वस्थता की दशा में भी उन्होंने भेंट करने का अवसर दिया। उनकी निराभिमान प्रकृति और सहृदयता की प्रशंसा सभी भेंट करनेवाले करते रहे। भगवान से यह प्रार्थना है कि वे शतंजीवी होकर देश सेवा में रत रहें।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
पटना, दशहरा, १९५८

**



जगजीवनराम के साथ कुछ क्षण

कुमारी ग्रेस ऑलीवर

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' अपनी टाक के लिए नई दिल्ली रेडियो स्टेशन जा रहे थे। मैं भी बालको की तरह जिद करके उनके साथ चली गई। वे टाक देकर जब स्टूडियो से ड्यूटी रूम में आए, तो वहाँ के अधिकारी ने कहा—"आपका फोन है।"

"मिलाइए" उन्होंने कहा। फोन मिला 'जी मैं प्रभाकर हूँ।'

'और बाबू जी, नमस्कार। जी, आपके साथ भोजन करके तो बहुत सुख मिलता, पर इस समय एक जगह वचनबद्ध हूँ। हाँ, आपने कैसे जाना कि मैं यहाँ पर हूँ?'

"अच्छा! उन्हें मेरा प्रणाम कह दें। मैं कल दस बजे आऊँगा।"

फोन रख कर उन्होंने बताया कि 'केन्द्रीय मंत्री श्री जगजीवनरामजी का फोन था। उनकी पत्नी ने टाक सुन कर उन्हें सूचना दी तो उन्होंने फोन किया कि आ जाओ साथ ही भोजन करेंगे।'

आज तक मेरे लिए केन्द्रीय मंत्री फरिश्ते के समान कल्पना के ही विषय थे। मुझे अजीब-सा लगा कि उन्हें बाबूजी जैसे साधक का इतना ध्यान मान है कि स्वयं फोन किया। मेरे मन में एक लालसा जाग उठी। पर क्या उसकी पूर्ति सम्भव है? मन ही मन उत्तर मिला असम्भव है, फिर भी बाबूजी से पूछा ही—'बाबूजी, क्या आपके साथ मैं भी चल सकती हूँ कल?'

"जरूर चलना।" अपने स्वाभाविक स्वर में उन्होंने कहा। फिर भी झिझक की दीवार खड़ी रही। पर क्या उन्हें बुरा न लगेगा? बाबूजी बोले, "अरी तुझे वे अपने बाबूजीसे भी अधिक अपने लगेंगे चिन्ता न कर।"

मुझे सोचने और कल्पना की उड़ान में उड़ने का मसाला मिल गया था रातभर के लिए। सचमुच मैं सोचती रही कि श्री जगजीवनरामजी बहुत रौबदाब के तेजवान व्यक्ति होंगे। कुछ बड़प्पन का बोझ होगा, तो कुछ अभिमान भी और फिर वे बड़ी शान से मिलेंगे। खैर, दूसरे दिन दस बजे बाबूजी और मैं उनकी कोठी पर पहुँचे। वे उस रोज कुछ अस्वस्थ थे। उनके सचिव द्वारा प्रभाकरजी ने सूचना भिजवाई। लौट कर बताया कि हमें वहीं बुलाया है, उन्होंने।

हम लोग कमरे में पहुँचे। मेरी नजर एक ही क्षण में कमरे का निरीक्षण कर गई। अत्यन्त सादा कमरा। आश्चर्य तो मुझे इस बात पर हुआ कि जब मेरी आँख मान्यवर श्री जगजीवनरामजी तथा उनकी

पत्नी पर पहुँची तो वे अत्यन्त सादे खादी के वस्त्रों में थे। देखते ही खड़े हो गए और अत्यन्त विनम्रतापूर्वक झुक कर उन्होंने प्रणाम किया।

अब मेरे सामने दो बाबूजी थे। एक तो अपने बाबूजी यानी प्रभाकरजी, दूसरे बाबूजी के बाबूजी श्री जगजीवनरामजी—दोनों एक दूसरे के प्यारे और प्रशंसक। दोनों ने अतीत के पन्ने उलटने शुरू किए और न जाने कहाँ-कहाँ की बातें निकल पड़ीं।

प्रभाकरजी ने कुछ सख्त शब्दों में कहा—"बाबूजी, मन्दिर प्रवेश आन्दोलन में आप अभियान से काम क्यों नहीं लेते? आजाद भारत के इस नए युग में प्रत्येक को समानता का अधिकार प्राप्त है, तो हम अपना अधिकार बलपूर्वक क्यों न प्राप्त करें?'

मैंने देखा कि श्री जगजीवनरामजी अब भी उसी तरह शान्त थे। उनके बोल भी उसी तरह मीठे थे। बोले, प्रभाकरजी, वे लोग अपनी स्त्रियों को मन्दिर के सामने लिटा देते हैं। उनके ऊपर से हमारा जाना क्या उचित है? वहाँ मानवता और पशुता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। फिर प्रभाकरजी हम मानवता का गला तो घोंट नहीं सकते। इसलिए, सत्याग्रहियों को लौटा लेते हैं।

प्रभाकरजी उसी तरह बोले, तब तो यह मुहम्मद गज़नवी का गायोंवाला हाल हो गया। वे अब भी उसी तरह सरलता से बोल रहे थे। हाँ, यही समझिए। मैं सोच रही थी, इनके लिए मनुष्यता अधिकार से बड़ी है यानी ये मंत्री से अधिक मनुष्य हैं।

श्री जगजीवनरामजी ने अपनी श्रीमती की ओर देखा और बोले 'अरे, इनका कुछ स्वागत तो करो।'

श्रीमती जगजीवनराम मुस्कराहट के साथ बोलीं—'पहले बातें तो सुन लूं। स्वागत तो फूल-पत्ती से हो ही जाएगा।'

मैंने सोचा अब ये घंटी बजाएँगी; क्योंकि बड़े आदमियों के तो चारों ओर नौकर रहते ही हैं। पर मैं अधिक सोच भी न पाई थी कि श्रीमती जगजीवनराम उठीं और नंगे पैर चल दीं। मैंने सोचा अब जो भी काम होगा वह नौकर ही करेगा। पर थोड़ी देर में श्रीमतीजी लौटीं तो स्वयं फलों की तश्तरी लिए। उफ़! मेरे विचारों की अनुचित दौड़ को कैसा झाँपड़ लगा, मैं कितनी विह्वल हो उठी, पर मेरा मन और भी गद्गद हुआ जब कि उन्होंने स्वयं अपने हाथ से फलों को छील कर खिलाया।

बाहर के कमरे से अन्दर का कुछ भाग दिखाई पड़ रहा था। मेरी नजरें वहाँ तक पहुँचीं तो देखा कि एक बूढ़ी स्त्री का चित्र लगा था। मैंने सोचा सम्भवतः यह जगजीवनरामजी की माता का चित्र होगा। शीघ्र ही मेरी समस्या का हल मुझे मिल गया। एक बूढ़ी स्त्री लकड़ी के सहारे कमरे में आईं। उन्हें देखते ही श्रीमती जगजीवनराम उठीं और बड़ी फुर्ती से उनके पास पहुँच, उन्हें सहारा देकर कुर्सी पर बैठा दिया। प्रभाकरजी और जगजीवनरामजी की बातचीत चल रही थी।

मेरे कानों ने सुना—'माँ! दवा पीलो।' आग्रहपूर्वक श्रीमती जगजीवनरामजी कह रहीं थीं। बूढ़ी माँ अपने बुढ़ापे और बीमारी के कारण बोझिल शब्दों में बोली—'नहीं बेटा, तुम बातें करो मैं फिर पी लूंगी।' श्रीमती जगजीवनराम फिर उसी प्यार व दुलार और आग्रह के स्वर में बोलीं—'पी लो माँ, वरना फिर खाँसी चलेगी और परेशान हो जाओगी।' फिर वे बड़ी शीघ्रता से दवा ले आईं और माँ के होंठ पर प्याला लगा दिया। मुझे यशोदा और कृष्ण की पवित्र ममता का स्मरण हो आया। पारिवारिक प्रेम की इस पवित्रता ने मेरे मन को पिघला दिया। और मैं अपने आँसू रोकने का प्रयत्न करने लगी।*

* जगजीवनरामजी का माता वासन्तीदेवी का ९० वर्ष की अवस्था में २१ मार्च १९५९ को स्वर्गवास हो गया। —सम्पादक

श्री जगजीवनरामजी कह रहे थे कि 'यह मन्दिर प्रवेश का ही नहीं; यह तो जातिवाद का प्रश्न है। यह हमारे जीवन और संस्कारों में इस तरह समा गया है कि इसका हल होना सुगम नहीं जान पड़ता। जब तक यह जातिवाद जड़ पकड़े है, हम कितने भी आगे बढ़ जाएँ फिर भी पीछे ही रह जाएँगे; क्योंकि हमारे बाहरी रूप बदलने से काम नहीं चलता, वह तो हमारी आत्माओं को बदलने का प्रश्न है। इसके लिए एक बड़ी क्रान्ति की आवश्यकता है और यह क्रान्ति है जातिवाद का नाश। मैं सोचता हूँ, जिस दिन यह नाश होगा वह हमारे देश में क्रान्ति का सब से बड़ा दिन होगा और मेरा तो खयाल है कि संसार भर में उससे बड़ी क्रान्ति न कभी हुई न भविष्य में ही होगी।'

'जरा रुक कर बाबूजी बोले, इतनी बड़ी क्रान्ति हम साधारण कामों से नहीं कर सकते। इसके लिए हमें लम्बे समय तक कठोर साधना करनी पड़ेगी।'

मैं सोच रही थी कि श्री जगजीवनरामजी एक साधारण आन्दोलनकारी नेता नहीं हैं। वे तो उन थोड़े से समाज निर्माताओं में हैं जिनके दिमाग में नए समाज का एक स्पष्ट नक्शा है। अभी तक मैं उनकी सरलता को ही सोच रही थी; पर अब उनकी महानता का भी एक चित्र मेरे सामने था।

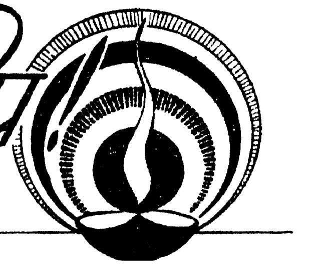
बातों-ही-बातों में प्रभाकरजी ने फिर कहा—'देहरादून में उस दिन आपका भाषण खूब जमा।' वे हँस कर बोले—'वह हमारी परीक्षा का दिन था।'

मैंने बातोंसे जाना कि वहाँ कांग्रेस महासमितिका अधिवेशन था और उस दिन पंडित जवाहरलाल नेहरू का सार्वजनिक भाषण था। भीड़ अपार थी और प्रश्न यह था कि नेहरूजी के भाषण के बाद जल्सा समाप्त हो या कोई और भी बोले? नेहरूजी को भाषण देते ही चले जाना था। इसलिए सब की राय यह थी कि उनके मंच से हटते ही जल्सा उखड़ जाएगा और किसी का भी भाषण नहीं जमेगा, पर श्री जगजीवनरामजी बोलने को तैयार हो गए। नेहरूजी ने भाषण समाप्त करके बाबूजी से कहा कि आप बोलना आरम्भ कर दें। जब आपका भाषण जम जाएगा तो मैं धीरे से चला जाऊँगा। पर बाबूजी ने उन्हें नहीं रोका और उनके जाने पर जब भीड़ उखड़ी-उखड़ी हो गई, तो उन्होंने बोलना शुरू किया और जल्सा पूरी तरह फिर जम गया। कोई उठ कर नहीं गया। इस संस्मरण में बाबूजी के आत्मबल, आत्मविश्वास, साहस और प्रभाव का एक भावपूर्ण चित्र मुझे मिला।

भाषणों की बात चली तो बाबूजी बोले—'भाषण एक कला है और इसे सीखने के लिए देश के साधारण कार्यकर्त्ताओं के पास जाना चाहिए; क्योंकि वे जन-साधारण में बोलते हैं। एक बार मैं एक जल्से में गया, तो एक देहाती कार्यकर्त्ता भाषण दे रहे थे। मुझे देख कर वे बैठने लगे तो मैंने उनसे भाषण जारी रखने का आग्रह किया। 'उन्होंने कहा कि कुछ लोग कहते हैं कि देश में कुछ काम नहीं हुआ, इसे आप यों समझिए कि एक बाल्टी में पानी भरा है और उसका शर्बत बनाना है। अब एक आदमी उसमें एक मुट्ठी चीनी डालता है, फिर दूसरी मुट्ठी, फिर तीसरी मुट्ठी। अब बताइए शर्बत बना या नहीं? पूरा शर्बत बनने के लिए छः मुट्ठी चीनी चाहिए। इस हिसाब से कहें कि पूरा शर्बत नहीं बना, पर आधी चीनी पड़ चुकी है, इसलिए हम यह तो नहीं कह सकते कि बिल्कुल फीका पानी है। यही हाल देश का है कि बहुत-सा काम हो गया है, बहुत-सा हो रहा है।'

**

जलता रहेगा, यह दीप!



श्री क्षितीश्वर प्रसाद

बी० ए०, एल० एल० बी०

श्री जगजीवनराम भारत माता के वरद-पुत्र हैं। वे दलित तथा शोषितों के सच्चे प्रतिनिधि हैं। बिहार के एक छोटे से ग्राम में, वे अछूत जाति में उत्पन्न हुए। पर अपनी क्रियाशीलता से आज वे भारत के एक महान् पुरुष हैं; चोटी के नेताओं में हैं। जगजीवनरामजी ने भाग्य पर कभी भरोसा न कर, एक साधारण जीवन से अपना महान निर्माण किया। उनका जीवन एक कर्मयोगी का जीवन है। उनके हृदय में समाज के दीन-दु:खियों के प्रति प्रेम और सहानुभूति है। शोषितों के लिए उनके दिल में सदा दर्द रहता है। किसान, मजदूर और हरिजन समाज —सभी के वे सच्चे नेता हैं। हरिजन उद्धार में वे मानवता का पालन करते हैं और हिन्दू समाज तथा हिन्दू धर्म का नव-निर्माण चाहते हैं। जगजीवनरामजी महात्मा गांधीजी के सच्चे अनुयायी हैं।

५ एप्रिल १९०८ का दिन था, जब बिहार में आरा जिले के चंदौसा ग्राम में थाली बजी थी, उस दिन जगजीवनरामजी का जन्म हुआ था। एक दलित समाज में जन्म लेकर आगे बढ़ना आसान नहीं है, कांटों का पथ है और तलवार की धार पर चलना है। पर जगजीवनरामजी ने अपना कदम पीछे न मोड़ा। वे भारत के राष्ट्रीय गगन में प्रकाश पुंज नक्षत्र के समान दीप्तमान हुए।

१९४६ में देश की आनबान की घड़ियों में आपने राष्ट्र का सच्चा साथ दिया। यह वह समय था, जब दलितों के नेतृत्व की परीक्षा थी। आपने दलित वर्ग को देश की स्वतंत्रता की प्राप्ति में रोड़ा न बनने दिया। आपके सफल नेतृत्व से सारा देश चकित हो गया और उसने ही हरिजनों को देश का श्रद्धा भाजन बनाया।

जगजीवनराम जी जब केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में आए और भारत सरकार के श्रम-मंत्री बने, तब आपने भारतीय मजदूरों के हित के लिए सारे साधन प्रस्तुत कर दिए। आपने जितने कानून बनाए, उनसे मजदूरों का कल्याण हुआ। न्यूनतम मजदूरी का कानून, वेलफेयर कानून, इम्पलाइज स्टेट, श्रमजीवी-बीमा कानून और औद्योगिक विग्रह कानून आदि की व्यवस्थाएँ मजदूरों के प्रति आपकी सेवाओं का हमें स्मरण दिलाती हैं। आपने उद्योग तथा मजदूर—दोनों के न्याय के लिए अपना सदा कदम बढ़ाया, जिससे कि देश का आर्थिक विकास उत्तरोत्तर बढ़े।

उद्योग में मजदूरों से सम्पर्क रखने के कारण मैं अपने अनुभव से यह कहता हूँ कि दलित और पीड़ितों के लिए जगजीवनरामजी की सेवाएँ बड़ी महत् हैं। वे सभी दृष्टि से नए समाज का निर्माण चाहते हैं। जगजीवनरामजी जब एक बार किसी से मिल लेते हैं, फिर वे उसे नहीं भूलते। व्यस्त जीवन में इतना सब स्मरण रखना, उनकी विशेषता है। हम प्रार्थना करते हैं कि वे चिरजीवी हों, और देश सेवा में रत रहें।

राष्ट्र का यह दीप सदा जलता रहे और प्रकाशमान रहे, हमारी यह सतत कामना है।

**



जगजीवनराम—स्वनिर्मित मानव

श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु',
एम० ए०, एम० एल० ए०

मनुष्य के जीवन काल में उसके सत्कर्मों की प्रशंसा होनी चाहिए या नहीं, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर विचारकों का मतैक्य नहीं। दोनों ही पक्षों के अलग-अलग तर्क हैं। कोई भी तर्क कभी अखण्ड्य नहीं माना जाता। अन्ततः तथ्य यह है कि मनुष्य भावना प्रधान जीव है और किसी सत्कर्म की प्रशंसा या निन्दा किए बिना नहीं रह सकता। सब कुछ देख सुन कर भी मौन रहना एक आदर्श की बात भले ही मानी जाए, पर समाज-कल्याण की दृष्टि से इसका जो महत्व है, वही सामाजिक क्षेत्र में प्रशंसा व निन्दा का है। यदि मनुष्य के सत्कर्मों की प्रशंसा न की जाए, तो सत्कर्मों तथा समाज को सत्कर्मों के प्रति प्रेरणा नहीं मिल सकेगी। इसी प्रकार अपकर्मों की निन्दा न की जाए, तो उनकी बाढ़ रोकने में कठिनाई होगी। कुछ लोग यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि यह सब कुछ किया जाए, पर व्यक्ति के दैहिक अवसान पर। समाज को इससे भी एक दिन लाभ होना निश्चित है। एक सीमा तक इस तर्क में शक्ति है, किन्तु जीवन काल में किसी के किसी कर्म पर समाज का चुप रहना ही अभीष्ठ माना जाए, तो अस्वाभाविकता के साथ-साथ इससे कई बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। समाज की अभ्यर्थना से व्यक्ति को समाज सेवा का जो प्रोत्साहन मिल सकता है, वह उससे प्राप्त नहीं हो सकेगा। व्यष्टि और समष्टि दोनों को अपने कर्त्तव्य पालन में कुंठा होगी। व्यक्ति की प्रशंसा उनके सत्कर्मों की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है, व्यक्ति की निन्दा या कुत्सा से यदि उसके कुकर्मों को न रोका जाए, तो इससे समाज विरोधी तत्वों को फैलने का ही अवसर मिलेगा।

जगजीवनरामजी ने अपने व्यक्तित्व का निर्माण स्वयं किया है और बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है, हिन्दू समाज के एक उपेक्षित अंग में उत्पन्न होकर उन्होंने अपनी प्रतिभा से समस्त हिन्दू समाज को ही नहीं, बल्कि, सारे राष्ट्र को चमत्कृत कर दिया है। भविष्यवाणी करने की मुझे में क्षमता नहीं, किन्तु मेरी धारणा है, अनति दूर भविष्य में जगजीवन बाबू अपनी प्रतिभा तथा सेवा भावना के बल पर राष्ट्र के सर्वोच्च गौरवशाली पद के अधिकारी हो सकते हैं। उनके व्यक्तित्व की सम्भावनाएँ मेरी धारणा की परिपुष्ट करती है कि "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" उक्ति में कोई तथ्य है, तो जगजीवन बाबू के जीवन में है।

**

भारतीय राष्ट्र में गौरवपूर्ण स्थान

भारत के राजनीतिक क्षितिज में श्री जगजीवनराम का उदय एक प्रकाशमान नक्षत्र के समान हुआ। २ सितम्बर १६४६ में उन्होंने पंडित जवाहरलाल नेहरू के प्रधान मंत्रित्व में केन्द्रीय मंत्रिमंडल में प्रवेश किया। आज इस घटना को व्यतीत हुए एक युग बीत गया। केन्द्रीय मंत्रिमंडल में अनेक मंत्री बने, बिगड़े और कइयों को त्याग-पत्र देना पड़ा, परिस्थितियों वश हटना तक पड़ा, किन्तु श्री जगजीवनरामजी बराबर मोर्चे पर रहे, उन्होंने एक विभाग के उपरान्त दूसरे विभाग का मंत्रित्व स्वीकार किया। दो आम निर्वाचन हुए और इतने संघर्ष हुए किन्तु जगजीवनरामजी केन्द्रीय मंत्रिमंडल में अपने स्थान पर ध्रुव नक्षत्र के समान स्थिर और दीप्तमान रहे। तथा उनकी प्रभा कभी म्लान नहीं हुई। वे निरंतर पथ प्रदर्शन करते रहे। उन्होंने केन्द्रीय मंत्रिमंडल में एक के स्थान पर दूसरा पद ग्रहण किया।

भारत की राजनीति में एक हरिजन नेता के रूप में जगजीवनरामजी एक शक्तिशाली प्रवाह के साथ आए और इस ऊँचे स्थान पर पहुँचने में समर्थ हुए। जब आपने सर्वप्रथम मंत्रित्व की शपथ ली थी, तब एक पत्र ने आपके सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्‌गार प्रकट किए थे :—

'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ के अध्यक्ष श्री जगजीवनरामजी प्रथम राष्ट्रीय सरकार के सब से कम उम्र के सदस्य हैं। मंत्रिमंडल में उनके मनोनीत होने से सब प्रसन्न हैं और लोगों ने यह कह कर उनका स्वागत किया है कि इससे हरिजनों की आशाओं के पूर्ण होने का युग निकट आया है।'

कहना न होगा कि इस पत्र ने आपको केन्द्रीय सरकार के स्थान पर आपके नाम के आगे 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ के अध्यक्ष' का विशेषण दिया, जो स्वाभाविक ही है। इस सीढ़ी के ही बल पर श्री जगजीवनरामजी ३८ वर्ष की आयु में केन्द्रीय मंत्री हो सके। किन्तु यह भी सत्य है कि यह सीढ़ी उन्हें बनी बनायी नहीं मिल गयी। इस सीढ़ी को उन्होंने ही गढ़ा है और उसे मजबूत बनाया है तथा व्यापक बनाया है।

श्री जगजीवनरामजी को लोग आदर और सम्मान से बिहार की परम्परा के अनुसार "बाबूजी" कहते हैं। केवल बिहार में ही नहीं, बल्कि नई दिल्ली और इतर सब क्षेत्रों में छोटे-बड़े सभी उन्हें बाबूजी कहते हैं।

यह प्रश्न उठता है कि श्री जगजीवनरामजी क्यों आगे बढ़े और दूसरा कोई क्यों नहीं आगे बढ़ सका? इसका कारण जगजीवनरामजी का अपना व्यक्तित्व है। उनका हृदय बहुत अधिक संवेदनशील है। वे अपने पड़ोसी, समाज और देश के दुःख और कष्टों को अपना मानते हैं और शरीर के किसी अंग में पीड़ा होने पर जैसे सारी शक्ति उसे दूर करने में लग जाती है उसी प्रकार वे अपनी सुख-सुविधाएँ और मानापमान का ख्याल छोड़ कर लोगों के कष्टों को दूर करने में आगे बढ़ते हैं।

२६ वर्ष की युवा अवस्था में उन्होंने जो प्रण किया, जो व्रत लिया और जिस संकल्प से उन्होंने जीवन का मोड़ लिया, उसमें फिर परिवर्तन करने की कभी उन्हें आवश्यकता नहीं आयी। २६ वर्ष के युवक ने सर्वात्मना भाव से अपने दलित बन्धुओं के उत्थान और उद्धार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के आई० सी० एस० के त्याग की पंक्ति में आपका त्याग जोड़ लेता है। यूनीवरसिटी की परीक्षा पास कर घर को महल बनाने की अपेक्षा उन्होंने सार्वजनिक सेवा का व्रत लिया। उनका जैसा दृढ़ निश्चय, अटूट संकल्प, महान् शक्ति और अगाढ़ धैर्य बिरले लोगों में मिलेगा।

जगजीवनरामजी में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो अन्यत्र सहज सुलभ और संभव नहीं है। महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी की वक्तृत्व शैली को आपने ग्रहण किया। जगजीवनरामजी का शांत और

प्रभावपूर्ण भाषण यदा-कदा हमें महामना की याद दिलाता है। उनका भाषण तल स्पर्शी होता है, बुद्धि को झकझोरता है और हृदय को आह्वान करता है। जगजीवनरामजी हरिजनों के एकछत्र नेता होते हुए भी समस्त हिन्दू जाति के कल्याण की कामना करते हैं। वे हिन्दू समाज में विघटन नहीं पैदा करना चाहते हैं।

जगजीवनरामजी पर जहाँ महामना मालवीयजी का प्रभाव पड़ा, वहाँ वे रामायण के अमर गायक गोस्वामी तुलसीदासजी से भी प्रभावित हुए। जगजीवनरामजी ने गोस्वामी तुलसीदासजी को महान् सुधारक माना। बाबू जगजीवनरामजी केवल समाज सुधारक ही नहीं हैं, बल्कि वे यह भी जानते हैं कि समाज से उन्हें कितने कदम आगे रहना चाहिए। वे लोक संग्रही हैं और समदृष्टि से काम लेते हैं। सार्वजनिक सभाओं में वे जनता की भाषा में गांधीजी के समान बोलते हैं।

डा० अम्बेदकर ने अपने नेतृत्व में इस तत्व को नहीं समझा, इससे वे भारतीय राजनीति और हिन्दू समाज के नेतृत्व में सफल न हो सके। यह बात सत्य है कि हरिजन समाज में डाक्टर अम्बेदकर की जैसी बौद्धिक-शक्ति के कम लोग देश में रहे, किन्तु उनमें व्यवहार कुशलता तथा नेतृत्व की गम्भीरता का अभाव था। पर जगजीवनरामजी में ये सब गुण कूट-कूट कर भरे हुए हैं। उन्हें नजदीक से देखिए या दूर से देखिए, विदेशों के मंत्रियों से बातें करते हुए देखिए या प्रेस प्रतिनिधियों तथा सरकारी अधिकारियों से, उनमें व्यवहार कुशलता और जीवन की सरलता मिलेगी। उनके मुख पर जो स्थित हास्य रहता है वह चारों ओर प्रसन्नता बिखेर देता है। वे जिससे बातें करते हैं, वह व्यक्ति अनुभव करता है कि मानो वह उनके अत्यन्त निकट है, आत्मीय जन है, ऐसा प्रेरणादायक व्यक्तित्व जगजीवन बाबू का है। अतएव, सार्वजनिक जीवन में वे एक अत्यन्त कुशल संगठनकर्ता हैं। एक शासक के लिए ये सब अत्यन्त वांछनीय हैं। इससे लोग सहज में उसके पास पहुँच सकते हैं और तब वे भय तथा आतंक अनुभव नहीं करते। हकीकत भी यही है कि जगजीवन-रामजी मंत्री होने पर भी हर किसी से मिल सकते हैं, किसी को कोई रोक-टोक नहीं कि उनसे न मिल पाए। कलकत्ते में वे जब आते हैं और राजभवन में ठहरते हैं, तब द्वार पर पुलिस को इजाजत रहती है कि उनसे मिलनेवालों को रोका न जाए। इस अवस्था में वे अनेक कामों को रोक कर भी सब से मिलते हैं, और उनके दुःख-दर्द सुनते हैं।

अधिकांश लोग जिस सीढ़ी के सहारे ऊँचे चढ़ते हैं, ऊँचाई में चढ़ने पर उसे छोड़ देते हैं, ग्रेटब्रिटेन के प्रथम मजदूर सरकार के प्रधान मंत्री श्री रेम्जे मेकडानल्ड एक उदाहरण हैं। पर भारत में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। विट्ठल भाई पटेल तथा श्री जगजीवनरामजी जिस सीढ़ी से चढ़े उसे उन्होंने छोड़ा नहीं। बल्कि उन्होंने उसे शक्तिशाली बनाया। उच्च पद पर पहुँच कर भी जगजीवन बाबू में हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद के समान विनम्रता तथा शालीनता है। बिहार स्वतः शील और नम्रता के लिए देश में प्रसिद्ध है। तब जगजीवनरामजी में एक स्वाभाविक अंग के रूप में प्रकट होना आश्चर्यजनक नहीं है।

विनम्रता होने पर भी आप निर्भयता है। समाज तथा देश के हित को प्रकट करने में वे कभी कोई संकोच नहीं करते और न किसी का लिहाज करते हैं। पीड़ित समाज के लिए मर-मिटने की भावना जगजीवन-रामजी में है। अपने स्पष्ट विचारों को प्रकट करने में वे किसी धनी, किसी अधिकारी और अपने बड़े-से-बड़े सहयोगी तक का लिहाज नहीं करते। शोषित वर्ग तथा दलित समाज के हितों की हानि तथा उपेक्षा होते देख कर वे गांधीजी तक की आलोचना करने से नहीं चूके और उनके इस काम से उनके अनेक कांग्रेसी मित्र स्तब्ध रह गए, इसकी उन्हें कीमत भी चुकानी पड़ी। १९४६ में बिहार में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनने पर उन्हें नहीं लिया गया। हरिजन प्रतिनिधि के रूप में वे सीधे केन्द्रीय मंत्रिमंडल में पहुँचे। इस अवस्था में उन्हें वह सीढ़ी छोड़ना कब सम्भव था।

भारतीय राष्ट्र में गौरवपूर्ण स्थान

आप पहले मन्त्री हैं जिनका अल्पवय में अर्थात् पचास वर्ष की आयु होने से पूर्व ही प्रति वर्ष जन्म दिवस पर अभिनन्दन किया जाता है। यह परम्परा बनी हुई है। यह अभिनन्दन उसकी कड़ी है।

श्री जगजीवनरामजी भोजपुरी हैं और अपनी बोली अच्छी तरह बोल लेते हैं। इससे वे अपने प्रान्त के लोगों से उनके दिल में प्रवेश कर बातें करते हैं। उनसे बातें करनेवाला व्यक्ति उनमें स्नेह और सहानुभूति की धारा बहती हुई पाता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि न केवल हरिजन, बल्कि वे सवर्ण हिन्दुओं के पीड़ित वर्गों के भी ढाल हैं, नेता हैं, रक्षक हैं।

हरिजनों की माँगे पेश करते समय सवर्ण हिन्दुओं से वे कोई द्वेष प्रकट नहीं करते। डा० अम्बेदकर के समान उन्होंने हिन्दुओं का दिल दुखाने की कभी कोई बात नहीं कही। सामाजिक अत्याचारों की बातें कहते हुए भी उनके हृदय में विद्वेष की भावना नहीं है। यही कारण है कि जगजीवनरामजी सवर्ण हिन्दुओं का हृदय जीत सके हैं। उनसे भी वे सम्मान पाते हैं। सवर्णों का वे आदर करते हैं और उन्हें अपनाने का प्रयत्न करते हैं। सवर्ण हिन्दुओं का दिल जीत लेना जगजीवनरामजी के व्यक्तित्व की महानता का सूचक है।

उनका यह नेतृत्व आगे अधिक विकास पाएगा। अनेक युवक यह धारणा रखते हैं कि यदि कभी किसी हरिजन को प्रधान मन्त्री या राष्ट्रपति होने का अवसर राष्ट्र ने दिया तो वे श्री जगजीवनरामजी होंगे। इस समय देश में उनका जितना व्यापक प्रभाव है, उनकी जितनी ख्याति है, लोकप्रियता है, उससे यह कहा जा सकता है कि उनके लिए यह सब कुछ प्राप्त करना असम्भव नहीं है। जिस दिन राष्ट्र यह कर्तव्य पालन करेगा उस दिन हम राष्ट्रपिता द्वारा हरिजनों को दिए हुए वचन को पूरा करेंगे।

— अवनीन्द्रकुमार

**



जगजीवन! तुम अमर दान बन
इस धरती पर आए,
तम के सिर पर चढ़े, चतुर्दिक,
विधु मण्डल फैलाए,

किन्तु, रूढ़ियां और उपेक्षा
चली बांधने तुम को,
कांटें कस कर लगे घेरने
अनुपम ज्योति कुसुम को

किन्तु, किरण के तीक्ष्ण शरों
सदा कुहासा हारा,
तम को वेध, सदा धरती पर
फैली ज्योति र्धारा।

फटी तिमिर की चादर, रवि के
ज्योति लसित वाणों से।
संध्या के बादल छितराए,
शशि की मुसकानों से

शैवालों का जाल, कमल
निज से में बांध न पाया।
निरझरिणी का वेग देख कर,
हिमगिरि भी थर्राया।

तुम वैसे ही प्रखर तेज से
रूढ़ि वेध कर आए,
देश चकित रह गया, चतुर्दिक
सूर्य विभा बन छाए

तुम निकले उस घर्षण से,
भारत में चलता था
उस मानस मंथन प्रकाश से,
जो अविरल जलता था।

जगजीवन ! तुम अमरवान बन आए

इधर नए विश्वास, उधर थे
कब के ताने बाने !
भिड़े हुए थे नव आदर्शों
से आदर्श पुराने !!

नये पुराने का यह संगर
कब से मचा हुआ था !
भूत और अध्यात्म द्वन्द्व यह
कब से रचा हुआ था,

तुम युग के इस संघर्षण से
समाधान बन निकले,
निशा दिवस के प्रबल होड़ से
किरण बाण बन निकले !

शाहाबाद जिले की पावन
वह मृत्तिका पुरानी,
जिस पर विश्वामित्र पांडवों
की है अमिट निशानी।

शेरशाह के गर्जन से, जो
अब तक डोल रही है,
कुंअर सिंह की जय, जो खुल कर
अब तक बोल रही है।

उस चन्दवा की मिट्टी ने
जना तुम्हें युग नेता !
जना कि जग के अंध क्षितिज पर
आया ज्योति प्रणेता !!

जगजीवन, तुम प्रभा पिण्ड से
उठते जगत के ऊपर,
और लगी बिखरने सत की,
ज्योति, गगन पर, भू पर !

—सुहृद



जगजीवन, नेता स्वदेश का

कविवर सुहृद

जगजीवन नेता स्वदेश का,
व्रती महा बलिदानी!
जगजीवन, है उत्सर्गों की
जलती हुई कहानी!

जगजीवन! पहचानी सब ने
प्रतिभा ज्योति तुम्हारी,
और तुम्हारे अभिनन्दन की
यह अद्भुत तैयारी।

विजय हार पहनाया तुम को,
तुम ने गुरुपद पाया।
माँ के चिर रक्षक पूतों में
नाम तुम्हारा आया।

अभिनन्दन, ओ' युग नेता!
अभिनन्दन बलिदानी!
ज्योति छिटकती जो तुम से, वह
अब सब ने पहचानी!

तुम दलितों के सच्चे नायक,
नव युग के निर्माता!
जोह रहा इतिहास तुम्हारा
मग, ओ सच्चे त्राता!

भारत संघ के स्तंभ कठिन तुम,
तम पर ज्योति पताका,
तुम ने सच्चा मान किया है,
जन का, भारत माँ का।

दलित अछूतों के स्वर में
अधिकार तुम्हारा बोला,
मानवता का मन्दिर तुम ने
सब की खातिर खोला।

धर्म और झण्डे के नीचे
बंटे हुए जो जन थे,
पण्डों के नाखूनी पंजों
में, जो देव भजन थे,

मुक्त किया तुम ने उनको,
सब पल में हुए बराबर।
मानवता का अमृत पान कर
विहंसित हुआ चराचर।

टूटा बाँध विभेदों का, ओ'
समय मनोरम आया।
बिछुड़े भाई ने भाई को
उठ कर गले लगाया!

राजा भंगी एक पिता के
पुत्र हो गए घोषित।
उभरा सत का पद् प्रकाश से,
हुई मनुजता पोषित।



शतावधानी जगजीवनराम

श्री कपिलदेव नारायणसिंह, 'सुहृद'

देश-गौरव श्री जगजीवनराम के स्वभाव से में इतना प्रभावित रहता हूँ कि उनके प्रति मेरे हृदय में एक स्थान बन गया है।

१९३० के सत्याग्रह आन्दोलन ने देश के जिन नौजवानों को देशभक्ति की ओर आकृष्ट किया, जगजीवन बाबू उनमें एक हैं। उनकी मेधा श्रेष्ठ है और कष्ट सहन की शक्ति अपार है। जब से वे अहिंसक क्रान्ति की धारा में आए, देश के लिए त्याग करते आए हैं। आज वे सर्वमान्य नेताओं में हैं। आज उनका स्थान शीर्ष नेताओं में है।

भारतीय एकता के प्रति जगजीवन बाबू की सेवाएँ अटूट हैं। स्वर्गीय डा० अम्बेडकर ने चाहा था कि हरिजनों को संगठित करके उन्हें हिन्दुओं से अलग कर दिया जाए। वह देश को कमजोर बनानेवाली बात थी। गांधीजी और देश के अन्य बड़े नेता इस नीति को देश के लिए घातक समझते थे।

लोगों ने इस जातिभेद के बड़े प्रसार को मिटाना चाहा, किन्तु वे पूर्ण रूप से सफल नहीं हुए। सफलता इस काम में जगजीवन बाबू को प्राप्त हुई। आज देश के हरिजन संगठित हैं और वे विशाल हिन्दू समाज के अंग बने हुए हैं। इस कल्याणमय संगठन के नेता भाई जगजीवनरामजी हैं। वे हरिजनों के अधिकारों को दिनबदिन बढ़ाते जा रहे हैं, उन्हें ऊपर उठाते जा रहे हैं तथा उनमें सतत नयी चेतना का संचार करते जा रहे हैं। किन्तु, ये सारे कार्य वे इस दृष्टि से कर रहे हैं कि विशाल हिन्दू समाज की शक्ति में वृद्धि हो। जगजीवन बाबू की नीति उन्हें देश के अप्रतिम नेता के रूप में उपस्थित करती है।

जगजीवन बाबू के स्वभाव की विशेषता प्रखर बुद्धि और अमोघ विनयशीलता है। कठिन-से-कठिन गुत्थियों के सामने जिस प्रकार उनकी बुद्धि पराजित नहीं होती, उसी भाँति सभी प्रकार के लोगों के बीच उनका ध्येय भी निश्चल और अजेय रहता है। उनकी आकृति अनवरत प्रसन्न और खिली हुई रहती है। उस पर बुरे क्षणों में भी विषाद, कठोरता एवं विषावत गम्भीरता की छाया नहीं पड़ती। सार्वजनिक जीवन में शक्तिशाली होने का एक शाप यह भी है कि नेतृत्व को क्षण-क्षण शत्रु, मित्र अथवा उदासीन सभी प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आना पड़ता है। यह शायद सार्वजनिक जीवन का सब से बड़ा पाप है, जो मनुष्य को अपने समय का स्वामी नहीं रहने देता। ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो इस बाधा से विचलित होकर चिड़चिड़े अथवा बुरे अर्थों में गम्भीर बन जाते हैं तथा व्यर्थ ही अभिमान अथवा पद गौरव के कलंक से दूषित होकर जनता का प्रेम खो बैठते हैं। लेकिन जगजीवन बाबू के लिए यह बाधा बाधा नहीं रही। मन के भीतर तथाबाहर की दुनिया के बीच उन्हें सामंजस्य का पथ मिला तथा लोक जीवन का शोरगुल उनके अध्यवसाय में बाधक

नहीं हो सका और न उनके कामों के गुण पक्ष को ही कम कर सका। मुलाकातियों से घिरे रहने पर भी वे मनोयोगपूर्वक अपना काम करते हैं तथा किसी को भी यह पता नहीं चलता कि वे किसी की ओर मुखातिब नहीं हैं।

काम चाहे कितना भी हो, किन्तु ऐसा दीखता है कि वह जगजीवन बाबू की कार्य-क्षमता के लिए काफी नहीं होता। वे एक हाथ से मिनिस्टरी की फाइलें लिखते हैं और दूसरे हाथ से कांग्रेस संगठन की योजना। उनका अध्यवसाय और उनकी बुद्धि इतनी विशाल है कि वे अनेक गुरुतम कार्यों का बोझ एक साथ ही उठा सकते हैं। कहते हैं, कुछ दिन पहले तक हिन्दुस्तान में शतावधानियों की संख्या आज जैसी थोड़ी नहीं थी। शतावधानी उस पुरुष को कहते हैं, जो एक साथ सौ कामों पर निगरानी रख सके। ऐसे लोगों में जगजीवन बाबू का अन्यतम स्थान है और यही कारण है कि जो लोग उनके गुणों को जानते हैं, वे उनकी प्रशंसा जिस रूप में करते हैं उस रूप में किसी अन्य के बारे में नहीं कहा जा सकता।

विनयशीलता से सम्बद्ध एक और गुण है, जिसका विकास जगजीवन बाबू में पूरी मात्रा में हुआ है। वह है दंभ का अभाव तथा जो कुछ वे नहीं हैं, उसे नहीं दिखलाने की प्रवृत्ति। वे गांधीजी के परम भक्त और गांधीवाद में पूरे बल के साथ विश्वास करनेवाले जीव हैं।

जगजीवन बाबू की सारी बातें व्यावहारिक और क्रियाप्रेरक होती हैं। वे कविता, कल्पना अथवा अतिरंजन को प्रश्रय नहीं देते। उनका समग्र दृष्टिकोण कर्मठ पुरुष का सा दृष्टिकोण है और जरूरत से अधिक न तो वे कहते हैं और न दूसरों से ही सुनना चाहते हैं।

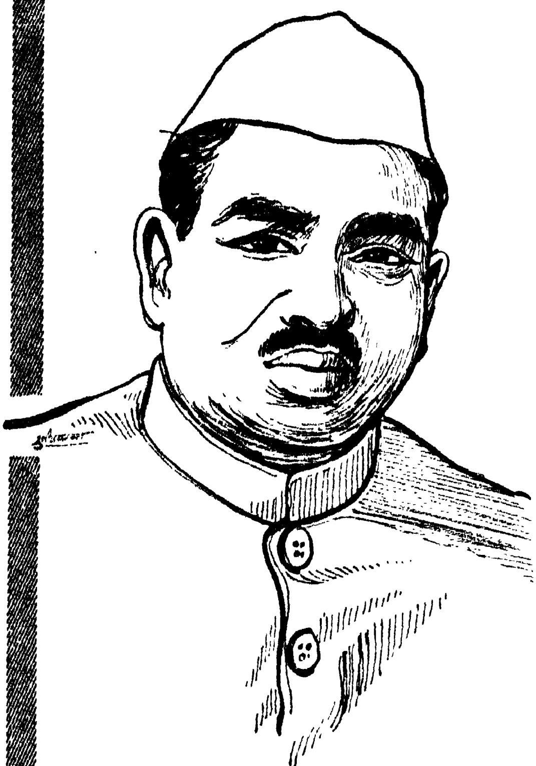
पद मर्यादा ने उन्हें अभिमानी नहीं बनाया और न कर्त्तव्य पालन ने उन्हें लोगों का कोप-भाजन बनाया। वे एक-एक क्षण देश के लिए व्यय करने वाले हैं। इस महान् व्रत में अपने को पूरी तरह से खपाने में उन्हें आनन्द मिलता है।

जहाँ धनी के जीवन का आनन्द वैभव है वहाँ देश सेवा के व्रत को धारण करनेवाले तपस्वी के जीवन का आनन्द जनता की सेवा में है। जगजीवन बाबू इस सेवा का आनन्द लेते हैं।

**



बाबू जगजीवनराम और श्री जी० एस० पथिक



तृतीय खण्ड

देशगौरव जगजीवनराम का जीवन-वृत्त

देश गौरव जगजीवनराम

—श्री जी० एस्० पथिक

खरे सोने का-सा व्यक्तित्व

"अग्नि परीक्षा में खरे सोने की तरह साबित होने वाले जगजीवनरामजी की मैं दिल से इज्जत करता हूँ।" —महात्मा गाँधी

श्री जगजीवनरामजी देश के उन नर-रत्नों में एक हैं, जिन्होंने अपनी कर्मठता से अपना स्थान निर्माण किया है। भारत के इतिहास के पृष्ठों में उनकी श-गाथा स्वर्णाक्षरों में लिखी जाएगी। उन्हें यह सौभाग्य प्राप्त है कि वे अपने शिक्षा-काल के जीवन से ही जन-मानस पर अपनी छाप डालने में समर्थ हुए। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में इतनी तेजी से वे आगे बढ़े और उन्होंने इतना काम किया कि ये दूसरों के लिए पथ-प्रदर्शक बन गए। यह सब इसलिए संभव हुआ कि गरीबी में उनका निर्माण हुआ और सामाजिक क्रान्ति की विचारधारा ने उन्हें लाखों एवं करोड़ों पीड़ितों और शोषित वर्गों के निकट में ला खड़ा किया। चाहे जिस वातावरण में वे रहे और आज चाहे जिस पद पर वे रहें, दलितों और पीड़ितों के सड़े-गले जीवन को उन्होंने भूला नहीं है। हरिजनों के लिए आज भी वे संघर्ष कर रहे हैं, उसमें कोई समझौता नहीं चाहते हैं। इस सम्बन्ध में उन्हें कांग्रेस के प्रधान नेताओं से भी यदाकदा लोहा लेना पड़ा है। केन्द्रीय सरकार के श्रमजीवी मंत्री का पद जब उन्हें मिला, तब वे अपने कर्तव्य-पालन से नहीं चूके। यह उनका कार्य था, जिस से मजदूरों के स्वार्थों की रक्षा के लिए अनेक नए कानून बने। वे केवल हरिजनों के नेता ही नहीं हैं, अपितु समस्त हिन्दू जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक राष्ट्र-सेवक के रूप में भारत की चालीस करोड़ जनता का शानदार प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें कितनी मिलन-सारता है, सम्पर्क कायम करने की कितनी तत्परता है और संगठन की कितनी अपूर्व शक्ति है, जिसे उन्होंने छात्र जीवन से प्रकट कर दिखाया। पूँजीवाद के वे घोर विरोधी हैं। वे यह सोचते हैं कि उसके बिना मिटे, कोटि-कोटि दलितों का उद्धार संभव नहीं है।

समाज के वर्तमान रूप को वे झकझोर डालना चाहते हैं और उसमें जितनी गन्दगी है, उसे मिटा कर नई रचना करने की प्रबल भावना रखते हैं।

हरिजनों के हितों के वे सच्चे प्रहरी हैं। इस दिशा में वे अपनी बात बेलाग और साफ-साफ प्रकट करने में कभी नहीं हिचकते। किसी वर्ग के बलि होने के लिए वे हरिजनों को मँझधार में नहीं छोड़ना चाहते। अपने समाज के लिए वे समानता के अधिकार माँगते हैं। वे निर्भीक होकर अस्पृश्यता के विनाश का यह मापदण्ड रखते हैं कि दलित वर्ग के पुत्र-पुत्रियों के साथ सवर्णों की सन्तानों का विवाह सम्बन्ध हो। इसलिए दलितों के लिए केवल आर्थिक सुविधाएँ मिलने से ही उन्हें सन्तोष नहीं है। अपने निर्भीक और स्पष्ट विचारों के कारण ही वे दलित-समाज के जन-मानस में अपना स्थान कायम करने में समर्थ हुए।

जगजीवनरामजी का व्यक्तित्व बड़ा ठोस और सिद्धान्तवादी है, वह किसी आँधी व तूफान में उखड़ता नहीं है। सार्वजनिक समस्याओं के हल में पीड़ितों की आवाज वे बिना किसी हिचकिचाहट के रखते हैं। पक्षपात और दलबन्दी के विरोध में वे जोरदार विचार प्रकट करते हैं। जन-सत्तात्मक समाज की जड़ें काटनेवाले तंग दायरे, समाज के परम्परागत पैत्रिक ढाँचे, प्रादेशिकता, जातीयता और साम्प्रदायिकता के विद्रोह में उनकी वाणी और विचार प्रत्येक भाषण और लेखों में दीप्तमान प्रकट होती है। वे अति ज्वलन्त रूप में अपनी बात रखते हैं। वे समाज के थोथे रूप को पसन्द नहीं करते। इसके लिए वे न तो कोई समझौता चाहते हैं और न किसी की कृपा के अभिलाषी हैं। उन्हें खुशामद पसन्द नहीं है। वे किसी धनी व सहयोगी या सहायक का पक्ष नहीं लेते। उनके सार्वजनिक जीवन में अब तक ऐसा कोई अवसर ही नहीं आया। वे अपना जीवन साफ और स्वच्छ रखते हैं और खुले विचार प्रकट करने में संकोच नहीं करते। किन्तु इतने पर भी उनमें ऐसे गुण हैं, जिनसे वे राष्ट्र में सर्वप्रिय हैं। महात्मा गांधी के कट्टर अनुयायी और गांधीवादी होने से प्रत्येक समस्या को अहिंसा और मानवता से हल करने की भावना रखते हैं।

पण्डित मदनमोहन मालवीय ने दक्षिण भारत के एक समारोह में अपनी सबल वाणी से ये गंभीर उद्गार प्रकट किए थे कि हम सवर्ण हिन्दू हरिजनों को अस्पृश्य , दलित और दीन-हीन न समझें, क्योंकि न जाने किस दलित बहन की कोख से यशोदा का कृष्ण जन्म धारण न कर ले ।

मालवीयजी ने देखा यह कि हिन्दू जाति में जातिगत अनाचार और अत्याचार उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं । लोगों में सच्चे धर्म की भावना नहीं रही है । हिन्दू जाति की इस दुःखद स्थिति का उन्हें अनुभव हुआ । तब महामना ने सोचा कि आज समाज कहाँ जा रहा है । जिस नींव पर वह खड़ा है, उसे ही वह उखाड़ डालना चाहता है । इन परिस्थितियों में उन्होंने यह अनुभव किया कि यदि हिन्दू जाति को जीवित रहना है, तो उसका नया मोड़ लेना अनिवार्य है । वे यह आकांक्षा करते थे कि हिन्दू जाति की शक्ति के लिए हरिजन नेतृत्व वरदान सिद्ध होगा । महामना और अन्य सनातन धर्मी हिन्दुओं ने हरिजनों में हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा कायम करने के लिए अनेक सक्रिय कदम उठाए ।

महामना तथा गांधीजी और अन्य अनेक महान् सुधारकों का नेतृत्व हरिजन समाज के लिए कल्याणप्रद हुआ । उन्होंने हरिजनों में नव-जागरण उत्पन्न किया । उसी चेतना का परिणाम है कि आज हरिजन समाज आगे बढ़ा और वह अपने में तेजपुंज नए नेतृत्व को जन्म देने में समर्थ हुआ । हिन्दू जाति और राष्ट्र को जगजीवनरामजी का नेतृत्व वरदान है । जगजीवनरामजी का नेतृत्व राष्ट्र और समाज के लिए मंगलजनक है । जगजीवनरामजी ने स्वनिर्मित व्यक्तित्व से राष्ट्र में गौरवप्रद स्थान प्राप्त किया । नए भारत की वे एक विभूति हैं । हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म के प्रति उनमें अपार निष्ठा और अटूट श्रद्धा है । कोटि-कोटि हरिजनों के वे प्राण हैं, देवता हैं, मसीहा हैं, हृदय-सम्राट् हैं । देश और समाज के लिए भी उनका नेतृत्व मार्ग-दर्शन-ज्योति है । हरिजन समाज में जन्म लेने और कुलीन हिन्दुओं के अत्याचारों के शिकार होने पर भी जगजीवनरामजी के हृदय में हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति के प्रति कभी द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ । उन्होंने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा कि वे और उनका हरिजन समाज हिन्दू धर्म का परित्याग कर अन्य धर्म को ग्रहण करे । यह प्रकट है कि हरिजनों के प्रति उनके हृदय में तीव्र वेदना है । उच्च वर्णों के हरिजनों के प्रति निर्मम व्यवहार की वे तीव्र निन्दा करते हैं, किन्तु यह होने पर भी वे अपने समाज को हिन्दू धर्म में जीने-मरने और उत्सर्ग होने की प्रेरणा देते हैं । डाक्टर अम्बेडकर के समान हिन्दू धर्म को छोड़ने के लिए उन्होंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा । उलटे जगजीवनरामजी ने यह कहा कि हिन्दू धर्म केवल उच्च वर्ण वालों की ही सम्पत्ति व जायदाद नहीं है । हरिजन जनता राम और कृष्ण के प्रति किसी सवर्ण हिन्दू से कम भक्ति नहीं करते । तब वे क्यों हिन्दू धर्म को छोड़े ? वे अन्य किसी धर्म में दीक्षित होने के किसी के परामर्श को कदापि न सुनेंगे । इसप्रकार जगजीवनरामजी सात करोड़ अछूतों के साथ हिन्दू धर्म के प्राण हैं, बल हैं ।

बाल्यावस्था में ही उनके हृदय में हिन्दू धर्म का बीज अंकुर हुआ था, यही कारण है कि अनेक यातनाओं के मध्य में भी हिन्दू धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा और विश्वास में कमी न हुई । जिन सवर्णों से उन्होंने अपमान सहा, जिनके अत्याचार झेले, उनके प्रति भी जगजीवनरामजी के हृदय में राग और द्वेष उत्पन्न न हुआ । उन्होंने समझा कि सवर्णों में कुलीनता का रोग है और हरिजन उसे प्रेम और श्रद्धा से मिटाएँगे । ऐसा सरल उनका जीवन है । आज देश के हरिजन समाज में उनका जैसा दूसरा कोई नेतृत्व नहीं है, जो करोड़ों देशवासियों पर अपना अधिकार रखता हो ।

विनम्र व्यवहार, मधुर स्वभाव, निष्पक्ष-वृत्ति और निडरता आदि वृत्तियों का संयोग जगजीवनरामजी के जीवन में है । त्याग व बलिदान, पारस्परिक प्रेम, उदारता, दृढ़ निश्चय और कर्तव्य परायणता, जो मानवता के अंग हैं, उनसे जगजीवनरामजी का जीवन निखर गया है, चार-चाँद लग गए हैं । इन्हीं गुणों के कारण जब-तब कसौटी में कसे जाने पर भी वे खरे सोने के समान चमकते हुए निकलते हैं । कार्य-कुशलता और अप्रतिम सूझ-बूझ, उनके जीवन की अनुपम विशेषताएँ हैं । इन गुणों के कारण ही वे देश में लोकप्रिय हुए ।

कठिन से कठिन गुत्थियाँ सुलझाने में वे अपनी जोड़ नहीं रखते हैं। उनके इन गुणों के सभी कायल हैं। जगजीवनरामजी अपने सिद्धान्त और लक्ष्य से आज तक कभी विचलित नहीं हुए। गांधीजी के मनोविचार उनके जीवन के अंग हैं। इसलिए जहाँ वे उच्च लक्ष रखते हैं, वहाँ उनकी प्राप्ति के साधन भी पवित्र रखते हैं। इसी अर्थ में उनका महान् जीवन व्यक्त होता है। अपने सिद्धान्तों के लिए उन्होंने सब कुछ उत्सर्ग व त्याग किया। जिस बात को उन्होंने गलत समझा, उसे उन्होंने बड़ी स्पष्टता से अग्रगण्य नेताओं के समक्ष प्रकट करने में कभी संकोच नहीं किया। इस प्रकार वे बड़े स्पष्टवादी हैं। जगजीवनरामजी के सम्बन्ध में ये उद्‌गार किसीप्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं हैं। उनके इन गुणों का इजहार देश में हर समय हुआ है। सारा राष्ट्र साक्षी है। इन गुणों ने उनका नाम देश के इतिहास में अमर बना दिया है।

जगजीवनरामजी हमारे देश के एक ऊँचे दर्जे के राजनीतिज्ञ हैं। महात्मा गांधी के एक विनम्र सेवक के रूप में उन्होंने अपने त्याग, तपस्या और लगन से राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रवेश किया। जीवन की सत्यता और कर्मठता से उन्होंने जनता पर अपनी छाप कायम की। देश के लिए वे अपने को किसप्रकार मिटा सकते हैं, इसे उन्होंने सन् १९३७ में प्रत्यक्ष कर दिखाया। उन्होंने अपनी सेवा और साधना से राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना स्थान निर्माण किया। जिस शान से उन्होंने देश का नेतृत्व किया और जिस योग्यता तथा कार्यक्षमता से भारत सरकार के शासन में भाग लिया, उससे दलित, दीनहीन हरिजन समाज का देश में मस्तक ऊँचा हुआ। हरिजनों को यह कहने का महान् अवसर प्राप्त हुआ कि उसके समाज का एक वरद् पुत्र भारत के गौरव की वृद्धि करने में समर्थ हुआ।

जगजीवनरामजी ने कांग्रेस के आन्दोलन में भाग लिया। अनेक कष्ट सहे, जेल की यातनाएं तक सहीं तथा सार्वजनिक क्षेत्र के जिस किसी काम में उन्होंने कदम रखा, उससे वे कभी पीछे न मुड़े। इसी कारण वे समस्त जनता के प्रियभाजन बने। जगजीवनरामजी के बढ़ते हुए नेतृत्व को देख कर सभी भारतीय जनता यह सोचती है कि उनका यह नेतृत्व भविष्य में उन्हें राष्ट्र के सर्वोच्च पद पर आसीन करेगा। देश के अन्य नेताओं से वे किन्हीं गुणों में कम नहीं हैं। उनके नेतृत्व ने यह साबित कर दिखाया है कि वे बुद्धि, प्रखरता, कार्य करने की शैली और कुशलता में अपना अग्र स्थान रखते हैं। उनकी सच्ची देशभक्ति और बहुमूल्य सेवाओं से सारा राष्ट्र प्रभावित है। फिर उनका सरल रहन-सहन, सीधी-सादी वेष-भूषा, हास्य मुख और मधुर भाषण आदि गुण उनके जीवन को महान् बनानेवाले हुए।

जगजीवनरामजी ने देश के करोड़ों गरीब, निर्बल और दबे-पिसे किसान और मजदूरों के उत्थान का व्रत लिया है। वे इन टूटे दिलों का सहारा बने। उन्होंने सोचा कि जब तक मेहनतकश वर्ग पीड़ित रहेगा, कराहता रहेगा, सिसकता रहेगा, तब तक हमारा राष्ट्र शक्तिशाली नहीं बन सकता। जगजीवनरामजी गरीबों के सच्चे साथी हैं, उनके दिल में पीड़ितों के लिए दर्द है। वे अपने में और गरीबों में कोई अन्तर अनुभव नहीं करते। शासन में उच्च पद ग्रहण करने पर भी उनकी इस मनोवृत्ति में किंचित् परिवर्तन नहीं हुआ। कोई निर्धन व्यक्ति उनसे भेंट करने पर कभी यह नहीं सोचता कि वह किसी बड़े नेता, मिनिस्टर, या अधिकारी से मिल रहा है। उसके लिए तो रेलवे मन्त्री ग्राम के प्यारे जगजीवन हैं। वह यही अनुभव करता है कि वह अपने ग्राम के एक दूसरे साथी से मिल रहा है। गरीबी से ऊपर उठे हुए जगजीवनरामजी ने गरीबों के दुःख-दर्द को अपने नए जीवन में नहीं भूला। यद्यपि अनेक व्यक्ति पद या प्रभुता पाकर भूल जाते हैं और वे गरीबों को पहचानते तक नहीं हैं। किन्तु, जगजीवनरामजी की सेवाएँ, साधन और स्रोत आज भी देश के पीड़ितों के लिए बिना किसी जातिगत भेदभाव के उपलब्ध हैं। कदाचित् यह भावना नष्ट न होने पाए, जीवन का मोड़ प्रभुता के मद की ओर न बह जाए, इस खयाल से जगजीवनरामजी ने अपने पारिवारिक जीवन में वैभव का प्रवेश न होने दिया। उन्होंने सोचा कि कल यदि एक साधारण नागरिक के रूप में रहना पड़े, तो उन्हें अपने आज के रहन-सहन में कोई परिवर्तन न करना पड़े। तब उन्हें किसीप्रकार का क्षोभ और दुःख दर्द न होगा।

उनसे भेंट करनेवाले उनके इस सीधे रहन-सहन के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। लोग उनका यह व्यवहार देख कर दंग रह जाते हैं। वे बड़े मृदुभाषी और मिलनसार हैं। सहज में लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। लोगों के दुःख-दर्द में सहायक होने पर छोटे-बड़े व्यक्ति जो उनसे मिलते हैं, उन पर सहसा जगजीवनरामजी की छाप पड़ जाती है।

जगजीवनरामजी मानते हैं कि वे न तो साम्यवादी हैं और न समाजवादी। वे केवल मानव-मात्र के गुणों पर विश्वास करते हैं। वे कहते हैं कि हम सब मिल कर अपने देश में वर्ग हीन समाज का निर्माण करें, जिसमें मजदूर और पूंजीपति समान हिस्सेदार हों और इसप्रकार हम अपने सपनों का भारत निर्माण करें। सुनिए, वे बड़ी गम्भीरता से कहते हैं :—

'जो स्वतन्त्रता आज हमें उपलब्ध है, उसे हम अपनी स्वतन्त्रता नहीं कह सकते, क्योंकि वह केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता है। ग्राम जनता के लिए वह कोई अर्थ नहीं रखती है। जब तक ग्राम लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊपर न उठाया जाएगा, उनकी निर्धनता, उनके उचित भोजन, वस्त्र तथा मकान की समस्याओं का हल न किया जाएगा, जब तक शोषण, अन्याय तथा अत्याचार, चाहे किसी भी स्वरूप में हों, वे सब भूतकाल की घटनाएँ नहीं बन जाते और जब तक ग्राम लोगोंको उन्नति के लिए सभी आवश्यक अवसर उपलब्ध नहीं होते, तब तक कहना पड़ेगा कि हमारी यह स्वतन्त्रता कोई अर्थ नहीं रखती है।'

देश में समाजवादी समाज के निर्माण के लिए वे दलित वर्ग, किसान और मजदूरों का उचित स्थान चाहते हैं। पीड़ित तथा शोषित वर्ग के लिए उनकी बुलन्द आवाज उठती है। जगजीवनरामजी ने ग्राम मजदूरों के हृदय में स्थान प्राप्त किया है। वे पीड़ित तथा शोषित वर्गों के अधिकारों की रक्षा के लिए निर्भीक होकर आगे बढ़े। उन्होंने कहा कि शोषित वर्ग के ऊपर उठने पर ही ही नए शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण होगा। यहाँ जगजीवनरामजी का नेतृत्व अन्य मजदूर नेताओं के सदृश्य नहीं है। उनका खयाल है कि मजदूरों के हित के लिए केवल कानून ही पर्याप्त नहीं हैं; बल्कि मालिक और मजदूरों के जीवन में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की आवश्यकता है। वे यह कहते हैं कि मजदूरों को समाज में उचित स्थान दिलाने में ही वास्तविक स्वराज्य की स्थापना है। देश की अर्थ-नीति और अन्य आर्थिक समस्याओं पर जगजीवनरामजी के विचार गांधीवादी हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि समाजवाद और साम्यवाद के अतिरिक्त गांधीवाद भी है। गांधीवाद ने ही भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान की और उसी गांधीवाद से आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। वे कहते हैं कि लोग यह न समझें कि समाजवाद और साम्यवाद की अपेक्षा गांधीवाद पूंजीपतियों के निकटतम है, उनका पक्षपाती है, यह धारणा गलत है।

इसीलिए वे यह सबल भाषा में कहते हैं कि साम्राज्यवादियों से सफल मोर्चा लेनेवाले पण्डितजवाहरलाल नेहरू देश के पूंजीपतियों से नहीं डरते हैं। देश के विकास काल में उन्होंने पूंजीपतियों को उत्पादन में वृद्धि करने और अपना सुधार करने का एक अवसरमात्र दिया है। किन्तु, भविष्य में मुनाफाखोरी न पनप पाएगी निजी क्षेत्र प्रतियोगिता द्वारा ही उत्पादन की वृद्धि कर सकता है।

जगजीवनरामजी जब कांग्रेस में आए, तब उन्होंने कांग्रेसियों के सामाजिक विचारों में दकियानूसीपन, जाति-भेद, वर्ण-भेद और संकीर्ण विचारों को पाया। जगजीवनरामजी ने देखा कि कांग्रेस का उच्च नेतृत्व सामाजिक संकीर्णता से भरा पड़ा है। पर इस दिशा में उनका नेतृत्व समाज को छिन्न-भिन्न करने की भावना नहीं रखता। वे समाज में विचारों द्वारा क्रान्ति उत्पन्न कर नव-निर्माण चाहते हैं। अतएव जगजीवनरामजी को अपना मार्ग निश्चय करने में विलम्ब न लगा। वे आगे आए और उन्होंने कहा कि मेरी राजनीतिक सेवाएँ कांग्रेस के लिए अर्पित हैं। एक विनम्र स्पष्टवादी कार्यकर्ता के रूप में वे कांग्रेस की सेवा करेंगे। किन्तु सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों की समस्याओं के हल के लिए उनके कार्यक्रम स्वतन्त्र होंगे। कांग्रेस के विश्वासपात्र नेता और हाइ कमाण्ड में अपना विशिष्ट स्थान रखने पर भी वे दलितों तथा मजदूरों की सेवा में आगे बढ़े। उनके अथक प्रयत्नों से राष्ट्रवादी हरिजनों ने 'अखिल भारतीय दलि

जातीय संघ' का निर्माण किया। केन्द्रीय संगठन के प्रधान मन्त्री और बिहार-प्रादेशिक संघ के अध्यक्ष पद पर रह कर उन्होंने इस संस्था को शक्तिशाली बनाया। जगजीवनरामजी अपनी प्रेरणा से देश में बिखरे हुए हरिजन कार्यकर्ताओं को इस संस्था में खींच लाए। उन्होंने हरिजन समाज में नए रक्त का नेतृत्व पैदा किया। उनके नेतृत्व में अनेक कार्यकर्ता आगे बढ़े।

१९३७ में जब कांग्रेस ने प्रादेशिक धारा सभाओं में प्रवेश करने का निश्चय किया, तब ब्रिटिश सरकार और प्रतिक्रियावादी सभी शक्तियाँ चाहती थीं कि प्रदेशों में कांग्रेस न जीते। कांग्रेस और विरोधी दल दोनों का ही जबर्दस्त सामना था। किन्तु पण्डित जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस की विजय के लिए जुट पड़े थे। उस समय आज की तरह हवाई जहाज के साधन प्रस्तुत नहीं थे। नेहरूजी को ग्राम-ग्राम में घूमना पड़ा था। सरकार चाहती थी कि यदि कांग्रेस के टिकटों पर खड़े हुए राष्ट्रवादी अछूत न जीते, तो कांग्रेस का बहुमत स्थापित होना कठिन हो जाएगा। बिहार में जगजीवनरामजी को देश के समक्ष अपनी कार्य-क्षमता प्रकट करने का पहला अवसर प्राप्त हुआ। पूना पैक्ट के आधार पर हरिजनों के लिए सीटें सुरक्षित थीं। जगजीवनरामजा ने जो मोर्चा खड़ा किया, उससे कांग्रेस विरोधी अछूत सभी के सभी हार गए। इस प्रकार कांग्रेस एक भी हरिजन सीट न खोने पायी। उसकी इस विजय से ब्रिटिश सरकार चकित हो गयी। अछूतों को सरकार अपना बेंट समझती थी और सवर्ण हिन्दू तथा हरिजनों में खाईं पैदा कर अपना स्वार्थ साधन करना चाहती थी। जगजीवनरामजी को हरप्रकार से प्रलोभन दिया गया। उन पर यह प्रभाव डाला गया कि यदि वे कांग्रेस दल से हट कर सरकारी पक्ष में शामिल हो जाएँ तो उन्हें मंत्रिमण्डल में ले लिया जाएगा। किसी एक अछूत के लिए यह प्रस्ताव यथेष्ठ था, क्योंकि कांग्रेस में उसे बड़ा पद मिलना सम्भव न था। किन्तु कहना न होगा कि विरोधियों ने अपने ही कामों से कांग्रेसी क्षेत्र में अछूतों का स्थान बढ़ाया। आरम्भ में कांग्रेस मंत्रिमण्डल बनाने के लिए राजी न हुई, जब तक कि सरकार यह आश्वासन न दे दे कि गवर्नर का हस्तक्षेप दिन-प्रति-दिन के कामों में न होगा। गवर्नर के इन्कार करने पर प्रतिक्रियावादीदल का मंत्रिमण्डल बना। पर इस मन्त्रिमण्डल में जगजीवनरामजी शामिल न हुए। सारी कोशिशें, सारी चेष्टाएँ और सारे प्रलोभन व सिफारिशें बेकार गयीं। जगजीवनरामजी अपने दृढ़ निश्चय से टस-से-मस न हुए। यहाँ उनका तेजस्वी व्यक्तित्व, दृढ़ निश्चय और कांग्रेस के प्रति गहरी निष्ठा का परिचय मिला। विरोधियों ने सोचा था कि अछूत होने के कारण जगजीवनरामजी फिसल पड़ेंगे। हिन्दू समाज के दुर्व्यवहार और अत्याचारों का खयाल कर प्रतिशोध की भावना से यदि वे चाहते तो विरोधी मन्त्रिमण्डल में शामिल हो सकते थे। किन्तु जिन जगजीवनरामजी ने पण्डित मदनमोहन मालवीय और महात्मा गांधी तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कार्य किया था,वे राष्ट्र को कब धोखा दे सकते थे। इस अग्नि परीक्षा में वे जब विजयी निकले और देश भरमें उनके इस निर्णय का संवाद फैला,तब महात्मा गांधी,सरदार वल्लभ भाई पटेल और डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कांग्रेस के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा के लिए बधाइयाँ दीं। जगजीवनरामजी ने यह खयाल कर लिया था कि जिस धारा-सभा में कांग्रेस का बहुमत है, उस का मन्त्रिमण्डल बिना कांग्रेस के न चल सकेगा। अन्ततः हुआ भी वही। गवर्नर को झुक जाना पड़ा और कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल निर्माण हुआ। उस समय आपने धारा सभा के सचिव पद का कार्य-भार ग्रहण किया। इस पद पर कार्य कर आपने जो अनुभव प्राप्त किए, वे भविष्य के लिए मार्ग-दर्शन बने। सचिव के पद पर से दिए गए उनके तथ्य और आँकड़ों सहित भाषण विरोधियों को लाजवाब करनेवाले थे। महामना गोखले और पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त दिल्ली की बड़ी व्यवस्थापिका परिषद् में जिस तैयारी से भाषण देते थे, कहना न होगा कि जगजीवनरामजी ने उस मार्ग को ग्रहण किया था। आपके प्रामाणिक भाषणों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता और विरोधी पक्ष निरुत्साह हो जाता।

१९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल ने सभी प्रदेशों से त्याग-पत्र दे दिया, तब जगजीवनरामजी ने भी अपने पद को छोड़ दिया। वे अपने इस पद पर बने रह सकते थे, जो

मन्त्रिमण्डल की परिधि से बाहर था। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। पद के लोभ में वे न आए। बाहर आकर वे बिहार प्रदेश कांग्रेस के मन्त्री निर्वाचित हुए और करीब आठ वर्षों तक कार्य किया। सन् १९४० में जब गांधीजी ने वैयक्तिक सत्याग्रह का आन्दोलन आरम्भ किया, तब बिहार में जगजीवनरामजी उन थोड़े से व्यक्तियों में पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने गिरफ्तारी के लिए अपने को प्रस्तुत किया था। सन् १९४२ में जब महात्मा गांधी ने "करो या मरो" की आवाज उठायी तब जगजीवनरामजी बम्बई से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में भाग लेने के पश्चात् बिहार लौट रहे थे, उस समय आपको बीच में ही गिरफ्तार कर सुरक्षा कैदी के रूप में हजारीबाग जेल में बन्द कर दिया गया था।

१९४२ के आन्दोलन में जगजीवनराम चाहते थे कि वे देश में क्रान्ति खड़ी कर दें। उस समय वे कांग्रेस के मन्त्री थे। किन्तु वे उनका भी नेतृत्व करते थे, जो ब्रिटिश सत्ता के नाश के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा रहे थे। वे और उनके साथी यह सोचते थे, कि रेल और तार आदि के साधन सब खत्म कर दिए जाएँ। उस समय वे इस नए आन्दोलन के अगुआ हो गए थे। अलबत्ता वे यह जरूर चाहते थे कि क्षणिक आवेश में लोग ऐसे हत्याकाण्ड न कर बैठें, जिससे सेना को गोलियाँ चलानी पड़ें और संग्राम कुचल जाए। पटने में उनके घर के पास ग्रामीणों ने डाकघर जलाया, किन्तु उन्होंने उसका एक पैसा नहीं छुआ। बंगाल के क्रान्तिकारी नेता अन्नदा बाबू और श्री चक्रधरशरण से मिल कर जगजीवनराम ने यह तय किया कि यदि डाक-तार व रेल के साधन नष्ट कर दिए गए, तो विदेशी शासन व्यवस्था निश्चय ही समाप्त हो जाएगी। इस बीच में जगजीवन-रामजी २० अगस्त १९४२ को गिरफ्तार कर लिए गए। अपने पास के कागजात और रुपए अपने साथी कांग्रेसियों को देकर वे गिरफ्तार हो गए। अपने स्थान पर उन्होंने श्री जमील मजहरी साहब को नामजद किया।

बिहार के सभी नेता उस समय जेलों में थे। जेल तीर्थ स्थान बन गए थे। बाँकीपुर जेल में डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, डाक्टर अनुग्रहनारायणसिंह, डाक्टर श्रीकृष्णसिंह, श्री सत्यनारायणसिंह, श्री महामायाप्रसाद, श्री सारंगधर सिंह आदि बीसियों नेताओं की गांधी टोपियाँ चमकती थीं। जेलों में सैनिक सिपाहियों का राज था। इन सैनिकों को चकमा देकर श्री जयप्रकाश बाबू भाग खड़े हुए थे। नतीजा यह हुआ कि पुलिस और फौज का कड़ा बन्दोबस्त हो गया था। अनेक व्यक्ति फरार थे। इधर जेल में जगजीवनरामजी का स्वास्थ्य बड़ा नाजुक हो गया। यह खयाल किया गया कि उन्हें प्लूरिसी की बीमारी हो गयी है। १४ मास के कारावास के बाद अक्टूबर १९४३ में वे जेल से मुक्त हुए।

जेल से आने पर उन्होंने देश को नई राजनीतिक उलझनों में देखा। पर अभी उनका स्वास्थ्य बड़ा नाजुक था। वे स्वास्थ्य सुधार के लिए शिमला चले गए। १९४४ में वे फिर कांग्रेस के काम में जुट पड़े। उस समय देश के राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए महात्मा गांधी के प्रयत्न जारी थे। वायसराय और उनकी अनुदार सरकार का बड़ा कड़ा रुख था। गांधीजी भी ३ मई १९४५ को रुग्णावस्था में जेल से छोड़ दिए गए थे।

इतिहास की अनहोनी घटना देश के विभाजन के रूप में घटने वाली थी। यह चर्चा १९४४ से जारी थी। गांधीजी और जिन्ना का कई बार मिलन हुआ। कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था थी, उसकी विचार-धारा धर्म के आधार पर नहीं थी, वह दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को नहीं मानती थी। गांधीजी ने कहा कि जिन हिन्दुओं ने इस्लाम मत ग्रहण कर लिया, वे भी इस देश के अंग हैं; वे स्वतन्त्र राष्ट्र की माँग नहीं कर सकते। २५ जून १९४५ को वायसराय ने शिमला में भारतीय नेताओं को आमन्त्रित किया। उस समय सरकार का विचार केन्द्रीय सरकार के कुछ विभागों का भारतीयकरण करना था। वायसराय को कमाण्डर-इन-चीफ का पद देकर अन्तरिम सरकार को यह यकीन दिलाया गया कि वे केबिनेट के निर्णयों को सदा मानेंगे।

इस समय जगजीवनरामजी के सामने हरिजनों की स्वरक्षा का प्रश्न था। उन्होंने यह कभी माँग नहीं की कि मुसलमानों के समान हरिजन वर्ग एक पृथक् राष्ट्र है। किन्तु समाज की दयनीय अवस्था में होने के

कारण उसे स्वायत्तता मिले,जगजीवनरामजी का यह लक्ष्य बना रहा। उन्होंने यह चाहा कि जब तक हरिजन हिन्दुओं के समान स्तर पर न आ जाएँ, तब तक उनके अधिकार रक्षित रखे जाएँ। डाक्टर अम्बेडकर वायसराय की केबिनेट के सदस्य थे, वे हरिजनों के स्वार्थों की रक्षा के प्रश्न पर गांधीजी की भर्त्सना करते थे। जगजीवनराम को यह जरा भी पसन्द नहीं था, यद्यपि वे भी हरिजनों के स्वत्वों की रक्षा चाहते थे। जगजीवनरामजी दलित वर्ग संघ के नेता थे और कांग्रेस ने संघ से समझौता किया और यह निश्चय हुआ कि संघ के मनोनीत प्रतिनिधियों को कांग्रेस उम्मेदवार खड़ा करेगी।

२३ मार्च १९४६ को क्रिप्स मिशन भारत में आया, जिसके सदस्यों में सर स्टेफर्ड क्रिप्स के सिवा लार्ड पेथिक लारेंस और एडबर्ट बी० एलेक्जेण्डर थे। उसने अपनी योजना पेश की, जो संयुक्त भारत के निर्माण के आधार पर थी। किन्तु मुस्लिम लीग की जिद्द ने उसे स्वीकार न होने दिया, यद्यपि गांधीजी और कांग्रेस का विरोध न था। कांग्रेस और लीग में समझौता न होने पर १६ जून १९४६ को लार्ड वेबल ने स्वयं कदम बढ़ाया और केन्द्र में अस्थायी सरकार का निर्माण किया। १२ अगस्त १९४६ को कांग्रेस की ओर से पण्डित जवाहरलाल ने अस्थायी सरकार में प्रवेश किया, किन्तु जिन्ना के राजी न होने से मुस्लिम लीग शामिल न हुई। छः कांग्रेसियों में हरिजनों की ओर से श्री जगजीवनरामजी को लिया गया। अल्पमत के प्रतिनिधित्व में सिख, पारसी और ईसाइयों के एक-एक प्रतिनिधियों के सिवा दो गैर-लीगी मुसलमान थे। श्री जगजीवनरामजी को उस समय श्रम विभाग का पोर्टफोलियो दिया गया।

१९४६ में जगजीवनरामजी ने जो प्रभावशाली नेतृत्व किया, उससे यह प्रकट हो गया कि वे राष्ट्रवादी अनुसूचित जातियों का पूर्ण नेतृत्व करते हैं। जगजीवनरामजी ने हरिजनों की समस्याएँ जिस स्पष्टता से देश के सामने रखीं, उससे कांग्रेसियों को भी विचलित होना पड़ा। जगजीवनरामजी सोचते थे कि आर्थिक दृष्टि से समाज में दलित अवस्था सभी वर्णों में है, चाहे वे सवर्ण हों या हरिजन। इसलिए अस्पृश्यता केवल आर्थिक प्रश्न का रूप नहीं रखती है। निर्धनता गैर-हरिजनों में भी अधिक है। पर अनेक कांग्रेसी और जिनमें गांधीजी स्वयं थे, यह धारणा रखते आए कि आर्थिक कठिनाइयाँ दूर होने पर अस्पृश्यता का भेदभाव स्वतः मिट जाएगा। गांधीजी नहीं चाहते थे कि जातिवाद के आधार पर देश के टुकड़े-टुकड़े हों, उन्होंने सवर्ण हिन्दू और हरिजनों को हिन्दू जाति का एक अंग माना। किन्तु मिस्टर जिन्ना की तरह डाक्टर अम्बेडकर के नेतृत्व को सरकार का पृष्ठबल था। वे अपने दल की ओर से सरकार से अछूतों के हितों के लिए माँग करते थे। डाक्टर अम्बेडकर के शिडघूल कास्ट फेडरेशन ने वीभत्स अराष्ट्रवादी रूप प्रकट किया। सरकार से अम्बेडकरजी का जोततोड़ होने से शिमला कान्फ्रेंस में जगजीवनरामजी को नहीं बुलाया गया। दलित वर्ग संघ ने अपने प्रतिनिधित्व की माँग की, किन्तु उसका कोई प्रतिफल न निकला। जगजीवनरामजी में गांधीजी की व्यावहारिक बुद्धि थी, उन्होंने अपने जाति के हित के लिए यह सोचा कि उन्हें विनम्र बन कर ऐसा कदम बढ़ाना चाहिए जिससे सरकार के सामने यह न प्रकट हो कि अछूत कई दलों में बटे हुए हैं। इसलिए जगजीवनरामजी ने पहल ली और अपनी संस्था की ओर से उन्होंने यह कहा कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में अनुसूचित जातियों के रक्षित तीन स्थानों के लिए तीन अछूतों की संस्थाएँ संयुक्त रूप में अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर भेजेंगी। इन तीन संस्थाओं में दलित वर्ग संघ, शेडयूलकास्ट फेडरेशन और दलित वर्ग एसोसियेशन थे। पहली संस्था का प्रतिनिधित्व जगजीवनरामजी करते थे और शेष दो संस्थाओं का प्रतिनिधित्व डाक्टर भीमराव अम्बेडकर और एम० सी० राजा करते थे। इसप्रकार जगजीवनरामजी ने अपना मान सम्मान और अपनी संस्था की प्रतिष्ठा को इस सहयोग के द्वारा बढ़ाया।

युद्ध समाप्त होने और इंगलैण्ड में मजदूर दल की सरकार स्थापित होने पर १९ सितम्बर १९४५ को उसने नए प्रस्ताव पेश किए। नए प्रस्तावों में केन्द्र और प्रान्तों के लिए नए निर्वाचनों का निर्देश था, यह सब इसलिए किया गया, जिससे कि राजनीतिक दलों का सही प्रतिनिधित्व प्रकट हो। इन निर्वाचन

के परिणामों के आधार पर केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों के गठन का सुझाव दिया गया। दलित वर्ग संघ ने जिसमें राष्ट्रवादी हरिजन थे, कांग्रेस से समझौता किया कि उसके उम्मेदवार कांग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र पर केवल दस्तखत ही न करेंगे, बल्कि उसके चुनाव का मेनोफेस्टो भी स्वीकार करेंगे और प्रान्त तथा केन्द्र में कांग्रेस के सहयोग में कार्य करेंगे। इससे कांग्रेस की शक्ति बढ़ी, क्योंकि यदि हरिजनों की सभी संस्थाएँ कांग्रेस से बाहर रहतीं, तो कांग्रेस टिकट से जो हरिजन खड़े होते, तो उन सब का जीतना संभव न होता। कांग्रेस ने मुसलिम सीटों पर भी अपने उम्मेदवार खड़े किए; किन्तु वे बहुत कम विजयी हुए। पर गैर-मुसलिम सीटों में कांग्रेस ने अपना प्रचण्ड बहुमत प्राप्त किया।

मुसलिम क्षेत्रों में मुसलिम लीग का प्राधान्य रहा और उसे अधिक सीटें मिलीं। पृथक् निर्वाचन का यह दुष्परिणाम साफतौर पर प्रकट हुआ। यदि संयुक्त निर्वाचन की प्रथा जारी होती तो यह स्पष्ट था कि कांग्रेस मुसलिम सीटें भी जीतती। पर इस पृथक् निर्वाचन ने हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों को दो करारों पर खड़ा कर दिया और यह संकेत किया कि देश का विभाजन मिट नहीं सकता। पाकिस्तान की माँग जोरों से बढ़ती गयी। दिसम्बर १९४५ में श्री मुहम्मदअली जिन्ना ने स्पष्ट घोषित किया कि यदि गांधीजी और कांग्रेस पाकिस्तान की माँग मंजूर कर लें तो समझौते में देर न लगेगी। मगर गांधीजी विभाजन के विरुद्ध थे; क्योंकि उन्होंनेकहा कि मेरी लाश पर विभाजन होगा। इस बीच में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और मौलाना अब्बुल कलाम आजाद ने अपनी योजनाएँ पेश कीं। केबिनेट मिशन की अपनी ही योजना थी। इन सब से देश में इतनी पेचीदा स्थिति हो गयी थी कि किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन था। फेडरेशन की योजनाएँ इतनी लचीली थीं कि कालान्तर में प्रत्येक राज्य एक दूसरे से स्वतन्त्र हो जाता। भारत बालकन राज्य जैसा टुकड़े-टुकड़े में बँट जाता। उस समय मुसलिम लीग का इतना आतंक फैल गया था, बगावत, हत्याएँ और विरोध इतने भयंकर रूप में पहुँच गया था कि यह संभव नहीं दीखता था कि दो जातियाँ एक साथ मिल कर काम कर सकेंगी। उस समय देश बिना बँटे ही विभाजित सा लगता था। दोनों जातियों में गहरी खाइयाँ पैदा हो गयी थीं, जिनका पाटना संभव नहीं दिखाई दिया। यह बात हो सकती है कि श्री मुहम्मदअली जिन्ना को यह विश्वास नहीं था कि पाकिस्तान बन जाएगा। वे अपने मोर्चे द्वारा केन्द्रीय सरकार में मुसलमानों का पचास प्रतिशत प्रतिनिधित्व चाहते थे और यह सोचते थे कि कुछ प्रतिक्रियावादियों को अपने में मिला कर मुसलमान सारे भारत पर राज्य करेंगे और हिन्दू अपने ही देश में सदा के लिए कुचल दिए जाएँगे। इन मनोवृत्तियों में यदि विभाजन न भी होता तो भी देश आगे न बढ़ता, कोई मसला, कोई समस्या हल न हो पाती, हिन्दुओं की एक न चलती। और विभाजन के समय हमने जो हत्याकाण्ड देखा, उससे कहीं अधिक हत्याकाण्ड देशभर में होते। दो जातियाँ मिल कर कभी आगे न बढ़तीं। अंग्रेजों ने मुसलमानों के दिलों में जो बीज बो दिए थे, वे इतने घर कर गए थे कि उनका बदलना सम्भव न था। अन्यथा; कांग्रेस कभी विभाजन पसन्द नहीं करती थी।

सरकार कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था कहती थी। वह अछूतों को भी कांग्रेस से अलग मानती थी। सरकार की इस बात का कांग्रेस और गांधीजी ने तीव्र प्रतिवाद किया। यद्यपि हरिजन कांग्रेस के साथ थे, किन्तु जगजीवनरामजी के शब्दों में उनका समाज विचित्र स्थिति में खड़ा था। १८ जून १९४५ को जगजीवनरामजी ने जो वक्तव्य दिया, उसमें उन्होंने गांधीजी और कांग्रेस से हरिजनों की समस्या को हरिजनों की दृष्टि से देखने के लिए अनुरोध किया। यह कहना न होगा कि हरिजन नेता भी संदिग्ध स्थिति में थे। यद्यपि हरिजन हिन्दू जाति के अंग हैं, किन्तु पूना समझौता में हरिजनों को अनुसूचित जाति प्रकट किया गया था, उससे यह प्रकट हुआ कि शेष सब हिन्दू सवर्ण अंग के हैं। जगजीवनरामजी चाहते थे कि नेहरूजी और कांग्रेस हरिजनों की समस्याओं को सामाजिक दृष्टि से देखें, केवल आर्थिक दृष्टि से देखने से काम न चलेगा। यही कारण था कि जगजीवनरामजी और उनकी संस्था दलित वर्ग संघ को हिन्दू और अछूतों की समानता के प्रस्ताव का विरोध करना पड़ा।

जगजीवनरामजी का कहना था कि हरिजन वर्ग पिछड़ा हुआ होने के कारण इस स्थिति में नहीं है कि वह सवर्ण हिन्दुओं की समता कर सके, उनके मुकाबले में सीटें लड़ सके। इसलिए हरिजनों के प्रति यह न्याय होगा कि उनके लिए उपयुक्त सीटें रक्षित रखी जाएँ। यदि यह न होगा तो हरिजनोंमें कांग्रेस की सदाशयता में विश्वास न रहेगा और वे विरोध में उठ खड़े होंगे। इसलिए संरक्षण का विरोध कांग्रेस को न करना चाहिए। जगजीवनरामजी की यह बात गांधीजी को उचित जँची और उन्होंने यह अनुभव किया कि हरिजनों के प्रति न्याय किया जाए। उन्होंने हिन्दू नेताओं से अनुरोध किया कि हरिजनों की माँगें उचित हैं और कांग्रेस उन पर विचार करे।

जगजीवनरामजी ने हरिजनों का जो प्रश्न रखा, उससे गांधीजी आगे बढ़ते गए और आगे चल कर उन्होंने कहा कि वायसराय की कौंसिल में हरिजनों को एक के स्थान पर तीन सीटें मिलनी चाहिएँ। सरकार का यह कहना कि वह सभी सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व देना चाहती है, उचित नहीं है। जो अल्पमत साधन सम्पन्न और शिक्षित हैं उन्हें संरक्षण देकर अलग अलग टुकड़ों में बाँटना विघातक है। यह भी कहा गया कि हरिजनों को सीटें देने के बाद यदि सवर्ण हिन्दू अपनी सीटों में से दूसरी जातियों को स्थान दें, तो हरिजनों को कोई आपत्ति न होगी। हरिजनों ने अपनी जन-संख्या के आधार पर अपना प्रतिनिधित्व माँगा। जगजीवन-रामजी ने कहा कि हरिजन तीन सीटें पाने का अधिकार रखते हैं। उन्होंने कहा कि मुसलमानों के समान हरिजन पृथक् धार्मिक जाति के नहीं हैं। धर्म और संस्कृति की दृष्टि से हरिजन हिन्दू धर्म के अंग हैं, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में वे हकीकतन जुदा हैं।

दलित वर्ग संघ की जो माँग थी, उससे शेडयूलकास्ट फेडरेशन को मिल कर काम करना था, किन्तु सरकार की भेद नीति के कारण वह संभव नहीं हुआ। सरकार ने शेडयूल कास्ट फेडरेशन की पूछ की और उसके प्रतिनिधित्व में श्री एन० शिवराज को सरकारी कान्फ्रेंस में बुलाया। लार्ड वेवल की योजना पर गांधीजी ने जो कुछ कहा, उससे हरिजनों को संतोष न हुआ। जगजीवनरामजी के कांग्रेस में रहने पर भी, उन्हें इस दुःखद कर्तव्य का पालन करना पड़ा कि वे विरोध करें। उनके इस विरोध से अन्य दलों के हरिजनों को खुशियाँ हुईं, वे खिल पड़े और लोगों ने कहा कि एक कांग्रेसी हरिजन नेता का यह विरोध साबित करता है कि कांग्रेस हरिजनों के प्रति न्याय नहीं करना चाहती। पर इस विरोध से जगजीवनरामजी में कांग्रेस की निष्ठा में कुछ कमी नहीं हुई। उन्होंने अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रह कर ईमानदारी से राष्ट्र-हित के लिए अपना पक्ष प्रकट किया। जगजीवनरामजी में यह आत्म विश्वास था कि कांग्रेस द्वारा हरिजनों के प्रति न्याय होगा, इसलिए वे इस नाजुक स्थिति में भी प्रतिक्रियावादी अछूत नेताओं से बचे रहे, उनके हाथों के शिकार न बने। इस स्पष्टता और कांग्रेस के प्रति सच्ची भक्ति ने उन्हें प्रखर सोना-सा चमका दिया। वे गांधीजी और कांग्रेस की निगाह में ऊँचे उठे। हरिजनों के लिए उन्होंने जरूर संघर्ष किया, किन्तु अनुशासन में बँधे एक सिपाही की तरह। जगजीवनरामजी चमक गए, उनकी प्रतिभा दीप्तमान हुई और उनकी माँग से कांग्रेस प्रभावित हुई।

नए निर्वाचन में दलित वर्ग संघ और कांग्रेस ने कन्धे से कन्धा भिड़ा कर एक साथ चुनाव लड़ा और जगजीवनरामजी के संघ ने हरिजन क्षेत्र की अधिक सीटी खींची। यह देख कर सरकार के कान खड़े हुए और उसने अपनी आँखों से देखा कि कहाँ जगजीवनरामजी खड़े हैं और कहाँ डाक्टर अम्बेडकर तथा अन्य प्रतिक्रियावादी अछूत नेता। तब सरकार जगजीवनरामजी की कैसे उपेक्षा करती। उसे झुकना पड़ा। जगजीवनरामजी सारे देश के राष्ट्रवादी हरिजनों का प्रतिनिधित्व करते थे। परिणाम यह हुआ कि ५ एप्रिल १९४५ को वायसराय ने उन्हें आमन्त्रित किया कि वे दिल्ली में आकर सरकार के सामने हरिजनों का पक्ष रखें। उस समय जग-जीवनरामजी पटना में थे, वायसराय का तार पाकर वे दिल्ली गए। यह सब इसलिए कि डाक्टर अम्बेडकर का फेडरेशन चारों खाने चित्त हो गया था। उसे बंगाल में ३० सदस्यों की सीटों में से केवल एक स्थान मिला

था, जबकि पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, आसाम, बम्बई, मद्रास आदि में जगजीवनरामजी के संघ ने शत प्रति शत सीटें प्राप्त की थीं। यही उनकी विजय थी, जिसने उनके नेतृत्व को चमका दिया और वे कांग्रेस व देश में शीर्ष स्थान पर पहुँचे।

जगजीवनरामजी का मुसलिम सदस्य बड़ा सम्मान करते थे। क्रिप्स मिशन के सदस्यों में स्वयं सर स्टेफर्ड क्रिप्स जगजीवनरामजी से प्रभावित हुए थे। दोनों में मित्रता हो गयी थी। उनमें अपनी ओर खींचने की जबर्दस्त प्रवृत्ति थी। लोगों के उनकी ओर झुकने पर भी वे दूसरों के हाथमें न खेलते। वे अपने स्थान पर अड़ग रहते। अपनी दृढ़ता और सच्चे नेतृत्व से कांग्रेस में रह कर उन्होंने हरिजनों के लिए वांछित अधिकार प्राप्त किए। उन्होंने यह बतला दिया कि देश में हरिजनों का यदि कोई प्रतिनिधि है, उनका कोई अखिल भारतीय नेता है, तो वे हैं और उनका दलित वर्ग संघ है। जगजीवनरामजी अन्तरिम सरकार के चौदह मनोनीत सदस्यों में हरिजनों की ओर से एकमात्र लिए गए। कांग्रेस के प्रतिनिधियों में पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, श्री हरेकृष्ण मेहताब और श्री राजगोपालाचारी तथा श्री जगजीवनरामजी थे। ये नाम कांग्रेस के पेश किए हुए थे, जो स्वीकृत हुए। हकीकत में उस समय इन्हीं लोगों के हाथ में देश का नेतृत्व था। मुसलिम लीग की ओर से श्री मुहम्मदअली जिन्ना, श्री लियाकत अली खाँ, नवाब मुहम्मद इस्माइल खाँ, ख्वाजा नाजिमुद्दीन और सरदार अब्दुल निश्तर थे। इन चार मुसलिम सदस्यों के अतिरिक्त सरकार ने अन्य अल्प मतों को भी प्रतिनिधित्व दिया था। वह संकटकालीन सरकार थी, देश के भाग्य का निर्णय होनेवाला था, इसलिए सबसे सम्पर्क कायम रखने और सब पक्षों की आवाज प्रकट होने के लिए यह किया गया था। सिखों की ओर से सरदार बलदेवसिंह अन्तरिम शासन में आए थे। सर एन० पी० इंजीनियर और डाक्टर जान मथाई अन्य दो अल्प मतों के प्रतिनिधि थे। सरकार ने यह कहा कि इसप्रकार विभिन्न सम्प्रदायों को प्रतिनिधित्व देने पर कहीं यह न समझा जाए कि साम्प्रदायिक समस्याओं का निराकरण इस आधार पर होगा। कांग्रेस की ओर से शुरू में मौलाना अब्बुल कलाम आजाद न आ सके, अन्यथा कांग्रेस यह बता सकती कि वह धर्म निरपेक्ष संस्था है। जगजीवन-रामजी ने वायसराय से बड़े साहस से यह प्रकट किया था कि वे यह नहीं चाहते कि अल्प संख्यक मुसलिम मिस्टर जिन्ना के कदमों पर छोड़ दिए जाएं। लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के यह प्रतिकूल है। राष्ट्रीय मुसलमानों के प्रतिनिधि को लिया जाना आवश्यक है। इसलिए उन्होंने सरकार में शामिल होने के सरकारी आमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। तब अन्य कांग्रेसी नेताओं ने भी अस्वीकार किया। इस प्रतिरोध पर सरकार झुकी और मौलाना अब्बुल कलाम आजाद को सरकार में लिया गया। कांग्रेस की विजय से मुसलिम लीग ने पराभव अनुभव किया। राष्ट्रवादी मुसलमान के सरकार में शामिल होने पर मुसलिम लीग खिसक गयी और उसने सरकार में शामिल होने से इन्कार कर दिया। नया अन्तरिम शासन कुछ काल तक बिना मुसलिम लीग के चला।

१९५२ तक अन्तरिम सरकार में जगजीवनरामजी श्रम-मन्त्री रहे। श्रम-मन्त्री के पद पर रहकर जगजीवनरामजी ने कांग्रेस के निर्वाचन घोषणा-पत्र का विस्मरण नहीं किया, जिसमें कहा गया था कि कांग्रेस मजदूरों की सभी सुविधाओं पर ध्यान देगी और उनके लिए हितकर कानून बनाएगी। जगजीवनरामजी ने सरकार की व्यवस्था में अनेक सुधार किए, शासन का दृष्टिकोण बदला और मजदूरों के अधिकार तथा स्वत्वों की रक्षा के लिए कई कानूनों को बनवाया। उन्होंने केवल कल-कारखानों के मजदूर ही नहीं, खेतिहर मजदूरों की भी सुधि ली और उनकी भी रक्षा की। उन्होंने श्रमजीवियों का जितना हित किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने श्रम-मन्त्री के पद पर रह कर जिस कार्य का विस्तार किया, उससे आगे फिर दूसरा कोई मन्त्री न बढ़ सका। इस पद पर काम करना आसान न था। निजी क्षेत्र के पूंजीपतियों के विरोध का सामना करना था।

राष्ट्र के आर्थिक विकास में जगजीवनरामजी ने निजी उद्योग के स्थान का अनुभव किया। उनके कार्यकाल में ही राष्ट्र ने प्रथम बार अपनी अर्थनीति को मिश्रित अर्थनीति के रूप में जन्म दिया। यह नीति समझौते के आधार पर कायम हुई थी। जिस सम्मेलन में इस नीति का रूप निश्चय किया गया था, उसमें जगजीवनरामजी की प्रेरणा से मजदूरों को भी आमन्त्रित किया गया था। सरकार, उद्योगपति और मजदूरों ने मिल कर देश के कल्याण के लिए इस नीति को जन्म दिया था। यद्यपि यह नीति दस वर्षों के लिए थी, किन्तु जिस आधार पर उसका जन्म हुआ था, दस वर्ष बीत जाने पर भी उसमें परिवर्तन करना संभव न हुआ। वह आज भी विद्यमान है। केवल इस कदम से औद्योगिक क्षेत्र में शान्ति स्थापित न हुई। कारण; उद्योग अपने लिए पूर्व के समान खुली छूट चाहते थे, अपनी सत्ता पर कोई नियन्त्रण सहने के लिए तैयार न थे। उद्योगपतियों ने जगजीवनरामजी की शासन व्यवस्था को असफल करना चाहा, धमकियाँ और प्रलोभन—दोनों ही उद्योग की ओर से आए, किन्तु जगजीवनरामजी न तो फिसले और न भयभीत हुए। वे मोर्चे पर डटे रहे। उद्योग की उचित माँगें पूरी करने में सरकार पीछे न रही, बल्कि उसने विकास के लक्ष्य से उन्हें अनेक सुविधाएँ दीं। इतने पर भी जगजीवनरामजी श्रम-मन्त्री के रूप में उद्योगपतियों को कठोर प्रकट हुए। वे उनके निश्चय को भंग न कर सके और न उन्हें किसी बात में झुका ही सके। जगजीवनरामजी को दुःख हुआ कि उनके देश के उद्योगपति आँख मीचे हुए हैं, वे संसार के परिवर्तन और राजनीतिक-गतिविधियों पर ध्यान नहीं देते हैं।

या तो हम अपनी ओर समाज को मोड़ें या फिर समाज के साथ हम मुड़ें। समाज की बढ़ती हुई गतिविधि के आगे हम यदि न बढ़ सके तो फिर हम पिछड़ जाएँगे, अपना स्थान, अपना नेतृत्व और अपनी शक्ति खो बैठेंगे। देश में जब समाजवाद की भावनाएँ टक्करें ले रही हैं, जगजीवनरामजी ने कहा कि तब हमें उस ओर बढ़ना ही होगा। सर्व प्रथम उन्होंने कहा कि राजनीति और अर्थनीति का हमारा आधार समाजवाद होगा। गांधीवादी विचार धारा के अनुयायी होने के कारण जगजीवनरामजी समाज में वर्ग युद्ध के पक्षपाती नहीं हैं। वे सहयोग की नीति अपेक्षित मानते हैं। मजदूर मानव हैं, शक्ति हैं, राष्ट्र की पूँजी हैं, उनकी माँगें पूरी हुए बिना आर्थिक विकास संभव नहीं है। इसलिए जगजीवनरामजी ने कहा कि यह समय की माँग है कि भारत को समृद्धिशाली बनाने के लिए उद्योगपति मजदूरों को उचित और मानवीय अधिकार प्रदान करें। जगजीवनरामजी ने सामाजिक और आर्थिक—दोनों दृष्टियों से नए समाज की रचना का संकल्प किया।

१९५२ के निर्वाचन के उपरान्त जगजीवनरामजी संचार मन्त्री हुए। इस पद पर से भी उन्होंने नए-नए परिवर्तन किए। संचार व्यवस्था का व्यापक विस्तार किया। जगजीवनरामजी के मन्त्रित्व काल में संचार विभाग की ओर से राष्ट्रीयकरण का श्रीगणेश हुआ। उन्होंने हवाई कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया। उस समय हवाई सर्विस निजी क्षेत्र के अधिकार में थी। हवाई कम्पनियाँ सरकार से लाइसेंस प्राप्त कर हवाई जहाज के यातायात का कारबार करती थीं। एयर इण्डिया, एयर सर्विसेज आफ इण्डिया, एयरवेज इण्डिया, भारत एयरवेज, डेक्कन एयरवेज, हिमालयन एसोसियेशन आदि कम्पनियों का व्यवसाय राष्ट्रीयकरण की परिधि में आया। जगजीवनरामजी के प्रयत्न से सरकार ने हवाई कम्पनियों के कारबार को अपने हाथ में ले लिया।

१९५३ में जो विधेयक लोक सभा से स्वीकृत हुआ, उसके अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के इस महत्वपूर्ण व्यापार के दो कार्पोरेशन स्थापित हुए। बाद में दोनों संगठित हो गए और आज इन दोनों के एक में विलीन होने का समय आ गया है। देश में चलनेवाला संगठन इण्डियन एयर लाइन्स कार्पोरेशन और विदेश के लिए एयर इण्डिया इण्टरनेशनल हुआ। पुरानी कम्पनियों की व्यवस्था को नया रूप देने सारी व्यवस्था एक सूत्र में लाने में काफी समय लगा। किन्तु हमें यह कहना पड़ेगा कि जगजीवनरामजी ने यह चमत्कारपूर्ण कार्य किया। उनसे उद्योगपतियों ने कहा कि निजी पूंजी का बहिष्कार करना देश को अवनति की अवस्था पर पहुँचाना होगा, वे यह न करें। किन्तु जगजीवनरामजी ने इन विचारों के मिलनेवालों से केवल यह कहा कि

वे उनसे राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में कोई परामर्श नहीं चाहते हैं। वे केवल हवाई कम्पनियों के उद्योगपतियों से मिल कर यह तय करना चाहते हैं कि मुआवजे की रकमें किस आधार पर निश्चित की जाएँ। उनके इस उत्तर के आगे फिर किसी को कुछ कहने का साहस न हुआ।

श्रम विभाग में जिन नए श्रम कानूनों को बना कर जगजीवनरामजी ने एक यादगार कायम की, तो संचार मन्त्रालय में भी उनका कार्य-काल सदा के लिए स्मरण रहेगा कि उनके मन्त्रित्व में हवाई कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण हुआ और इसप्रकार देश में राष्ट्रीयकरण की पहली नींव रखी गयी। पूंजीपतियों के विरोध से जगजीवनरामजी जरा भी विचलित न हुए, न चिंतित हुए। उन्होंने यह कहा कि राष्ट्रीयकरण का यह पहला कदम सरकार के लिए बड़ा मूल्यवान साबित होगा, उसकी सफलता और अनुभवों से सरकार क्रमागत आगे बढ़ेगी। हुआ भी वही, जो बीज उन्होंने बोया था, वह लहलहाया और आज हवाई यातायात सरकारी व्यवस्था में पूर्ण प्रगति कर रहा है। इसमें सरकार का बल बढ़ा और फिर कुछ काल तक सरकार का दूसरा आश्चर्यजनक कदम जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण की ओर बढ़ा। इम्पीरियल बैंक का भी राष्ट्रीयकरण हुआ।

दूसरे आम निर्वाचन में जब फिर केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल बना, तब जगजीवनरामजी को सरकार का प्रधान उद्योग विभाग रेलवे का मिला। आज वे रेलवे विभाग के मन्त्री हैं। पहली पंचवर्षीय योजना में रेलवे का विस्तार हुआ था। किन्तु जगजीवनरामजी के मन्त्रित्व काल में दूसरी पंचवर्षीययोजना के अन्तर्गत भी रेलवे का विस्तार धीमा नहीं पड़ा। देश के आर्थिक विकास में रेलवे का यातायात महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रेलवे क्षेत्र के बिना विस्तार हुए बुनियादी उद्योगों का निर्माण संभव नहीं है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के काल में भी विश्व बैंक ने सहयोग का हाथ बढ़ाया और रेलवे क्षेत्र के विस्तार के लिए काफी ऋण दिया। यहाँ अपने कार्य काल में भी वे मजदूरों के हितों को नहीं भूले। उन्होंने पीड़ित वर्ग को रेलवे में योग्य स्थान दे कर बेकारी दूर करने में मदद दी। रेलों के साधनों में भी वृद्धि की।

इस प्रकार जगजीवनरामजी का कीर्तिमय जीवन निखरता चला गया। वे बड़े आशावादी हैं, विपदाओं से घबड़ाते नहीं, विरोध से खिन्न नहीं होते। वे यह अवश्य सोचते हैं कि सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन तुरन्त संभव नहीं है, उसमें समय लगेगा। वे दया और कृपा के अभिलाषी नहीं हैं बल्कि अपने समाज के लिए अधिकार चाहते हैं। वे दलितों के लिए न्यायपूर्ण मानवीय अधिकारों की माँग करते हैं। वे दया और कृपा को घृणा तथा नफरत की निगाह से देखते हैं। पीड़ितों के लिए उनके दिल में सदा दुःख और दर्द रहता है। उनकी दयनीय अवस्था देख कर वे तड़प उठते हैं। उनके मन में गहरा असन्तोष पैदा होता है। वे समाज में बुनियादी परिवर्तन चाहते हैं, वे कहते हैं कि सामाजिक क्षेत्र में मानव मानव में कोई भेद न हो, हरिजनों के दिलों में कभी भूल कर भी यह खयाल पैदा न हों कि वे अस्पृश्य हैं और दूसरे यह खयाल करें कि हरिजन अस्पृश्य हैं, इस भावना के मिटाने के जो भी मूल तत्व हैं, जगजीवनरामजी उन सब का आमूल नाश चाहते हैं। इसलिए वे वर्ण व्यवस्था के कायम रखने के कट्टर विरोधी हैं। अन्यथा; हिन्दू धर्म और हिन्दू धर्म के सच्चे सिद्धान्त जगजीवन-रामजी को उतने ही प्रिय हैं, जितने एक सवर्ण हिन्दू को हो सकते हैं, हकीकत में उससे भी कहीं अधिक है। वे हिन्दू धर्म के लिए जीते मरते हैं। अनेक हरिजनों को विधर्मी होने से उन्होंने बचाया और जिन हिन्दू संस्थाओं ने बाहर गए हुए हिन्दुओं को फिर उन्हें समाज की गोद में लिया, उन्हें जगजीवनरामजी की सेवाएँ प्राप्त हुईं।

अपने देश में जगजीवनरामजी अपने देश के वातावरण में पैदा हुई अर्थ व्यवस्था के समर्थक हैं। वे न तो सोवियट रूस की साम्यवादी व्यवस्था और न पूंजीवादी योरप की पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थन करते हैं। इस दिशा में उनका दिल और दिमाग स्वतन्त्र और साफ है। वे पश्चिम से गढ़ी हुई किसी व्यवस्था का आयात कर अपने देश में परिणत करने के कभी पक्षपाती नहीं हैं। उन्होंने कहा कि जिस दिन देश के साधन बढ़ जाएँगे और यह प्रतीत होगा कि हम अपने पैरों पर खड़े हो गए,

उस दिन निजी आर्थिक व्यवस्था को खत्म करने में विलम्ब न लगेगा। पण्डित जवाहरलाल नेहरू बिना किसी संकोच और हिचकिचाहट के उसे मिटा देंगे।

•जगजीवनरामजी समाज के नैतिक रूप के निर्माण की प्रबल आकांक्षा रखते हैं। आज समाज का जो नैतिक स्तर गिर गया है, इसके लिए वे चिंतित रहते हैं। वे कहते हैं कि लोगों का नैतिक स्तर ऊँचा हुए बिना हम किसी क्षेत्र में ईमानदारी से आगे नहीं बढ़ सकते। वे नैतिक पुनरोत्थान चाहते हैं। वे कहते हैं, नैतिकता जब तक लोगों के हृदय और मस्तिष्क में पैठ नहीं जाती तब तक हमारी सफलता हमसे कोसों दूर है। अनीतिक जीवन में सफलता की कामना करना, जिस-तिस उपाय का आश्रय ले यश प्राप्त करना गलत मार्ग है। वे महात्माजी की उस अमर वाणी को नहीं भूलते जो उन्होंने हमें विरासत में दी है, जिसमें उन्होंने कहा है कि हमारा लक्ष्य ही ऊँचा नहीं हो, उस लक्ष्य की प्राप्ति के हमारे मार्ग भी सच्चे हों।

जगजीवनरामजी अपनी बात दो टूक शब्दों में कहने में गांधीजी का अनुसरण करते हैं। अस्पष्ट शब्दों में तोड़-मरोड़ कर या इधर-उधर की वे कोई बात नहीं कहते। उनमें अटूट आत्म विश्वास है और साहस है। हास्य भाव होते हुए भी किसी कदर तक उनमें रूखापन भी है, किन्तु लोगों के भावों को समझने की भावना बड़ी तीक्ष्ण है, बड़ी पैनी दृष्टि है, इसलिए वे बिना किसी लाग-लपेट के अपनी स्पष्ट बात कहने में हिचकिचाते नहीं हैं। सरदार पटेल की तरह मुहफट—ब्लंट तो नहीं हैं; किन्तु स्पष्ट बोलने में वे किसी का मुलाहजा नहीं करते, न पक्षपात का खयाल करते हैं।

जगजीवनरामजी का जीवन बनावट तथा बाहरी कृत्रिमता से कोसों दूर है, ऊपर की सजावट से वे भय खाते हैं, सीधा-सादा और सरल तथा निष्कपट उनका जीवन है, सेवा उनकी वृत्ति है, पद का अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया है। बड़े आदमियों की जिन्दगी उनकी जिन्दगी नहीं है। समाज और देश में अनाचार देख कर उनकी आँखें तन जाती हैं। अपनी आत्मा की साफ आवाज प्रकट रखने में उन्होंने न अपने साथियों का मुलाहजा किया और न गांधीजी का और न पूंजीपतियों का। गांधीजी के सामने उन्होंने अपना मत निःसंकोच प्रकट किया। इस स्पष्टता और जीवन की सरलता से ही गांधीजी ने उन्हें अपनाया और उनके कार्यों की प्रशंसा की। पूंजीपतियों का विरोध निराधार था। पूंजीपतियों ने उन्हें अराजकवादी आदि कहा, आग बरसानेवाला बताया। किन्तु इससे वे विचलित न हुए, मजदूरों के स्वार्थों का अधर में न छोड़ सके।

हरिजन समाज में जन्म धारण कर एक निर्धन परिवार से जगजीवनरामजी का उदय हुआ। अपने सार्वजनिक जीवन के अल्प काल में ही उन्होंने अपने ही प्रयत्नों से अपना निर्माण किया। युवकों के लिए उनका जीवन पथ-प्रदर्शन करनेवाला है कि किस प्रकार रजकण से उठ कर अनेक संकटों, विपदाओं और प्रतारणाओं के बीच में से वे आगे बढ़े और बढ़ते चले गए और एक शीर्ष स्थान पर पहुँचे। वे अपने पथ से भटके नहीं बल्कि गांधीजी के शब्दों में वे 'तपे हुए खरे सोने' से चमके।

**

जन्म-भूमि—चंदवा

मानव को जन्म-स्थान कितना प्यारा होता है, उसकी कल्पना करना सहज नहीं है। भगवान राम को अयोध्या परम प्रिय थी, वे जहाँ भी गए; उन्हें अयोध्या का विस्मरण न हुआ। योगिराज कृष्ण को भी मथुरा, वृन्दावन सर्वाधिक प्रिय था। तदवत् पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्री जगजीवनरामजी को भी प्रयाग और चंदवा प्यारे हैं। नेहरूजी को इलाहाबाद के वक्षस्थल में जो सुख शान्ति मिलती है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं है। श्री जगजीवनरामजी का जन्म-स्थान चंदवा ग्राम है। यह ग्राम बिहार के ऐतिहासिक क्षेत्र शाहाबाद जिले में आरा से प्रायः डेढ़ मील पश्चिम की ओर आरा-बक्सर के मार्ग पर है। इस ग्राम के एक ओर रेलवे लाइन है, और दूसरी ओर आरा बक्सर सड़क है। इस ग्राम के पूर्व में ईसाई पादरियों की गतिविधि का एक केन्द्र है, जो 'मिशन के हाते' के नाम से प्रसिद्ध है। यह हाता इस जिले के ईसाइयों का सदर मुकाम है। यहाँ गिर्जाघर भी है। इस गिर्जाघर और ग्राम के मध्य में एक नाला पड़ता है, जो आरा के निकट गंगा नदी में मिलता है। यह नदी चंदवा के उत्तर की ओर बहती है। वर्षाकाल में नदी और नाले में बाढ़ आने पर यह ग्राम एक छोटा-सा द्वीप बन जाता है। चंदवा आज भी ग्राम बना हुआ है। उसकी ग्रामीणता नष्ट नहीं हुई है। ग्राम के सुन्दर वृक्ष और उनकी शाखाएँ तथा हरे-भरे खेत प्रकृति का मनोरम दृश्य प्रकट करते हैं। वसन्त और शीतकाल में सारे ग्राम में मखमली फर्श सा बिछा हुआ दृष्टिगोचर होता है। ग्राम में अधिक बस्ती नहीं है, डेढ़-दो सौ परिवार होंगे, जिनमें सभी वर्ण और जाति के लोग बसते हैं।

आरा और बक्सर—दोनों ही ऐतिहासिक नगर हैं। कहा जाता है कि बक्सर में ऋषि विश्वामित्र ने भगवान राम और लक्ष्मण को शिक्षा दी थी। वे इस मार्ग से जनकपुर गए थे। महाभारत के समय में पांडवों ने अपने बनवास का कुछ काल यहाँ बिताया था। मुगलों के समय में बक्सर युद्ध क्षेत्र बन गया था। १५२९ में बादशाह बाबर का हमला हुआ था। इस जिले से शेरशाह का बड़ा सम्बन्ध रहा और उसने १५३९–४५ के बीच में दिल्ली से युद्ध ठाना था। इस जिले के अन्तर्गत सहसराम में शेरशाह ने अत्यन्त कलापूर्ण मकबरा बनवाया, जो आज भी मौजूद है। यहाँ से कुछ दूर पर चन्दनपुर की पहाड़ी में अशोक के समय का शिलालेख मिलता है। चन्द्रगुप्त के शासन काल में जो विदेशी विद्वान् भारत में आए, वे पहले बिहार में आए, उनमें से एक हुएनसाँग थे, जिन्होंने इस स्थान में भी भ्रमण किया था। इसके अतिरिक्त यहाँ के अन्य ऐतिहासिक स्थान भी उल्लेखनीय हैं, जो न केवल प्राचीनता के कारण, बल्कि शिल्पकला की दृष्टि से अपनी महत्ता रखते हैं। इनमें भभुआ के अन्तर्गत चैनपुर में बख्तियार खाँ का मकबरा और चीरपुर का किला तथा आरा हाउस आदि प्रसिद्ध इमारतें हैं। मकबरा और किला-दोनों की कारीगरियाँ और दृश्य अनुपम हैं।

इसी जिले में जगदीशपुर है, जो भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन का तीर्थ-स्थान है, यह स्थान नरवीर बाबू कुंवरसिंह की जन्म-भूमि है। कुंवरसिंह और अमरसिंह जगदीशपुर के जमींदार थे। १८५७ में प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में इन दोनों नर पुंगवों ने सफल युद्ध लड़ा था और अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिए थे। बाबू कुंवरसिंह की वीरता और नेतृत्व से जगदीशपुर समस्त भारत में विख्यात हुआ। भविष्य में जब कभी स्वतन्त्रता के युद्ध के क्रान्तिकारियों का इतिहास लिखा जाएगा तब जगदीशपुर का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा। बाबू कुंवरसिंह जगदीशपुर और बिहार को अमर कर गए। उनके त्याग, उनकी देशभक्ति और उनकी वीरता की कहानी आज भी बिहार में सर्वत्र गूंज रही है। कुंवरसिंह ने इस क्षेत्र में वीरता के जिस पौधे को बोया, वह मुर्झाया नहीं। यह स्थान एक सैनिक क्षेत्र बन गया। बिहार में आज भी सैनिकों की भर्ती शाहाबाद में होती है।

देशगौरव जगजीवनरामजी का चंदवा ग्राम से प्रेम उनके जीवन की उदात्त भावना को प्रकट करता है। अन्यथा, हमने देखा कि अनेक अछूत नेता जन्म-स्थान को भूल गए। उन्होंने फिर वहाँ जाने का नाम तक

नहीं लिया। कारण, उन्हें अपने ग्रामों में जो प्रतारणाएँ मिलीं, अपमान सहना पड़ा और जिस अपमानित जीवन में रहना पड़ा, उससे उनका उन क्षेत्रों को भूल जाना स्वाभाविक था। किन्तु जगजीवनरामजी का चंदवा ग्राम आरम्भ से ही एक अपवाद रखता है। सामाजिक क्षेत्र में उसने सह-अस्तित्व को ग्रहण किया, ब्राह्मण और कायस्थों की बड़ी बस्ती होने पर भी यहाँ के द्विजों में हरिजनों के प्रति स्नेह और सौहार्द्र की भावनाएँ विद्यमान हैं। यहाँ धार्मिक और अमानुषिक जातीय भेदभाव नहीं हैं। सार्वजनिक विद्यालय, कुएँ और पंचायत तथा अन्य स्थानों में किसी जाति के प्रति छुआछूत का कोई विचार नहीं है। सवर्ण और हरिजनों के लड़के एक साथ शिक्षा पाते हैं। जिस ग्राम ने जगजीवनरामजी को जन्म दिया, उसमें ब्राह्मण और हरिजनों में सौहार्द्र और प्रेम भाव होना स्वाभाविक है।

जगजीवनरामजी हिन्दू समाज के उस वर्ण में पैदा हुए, जो धार्मिक तथा सामाजिक रूढ़ियों के कारण युगों से तिरस्कृत था। सवर्णों के अत्याचारों से दलितों का पशुओं से भी हीन जीवन था। घृणा, तिरस्कार और अपमान पग-पग पर हरिजनों को सहने पड़ते थे। गन्दगी उनके भाग्य में थी। नरकतुल्य स्थान में उन्हें रहना पड़ता था। ग्राम से बाहर उनकी झोपड़ियाँ थीं। उनके प्रति मानवीय व्यवहार स्वप्न में भी सम्भव न था। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी कि जिन नगर और ग्रामों में जिस स्वच्छता और सुन्दर वातावरण का वे अपने परिश्रम से निर्माण करते, उससे वे वंचित रहते। सड़कें और कुएँ उनके उपयोग के लिए नहीं थे। मन्दिरों में प्रवेश करना और स्कूलों में पढ़ना आदि सब कुछ उनके लिए निषेध था। मुसलमान और ईसाई अस्पृश्य न थे, किन्तु अपने को हिन्दू कहनेवाले, शिखा रखनेवाले, राम और कृष्ण का नाम लेनेवाले, रामायण और महाभारत पढ़नेवाले तथा सत्यनारायण की कथा करनेवाले हरिजनों के प्रति धर्म के नाम पर पाशविक अत्याचार होते थे।

चंदवा ग्राम सौभाग्यशाली रहा कि वहाँ हरिजन और सवर्णों में यह जातीय भेदभाव न रहा और सब वर्ण एक साथ मिल कर रहते। हरिजनों के लड़कों को सवर्णों के घरों में आदर से स्थान दिया गया। सवर्ण लड़कों के साथ हरिजन लड़कों के पढ़ने के लिए कोई रोक न हुई। जातीय और सामाजिक काम में सारा ग्राम एक साथ खड़ा हुआ। वृद्ध, युवा और बालक किसी भी वर्ण और जाति का हो, चंदवा में जन्म लेने के कारण चंदवावासियों के लिए अभिमान का बना।

**

जगजीवनरामजी के अग्रज

श्री जगजीवनरामजी के पिता का नाम श्री शोभीरामजी था और पितामह—दादा का नाम शिवनारायण जी था। उनके पूर्वज कहाँ रहते थे, यह कह सकना नितान्त कठिन है। किन्तु यह प्रकट है कि शिवनारायणजी गया जिले के सुनारी ग्राम से चल कर शाहाबाद जिले में मोटसिया नामक ग्राम में आकर बस गए थे। यहाँ ही सन् १८६४ में शोभीरामजी का जन्म हुआ था। जब शोभीराम केवल बालक थे, तभी उनकी माँ का स्वर्गवास हो गया था। तद्पश्चात् उनके पिता ने दूसरा विवाह किया। इस अवस्था में शोभीरामजी का पालन-पोषण उनकी दादी ने किया। मोटसिया में शोभीरामजी का जीवन कभी सुखप्रद न रहा। सामाजिक अत्याचार और आर्थिक शोषण के कारण उनकी पारिवारिक स्थिति न सुधर पायी। भारी परिश्रम करने पर भी उनका जीवन नितान्त दु:खमय बीतता था। किन्तु होनहार प्रबल है। दैवयोग से उनके फूफा मोटसिया में आए, जो पंजाब की सेना में नौकर थे। शिवनारायणजी के भाग्य ने नया मोड़ लिया। उन्हें आगे बढ़ने का अवसर मिला। उनके फूफा उन्हें अपने साथ पेशावर और रावलपिण्डी ले गए।

शोभीरामजी ने अपने फूफा की बड़ी सेवा की। उनके साथ पितृवत् व्यवहार किया। उनके फूफा भी उनके प्रति बड़ा वात्सल्य और स्नेह भाव रखते थे। वे चाहते थे कि शोभीराम उन्नति करे। इसलिए उन्होंने शोभीराम को स्वयं ही पढ़ाना शुरू किया। धीरे-धीरे शोभीरामजी को हिन्दी का अच्छा ज्ञान हो गया। एक दिन एक ब्रिटिश सैनिक ने जब उनसे विशेष प्रकार की सिगरेट लाने के लिए कहा और अंग्रेजी न जानने के कारण जब वे उसे न ला सके और कोई दूसरी ही सिगरेट ले आए, तो उन्हें बड़ा खटका और इस घटना ने ही उन्हें अंग्रेजी सीखने की लिए अग्रसर किया।

शोभीरामजी के जिम्मे फौजी अस्पताल का काम था और इसलिए पंजाब में उनके यत्र-तत्र तबादले हुए। जब शोभीरामजी मुलतान गए, तब यहाँ उनका एक ऐसे सन्त से समागम हुआ, जिससे उनका जीवन ही परिवर्तित हो गया। यहाँ शोभीरामजी शिवनारायण सम्प्रदाय के सम्पर्क में आए और उनके हृदय में आध्यात्मिक प्रेरणा उत्पन्न हुई। उस समय से वे उस सम्प्रदाय के अनुयायी बन गए।

जब उनका तबादला दानापुर में हुआ, तब वे अपने घर पर आए। वहाँ उन्होंने देखा कि उनके माता-पिता दोनों का देवलोक हो गया। पर जिन दादी ने उनका बचपन में लालन-पालन किया था, वे जीवित थीं। शोभीरामजी ने पंजाब में जो कुछ धन अर्जन किया था, अपनी दादी के चरणों में रख दिया। वृद्धा दादी और शोभीरामजी का वह मिलन बड़ा कारुणिक था। दोनों ही रो पड़े। कुछ समय उपरान्त शाहाबाद जिले में बलुआ नवादा के एक परिवार की पुत्री बासन्तीदेवी से शोभीरामजी का विवाह हुआ। बासन्तीदेवी उस समय केवल बारह वर्ष की थीं। शोभीरामजी के लिए यह संभव न था कि वह कम वयस्क बालिका को छावनी में साथ रखते। फिर उनका कहीं मकान भी नहीं था। माता-पिता का देहान्त हो जाने से परिवार में कोई न रह गया था, जिसके पास बासन्तीदेवी रहतीं। पर सेना में नौकरी करने के कारण उनके पास मकान बनाने के इतना साधन हो गया था। ग्रामीणों के लिए अपना मकान होना बहुत बड़ी चीज होती है। शोभीरामजी के एक भाई शाहाबाद में जगदीशपुर थाने के अन्तर्गत बलिगाँव में आकर बसे थे। शोभीरामजी ने इसी ग्राम में जमीन लेकर मकान बनाया। अब बासन्तीदेवी के लिए रहने का स्थान हो गया था। किन्तु फिर भी यह सवाल बना हुआ था कि शोभीरामजी के बाहर जाने पर उस मकान में बासन्तीदेवी अकेले कैसे छोड़ी जाएँ। शोभीरामजी के परिवार में कोई व्यक्ति न रह गया था कि जिसे वे लाकर रखते। इस अवस्था में उन्होंने अपनी सास से अनुरोध किया कि वे बासन्तीदेवी के पास रहें। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। उनकी सास के कोई पुत्र न था और इस लड़की के प्रति उनका बड़ा स्नेह था। अब बासन्तीदेवी दानापुर और बलिगाँव दोनों जगह रहतीं। १८८५ में संतलाल पैदा हुआ। वह बड़ा निर्बल था और

सदा बीमार रहता था। बलिगाँव में चिकित्सा की व्यवस्था न देख कर यह सोचा गया कि ऐसे स्थान पर रहा जाए, जो शहर से नजदीक हो, जिससे ग्राम में रहते हुए भी बालक का भले प्रकार इलाज हो सके।

श्रीमती बासन्तीदेवी की ज्येष्ठ भगिनी का विवाह चंदवा ग्राम में हुआ था। बड़ी बहन और उसके पति ने शोभीरामजी पर भी दबाव डाला कि वे चंदवा में आकर रहें। बासन्तीदेवी के माता-पिता को यह उचित प्रतीत हुआ कि दोनों बहनें एक ग्राम में रहें और एक दूसरे के सुख-दुःख में काम आएँ। फिर शोभीरामजी को भी बलिगाँव से अनिच्छा हो गयी थी। इसलिए उन्हें यह अनुरोध ठीक जँचा और वे चंदवा में आकर बस गए। यहाँ जमीन लेकर उन्होंने नया मकान बनवाया। मकान बनाने के सिवा उन्होंने ग्राम में जमीन खरीदी और खेती का अच्छा साधन पैदा कर लिया। अपने मकान के पास ही उन्होंने एक कुआँ बनवाया, जो सब के उपयोग के लिए आया।

इसप्रकार घर के साधन बढ़ाते हुए भी शोभीरामजी ने सेना का काम नहीं छोड़ा था। किन्तु कुछ समय उपरान्त यकायक उनका अपने अफसर से झगड़ा हो गया। अफसर उनकी कार्य क्षमता और नेकनियती से बड़ा प्रभावित था, किन्तु फिर भी वह यह चाहता था कि वे खेद प्रकट करें और क्षमा माँगें। पर शोभीरामजी यह कब करने वाले थे। वे सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे और अपना आत्म सम्मान रखते थे। अन्त में शोभीराम ने नौकरी छोड़ दी और अपने ग्राम में चले आए। पर ग्रामीण काम-काज से वे निरे अनजान थे। वर्षों तक सेना में काम करने के कारण खेती का धन्धा उनके लिए नया था। किन्तु सुयोग से कुछ समय में ही उनका काम कलकत्ते के मेडिकल कालिज के अस्पताल में लग गया। अपने पुत्र सन्तलाल को लेकर वे कलकत्ते चले आए। सन्तलाल हवड़ा में पढ़ने लगा। शोभीरामजी सन्तलालजी को बड़ा चाहते थे और उसके पीछे भारी खर्च उठाते थे। पर सन्तलाल पिता के धन से मौज उड़ाते थे। इसप्रकार उसके पीछे भारी खर्च होता था। स्कूल न जाकर इधर-उधर भटकना और खर्च करना उसका काम हो गया था। शोभीरामजी सोचते थे कि लड़का पढ़ता है, क्योंकि वह बराबर स्कूल जाता और ठीक समय पर घर पर पहुँचता था। उन्हें क्या पता था कि लड़का घर से किताबें ले जाकर इधर-उधर घूमता है। किन्तु, जब वार्षिक परीक्षा का परिणाम उनके सामने आया और उन्होंने स्कूल की रिपोर्ट देखी, तब वे अत्यन्त क्रोधित हुए और उन्होंने सन्तलाल को बेहद पीटा।

सन्तलाल पिता से दण्ड पाने के उपरान्त यकायक कलकत्ते से भाग गया। वह घर भी न गया। उसके इसप्रकार भाग जाने से माता-पिता दोनों चिन्तित हुए। उसकी बड़ी खोज की गई। मगर सन्तलाल लखनऊ में अपने चाचा के यहाँ आए जो फौजी अस्पताल में नौकर थे। शोभीरामजी का पत्र मिलने पर सन्तलाल के लखनऊ आने का रहस्य खुला। वे स्वयं सन्तलाल को लेकर कलकत्ते पहुँचे। पिता की हार्दिक इच्छा थी कि सन्तलाल उच्च शिक्षा प्राप्त करे, किन्तु उन्हें फिर यह अनुभव हुआ कि उसे आगे पढ़ाना व्यर्थ है। उनके प्रयत्न से सन्तलाल को कलकत्ता मेडिकल कालिज में कम्पाउण्डरी का काम मिल गया। कुछ समय उपरान्त स्वास्थ्य अच्छा न रहने के कारण शोभीरामजी चंदवा चले आए।

इस समय तक उनके आठ सन्तानें हो गयी थीं। तीन पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थीं। बड़ा पुत्र कलकत्ते में था। मंझला पुत्र शिशु अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया था। सब से कनिष्ट पुत्र जगजीवनरामजी थे, उनकी प्रतिभा 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' बचपन से पिता को प्रभावित कर रही थी। पिता के सामने बालक जगजीवनरामजी की शिक्षा का प्रश्न था। सन्तलाल अपनी पत्नी के साथ कलकत्ते में रहता था, जिसकी आय इतनी नहीं थी कि जिससे जगजीवनरामजी को शिक्षा दी जा सके। अधिक अर्जन के लिए शोभीरामजी में शारीरिक परिश्रम की क्षमता नहीं रही थी।

शोभीरामजी शिवनारायण सम्प्रदाय के सन्त थे। इस सम्प्रदाय के सन्तों में उनका प्रमुख स्थान था। अनेकों को उन्होंने दीक्षा दी थी और वे उनके गुरु थे। इसप्रकार समाज पर उनका बड़ा प्रभाव था। स्वामी शिवनारायणजी ने अनेक पुस्तकें लिखी थीं। शिवनारायणजी बाबा मलूकदास के शिष्य थे।

उन्होंने शिवनारायण सम्प्रदाय के सन्त दुखहरण से गुरु-मन्त्र लिया था। सन्त दुखहरण जाति के कायस्थ थे। वे बलिया जिले में ससना बहादुर के समीप के एक वन में रहते थे। एकान्त जीवन व्यतीत करते थे। उन्होंने पुष्पावली तथा भक्तमाला नामक दो ग्रन्थ लिखे। इस सम्प्रदाय के संस्थापक सन्त शिवनारायणजी भी बलिया जिले के एक ग्राम फन्दवार के रहनेवाले थे। वहीं उनका जन्म हुआ था। वे क्षत्रिय थे और यहाँ कन्नौज से आकर बस गए थे। इनके पिता का नाम रामबाघराय था जो बड़े शूरवीर थे। बलिया में शिवनारायणजी का जन्म १७१० में हुआ था। पिता के समान शिवनारायणजी में भी वीरता थी। अपनी युवा अवस्था में उन्होंने जो काम किए, उससे उनकी प्रसिद्धि हो गयी थी। दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह पर भी उनका प्रभाव पड़ा था। किन्तु इस सैनिक जीवन से उन्हें यकायक विरक्ति हुई। उनके हृदय में विचार उत्पन्न हुआ कि वे गृहस्थ जीवन का परित्याग कर सन्त जीवन व्यतीत करें और किसी गुरु के शिष्य बन कर दीक्षा लें। पर इस दिशा में बढ़ने के पूर्व उन्होंने देश-यात्रा की, विद्वानों का समागम किया और ईश्वर चिंतन तथा योगाभ्यास भी किया। अन्त में वे सन्त मलूकदास के शिष्य हुए, जिनका अपना मलूक पन्थ चलता था। मलूकदासजी जाति के खत्री थे। प्रयाग के समीप कड़ा नाम ग्राम में उनका जन्म हुआ था। मलूकदास की रचनाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं, जिनमें गुरु को ईश्वर के समान महत्व दिया गया है। मलूकदास ने सतगुरु को ब्रह्म के समान माना है। वे ब्रह्म और ईश्वर को 'सतगुरु' नाम से सम्बोधित करते थे। सम्राट् औरंगजेब जो हिन्दुओं का कट्टर दुश्मन था, बाबा मलूकदास से बड़ा प्रभावित हुआ था। मलूकदास के शिष्यों का देशभर में विस्तार हुआ। उत्तर भारत में सर्वत्र उनके शिष्य हैं और पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और नेपाल आदि में उनकी गद्दियाँ हैं।

देश में शिवनारायण सम्प्रदाय ने विस्तार पाया। इस सम्प्रदाय के प्रधान मठ मेजसरी, चन्द्रवार, ससना बहादुरपुर, पवरिया और मनियार आदि में हैं। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े शहरों में भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी रहते हैं और उनके मन्दिर हैं। बम्बई, कलकत्ता और कानपुर में शिवनारायण सम्प्रदाय के लोग बसते हैं। रंगून, पेशावर और करांची में भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी रहते थे। इस सम्प्रदाय के न केवल अछूत और हरिजन ही शिष्य हैं, बल्कि सवर्ण व्यक्ति भी हैं। पहले शिष्यों में उच्च वर्ण के हिन्दुओं की बहुत अधिकता थी। पुरुष और स्त्री—दोनों ही सन्त होने की दीक्षा लेते हैं। पुरुष के समान स्त्री को भी समान अधिकार प्राप्त हैं। स्त्री सन्त भी सम्प्रदाय के मठ के प्रधान स्थान पर बैठती हैं। सम्प्रदाय के प्रत्येक मठ या क्षेत्र का संगठन लोकतन्त्रीय आधार पर है। मठाधीश तथा अधिष्ठात्री के अधिकार में ही सारी व्यवस्था नहीं है, बल्कि वह एक निर्वाचित समिति सारा काम-काज करती है। शोभीरामजी ने सोचा कि शरीर की जीर्णावस्था में ग्राम में रह कर वे कौनसा काम करें? उन्हें हिन्दी का अच्छा ज्ञान था और उनकी लिपि भी बड़ी सुन्दर थी। अतएव, वे धार्मिक पुस्तकें लिख-लिख कर प्रचार करने लगे। इससे उन्हें साधारण आय होने लगी। बालक जगजीवनराम अपने पिता के समीप में बैठ कर लिखने-पढ़ने के कार्य को बड़ी उत्सुकता से देखते। शोभीरामजी अपनी लिखी हुई पुस्तकों में सजीव और सुन्दर चित्र भी बनाते थे। उस के लिए वे ब्रुश और तसबीर बनानेवाली कलमों का उपयोग करते थे। कहा जाता है कि जगजीवनराम पिता की कलम और ब्रुश उठा लेते और मनौती करने पर भी नहीं देते थे। क्षमा माँगने पर भी बाल्यपन की चंचलता के कारण उनका इस तरह चीजें उठाना बन्द न था। जगजीवनरामजी पर अपने पिता के इस जीवन की बड़ी गहरी छाप पड़ी।

शोभीरामजी का वृद्धावस्था में भी बड़ा तेजस्वी चेहरा था। बड़ी-बड़ी सफेद मूँछें और बाल थे। आँख पर चश्मा लगाते थे। किन्तु उन्हें दमे का दौरा बराबर रहता था। जगजीवनरामजी में पिता के इन कामों को देख कर पितृभक्ति का उदय हुआ। उनके जीवन की छाप जगजीवनरामजी पर अंकित हो गयी। अपने पिता का सजीव दृश्य चित्रवत् उनकी आँखों में पैठ गया जिसे वे कभी न भूल सके।

आज भी जगजीवनरामको अपने पिता के जीवन का चित्र जब सामने आ जाता है, तब वे उनके खयाल में सराबोर हो जाते हैं।

शिवनारायण सम्प्रदाय के शिष्यों के लिए बसन्त पंचमी ज्ञान के प्रकाश का पर्व है। इस दिन के समारोह में ग्रन्थ का पाठ होता है। संतगण एकत्र होकर भजन व पूजा पाठ करते हैं। बसन्त पंचमी के दिन बालक जगजीवनरामजी प्राथमिक पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजे गए। पट्टी पूजी गयी; मिठाई भी बाँटी गयी। जगजीवनरामजी बचपन की निराली वेशभूषा में पढ़ने गए। ग्राम की पाठशाला श्री कपिल मुनि तिवारी के घर पर थी। सवर्ण और हरिजन सभी जातियों के लड़के उनके घर पर पढ़ने जाते थे। अस्सी वर्षों से यह पाठशाला चलती आ रही है और तिवारीजी पढ़ाते आए।

चंदवा ग्राम कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की बस्ती है। पाठशाला के अध्यापक पण्डित कपिल मुनि तिवारी कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। कान्यकुब्ज ब्राह्मण कट्टर होते हैं, किन्तु इस ग्राम में ब्राह्मण और हरिजनों के बीच में कोई जातिगत भेदभाव नहीं रहा है। १८११ में इस पाठशाला में सन्तलाल ब्राह्मण बालकों के साथ बैठ कर पढ़ता था। इस ग्राम की यह परम्परा रही है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों के बालक हरिजन बालकों से मिले-जुलें। जब देश में हरिजनों के प्रति घृणित भावना थी, ब्राह्मण और क्षत्रियों के बराबर अछूत और उनके बालक बैठ नहीं सकते थे, उससमय इस ग्राम के जीवन में यह विषाक्त भाव कभी प्रसार न पा सका था। यह सुन्दर वातावरण इस ग्राम में तब मौजूद था, जब कि देश में अछूतोद्धार की कोई आवाज तक न उठी थी। जगजीवनरामजी के पाठशाला में प्रवेश किए हुए पाँच साल मुश्किल से बीते होंगे कि उनके पिता का निधन हो गया। बालक जगजीवनराम पर सहसा वज्रपात पड़ा।

शोभीरामजी का पवित्र और स्वच्छ जीवन था। उनका रहन-सहन देख कर कोई यह न कह सकता था कि सवर्ण और उनमें कोई भेद था। घर की स्वच्छता पर उनका सदा ध्यान रहता था। धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण शोभीरामजी स्नान पूजा और हवन करने के उपरान्त भोजन करते थे। संध्या में वे एकतारे पर भजन गाते थे। जगजीवनरामजी अपने पिता से बहुत से भजन सीख गए थे। महात्मा कबीर, सन्त शिवनारायण और गोस्वामी तुलसीदास की विनय पत्रिका के पद गाए जाते थे।

शोभीरामजी को अपनी मृत्यु का आभास पहले से हो गया था। अपने जीवन की घड़ियाँ नजदीक जान कर उन्होंने ग्रन्थ का पूजन करवाया। ग्राम के सन्तों ने एकत्र होकर स्वामी शिवनारायण के बनाए हुए भजन गाए। इस भजन पूजन के चलते हुए तीन दिन के उपरान्त शोभीरामजी का स्वर्गवास हुआ। मृत्यु से पूर्व शोभीरामजी ने श्रीमती बासन्तीदेवी को अपने समीप में बुला कर कुछ बातें कीं। यह पूछा कि ज्येष्ठ मास कब आएगा और कब सूर्य उत्तरायण में आएँगें। शोभीरामजी की मृत्यु ज्येष्ठ मास में हुई। मृत्यु की घड़ियों में बासन्तीदेवी पति के समीप में बैठी थीं। बालक जगजीवन भी समीप में बैठा था। शोभीरामजी ने जगजीवन की ओर अत्यन्त स्नेह से देखा, आँखें भर आईं थीं। उन्होंने बासन्तीदेवी से कहा कि बालक अशिक्षित न रहे। यह कहते कहते उनके प्राण विसर्जित हो गए और बासन्तीदेवी फूट फूट कर रो पड़ीं।

**

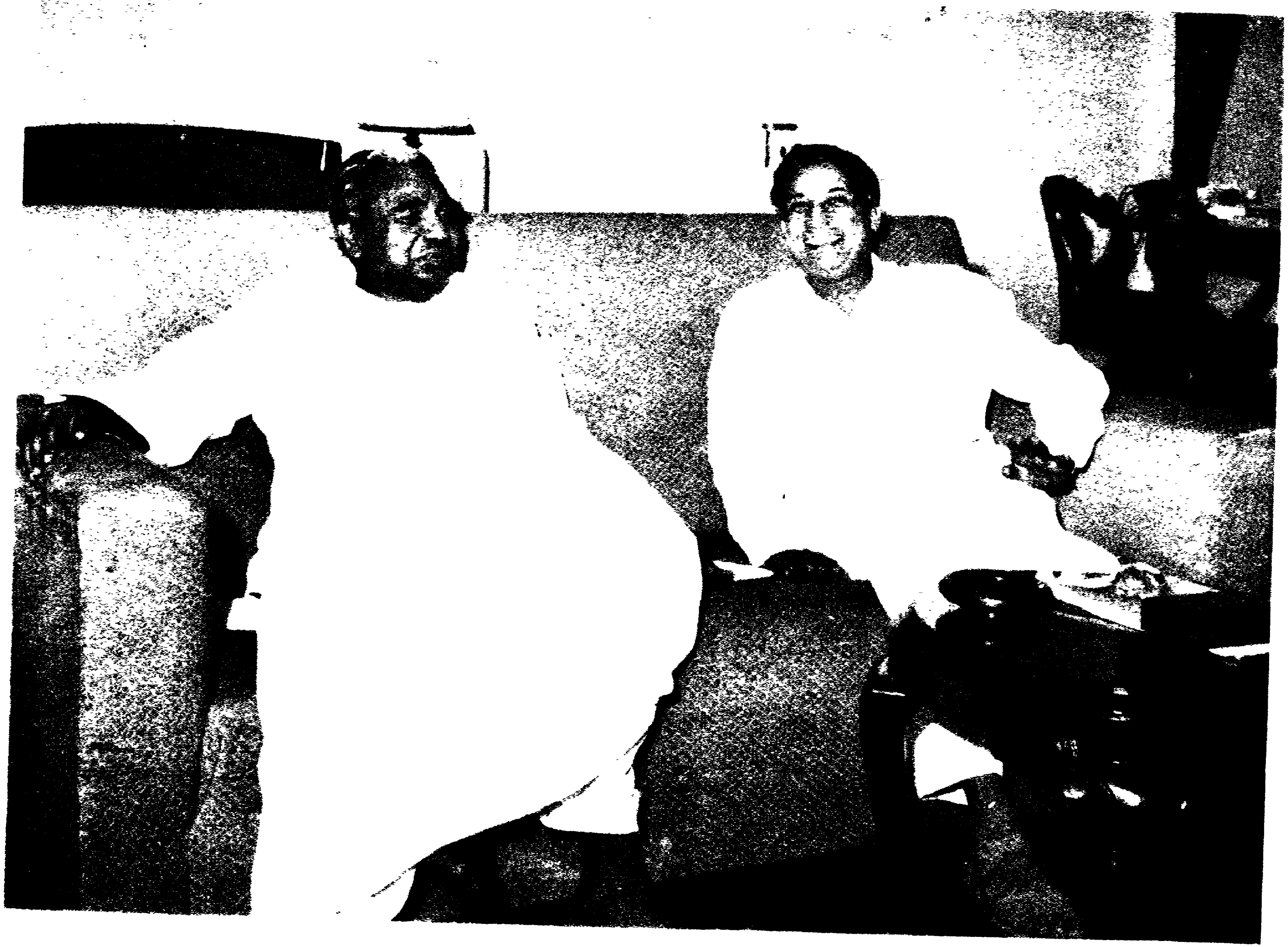
जगजीवनराम : जीवन के पथ में

पिता के निधन के पश्चात् जगजीवनरामजी आश्रय-हीन हो गए। उनके अग्रज सन्तलालजी कलकत्ते चले गए। घर में माँ बासन्तीदेवी, सन्तलाल की पत्नी, एक छोटी कन्या और बालक जगजीवनराम—ये चार व्यक्ति रह गए। सन्तलालजी अपनी पत्नी को माँ की सेवा-सुश्रूषा के लिए घर पर छोड़ गए थे। किन्तु, जगजीवनरामजी की देखभाल का सारा भार पिता के स्थान पर माँ के कन्धों पर पड़ा। पिता के समान माँ का भी धार्मिक जीवन रहा। वे स्नान और पूजा-पाठ करतीं। उनके इस जीवन से घर का वातावरण धार्मिक था। पति की मृत्यु के उपरान्त बासन्तीदेवी का ध्यान ईश्वर चिंतन की ओर अधिक लगा। उनमें धार्मिक भावनाएँ पूर्ववत बनी रहीं। शिवनारायण सम्प्रदाय के भजन उन्हें अत्यन्त प्रिय थे। उनके ही गान में वे तल्लीन रहतीं थीं। बासन्तीदेवी का ६० वर्ष की अवस्था में २१ मार्च १६५६ को दिल्ली में स्वर्गवास हो गया। पिता और माता के धार्मिक रहन-सहन का प्रभाव जगजीवनरामजी पर किशोरावस्था में ही पड़ा। धार्मिक शिक्षा ने उन्हें नयी मोड़ में ला खड़ा किया। छः वर्ष की अवधि में उन्होंने माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर ली। ग्राम में उनके अध्यापक पण्डित कपिल मुनि तिवारी थे। वे एक आदर्शवादी गुरु थे और छात्रों के प्रति उनका स्नेहवत व्यवहार था। पिता जिस प्रकार स्नेह से पुत्र को मानता है, उसी प्रकार कपिल मुनिजी का व्यवहार जगजीवनरामजी के प्रति था। घर में किसी पुरुष की देखरेख न होने पर भी जगजीवनरामजी ने शिक्षा अर्जन में अधिक ध्यान दिया और उसी का यह परिणाम हुआ कि ग्यारह वर्ष की अवस्था में वे माध्यमिक परीक्षा में सफल उत्तीर्ण हुए।

ग्राम का यह शिक्षा जीवन प्राचीन काल का स्मरण दिलानेवाला था, जब गुरु शिष्यों को वन में लकड़ी काटने के लिए भेजते थे। अध्यापक कपिल मुनि भी अपने छात्रों से सब काम लेते थे। लड़कों को वृक्षों में पानी देना पड़ता था, कोई लड़के मिट्टी के घड़ों से पानी खींचते थे और कोई सींचते थे। इस काम में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। लड़कों को बाजार में सामान खरीदने भी जाना पड़ता था। जगजीवनरामजी भी उनके साथ जाते थे। पुराने ढंग के अध्यापक होने पर कपिल मुनि अपने छात्रों को छड़ी से पीटते भी थे। किन्तु कहा जा सकता है कि जगजीवनरामजी मेधावी होने और पढ़ने में सदा दत्तचित्त रहने के कारण, उन्हें कभी सजा मिलने का अवसर नहीं आया। अलबत्ता कभी-कभी उनका अपने साथियों से झगड़ा होता था। कई साथियों से उनकी बड़ी घनिष्टता थी। ब्रजबिहारी नामक स्कूल के एक छात्र के साथ वे खूब खेलते-कूदते थे। एक दिन ऐसी घटना घटी कि जगजीवनरामजी नाले में कूद पड़े और तेज धार में डूबने की हालत में हो गए। किनारे पर आने के लिए उन्होंने प्रयत्न किए, किन्तु सब व्यर्थ गए। इस बीच में एक स्त्री ने उनकी सहायता की। उस के लकड़ी फेंकने पर, उसके सहारे वे किनारे पर पहुँचे।

ग्राम की शिक्षा समाप्त कर जगजीवनरामजी आरा के अग्रवाल स्कूल में पढ़ने लगे। उसमें ग्रामों की अपेक्षा शहर के छात्र अधिक पढ़ते थे। ग्राम के विद्यालय में जगजीवनरामजी ने अंग्रेजी नहीं पढ़ी थी। उन्हें अंग्रेजी का केवल साधारण सा ज्ञान था। पर आरा के मिडिल स्कूल में अंग्रेजी का प्राथमिक ज्ञान होना आवश्यक था। जगजीवनरामजी को अपनी कमजोरी महसूस हुई। उन्होंने देखा कि शहर के लड़के अंग्रेजी में तेज हैं। तब उन्होंने कुछ महीनों के दिन-रात परिश्रम से अंग्रेजी सीखी और वे अपने क्लास के छात्रों के बराबर हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि वे परीक्षा में सफल हुए। क्लास के उत्तीर्ण छात्रों में उनका दूसरा नम्बर था। अपनी इस सफलता से जगजीवनरामजी को बड़ा हर्ष हुआ।

अपने इस छात्र जीवन में वे पाठ्य पुस्तकों के सिवा अन्य पुस्तकें भी पढ़ते थे। धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण वे रामायण का नित्य पाठ करते थे। प्रेमसागर और सुखसागर भी उन्होंने पढ़ी थी। स्कूल के पुस्तकालय से वे पुस्तकें लाकर पढ़ते थे। उपन्यासों में बाबू देवकीनन्दन खत्री का चन्द्रकान्ता उपन्यास पढ़ने से वे न चूके।



श्री जगजीवनराम जी के साथ अभिनन्दन समिति के मन्त्री श्री गजानन्द खेतान

अपने ग्राम में कपिल मुनि के पास से वे उस काल के हिन्दी के प्रसिद्ध समाचार-पत्र व्यंकटेश्वर समाचार और भारतमित्र पढ़ते थे। अब वे गांधीजी का यंग इण्डिया पढ़ने लगे थे। इस पत्र ने उन्हें नई प्रेरणाएँ दीं।

उनके सामने यह प्रश्न आया कि अस्पृश्य छात्र के रूप में अपनी फीस माफ कराएँ या क्लास में ऊँचा नम्बर लेकर माफ कराएँ। अछूत के रूप में फीस माफ कराना उन्हें अपमानजनक दिखा, यद्यपि इससे तुरन्त ही कुछ मदद होती। उन्होंने सोचा कि इसप्रकार फीस माफ होना उनके लिए शोभनीय नहीं है। छात्रों के बीच में उनका स्थान हेय होता है। इसलिए उन्होंने सोचा कि क्यों न अधिक परिश्रम कर क्लास में वे ऊँचा स्थान प्राप्त करें, जिससे कि फीस माफ हो जाए। लड़के अक्सर गणित में कमजोर रहते हैं, किन्तु जगजीवन-रामजी गणित में शुरू से बड़े तेज थे। पर भूगोल से वे घबड़ाते थे। कुछ दिन के परिश्रम से परीक्षा में उन्हें दूसरा नम्बर मिला। इससे वे फीस देने से मुक्त हुए।

शिक्षा काल में उन्हें अनेक अपमान सहने पड़े। स्कूल में विद्यार्थियों के लिए जल पीने के लिए हिन्दुओं के लिये एक घड़ा रखा था, दूसरा घड़ा मुसलमानों के लिए था। एक बार जब जगजीवनरामजी ने हिन्दू घड़े से पीने के लिए पानी लिया, तो एक सवर्ण छात्र क्रोधित हो उठा। उसने स्कूल के प्रधान अध्यापक से शिकायत की। नतीजा यह हुआ कि अस्पृश्यों के लिए एक और घड़ा रखा गया। जगजीवनरामजी ने तब पहली बार अनुभव किया कि मुसलमानों की तरह वे भी हिन्दुओं के लिए अस्पृश्य हैं। वे हिन्दू का घड़ा नहीं छू सकते हैं। अतएव, उन्होंने अपना घड़ा फोड़ दिया। जितनी बार नए घड़े रखे गए, जगजीवनरामजी अवसर पाकर उन्हें फोड़ते ही गए। इस पर प्रधानाध्यापक ने आदेश दिया कि अब एक ही घड़ा रहेगा, जिससे सभी पानी पियेंगे, इससे जिस किसी को आपत्ति हो, वह अपनी अलग व्यवस्था कर ले।

स्कूल के प्रधानाध्यापक तथा एकाध अध्यापक सुलझे हुए दिमाग के थे, उदार विचार रखते थे। इस-लिए जब कभी विद्यालय में सवर्ण और अस्पृश्यों के भेदभावों की घटनाएँ उपस्थित होतीं, तो वे अपने प्रगतिशील निर्णय देते थे। एक बार पारितोषिक वितरण के समय मिठाई बाँटने का अवसर आया, तब सब छात्र जुट पड़े, किन्तु जगजीवनरामजी अलग खड़े रहे। उन्हें अपनी स्थिति पर क्षोभ था। श्री वंसीधर नामक एक अध्यापक ने दूर खड़े हुए देख कर कहा कि जाओ तुम भी मिठाई बाँटो। जो तुम्हारी छुई हुई मिठाई न खाए, वह न ले। जगजीवनरामजी को साहस मिला और वे मिठाई बाँटने बढ़े। उनके हाथ से छात्रों ने मिठाई ली और सब ने आनन्द से खायी।

इसप्रकार उनका शिक्षाक्रम आगे बढ़ा। उन्होंने मैट्रिक में प्रवेश किया। यहाँ उन्होंने अतिरिक्त विषयों में संस्कृत और अतिरिक्त गणित लिया था। किन्तु जब स्कूल में हिन्दी की व्यवस्था हुई तब जगजीवन-रामजीने संस्कृत छोड़ दी। उन्होंने सोचा कि अल्प काल के अध्ययन में वे संस्कृत पर अधिकार न कर सकेंगे, किन्तु हिन्दी सीखने से वे अधिक लाभ उठाएँगे। गणित के अभ्यास में उनका पूरा बल लगा था। वह उनका प्रिय विषय था। सन् १६२६ में जब महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय आरा आए, तब उन्हें सार्वजनिक सभा में हरिजनों की ओर से मान-पत्र दिया गया। इस मान-पत्र को जगजीवनरामजी ने पढ़ा। मालवीयजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने पास बुला कर उनसे बातें कीं। फिर यह कहा कि इंट्रेंस परीक्षा पास करने पर हिन्दू विश्वविद्यालय में शिक्षा के लिए चले आना, वहाँ सब व्यवस्था हो जाएगी। १६२६ में जगजीवन-रामजी ने मैट्रिक परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। गणित में आपको शत-प्रतिशत नम्बर मिले थे।

अब प्रश्न उठा, जगजीवनरामजी की उच्च शिक्षा का। कालिज की शिक्षा के लिए उनके सामने कठिनाइयाँ उपस्थित थीं। घर के कुछ लोग चाहते थे कि वे नौकरी करने लगें। बड़े भाई सन्तलालजी की इतनी आय नहीं थी कि वे शिक्षा का भार उठाते। उल्टे परिवार के पालन-पोषण की समस्या उपस्थित थी। किन्तु सन्तलाल जी और माँ बासन्तीदेवी दोनों चाहते थे कि वे कालिज में पढ़ें। श्रीमती बासन्तीदेवी को अपने पति के शब्दों का खयाल था। उन्होंने यह कहा था कि हम लोग भले संकट सहें, किन्तु जगजीवनराम

का पढ़ना बन्द न होगा, उसे तो जारी रखना ही पड़ेगा। पर वह कैसे जारी रहे, यह प्रश्न उपस्थित था। बासन्तीदेवी कोई हल न निकाल सकीं। उनके सामने मिशन से आर्थिक सहायता मिलने का प्रस्ताव था। एक दिन ईसाई महिला उनके घर पर गयी और उसने जगजीवनरामजी से अंग्रेजी में बातचीत की। वह पहले भी घर पर आ चुकी थी। मिशन की दृष्टि जगजीवनराम पर लगी थी। ईसाई अछूतों को अधिक अपनाते हैं। यदि जगजीवनरामजी जैसा शिक्षित व्यक्ति ईसाई बन जाए, तो फिर इस क्षेत्र में उनके धर्म प्रचार का मार्ग सरल हो जाए। फिर तो ईसा मसीह की शरण में सैकड़ों अछूत आ जाएँ। मिशन की अनेक महिलाएँ निरन्तर घर पर आती थीं और अपनी सद्भावनाएँ प्रकट करती थीं। वे जगजीवनरामजी से घण्टों बातचीत करती थीं। किन्तु आज जिस महिला ने बातचीत की, उसने यह प्रस्ताव किया कि मिशन उनकी शिक्षा की व्यवस्था कर सकता है। उसने जगजीवनरामजी के भावी शिक्षा के प्रति बड़ी दिलचस्पी प्रकट की और उस ने कहा कि वह उन्हें लखनऊ भेज सकती है। किन्तु यह कैसे संभव था, जिस घर में हिन्दू धर्म की भावना कूट-कूट कर भरी हो और स्वयं जगजीवनरामजी का जीवन धार्मिक विचारों से ओतप्रोत हो, वे कब ऐसे प्रस्ताव को मान सकते थे। जब माँ को बताया गया कि मिशन की महिला यह कहती है, तब वे छूटते ही बोलीं कि उन्हें इस सहायता की आवश्यकता नहीं है। माँ बासन्तीदेवी के तेजी से बोलने पर मिशन की महिला का खड़ा रहना मुश्किल हो गया था। सन्तलालजी ने जगजीवनरामजी को कभी अभाव महसूस नहीं होने दिया था। उनका बड़ा स्नेह था। वे जगजीवनरामजी के भविष्य के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी कल्पना करते। वे उनकी भावी शिक्षा के सम्बन्ध में जब तब परामर्श करते। उनकी इच्छा थी कि जगजीवनराम डाक्टर बने, जिसमें सेवा और धन दोनों प्राप्त हों। उनके उस से दरिद्र दूर हों, किन्तु जगजीवनरामजी चाहते थे कि वे इंजीनियर बनें। जगजीवनराम को महामना का वचन न भूला था। उस आश्वासन से वे काशी आए। यहाँ आने पर उन्हें विदित हुआ कि आचार्य ध्रुव गुजरात गए हुए हैं। उनका पता प्राप्त कर घर के पते से उन्हें पत्र दिखा। पत्र लिख कर वे फिर अपने घर पर लौट आए। किन्तु आचार्य ध्रुव का उन्हें तुरन्त ही पत्र मिला, जिसमें यह लिखा था कि वे काशी चले आएँ, पढ़ने की व्यवस्था हो जाएगी। इतना ही नहीं; उन्हें बिड़ला छात्रवृत्ति भी मिलने की बात लिखी। इसप्रकार सन् १९२६ में जगजीवनरामजी हिन्दू विश्वविद्यालय में दाखिल हुए।

विश्वविद्यालय में रह कर जगजीवनरामजी के मस्तिष्क में कई बातें उठीं। यहाँ वे अपने पैरों पर खड़े होकर शिक्षा प्राप्त करने आए थे, अनेक कठिनाइयाँ पार करते हुए, वे आगे बढ़े थे। उनके पिता सन्त शोभीरामजी के शिष्य और उनके समाज के लोग जगजीवनरामजी को होनहार बालक मानते थे और यह कहते थे कि वह अपने समाज का एक दिन गौरव बढ़ाएगा।

जगजीवनरामजी चिंतन करते और इस चिंतन में उनमें आत्म-विश्वास पैदा होता कि वे क्यों हीन मनोवृत्ति रखें। उनका समाज सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से गिरा हुआ है, किन्तु यदि लोग शिक्षा में आगे बढ़ें और रहन-सहन सुधारें तो फिर वे क्यों उपेक्षणीय रहेंगे। अपने नव-निर्माण का क्षेत्र उनके सामने खुला पड़ा है। यदि वे सामाजिक बुराइयाँ मिटा दें, स्वच्छ जीवन व्यतीत करें, मदिरा न पिएँ और मृत पशुओं का मांस न खाएँ, तो फिर उन्हें कैसे कोई हीन कहेगा। हमारा समाज अपना सुन्दर भविष्य आप निर्माण कर सकता है। हम दूसरों की दया के पात्र क्यों बनें? इसतरह के विचार विश्वविद्यालय के वातावरण में उनके हृदय में उठते थे।

विश्वविद्यालय में भी उन्हें अपमानों का सामना करना पड़ा था। उनके सहपाठी उनके प्रति हीनता प्रकट करते थे। प्रकट में न करने पर भी अप्रत्यक्ष व्यवहार में पूर्ण सम्मान नहीं था। यद्यपि अस्पृश्यता का कोई भेदभाव नहीं था, सब सहपाठी उनके पास बैठते, किन्तु फिर भी उनकी बातचीत से जगजीवनरामजी को यह भासित होता कि वे मानो उनकी दया के पात्र हैं। जगजीवनरामजी आर्यसमाजी छात्रों के भोजनालय में भोजन करते थे। कुछ समय उपरान्त जब नौकर ने यह जाना कि वे अछूत हैं तब बस फिर क्या था, उसने

भोजनालय का काम परित्याग कर दिया। इस हालत में जगजीवनरामजी के बर्तन नहीं साफ किए गए। उस नौकर के चले जाने पर कोई दूसरा नौकर नहीं आया। कोई भी काम करने के लिए राजी न हुआ। चमार के बर्तन कौन साफ करे? भोजनालय आर्यसमाजियों का था। तब क्या किया जाए, यह प्रश्न संचालकों के सामने उपस्थित था। उन्होंने सुझाव दिया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने झूठे बर्तन स्वयं साफ करे। जगजीवनरामजी ने अनुभव किया कि उनके कारण भोजनालय में यह संकट उपस्थित हुआ, इससे केवल उन्हें ही नहीं, दूसरों को भी असुविधाएँ हुईं। अतएव, उन्होंने निश्चय किया कि वे कहीं अन्यत्र भोजन की व्यवस्था कर लेंगे; यहाँ रहेंगे ही नहीं। पर उनके सामने नियम का प्रश्न उपस्थित हुआ। वे बिड़ला छात्रवृत्ति पाते थे, इसलिए वे छात्रावास से बाहर कैसे रह सकते थे। यह देख कर जगजीवनरामजी आचार्य ध्रुव के पास पहुँचे और उनके सामने अपनी कठिनाइयाँ रखीं। जगजीवनरामजी ने छात्रावास से बाहर रहने का आदेश माँगा। ध्रुवजी ने सारी बातें सहानुभूति से सुनीं और यह कहा कि महाराष्ट्र का एक अछूत विद्यार्थी छात्रावास में अपना भोजन स्वयं बनाता है, तो उन्हें भी अपना भोजन स्वयं बनाना चाहिए। पर जगजीवनरामजी में तो आत्म सम्मान कूट-कूट कर भरा हुआ था, वे निरादर कैसे सह सकते थे। उन्होंने कहा कि बाहर रह कर वे भोजन तैयार कर सकते हैं, किन्तु छात्रावास में इसप्रकार के अपमान को सह कर उनके लिए रहना संभव नहीं है। आवेश में भावुकतावश वे जो बातें बोल गए, आचार्य ध्रुव पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। तब आचार्य ने कहा कि तुम मेरे यहाँ चले आओ। पर जगजीवनरामजी के दिमाग में आर्यसमाज भोजनालय की घटना बनी हुई थी। अतएव, वे तुरन्त कह उठे कि यदि आपके यहाँ से भी नौकर चला गया, तब फिर क्या होगा? जगजीवन-रामजी ने कहा कि आप को ऐसा नौकर नहीं मिलेगा, जो उनके बर्तन स्वच्छ करे। अतएव, उन्होंने आचार्य के प्रति अपनी बड़ी कृतज्ञता प्रकट की और यह कहा कि वे उन्हें इसतरह का कष्ट नहीं देना चाहते हैं।

दैवयोग से इस घटना का संवाद साइंस के एक अध्यापक को मिला और उन्होंने जगजीवनरामजी को बुला कर कहा कि वे उनके पास रहें और यदि उनके रहने से नौकर चला भी गया, तो फिर नौकर के बिना भी काम चल जाएगा। जगजीवनरामजी उनके पास रहने लगे, पूर्व घटना की पुनरावृत्ति हुई ही, साइंस मास्टर का नौकर चला गया। इसके बाद कोई दूसरा नौकर आता नहीं था। ब्राह्मण को कोई क्या दोष देगा, कहारों ने तय कर लिया था कि वे अछूतों का चौका नहीं करेंगे।

ये सब कठिनाइयाँ देख कर विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने अंत में जगजीवनरामजी को बाहर रहने की आज्ञा दे दी। विश्वविद्यालय के बाहर—लंका में एक मकान रहने के लिए मिल गया। अब तो उनकी माँ भी आकर साथ में रहने लगी थीं। कुछ दिन के उपरान्त जगजीवनरामजी गंगा के तट पर अस्सी घाट में रहने लगे। यहाँ फिर एक मजेदार बात हुई। अस्सी का मकान एक कोरी का था, उस से लोगों ने कहा कि तू संकट मोचन के पुजारीजी का शिष्य है, यह क्या पाप करता है कि एक अछूत को मकान किराए पर दिए हुए है। इस बीच में जगजीवनरामजी छुट्टियों में घर चले गए थे। वे जब लौट कर आए, तो उस कोरी ने मकान देने से साफ इन्कार कर दिया और यह कहा कि अपने एडवांस रुपया ले जाइए, आपको कमरा नहीं मिलेगा। जगजीवनरामजी ने पहले उसे बड़ी विनम्रता से कहा कि वह यह क्या करता है, किन्तु जब वह अपनी जिद पर अड़ा रहा तब वे भी अड़ गए और तेजी से कहा कि मकान का किरायानामा हो चुका है, और वे किराया जमा कर चुके हैं, तब उन्हें कौन रहने से रोक सकेगा? मकान मालिक ने तब अपने गुरु से परामर्श किया। उसके गुरु कुछ प्रगतिशील विचार रखते थे। उनकी स्वीकृति मिलने पर उसने जगजीवनरामजी को मकान में रहने दिया। किन्तु यह इजाजत उसके प्रसन्न मन से नहीं थी। मकान मालिक का परिवार भी समीप में ही रहता था। कुछ काल तक दोनों में मन मुटाव, तनातनी बनी रही, परन्तु जब धीरे-धीरे दोनों परिवारों में बातचीत शुरू हुई और श्रीमती बासन्तीदेवी ने स्नेह का हाथ बढ़ाया तब फिर क्या था, दोनों परिवार घुल-मिल गए। बासन्तीदेवी उस परिवार की भी माँ बन गयीं।

और, एक घटना सुनिए। एक नाई पहले जगजीवनरामजी की हजामत बनाता रहा, किन्तु जब उसे पता लगा कि वे अछूत हैं, तो उसने बाल काटने से इन्कार कर दिया। पर यह उनके लिए नयी घटना नहीं थी। ऐसी बीसों बातें उनके सामने पेश आयीं। किन्तु इससे वे कभी चिंतित नहीं हुए। उन्होंने यह अनुभव किया कि यदि आज समाज सचेत होता, उसका संगठन होता तो यह मनोभावना न होती। यहाँ उन्हें प्रेरणा हुई कि उनकी शक्तियाँ समाज सुधार में लगनी चाहिएं। समय माँग करता है, समाज की अवस्था पुकारती है कि वे समाज के संगठन में आगे आएँ। अपनी उस किशोर अवस्था में वे यह सोचते कि अछूतों का दीन दरिद्र रहना और अपमान सहना कब तक जारी रहेगा, हिन्दू समाज में कब तक दलितों को ये प्रतारणाएँ सहनी पड़ेंगी? इसप्रकार छात्र जीवन में ही उनमें दलित जाति की सेवा के भाव उत्पन्न हुए।

बंगला के उपन्यासों ने उन्हें अधिक आकर्षित किया। शरद, द्विजेन्द्रलालराय और रवीन्द्र के ग्रन्थों के अनुवाद उन्होंने हिन्दी में पढ़े, इससे उन्हें बंगला सीखने की प्रेरणा मिली। उन्होंने कुछ समय में ही बंगला सीख ली और फिर तो बङ्ग भाषा की जितनी पुस्तकें उन्हें उपलब्ध हुईं वे सब उन्होंने पढ़ीं। इससे उनमें साहित्य की ओर अभिरुचि बढ़ी। इंटरमीडियेट में अंग्रेजी और हिन्दी के अनिवार्य विषयों के सिवा उन्होंने गणित, रसायनशास्त्र और पदार्थ विज्ञान के विषय लिए थे। गणित में पहले से अनुराग था, अब विज्ञान की ओर रुचि बढ़ी। विश्वविद्यालय में रह कर जगजीवनरामजी काशी में हिन्दी के विद्वान् लेखकों के सम्पर्क में आए। बाबू श्यामसुन्दरदास, हरिऔध और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रेमचन्द्र प्रभृति महानुभावों के निकट में आए। विश्वविद्यालय की कल्पित संसद के वाद विवाद में भी वे भाग लेते थे। तब क्या पता था कि एक दिन वे देश की असली संसद में भाग लेने में समर्थ होंगे। ग्राम में जहाँ जगजीवन-रामजी अखाड़े में कुश्ती की प्रवृत्ति रखते थे, यहाँ काशी में वे गंगा में तैरते थे। स्पोर्ट में उनकी अधिक दिलचस्पी थी। घर के खेतों में भी वे काम करते थे। इस प्रकार दो वर्ष काशी में रह कर आई० एस० सी० की परीक्षा पास की। यहाँ का सामाजिक जीवन संकीर्ण देख कर जगजीवनरामजी कलकत्ता चले आए।

कलकत्ते में सन् १९२८ में वे पहले विद्यासागर कालिज में भर्ती हुए। यहाँ उन्हें हिन्दूविश्वविद्यालय की तुलना में परीक्षा का स्तर नीचा जँचा। बंगाली छात्रों के बीच में वे एक ही बिहारी छात्र थे। यद्यपि वे बंगला जानते थे; किन्तु वे सहपाठियों से हिन्दी में ही बोलते थे। यहाँ कालिज के जीवन में उन्हें काशी के समान कठिनाइयों का सामना न करना पड़ा। यहाँ रहते हुए उन्होंने समाज सुधार और राजनीति दोनों में भाग लिया। रविदास सभाओं में वे भाषण देते और लोगों से अनुरोध करते कि वे मद्यपान न करें और अपने जीवन में स्वच्छता लाएँ। उनके भाषण बड़े ओजस्वी होते, जिनका लोगों पर असर पड़ता था। मद्यपान के विरोध में उन्होंने कई महन्तों का विरोध किया। इस विरोध से वे चमक उठे। इस आन्दोलन का कलकत्ते के कांग्रेसी नेताओं पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। इस छात्र जीवन में ही जगजीवनरामजी ने कलकत्ते के अछूतों का नेतृत्व प्राप्त कर लिया था। उनकी सभाओं में बीस-बीस हजार लोगों की भीड़ होती थी।

कलकत्ते के बंगीय नेता श्री जे० एम० सेन गुप्ता, डाक्टर विधानचन्द्र राय, श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष से उनका परिचय बढ़ा। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के निकट में वे आए। इसी संदर्भ में वे बड़ाबाजार के कार्यकर्ताओं के सम्पर्क में आए। श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, सेठ जुगलकिशोर बिड़ला, श्री भागीरथ कानोड़िया, श्री सीताराम सेखसरिया और बसन्तलाल मुरारका प्रभृति से उनका परिचय बढ़ा। डाक्टर विधानचन्द्र राय और सेन गुप्ता को उन्होंने कांग्रेस की निश्चित नीति पर चलते हुए देखा; किन्तु उन्होंने सुभाषचन्द्र बोस में समाज के नए निर्माण की क्रान्तिकारी भावनाओं के दर्शन किए। सुभाष बाबू का कहना था कि पीड़ित तथा दलित वर्गों के उठने पर देश में नयी क्रान्ति हो सकती है। इसलिए नेताजी सुभाषचन्द्र बोस अपने आन्दोलन में मजदूर और हरिजनों का पूर्ण सहयोग चाहते थे। जगजीवनरामजी बंगाल प्रदेश कांग्रेस के

नेतृवृन्द, बड़ाबाजार जिला कांग्रेस के कार्यकर्ता तथा अन्य संस्थाओं के निकटतम सम्पर्क में आए। बड़ाबाजार के कर्मियों में वे घुल-मिल गए थे।

इन नेताओं तथा कार्यकर्ताओं से वे वार्तालाप करते तथा यह सोचते कि बिना सामाजिक उत्थान के देशका राजनीतिक उत्थान कैसे संभव है। सुभाष बाबू के हरिजनोंके प्रति उदात्त विचारों ने उन्हें अधिक आकर्षित किया था। सुभाष बाबू ने यह सोचा था कि जिस दिन इस पीड़ित वर्ग में अपनी दयनीय स्थिति के प्रति असन्तोष उत्पन्न होगा, विद्रोह की आग सुलगेगी, उस दिन दलित ज्वालामुखी के समान भभक पड़ेंगे, उनके उस विद्रोह से देश में नयी मंगलजनक क्रान्ति होगी, जो न केवल हिन्दू समाज की कायापलट देगी, वरन् देश के राष्ट्रीय जीवन को नए मार्ग पर ला खड़ा करेगी। यह बात जगजीवनरामजी के ध्यान में आयी कि यदि दलितों का उद्धार न हुआ और वे इसीप्रकार दीनहीन दशा में हिन्दू समाज के तिरस्कृत अंग बने रहे, तो स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर भी हिन्दू समाज के उच्च वर्ग द्वारा उनका शोषण न मिटेगा। इस पिछड़ेपन से देश के राजनीतिक जीवन में इन कोटि-कोटि दलितों का कोई स्थान न होगा, कोई आवाज न होगी। यद्यपि कांग्रेस के हिन्दू नेताओं की भावनाओं से वे प्रभावित थे और उनके विचार राष्ट्रीयता और कांग्रेस संगठन की ओर बढ़े, किन्तु हरिजनों की समस्याएँ उनके हृदय में बनी ही रहीं। कांग्रेस आन्दोलन में उनका सक्रिय योगदान बढ़ा और उस छात्रावस्था में वे केवल राजनीतिक आन्दोलन के दर्शक मात्र हीं नहीं रहे। रुग्णावस्था के कारण भी १९३० में वे परीक्षा में नहीं बैठ सके थे। इससमय वे मेडिकल कालिज के क्वार्टर में रहते थे। एक दिन की घटना है कि जब वे प्रेसीडेंसी कालिज में जा रहे थे, जहाँ डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद तथा देश के अन्य महान् नेताओं ने शिक्षा प्राप्त की थी, उन्होंने मार्ग में देखा कि धरना देनेवाले सत्याग्रहियों पर पुलिस की लाठियाँ चल रही हैं। युवापन के जोश में वे भी उसी भीड़ में घुस गए और उन पर भी मार पड़ी। अब उन्हें उत्साह उत्पन्न हुआ और यह खयाल आया कि वे भी धरना देनेवालों के साथ गिरफ्तार होंगे। कांग्रेस के जो नेतागण धरने का संचालन करते थे, उन्होंने जगजीवनरामजी के इस उत्साह की सराहना की और यह कहा कि बजाय धरना देने के वे इस कार्य में दूसरेप्रकार से सहयोग दें। उस समय जगजीवनरामजी को कोई कांग्रेसी नहीं समझता था, इससे वे बड़े संजीदगी के कार्य में लगे। सरकारी क्वार्टर में रहने पर भी उन्होंने उस जोखिम के काम को अपने कन्धे पर लिया जो धरना देने से कहीं अधिक खतरनाक था। कांग्रेस का प्रधान कार्य सत्याग्रह आन्दोलन की बुलेटिनें तथा विज्ञप्तियाँ छपवाना और वितरण करना था। पर यह सब काम करते हुए भी वे धरना देने में जब तब आगे बढ़े और एक बार सख्त घायल तक हुए।

इसप्रकार छात्र जीवन में जगजीवनरामजी सार्वजनिक क्षेत्र में आ गए थे। राष्ट्रीय क्षेत्र में काम करने के साथ उनकी शक्तियाँ दलितों के संगठन में भी लगी थीं। युवा जगजीवनराम में संगठन की अपूर्व बेजोड़ शक्ति थी। वे अछूतों का नेतृत्व करने लगे थे। अछूतों ने भी उन्हें अपना हृदय दिया और अपना नेता माना। १९२८ में कलकत्ते की ऐतिहासिक कांग्रेस में श्री जगजीवनरामजी पर युवक नेता नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और पण्डित जवाहरलाल नेहरू के सबल नेतृत्व का प्रभाव पड़ा। उन्होंने तब सोचा कि महात्माजी का आशीर्वाद से इन दोनों नेताओं के नेतृत्व में ही राजनीतिक आन्दोलन अग्रसर होगा। तब जगजीवनरामजी भी कांग्रेस के प्रभाव में पूर्ण रूप से रँग गए थे। जब सन् १९२९ में लाहौर में रावी नदी के तट पर पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा करनेवाला कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तब जगजीवनरामजी ने कांग्रेस के साथ होनेवाले अखिल भारतीय दलित वर्ग सम्मेलन के अधिवेशन को सफल बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने दोनों अधिवेशनों में भाग लिया। यही वह वर्ष था, जब भारत में साइमन कमीशन का आगमन हुआ था और उसके बहिष्कार का देशव्यापी आन्दोलन छिड़ा हुआ था। १९३० में विदेशी वस्त्र बहिष्कार, नमक सत्याग्रह और स्कूल तथा कालिजों का बहिष्कार शुरू हुआ, तब आन्दोलनकारियों में जगजीवनराम पर भी लाठियों की चोटें पड़ीं और वे घायल हुए। अब वे महात्मा गांधी से भी पत्र-व्यवहार करने लगे थे।

युवक जगजीवनरामजी ने राजनीतिक आन्दोलन में अग्र भाग लेने पर यह महसूस किया कि समाज का आन्दोलन अधिक महत्ता रखता है। अतएव, इन दोनों आन्दोलनों में अपना शक्तियों का योगदान देते हुए वे खादी पहनने लगे, सूत कातने लगे और खादी के प्रचार में भी लगे। इसप्रकार शिक्षा काल में उन्होंने अपने जीवन का निर्माण किया।

सन् १९३१ में जगजीवनरामजी कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० एस्० सी० की परीक्षा में सफल उत्तीर्ण हुए। कालिज के शिक्षा काल में वे जब तब घर जाते, और ग्राम के लोग उन्हें घेर लेते। जितने दिनों छुट्टियों में वे ग्राम में रहते, वे हरिजन बालकों को पढ़ने के लिए कहते। घर में न बैठ कर वे दूर-दूर के ग्रामों में जाते और समाज के लोगों को प्रेरणा देते कि वे भी जाग्रत हों और अपने उद्धार के लिए उठ खड़े हों। उनसे वे कहते कि हमारा समाज जड़वत बना हुआ है, जब कि सारा देश तेजी से आगे बढ़ रहा है। वे देश की सारी तसवीर समाज के सामने रखते और कहते कि हमें भी अन्य जातियों के बराबर बढ़ना चाहिए। जगजीवनरामजी का जीवन इसप्रकार आगे बढ़ा। जिस कठिनाई से कलकत्ते में जगजीवनरामजी ने उच्च शिक्षा प्राप्त की, यह उन्हींका कौशल था। अन्यथा; घर के इतने साधन न थे कि वे कलकत्ते में पढ़ने पाते। वे बड़ी मितव्ययता से रहते और अपने जीवन के स्तर को न बढ़ने देते थे। वह सस्ता जमाना था, फिर भी कलकत्ते का रहन-सहन और कालिज की शिक्षा में काफी खर्च होता था। पर माँ के आशीर्वाद से वे आगे बढ़ते गए और पिता की उस आकांक्षा को उन्होंने पूरा किया कि उनका पुत्र शिक्षा प्राप्त करे। इस बात को पितृभक्त एवं मातृभक्त जगजीवनरामजी ने कभी नही भूले। सच पूछिए तो उन्होंने शिक्षा प्राप्त कर पितृ ऋण, मातृ ऋण और जिन अध्यापकों से उन्होंने शिक्षा प्राप्त कर देश और समाज के काम में योगदान दिया उस गुरु ऋण भी चुकाया।

जगजीवन बाबू केवल आठ वर्ष के थे, तब उनका सोनपुरा गांव के श्री सुखलाल जी की पुत्री से पहला विवाह हुआ था। सात वर्ष बाद गौना हुआ था। अठारह-उन्नीस वर्ष की अवस्था में पत्नी का भार सर पर पड़ने पर भी आपका शिक्षाक्रम न रुका। उल्टे पत्नीने आपको इस ओर अधिक प्रोत्साहन दिया। वह बड़ी साध्वी, पतिपरायण और महत्वाकांक्षिणी स्त्री थी। किंतु उससे कोई सन्तान न हुयी थी। सात वर्ष उपरांत उसका देहान्त हो गया था। १९३५ में आपका दूसरा विवाह कानपुर में श्री इन्द्राणीदेवी से हुआ, जिससे दो संतानें है। पुत्र का नाम चिरंजीव सुरेश कुमार है और पुत्री का नाम मीरा है। इन्द्राणी देवी भी बड़ी सुशीला और शिक्षित महिला हैं। उन्होंने अपने पति को व्यक्तित्व को आंका। वे दोनों विजय व सफलता का विश्वास लेकर आगे बढ़े, अपने समाज के लिए वे जीती जागती तसबीर बने, राष्ट्र के लिए मील के पत्थर बने। अपने मकसद तक पहुँचने में वे कभी इधर उधर भटके नहीं, जिस मनोयोग से उन्होंने व्यक्तित्व प्राप्त किया, उसने उनके चरण छुए। उन्होंने अपनी तपस्या और साधना से राष्ट्र को एक नया चरण दिया।

**

सामाजिक क्रान्ति का नेतृत्व

समाज सुधार के क्षेत्र में व्यक्ति का पग रखना अंगारों और चिनगारियों पर चलना है। उसका नेतृत्व तेज छुरे की धार पर बढ़ना है। यहां मनुष्य सहसा कांप उठता है, झिझक जाता है, भयभीत होता है और साहस खो बैठता है। यश और मान मिलने की अपेक्षा उसे घृणा, तिरस्कार और अपमान सहना पड़ता है। घर और बाहर सर्वत्र निन्दा की बौछारें पड़ती हैं। गले में फूलों की मालाएँ पड़ने की अपेक्षा भर्त्सना और प्रतारणा होती हैं। अनेक व्यक्ति जो इस क्षेत्र में आते हैं, अपना महत् लक्ष्य खो बैठते हैं। वे दूसरी ओर ही मुड़ जाते हैं। अपना संतुलन खो बैठते हैं। इस क्षेत्र में आने पर अनेक महापुरुषों को अपने प्राण तक दे देने पड़े। समाज विरोधियों ने उनकी जानें तक ले लीं। इतने पर भी जो साहसी व्यक्ति अड़िग रहते हैं, विचलित नहीं होते हैं, तूफान और झंझावातों से भय नहीं खाते हैं, कोई साथ दे न दे, पर वे बढ़ते ही जाते हैं, अपने जीवन को तपाते हुए अपने लक्ष्य की ओर चलते हैं, तो यह माना जाएगा कि अंत में उन्हें निश्चय ही विजय मिलती है। वे समाज का नया इतिहास लिखते हैं। उनके जीवन के सन्निधिकाल में समाज और राष्ट्रको उनकी सेवाओं का भान होता है। तब लोग उनकी पूजा करते हैं, श्रद्धा करते हैं और उनके मार्गदर्शन को अपनाते हैं। स्वर्ग का प्राप्त होना तो दुस्तर ही है; किंतु समाज के नेतृत्व में यश पाना उससे कहीं दुस्तर है।

सामाजिक क्षेत्र में जगजीवनरामजी एक तेज अंगारे की तरह प्रकट हुए। आप एक नया रक्त लाए, नयी क्रान्ति का आह्वान करते हुए आए। विनम्रता, शांतता और आकर्षण तथा जीवन की गतिविधियों ने आपको हरिजन और सर्वण—समाज के दोनों अंगों में बराबर सन्मान दिया। जगजीवनरामजी प्रकाशमान सूर्य के रूप में चमत्कृत हुए। शुरू से समाज में आप का अभिवादन हुआ। हरिजनों का अपनाना स्वाभाविक ही था, किंतु सर्वणों के हृदय स्थल में भी आप का स्थान पाना आपके व्यक्तित्व की विशेषता है। अपने आकर्षक व्यक्तित्व से सामाजिक क्षेत्र की समस्याओं के हल में आप शांतिमय क्रान्तिकारी बन कर आए। अपने विश्वास, अप्रतिम लगन और अपूर्व निष्ठा तथा जिस संतुलन से आप आगे बढ़े, सफलता आप के चरण छूती हुयी आगे बढ़ी। आप की सामाजिक गतिविधियों के विरुद्ध सर्वण हिंदू समाज का विरोध न होना, उलटे सहानुभूति पैदा होना, आपको अपनाना तथा गले लगाना ऐसी बेजोड़ घटना है, जिसने सामाजिक क्षेत्र के इतिहास में एक अनोखा उदाहरण पेश किया है। जगजीवनरामजी ने अपने सामाजिक नेतृत्व द्वारा सारी हिन्दू जाति का हृदय जीता, उसका विश्वास प्राप्त किया, जबकि अन्य सुधारकों और महापुरुषों को संघर्ष का सामना करना पड़ा और समाज का कोप भाजन बनना पड़ा। फिर भी उन्हें सारी हिन्दू जाति ने कभी नहीं अपनाया। किंतु जगजीवनरामजी को जातपांत माननेवाले कट्टर से कट्टर सनातनियों तक ने सन्मान दिया। यह सब क्यों है, इसलिए कि आपके व्यक्तित्व ने हिन्दुओं की समस्याओं को सारी हिन्दू जाति की आंखों से देखा, उस रूप में निहारा और उसके अंदर झांका। इसप्रकार आप आगे बढ़े। आपने हरिजनों की मांगें बेमुलाहिजे समाज के सामने रखीं, किंतु यह होते हुए भी आप इस रूप में समाज में आगे बढ़े, जिससे कि हरिजन और सवर्णों के प्रश्नों को लेकर समाज में विश्रृंखलता न पैदा हो सकी, दो दीवारें नहीं खड़ी हुयीं। आप ने कोई ऐसा कदम नहीं उठाया, जो मानवता का खयाल न रखता हो। हरिजन और सर्वण—हिन्दू समाज की दो आंखें हैं, दो अंग हैं, उनका विनाश होना सारी हिन्दू जाति के लिए अहितकर है।

अपने छात्र जीवन के काल से ही जगजीवनरामजी की प्रवृत्तियों ने सामाजिक क्षेत्र की ओर कदम बढ़ाया था। उस समय आपने हरिजनों के उद्धार का संकल्प किया था। आपने विशाल दृष्टि से यह सोचा कि हरिजनों का उद्धार केवल उनका ही उद्धार नहीं है, सारी हिन्दू जाति का कल्याण है। हरिजनों के संगठन और उत्थान से हिन्दू जाति शक्तिशाली बनेगी। अतएव दलित आन्दोलन की सफलता हिन्दू जाति और

सारे राष्ट्र के लिए वरदान सिद्ध होगी। यदि अछूत सशक्त बने और अपना सुधार कर सके, तो सवर्ण हिन्दू अत्याचार करने के पाप से बचेंगे। इससे हरिजन और सर्वण—दोनों ही पाप से मुक्त होंगे। हिन्दू समाज संसार में अपनी एक आवाज प्रकट कर सकेगा, कोई उसकी ओर अंगुली न उठा पाएगा। उस अवस्था में उसके नवनिर्माण का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

किशोरावस्था से ही जगजीवनरामजी में धार्मिक अंकुर पैदा हो गए थे। धर्मप्राण माता पिता के पुत्र में धार्मिक भावना होना स्वाभाविक है। जब आप निरे बालक थे, तब एक दिन सहसा आपने ग्राम की एक नई दुकान से मिठाई खरीद कर खा ली। मिठाई खाने का शौक आप को बचपन से था। आप को यह पता न था कि यह किसकी दुकान है। ग्राम में कोई भी वर्ण हो, धार्मिक कट्टरता तो रहती ही है। आप का एक साथी दूर पर खड़ा हुआ यह सब देख रहा था। उसने नजदीक में आकर आप से कहा कि, दोस्त, तुमने यह क्या किया, जानते नहीं कि यह मुसलमान की दुकान है। हम हिन्दू मुसलमान के हाथ की बनी हुयी चीज़ कैसे खा सकते हैं। अब तो तुम भ्रष्ट हो गए। उसकी बात सुन कर जगजीवनरामजी को बड़ा दुःख हुआ। धर्मभीरु बालक जगजीवनराम पर मानो घड़ों पानी पड़ गया। आपने प्रायश्चित करना निश्चित किया। एक मास तक प्रतिदिन हनुमान चालीसा का पाठ और हवन आदि कर अपनी शुद्धि की।

धार्मिक विचारों का खयाल आपमें सदा बल पाता गया। १६३० में आपने शिवनारायण सम्प्रदाय के एक गुरु से दीक्षा ली। इस बीच में आपके पितृतुल्य अग्रज संतलाल जी ने यह आदेश दिया कि आप नौकरी कर लें। नौकरी की व्यवस्था भी हुयी। पर जब तक आप काम पर जाएं, उसके पूर्व ही दैवयोग से आप बीमार पड़ गए। साधारण बुखार से निमोनिया हो गया। इसमें कई सप्ताह लग गए। तब फिर कहां नौकरी रखी थी। आप नौकरी कैसे करते और यदि करते भी तो क्या टिक सकते थे। आपका जीवन तो दूसरी ओर मुड़ चुका था, समाज सेवा की आग दिल में पैदा हो गयी थी। हमने देखा कि जिस प्रकार बंगीय नेता ऊंची से ऊंची शिक्षा प्राप्त कर विदेश से आए, किंतु उनका जीवन राष्ट्र और समाज के किसी न किसी अंग के निर्माण की ओर मुड़ा, जगजीवनरामजी का जीवन भी उस का एक उदाहरण बना। आपने व्रत लिया कि भविष्य में आपका सारा जीवन समाज और देश की सेवा में लगेगा। छात्र-जीवन में दलितों के उत्थान के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की जिस भावना का आपमें अंकुर पैदा हुआ था, वह फिर मुर्झाया नहीं। जैसे जैसे आप आगे बढ़े, आपने यह अनुभव किया कि धन अर्जन, यश और मान प्राप्त करने की अपेक्षा दलितों की दीन-हीन अवस्था यह तकाजा करती है कि आप उनकी सेवा में अपने को खपा दें। जगजीवन-राम जी ने अन्तर्मुखी होकर यह सोचा कि उनके जीवन का मूल्य क्या है, धन या सेवा। आप ने सेवा को महत्व दिया। जिस समाज की अवस्था आपने अपनी आंखों से देखी, देखी ही नहीं, कष्ट भी झेले, अपमान भी सहे, उसका उद्धार करना ही आपने अपना कर्तव्य निश्चय किया। फिर क्या था, आपका जीवन बदला, आप समाज सुधार के क्षेत्र में आ खड़े हुए। आप इतने सौभाग्यशाली हैं, कि बिरले ही किसी को इतना प्रोत्साहन मिला हो, सन्मान मिला हो, तथा देश और समाज ने इतना अपनाया हो।

बाल्यावस्था में आपको धर्म की जो शिक्षा मिली थी, उसी पर आपका जीवन निर्माण हुआ। संत मत के उपदेश और गोस्वामी तुलसीदास की रामायण ने आप को नई प्रेरणाएँ दीं। आप ने तुलसीदासजी को बड़ा समाज सुधारक माना। आपने रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद और पुराणों का अध्ययन इस भावना से किया कि आप समाज का धार्मिक नेतृत्व कर सकें। यह भावना बलवती हुयी कि आप समाज के धार्मिक नेता बनें। आपने विचार किया कि धर्म ग्रंथों के अध्ययन से आप हिन्दू जाति में धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति पैदा कर सकते हैं। यह भी सोचा कि हिन्दू जाति में क्रान्ति हुए बिना अस्पृश्यता का विनाश और जाति भेद का मूलोच्छेदन संभव नहीं है। इस रूप में हम जगजीवनरामजी को सारी हिन्दू जाति का नेतृत्व करते हुए पाते हैं। आपने न केवल हरिजन समाज; बल्कि समस्त हिन्दू जाति के नव-निर्माण

की कामना की। आपने यह आकांक्षा की कि ईश्वर वह दिन कब लाएगा जब हिन्दू भाई भाई की तरह रहेंगे, ऊँच-नीच का भेद न रहेगा। सर्वणों और अछूतों की असमानता मिट जाएगी। आप ने कहा कि धर्म और जातिभेद दो जुदी चीजें हैं, जाति भेद धर्म नहीं है, विनाशकारी रुढ़ि है। जहां तक धर्म का प्रश्न है, जगजीवनरामजी में वह जीवन के आरंभ से पल्लवित हुआ। साधु-संत, महात्मा, ब्रह्मचारी और विद्वानों के आप संसर्ग में आए। काशी में रह कर गीता और दर्शन पर आपने तत्वचिंतन किया। महामना मालवीय जी के साथ बैठकर काशी में आप एकादशी को कथा सुनते। मालवीयजी के साथ भजन गाते। सत्यनारायण की कथा सुनते। श्रद्धा और तन्मयता से आपकी यह भक्ति भावना देख कर मालवीय जी का ध्यान आपकी ओर अधिक आकर्षित हुआ।

जब आप कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए, तब आपने हिन्दू धर्म तथा हिन्दू जाति के हित तथा गौरव के लिए हिन्दू धर्म के कर्णधारों से अनुरोध किया कि वे संसार में हिन्दू धर्म को अभिशापित न होने दें, कलंक न लगने दें कि वह अस्पृश्यता को मानता है, अपने अनुयाइयों के एक बड़े समुदाय के साथ अमानुषिक बर्ताव करता है, उसे नीच और अस्पर्श मानता है। आपने कहा कि हिन्दू नेता बुलन्द आवाज से यह कहें कि हिन्दू धर्म में संकीर्णता नहीं है। वह अस्पृश्यता नहीं मानता है। आपने कहा कि जहां तक हरिजनों की धार्मिक श्रद्धा का प्रश्न है, वे हिन्दू-धर्म ग्रंथ, अवतार और महापुरुषों की उतनी ही श्रद्धा और भक्ति करते हैं, जितनी श्रद्धा और भक्ति सर्वण हिन्दू करते हैं। बल्कि एक अर्थ में उनसे भी अधिक करते हैं। जब तब धर्म की रक्षा का प्रश्न खड़ा हुआ, और विधर्मियों ने हिन्दू देव मंदिरों पर आक्रमण किए, हिन्दू स्त्रियां और सम्पति पर हमला किया, तब हरिजनों ने ही अपने प्राणों की बाजी लगायी; हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की रक्षा के लिए अपने प्राण दिए। यह हिन्दू धर्म की हीनता है, हिन्दुओं की अकर्मण्यता है, जातीय अभिशाप है, कर्तव्य विमुखता है कि दीन हीन अछूत और आदिवासीगण विधर्मियों के चक्कर में आकर हिन्दू धर्म छोड़ बैठते हैं। भूखा आदमी कौन सा पाप नहीं करता है। इस देश में जो करोड़ों विधर्मी बने और आज भी बनते जा रहे हैं, उसका कारण समाज का पाप है। इसलिए, आप इस बात के लिए अधीर हैं कि हिन्दू जाति के प्राङ्गण से सड़ी गली प्रथाएं समूल मिट जाएं, उनका नामशेष न रहे, भाई-भाई में भेदभाव न रहे, कोई ऊँच नीच न रहे, जिससे किसी को धर्म परिवर्तन न करना पड़े। आप को यह चिंता है कि यदि हिंदू जाति नए परिवर्तनों की ओर न मुड़ी, तो समय की गति में उसका जीवित रहना संभव न होगा। इसलिए आप ने यह स्पष्ट कहा है:—

"हिन्दू धर्म यदि शाश्वत, नवीनता वाला धर्म नहीं है, तो फिर वह कुछ नहीं है। यदि वह अपने को वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल नहीं बना सकता, तो फिर उसे जीवित रहने का कोई हक नहीं है।"

धर्म जड़वत चीज़ नहीं है। जितनी स्मृतियां बनीं, उनकी भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएं हैं, वे हमें मार्ग दर्शन देती हैं कि ऋषियों ने समय के अनुकूल व्यवस्थाएं देकर समाज को जीवित रखा। सनातन धर्म का काम देश काल के अनुसार जाति रक्षा के लिए व्यवस्था देना है, समाज में परिवर्तन करना है। आततायी इतना अत्याचार नहीं करते हैं, जितना हम धर्म के नाम पर, व्यवस्था के नाम पर, रूढ़ि और परम्परा की रक्षा के नाम पर अत्याचार करते हैं और जाति तथा धर्म का नाश करते हैं।

जगजीवनराम जी का सामाजिक क्षेत्र के नेतृत्व का श्रीगणेश कलकत्ते से हुआ। यहां ही उन्होंने अपने समाज के रविदासों का शक्तिशाली संगठन किया। कलकत्ते में आपने अनेक सभाएँ स्थापित कीं। यहां आप के पिता के अनेक शिष्य थे और वे सब आप का सन्मान करते थे। पर जगजीवनरामजी ने अपनी सेवा और साधना से समाज में सन्मान प्राप्त किया। अपनी सेवाओं से आपने समाज के लोगों का दिल जीत लिया। यही कारण था कि जिन सभाओं में आप भाषण देते, उसमें बीस बीस हजार

अछूत शामिल होते थे। यह सब सम्मान आप ने तब प्राप्त किया था, जब आप की अवस्था केवल इक्कीस वर्ष की थी। आप कहां से कहां पहुँच गए। अन्यथा, यदि शिक्षा काल में आप के साथ जाति-भेद का बर्ताव न होता, आप को लांछित न होना पड़ता, तो यह संभव था कि आप किसी बड़े पद पर काम करते और इस नेतृत्व में न पड़ते। जन सेवा की भावना का उदय आप में बचपन से हुआ था, जब आप निरे बालक थे, उस समय आप ग्रामीणों के पत्र लिखते और उनके कामों में हाथ बंटाते। इससे आप ग्रामीणों के प्रिय बन गए। तभी लोगों ने यह कहा था कि यह बालक बड़ा होनहार निकलेगा। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—जगजीवनरामजी के संबंध में यह सही है। ग्रामीण उन्हें आशीर्वाद देते कि ईश्वर उन्हें आगे बढ़ाए।

काशी में रह कर आपने धर्म और संस्कृति का जो अध्ययन किया, उससे आपने अन्य हरिजन नेताओं के समान हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की कभी भर्त्सना नहीं की। आपने हरिजनों को इस मोड़ पर नहीं खड़ा किया कि जिससे हिन्दू जाति में हरिजन और सर्वण हिन्दुओं के मध्य में कोई खाई पैदा हो। आपने धर्म और संस्कृति के प्रति समाज को यह निर्देश दिया :—

"भारतीय संस्कृति में आज से नहीं, दीर्घकाल से भिन्न-भिन्न वर्ण और सम्प्रदायों की संस्कृतियों का एक सुन्दर सा सामंजस्य रहा है। अत्यंत उदार भावना विदेशी संस्कृतियों को अपनाने में भारत की संस्कृति बरतती रही है। यदि उन अलग-अलग विदेशी संस्कृतियों को भारत की संस्कृति से पृथक करने का प्रयत्न किया जाए, तो भारतीय संस्कृति की आत्मा का हनन करना होगा। कारण, भारतीय संस्कृति का मूलाधार उसकी शाश्वत आधुनिकता है। जब कभी इस सिद्धान्त को ओझल किया गया, तब भारतीय संस्कृति दूषित मानी गई और समाज में विश्रृंखलता पायी गयी। मैं यह मानता हूँ कि किसी देश की संस्कृति धर्म के ऊपर शत-प्रतिशत नहीं निर्भर करती है। एक ही देश में रहने वालों की संस्कृति एकसां हो, यह आवश्यक नहीं है।"

हिन्दू संस्कृति के संबंध में जगजीवनरामजी की यह उदात्त भावना है। जगजीवनरामजी हिन्दू धर्म और संस्कृति को प्रगतिशील रूप देने के लिए तत्पर हैं। हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति आप में इतना दृढ़ विश्वास है कि आप डाक्टर अम्बेडकर के समान सवर्णों के अत्याचारों से विचलित नहीं हुए। आपने कहा कि हिन्दू धर्म पर हरिजनों का भी अधिकार है और वे उसे नए रूप देने का पूरा अधिकार रखते हैं। यदि सर्वण गलत मार्ग पर आ गए हैं या आज वे गलत मार्ग पर चल रहे हैं, तो उससे हरिजन भय नहीं खाते और न हिन्दू और हिन्दू जाति के प्रति दुराभाव रखते हैं, वे धर्म नहीं छोड़ सकते हैं। जगजीवनरामजी में धर्म के प्रति यह आस्था धर्माचार्य, महात्मा और साधु पुरुषों के सत्संग से पैदा हुयी। पर आपका समागम यहीं तक सीमित नहीं रहा था। आप आर्यसमाज के भी सम्पर्क में आए। आपने चाहा कि आर्यसमाज अपनी सारी शक्ति केवल अछूतोद्धार में लगा दे और समाज से जो लोग निकल गए हैं, उन्हें फिर वापस आने का क्षेत्र कायम करे। अस्पृश्यों को विधर्मी होने से रोकने तथा उन्हें वापस लेने के आर्यसमाज के कार्यों को जगजीवनरामजी ने माना; किंतु आप को इस बात का खेद रहा कि आर्यसमाज अपने अनेक कार्यक्रमों में इस पर पूरा बल न दे सका। जगजीवनरामजी ने देवी ऐनी बिसेन्ट की थियासोफिकल सोसाइटी में भी भाग लिया। एक समय यह बड़ी प्रगतिशील संस्था थी और देश में उसकी आवाज थी। किंतु उसका कार्यक्षेत्र केवल तत्व-चिंतन तक था और उसका दायरा पढ़े लिखे लोगों तक सीमित था। इन सब संस्थाओं में प्रवेश करने का आपका लक्ष्य यह था कि कोई भी ऐसी संस्था आगे आए, जो हिन्दू जाति में उथल पुथल पैदा करे, व्यापक सामाजिक क्रान्ति करने की ओर बढ़े। चातुर्वर्ण और आश्रमों की व्यवस्था की रूढ़िवादिता जगजीवनरामजी को कभी अंगीकृत नहीं हुयी। हिन्दू धर्म में आप उन प्रथाओं का स्थान नहीं चाहते, जो समाज की प्रगति में रोड़े डालने वाली हों, जो सबको समान स्थान न दें।

जिस समय गांधीजी ने मेकडानल्ड निर्णय के विरुद्ध यरवदा जेल में उपवास किया था, जगजीवन-रामजी की अवस्था केवल चौबीस वर्ष की थी। गांधी जी ने सोचा कि यदि हरिजन हिन्दू समाज से अलग हो गए, तो सुधारकों का काम खत्म हो जाएगा। हिन्दुओं की तो हानि होगी ही, दलितों की अवस्था भी दीन हीन बनी रहेगी। इस देश की राष्ट्रीयता का तो सर्वनाश ही हो जाएगा। उसके परिणाम स्वरूप 'अस्पृश्यता विरोधी संघ' की स्थापना हुयी थी। यह संस्था बाद में 'हरिजन सेवक संघ' में परिणत हुयी। जगजीवनरामजी इसके पहले मंत्री हुए। आपने कहा कि सर्वण हिन्दुओं का यह काम नहीं रहा कि वे हरिजनों को कोई उपदेश दें। हरिजन स्वयं अपना उद्धार कर सकते हैं। हरिजन सर्वण हिन्दुओं से अच्छे व्यवहार की मांग करते हैं और उन्हें वे मांगें पूरी करनी ही होंगी। केवल शब्दों से नहीं, ठोस काम की आवश्यकता है। बिहार हरिजन सेवक संघ के मंत्री होने पर जगजीवनरामजी के सार्वजनिक जीवन का सूत्रपात हुआ। पर आगे चलकर आपने देखा कि संघ में सर्वण हिन्दुओं का प्राधान्य है, और उसका कार्य केवल हरिजन कल्याण के रूप में है। उससे समाज सुधार को कोई बल नहीं मिल रहा है। कलकत्ते के रविदास सम्मेलन में जगजीवनरामजी के सुझाव से यह निश्चय हुआ कि सभी दलित नेता एक मंच पर आकर काम करें और इसके लिए एक संस्था का निर्माण किया जाए। इसप्रकार जगजीवनरामजी के प्रस्ताव पर एकता सम्मेलन द्वारा 'अखिल भारतीय दलित संघ' का निर्माण हुआ।

१९३५ में कानपुर में दलित वर्ग एकता सम्मेलन में सभी विचार के अखिल भारतीय दलित नेता सम्मिलित हुए थे। डाक्टर अम्बेडकर और श्रीनिवासन भी थे। जगजीवनरामजी ने इस सम्मेलन में कहा कि दलित वर्गों की अखिल भारतीय संस्था न होने से उनका राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में देशव्यापी प्रभाव नहीं पड़ता है। आपने यह भी कहा कि दलित समाज को राष्ट्रीय गतिविधि से पृथक न रहना चाहिए। तब अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ की स्थापना हुयी और श्री रसिकलाल अध्यक्ष तथा राजभोज और जगजीवनरामजी मंत्री निर्वाचित हुए। फिर तो जगजीवनरामजी की सारी शक्तियां दलित संघ के संगठन में लग गयीं। बिहार दलित संघ के आप अध्यक्ष हुए। कहना न होगा कि आपके प्रयत्न से कुछ काल में ही दलित संघ हरिजनों की प्रतिनिधि संस्था बन गयी। संघ के संगठन में जगजीवनरामजी ने अपना यह लक्ष्य रखा कि सामाजिक, आर्थिक और मानसिक क्रान्तियों के द्वारा ही हरिजन हिन्दू समाज में सन्मान का स्थान पा सकते हैं। दलित संघ केवल सामाजिक संस्था ही नहीं थी, राजनीतिक भी थी और देश के राष्ट्रीय दल का सम्बल थी। जगजीवनरामजी को अपने संगठन में दलित जाति के अनेक प्रगतिशील कार्यकर्त्ता प्राप्त थे। आपके नेतृत्व में दलित संघ की अनेक प्रादेशिक शाखाओं ने डाक्टर अम्बेडकर की धर्म परिवर्तन की नीति का घोर विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि बम्बई और महाराष्ट्र के कुछ अछूत डाक्टर अम्बेडकर के साथ थे, अन्यथा देश के एक छोर से दूसरे छोर तक के हरिजनों ने धर्म परिवर्तन का घोर विरोध किया। हरिजनों की समस्याएं, हिन्दुओं के समक्ष रखने के लिए जगजीवनरामजी ने कलकत्ते में श्री पद्मराज जैन से विचार विमर्श किया। इन प्रयत्नों से पूना में महामना मालवीय जी की अध्यक्षता में हिन्दू महासभा ने हरिजनों से कहा कि वे धर्म परिवर्तन न करें। महामना ने कहा कि हरिजन हिन्दू धर्म का परित्याग न करें, हम उनके चरणों की धूल अपने मस्तक पर चढ़ाएंगे। इस अधिवेशन में सभी प्रदेशों के हरिजन नेता प्रतिनिधि रूप में गए थे। उसमें यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि सभी हिन्दुओं को बिना जाति और धर्म का विचार किए सार्वजनिक सुविधाएं तथा संस्थाएं—मन्दिर, पूजा के सार्वजनिक स्थान, धर्मशालाएं, पार्क, मार्ग, भोजनालय, कुएं, घाट, स्कूल आदि सर्वण हिन्दुओं के समान हरिजनों के उपयोग के लिए हों। यह भी कहा गया कि हिन्दू समाज में जो जाति-भेद है, वह मिटा दिया जाए। आरंभ में इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने में कुछ रुकावट खड़ी हुयी, किंतु जब जगजीवनरामजी ने जोरदार मांग की, और यह कहा कि हरिजन नेता सभा से हट जाएंगे, तो मालवीय जी, डाक्टर जयकर और मुंजे ने आपका समर्थन किया। अंत

में प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। हरिजनों ने जगजीवनरामजी को बधाइयां दीं, कि वे हरिजनों की मांगों पर दृढ़ता से पेश आए।

डाक्टर अम्बेडकर का धर्म-परिवर्तन आन्दोलन एक लम्बे समय तक चला। उससे डाक्टर अम्बेडकर को अपनी मनौती कराने और अन्य धर्मों में हलचल पैदा करने तथा स्वयं हिन्दुओं को सजग करने का साधन बना। मुसलमान, ईसाई, बौद्ध और सिख सभी दौड़ पड़े कि हिन्दू जाति के आठ दस करोड़ अछूत उनमें मिल जाएं। पूना पैक्ट में हरिजनों को जो अधिक सीटें दी गयी थीं, उसका बंगाल में विशेष रूप से विरोध हुआ था। पर पूना पैक्ट ने हिन्दू समाज को विश्रृंखलित होने से बचाया। मिस्टर एटली जैसे अंग्रेजों ने भी अनुभव किया कि यदि दलित वर्ग हिन्दू जाति से अलग हो जाता, तो बड़ी गलती होती।

जगजीवनरामजी ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की दृष्टि से भी सोचा। आपने कहा कि सामाजिक और आर्थिक प्रगतियों के साथ हरिजनों को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेना चाहिए। यदि देश परतंत्र रहेगा, तो हरिजनों को दुहरी गुलामी सहन करनी पड़ेगी। पर पूना पैक्ट का एक सरकार हिमायती पक्ष था, जो हिन्दुत्व और राष्ट्रीयता का विरोधी था। डाक्टर कुर्तकोटि ने हरिजनों के लिए सामूहिक धर्म परिवर्तन द्वारा नए सम्प्रदाय को जन्म देना चाहा, जो हिन्दुओं के समान होगा। मौलाना मुहम्मद इरफान ने कहा कि हरिजनों के लिए इस्लाम का दरवाजा खुला है। हिन्दुओं के विरुद्ध हरिजनों में भी विषाक्त भावना पैदा हो गयी थी। हिन्दू धर्म त्याग समितियां बनीं और हरिजन युवकों ने मनुस्मृति आदि अनेक धर्म ग्रंथ जलाए। डाक्टर अम्बेडकर ने हिन्दू महासभा से एक गुप्त समझौता किया कि यदि हरिजन सिख हो जाएं, तो उनके पूना पैक्ट के अधिकार बने रहेंगे, यद्यपि यह बात पैक्ट के विरुद्ध थी। ईसाई और मुसलमानों ने बहुत जोर दिया। डाक्टर अम्बेडकर द्वारा सिख धर्म के पक्ष में अपना मत प्रकट करने और उनके सिख बन जाने की संभावना पर पंजाब के अधिकांश अछूत सिख बन गए। जगजीवनरामजी ने डाक्टर अम्बेडकर के दृष्टि-कोण को उनसे मिल कर समझा और हिन्दू नेताओं से कहा कि वे हरिजनों के प्रश्न को शांत हृदय से सोचें। यदि अछूत हिन्दू धर्म परित्यक्त कर देते हैं, तो इसमें उनका कोई दोष न होगा, सर्वण हिन्दुओं का ही अपराध होगा। ईसाई इतने उतावले थे कि वे हर किसी सौदे पर अछूतों को हड़प जाना चाहते थे। सिख नेताओं ने समझदारी से काम लिया। मास्टर तारासिंह ने कहा कि हिन्दुत्व के प्रति घृणा कर धर्म परिवर्तन करने से अछूत ऊँचे नहीं उठ सकते। स्थिति पेचीदा बन गयी थी। किंतु जगजीवनरामजी, श्री एम० सी० राजा आदि हरिजन नेता धर्म परिवर्तन के विरोधी थे।

सर्व धर्म सम्मेलन २२ मई १९३६ को हुआ था। भारत में अनेक धर्म सम्मेलन हुए, किन्तु यह सब से निराला था। इसमें लम्बा चोगा पहने दाढ़ीवाले मौलवी और मुल्ला थे, साफा बांधे दाढ़ीदार सिख थे, और ईसाई पादरी भी थे। पीले वस्त्र पहने बौद्ध भिक्षु थे। इन सब का अजीब माजरा था। सब सोचते थे कि किस प्रकार अछूतों पर अपना रंग लाया जाए। नागपुर के बाबा पतितपावन दास के सभापतित्व में यह सम्मेलन जुटा था। पतितपावन जी से डाक्टर अम्बेदकर का मेल नहीं खाता था, इसलिए वे सम्मेलन के समर्थक होते हुए भी उसमें शरीक न हुए, यद्यपि उनका विश्वास था कि सम्मेलन में उनका बहुमत है और उनकी आकांक्षा के अनुसार अछूतों के धर्म परिवर्तन का निर्णय होगा। जगजीवनरामजी को इस सम्मेलन में नहीं बुलाया गया था। किन्तु फिर भी श्री रसिकलाल को आमन्त्रण दिया था। किंतु, जगजीवनरामजी के न जाने पर भी सम्मेलन में उनका बहुमत था, रसिकलाल विश्वास, जगजीवनरामजी के दलित संघ के ही सभापति थे। इस सम्मेलन में वे अपना प्राधान्य रखते थे। जगजीवनरामजी ने परामर्श दिया कि यदि हमें डाक्टर अम्बेडकर के लोगों से काम लेना है, तो हमें अपना बाहरी रूप धर्म परिवर्तन के पक्ष में प्रकट करना चाहिए। इस सूझ से आगे बढ़ने पर जगजीवनरामजी के साथियों को सफलता मिली। सम्मेलन का काम अनिर्णीत समाप्त हुआ। धर्म परिवर्तन के निश्चय के स्थान पर प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि

एक कमेटी बनाई जाए, जो दलितों के हितों की दृष्टि से विभिन्न धर्मों पर विचार करे और वह अपनी रिपोर्ट अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ के वार्षिक अधिवेशन में पेश करे। सम्मेलन में राष्ट्रवादी हरिजन बड़ी संख्या में उपस्थित थे। जाहिरा तौर पर ये राष्ट्रवादी हरिजन धर्म परिवर्तन की बात कहते थे और डाक्टर अम्बेड़कर के पक्ष में बोलते थे। किन्तु अन्त में वे यह निर्णय कर बैठे कि धर्म परिवर्तन का निर्णय दलित वर्ग संघ को सौंपा दिया जाए। सारी योजना निश्चित थी कि किस प्रकार सम्मेलन में कार्य किया जाएगा। जगजीवनरामजी इस नाटक के अन्तरंग के अभिनेता थे। जगजीवनरामजी यह चाहते थे कि इस ढंग से काम हो कि मानो धर्म परिवर्तन के प्रस्ताव को स्थगित करने का श्रेय डाक्टर अम्बेड़कर को मिले, जिससे भविष्य के लिए उनकी गति-विधि रुक जाए। इसप्रकार सम्मेलन ने जब धर्म परिवर्तन के निर्णय को स्थगित कर दिया, तब डा० अम्बेडकर के पैर उखड़ गए। अब डाक्टर अम्बेडकर क्या कुछ कह सकते थे। फिर लोगों ने कहा कि सम्मेलन का काम पूरा नहीं हुआ, अब कब रिपोर्ट तैयार होगी और कब पेश होगी ? इस निर्णय में न जाने कितने वर्ष लग जाएँगे। कौन-सा धर्म स्वीकार होगा ? जगजीवनरामजी को सम्मेलन के इस निर्णय से परम सन्तोष हुआ। आपको अत्यन्त प्रसन्नता हुई। आप जानते थे कि न तो कमेटी बैठेगी और न वह कोई रिपोर्ट पेश करेगी। कमेटी में जगजीवनरामजी के ही आदमी थे। आप यह जानते थे कि सामाजिक अत्याचार होते हुए भी हरिजन हिन्दू धर्म के परित्याग के लिए कभी प्रस्तुत न होंगे।

इस सम्मेलन में लोग रसिकलाल विश्वास से पूंछते थे कि हरिजन कौन-सा धर्म स्वीकार करेंगे। धर्म परिवर्तन के सम्बन्ध में उनका क्या निर्णय हुआ है। तब रसिकलालजी एक सीधा-सा मजेदार उत्तर देते कि सब धर्मों ग्रन्थों के अवलोकन से यह विदित होता है कि वे सभी अच्छे हैं। किन्तु हमें यह देखना है कि व्यवहार में कौन उदात्त है, हरिजनों को कौन अच्छे ढंग से रखेगा। अन्यथा, धर्मों के सिद्धान्त कुछ होते हैं, किन्तु व्यवहार में निम्न वर्णों के साथ उनका पालन नहीं होता है। हम इस कसौटी पर धर्मों को देखना चाहते हैं कि वे किस प्रकार अछूतों को मानेंगे।

मुसलमान, सिख और ईसाई प्रधान रूप से अपनी चालें चल रहे थे और अछूतों पर अपने धर्म की विशेषता प्रकट कर रहे थे। मुसलमान,सिख और ईसाइयों में से प्रत्येक यह चाहता था कि उसके धर्म को धर्म परिवर्तन के लिए पहले घोषित किया जाए। ईसाइयों ने कहा कि १९२१ के आधार पर वे प्रति मास दस हजार अछूतों को ईसाई बनाते हैं। १९३६ में यह औसत मास में पन्द्रह हजार तक पहुँच गया था। यदि सम्मेलन में धर्म परिवर्तन की घोषणा उनके हक में कर दी जाए तो वे प्रतिमास पच्चीस हजार अछूतों को आसानी से ईसाई बना सकेंगे। इस प्रकार डाक्टर अम्बेडकर के अनुग्रह से आठ दस करोड़ हिन्दू हरिजन ईसा मसीह की शरण में आ जाएँगे। उनके पीछे ब्रिटिश सरकार का बल था। हरिजन ईसाई बन जाते, तो भारत की राष्ट्रीयता समाप्त हो जाती।

इसप्रकार यह सम्मेलन क्या था, धर्म परिवर्तन की हाट थी, जिसमें बोली लग रही थीं। मुसलमान, ईसाई और सिखों के नेता मानो दुकानदारों की तरह अछूतों को खरीदना चाहते थे। जिसप्रकार हम दुकान में सामान खरीदने जाते हैं और एक अच्छा दूकानदार हमें आवभगत से बिठाता है और कहता है कि बाबूजी क्या लेंगे, चाय पियेंगे या शर्बत। अच्छा विम्टो की बोतल लाओ। पान सिगरेट लाओ। उसके बाद वह माल बेचने को बढ़ता है। यही हाल इस सम्मेलन में था। सिख धर्म के साफा और तलवार बाँधे सरदारजी, नम्रता के अवतार बन कर हिन्दू धर्म परित्याग करनेवाले अछूतों की ओर आँखें लगाए थे। वे सोच रहे थे कि कब अछूतों के मुँह से निकले कि वे सिख धर्म में जाएँगे और वे अपना काम शुरू करें। वे हरिजन प्रतिनिधियों की आवभगत करते, उन्हें पंखा झलते, शर्बत पिलाते और अपनी गाड़ियों में बिठा कर गुरुद्वारों में ले जाते। मुसलमान भी हरिजनों को खाने का आमन्त्रण देते थे और उनकी सबप्रकार से आवभगत करते

थे। ईसाई हरिजन प्रतिनिधियों को गिर्जाघर और होटलों में ले जाते थे। वाई० एम० सी० के होस्टल हरिजनों के रहने के लिए खोल दिए गए थे। यह नाटक सफल न हुआ और सभी निराश होकर लौट पड़े। इसप्रकार जगजीवनरामजी के कौशल से धर्म परिवर्तन का प्रश्न खत्म हो गया।

इसके उपरान्त पटना में डाक्टर अम्बेडकर ने दूसरा धर्म परिवर्तन सम्मेलन करने का आयोजन किया। यह सम्मेलन पृथक रूप से भारतीय दलितों के नाम से बुलाया गया था। अम्बेडकर ने सोचा कि राष्ट्रीय हरिजन नेता को उसके घर में पछाड़ा जाए, पर वे भूल गए कि बिहार में जगजीवनरामजी के प्रभाव और राष्ट्रीयता के उस दुर्गम गढ़ को। ईसाइयों के मेल-जोल से यह सम्मेलन हुआ था। यहाँ पर सीधे चोटें हुई। ईसाई मिशनरियों ने अपनी शक्ति लगा दी थीं। अन्त में डाक्टर अम्बेडकर और ईसाइयों के समर्थक अछूतों के पैरों के नीचे से जमीन खिसक गयी। ये अछूत और ईसाई भागते खड़े हुए और जगजीवनरामजी तथा राष्ट्रवादी हरिजनों की विजय हुई। जगजीवनरामजी ने इसप्रकार हिन्दू धर्म की रक्षा की। इस कसौटी में आप खरे उतरे। हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति अनन्त काल तक जगजीवनरामजी और राष्ट्रवादी हरिजनों की चिरकृतज्ञ रहेगी और उनकी इन सेवाओं का कभी विस्मरण न करेगी।

१९३६ में भागलपुर के दलित वर्ग सम्मेलन के अध्यक्ष पद से जगजीवनरामजी ने धर्म परिवर्तन का विरोध किया, किंतु साथ ही आपने कहा कि सवर्णों को हरिजनों की समस्याओं के हल पर सक्रिय कदम उठाना चाहिए, केवल मीठी बातों से काम नहीं चलेगा। आप की अध्यक्षता में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमें धर्म परिवर्तन की बहुत निन्दा की गयी और यह कहा गया कि इसमें न तो कोई बुद्धिमत्ता है और न इस से हरिजन-समस्याएं ही हल होंगी। इसके बाद जगजीवनरामजी ने इस निर्णय को हरिजनों के घर घर में पहुँचाया। इसप्रकार जगजीवनराम जी हरिजन समाज में अपनी प्रतिष्ठा कायम करते चले गए।

लखनऊ कांग्रेस में पण्डित जवाहरलालनेहरू ने कहा था :—

अस्पृश्यता और हरिजनों की समस्याओं पर विचार करने के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। परन्तु एक समाजवादी के लिए यह प्रश्न किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित नहीं करता, क्योंकि समाजवाद के अंतर्गत इसप्रकार के भेदभाव या शोषण की गुंजाइश नहीं है। आर्थिक दृष्टिकोण से हरिजन भूमिहीन सर्वहारा हैं और अगर उनकी आर्थिक दशा में सुधार हो सका तो जो रिवाज और परम्परागत सामाजिक बंधन हैं, वे भी दूर हो जाएंगे।'

पर जगजीवनरामजी ने आर्थिक प्रश्न की अपेक्षा समाज सुधार को अधिक महत्व दिया। आप ने कहा कि हरिजन हिन्दू समाज में पूर्ण रूप से मिल जाना चाहते हैं, किंतु इसके लिए हिन्दू समाज का आमूल परिवर्तन होना आवश्यक है। समाज सुधार की समस्या में हिन्दू धर्म के आध्यात्म तत्व का कोई सम्पर्क नहीं है। अतः जगजीवनरामजी का विचार दूसरे नेताओं से भिन्न रहा, फिर चाहें वे हरिजन हों या सवर्ण हिन्दू। आपने कहा कि हरिजन रियायतें नहीं चाहते, दया व भिक्षा की मांग नहीं करते, वे समाज में न्यायपूर्ण समान अधिकार चाहते हैं।

सर्व धर्म सम्मेलन में जगजीवनरामजी की कुशलता से धर्म परिवर्तन का प्रस्ताव बिना स्वीकृत हुए रह गया था। जगजीवनराम जी ने डाक्टर अम्बेडकर को अपने दृष्टिकोण की ओर लाने का प्रयत्न किया। कुछ समय तक हरिजनों के बीच में यह संघर्ष चला, किंतु जगजीवनरामजी ने बड़ी कार्य कुशलता से कार्य किया।

जब शासन विधान के अंतर्गत हरिजनों के निर्वाचन का प्रश्न आया, तब महात्मा गांधी और श्री एम० सी० राजा आदि ने कहा कि हरिजन किसी दल में शामिल न होकर स्वतंत्र रूप से चुनाव लड़ें। १९३६ में जगजीवनरामजी की अध्यक्षता में चुनाव का घोषणा-पत्र बिहार प्रदेश के दलित संघ की ओर से प्रकट

किया गया, जिसमें कहा गया कि दलित वर्गों के पिछड़ेपन और बुरी दशा की प्रधान बात उनकी भयंकर गरीबी और निरीहपन है, जिन्हें वर्तमान आर्थिक संबंध, धार्मिक पक्षपात तथा विभेदपूर्ण सामाजिक नियमों ने पैदा किया है, ये सामाजिक नियम परम्परागत रुढ़ि तथा विधान द्वारा प्रतिष्ठित हैं और इस दृष्टि से हरिजन नैतिक दृष्टि तथा शिक्षा और माली हालत में बर्बाद हो चुके हैं। केवल हिन्दू समाज के अंतर्गत ही नहीं, उसके बाहर भी इन विभेदों ने वातावरण को विषाक्त कर रखा है। हरिजनों के संरक्षण आदि की मांग के साथ यह भी कहा गया कि उनकी उन्नति देश के साथ होनी चाहिए। जब हरिजनों के लिए मंदिर खोले गए, तब जगजीवनरामजी ने कहा कि हरिजन केवल मन्दिरों की ओर आकर्षित नहीं हैं। उन्हें अपने संस्कार आदि कार्यों के लिए अपने वर्ग में से लोगों को तैयार करना चाहिए, जो उन कृत्यों को कराएँ। जगजीवनरामजी ने अपनी खरी बातें स्पष्टता से प्रकट कीं। हरिजन समस्या के हल में आप विशुद्ध ढंग से आगे बढ़े, न तो आपने उदारता की बात की, न किसी को प्रसन्न करने का खयाल किया और न नाराज होने की पर्वा की तथा न कूटनीति व चालाकियों से काम लिया। आपने हिन्दू जाति में सामाजिक और मानसिक क्रान्ति की आवाज की। दलितों का देशव्यापी जबर्दस्त संगठन हो गया था और उनकी संस्था दलित वर्ग संघ का सारे देश में प्रभाव कायम हो गया था। जगजीवनरामजी सामाजिक क्रान्ति के सृष्टा के रूप में प्रकट हुए। आपने मार्ग के ऊबड़-खाबड़ पथ या झंझावातों की पर्वा नहीं की। आप इस दिशा में आगे बढ़ते ही गए। आज भी वे सामाजिक क्रान्ति के शिखर पर खड़े हुए हैं। देश के स्वतंत्र होने पर भी आपकी आवाज धीमी नहीं हुयी, जिस दलित संघ की सीढ़ी से आपने अखिल भारतीय नेतृत्व प्राप्त किया, जिस संस्था को आपने अपने खून और पसीने से सींच कर शक्तिशाली बनाया, उसे आप न भूले, नए विधान में इस संस्था के प्रयत्न से ही आपने हरिजनों के लिए अधिकार प्राप्त किए और उनकी सामाजिक बुराइयां दूर करने के लिए विधान में मौलिक अधिकार दिलाए। इसके लिए जगजीवनरामजी को कांग्रेस के नेताओं से संघर्ष करना पड़ा।

**

कांग्रेस और मन्त्रिमण्डल में

युवा जगजीवनरामजी बिहार प्रान्त के नेताओं के समक्ष आए। अपनी प्रतिभा, कार्य-क्षमता और शक्ति से बिहार के राष्ट्रीय जीवन को आपने प्रभावित किया। समाज के जिस गौरवपूर्ण मंच से आप बढ़े, कहना न होगा कि आप बढ़ते चले गए। बिहार के नेताओं ने आपसे अनुरोध किया कि कलकत्ते की अपेक्षा आप बिहार को अपना कार्य-क्षेत्र बनाएँ। अन्यथा, देखा जाए तो आप बंगीय नेताओं में इतने निकटतम आ गए थे, कि वे सब आपको चाहते थे। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने देखा कि जगजीवनरामजी का अछूतों पर इतना अतुलित प्रभाव है कि उनके सहयोग से देश में क्रान्ति पैदा की जा सकती है। अट्ठाइस वर्ष की अवस्था में आप क्रान्ति के सृष्टा के रूप में प्रकट हो गए थे। जीवन की सत्यता, विचारों की दृढ़ता और सेवा की उत्कट भावना से आपको राष्ट्रीय क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान मिला। इससे पहले किसी को इतनी कल्पना भी न हुई थी कि इतनी अल्प अवस्था में आप जैसा हरिजन युवक राष्ट्र के कर्णधार नेताओं के मध्य में आ बिराजेगा। थोड़े समय में ही जगजीवनरामजी देश के चोटी के नेताओं के विश्वास भाजन बन गए, महात्मा गांधी और डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद तथा सरदार वल्लभभाई पटेल जगजीवनरामजी की शक्ति का अनुभव करने लगे थे। आपने हरिजनों के स्वत्वों के सम्बन्ध में जब जो कहा, उससे गांधीजी और डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी को जब तब चिन्ताएँ हुईं, किन्तु आपकी दृढ़ता और औचित्य देख कर उन्हें भी आपकी बातें माननी पड़ीं। हरिजनों के सम्बन्ध में जगजीवनरामजी की माँगें अछूत नेताओं से किसी कदर भिन्न न थीं, किन्तु राष्ट्रीय क्षेत्र में आकर जगजीवनरामजी ने हरिजन समाज तथा देश की जो महान् सेवा की, वह दूसरा कोई नहीं कर सका। आनबान की घड़ियों में आपने राष्ट्र का जो साथ दिया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता है। आपकी ये सेवाएँ इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ हैं। आपके नेतृत्व ने हिन्दू जाति को छिन्न भिन्न नहीं होने दिया और राष्ट्र को टुकड़े-टुकड़े होने से बचाया। अन्यथा, यह खयाल नहीं किया जा सकता कि यदि आपका राष्ट्रीय क्षेत्र में पदार्पण न होता, तो हमारा राष्ट्र किस अवस्था में न पहुँचता। आपकी इन सेवाओं को सारे राष्ट्र ने कृतज्ञता से स्वीकार किया। आप आठ दस करोड़ हरिजनों के प्रतिनिधित्व के बल पर राष्ट्रीय क्षेत्र में आगे बढ़े।

१९३६ में जगजीवनरामजी बिहार विधान परिषदके सदस्य मनोनीत हुए। परिषद में प्रवेश करने पर आपको नेताओं की बधाइयाँ मिलीं, हरिजनों ने प्रसन्नता प्रकट की, ठक्करबापा ने आपको प्रोत्साहनजनक संदेश भेजा। किन्तु उस समय जो दल सत्ता में आरूढ़ था, उस से आपका मेल खाना संभव न था। उसने सोचा कि अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए वह आपका उपयोग करे। किन्तु जगजीवनरामजी कलकत्ते के क्रान्तिकारी जीवन में रह चुके थे, वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों के मुहरे कब बन सकते थे। आपमें युवापन का रक्त दौड़ रहा था। नहर-रेट के प्रश्न पर आप सरकार से भिड़ गए। जनता के हित के सामने आपने बिहार परिषद की सदस्यता का महत्व न समझा।

१९३७ में जब कांग्रेस ने पद ग्रहण किया, तब जगजीवनरामजी, पार्लमिण्ट्री मन्त्री चुने गए। उस समय आपके अधिकार में विकास, सहकारिता और उद्योग आदि विभाग थे। यहाँ आपको शासन व्यवस्था के संचालन का अवसर मिला। आपने इन विभागों का जिस ढंग से संगठन किया, उससे आपकी कार्य शक्ति देख कर सब चकित रह गए। जगजीवनरामजी के लिए ये कार्य नए थे, कोई पुराना अनुभव नहीं रखते थे, किन्तु आपने जिस कुशलता से सभी विभागों का जो नवीनकरण किया, वह अन्य मन्त्रियों के लिए मार्ग-दर्शन बना।

यहीं अवसर मिला कि आप राष्ट्र की रीढ़ खेतिहर मजदूरों की समस्या का निराकरण करें। भारत के सर्वहारा वर्ग में कल कारखाने के मजदूरों की अपेक्षा गाँवों के खेतिहर मजदूरों की अवस्था अत्यन्त गिरी हुई थी। उनका कोई संगठन नहीं था। खेतिहर मजदूरों के संगठन और उनकी समस्याओं के हल से ही

भारतीय ग्रामों की अवस्था सुधर सकती है। इन खेतिहर मजदूरों में अधिकांश में हरिजन वर्ग हैं। उस समय बिहार में किसान सभा का अस्तित्व था, जो सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करती थी। और उसके नेतृत्व के अपने स्वार्थ थे। वे कब चाहते थे कि खेतिहर मजदूरों का संगठन हो। यह कहा गया कि इसप्रकार के संगठन से किसान कांग्रेस के स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग न लेंगे। किन्तु जगजीवनरामजी के नेतृत्व से खेतिहर मजदूर संगठन ने उत्तरोत्तर प्रगति की। आपने इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया। इसके लिए आपने सरदार पटेल से भी परामर्श किया। कारण; सरदार पटेल ने बारदौली में काली परज जाति का संगठन करने में सफलता प्राप्त की थी। गुजरात के किसानों का इतना सुदृढ़ सगठन हुआ, कि वे कांग्रेस की शक्ति बन गए थे। किन्तु फिर भी उस समय ऐसी परिस्थितियाँ थीं कि खेतिहर मजदूरों का पृथक् संगठन नहीं हो सका। उनके हितों से सहानुभूति होते हुए भी यह सोचा गया कि स्वतन्त्रता संग्राम के मध्य में किसान और खेतिहर मजदूरों की शक्तियों को विभाजित करना उचित न होगा।

१९३८ में जगजीवनरामजी कांग्रेस के प्रतिनिधि चुने गए। उसके उपरान्त कोई वर्ष ऐसा खाली न गया कि वे कांग्रेस के प्रतिनिधि न चुने गए हों। १९४० से १९५९ का यह वर्ष है, वे निरन्तर अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रतिनिधि निर्वाचित हुए। १९४० में जगजीवनरामजी बिहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी के मन्त्री निर्वाचित हुए। इस पद पर आपने बड़ी योग्यता से छः वर्षों तक कार्य किया। आप कांग्रेस के आदरणीय नेताओं में स्थान पा गए। आपने बड़ी निष्ठा से कांग्रेस का कार्य किया। १९४६ में जब आप केन्द्रीय सरकार के अन्तरिम मन्त्रिमण्डल में लिए गए, उसके पूर्व तक बिहार कांग्रेस संगठन के आप प्राण थे, सारा संचालन आपके हाथ में था। जगजीवनरामजी जहाँ एक ओर बिहार प्रदेश कांग्रेस के मन्त्री थे, वहाँ आप अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ के अध्यक्ष भी थे। कांग्रेस में आने पर भी दलित वर्ग संघ से आपका सम्बन्ध बना हुआ था। १९४० से १९४६ तक का काल राजनीतिक संघर्ष का था। महायुद्ध चल रहा था। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से शासन सत्ता की माँग की। यह कहा गया कि सरकार एक अवधि निश्चित कर दे कि उस के अन्दर देश को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाएगी। किन्तु युद्ध काल में ब्रिटिश सरकार तैयार न हुई। इससे युद्ध में कांग्रेस का सहयोग देना संभव न हुआ। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस सरकार से जिस संघर्ष की माँग करते थे और वे देश के बाहर निकल गए थे, अन्त में कांग्रेस को सरकार से लड़ना ही पड़ा। गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ दिया। विनोबा भावे पहले सत्याग्रही के रूप में बन्दी हुए। उसके उपरान्त पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल और कांग्रेस के अन्य नेता गिरफ्तार हुए। १० दिसम्बर १९४० को जगजीवनरामजी ने भी शाहाबाद जिले में व्यक्तिगत सत्याग्रह किया। पीरू ग्राम में आप गिरफ्तार कर लिए गए। आपको एक वर्ष की सजा दी गयी। जेल में प्रस्थान करते समय हरिजनों ने अपने नेता का स्वागत किया। इस आन्दोलन में भाग लेने के लिए जगजीवनरामजी ने अग्रज सन्तलालजी से आदेश माँगा, तो वे हँस पड़े थे। उन्होंने कहा,—'इसमें आदेश लेने की क्या बात है, यह तुम्हारे कर्तव्य पालन की पुकार है। उसे पूरा करो।' सार्वजनिक आन्दोलन में देशभक्त परिवार ने सदा जगजीवनरामजी को प्रोत्साहित किया। जेल का कारावास जगजीवनरामजी के लिए अध्ययन का कक्ष बन गया। बाहर रहने पर उन्हें अवसर नहीं मिलता था कि कुछ चिंतन करें, क्योंकि सारा समय कांग्रेस व्यवस्था की दौड़-धूप में बीतता था। यहाँ रह कर जहाँ आपने हिन्दी और बंगला के साहित्य का गम्भीर पठन किया, वहाँ राजनीति और आर्थिक विषयों के गम्भीर अध्ययन की ओर भी ध्यान दिया। प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों के ग्रन्थों का अवलोकन किया। अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक ग्रन्थ से लेकर एम० ए० तक की पाठ्य पुस्तकों का आपने अध्ययन किया। रात-दिन का सारा समय आर्थिक विषयों के अध्ययन में बीता। इसके साथ ही राजनीति और इतिहास की पुस्तकें भी आपने पढ़ीं मार्क्सवाद के सिद्धान्त और समाजवादी राजनीति का ज्ञान प्राप्त किया। इस अवसर पर आपने गांधीवाद का मार्क्सवाद से तुलनात्मक मूल्यांकन किया। मार्क्सवाद का प्रभाव

पड़ते हुए भी जगजीवनरामजी गांधीवाद को न भूल सके। १० सितम्बर १९४१ को आप जेल से मुक्त हुए।

महात्मा गांधीजी ने जगजीवनरामजी को वर्धा आश्रम में बुलाया। आप सदा काम में सलंग्न रहनेवाले व्यक्ति थे। विश्राम आपके जीवन की प्रवृत्ति से बाहर की चीज रही। फिर भी आप गांधीजी के पास कई दिन तक रहे। वहाँ गांधीजी और डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद से विभिन्न राजनीतिक समस्याओं पर आपकी चर्चा हुयी। यहाँ रह कर जगजीवनरामजी ने गांधीजी का निकट से दर्शन किया और यह देखा कि उनमें कितनी अधिक मानवता है। गांधीजी की स्मरण शक्ति का भी आपको परिचय मिला। आपने गांधीजी को जो दो पत्र लिखे थे, उनमें एक हिन्दी में था, वह गोलमेज सम्मेलन में हरिजनों के लिए सीटों का था और दूसरा पत्र अंग्रेजी में था, वह गांधीजी के उस वक्तव्य के विरोध में था, जिसमें गांधीजी ने हरिजनों की तुलना गाय से की थी। अंग्रेजी में पत्र लिखने के लिए जगजीवनरामजी को गांधीजी का उलहना सहना पड़ा था।

जगजीवन बाबू वर्धा से पटना वापस आए और राजनीतिक तथा सामाजिक कामों में जुट गए। यद्यपि व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन कमजोर पड़ गया था, किन्तु जापानियों के आक्रमण से युद्ध भारत के द्वार पर आ गया था। जापानियों ने सुदूरपूर्व के सभी देशों पर अधिकार कर लिया था। इसके बाद वे बर्मा में आ पहुँचे थे। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी अपनी आजाद हिन्द सेना के साथ अंग्रेजों से लड़ रहे थे। इस समय गांधीजी फिर कांग्रेस से तटस्थ हो गए थे। भारत में युद्ध विरोधी वातावरण उग्र रूप में था। गांधीजी ने भी सोचा कि आन्दोलन छेड़ा जाए। मार्च १९४२ में सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत में आए और उन्होंने गांधीजी से भेंट की। क्रिप्स के प्रस्तावों से असहमत होकर गांधीजी सेवाग्राम में लौट आए। क्रिप्स के प्रस्तावों को कांग्रेस के अलावा अन्य सभी राजनीतिक दलों ने भी अस्वीकृत किया। क्रिप्स के प्रस्ताव में भारत को कई टुकड़ों में बाँटने की योजना थी। सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने जगजीवनरामजी को आमन्त्रित न कर राष्ट्रवादी हरिजनों के प्रतिनिधित्व की उपेक्षा की थी। किन्तु इससे जगजीवनरामजी निराश नहीं हुए। फरवरी १९४२ में मेरठ में अखिल भारतीय दलित संघ के अध्यक्ष पद से उन्होंने हरिजनों से कहा कि ब्रिटिश सरकार हरिजनों को विभाजित करना चाहती है। सरकारी पक्ष के हरिजन नेताओं को प्रलोभन देकर फोड़ा जा रहा है, पर राष्ट्रवादी हरिजन बहकाए में न आएँगे। वे राष्ट्र का साथ देंगे और युद्ध में सहायता देकर मातृभूमि के प्रति विश्वासघात न करेंगे। आपने कहा कि वे राष्ट्र के लोगों को कन्धे से कन्धा भिड़ा कर साथ देंगे, किन्तु साथ ही वे हरिजनों की माँगें न भूलेंगे। विधान सभाएँ और सरकारी नौकरियों में हरिजनों को संरक्षण मिलने चाहिएँ। सवर्ण हिन्दुओं को व्यापक कट्टरता का परित्याग कर हरिजनों को समाज में समानता का स्थान देना चाहिए। आपने यह भी कहा कि धर्म परिवर्तनमात्र से हरिजन की दशा में कोई सुधार होना संभव नहीं है। आपकी इस वाणी ने जादू का-सा असर किया। हरिजन सजग हो गए और वे राष्ट्रद्रोहियों के बहकाए में न आए।

१९४२ का वर्ष आया। यह दिखायी दिया कि न जाने कब जापान भारत में प्रवेश कर जाए। गांधीजी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की कि यदि जापान भारत में प्रवेश करेगा तो हम उससे लड़ेंगे। हम जापान के आगे आत्मसमर्पण न करेंगे। यह सब होते हुए भी ब्रिटिश सरकार की उपेक्षा से अंग्रेजों के विरुद्ध भारत में गहरा असन्तोष फैल गया था। यह दिखाई देता था कि कब विद्रोह न फट पड़े। हुआ भी वही। कांग्रेस की माँगें स्वीकार न करने पर बम्बई में ७ अगस्त १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस का ऐतिहासिक अधिवेशन हुआ। यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि यदि सरकार ने भारत को स्वतन्त्र घोषित करने की माँग न मानी तो कांग्रेस सरकार के खिलाफ संघर्ष छेड़ देगी। गांधीजी ने घोषणा करते हुए अंग्रेजों से माँग की कि 'भारत छोड़ो' और देशवासियों से अपील की कि 'करो या मरो'। किस प्रकार युद्ध छेड़ा जाएगा,

सरदार पटेल ने उसकी एक साधारण योजना तैयार की थी। आपने यह कहा था कि यह युद्ध नवीन ढंग का होगा और किसी भी अवस्था में न रुकेगा। नेताओं की गिरफ्तारी से देश में विद्रोह खड़ा हो गया।

जगजीवनरामजी बम्बई से किसी प्रकार पटना पहुँचे। आन्दोलन चलाने के लिए वे अकेले रह गए थे। बिहार के सभी नेता गिरफ्तार हो गए थे। बिहार में उस समय अंग्रेजी राज उखड़ा नजर आता था। गाड़ियों का चलना बन्द हो गया था। पटना सेक्रेटरियट के सामने प्रदर्शन कारियों पर गोलियाँ चली थीं और अनेक व्यक्ति मर गए थे। जगजीवनरामजी ने चाहा कि पटना यातायात के साधनों से पृथक् हो जाए और अमरीकी तथा अंग्रेजी फौजें न आ सकें। पर कोई योजना परिणत हो, इसके पूर्व ही सैनिकों ने पटना घेर लिया था। गांधीजी का संदेश था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना नेतृत्व करे। इस संदेश ने विद्युत्-सा असर किया और लोगों ने मन चाहा काम किया। जगजीवनरामजी के पास कांग्रेसी कार्यकर्ता आए, वे बोले बिजली के तार काट दिए जाएँ और पानी की कलें भंग कर दी जाएँ। जगजीवनरामजी बिजली और पानी-कल मजदूर यूनियनों के अध्यक्ष थे। लोगों की असुविधाओं को खयाल करके भी इस विद्रोह के अवसर पर उन्हें कहना ही पड़ा कि बिजली के तार काट दिए जाएं। पटना में डाकघर जला और अन्य भीषण तोड़-फोड़ हुई। इस आन्दोलन को जगजीवनरामजी चलाते रहे। उन्होंने सोचा कि जितने दिनों तक आप बाहर रह सकें, कार्यकर्ताओं के संगठनों को मजबूत बनाएं। किन्तु अधिक काल तक आप कैसे बचे रह सकते थे। अन्त में २० अगस्त १९४२ को आप गिरफ्तार कर लिए गए। अपने पास के कागजात साथियों को देकर जिला मजिस्ट्रेट के साथ हो लिए। गिरफ्तारी के पूर्व आप जो काम करना चाहते थे, उसे न कर पाए। आपका प्रयत्न था कि ऐसे सहस्त्रों छोटे-छोटे दल तैयार हों, जो एक शृंखला में अलग-अलग काम करते। उनकी शक्तियाँ सारे प्रदेश में विस्तार पातीं और वे सैनिकों और अधिकारियों का विरोध करतीं और उनकी सत्ता को कुचल देतीं। जेल में इस बार जगजीवनरामजी पर बड़े कड़े प्रतिबन्ध लगे थे। इस बीच में वे ज्वर से पीड़ित हो गए। प्लूरिसी के शिकार हुए। अतः चौदह मास की सजा के बाद आपको छोड़ दिया गया। अक्टूबर १९४३ में आप मुक्त हुए।

जेल से बाहर आने पर जगजीवनरामजी के पास फरार व्यक्तियों का आना शुरू हो गया। पुलिस में भी आखिर देश के ही नौकर थे, उनकी भी किसी प्रकार सहानुभूति थी। इसलिए उन्होंने जगजीवनरामजी से कहा कि वे आनेवाले फरार व्यक्तियों का पता रखते हैं। इन्हीं फरार व्यक्तियों में श्रीमती सुचेता कृपलानी भी जगजीवनरामजी से मिलने पटना आयी थीं। जेल से छूटने के बाद भी जगजीवनरामजी का स्वास्थ्य न सुधरा था। अतएव, कुछ समय के लिए आप शिमला चले गए। पुलिस की आप पर निगरानी हर समय रहती थी। शिमला में आप अधिक समय तक नहीं रहे, आपका ध्यान कांग्रेस और दलित वर्ग संघ के कार्यों की ओर लगा रहा।

शिमला से वापस आने पर सितम्बर १९४४ में आपने कांग्रेस और दलित वर्ग संघ के प्रचार के लिए देश का भ्रमण किया। आप मध्य प्रदेश और बम्बई प्रान्त में गए। फिर आप पटना लौट आए और कांग्रेस के शिथिलता को दूर करने में जुट पड़े। १९४५ के अन्त तक आपने कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों को अग्रसर किया। आप और प्रोफेसर अब्दुल बारी दोनों ही एक साथ मिल कर काम करते थे।

इस समय देश में राजनीतिक चर्चा जोरों पर थी। देश के विभाजन की समस्या उपस्थित थी। ३ मई १९४५ को रुग्णावस्था में गांधी जी भी छोड़ दिए गए थे। कांग्रेस और लीग के प्रस्ताव देश के सामने थे। तीन मास के अवकाश के उपरान्त १४ जून १९४५ को लार्ड वेवल पुनः भारत लौट आए। उस समय तक पण्डित जवाहरलाल नेहरू और डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद प्रभृति चोटी के नेता भी छोड़ दिए गए थे। सभी दलों के नेताओं को शिमला में आमन्त्रित किया गया। सरकार ने आश्वासन दिया था कि जो कौंसिल बनेगी, उसके निर्णयों को माना जाएगा। शासन सुधार का यह रूप वाइसराय की कौंसिल का भारतीयकरण

मात्र था। केवल कमाण्डर-इन-चीफ और वायसराय का पद अंग्रेजों के लिए रखा गया था। दूसरा दोष यह था कि उसमें हिन्दू मुसलमानों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया था। एक और भी दोष था और वह यह था कि राष्ट्रवादी मुसलमान को स्थान देने से इन्कार किया गया था। कांग्रेस के सामने यह सवाल खड़ा था कि यदि वह इस प्रस्ताव को माने तो मौलाना आजाद और राष्ट्रवादी मुसलमानों को छोड़ दे।

जहाँ राष्ट्रवादी मुसलमानों का प्रश्न था, वहाँ वैसी ही कुछ समस्या हरिजनों की भी थी। डाक्टर अम्बेडकर के प्रभाव के आगे सरकार जगजीवनरामजी तथा उनके दलित वर्ग संघ की उपेक्षा करने में लगी थी। मुसलमानों की तरह जगजीवनरामजी यह कब कह सकते थे कि हरिजन एक पृथक् राष्ट्र हैं, किन्तु हरिजनों के स्वार्थ और उनकी रक्षा का भार आप सवर्ण हिन्दूओं पर भी नहीं छोड़ सकते थे। नए विधान में आप स्पष्ट रूप से हरिजनों के अधिकारों का उल्लेख चाहते थे। हरिजन हिन्दू जाति के ही एक अंग हैं। एक राष्ट्रीयता से वे जुदा नहीं हैं; किन्तु सदियों से सताए हुए इस पीड़ित वर्ग के अधिकारों की रक्षा की भी बात थी। आपके नेतृत्व में दलितवर्ग संघ ने गांधीजी के प्रयत्नों का स्वागत किया और यह कहा कि हरिजनों के हितों पर ध्यान दिया जाए। इस समय डाक्टर अम्बेडकर गांधीजी पर भी भर्त्सना करने में लगे थे और उन पर अनेक आरोप लगा रहे थे। जगजीवनरामजी और उनका संघ प्रतिनिधित्व मिलने से अलग थे। इन संकट की घड़ियों में जगजीवनरामजी ने सूझ से काम लिया। अछूतों का एक नेतृत्व प्रकट हो और सभी अछूत संस्थाएँ एक आवाज प्रकट करें, इस लक्ष्य से आपने अपनी संस्था की ओर से सरकार को स्मृति-पत्र भेजा कि हरिजनों को तीन स्थान दिए जाएँ, उनका निर्वाचन तीन अछूत संस्थाओं के द्वारा हो। पर इस बीच में कांग्रेस और दलित वर्ग संघ में में समझौता हुआ कि संघ के सभी प्रतिनिधि कांग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र को स्वीकार करेंगे और वे कांग्रेस के घोषणा-पत्र को भी स्वीकार करेंगे। अतः दलित वर्ग संघ के उम्मेदवार कांग्रेस के उम्मेदवार घोषित हुए और चुनाव में वे सब के सब विजयी हुए। डाक्टर अम्बेडकर, एम० सी० राजा प्रभृति अछूत नेतागण और उनकी संस्थाओं की भारी पराजय हुई। इसके बाद केबिनेट मिशन भारत में आया। उसने फिर समझौते का प्रयत्न किया। केबिनेट मिशन के प्रस्ताव में संयुक्त भारत का रूप दिया गया था, किन्तु प्रान्तों को स्वायत्तता प्रदान की गयी थीं। केन्द्रीय शासन लचीला रखा गया था, जिसके अधिकार में केवल सेना, संचार साधन और वैदेशिक मामले तथा मुद्रा आदि थे। लीग के विरोध से ये प्रस्ताव परिणत न हो सके। फिर भी १६ जून १९४६ को लार्ड बेवल ने कांग्रेस और लीग से अपनी कौंसिल के लिए नाम माँगे। लार्ड वेवल ने यह भी कहा कि कोई पक्ष दूसरे पक्ष के निर्णय को रद्द करने का अधिकार न रखेगा। मिस्टर जिन्ना के इन्कार करने पर भी पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अस्थायी सरकार का गठन हुआ। लार्ड वेवल ने छः कांग्रेसी लिए, जिनमें एक हरिजन को भी लिया गया। ईसाई और सिखों के एक-एक प्रतिनिधियों के अतिरिक्त दो गैर-लीगी मुसलमान भी लिए गए। इस अस्थायी सरकार में हरिजन का स्थान श्री जगजीवनरामजी को दिया गया। वे श्रम मन्त्री हुए। इन सब सदस्यों ने २ सितम्बर १९४६ को शपथ ली।

केन्द्रीय सरकार में जगजीवनरामजी का मन्त्रि-पद ग्रहण करना स्वाभाविक था। १९४६ में ही उनके सबल नेतृत्व का पता ब्रिटिश सरकार, डाक्टर अम्बेडकर और उनके साथियों का लग गया था। डाक्टर अम्बेडकर का दल जगजीवनरामजी का उपहास करता था कि वे कांग्रेस के खिलौना हैं और उधर कांग्रेस के दल में हरिजन सम्बन्धी माँगों से जगजीवनरामजी की संदिग्ध स्थिति हो गयी थी। जगजीवनरामजी के कार्य में सच्चाई और ईमानदारी थी, उनके रोम-रोम में राष्ट्रीयता का संचार था। अलबत्ता हरिजनों के अन्याय के प्रति आप संघर्ष की उग्र भावना रखते थे और अपनी बात साफ-साफ कहते थे। किन्तु अपनी माँग में भी आप राष्ट्र और समाज से अपील करते थे। एक ओर आप अपने समाज से राष्ट्र का साथ देने के लिए कहते और यह कहते कि हरिजनों का हित कांग्रेस के साथ रहने में है, दूसरी ओर कांग्रेस से हरिजनों के प्रति न्याय करने के लिए कहते। इसप्रकार जगजीवनरामजी का जीवन देश के लिए उत्सर्ग हुआ। आपने अपने

समाज से कहा कि देश के लिए तन-मन-धन सब कुछ अर्पित कर दो। हरिजन वर्ग देश-द्रोही और राष्ट्र-द्रोही न बनें। हरिजन देश के गौरव के लिए जीवित रहें और मरें। आपकी वाणी से जो उद्‌गार निकले, हरिजनों ने उन्हें माना, उनकी कभी उपेक्षा नहीं की। हरिजन उसी पगडण्डी पर चले, जिस ओर आपने निर्देश दिया, अपना कदम रखा।

शिक्षा के प्रसार और आर्थिक प्रगति से हरिजनों का विकास होना संभव है, किन्तु इस के साथ सामाजिक समस्याएँ भी हैं। हरिजन एक शरीर के अंग हैं, यदि एक अंग कमजोर हुआ तो सारा अंग शक्तिशाली नहीं हो सकता। अतः जगजीवनरामजी ने कहा—"हम इस बात को सदा याद रखें कि जब तक पूर्ण शरीर स्वस्थ न हो, एक अंग स्वस्थ नहीं रह सकता"। आपका मत रहा कि जब तक हरिजनों को वैधानिक संरक्षण और उचित अधिकार प्राप्त नहीं होते, तब तक वे दूसरे लोगों के समकक्ष न आ सकेंगे। दूसरे लोगों के बराबर आने के समय तक हरिजनों को ये अधिकार मिलने चाहिएँ। यह राष्ट्रीय निश्चय हो, जिससे कि आनेवाली पीढ़ियों में यह अस्पृश्यता न रहे और न फिर ये अधिकार रहें। हरिजनों की इस मुक्ति में मानव समाज की मुक्ति निहित है, मानवता की रक्षा है। इस उद्दात्त भावना से जगजीवनरामजी ने राष्ट्र के समक्ष हरिजनों की माँगें रखीं। उनकी माँगों में न तो कभी अराष्ट्रीयता रही, न संकीर्णता और न जाति विशेष के लिए विशेष अधिकारों की माँग। उनका संघर्ष समाज की मानसिक दासता के विरुद्ध था। जगजीवनरामजी ने कहा कि कांग्रेस को अपने दृष्टिकोण में हरिजनों के केवल आर्थिक उत्थान पर ही नहीं, सामाजिक उत्थान पर भी बल देना चाहिए।

इस बीच में इंगलैण्ड और भारत में अनेक घटनाएँ घटीं। ग्रेटब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार का निर्मा हुआ, जिसका लक्ष्य था कि भारत की राजनीति में जातिवाद तथा भेदनीति से काम न लिया जाए। नया निर्वाचन हुआ, जिसमें समस्त हरिजनों ने कांग्रेस का साथ दिया। इससे कांग्रेस और दलित वर्ग संघ दोनों की प्रतिष्ठा कायम हुई। इसप्रकार राष्ट्रीय हरिजनों की विजय होने पर सरकार ने जगजीवनरामजी और दलित वर्ग संघ को आमन्त्रित किया। संघ ने यह घोषित किया कि देश में कांग्रेस एक ऐसी संस्था है, जो राष्ट्र के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है और उसकी माँग देश की माँग है। यह भी साफ शब्दों में प्रकट किया गया कि 'हरिजन धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से हिन्दू जाति के अंग हैं, किन्तु आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से इतने पिछड़े हुए हैं, कि उनके अधिकार और हितों की रक्षा के लिए विशेष संरक्षण दिए जाएँ और वे तब तक जारी रहें, जब तक दलित वर्ग सवर्ण हिन्दुओं की समानता में न आ जाए और उनमें खप न जाए।

जगजीवनरामजी केवल हरिजनों के हितों के लिए नहीं बढ़े, सच्चे राष्ट्रवादी होने के नाते उन्हें यह गंवारा नहीं हुआ कि राष्ट्रीय मुसलमानों का सरकार में स्थान न हो। आपने सरकार में मन्त्रिपद स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, जब तक कि राष्ट्रीय मुसलमानों की ओर से मौलाना अब्बुल कलाम आजाद को न लिया जाएगा। आपकी उत्कट देशभक्ति और राष्ट्रीयता का यह बेजोड़ उदाहरण है। इस विरोध में आप ही सब से पहले आगे आए। फिर तो कांग्रेसी के चोटी के नेताओं को भी पद ग्रहण करने से इन्कार करना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि वायसराय को मौलाना आजाद को मन्त्रिमण्डल में लेना पड़ा।

१९४६ से १९५२ तक जगजीवनरामजी केन्द्रीय सरकार के श्रम मन्त्री रहे। इस पद पर रह कर आपने भारतीय मजदूरों का जो हित किया, उनके अधिकारों के लिए जिन नए कानूनों की सृष्टि की, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आपकी ये सेवाएँ कभी बिस्मरण नहीं की जा सकतीं। श्रम मन्त्री के पद पर रह कर आपको उद्योगपतियों से संघर्ष करना पड़ा, यद्यपि आप उद्योग-विकास की आकांक्षा से मालिक और मजदूरों में कोई मतभेद नहीं चाहते थे। आपने देखा कि कांग्रेस ने जिन गरीबों के लिए स्वराज्य का युद्ध लड़ा और घोषणापत्र में जो अभिवचन दिए, उन्हें पूरा करना चाहिए। यह पूरा करने का भार जगजीवनरामजी के कन्धों पर आ पड़ा था और कहना न होगा कि मजदूरों के लिए कानून बना कर आपने कांग्रेस के गौरव की

रक्षा की। जिन कानूनों के सम्बन्ध में उद्योगपतियों व मजदूरों का विरोध था, उन्हें आपने जबर्दस्ती से नहीं लादा। शान्तिपूर्ण तरीके और समझौतों से—दोनों पक्षों का समाधान कर कानून बनाए गए। उद्योगपतियों के रुख को देख कर आपको यह कहना पड़ा :

'निहित स्वार्थवाले और उनके हिमायती, वर्तमान साम्यवाद के कारण उत्पन्न आर्थिक पुनर्निर्माण की परमावश्यकता का अनुभव नहीं कर रहे हैं। अन्तरिक्ष में फैली हुई रक्तिमा उन्हें दीख तो पड़ती है परन्तु वे स्वार्थ में इतने अधिक लिप्त हैं, कि उसके स्पष्ट अर्थ को नहीं समझ पाते।'

जगजीवनरामजी ने मालिक और मजदूर के सहयोग पर बल दिया। आपने कहा कि औद्योगिक विकास के लिए मिश्रित अर्थ-नीति की अपेक्षा सहयोग अर्थ-नीति अपेक्षित है। इसका अर्थ यह है कि उद्योग के निर्माण और संचालन में मालिक और मजदूर का भाग सहयोग के आधार पर हो। आपने यह भी कहा :—

'यदि भारत को समृद्ध होना है, तो श्रम को दायित्वपूर्ण और मानवीय ढंग से सोचने का अवसर देना होगा। और जो उद्योग अब तक दूसरों की मजबूरियों से अनुचित लाभ उठाते रहे हैं, उन्हें अब उसकी पूरी कीमत चुकानी होगी।'

आगे चल कर आपने यह कहा :—

'मेरा विश्वास है कि यद्यपि केवल अर्थ-उपार्जन की प्रेरणा श्रमिकों की मनोवृत्ति में वह परिवर्तन नहीं ला सकती, जो सहकारी अर्थ व्यवस्था के निर्माण के लिए आवश्यक है, किन्तु फिर भी अर्थोपार्जन की भावना की अवहेलना नहीं की जा सकती।'

कृषि और उद्योग के क्षेत्र में आज जिस सहकारिता की माँग खड़ी हुई है, जगजीवनरामजी ने अपने श्रम मन्त्रित्व के काल में ही उसका उद्घोषण किया था। आज यह माँग पेश है कि मजदूर वर्ग उद्योगों के संचालन में हिस्सा ले, पर तब मजदूरों के हितों के लिए कई कल्याणकारी योजनाओं का जबर्दस्त विरोध हुआ था। सामाजिक सुरक्षा योजना का इतना अधिक विरोध किया गया कि इम्प्लाइज स्टेट इंस्यूरेंस कानून का प्रारम्भिक रूप ही नहीं रहा, उचित मजदूरी कानून का भी विरोध किया गया। यह बिल ऐसा था जिसके विरोध में उद्योग-पतियों ने कांग्रेस के कर्णधारों पर प्रभाव डाला कि वह स्वीकृत न हो। पर जगजीवनरामजी ने झुकना कभी जाना न था। सरदार वल्लभभाई पटेल भी चाहते थे कि यह बिल पेश न हो। जगजीवनरामजी ने बड़ी स्पष्टता से सरदार पटेल से कहा कि मजदूर वर्ग कांग्रेस पर अपनी आँखें लगाए हुए हैं, लोगों की आकांक्षाएँ कांग्रेस और कांग्रेसी सरकार पर हैं, यदि आज हम उन आकांक्षाओं को सजीव रूप नहीं देते, तो श्रम मन्त्रालय में उनके लिए कोई आकर्षण नहीं रह जाता है। इस स्पष्टता से आप श्रम मन्त्री-पद छोड़ने के लिए तैयार हो गए। कहा जाता है कि वे अपनी ये बातें कह कर सरदार पटेल के घर से वापस आ गए और त्याग-पत्र देने को तत्पर हो गए। इसप्रकार आप कोटि-काटि हरिजनों के ही नहीं, लाखों और कराड़ों मजदूरों के भी हितरक्षक प्रकट हुए। अन्त में सरदार पटेल आपके निवास स्थान पर आए और यह कहा कि बिल पेश हो, वे इसे जरूरी समझते हैं। जगजीवनरामजी सरदार का आशीर्वाद प्राप्त कर प्रसन्न हुए। आपमें न कोई दुराभाव था और न कांग्रेस से कोई संघर्ष था। कर्तव्य पालन की माँग थी। कारण; आपने सरदार पटेल से यह कहा था—'आप लोग देश के लिए इतना कुछ कर चुके हैं कि अगर अब और कुछ न करें, तो भी देश की जनता आप लोगों के प्रति ऋणी रहगी और उसके मन में यह भाव कभी न उठेगा कि उसके विश्वास का अनादर हुआ। आपने राजनीतिक स्वाधीनता ली। आपने देशी रियासतों को भारत में मिलाया, आप इतिहास में अमर हो गए। लेकिन नई पीढ़ी के लोग अब अगर एक नई समाज व्यवस्था के निर्माण में न लगे तो और करेंगे ही क्या? इस पर सरदार पटेल ने जगजीवनरामजी से कहा—

'तुम जानते हो कि यदि देश की जनता के हित के लिए भारतीय पूँजीवाद का नाश आवश्यक हो, तो मुझे एक झटके में उसे खत्म करने में जरा भी हिचकिचाहट न होगी। अभी इस सांप को व्यर्थ ही क्यों

छड़ा जाए। जब आवश्यक हो और तुम्हारे पास तदर्थ साधन हो लें, तो उसे एक ही बार में खत्म कर दो।' कहना न होगा कि अनेक श्रम कानूनों के पास होने में सरदार पटेल का लौह व्यक्तित्व जगजीवनरामजी के साथ सदा रहता था। 'लेबर रिलेशन बिल' और 'इण्डियन ट्रेड यूनियन बिल' के कानूनों के विरुद्ध में उद्योगपति तो थे ही, बल्कि कुछ मजदूर नेताओं ने भी विरोध किया था। भिन्न-भिन्न राज्यों में मजदूरों के झगड़ों के लिए अलग-अलग कानून थे; केन्द्रीय कानून अलग था। आपने उन सब के स्थान पर 'लेबर रिलेशन बिल' एक कानून सारे देश के लिए बनाया। इसीप्रकार 'इण्डियन ट्रेड यूनियन बिल' भी नए रूप में आया था। उद्योगपति न्यायालयों के निर्णय टाल दिया करते थे। पर इस बिल में ट्रिब्यूनल के निर्णय को न मानने पर दण्ड की व्यवस्था की गयी थी। इस बिल का यह भी उद्देश्य रहा कि यूनियन बाहरी नेतृत्व से बचें। जगजीवनरामजी में पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति जरा भी अनुराग नहीं है। मजदूरों के कल्याण में उनका विश्वास है, आस्था है। जगजीवनरामजी ने बैंक कर्मचारियों को यह सुविधा दी कि वे अपने झगड़ों का निर्णय श्रम विभाग से कराएँ। इन बिलों के पेश होने पर पूँजीवादी पत्रों और उद्योगपतियों ने जगजीवनरामजी का घोर विरोध किया। पर आप किसी तिरस्कार से नहीं दबे। उत्तेजनापूर्ण वातावरण में भी आपने अपने संतुलन को नहीं खोया। मगर इन कानूनों के पास होने पर मजदूरों का ध्यान कांग्रेस की ओर अधिक आकर्षित हुआ। श्री एन० एम० जोशी, श्री जयप्रकाश नारायण और श्री डांगे आदि श्रमजीवी दलों के नेताओं ने जगजीवनरामजी के कार्यों की प्रशंसा की और सरकार की श्रम-नीति को राष्ट्र के लिए उपयोगी प्रकट किया।

जगजीवनरामजी का यह मन्त्रित्व-काल इतना गौरवपूर्ण रहा कि उसने एक नए इतिहास की रचना की। मजदूरों और हरिजनों के लिए उनकी सेवाएँ कभी भुलायी नहीं जा सकतीं। जब नया विधान बना, तब विधान के मौलिक अधिकारों द्वारा अस्पृश्यता को मिटाया गया। हरिजनों को सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करने का समान अधिकार मिला। आपके प्रयत्न से हरिजनों को दस वर्षों के लिए संरक्षण मिले कि वे अपनी सीटों से निर्वाचित हों, नौकरियों में भी उनके अनुपात को रक्षित रखा गया। यह व्यवस्था दस वर्ष बीतने पर आज भी जारी है और वह तब तक रहेगी, जब तक कि हरिजन वर्ग समानता के स्तर पर नहीं आ जाता है। ३३५ वीं धारा में जगजीवनरामजी के प्रयत्न से यह व्यवस्था की गयी कि कांग्रेस की नीति यह है कि हरिजन विषयक मामलों में पूर्ण एकमतता काम में लायी जाए।

१९५२ में नागपुर के सम्मेलन में जगजीवनरामजी का ऐसा क्रान्तिकारी भाषण था, मानो भूडोल आ गया। आपने कहा कि यद्यपि संविधान में हरिजनों को अधिकार प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनका सरासर उल्लंघन और तिरस्कार होता है। सवर्ण हिन्दुओं का मानसिक परिवर्तन नहीं हो पाया है। सवर्णों का शोषण और उनकी दमनकारी नीति जारी है। इन अत्याचारों के प्रति हरिजनों की जागरूकता प्रकट होती है कि वे अब दबना नहीं चाहते। हरिजनों को नौकरियों में उचित स्थान मिलने चाहिएं। अन्त में आपने कहा :—

'हिन्दू समाज आज बारूद की करार पर बैठा है, हरिजन ऐसी स्थिति में ला दिए गए हैं कि उनकी उससे बुरी दशा असंभव है। आज उन्हें अपने बन्धनों के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है। ऐसी हालत में यदि उनकी आकांक्षा की पूर्ति न हुई तो व्यापक विद्रोह होकर ही रहेगा।'

१९५२ के निर्वाचन के पश्चात् जब आप संचार मन्त्री बने, तब इस पद पर रह कर भी आपने अपने कार्यकाल का एक रेकर्ड पेश किया। डाक-तार और टेलीफोन की सेवाएँ विस्तृत कीं, उनके कार्य क्षेत्रको बढ़ाया, डाकघर, तारघर और टेलीफोन एक्सचेंजों की संख्या बढ़ी। ग्रामों में डाकघर खुले। ट्रंककाल की सर्वत्र व्यवस्था की। तहसीलों और थानों में नए तारघर खुले। हवाई जहाजों से डाक पहुँचाने की व्यवस्था का विस्तार किया गया। यहाँ भी आपने मजदूरों के हितों पर ध्यान दिया। उनके महँगाई भत्ते में वृद्धि की। पर इस मन्त्रिपद में सबसे महत्वपूर्ण कार्य आपने गैर-सरकारी हवाई यातायात का राष्ट्रीयकरण के रूप में किया। इस राष्ट्रीयकरण से पूँजीवादी दल चिन्तित हो उठा था। निजी क्षेत्र से आपकी यह दूसरी मुठभेड़ थी। पूँजीपतियों

के विरोध से आप जरा भी विचलित नहीं हुए। निजी कम्पनियों को मुआवजे की रकम देने में आपने उदारता प्रकट की। नए राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था में दो संस्थाएँ निर्माण हुईं, एक आंतरिक हवाई यातायात के लिए 'इण्डियन एयर लाइन्स कार्पोरेशन' और दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय 'एयर इण्डियन इण्टर नेशनल कार्पोरेशन।' धीरे-धीरे इन नए संगठनों का पुनर्निर्माण किया गया, हवाई जहाजों की संख्या में वृद्धि की गयी, नए नए स्टेशन बनाए गए तथा सेवा में विस्तार किया गया।

इसके उपरान्त १९५६ में पुनः निर्वाचन हुआ। इस बार आप रेलवे मन्त्री के पद पर आसीन हुए। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेलवे का विस्तार हुआ। आपकी व्यवस्था में द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रेलवे के विकास के लिए ११२५ करोड़ रुपए की नयी पूंजी नियत की गयी। संभव है कि १०० करोड़ रुपए की और अधिक पूंजी लगे। आपके संचालन काल में गाड़ियों का विद्युत्करण हुआ, मीटरगाज कोच फेक्टरियां खुलीं। कई स्थानों में नई रेलवे लाइनें डाली गयीं। रेल और मार्ग यातायात का संघर्ष मिटा देने के लिए आप अधिक प्रयत्नशील हैं। रेलवे राष्ट्रीय साधन है। अतएव, मार्ग का यातायात रेलवे की सन्निधि में चलना वांछनीय है।

केन्द्रीय सरकार में रेलवे मंत्रालय का महत्वपूर्ण स्थान है। इस विभाग का भार ग्रहण करना बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण है। देश के औद्योगिक विकास में रेलवे के साधन और स्रोतों का बड़ा उपयोग है। बिना रेलवे के विस्तार के विविध योजनाओं की प्रगतियां संभव नहीं हैं। इस विभाग का मंत्रिपद ग्रहण करना पिछले वर्षों की दुर्घटनाओं से चिंतनीय बन गया था। कहीं गाड़ियां लड़तीं और कहीं रेलों के विध्वंस से लोगों की जानें जातीं। अतएव, सर्वसाधारण के लिए रेलवे यात्रा निरापद न थी। लोग सोचने लगे कि राष्ट्रीय सरकार रेलों के संचालन की क्षमता नहीं रखती है क्योंकि ड्राइवरों की गलतियों से गाड़ियां भिड़तीं, और लाइनें या पुल की खराबियों से गाड़ियां नष्ट होतीं और लोगों के प्राण जाते। ऐसे अवसर पर रेलवे विभाग का मंत्रिपद ग्रहण करना बड़ी जिम्मेदारी लेना था। जगजीवनरामजी इस क्षुब्ध वातावरण में आगे आए और आपने साहस से रेलवे मंत्री का पद ग्रहण किया। कहना न होगा कि आपकी व्यवस्था में रेलवे की दुर्घटनाएं मिटीं। प्रायः कुछ छिटपुट घटनाओं के सिवा भयानक काण्ड नहीं हुए।

अंग्रेज जब बिदा हुए थे, उस समय रेलवे की जो व्यवस्था थी, उससे आज की व्यवस्था में महान अन्तर है। आज रेलवे की व्यवस्था का रूप ही बदल गया है। यात्रियों के लिए और विशेषतः तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए अनेक सुख सुविधाएं प्रस्तुत की गयीं। जगजीवनराम जी सोचते हैं कि रेलवे की आय के साधन तीसरे दर्जे के यात्री हैं अतएव उन्हें आराम पहुंचाना रेलवे का प्रमुख कर्तव्य है। मगर यह कर्तव्य पूरा नहीं हो रहा है। इतनी गाड़ियां उपलब्ध नहीं हैं कि तीसरे दर्जे के यात्री आराम से यात्रा कर सकें। यह नहीं कि पहले से विस्तार नहीं हुआ है। गाड़ियां आदि बढ़ने पर भी यह प्रश्न हल नहीं हो पाया है। बढ़ती हुई जनसंख्या भी एक कारण है। देश में गाड़ियां बनने लगी हैं। इसलिए यह संभव है कि तीसरे दर्जों की भीड़ कम हो। फिर भी आज तीसरे दर्जे के यात्रियों को सुख सुविधाएं देने का जो ध्यान दिया गया, वह रेलवे के विगत सौ वर्षों के जीवन में संभव नहीं हो सका। तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिए पंखा, पानी और भोजन तथा प्लेट फार्मों पर ठहरने की व्रवस्था आदि उल्लेखनीय कार्य हैं। आज रेलवे यात्रियों के साथ मनुष्यता का बर्ताव होता है। देश के प्रमुख अंग ये तीसरे दर्जे के यात्री हैं, अतएव उनकी परेशानियां दूर करना रेलवे विभाग का कर्तव्य है। जिसप्रकार हम राष्ट्र की अन्य समस्याएं हल करने में लगे हैं, उसप्रकार हमें यह समस्या भी हल करना है। जगजीवनरामजी की सूझ से लम्बी यात्रा वाले लोगों के लिए ऐसी व्यवस्था की जाएगी, जिससे कि वे आराम से यात्रा कर सकें।

भारत एक अविकसित देश होने पर भी संसार की प्रमुख रेलवे लाइनों में भारतीय रेलवे का चतुर्थ स्थान है। अंग्रेजों ने भारत में रेलवे का विकास अपने आयात निर्यात व्यापार के लिए किया था। कच्चा माल

बिना रेलों के आना संभव नहीं था और ब्रिटिश तैयार माल का सर्वत्र वितरण रेलवे पर ही निर्भर था। इसके सिवा रेलवे लाइनों के प्रसार से ग्रेटब्रिटेन के इंजीनियरिंग उद्योगों को धंधा मिला। यहां रेलों का संचालन भी ब्रिटिश कम्पनियों के अधिकार में रहा। रेलवे के विस्तार से अंग्रेजों का पूर्ण हित हुआ। पर जहां उनके स्वार्थों में चोट पहुंचने वाली थी, देश में उस जहाजी उद्योग को न बढ़ने दिया। एशिया, अफ्रीका और सुदूरपूर्व के देशों में भारतीय रेलवे सबसे बड़ी है। संसार में वह प्रमुख स्थान रखती है। ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस और जापान की अपेक्षा भारतीय लाइन सबसे बड़ी है। किंतु; क्षेत्रफल, जनसंख्या और यात्रियों की संख्या पर विचार करने पर भारत में रेलवे विस्तार पिछड़ा हुआ है। एक हजार वर्गमील के क्षेत्र में भारत में २७ मील में रेलवे लाइन है, जबकि ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस और जापान में २७४ मील, १२० मील और ८७ मील क्रमशः है। इस देश में रेलवे का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। ब्रिटिश शासनकाल में ही राष्ट्रीयकरण का प्रारंभ हो गया था। अन्यथा, संसार में सोवियट रूस के अतिरिक्त अन्य सभी देशोंमें रेलवे की व्यवस्था निजी क्षेत्र के अधिकार में है। भारत में राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत जितने उद्योग और व्यापार का संचालन जारी है, उतना संसार के किसी लोकतंत्र देश में नहीं है। यातायात के क्षेत्र का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत हवाई यातायात है। उसके राष्ट्रीयकरण का श्रेय जगजीवनराम जी को है। इसके सिवा अनेक बुनियादी और पूंजीगत पदार्थों के निर्माण के उद्योग सरकारी क्षेत्र में संचालित हो रहे हैं। एक ओर जहां इनमें से कई उद्योग रेलवे की मांगों को पूरा करते हैं, तो दूसरी ओर उनका निर्माण रेलवे के साधन बढ़ने से ही हो सका है। अभी भारत में रेलवे के विकास की बहुत बड़ी आवश्यकता है। संसार के औद्योगिक देशों की तुलना में भारतीय रेलों का स्तर बहुत नीचा है। भारत में एक लाख की जनसंख्या में ६ मील रेलवे लाइन का औसत है, जब कि अमेरिका कनाड़ा और फ्रांस में १३८ मील, २७२ मील और ६० मील क्रमशः है। भारत, जापान और अमेरिका में यात्रियों की सर्वाधिक संख्या है। भारत में जहाँ दस लाख की जनसंख्या में यात्रियों का औसत ६४४५७ है, वहां जापान और अमेरिका में ६६००४ और ५११३१ है। किंतु जापान और अमेरिका की जनसंख्या कम होने से गाड़ियों में भीड़ की समस्या नहीं है। आवश्यकता यह है कि आज से अधिक लोग रेलवे में यात्रा करें, पर साधारण लोगों की आय कम होने से रेलवे की यात्रा में उनका व्यय न्यूनतम है। भारत में प्रति व्यक्ति की राष्ट्रीय आय २८४ रुपए है, जबकि अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया और फ्रांस में ९१०० रुपए, ३८८० रुपए, ६३३८ रुपए, ४३७३ रुपए और ३३२३ रुपए क्रमशः हैं। इस अनुपात में प्रति व्यक्ति रेलवे व्यय भारत में ३ रुपए हैं, जबकि अमेरिका में २५ रुपए, ग्रेट ब्रिटेन में ३० रुपए, आस्ट्रेलिया में ४९ रुपए, कनाडा में २७ रुपए और फ्रांस में ४० रुपए है। भारत की अपेक्षा जापान जैसे देश में प्रति व्यक्ति रेलवे व्यय १८ रुपए है। किन्तु जापानमें प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय भारत से चौगुनी है। भारत में एक व्यक्ति औसतन वर्ष में १०३ मील की यात्रा करता है, जबकि ग्रेट ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, अमेरिका और कनाडा में ४०८ मील, ५६६ मील, ३८५ मील १८० मील और १८१ मील क्रमशः है। अमेरिका और कनाडा में मार्ग यातायात अधिक है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेलवे विस्तार की वृद्धि में जगजीवनरामजी लगे हुए हैं। विश्व बैंक के अधिकारियों ने यह प्रकट किया कि बुनियादी उद्योगों की स्थापना के साथ रेलवे का विस्तार होना चाहिए। इसलिए रेलवे के विकास के लिए विश्व बैंक से काफी ऋण प्राप्त हुए हैं। आपके मंत्रित्व काल में रेलवे को नए ऋण मिले हैं। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में १११४ करोड़ रुपए और ६०० करोड़ रुपए का विनियोजन निर्धारित किया गया। १८५३में जहां रेलवे लाइन का क्षेत्र केवल २०मील था, वहां १९५७-५८ में ३४११६ है, उसी प्रकार १८५३ में विनियोजन ०.३७ करोड़ रुपए था वहां १९५७-५८ में ८६१५५ करोड़ रुपए है। रेलवे की नयी व्यवस्था में, छः क्षेत्र निर्माण किए गए हैं। छः जोनों में उत्तर रेलवे, उत्तर-पूर्व रेलवे, पूर्व रेलवे, मध्य रेलवे, पश्चिम रेलवे और दक्षिण रेलवे हैं। इसप्रकार ६००० मील रेलवे लाइन की सारी व्यवस्था छः संचालन केन्द्र, केन्द्रीय रेलवे बोर्ड और रेलवे मंत्रालय के तत्वावधान में चल रही है।

यहां पर हमने रेलवे व्यवस्था का उल्लेख इस लक्ष्य से किया कि जगजीवनरामजी अपने मंत्रित्व काल में रेलवे विभाग का इसप्रकार निर्माण करें, तथा ऐसा सुधार करें, जो भविष्य के लिए मार्ग दर्शन बने। एक ओर जहां रेलवे में काम करने वाले सहस्त्रों मजदूरों का प्रश्न है, वहां दूसरी ओर तीसरे दर्जे के यात्रियों की सुख सुविधाओं के देनेकी मांग है। इसके सिवा उद्योगों के विकास में रेलों का योगदान बढ़ना चाहिए। किंतु जगजीवनरामजी के व्यक्तित्व की दृष्टि से हम यह आकांक्षा करेंगे कि आप अपने कार्यकाल में रेलवे व्यवस्था को ऐसा नवीन रूप देंगे, जो आम जनता के लिए हितकर हो। जो मंत्री जनता की वाणी में अपनी वाणी रखता है और यह अनुभव करता है कि वह जन सेवक है, उसका कर्तव्य है कि वह सर्व साधारण के हित का खयाल रखे। मंत्रिपद ग्रहण करने पर वह अपने और जनता के बीच में सम्पर्क की खाई न पैदा कर ले। बल्कि यह सोचे कि वह पांच वर्षों के लिए उस जनता की सेवा करने आया है, जो उसकी मालिक है, स्वामी है। इसलिए उसे उसका खयाल रखना चाहिए।

जगजीवनरामजी के संबंध में यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि आप जनता के सच्चे सेवक हैं। अन्य व्यक्ति सदस्य या मंत्री चुने जाने पर जनता के पास पहुंचने में हिचकते हैं, किन्तु जगजीवनराम जी के प्रति जनता में इतना विश्वास है, श्रद्धा है और सेवाओं के प्रति इतना सन्मान है कि जनता आप को निर्विरोध चुनती है। यह आपकी लोकप्रियता का प्रमाण है। आप में जो चेतना-शक्ति है, अदम्य पौरुष है और परिश्रमशीलता है, इन सब गुणों से आप ने राष्ट्र और समाज का गौरव बढ़ाया है। अतएव, आप एक बेजोड़ चरित्रवान व्यक्ति हैं। यही कारण है कि जनता आप पर अभिमान करती है। राजनीति और मंत्रिपद ग्रहण करना आपका जीवन-धर्म नहीं है, आपके जीवन की आकांक्षाएं नहीं है। कारण, आप में सदा पीड़ित मानवता के उद्धार के लिए हर समय चिंता व्याप्त है। फिर मंत्री-पद पर रह कर भी आप जन साधारण को न भूल सके। कार्य-भार में व्यस्त रहने पर भी आप जनता के पास पहुंचने के लिए समय निकालते हैं, उसका दु:ख दर्द सुनते हैं और उसके प्रश्न हल करने में भाग लेते हैं।

हमें यह भी न भूलना चाहिए कि केन्द्रीय मंत्रि पद पर रहकर कितनी क्षमता से आपने कार्य किया है। हमने देखा कि चक्रवर्ती राजगोपालचारी कांग्रेसी होते हुए भी वर्तमान समय में शासन के कठोर आलोचक बन गए हैं, किन्तु वे भी जगजीवनराम जी के मंत्रि पद के कार्यों की प्रशंसा करते हैं। राजगोपालाचारी ने यह स्वीकार किया है कि जगजीवनराम जी ने बड़ी योग्यता से मंत्रिपद का भार सम्हाला है। हम यह जानते हैं कि जगजीवन-रामजी कट्टर गांधीवादी हैं। आपकी विचारधारा समाजवादी होने पर भी आपके विचार कम्यूनिज्म से मेल नहीं खाते हैं। उल्टे आप कम्यूनिस्टों के आलोचक रहे हैं। पर संसद में आपके कार्यों का सभी दलों पर प्रभाव पड़ता है। विरोधी दल के नेता जो संसद से बाहर हैं, वे भी आपकी सेवाओं को मान्यता देते हैं। इस दृष्टि से केरल राज्य के मुख्य मंत्री श्री नम्बूद्रीपाद यह मानते हैं कि जगजीवनरामजी ने जिसप्रकार अपना जीवन राष्ट्र के लिए अर्पित किया, उनकी जीवन कथा हमारे सहस्रों युवकों और युवतियों को प्रेरणा देने वाली हैं। इसीप्रकार लोकसभा के कम्यूनिस्ट सदस्य श्री ए० के० गोपालन प्रभृति यह मानते हैं कि दलितों के उद्धार के लिए जगजीवनरामजी की महत सेवाएं हैं। इसीप्रकार अन्य राजनीतिक दल भी आपकी सेवाओं को स्वीकार करते हैं। अतएव आपके व्यक्तित्व, जीवन की स्वच्छता और कार्य-पद्धति से सभी दल के लोग प्रभावित हैं।

केन्द्रीय सरकार में जिस कांग्रेस मंत्रिमंडल के आप सदस्य हैं, उसके नेता आपकी कार्य क्षमता से प्रभावित हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू और पण्डित गोविन्द बल्लभ पंत दोनों ही केबिनेट में आपको अपना प्रिय साथी मानते हैं। प्रधान मंत्री आपकी बड़ी कद्र करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने आपको बराबर केबिनेट में लिया और एक के उपरांत दूसरा उच्च पद दिया। केबिनेट, पार्लामेंटरी कमेटी और अखिल भारतीय कांग्रेस वर्किंग कमेटी में आपका बड़ा प्रभाव है। सभी प्रदेशों के कांग्रेसी नेता आपके प्रति श्रद्धा रखते हैं। पंजाब

की वीर जातियाँ हिन्दू और सिखों में आप का इतना सन्मान है कि पूर्व पंजाब के मुख्य मंत्री इन वीर लोगों की ओर से आपके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। श्री प्रतापसिंह कैरों ने यह व्यक्त किया कि आपका नाम इतिहास में भारत के एक योग्य पुत्रके रूप में अंकित होगा। दलितों के आप शानदार अगुआ हैं। आपकी मधुरता, स्पष्टवादिता, और सरलता से आपका जीवन निखरा है। हरिजनों के आप उद्धारक और महान योद्धा हैं। कैरों का कहना है कि आपका नाम हजारों नवयुवकों को प्रेरणा देगा कि समाज के गिरे हुए तत्वों के उद्धार में योगदान देकर राष्ट्र की सेवा में आप आगे बढ़े। अपने व्यक्तित्व से केवल हरिजनों में ही नहीं, राष्ट्र के करोड़ों लोगों के दिलों में आप स्थान पा गए हैं। जो कांग्रेसी कार्यकर्ता एक बार भी आपके सम्पर्क में आए, वे आप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे और जिन्होंने आपके कामों को दूर से देखा, उन पर भी आपका असर पड़ा। आप सभी का प्रेम और सन्मान प्राप्त करने में समर्थ हुए।

राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद आपके प्रति बड़ा स्नेह रखते हैं। बीस-इक्कीस वर्ष पूर्व जगजीवन राम जी राजेन्द्रप्रसाद जी के सम्पर्क में आए थे। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद और स्वर्गीय डाक्टर अनुग्रहनारायण सिंह – दोनों के ही आप स्नेहभाजन रहे हैं। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने जगजीवनरामजी के प्रति अपने ये उद्‌गार प्रकट किए :—

"जगजीवनरामजी को जब मैंने देखा, तो वे लगन से काम करने वाले और होनहार व्यक्ति प्रकट हुए। इसके उपरांत वे आहिस्ता-आहिस्ता कांग्रेस के काम में आ जुटे और जब समय आया तो औरों के साथ जेल यात्रा भी करते गए। जब १९३७ में देश में पहले पहल कांग्रेस मंत्रिमंडल बनाने की बात चली और महात्मा जी ने यह शर्त लगायी कि अगर गवर्नर यह वचन दे दे कि वह मंत्रियों की राय से सब काम किया करेंगे, तब कांग्रेस मंत्रिमंडल बना सकेगी। तब शुरू में सभी गवर्नरों ने इस तरह का वचन देना नामंजूर कर दिया था। इस समय अनेक प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था। इसलिए कोई मंत्रिमंडल वैधानिक रीति से जिसका कांग्रेस के सदस्यों का समर्थन न हो, चल नहीं सकता था। तो भी गवर्नमेण्ट की नीति के अनुसार गवर्नरों ने प्रयत्न किया कि सभी जगहों में किसी न किसी तरह मंत्रिमंडल बन जाएँ। ऐसा ही प्रयत्न बिहार में भी किया गया और कुछ दिनों के लिए श्री यूनुस ने मंत्रिमण्डल बनाया। उस समय जगजीवनराम जी वहां की धारा सभा के एक सदस्य चुने गए थे और श्री यूनुस ने इस बात का बहुत प्रयत्न किया कि उनको किसी तरह से फोड़ करके अपने मंत्रिमण्डल में ले लें और उनके साथ जो हरिजन सदस्य थे उनकी सहायता वह प्राप्त कर लें। पर जगजीवनरामजी ने एक बारगी इस चीज को नामंजूर कर दिया और उनके दिए हुए मंत्री-पद को ठुकरा दिया। यह बात मुझको मालूम हो गयी और मैंने उसी समय महात्मा गांधी को इस बात की सूचना दी थी, जिससे वह बहुत प्रसन्न हुए थे और जिसका जहां तक मुझे स्मरण है, उन्होंने अपने लेख में जिक्र भी किया था। इस घटना के बाद जो मेरी श्रद्धा और प्रेम श्री जगजीवनरामजी के प्रति था वह और भी बढ़ गया और मैंने देख लिया कि वह लगन वाले और काम करने वाले ही नहीं हैं, पर समय पर त्याग करने में भी किसी से पीछे नहीं रहेंगे। उस के बाद जहां तक मुझे स्मरण है, वह बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी में शरीक हुए और जब कुछ दिनों के बाद कांग्रेस ने मंत्रिमण्डल बनाया, तो उनको पार्लमिण्ट्री सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त किया गया। इस पद पर रहकर उन्होंने अपनी जवाबदेही और काम को खूब अच्छी तरह से संभाला, जिसकी प्रशंसा उस समय के सभी लोग किया करते थे। उनका संबंध कांग्रेस और कांग्रेस कर्मियों के साथ दिन प्रति दिन अधिक घनिष्ट होता गया और १९४१ से फिर जब महात्मा जी का महान आन्दोलन शुरू हुआ, उसमें उन्होंने यथोचित भाग लिया। १९४६ में जब केन्द्रीय मंत्रिमंडल में कांग्रेस ने शरीक होने का निश्चय किया, तो उसमें स्वभावतः खयाल उनकी ओर आया और उनको स्थान मिला। अवस्था उनकी कम थी। तो भी श्रम विभाग उन्होंने अच्छी तरह से खूबी के साथ संभाला। इस पद पर से उन्होंने श्रमजीवियों की स्थिति को सुधारने के लिए जो काम किया है, वह केवल भारत सरकार की कानून की किताबों में दर्ज कानूनों से ही मालूम नहीं होता,

पर जिस तरह उनकी अवस्था सुधरी है, वह देखने से ही उसका पता पूरी तरह चल सकता है। अनुभव काफी उन्होंने इस बीच में प्राप्त कर लिया है। सादा जीवन है। काम करने की लगन है। श्रम से नहीं डरते, और जो ठीक समझते हैं, उस को कहने और करने में नहीं हिचकते। जब कोई चीज सामने आती है तो उस पर हर पहलू से विचार करके ही कोई राय कायम करते हैं। और विचार निश्चित कर लेने पर उससे जल्द डिगते नहीं। मेरा उनसे सम्पर्क और अधिक दिन-प्रतिदिन घनिष्ट होता गया। उनका भविष्य और अधिक उज्वल होगा। अभी उनकी अवस्था कम कही जा सकती है। और इसलिए काम का क्षेत्र और काम करने का समय और शक्ति भी उनके सामने बहुत है। हमारी यह सद्भावना और सदिच्छा है कि वह समय और शक्ति को देश की सेवा में उसी तत्परता से लगाएंगे, जिस तत्परता से उन्होंने आज तक काम किया है और अपने काम में सफल होते गए हैं।"

श्री एच. बी. पाटस्कर के शब्दों में जगजीवनराम भारत सरकार की केबिनेट में कार्यदक्ष और सुयोग्य मंत्री साबित हुए हैं। पर सरकार में रहकर भी आप सामाजिक और आर्थिक न्याय को नहीं भूले हैं। महात्मा गांधी के पश्चात पीड़ितों की आवाज उठाने में आप आगे बढ़े हैं। समाज में एक नया युग लाने के लिए आप प्रयत्नशील हैं। आज दुरानी व्यवस्था मिट रही है और नई अपना स्थान ले रही हैं। समाज नई नैतिकता पर निर्माण हो रहा है। वह एक ऐसी करार पर खड़ा है, कि जो लोग पुराने रीति रिवाज, परम्पराएं और जातिभेद की प्रथाओं से चिपके हुए हैं, वे भी अपनी आंखों से यह देखते हैं और इस सत्य को स्वीकार कर हैं कि युग बदल रहा है। जो विश्वास अबतक जन मानस के जीवन पर छाए हुए रहे, अब वे पिछले युग की घटनाएं बन रहे हैं। समाज एक नए युग में चरण रख रहा है। क्षण पल में जीवन बदलता जा रहा है। इस अवस्था में यह आवश्यक है कि हम समाज को जो निर्देश दें, वे अब पुरानी मान्यताएं, रीति रिवाज, प्रथाएं और विश्वासों के पोषक न हों। पिछले युग की भली और बुरी बातों के विवाद में न पड़कर आज के और आगामी कल के निर्माण की वाणी में हमें बोलना चाहिए। कोई भी प्रथा अब समाज आंख मूंद कर न मानेगा। परिवर्तन और नव निर्माण के इस युग में हमारी मूलभूत समस्याएं हम से कहती हैं कि हम नए गुणों को अपनाएं। मानव का मूल्य समझें और यह देखें कि विशृंखलित और टुकड़े-टुकड़ों में बंटा हुआ समाज इस नए काल में न रह सकेगा। मानव को यदि अपना जीवन और अपना कर्तव्य सही हालत में पूरा करना है, तो उसे यह समझना होगा कि अनाचार और अनैतिकताओं का अब स्थान नहीं रहा है।

आज जगजीवनराम जी के हाथ में न केवल हरिजन, आदिवासी और पिछड़े वर्ग का नेतृत्व है, बल्कि समस्त हिन्दूजाति उनकी ओर आंख लगाए है। इस समय आप अब इस रूप में आगे आएं कि समाज में सवर्ण और हरिजन का भेद न रहे। यह भेद अब मिट जाना चाहिए। समाज के जो लोग पुराने विचार रखते हैं और जीवन के निकट आ गए हैं, उनसे सहसा यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने विचार बदल दें। हमारी बात नवयुवकों से है, जो समाज के नए ऊगते हुए पौधे हैं, उनसे हमें यह कहना है कि अब इन दायरों को मिटा दो।

अभी चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने हरिजन समाज से कहा है कि हरिजन दूसरों की ओर अब मुखातिब न हों। वे अपना उद्धार अपने साधन और स्रोतों से करें। इससे कुछ समय के लिए रुकावटें पहुंचेगी, परन्तु अंत में हरिजन अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे।

कुछ हरिजन यह सोचते भी हैं कि यदि हम हरिजन और पिछड़े वर्ग के नाम से सरकार से रियायतें पाएँ, हरिजन नाम से हम नौकरियाँ पाएँ और शिक्षा ग्रहण करें, तथा विधान सभाओं में जाएँ, तो फिर हम में यह भेद सदा बना ही रहेगा। हम में अलगत्व पैदा हो जाएगा। तब हमारा एक सम्प्रदाय बन जाएगा। उस अवस्था में हम किस मुंह से हिन्दू-जाति के नव-निर्माण की बात कह सकेंगे।

दूसरी ओर हरिजन तथा पिछड़ा समाज युवक संघ तथा अन्य हरिजन संस्थाएँ यह माँग करती हैं कि सरकार से जो सुविधाएँ दी गयी हैं, वे आगे बीस वर्षों तक जारी रहें। इन लोगों का कहना है कि इन सुविधाओं

के हटने से हरिजन तथा पिछड़ी जातियों के प्रति अन्याय होगा। शिक्षा और नौकरियों में ये लोग स्थान न पा सकेंगे। योग्य नागरिक के रूप में समुचित स्थान प्राप्त करने में यह समाज असमर्थ बन जाएगा। अभी भी जो छात्र-वृत्तियाँ दी जाती हैं, वे जन-संख्या की दृष्टि से अपर्याप्त हैं। यदि ये भी बन्द हो गयीं तो उनकी प्रगति रुक जाएगी। आज भी शिक्षा, नौकरी और शासन में पिछड़ी जातियों का स्थान नगण्य है। कोई शासन इनकी माँगों की कैसे उपेक्षा कर सकता है। देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी पिछड़ी जातियाँ जहाँ की तहाँ खड़ी हैं।

पिछड़ी जातियों के नेता यह कदापि नहीं चाहते कि वर्ग संघर्ष खड़ा कर उनकी माँगों और अधिकारों को किसी प्रकार का राजनीतिक रूप दिया जाए। उस वर्ग से वे क्या लड़ेंगे,जो रूढ़िवादिता से स्वयं ग्रस्त हैं और अनौचित्य धार्मिक भावनाओं का शिकार है। दूसरी ओर पिछड़े वर्ग में भी सांस्कृतिक चेतना का जागरण नहीं है।

सवर्णों में सुधारकों का ऐसा दल है,जो सारी हिन्दू जाति के सुधार में अग्रसर है। वह दलितोद्धार में भी अग्रसर है। वह चाहता है कि सवर्णों के द्वारा कितने भी अत्याचार हुए हों, पर हरिजन वर्ग को अहिंसा और प्रेम से अपना नया निर्माण करना चाहिए। किसी वर्ग को भला-बुरा कहने की अपेक्षा हरिजनों को अपना निर्माण स्वयं ही करना चाहिए। शिक्षा और आर्थिक क्षेत्र में जब वे प्रगति कर जाएँगे, तो समाज में उनकी हीनता न रहेगी। अस्पृश्यता और भेदभाव तो सवर्णों में भी विद्यमान हैं, और जातिभेद किन्हीं अंशों में पिछड़ी जातियों में भी है। उनमें भी आपस में शादी-विवाह और खान-पान का संबंध नहीं है। सवर्ण हिन्दू युवक हरिजनों के साथ इस बात में हैं कि समाज में नयी क्रान्ति जन्म ले।

इधर पंजाब सरकार ने जातिगत भेदभाव मिटाने के लक्ष्य से एक नयी योजना को जन्म दिया है। हम देखते हैं कि मजदूर संगठनों में ऊँचनीच और विभिन्न धर्मों के सभी लोग एक पंक्ति में आते हैं। उनके अपने संगठन में कोई जातिगत भेद नहीं होता है और न धर्म का विभेद होता है। वे यह सब भूल कर भाईचारा कायम करते हैं। इस जमात में ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र तथा हिन्दू तथा मुसलमान का कोई भेद नहीं होता है। इस आर्थिक धरातल पर एक नया समाज खड़ा होता है। अतएव पंजाब सरकार ने यह निश्चय किया है कि जिन की वार्षिक आय अमुक अंश तक हो, वे सब पिछड़े वर्ग के समझे जाएँ,फिर वे किसी भी वर्ण के हों। न केवल हरिजन बल्कि अन्य वर्णों के लोग भी पिछड़ वर्ग के माने जाएँ। इससे जातीय भेदभाव न रहेगा। आर्थिक दृष्टि से गिरे हुए सवर्ण और हरिजन एक कतार में खड़े होंगे और अपने को पिछड़े वर्ग का मानेंगे।

इधर कट्टर सनातनी वर्ग जगजीवनरामजी के व्यक्तित्व से प्रभावित है और वह उनके नेतृत्व में पूर्ण विश्वास करता है। उसकी आकांक्षा है कि अब आपका ऐसा कदम बढ़ेगा कि जो सारी हिन्दू जाति को प्रेरणा देने वाला होगा,समाज में प्रेम और सौहार्द्र का सुन्दर वातावरण पैदा करेगा। यह पक्ष देख रहा है कि सार्वजनिक जीवन म अस्पृश्यता नहीं रही है, जो कुछ है, वह ग्रामों में है। वहाँ भी जब खेतिहर मजदूरों के आर्थिक दृष्टि से संगठन होंगे और वे दूसरोंके सम्पर्क में आएँगे तो उनकी अस्पृश्यता मिट जाएगी। समाज में हमें श्रम को महत्व देना चाहिए। श्रम करनेवालों को हेय न माना जाए। श्रम सब बराबर हैं। चीफ जस्टिस का श्रम और झाड़ू झाड़ने वाले का श्रम—दोनों ही समान हैं, दोनों में कोई हेय नहीं हैं। किसी भी श्रम को हम हेय दृष्टि से न देखें।

इन सब परिस्थितियों के मध्य में से आगे बढ़ने में यदि आज कोई सबल नेतृत्व है तो वह जगजीवन-रामजी का है। आप में सभी विचारों का सुन्दर संगम है। आपके हाथ में समाज के नव-निर्माण का सूत्र बँधा हुआ है। सारी हिन्दू-जाति आपके नेतृत्व में आगे बढ़ने की प्रतीक्षा में है।

भारत की राष्ट्रीयता के लिए सवर्ण हिन्दू और हरिजन तथा पिछड़ी जाति का भेद किसी भी लक्ष्य से कायम रहना वांछनीय नहीं है। राष्ट्रीय एकता के लिए जाति, उपजाति, वर्ण आदि किसी भी रूप में विघातक तक है। लोकतंत्र में हमें प्रत्येक व्यक्ति को एक अंग माना चाहिए, उसमें जाति, वर्ण और सम्प्रदाय का कोई स्थान नहीं है। इसलिए हमें ऐसा कोई प्रयत्न न करें, जिससे राष्ट्र की शक्ति क्षीण हो। अब

हरिजन तथा पिछड़ी हुई जातियां गुलाम बना कर नहीं रखी जा सकती हैं। मानवता का तकाजा है कि हिन्दू समाज में से अंध विश्वास और धर्मान्धता का विनाश हो। भाई-भाई की तरह सब हिन्दू चाहे वे किसी वर्ण या जाति हों, एक साथ आगे बढ़ें। आज समाज में वर्ण नहीं रहे हैं, सब वर्ण एक हुए हमें मानना चाहिए। सबका एक ही नामकरण होना वांछनीय है।

सौभाग्यवश हमारे राष्ट्रीय गगन में जगजीवनराम जी के रूप में महान तेजस्वी नक्षत्र का उदय हुआ है। उनके मंगलमय प्रभाव का प्रसार सर्वत्र विस्तार पाया है। जिसे आपने न्याय समझा, उसे निर्भय हो निःसंकोच कहने में कभी आगा-पीछा न किया। जिस साहस से आपने नेतृत्व किया, उसका परिणाम यह हुआ कि जो विरोधी थे, वे भी आपसे प्रभावित हुए, उन्हें भी अपनी गल्तियों का भान हुआ। इस लोकतंत्र के युग में आपने सारी समस्याओं के हल के लिए अहिंसा का मार्ग अपनाया। समाज में फैली हुई विषमता के मध्य में आपने समत्व योग से मान सम्मान का खयाल न कर जन-जन में जो प्रेम वाणी का संचार किया, उससे समाज में ऐसा चमत्कार उत्पन्न हुआ, जो कल तक सोये हुए थे और रूढ़ियों तथा अंध-विश्वासों को धर्म माने बैठे थे, उन सब में नया प्रकाश उत्पन्न हुआ। जगजीवनराम जी सोते-जागते, खाते-पीते, मंत्री-पद पर काम करते हुए भी, यह चिंतना निरन्तर विद्यमान है कि किस प्रकार समाज का नव-निर्माण हो।

यह हम सब की परीक्षा का समय है, स्वाधीनता अर्जन से कहीं कठिन कार्य समाज का नया निर्माण करना है। इसमें हमें देखना है कि किस में कितना दम है, कितना पानी है। जगजीवनराम जी के प्रबल नेतृत्व में हमें यह दिखाना है कि शांतिमय सामाजिक क्रान्ति की ओर हमने जो कदम बढ़ाया है, वह पीछे न मुड़ेगा।

हमारी कामना है कि जगजीवनराम जी का नेतृत्व राष्ट्र के लिए मंगलमय हो। उनके सबल नेतृत्व में समाज वर्ष-प्रतिवर्ष आगे बढ़े। उनके जीवन के प्रत्येक वर्ष के दिन हजारों वर्ष के हों। सारा राष्ट्र उनके दीर्घजीवन की कामना करता है।

शरदः जीवेम शतं

**



स्वर्गीय डा० अनुग्रह नारायण सिंह वित्त मंत्री बिहार राज्य के साथ श्री जगजीवनराम तथा श्री जीतूलाल, एम, एल, सी, (श्री जीतूलाल के घर पर भोज में)



केन्द्रीय सरकार के केबिनेट के दो मंत्री
श्री मुरारजी देशाई और बाबू श्री जगजीवनराम



नेहरू जी के साथ श्री जगजीवनराम

नेहरू जी गंभीर मुद्रा में अध्ययन में संलग्न हैं और श्री जगजीवनराम प्रसन्न चित्त हैं



बिहार की दो विभूतियाँ

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद और श्री जगजीवनराम

चतुर्थ खण्ड

नए समाज की रचना



जाति प्रथा के प्रबल विरोधक

भारत के प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू

उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्

श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी

भारतीय चिन्तकों की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने अपना दृष्टिकोण कभी संकुचित नहीं किया। उनके चिंतन की पृष्ठभूमि सदैव विशाल रही है। उन्होंने सदा इस बात की चेष्टा की है कि व्यक्ति अपने को समाज और मानवता ही नहीं; सारी सृष्टि से अलग न समझे। वह अपनी स्थिति का सही मूल्यांकन तभी कर सकता है जब अपने को सापेक्ष्य दृष्टि से देखे। वह अपने को सृष्टि का केन्द्र बिन्दु ने समझे। यद्यपि यह सच है कि जहां तक कर्म और मोक्ष का सम्बन्ध है, व्यक्ति अपनी मुक्ति का प्रयत्न स्वयं अकेले करता है—अपने कर्मों के द्वारा। तथापि वह भी तभी संभव है, जब कि वह 'सियाराममय' सब जगत को देखने में ही नहीं, अनुभव भी करने लगे। यह सच्चे ज्ञान की पहली शर्त है। यही नहीं, वह अपनी मुक्ति की अपेक्षा लोक के त्राण का पहले ध्यान रखे। स्वामी रामानुजाचार्य पर प्रसन्न होकर उनके गुरू ने उन्हें मंत्र का रहस्य बतला दिया और यह ताकीद कर दी कि उसे गुप्त रखें—किसी को न बतलाएं। किंतु दूसरे दिन प्रातःकाल ही वे मंदिर के गोपुर (द्वार-शिखर) पर चढ़ गए और वहां से उन्होंने चिल्ला-चिल्ला कर भव बंधन में पड़ी जनता को मुक्ति के मार्ग का वह गोपनीय रहस्य बतलाना आरम्भ कर दिया। जब उनके गुरू ने यह सुना, तब उन्हें बुला भेजा। क्रुद्ध होकर वे बोले—'तुझे मालूम है कि गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने का क्या परिणाम होता है?' स्वामी रामानुजाचार्य ने कहा—'नरक'। 'तो तुझे उसका भय नहीं है?' गुरु ने पूछा। स्वामी जीने उत्तर दिया—'प्रभु! गुरु की अवज्ञा करने के कारण केवल एक मुझ को ही तो नरक होगा, किन्तु आप की कृपा से यह असंख्य जनता तो त्राण पा जाएगी?' यही है वह विशाल दृष्टि जिसने भारत को महान बनाया है, जिसने व्यक्ति को समष्टि के कल्याण के लिए अपने व्यक्तिगत हित को बलि कर देने का उपदेश दिया है।

जीवन में आत्मसात्

हमारे धार्मिक ग्रंथ बराबर इस पर ज़ोर देते रहे हैं। दुःख इस बात का है कि हम उनके इन महान् उपदेशों को तोते की तरह बिना समझे दुहराते और रटते भले ही हों, हमने उन्हें आत्मसात् नहीं किया। हमने जीवन में नहीं उतारा। उन पर मनन और चिंतन नहीं किया। स्वामी शंकराचार्य ने अपनी प्रश्नोत्तर मणिमाला में कहा है:—

मूकश्च कोवा बधिरश्चकोवा
युक्तं न वक्तुं समयेः समर्थ
तथ्यं च पथ्यं न श्रृणोतु वाक्यम्

गूंगा कौन है? बहिरा कौन है? शारीरिक असमर्थता वास्तविक बधिरता नहीं है। गूंगा तो वह है, जो चाहे जितनी बड़-बड़ करता हो; किन्तु समय पर ठीक बात नहीं कह पाता। और वास्तविक बहरा वह है जो सुनी हुई बातों में से, 'तथ्य' और 'पथ्य' (ज्ञान की और हितकर) बातें नहीं समझ पाता। यदि हम ज्ञान-बधिर न होते, तो क्या रोज-रोज दुहराने पर भी इन प्रार्थनाओं के असली मतलब को न समझ पाते?

लोक सुख की कामना

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यम्
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ।

यहां 'ब्राह्मण' शब्द से तात्पर्य उन निरक्षर भट्टाचार्य, असंस्कृत, संस्कारहीन, स्वार्थलोलुप व्यक्तियों से नहीं है जो 'जली हुई रस्सी' के समान हैं और जिनके कर्म गए बीते हैं; किन्तु जो ऐसे वंश में उत्पन्न हुए हैं जिनमें किसी समय-सुदूर अतीत में—कोई ब्राह्मण जन्मा था। यहाँ 'ब्राह्मण' से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है, जो हमारे शास्त्रों के मतानुसार ब्राह्मण हैं, जिनका जीवन लोकहित और लोक कल्याण के लिए है, जो स्वार्थ से परे हैं, और जिनका शुभ सारे समाज के लिए हितकर है। किन्तु सबसे पहले 'स्वस्ति' चाहिए 'प्रजा' की—अर्थात् जनता की, जिसमें छोटे-बड़े सभी सम्मिलित हैं और हमारे चिंतकों की विशाल दृष्टि में 'समस्त लोक' की—सुख की कामना भी नित्य-प्रार्थना का अंग बन गयी।

समाज की जीवन शक्ति

यही नहीं, हमारे चिंतकों ने किसी एक जाति (Race), एक वर्ग या एक देश की दृष्टि को सामने रख कर विचार नहीं किया। हमने जो 'विधि' व्यवस्था बनायी, जो कानून बनाए, उन्हें बनाते समय हमने भेद-भाव नहीं किया। हमने यह भी नहीं कहा कि हमारी जीवन व्यवस्था केवल किसी एक विशेष धर्मवालों के लिए है। इसीलिए 'मनुस्मृति' का दूसरा नाम 'मानव–धर्मसार' है। हमने सदैव जीवन के प्रश्नों और समस्याओं को मानवता के स्तर पर देखा और उसी स्तर पर विचार किया और जब तक हमारी दृष्टि विशाल रही और जब तक हमने उस विशाल दृष्टि के अनुसार कार्य किया, हमारी उन्नति होती रही।

'किरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसाः आभीर कंका यवनाः खसादयः'—हममें मिलते चले गए। यवन (यूनानी) हेलिओडोरस हमारे धर्म की विशाल उदारता से आकृष्ट होकर हमारा हो गया और जिसका प्रमाण विदिशा में खड़ा हुआ दो हजार वर्ष पुराना स्तंभ आज भी दे रहा है। किन्तु जिस दिन से हमारी दृष्टि संकुचित होने लगी और हमने 'लोक' से एकाकार होने के बजाय उनसे विलग रहने का मार्ग पकड़ा, उस दिन से हमारा अधःपतन आरंभ हुआ। उस दिन से हम बारह-बांट हो गए। हमारा ह्रास होने लगा। विशाल समाज की जीवन शक्ति नष्ट हो गई और आज तो शायद सारे संसार में हमसे अधिक विभाजित और कोई नहीं है।

प्रायः पन्द्रह सौ वर्ष से हमने इस अकल्याणकर मार्ग को अपनाया। समाज का भारी ह्रास होने पर अब धीरे-धीरे हमें अपनी भूल का बोध होने लगा है। किन्तु अभी वह बोध मस्तिष्क के स्तर पर है। वह अभी इतना सबल और सशक्त नहीं हो पाया कि वह क्रियाशील होकर जीवन को गति दे। किन्तु यह पहला शुभ कदम है। किसी कवि ने कहा है :—

खुदा जिससे मिले वह तबअ का मैलान पैदा कर,
नहीं गर इश्क दिल में, इश्क का अरमान पैदाकर।

'इश्क का अरमान' खुदा के पास पहुँचने की पहली सीढ़ी है। उसी प्रकार 'सामाजिक उदारता का अरमान' भी समाज के सुधार और उन्नति की पहली आवश्यक मंजिल है। संसार में जितनी क्रांतियां हुई हैं, वे पहले विचारों के रूप में हुई हैं। यदि रूसो और वाल्टेयर ने फ्रांस के जन मानस को जागृत करके झकझोर

न दिया होता तो फ्रांस की राज्य क्रान्ति असंभव थी। अतएव आज हम अपने देश और समाज में विचारों की जो क्रांति देख रहे हैं, वह भविष्य के लिए शुभ मंगल का लक्षण है।

बाबू जगजीवनराम हमारे समाज में विचारों की उस शुभ क्रांति के जीवित और मूर्त प्रतीक हैं। सामाजिक भेदभाव को दूर करने में उन्होंने अपने सरल और क्रियाशील जीवन में जितने धैर्य और सद्भावना तथा प्रेम से काम किया है वह सर्वथा सराहनीय है। सदियों के संस्कार– –और विशेषकर कुसंस्कार एकाएक दूर नहीं हो सकते। चोट लगने में पल भर भी नहीं लगती, किन्तु उसे अच्छे होने में कई सप्ताह लग जाते हैं। इसीप्रकार समाज के रोग भी धीरे-धीरे ही दूर होते हैं। आज जो बात है वह अगली पीढ़ी में न रहेगी—और फिर आगे की पीढ़ी तो हमारे व्यवहार और विचारों का मज़ाक उड़ाएगी। अतएव, हमारे प्राचीन देश और पुरातन समाज का कायाकल्प करने में धैर्य, सद्भावना और प्रेम की आवश्यकता है। ये गुण उसी में होंगे जिसे अंतिम सफलता का विश्वास होगा। जहां तक हम समझ सके हैं, बाबू जगजीवनराम जी में ये सब गुण हैं और इसीलिए हैं कि उन्होंने हमारे समाज के उज्ज्वल भविष्य में असीम, अटूट और अडिग विश्वास है।

**

हमारी समस्या का समाधान कहां से आएगा? हृदय के परिवर्तन से—युग के परिवर्तन से। धर्म को कब्र की तरह चुन कर सारी जाति को सदा के लिए भूतकाल के अंदर दफना देने से—हमारा उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ना असंभव है। हमारी मानसिक प्रकृति के अंदर जो अवरोध मजबूत हो गया है, उसे पूर्ण रूप से मिटाए बिना हम स्वतंत्रता का उपयोग न कर सकेंगे। साधना के द्वारा ही हमें मूलभूत परिवर्तन करना है।

– रवीन्द्रनाथ टैगोर



हिन्दू धर्म विश्व के प्राङ्गण में

डा० श्री कालिदास नाग

एम० ए०, डी० लिट् (पेरिस)

हिमालय पर्वत, जिसकी कोई समता नहीं और जिसके स्रोतों से अनेक महा नदियां निकलीं ; भारत के प्राचीनतम हिन्दू धर्म की भी संसार में कोई समता नहीं है, उसकी कोख से भी अनेक सम्प्रदाय और दार्शनिक तत्वों का विकास हुआ है । ये सब सम्प्रदाय तथा मत हिन्दू धर्म से ही प्रकट हुए हैं । भिन्न-भिन्न काल में उन्हें जुदे-जुदे नामों से सम्बोधित किया गया और उनकी व्याख्याएँ हुयीं । अनुदार, सुधारक, और विद्रोही युग-युग में प्रकट हुए हैं । जैन, बौद्ध, वैष्णव और शैव आदि मत अब भी हिन्दू धर्म के अन्तर्गत हैं और वे सब हिन्दू धर्म के बाहर भी हैं । ये दोनों ही स्थितियां हैं । हिन्दू धर्म उन अनेक आध्यात्मिक प्रवाहों का महान स्रोत है जो महासागर रूपी अनन्त में जाकर मिलते हैं, जहां वे सब भिन्नताएँ मिट जाती हैं और वे महान एकत्व—'एकम् सत्' में विलीन होती हैं ।'

हिन्दू धर्म का नामकरण

"हिन्दू धर्म"-"हिन्दुत्व" हमारे धर्म का नवीन नामकरण है । हमारे पश्चिमी पड़ोसियों ने इसे रखा है । भारत के प्रधान धर्म और संस्कृति (Indios—Indus) के अन्तर्गत सिन्धु[1] शब्द से हिन्दू शब्द बना । डेरियस प्रथम (ईसा से पूर्व ५२०—४८०) ने यह नामकरण किया था । अनेक प्रसिद्ध शिलालेख मिलते हैं उनमें सिन्धु और हिन्दू शब्द अंकित हैं ।

पारसी धर्म पर प्रभाव

उस समय ईरान जेरोस्टर के (मेजडिज्म) अन्तर्गत था जो हमारे वैदिक ऋषियों के समकालीन था और जिसने ईश्वर के प्रतीक के रूप में भारत के समान ही अग्नि की पूजा का विधान दिया था और अग्नि पर ऋचाएँ लिखी थीं । उस अग्नि को उस अनन्त ईश्वर का अवैयक्तिक प्रतीक माना था । ईरान और भारत ही नहीं, उस काल के अनेक देशों में अग्नि को ईश्वर का प्रतीक माना गया था ।

यज्ञ, (ईरानियन में यस्न), होत्र, हिन्दू वेदशास्त्रों की धार्मिक प्रक्रियाएँ हैं । ईरानी अवेस्ता में भी यज्ञ धार्मिक प्रक्रिया है । वेद और अवेस्ता-दोनों धर्म ग्रन्थों ने ईश्वर और शैतान के संघर्ष को प्राय: एक ही रूप में प्रकट किया है । कालान्तर में यही तत्व ईसाई धर्म और इस्लाम में भी प्रकट हुआ । किन्तु भारत और ईरान के सम्बन्ध और भारत तथा ईरान की दार्शनिकताओं पर उस काल के अनेक दार्शनिक

[1] आज हम देश के विभाजन के द्वारा सिन्ध प्रदेश और सिन्धु नदी—दोनों को ही दे बैठे हैं । —सम्पादक

तत्ववेत्ताओं ने अपने महत्वपूर्ण अभिमत प्रकट किए हैं। अलेक्जेंडर ने न केवल भारत और ईरान के कई भागों पर विजय प्राप्त की ; बल्कि दो आर्य जातियों से भी सम्बन्ध स्थापित किया। हकीकत में ईरान का धर्म वेदों के आधार पर था।

यूनान में हिन्दू धर्म

"ओल्ड टेस्टामेन्ट" से यह प्रकट होता है कि ज्यू लोगों को ईरान के बादशाह ने शरण दी थी। इससे हम यह देखते हैं कि हेब्रू बाइबिल का अनुवाद यूनान में करीब ईसा के २५० वर्ष पूर्व हुआ था, जब भारत में हमारे सम्राट अशोक (ईसा के २७०—२३० वर्ष पूर्व), ने अपने धर्म प्रचारकों को मिश्र, सीरिया, मेगस, मेसेडन, और अलेक्जेंडर इपिरस आदि देशों में भेजे थे।

बाइबिल और कुरान पर छाप

जब यूनान में हिब्रू बाइबिल का अनुवाद हो रहा था तब भारत से अशोक ने महान दार्शनिक और ऋषियों को पश्चिम एशिया से परे और अफ्रीका से योरप तक सर्वत्र भेजा था। कई पश्चिमी विचारकों ने, जिनमें प्रोफेसर जी० पी० कानगर हैं, हिन्दू दार्शनिकता और हिन्दू धर्म तत्वों के चिह्न अन्य धर्म तथा उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में स्पट रूप से पाए। अतः पश्चिम एशिया, अफ्रीका और योरप भारतीय दार्शनिकों तथा तत्ववेत्ताओं से प्रभावित हुए। कहा जाता है कि प्रारम्भिक ईसाई धर्म और सातवीं सदी की इस्लामिक बाइबिल अर्थात् कुरान की रचनाएँ भारतीय तत्वज्ञान से प्रभावित हुई थीं।

हिन्दुत्व का ईसाई धर्म पर प्रभाव

बेबीलोन में ईसा के ३२३ वर्ष पूर्व महान अलेक्जेंडर की मृत्यु के पश्चात् हम देखते हैं कि ग्रीक यात्री और वहां के राजदूत भारतीय दरबारों में आते हैं और भारत पर पुस्तकें लिखते हैं। ईसा के ३०० वर्ष पूर्व मेगस्थनीज ने भारत पर 'इण्डिका' नामक ग्रन्थ लिखा। ईसा के २५० वर्ष उपरान्त हम देखते हैं कि इन्डो-ग्रीक और इन्डो-पर्थियन शासक भारत में आकर बसते हैं, जिनका उल्लेख हमारे प्राचीन भारतीय सिक्के और शिलालेखों में मिलता है। यह वर्णन ग्रीक और अरेमिक भाषाओं में है।

ग्रीक एवं अमेरिक की नयी शोधों से अशोक के सम्बन्ध में जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनसे यह विदित होता है कि भारत और मेडिटेरियन-संसार का निकटतम सम्बन्ध था। सेंट थाम्स भारत में आए, जिनकी मृत्यु मद्रास में हुई, वे यहां इण्डो-पर्थियन राजा गोंडो फेरनेस के प्रतिनिधि रूप में आए थे। इस प्रकार प्रायः दो हजार वर्षों तक शान्ति रूप से ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म साथ-साथ चले। सुतरां ; हिन्दुत्व के भावों से ईसाई धर्म पनपा।

अफगानिस्तान में हिन्दू और बौद्ध धर्म

क्राइस्ट भारत और काश्मीर में आकर ठहरा था। यह प्राचीन घटना आज भी काश्मीर के पुराने ग्रामीण कहते सुनते हैं। भारत के उत्तर पश्चिम में इन्डो ग्रीक, गांधार, अफगानिस्तान, बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए और उसकी दीक्षा ली। "मिनादेर के प्रश्न" नामक रचना से इस कथन की पुष्टि होती है। आज का अफगानिस्तान, जो एक समय हिन्दू धर्म का प्रांगण था, जहां पर बैठ कर ऋषियों ने ऋचाएँ लिखी थीं, यज्ञ किए थे, ईसा की दूसरी सदी में वह पूर्ण रूप से बौद्धमत में दीक्षित था। उस काल की बौद्ध कथाएँ इस मत का समर्थन करती हैं। इतना ही नहीं, अफगानिस्तानकी गुफाओंके मंदिरोंमें बुद्धकी मूर्त्तियां देखने को मिलती हैं। कई फ्रेंच विद्वानों और उनके साथियों ने हाल में जो खोज की, उससे ये सब बातें प्रमाणित होती हैं।

यूनान में वैष्णव धर्म

न केवल बौद्ध धर्म में यूनानी परिवर्तित हुए; बल्कि हेरोडोरस तथा यूनान के राजा, एन्टइल केडस ने, ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्व, वैष्णव धर्म अपनाया था। राजा और उनका परिवार सब वैष्णव हो गए थे। तक्षशिला में हिन्दू और ईरानी, ग्रीक, रोमन, सीदियन और अर्धचीनी, कुशान, सभी आए और उन्होंने वेदान्त तथा भारतीय दर्शनों का पठन पाठन किया। उन्होंने इस देश के धर्म, संस्कृति, कला आदि को अपनाया। एक ओर बौद्ध बुद्ध की मूर्त्तियों की स्थापना में लगे थे तो दूसरी ओर हिन्दू वेदों में वर्णित अव्यक्त ईश्वर के स्थान पर विष्णु और शिव की मूर्त्तियाँ स्थापित करने में बढ़े थे। इस काल में मन्दिरों का निर्माण तेजी से बढ़ा और मूर्त्तियां स्थापित हुईं। वेद और अवेस्ता के संस्कारों का परित्याग कर भारत और ईरान की मिश्रित जनता ने बुद्ध, कृष्ण और शिव की मूर्त्तियों के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की। अनेक ग्रन्थ और उस काल की विचार धाराएँ यह प्रकट करती हैं कि प्रारम्भिक ईसाइयत और बौद्ध धर्म एक समान दर्जे पर बढ़े। वैष्णव और ईसाई धर्म नजदीक में आ गए थे। वैष्णव के वैष्णत्व का ईसाई धर्म पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। महान हिन्दू दार्शनिक ठाकुर बी० एन० शील ने "वैष्णव धर्म और ईसाइयत्" पर अपना प्रसिद्ध लिखित भाषण सन् १८९९ में रोम की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में पढ़ा था। फिर आगे चल कर उनके कालिज के साथी स्वामी विवेकानन्द, (१८६३—१९०२) ने १८९३ में चिकागो की धार्मिक पार्लमेंट में भाषण देने के उपरान्त अमेरिकनों को यह बताया कि किस प्रकार वेदान्त की हिन्दू दार्शनिकता से बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म ने अनेक तत्व लिए हैं। कई विचारकों का ध्यान इधर ईसाइयत के उन पुराने लेखों की ओर गया है, जब ग्रीको रोमन जगत में—सिनो इन्डियन जनता से सहयोग किया गया था और नए विचार और नयी कला तथा नयी संस्कृति का जन्म हुआ था।

भारत का नेतृत्व

भारत, हिन्दू धर्म का प्रांगण है किन्तु उसके मध्य में अनेक मूल्यवान संस्कृतियां विचार और धर्म आए। भारत अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का केन्द्र रहा है। यहाँ ही सब मत और धर्म के लोग एकत्र हुए। भारत अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दृष्टि से तुलनात्मक धार्मिक तथा दार्शनिक विवेचनों के लिए संसार का विश्व विद्यालय था। उसने पूर्व और पश्चिम दोनों का विश्व में नेतृत्व किया। अपने ज्ञान तथा आध्यात्मिक विचारों से जगत को प्रभावित किया।

सुदूरपूर्व में हिन्दुत्व

न केवल पश्चिमी देशों में, बल्कि सुदूर पूर्व में भी हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म ने प्रवेश किया। हिन्दुत्व और बौद्ध धर्म चीन और जापान में एक साथ बढ़े। चीन ने कनफ्यूषस के सिद्धान्तों के साथ-साथ हिन्दू धर्म को भी अपनाया। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म ने सम्मिलित रूप से मानवता और समाज की नैतिक नींव डाली। भारत ने चीन के साथ मिल कर साहित्य, कला और धर्म का मार्ग प्रशस्त किया। इसके सिवा सुदूर पूर्व के देश कोरिया, जापान, तथा ब्रह्म देश, श्याम, कम्बोडिया, अनम, वियतनाम, इन्डोनेशिया, मलाया और सीलोन सभी हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म के आगे नत हुए। इन सब देशों ने भारत के महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन किया और कलाओं का अनुसरण किया। पूर्व और पश्चिम में भारत की संस्कृति, दार्शनिकता और कला का संग्रह एशिया की महान इनसाइक्लोपीडिया है।

भारत में धर्म और संस्कृतियां

भारत संसार का उप-महादेश—जिसमें करीब ४० करोड़ प्राणी बसते हैं और जिनमें हिन्दुओं की प्रधानता है, स्वतः एक समस्या उत्पन्न करता है; क्योंकि वह भिन्न-भिन्न धर्म, दार्शनिक तत्व, तथा सामाजिक

जीवन का संगम है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति तथा हिन्दुत्व के प्रति संसार की जिज्ञासा है। आज से पहले कोई यह नहीं कह सकता था कि ऐतिहासिक खोज यह साबित करेगी कि भारतीय संस्कृति—ईसा के चौथवी शताब्दी के पूर्व—अलैक्जेन्डर के भ्रमण से परे की नहीं है। किन्तु आज की खोज हमें बताती है कि भारतीय संस्कृति ईसा के जन्म से ४० लाख वर्ष पूर्व की है। सिंधु की सभ्यता की यह खोज सन् १९२२-२६ में प्रोफेसर आर० डी० बनर्जी ने की। उससे यह प्रकट हुआ कि भारत की कृषि और व्यापार, नगर निर्माण और नागरिक सुविधाएँ कितनी उन्नत थीं। मेसोपोटेमिया और मिश्र में हमने स्वतः अपनी आंखों से अनेक चीज़ें देखीं जिनसे हमें सिन्धु की उस सभ्यता का स्मरण हो आया जिसका पूर्ण वर्णन सर जॉन मार्शल और उनके अमेरिकन सहयोगी अर्नेष्ट मेके ने किया। मिश्र और मेसोपोटेमिया के शिला लेख और उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थ तथा पत्रों की प्रतिलिपियां ली गयीं और उनके अनुवाद किए गए। यद्यपि ये सब चीजें अभी तक पूरी नहीं पढ़ी जा सकी हैं, किन्तु जो कुछ पढ़ा जा सका है उस पर हमारे सिंधु की छाप पड़ती है। भाषा और कला-कौशल, तथा रीति रिवाज का जो परीक्षण किया गया, उससे यह आश्चर्यजनक परिणाम निकला कि मेसोपोटेमिया और हिन्दुओं के जीवन में समानता रही। टेरा कोटा और तांबे पीतल की मूर्तियां और उनके वाहन आदि प्राचीन काल के चिह्न तथा पात्र जो उपलब्ध होते हैं उनसे यह प्रकट है कि मिश्र और बेबोलीनिया की प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति हिन्दू धर्म तथा संस्कृति से प्रभावित थी। पशुपति अपनी संगिनी मातृ देवी, जो भारतीय कला में प्रकट होती है, हम उसे पश्चिम एशिया और ऐजियो-मिश्र में भी पाते हैं, जो ईसा से ३०००—१५०० वर्ष पूर्व है। इसके अतिरिक्त योग, तपस्या तथा मंत्र और धार्मिक दृश्य के जो मिश्रण भारतीय कलाकारों ने प्रकट किए हैं, वे चिह्न मिश्र आदि में पाए जाते हैं। हरप्पा की संस्कृति से कला, सभ्यता और सैनिक कारीगरी के विकास का दिग्दर्शन होता है। सिन्धु की घाटी में मृत्यु के उपरांत जिस प्रकार जीवन एक कल्पना माना गया, उस प्रकार मेसोपोटेमिया और नाइल की घाटी में भी माना गया।

सिन्धु की घाटी में

ईसा से २०००—१००० वर्ष पूर्व सिन्धु की घाटी में चार विभिन्न प्रकार की जातियां प्रकट हुयीं। उनमें आरम्भ में आर्यों ने पश्चिम से ईरान के मार्ग द्वारा प्रवेश किया। ईरानियों को ऐरियन अर्थात् आर्य सम्बोधित किया गया। ये आर्य इन्डो योरोपियन भाषा बोलते थे जो दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषा से जुड़ी थी। दणिण भारत की चार प्रमुख जातियों को इंडो-मेडीटेरियन कहा गया है। सम्प्रति, पूर्व आर्य और पूर्व द्रविड़ काल की भाषाएं और संस्कृतियों का जो अध्ययन किया जा रहा है और जो शोध हो रही है उससे अनेक अज्ञात तथ्य प्रकट हो रहे हैं।

वेदों की रचना

ईरानियों ने जिस प्रकार अवेस्ता के पवित्र ग्रंथों की और रचनाएँ कीं, जिनका संकलन जोरेस्टर ने किया, उसी प्रकार वैदिक काल के आर्यों ने वेदों के पवित्र मंत्रों के भाष्य और टीकाएँ कीं तथा दार्शनिक ग्रन्थ लिखे। काव्य तथा गद्य रचनाएँ कीं। प्रारम्भ में तीन वेद थे : ऋगवेद, सामवेद और यजुर्वेद। इन तीनों के संयोग से चौथे वेद अथर्वेद (ईसा से १००० वर्ष पूर्व) की रचना हुई। इन वेदों का प्रकाशन हारवर्ड ओरियंटल सीरीज में हुआ। इंडो-योरोपियन लोगों का यह सबसे प्राचीनतम साहित्य है। इससे प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि अंग्रेज, फ्रेंच, जर्मन और अमेरिकन विद्वान इन वेदों का शताब्दियों से अध्ययन कर रहे हैं और उनसे ज्ञान तत्व निकाल रहे हैं।

देवताओं की पूजा

यूनान, और भारतीय आर्य प्रकृति की पूजा करते थे। वे वर्षा और विद्युत के देवता, इन्द्र, सूर्य, मित्र, वरुण और नसत्य, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा विज्ञान के देवताओं के मंत्रों का उच्चारण करते थे। ईसा के पूर्व की चौदहवीं शताब्दी में इटइन और मिटानिस—दो आर्य जातियों से संघर्ष के जो संधि हुई थी उससे वेदों का परिचय मिलता है। हमें स्मरण है कि हमने अंकारा में खोज करने के उपरान्त 'हिटी कैप्टिल बोगेज कोई, को जाकर देखा था। हमने वहां शोध करने पर पाया कि हिटी की बोली इन्डो योरोपियन—आर्य भाषा थी और आर्य मिटनीस ने राजकुमारी का विवाह मिश्र के पेरोह से किया था। उस वंश से ऐसेटन की उत्पति हुई जिसने इस सुधार का प्रयत्न किया कि अनेक देवताओं की अपेक्षा सूर्य देवता की पूजा की जाए और जिसका विवेचन उसने वेद मन्त्रों द्वारा किया। ईसा से पूर्व (१३८०) अच्छे और बुरे—प्रकृति के अनेक रूपों की वैदिक आर्य पूजा करते थे, किन्तु प्रश्न यह उठा कि उन सब में वे किसकी वास्तविक पूजा करें? किसे उच्च मानें? इस प्रकार का प्रश्न उस महान मंत्र में उठता है जिससे वेदों का प्रचार जगत में हुआ। हम देखते हैं कि हिन्दू दार्शनिकता ने द्वैत के स्थान पर अद्वैत को महत्व दिया। जो असत्य है उसके स्थान पर सत्य बताया और जो मृत्यु है, नाशवान है उसके स्थान पर अमरता का संदेश दिया। वेदों ने अनेक के स्थान पर ईश्वर के एक रूप का जो निरूपण किया वह जगत में सर्व प्रथम था और उससे संसार के विद्वानों को मार्ग दर्शन मिला। वेदों ने मूर्त्ति पूजा को न माना। मूर्त्ति पूजा हिन्दू समाज के निम्न स्तर के लोगों में प्रचलित थी। आगे चल कर दार्शनिक तत्वों को विकृत किया गया और अन्त में वे ही मूर्त्ति पूजा के स्रोत बन गए। जीवधारियों के नेता प्रजापति, विश्व के रचयिता विश्वकर्मा, वाक् तथा वाणी की देवी, और पुरुष सबसे महान शक्ति आदि का विवेचन उपनिषदों ने किया।

पुरुष सूक्त का विवेचन

पुरुष सूक्त अर्थात् पुरुष मंत्र ने आगे चल कर सामाजिक क्षेत्र में भी अपने प्रतीक निर्माण किए। पुरुष सूक्त ने आज की चार जातियां नहीं, बल्कि चार वर्णों की रचना की—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। शूद्र से तात्पर्य (अवर, वर्ण, प्रपय) खेतिहर मजदूर से था जिनकी राष्ट्र में सबसे बड़ी संख्या थी। जब तीन प्रारम्भिक वेद, ऋग, साम और यर्जु का विस्तार चतुर्थ वेद अर्थवेद में हुआ, तब हम देखते हैं कि उसमें अनार्य या अत्यशूद्र का उल्लेख है जो तीन उच्च वर्णों की सहायता करते हैं कि वे समाज की व्यवस्था में योग दें।[1] वैदिक हिन्दुओं ने अपने धर्मशास्त्र की दार्शनिकता और विधि एवं वैधानिक संस्थाओं का विकास किया जिसकी श्रेष्ठता समस्त संसार के न्याय शास्त्रियों ने स्वीकार की। वैदिक तत्वों से हिन्दू कानून और प्रथाओं के विराट साहित्य का निर्माण हुआ।[2] इन धर्म शास्त्रों ने आर्यों को इजाजत दी कि वे सभी गैर-आर्यों को अपने में विलीन कर लें, हज्म कर लें और मिला लें। वेदों की इन व्यवस्थाओं ने विभिन्न जातियां और प्रथाएं तथा उस काल के एरियन और दक्षिण के द्रविड़ों को आत्मसात कर लिया था। बिना किसी भेदभाव तथा ऊंच नीच का खयाल किए सभी जातियां आर्यों में विलीन हुईं। दक्षिण वालों ने आर्यों की प्रथाएँ और संस्कृत भाषा, जो भारत की राष्ट्र भाषा थी, उसे मिलाया। भारत उप-महादेश के दक्षिण और उत्तरी भाग को संस्कृत भाषा जोड़ती थी। उस काल में भारत में सभ्यता का पूर्ण विकास हुआ था। कहना न होगा कि संसार उसे देख कर चकित हो उठा था। यह वह काल था जब विश्व में भारत का नेतृत्व था।

[1] नाग, अर्थशास्त्र, पेरिस १६२३

[2] Jolly Recht Und Sitte

आर्य ईसा के १०००—५०० वर्ष पूर्व उत्तर से दक्षिण की ओर गए, यहां तक कि वे सीलोन, लंका तथा तपरोवन तक पहुँचे। इस सबका उल्लेख यूनानियों ने किया है। महाभारत के काल में हम यह पाते हैं कि भारत में हिन्दू जाति का बड़ा विस्तार हुआ। आर्यों ने अधिक विस्तार किया और अनेक जातियां और संस्कृतियों को हिन्दू धर्म में विलीन कर लिया। उन्होंने दूसरी जातियां और संस्कृतियों को बिना किसी भेद भाव के हिन्दू धर्म में मिलाया। जब आर्य उत्तर में गंगा की घाटी से दक्षिण की ओर बढ़े तब उनका सामना अनेक वन जातियों से हुआ। वे सब जाति और वर्ण के लोग आर्यों में मिले और धीरे-धीरे हिन्दू धर्म ने नया रूप धारण किया। रामायण काल में उत्तर से दक्षिण और सीलोन तक भारत का परि-वेक्षण होता है। महाभारत काल में आर्य जाति का सबसे अधिक प्रचार हुआ। कोई भी संस्कृति तथा जाति अवशेष न बची। सभी को आर्यों ने हिन्दू धर्म में दीक्षित किया। इस प्रकार हिन्दू धर्म विविध धर्म, जातियां और संस्कृतियों की राष्ट्रीय इनसाइक्लोपीडिया बन गया। इस संस्कृति के अन्तर्गत समाज और जीवन की कलाएं, विधान, कला कौशल, धर्म और दार्शनिकता–सब कुछ का नया निर्माण हुआ। हापकिंस ने बड़ी योग्यता से आर्य जाति के विकास का वर्णन अपने महद् ग्रन्थ में किया है। भारत के महान ग्रंथ जिनमें १८ पुराण भी शामिल हैं, हिन्दू धर्म और हिन्दू आदर्शों का पूर्ण दिग्दर्शन करते हैं। वेदों के साथ इन सब का महत्व है जो हिन्दुत्व की पूर्णता को प्रकट करते हैं। इसके आगे १ हजार वर्षों तक (ईसा के ५०० वर्ष पूर्व से ५०० ईस्वी तक), हिन्दू धर्म की प्रगति न हुयी। आगे चल कर फिर सामाजिक विलीनकरण हुआ और आर्य जाति का एक नया कदम बढ़ा। राजनीतिक विस्तार भी हुआ। न केवल ब्राह्मण बल्कि क्षत्रियों ने या यों कहिए कि शासक वर्ग ने हिन्दू धर्म और दर्शन में नए तत्वों का समावेश किया। पंडित और पुरोहितों का प्रभाव बढ़ने पर गैर वैदिक या वेद विरुद्ध धर्मों का प्रार्दुभाव हुआ—जैन धर्म और बौद्ध धर्म। किन्तु दोनों पर उपनिषदों का छाया पड़ी थी। वेदान्त के तत्वों के आधार पर इन दोनों धर्मों का विकास हुआ। हिन्दू धर्म के नए नामकरणों से ये दो धर्म प्रगट हुए। अन्यथा वे हिन्दू धर्म के अंग ही हैं। इस नए वातावरण में उपनिषदों ने फिर नया विवेचन किया और 'एकम सत्' के रूप में विश्व की दार्शनिकता को प्रकट किया। इस विकास ने वेदान्त की अद्वैत दार्शनिकता को महत्व दिया। ये उपनिषद तथा दर्शन वेदों के तत्वों को प्रकट करने वाले हुए। शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी और रामानुज ने ग्यारहवीं शताब्दी में महा भाष्य लिखे। शंकर ने बौद्ध धर्म का मुकाबला किया जिससे वह भारत से तिरोहित हो गया। वर्तमान भारत में सर राधा-कृष्णन् और स्वर्गीय डा० एस० एन० दासगुप्त उस प्राचीन परम्परा के प्रसिद्ध दार्शनिक हैं जो हिन्दू धर्म का तत्व प्रकट करते हैं। वैदिक युग के अन्तिम काल तथा रामायण और महाभारत के काल में पुरुष और स्त्री ऋषि तथा ऋषिपत्नी—(ब्रह्मवादिनी) ने हिन्दू धर्म और हिन्दू तत्व ज्ञान (अर्थात् एक अनेक में) के विकास के लिए प्रयत्न किया। हिन्दू दार्शनिकता विभिन्न संघर्ष तथा अनेक मतभेदों को रखता हुआ भी—सम्पूर्ण में एकता स्थापित करती है। हिन्दुत्व तात्विक विचारों का जो विश्व कोष है और जिस वैदिक काल तथा मध्य काल के अनेक ग्रन्थों का समूह है उस पंक्ति में वर्तमान काल में महात्मा गांधी (१८६९-१९४८) और श्री अरविन्द (१८७२-१९५१) की विचार धाराओं ने उसे भविष्य के लिए महान तेजपुंज बना दिया है। हिन्दू धर्म में हम शिव और विष्णु के आधार पर शैव मत और वैष्णव मत का प्रसार पाते हैं। फिर हम सांख्य की दार्शनिकता को स्थान देते हैं, जिसकी छाया में दो विरोधी मत वैदिक काल में उत्पन्न हुए—जैन धर्म और बौद्ध धर्म। जैन धर्म ने पशु का बलिदान और हिंसा का पूर्ण रूप से निषेध किया। उसने अहिंसा का प्रचार किया और पार्श्वनाथ तथा महावीर जैसे तीर्थंकर के चरित्रों से व्यक्तिगत जीवन की पूर्णता प्रगट की। बौद्ध धर्म ने अपने संस्थापक बुद्ध के जीवन से व्यक्तिगत जीवन की पूर्णता प्रकट की। बौद्ध धर्म मैत्री की महानता और संयम की दार्शनिकता से विकसित हुआ और विश्व का प्रथम धर्म हुआ। यूनान के बौद्ध और रोम के बौद्धों ने भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार किया, जिसमें पश्चिमी पड़ोसी देश भी हैं। इसप्रकार बौद्ध धर्म मध्य

एशिया, चीन, कोरिया से जापान और समस्त दक्षिण एशिया में विकसित हुआ। हिन्दू और बौद्ध धर्म के संयोग से हिन्दू बौद्ध कला और शिल्प कारीगरी और संस्कृति का हजारों वर्ष (५००—१५००) तक प्रसार हुआ। इस काल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति विश्व में विकसित हुई।

हिन्दू धर्म, हिन्दुत्व और हिन्दू जाति पर विदेशियों ने जो कुछ लिखा है वह अधिक गहराई से नहीं है, किन्तु फिर भी उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अध्ययनपूर्ण है। हमें बड़ी शान्ति और स्थिर वृत्ति से हिन्दू धर्म के महान तत्वों का अध्ययन करना चाहिए। हिन्दुत्व एकीकरण की महान प्रवृति रखता है। हिन्दू धर्म अपने इस गुण के कारण संसार में विकसित हुआ और उसकी धाक स्थापित हुई। डा० विलसन ने हिन्दू सम्प्रदायों का विद्वतापूर्ण परिवेक्षण कर जो ग्रन्थ लिखा, वह आज से एक शताब्दी पूर्व प्रकाशित हुआ था। हिन्दू धर्म के विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों के मिश्रण से एक नया इतिहास बना है और एक नया प्रकाश समाज के सामने आया है। इस देश में बौद्ध काल के अन्तिम चरण में भी हम हिन्दू-बौद्ध संस्कृति का विकास पाते हैं। तिब्बत और सिरेदिया, चीन, जापान, इन्डोनेशिया, जावा, सुमात्रा, और बाली और इन्डोचीन में हिन्दू धर्म प्रसार पाया। वैष्णव और शैव मत तथा तान्त्रिक और शक्तिमत उत्तर भारत की संस्कृत भाषा और दक्षिण की भाषाओं में एक साथ मिलते हैं। हिन्दुत्व और बौद्ध का यह एकीकरण और सांस्कृतिक रूप दक्षिण पूर्व एशिया के लाखों और करोड़ों नर नारियों में स्थान पाया और वे इसके अनुयायी बने। बौद्ध मत और उसके उपरांत इस्लाम ने संयुक्त रूपमें जनता की श्रद्धा प्राप्त की। वे धर्म से परे हो सकते हैं; किन्तु यह नहीं कि वे धर्म विहीन हैं। योरप ने हिन्दू संसार में पुर्तगाल यात्री वास्कोडिगामा के रूप में (१००८) दक्षिण भारत में प्रवेश किया। यह वह समय था जब कोलम्बस अमेरिकन सागरों में इन्डो या इन्डिया की खोज में घूम रहा था। पुर्तगाल के कवि कोपस की काव्य-रचनाओं से लूसेड भारत और पूर्व की ओर आकर्षित हुआ था। उस समय भी भारत विश्व का स्वर्ग देश था। वर्षों के युद्ध के उपरान्त और मुस्लिम शासन में क्षीण होने पर भी सारे जगत के लिए भारत फिर भी वैभवशाली संस्कृति और सभ्यता का देश था और इस कैथोलिक कवि के एक शताब्दी उपरान्त दक्षिण भारत में प्रोटेस्टैन्ट डच मशीनरी अब्राहम रोकर्स (१६६०), आया। उसने संस्कृत सीखी और डच भाषा में हिन्दुत्व—(हिन्दूज्म या हेथेन्डम) पर पुस्तक लिखी। उसके एक शताब्दी उपरान्त पश्चिम ने डियूयेरेंस के उपनिषद पढ़े, जिन्हें पढ़ कर शापेनहार प्रभावित हुआ और गोथे की रचना से हिन्दू महाकवि कालिदास के आध्यात्मिक नाटक शकुन्तला के सम्बन्ध में अद्भुत प्रशंसा पढ़ी। अब इस शकुन्तला नाटक के अनेक अंग्रेजी और अमेरिकन अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार १५ से १८वीं शताब्दी तक व्यापार का प्रसार, युद्ध, और उपनिवेश के निर्माण में पश्चिम लगा रहा। उसने पूर्व पर अपना अधिकार कायम किया। बंगाल के कैथोलिक मिशनरियों ने अनेकों का धर्म परिवर्तन किया और रोमन अक्षरों में अपने मिशन की पुस्तकें बंगला में प्रकाशित कीं। (१७४०) श्रीरामपुर में ईसाई पादरियों ने बंगला में बाइबिल का अनुवाद किया। उसके उपरान्त भारत की अनेक देशी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद हुए। (१७६० से १८१० तक)

मुस्लिम आक्रमण के समय ग्राम धर्म परिवर्तन की धमकियों के कारण अकबर गैर मुस्लिम हिन्दू और ईसाई संतों से परामर्श करता है। वह एक धर्म के रूप में 'दीन इलाही' को जन्म देता है। उसके बड़े पोते राजकुमार दारा शिकोह ने हिन्दू-दार्शनिकों से सम्बन्ध कायम किया और उसका परिणाम यह हुआ कि फारसी में प्रथम बार वैदिक उपनिषदों का अनुवाद प्रकाशित हुआ। और उस अनुवाद का लैटिन भाषा में एक फ्रेंच विद्वान (एनक्यूटी ड्यू पेरन—१७३१-१८०५,) ने रूपान्तर किया। इसी विद्वान न पश्चिम की पारसी धर्म की धर्म पुस्तक'जेंड अवेस्ता'का अनुवाद किया। इस प्रकार पूर्व के अनेक पवित्र ग्रंथ प्रकाशित किए गए। पूर्व की महान पुस्तकों की सीरीज में अनेक ग्रन्थ अंग्रेजी में प्रकाशित हुए। इस प्रकाशन को शिकागो कांग्रेस से १८९३ प्रेरणा मिली, जो विश्व धर्मों की पार्लामेंट है। इस्लाम ने विश्व-धर्म के रूप में भारत पर प्रभाव

डाला और ८वीं शताब्दी (७००-१७००,) तक वह भारत में प्रभुत्व पूर्ण रूप में रहा। वह आक्रमणक रूप में आया और फिर आगे बढ़ता गया। इस बीच में मध्य काल में अनेक संत, दार्शनिक आए और उन्होंने समाज में मानव को भातृभाव और ईश्वरीय एकता का संदेश दिया।

रामानन्द, कबीर, दादू, नानक, (१५वीं शताब्दी) और चैतन्य (१६वीं शताब्दी) मीरा और तुकाराम (१७वीं शताब्दी) आदि इन सबने समान रूपमें प्रेम, धर्म और भक्ति का प्रचार किया, मानव के भातृभाव और ईश्वरके पितृ भाव को प्रकट किया। भारत में इस्लाम ने भी इसी प्रकार विश्व दार्शनिकता के रूप में सूफी-वादका विकास किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि महान मंगोल सम्राट अकबर (१५६५-१६०५) स्वतंत्रता-पूर्वक हिन्दू भारत में बढ़ा। राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) के जीवन और कार्यों ने नयी शक्ति दी। राममोहन राय वर्तमान भारत के पिता थे। उन्होंने मूर्त्तिपूजा की उपेक्षा की, वेदान्त का अध्ययन किया जो अद्वैत की आधारभूत दार्शनिकता है। राजा राममोहनराय ने मूल अरबी और फारसी में इस्लाम के धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया। उसके उपरान्त उन्होंने अंग्रेजी, लेटिन, ग्रीक और हिब्रो आदि भाषाओं पर अधिकार प्राप्त किया। इन सब भाषाओं को सीखा, उनके साहित्य का अवलोकन किया और ईसाई धर्म ग्रन्थों के विविध पाठ पढ़े। राजा राममोहन राय ने प्राचीन और नवीन टेस्टामेंट का गहरा पाठ किया। ईसाइयों द्वारा चारों ओर से आक्रमण होने पर भी राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म के एकत्व पर अपना मजबूत कदम रखा। इस आधार पर उन्होंने ईसाइयों का मुकाबला किया। उन्होंने वेदान्त के तत्व बंगला, हिन्दी और अंग्रेजी (१८१५-१६) में प्रकाशित किए। और प्रथम—हिन्दू 'एकत्व' मन्दिर ब्रह्म समाज की १८२८ में स्थापना की। उनके इस कार्य का समर्थन रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता देवेन्द्र नाथ ने किया। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ अमेरिका और पश्चिम में पूर्ण रूप से विख्यात हैं। रवीन्द्रनाथ ने गद्य और काव्य में भारत के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं को अधिक सुसंस्कृत रूपमें जगत को दिया। राममोहन राय और उनके उत्तराधिकारी ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बंकिमचन्द्र ने जो कुछ लिखा, रवीन्द्रनाथ ने उसे अखिल विश्व को दिया।

अब आध्यात्मिक संस्थाएँ आगे आयीं, उनमें कुछ उल्लेखनीय हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पंजाब में आर्य समाज और बम्बई में प्रार्थना समाज तथा जातिविरोधी वर्ग ने ब्रह्म समाज की नीव डाली। ब्रह्मसमाज के संस्थापकों ने जाति प्रथा का परित्याग किया। ब्रह्मसमाज के नेताओं में श्री केशवचन्द्र सेन, श्री पी० सी० मजुमदार और श्री शिवनाथ शास्त्री प्रमुख थे। ये सब सुधारक साधारण मतभेद रखते हुए भी राजा राममोहन राय के कृतज्ञ थे। उन्होंने ब्रह्म समाज के लिए उनका नेतृत्व माना। राजा राममोहन राय आध्यात्मिक शांति प्रदान करने वाले और तुलनात्मक धर्म विज्ञान के संस्थापक थे।

एकेश्वरवादी ब्रह्म को मानने वालों ने ग्रामीण संत श्री रामकृष्ण परमहंस, (१८३६-१८६६,) को खोज निकाला। रामकृष्ण परमहंस का आध्यात्मिक जीवन था और हिन्दू धर्म में निष्ठा अभूतपूर्व थी। उन्होंने जो धर्म तत्व प्रकट किए, रोमा रोलेंड ने अपने ग्रंथ में उनका विशद उल्लेख किया है। रोमारोलेंड ने राम-कृष्ण परमहंस की जीवनी ही नहीं लिखी, बल्कि उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द पर भी लिखा। रोमा रोलेंड ने फ्रेंच भाषा में लिखा था। उसका अनुवाद अंग्रेजी और योरप की अन्य भाषाओं में हुआ। इन जीवनचरित्रों से वर्तमान संसार को शक्तिशाली हिन्दुत्व का परिचय मिला।

विवेकानन्द (१८६३-१९०२,) ब्रह्म समाज के सदस्य थे। वे फिर रामकृष्ण संघ में शामिल हुए। उसके उपरान्त श्री पी० सी० मजुमदार, (जिन्होंने १८८३ और १८९३ में अमेरिका में भ्रमण किया था) के प्रोत्साहन से विवेकानन्द अमेरिका गए और चिकागो की धार्मिक पार्लामेंट में अपना भाषण देकर संसार को स्तब्ध कर दिया था। धर्मपाल ने भी चिकागो में अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध धर्म का (१८९३) संदेश दिया था। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम के महान उन्नायकों ने अर्ध-शताब्दी पूर्व प्रेम और आध्यात्मिक

विचारधारा से संसार को जाग्रत किया था। ऐतिहासिक नगर चिकागो में भारत और पूर्वीय देशों के ग्रन्थों का अपूर्व संग्रह है।

स्वामी विवेकानन्द पहले भारतीय थे, जिन्होंने भारत और अमेरिका के बीच में आध्यात्मिक संबंध जोड़ा था। उनके सहयोग में मैक्समूलर और विलियम जेम्स थे। जेम्स ने विभिन्न धर्मों के अनुभव पर एक ग्रन्थ लिखा था। स्वामी विवेकानन्द का १९०२ में यकायक स्वर्गवास हो गया, किन्तु जिस रामकृष्ण मिशन की मई १८९७ में स्थापना हुई थी, उसका कार्य आज भी जारी है। और सच्चे कर्मी इस संस्था को चला रहे हैं। रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ अमेरिका और योरप के अनेक देशों में खुली हैं, जो विभिन्नता में एकता का संदेश देती हैं।

विवेकानन्द की मृत्यु के एक दशक उपरान्त अमेरिका में नए भारत के दार्शनिक महान कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, (१८६१-१९४१,) गए। प्रथम महायुद्ध के पूर्व सन् १९१३ में रवीन्द्रनाथ टैगोर अमेरिका गए थे और फिर युद्ध के उपरान्त सन् १९२१, १९२९ और १९३० में अमेरिका गए। उनकी पिछली यात्रा के समय हम उनके साथ थे। हमने अपनी आँखों से देखा कि अमेरिका के आध्यात्मिक जागरण से उन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने कहा था कि आध्यात्मिक संयोग से भारत और अमेरिका मानवता के कल्याण और विश्व शांति के लिए एक होकर कार्य कर सकेंगे। रवीन्द्रनाथ ने अपना हिवर्ट का भाषण मानव धर्म (१९३०,) पर दिया था और यह कहा था कि वैदिक ऋषियों के वास्तविक उत्तराधिकारी के रूप में वे मानव की एकता और विश्वास की एकता चाहते हैं। टैगोर की कृत्ति साधना तथा Realisation of life हावर्ड तथा अन्य विश्व विद्यालयों के भाषणों के (१९१२) के आधार पर हैं। टैगोर की ये रचनाएं आज सबके गहरे अनुशीलन के लिए हैं।

भारत तथा एशिया, योरप और अमेरिका से सदा कह रहा है कि वे एक होकर खड़े हों। इस बढ़ते हुए इस भौतिक वाद को मिटाकर उस पथ पर आएं, जो ईश्वर ने मानव के लिए निर्मित किया है।

**

परम्परा से चली आने वालीं—निर्जीव रुढ़ियां एवं मृत विचार, किसी सजीव विश्वास का किंचित मात्र प्रहार लगने से चूर-चूर हो जाएँगे। वे उसे सहन न कर सकेंगी। नवीन और सजीव विचारों के पहिये को पुराने और मुर्दा विचार किस प्रकार सहन कर सकते हैं।

—जॉन स्टुअर्ट मिल



सनातन धर्म में तत्वतः जातिभेद नहीं है

श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। —गीता

सनातन धर्म क्या है ?

मानव जीवन की ज्ञानयुक्त पद्धति को सनातन धर्म कहते हैं। वेद इसका मूल है, "वेदोऽखिले धर्म-मलम्" (मनुस्मृति)। वेद शब्द का अर्थ है स्वानुभूत ज्ञान। इसी अर्थ में 'अनन्त : वै वेदा हैं (वद अनन्त हैं)' कहा जाता है। कारण, ज्ञान की कोई इयत्ता नहीं है, ज्ञान अनन्त है। अनन्त को जो जानता है, वही वदज्ञ है। जिन ग्रन्थों को हम वेद कहते हैं, वे ऐसे ही अनन्त ज्ञान की निधि हैं। ज्ञान का अर्थ है, आत्म ज्ञान अर्थात् हम कौन हैं, यह जगत् (अन्वय व्यतिरिकपूर्वक) जिसमें हम रहते हैं, क्या है, इस के साथ हमारा क्या और कैसा सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध के अनुरूप अपना जीवन कर्म है, इसका ज्ञान। यह ज्ञान किसी मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं है। मस्तिष्क या बुद्धि तो केवल एक यंत्र है जिसके द्वारा इस ज्ञान का स्वयं प्रकाश होता है। इसीलिए वेद किसी पुरुष का ज्ञान नहीं, अपौरुषेय है। अपौरुषेय वेद का ज्ञान सबके लिए सम्भव नहीं है। मनुष्य मात्र में बुद्धि है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर बुद्धि त्रिविध होती है। राजस-तामस बुद्धि के लिए भौतिक ज्ञान का लाभ सम्भव है, क्योंकि वह इन्द्रिय ग्राह्य है। पर अतींद्रिय आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश अत्यन्त शुद्ध, सूक्ष्म और एकाग्र सात्विक बुद्धि पर ही पड़ सकता है. अन्यत्र नहीं। इसीलिए वेदों में सब का अधिकार होना संभव नहीं है। बहुत थोड़ ही लोग एसे होते हैं, जो व्रतस्थ होकर वेद का साक्षात्कार कर पाते हैं। जिन त्रिकालदर्शी महर्षियों ने अनन्य योग के द्वारा इन वेदमंत्रों का साक्षात्कार किया वे हमारे ही नहीं समग्र मानव जाति के आदि पुरुष हैं। उन्हें हम ऋषि कह कर सम्मान करते हैं।

वेद धर्म का मूल है

यह स्वानुभूत ज्ञान स्वरूप वेद ही सब धर्मों के प्रवर्त्तक हैं। धर्म तो एक ही है और वह है वह कर्म जिससे हमें आत्मज्ञान हो, उस परमात्मा का ज्ञान हो, जो अखिल विश्व और उसके समस्त प्राणियों और पदार्थों का

आत्मा है। हम उस जीवन मार्ग पर आ जाएँ, जिससे क्रमशः उन्नत होकर हम उस परम को प्राप्त कर लें। मानव जीवन का यही अन्तस्थ लक्ष्य है। यही कारण है कि मनुष्य चाह जो उद्योग करे, संसार का चाहे जितना वैभव संग्रह कर ले, वह तब तक सुखी, शान्त और सन्तुष्ट नहीं हो सकता, जब तक वह आत्मज्ञान कराने वाले धर्म-मार्ग पर न हो। पर यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि हर किसी को धर्म के मूल अखिल वेद का स्वयं ही अध्ययन करना पड़े और न यह सब के लिए सुलभ है। जैसे फल खाने के लिए वृक्ष के मूल में नहीं जाना पड़ता अथवा अपनी प्यास बुझाने के लिए हिमालय के गोमुख शिखर पर नहीं चढ़ना पड़ता, क्योंकि वृक्ष की जड़ का सारा गुण फल में ही सुलभ है, अथवा जो गंगा गोमुख से निकलती है, वही हरिद्वार या प्रयाग में है। वैसे ही जो कुछ वेदों में है, वही स्मृतियों में है। इसीलिए कहा है—

वेदोऽखिले धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्च साधू नामात्म स्तुष्टिरेव च॥

—मनुस्मृति अ० २, श्लो० ६

अर्थात्—"अखिल वेद धर्म का मूल है, उस वेद को जानने वालों की स्मृति और शील, सत्पुरुषों के आचार और अपने अन्तरात्मा का संतोष सभी फलरूप में धर्म के ही मूल हैं।"

सनातन धर्म की तारतम्यता

अपने धर्म को जानने और धर्म मार्ग पर चलकर मानव जीवन के परम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के लिए इनमें से किसी-न-किसी का आश्रय अनिवार्य है। स्मृतियों का ही विस्तार पुराणों में है। श्रुति और स्मृति दोनों को पुराण और भी अधिक सुलभ कर देते हैं। वेदों के जानने वाले कोई बिरले ही होते हैं। स्मृतियों को जानने वाले उनसे अधिक; पुराणों को सभी पढ़कर या सुनकर समझ सकते हैं। गोमुख से गंगासागर तक गंगा का यह एक ही प्रवाह है। कोई भी अपनी योग्यता और परिस्थितियों को समझ कर कहीं भी अवगाहन-मार्ज्जन कर सकता है। साधु पुरुषों का सत्संग इसमें परम आवश्यक है। साधु पुरुष उन्हीं को कहा जाता है, जो परम लक्ष्य के साधक हैं। उनके संग से उनके आचार देखने को मिलते हैं। ग्रन्थ से जो कुछ पढ़ा या सुना जाता है वह मस्तिष्क में ही रह जाता है अथवा अपनी व्यस्तता के कारण नहीं भी रहता है। परन्तु साधु पुरुषों के आचार देख-देख कर मनुष्य ज्ञान और शीलयुक्त कर्म की शिक्षा अनायास प्राप्त करता है। जिस पुरुष में अपनी श्रद्धा हो, जिसे देखकर अपनी अन्तरात्मा को संतोष मिलता हो ऐसे पुरुष का संग धर्म मार्ग पर अत्यावश्यक है। कहते हैं संग से आदमी की पहचान होती है। इस प्रकार श्रुतियों से लेकर हमारी अपनी संतुष्टि तक एक ही श्रुति परम्परा है। कहीं भी रहें, इस परम्परा में रहें, यह सनातन धर्म है।

मानव धर्म है

यह परम्परा है, हमारी ही नहीं, अखिल मानव जाति की। यदि मानव जाति का कोई अंश इसे भूल जाए और अपने वैयक्तिक, राष्ट्रीय अथवा वाद विशेष जनित अहंकार से विमूढ़ होकर इसका आश्रय ग्रहण न करे, तो यह उसका दोष है, इस परम्परा का नहीं। यह सांप्रदायिक अहंकारजनित कोई सम्प्रदाय नहीं; यह मानव धर्म है। कारण मानव जीवन का लक्ष्य ही यह है कि जगत् जिसने अपने परमानन्द से उत्पन्न किया उसी के अनुरूप यह जगत् आनन्दधाम बने, इस जगत् का प्रत्येक मनुष्य उस लक्ष्य की सीध में आकर स्वयं परमानन्द को प्राप्त हो और समस्त जगत् को अपने आनन्द से भर दे। जो लोग या जो राष्ट्र इस लक्ष्य को भूल गए उन्होंने उस सुख का पीछा किया जो अति दारुण दुःख का केवल एक अति मोहक रूप है। उन्होंने सत् को छोड़कर उस असत् का पीछा किया, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य पशु बन गया, पशु से भी निम्नतर असुर और राक्षस बन गया और अपनी ही कृति से आज भयविकम्पित हो रहा है। आज

मनुष्य मनुष्य को ही खाने दौड़ रहा है ; मनुष्य मनुष्य से कोई प्रेम नहीं। स्नेह का कोई संचालन नहीं, शत्रुत्व करने की शक्ति का संवर्द्धन करना ही एकमात्र लक्ष्य हो गया है। मानव जीवन के लक्ष्य से ही विमुख होने का यह परिणाम है। मानव जीवन का लक्ष्य तो वही है, जो श्रुति परम्परा से हम इस क्षण तक सुनते आए हैं। अपने चिदानन्द स्वरूप का बोध हो और सच्चिदानन्द भगदात्मा के आनन्दमय जगज्चरणों में हमें अपने आनन्द की अंजलि भर-भर कर अर्पण करें। यह केवल पारलौकिक सुख की बात नहीं, इसी लोक में इसी जगत् को आनन्दधाम बनाने की चिरंतन भावना है।

वर्णाश्रम व्यवस्था

सनातन धर्म कहने से वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रश्न आता है, जो वर्णाश्रमविहीन जगत् की समझ में नहीं आता। यह मानना पड़ेगा कि इस समय यह व्यवस्था इतनी बिगड़ी हुई है कि वह है भी या नहीं, इसमें सन्देह है। पर फिर भी यह देखना है कि इसमें कुछ भलापन है या नहीं और यदि कुछ है और लेने योग्य है तो वह लेना चाहिए। थोड़ी देर के लिए हम यह कल्पना करें कि सारे जगत् में वर्णाश्रम व्यवस्था स्थापित है तो हम क्या देखते हैं? यही दृश्य सामने आता है कि प्रत्येक मनुष्य परम पिता परमेश्वर से अपना सम्बन्ध जोड़े हुए है। उसने ईश्वर को इन बाहरी नेत्रों से देखा तो नहीं है, पर हृदय के श्रद्धा चक्षु से वह देख रहा है कि इस सारे जगत् की और मेरी भी सत्ता का आधार वही है; समझ रहा है कि उसको जानना चाहिए। चाहे वह और कुछ भी न जानता हो पर यदि इतना ही जानता है कि उस परम पिता परमेश्वर के पास पहुँचने में ही मानव जीवन की चरितार्थता है, तो वह कुछ न जानता हुआ भी बहुत कुछ जानता है। फिर जो जगत्पिता को मानता है वह मानव मात्र को अपना भाई मानता है और सब प्राणियों से प्रेम करना वह सीखता है। जागतिक वैभव प्राप्त करने की ओर से उसके मन का झुकाव परम लक्ष्य की ओर लगी हुई दृष्टि से नियंत्रित हो जाता है। यह एक एक व्यक्ति की बात हुई। ऐसे व्यक्तियों से बना हुआ अखिल मानव समाज ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही सुखों की कामना से प्रेरित होता है। उसकी भौतिक अभ्युदय की अभिलाषा निश्रेयस् की अभिलाषा से नियंत्रित होती है। भौतिक अभ्युदय में तीन प्रधान वस्तुएँ हैं—स्त्री, धन और मान, शक्ति-प्रभुत्व। समाज 'वर्णों' में बँट जाने से स्त्री-सम्बन्धी लोभ प्रत्येक व्यक्ति का अपने वर्ण से मर्यादित हो जाता है। उसके बाहर उसकी दृष्टि नहीं जाती। धन मुख्यत: रहता है व्यापारियों के हाथ में, पर बँट जाता है सब वर्णों में, तत्तत् वर्ण की आवश्यकता के अनुसार। धन परिचर्या करने वालों को मिलता है, राजकोष में आता है, यजन याजन करानेवाले ब्राह्मणों को मिलता है, पर धन का आगम रहता है,वैश्यों के ही हाथ में। वैश्य समाज के खजांची होते हैं। वे अपने इस धन के बल पर कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते जो धर्म के विरुद्ध हो। उनके हाथ में धन का दुरुपयोग करने का न कोई अवसर है, न शक्ति, न इच्छा ही। सारी शक्ति राजन्य वर्ग के हाथ में है। पर इस शक्ति का दुरुपयोग राजन्य वर्ग भी न कर सके, इसलिए सम्पूर्ण राजनीति और सारे राष्ट्र की शिक्षा-दीक्षा उस वर्ग के हाथ में है, जिसका जीवन प्रधानत: आध्यात्मिक है,जिसके पास न राजबल है, न धनबल। उसका बल है आत्मबल। यद्यपि सब वर्णों में यह श्रेष्ठ और सर्वमान्य है। पर यह मान उसे अभीष्ट नहीं है। अन्य वर्णों का दिया हुआ है। पर है यह स्वत: सिद्ध, उसमें कोई लगाव नहीं है।

यह एक ऐसा संतुलन है, जिसमें गुण-कर्म विभाग जनित वर्गभेद के रहते हुए भी सारा समाज अपने समस्त अवयवों के साथ अपना एकत्व अनुभव करता है और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता या संघर्ष का कोई अवसर नहीं रहता। मानवसमाजकी ऐसी एकत्वानुभूति अन्य किसी प्रकार की समाज व्यवस्था में अब तक नहीं देखी गयी है।

ऐसी व्यवस्था किसी समय पृथ्वी पर थी, कम-से-कम भारतवर्ष में तो थी ही। पर वह क्षीण होती गयी और आज इसकी जो दशा है, वह हमारे सामने है। आज यह व्यवस्था टूटती जा रही है और उसके स्थान में नए आदर्श का नया समाज नए तरीकों से गढ़ा जा रहा है।

आज का जीवन

भौतिक दृष्टि से हम सब जगत् के एक दूसरे के अत्यन्त समीप आ गए हैं। पर आध्यात्मिक दृष्टि से मानव मानव से बहुत दूर चला गया है और मानव मानव के बीच अनियंत्रित स्वार्थपरता, बेईमानी, प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष का दायरा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ता जा रहा है। इसका कारण क्या है? इसका कारण है कि संसार में इस समय अर्थ और काम की प्रधानता हो गयी है, आध्यात्मिकता और नैतिकता के लिए इसमें कोई स्थान नहीं रहा है। भगवान राम का जब राज्य हुआ, तब कहते ह कि संसार में विस्तृत उस आध्यात्मिक और नैतिक प्रकाश में :—

अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा॥

अधर्म और अनीति के लिए कहीं कोई ठिकाना नहीं रह गया, सब चोर की तरह भागे और नष्ट हो गए। पर इस समय संसार में ठीक इसके विपरीत हो रहा है। धर्म, नीति और अध्यात्म ही खत्म हो रहे हैं। इसका कारण यही है कि जो व्यवस्था जिन सनातन तत्वों पर आधारित थी, उसे हमने अपने आचार और विचार के क्षेत्र से सर्वथा हटा दिया है, समाज के विभिन्न अवयवों का संतुलन खो दिया है और "कर्त्तुम कर्त्तुमन्यथा कर्त्तु" की सारी शक्तियाँ केन्द्रीभूत कर ली हैं।

आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा

भौतिक दृष्टि और आध्यात्मिक दृष्टि में अन्तर यही है कि भौतिक दृष्टि केवल तन, मन, प्राण ही देखती है और उसी की उन्नति की कामना करती है। यह ऐहिक अभ्युदय की कामना है जो अर्थ से साधित होती है। इस दृष्टि में केवल अर्थ और काम ही होते हैं। ऐहिक जीवन इनके बिना सम्पन्न नहीं होता है। पर यह केवल बाह्य जीवन को देखनेवाली बाह्य दृष्टि है। आध्यात्मिक दृष्टि अन्तर में देखती है, जिस शरीर के ये तन, मन, प्राण हैं उस शरीर आत्मा को वह नहीं भूल सकती, प्रत्युत् तन, मन, प्राण का विचार भी वह अपने इसी आत्मा के आधार पर करती है। जगत् के सब प्राणियों का परस्पर प्रेम में बँधना और सम्पूर्ण प्राणीजगत् का एकत्व अनुभूत करना इसी आत्मतत्व में ही सम्भावित है; क्योंकि देह, प्राण या मन बुद्धि की एकता असम्भव है। सब के तन, मन, प्राण अलग-अलग हैं, वे एक नहीं हो सकते। आत्मा सब का एक है और वह प्रेमानन्द स्वरूप है। अतः इसी आत्मा के आधार पर सब की एकता और सब का परस्पर प्रेम प्रतिष्ठित हो सकता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। यही सनातन तत्व है। आज इस व्यवस्था को कोई माने या न माने, पर उसके इस सनातन मूल को जो नहीं मानता वह आत्महनन करता है। इस मर्त्य शरीर में केवल आत्मा ही अमर है। हम अमर हैं आत्मा के ही नाते। आत्मा का याने अपने ही असली स्वरूप का अमृतत्व, सब के साथ अपना एकत्व और सब में उस प्रेममय आत्मा को अनुभव करना ही मोक्ष या निश्रेयस् है, जो मानव के वैयक्तिक और सामाजिक तथा जागतिक जीवन का परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य को हम जैसे-जैसे भूलते गए, वैसे-वैसे यह व्यवस्था उत्पन्न होने लगी। सब की दृष्टि बहिर्जगत् पर ही केन्द्रीभूत हुई, यह ध्यान छूट गया कि बहिर्जगत् अन्तर्जगत् पर टिका हुआ है, बाह्य शरीर अन्तरात्मा के ही आधार पर स्थित है, निश्रेयसहीन भौतिक अभ्युदय ही परम लक्ष्य बन गया! अभ्युदय और निश्रेयस् मिलकर ही सम्पूर्ण मानव की परिपूर्ण उन्नति है। इसमें से कोई भी अंश त्याग करने योग्य नहीं।

यतोभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः।

यही सनातन धर्म की व्यवस्था का सनातन मूल है। निश्रेयस् के विचार से रहित ऐहिक अभ्युदय की मानवीय आकांक्षा सब बुराइयों की जड़ है।

सनातन धर्म में तत्वतः जाति भेद नहीं है

महाभारत में अनेक स्थलों पर यह चर्चा आयी है कि मानव मानव एक दूसरे के भाई-भाई होने का अपना सहज स्नेहयुक्त नाता भूलकर एक दूसरे के शत्रु क्यों बन जाते हैं। इसका एकमात्र उत्तर यही मिलता है कि मानव जीवन का व्यक्तिगत, समाजगत और विश्वगत जो परम लक्ष्य है, उसको भुला देने से ऐसा होता है। उदाहरणार्थ, उद्योगपर्व की यह शिक्षा है :

गोत्रजः सहज शत्रुरित्य सौ
नीतिरस्तु धनलोभ दूषियाम्।
वृद्ध तुल्य लघु पुंवृत्तं जगत्
धी धनस्य पितृ मित्र पुत्रवत्॥

"धन लोभ से जिनकी बुद्धि दुष्ट हो गयी है, उनके सगे सम्बन्धी भी उनकी दृष्टि में शत्रु हो जाते हैं। पर, परम लक्ष्य के साधन में लगी हुई बुद्धि ही जिनका धन है, उनकी दृष्टि में जगत् के सब लोग अपने हो जाते हैं, उनमें जो बड़े हैं वे पिता के समान, बराबरी के हैं वे मित्र के समान और छोटे हैं वे पुत्र के समान।"

समाज-व्यवस्था के इस सनातन मूल्य की विस्मृति या उपेक्षा संसार में सब से बड़ा खतरा है, सब खतरों की जड़ है। इसके विपरीत इस सनातन मूल्य पर अपने आप को और अपनी नयी पुरानी सब संस्थाओं और व्यवस्थाओं को प्रतिष्ठित करना संसार में अमृतत्व, एकत्व, परस्पर प्रेमानन्द को उतार लाना है।

वर्ण-व्यवस्था सामूहिक जीवन है,तो आश्रम-व्यवस्था वैयक्तिक जीवन। वर्ण धर्म कभी बदलता नहीं, वंशानुक्रम से वह एक अखण्ड परम्परा है। आश्रम धर्मक्रम से बदलता है, बाल्य और यौवन में ब्रह्मचर्य, यौवन और प्रौढ़ावस्था में गार्हस्थ्य और इसके बाद वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्याश्रम में व्रतस्थ होकर धर्म का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना गृहस्थाश्रम में प्रजोत्पादन और ऐहिक अभ्युदय लाभ करना, वानप्रस्थ में अपनी सम्पत्ति संतति को सौंपकर लोकोपकार करते हुए एकमेवा द्वितीय पर ब्रह्म परमात्मा की ओर आगे बढ़ना और संन्यास में परम साक्षात्कार करना, यही इस आश्रम-व्यवस्था की क्रमागत परिणति है। धर्म, अर्थ और काम तथा मोक्ष ये चतुर्विध पुरुषार्थ इस प्रकार इस आश्रम क्रम में बँट जाते हैं। धर्म से आरम्भ है, मोक्ष अर्थात् उस आत्म-स्वरूप में अवस्थान। इसका अन्त जो अनन्त अमर जीवन का आरम्भ मात्र है। यह धर्म द्वारा नियंत्रित ऐहिक अभ्युदय की सम्पूर्णता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य गृहस्थाश्रम के सब कर्त्तव्यों का पालन कर चुके तब वानप्रस्थ लेने की इच्छा प्रकट की। उनकी दो पत्नियाँ थीं, कात्यायनी और मैत्रेयी। दोनों को पास बुलाकर उन्होंने कहा कि, अब मैं इस आश्रम से प्रस्थान चाहता हूँ, अतः अपनी सब सम्पत्ति के दो विभाग कर तुम दोनों में बाँट देता हूँ। सब प्रकार के सांसारिक सुखों में रहती हुई भी मैत्रेयी का ध्यान अमर अनन्त आत्मजीवन में लगा रहता था, उसने याज्ञवल्क्य से पूछा, "भगवन्, यह सारी पृथ्वी सब वित्तों से परिपूर्ण होकर भी यदि मुझे प्राप्त हो तो उससे क्या मुझे अमृतत्व प्राप्त हो सकता है?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "नहीं, सांसारिक सुख साधनों से युक्त मनुष्य का जैसा जीवन होता है वैसा ही उससे तुम्हारा जीवन होगा, अमृतत्व की तो वित्त से कोई आशा नहीं (अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन)। इस पर मैत्रेयी कहती है—

येना हं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या
यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि॥

—बृहदारण्यक ४ ब्रा० ३

"जिससे अमृतत्व लाभ मुझे नहीं होगा उसे लेकर मैं क्या करूँ? भगवन्, मुझे यह ज्ञान बताइए जिसमें आप रमते हैं।" याज्ञवल्क्य मैत्रेयी के इस भाषण से बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने मैत्रेयी को आत्मा का परम गुह्य ज्ञान करा दिया।

वर्ण चार हैं, आश्रम भी चार हैं। पर आश्रममय जीवन का बन्धन केवल प्रथम तीन वर्णों के लिए है, जिनमें उपनयनादि संस्कार होते हैं। चतुर्थ वर्ण इस बन्धन से मुक्त है, उस पर उत्तरदायित्व भी उतना नहीं है। यह सामान्य नियम है। इसके अपवाद भी होते हैं। प्रत्येक वर्ण में कुछ ऐसे असाधारण व्यक्ति भी उत्पन्न होते हैं, जो जन्मतः सामान्य नियम से ऊपर उठे रहते हैं।

अस्पृश्यता जाति या वर्ण नहीं

यह चतुर्थ वर्ण है शूद्र, जिसके अन्दर अति शुद्र का भी समावेश किया जाता है। अत्यजादिकों को महात्मा गांधी अति शूद्र कहा करते थे, क्योंकि इनके पृथक् वर्ण की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसी कल्पना शास्त्र सम्मत नहीं होगी, क्योंकि पाँचवाँ कोई वर्ण नहीं है, यह आदि स्मृतिकार मनु ने स्पष्ट ही निर्देश कर दिया है। इन अत्यंजादिकों में तीन प्रकार के लोग हैं। कुछ वनवासी हैं जिनका नगरों और देहातों से बहुत ही कम सम्पर्क रहा है, कुछ ऐसे विदेशी हैं,जिन्हें हम ने अलग ही रखा, पर अब जिन्हें विदेशी मानना अपराध होगा और कुछ ऐसे हैं, जो समाज की सेवा करते हैं। इन में कुछ संकर भी हैं। पर इनमें से किसी का नाम 'अस्पृश्य' नहीं है। विदेशियों की भेदनीति ने यह नाम रखा और इसे खूब बढ़ाया। अस्पृश्यता की किसी मानव पर जन्मतः छाप नहीं है। अस्पृश्यता शुचिता के पालन में निषेध मुख से कही जानेवाली एक बात है। हम यदि शुचिर्भूत होकर पूजा में बैठे हों, तो हमारे बच्चों को इनकी माँ निषेध करती है कि "उन्हें छूओ, मत।" अथवा यदि बच्चों की माँ मासिक धर्म में होती हैं तो उसे अलग रहना पड़ता है, वे किसी को, किसी चीज को छू नहीं सकतीं। अस्पृश्यता का बस यही मूल है।

सनातन धर्म में अस्पृश्यता किसी जाति या वर्ण का नाम नहीं। किसी जाति या वर्ण को "अछूत" या "अस्पृश्य" कहना अपना अज्ञान प्रकट करना है। शुचिता का यह केवल निषेध मुख है। पर जहाँ शुचिता का कोई विचार नहीं है, वहाँ अस्पृश्ययता की कोई बात उठ ही नहीं सकती।

काशी में पंचगंगा घाट पर एक बड़े तपस्वी योगी रहा करते थे। उनके दर्शन और उपदेश श्रवण के लिए जो लोग जाते थे,उनमें से कोई भी उनके पैर तक नहीं छू सकता था चाहे कोई ब्राह्मण ही क्यों न हो। इसलिए नहीं कि हम सब अस्पृश्य थे, बल्कि इसलिए कि वे इतने शुचि थे। अस्पृश्यता की कोई सत्ता नहीं है, सत्ता है शुचिता की। प्रकाश को जैसे अन्धकार छू नहीं सकता, वैसे ही शुचिता को अस्पृश्यता स्पर्श नहीं कर सकती।

हरिजन नाम पड़ा

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता का निवारण कर दिया। पर शुचिता की प्रतिष्ठा का बहुत बड़ा काम अवशेष है। महात्मा गांधी ने यह बहुत बड़ा उपकार किया कि हीन नामों से सम्बोधित किए जानेवाले लोगों को सब से श्रेष्ठ नाम दिया। वह नाम है 'हरिजन'। कभी-कभी यह भय होता है कि यह पवित्र नाम इनके पहले के नाम का कहीं पर्याय न हो जाए। हरिजनों के सच्चे हितचिन्तकों और उनके नेताओं पर यह बड़ी जिम्मेदारी है कि इस नामकरण के द्वारा नाम में जो महती क्रान्ति हुई, वह उनके मन, वचन, कर्म में भी हो जाए। भारतीय साहित्य में मनुष्यों के लिए हरिजन से बढ़कर पावन नाम और कोई नहीं है। हरिजन उन्हें कहते हैं, जो हरि के हो गए, हरि ने जिन्हें अपना लिया। ये भगवान के स्वजन हैं, इसी दृष्टि से इन्हें हम देखें। इससे हमारी दृष्टि पवित्र होगी। और ऐसा करना यथार्थ भी है, क्योंकि देह तो सब की अत्यन्त मलीन ही है, पर उसके अन्दर रहनेवाला आत्मा अत्यन्त निर्मल है—

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्त निर्मलः।
असंगोऽहमिति ज्ञात्वा शौचमेतत्प्रचक्षते ।।

—श्रीमत् शंकराचार्यकृत "सदाचार स्तोत्र"

ऐसा समझना, ऐसा मानना, इसी दृष्टि से अपनी ओर और सब की ओर देखना ही शुचिता का मूल तत्व है। महात्मा गांधी की यही दृष्टि थी। हरिजनों के लिए उनके चित्त में बड़ा ममत्व था। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वे "अन्त्यज" हैं, अन्त में उत्पन्न हुए हैं। मानव-पुत्रों में सब से कनिष्ठ हैं। कनिष्ठ पुत्र पर पिता का सब से अधिक प्रेम होता है। पुत्रों में जो अधिक योग्य हैं, बड़े हैं और सब प्रकार से समर्थ हैं, उनकी उतनी चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि वे अपना कल्याण करने में स्वयं समर्थ हैं। जो असमर्थ हैं, माता-पिता उन्हीं की चिन्ता अधिक वहन करते हैं। मानव जीवन मात्र का जो परम लक्ष्य है, वह हरिजनों के जीवन का भी है। अतः उस लक्ष्य की सिद्धि में भगवान के दरबार में हम सब बराबर हैं, उन्हीं से उत्पन्न, उन्हीं के सनातन अंश हैं और उन्हीं के साथ, अर्थात सब के साथ अपने एकत्व का अनुभव कर हमें पूर्ण होना है, इसके लिए सर्वप्रथम हमें अपने देह, मन, प्राण और बुद्धि से यथासंभव अत्यन्त शुचि होना होगा। किसी भी सद्नुष्ठान के लिए सब से पहले शुचिता की आवश्यकता होती है। अशुचि अवस्था में कोई सदनुष्ठान नहीं होता।

हमारा सामूहिक जीवन

हम समाज की सेवा करते हैं। सभी वर्ण समाज की सेवा के लिए हैं। ब्राह्मण केवल पदपूजा प्राप्त करने के लिए नहीं। न यह उसका अभीष्ट है। प्रत्युत ब्राह्मण के लिए धर्म की यह व्यवस्था है कि वह मान-सम्मान विधिवत त्याग दे। (सम्मानात् ब्राह्मणोनित्यं उद्विजेत् विवादिवे।' मनुस्मृति अ०२,श्लोक १६२) पर साथ ही यह कहा है कि ब्राह्मण का कोई अपमान न करे। ('अवमन्ता विनश्यति)।' अपरिग्रहव्रती होकर सब वर्णों को तत्तद्वर्ण धर्म की शिक्षा देने के लिए ब्राह्मण का जन्म है। क्षत्रिय केवल सब पर प्रभुता जमाने के लिए नहीं, सब प्रजाओं का पुत्रवत् संरक्षण और पालन करने के लिए हैं। वैश्य केवल व्यापार के द्वारा दुनिया भर का सोना, चाँदी या तेल, कोयला और लोहा बटोरने के लिए नहीं, विश्व-कल्याण में अपना धन उत्सर्ग करने के लिए हैं। शूद्र केवल पेट भरने के लिए या पतित रहने के लिए नहीं हैं, वे सब वर्णों के कार्यों में सहायता करने के लिए हैं। ये सभी काम पवित्र हैं और स्वयं भगवान गीता में कहते हैं कि जो कोई अपने-अपने ये पृथक्-पृथक् कर्म पूर्ण कर सद्भाव और मनोयोग के साथ श्री हरि की सेवा जान कर करते हैं, वे मेरे हो जाते हैं और मैं उनका हो जाता हूँ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।

—गीता अ० १८, श्लोक ४५

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

—गीता अ० ६, श्लोक ३०

समाज की सेवा में यदि हमें कोई ऐसा काम करना पड़ता है, जो गन्दा है, तो जिनकी हम यह सेवा करते हैं, वे इसे चाहें जो कुछ भी समझें पर हमें तो उनकी यह सेवा ऐसे करनी है कि इससे उन्हें सुख हो और वे सुख-पूर्वक अपने स्वकर्म का पालन कर भगवान को प्रसन्न करें। किसी का मल-मूत्र धोना या मरे हुए जानवर को बस्ती से उठाकर बाहर ले जाना, इससे गन्दा काम और क्या होगा? पर यदि यह काम करनेवाला कोई न हो, तो हमारी अभी जैसी नगर रचना है, वह गन्दगी से ही भर जाएगी। इस गन्दगी को जो हटाते हैं, वे हमें गन्दगी से बचाते हैं, स्वयं अशुचिता वरण कर हमें शुचि रखते हैं। यह समाज के सामूहिक जीवन की बात है, इसे ठीक तरह से समझने के लिए हमें अपने कौटुम्बिक जीवन में इसका कौटुम्बिक स्वरूप देखना होगा। माता अपने बच्चों का मल-मूत्र साफ करती है, इसकी अशुचिता उसके अन्तःकरण को स्पर्श नहीं करती, क्योंकि अन्तःकरण में यह स्नेह है कि ये मेरे बच्चे हैं। इनका मल-मूत्र साफ किए बिना उसका चित्त निर्मल नहीं

होता। अशुचिता बाहर ही रह जाती है और वह मिट्टी और जल से धुल जाती है, स्नान से देह शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार नगर या ग्राम की गन्दगी दूर करनेवालों के अन्त:करण में यदि यह ममत्व और स्नेह हो कि हमारे ये बड़े भाई हैं, हमारे पिता के समान हैं, इनकी सेवा हमें सच्चे स्नेह से करनी चाहिए, तो अशुचि काम करते हुए भी उनका अन्त:करण शुद्ध रहेगा और बाहर की अशुद्धि मिट्टी और जल से धुल जायगी, स्नान से सर्वांग शुद्ध हो जाएगा। इसके विपरीत जहाँ कर्त्तव्यजनित स्नेह या स्नेह जनित कर्त्तव्य और बुद्धि का झुकाव होगा, कर्तव्य की उपेक्षा और कष्ट देकर संघर्ष के द्वारा अपना लोभग्रस्त अधिकार जमाने की चेष्टा होगी वहाँ शुचिता रह ही नहीं सकती। शुचिता की स्थापना सम्पूर्ण समाज में कौटुम्बिक स्नेह की स्थापना से ही हो सकती है और इसकी जिम्मेदारी जो कनिष्ठ हैं उन पर तो है ही, जो वरिष्ठ हैं उन पर भी है। इस विषय में उपनिषदों की यह शिक्षा ध्यान में रखने योग्य है कि जो ऐसा समझता है कि ब्राह्मण हमसे अलग हैं, उसे ब्राह्मण अपने पास से दूर कर देते हैं। जो ऐसा समझता है कि क्षत्रिय हमसे अलग हैं, उसे क्षत्रिय दूर कर देते हैं। जो ऐसा समझता है कि भूर्भुवादि लोक हमसे अलग हैं, उसे ये लोक दूर कर देते हैं। जो ऐसा समझता है कि देवता हमसे अलग हैं, देवता उसे दूर कर देते हैं, जो ऐसा समझता है कि सब प्राणी हमसे अलग हैं, सब प्राणी उसे अपने से अलग कर देते हैं।" पर जो यह समझता है कि ये सब अपनी आत्मा हैं, उसे कोई दूर नहीं कर सकता (बृहदारण्यक ४ ब्रा० ६)। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जिस किसी को हम अपने से दूर करते हैं, वह भी हमें अपने से दूर कर देता है। अत: सब एक-दूसरे को अपना समझें, आत्मा के नाते और समाज के नाते हम सब एक हैं ही।

ऐसे कौटुम्बिक स्नेहजनित सुख से व्याप्त हमारा समाज किसी समय नहीं था, ऐसा तो हम नहीं कह सकते। पर इस समय नहीं है, यह स्पष्ट है। यही कारण है कि इस समय समाज के विभिन्न अंगों में परस्पर स्नेह के स्थान पर स्पष्ट संघर्ष देख पड़ता है। गुरू और छात्र के बीच संघर्ष, वरिष्ठ और कनिष्ठ में संघर्ष, धर्म का नाम लेने वाले सम्प्रदायों में संघर्ष, पत्रकारों और पत्रस्वामियों के बीच संघर्ष, पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच संघर्ष, राजनीतिक दलों में तथा विभिन्न राष्ट्रों में परस्पर संघर्ष। इस संघर्ष से संसार अत्यन्त त्रस्त है। यह अशुचिता की पराकाष्ठा है। शुचिता की स्थापना होती है मानव मानव में परस्पर स्नेह से, स्नेह संवर्द्धित होता है धर्म से। धर्म संवर्द्धित होता है मानव जीवन के परम लक्ष्य से।

हिन्दू समाज तत्वतः एक है

हमारा समाज जो तत्वत: एक है, तब उसके अंग बाध्यत: एक-दूसरे से इतने पृथक् क्यों हैं? यह माना कि सब वर्णों के एक पृथक्-पृथक् कर्म हैं और अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन सब को करना चाहिए। कर्त्तव्य पृथक्-पृथक् होने पर भी सब कर्त्तव्य कर्म हैं। एक ही विश्व यज्ञ के कर्मांग मात्र। उस एक विश्व यज्ञ के अनुष्ठानों में सब के एक होने का भी कोई चिह्न, कोई प्रतीक होना चाहिए। इसी बुद्धि से यह बात उठी कि सार्वजनिक स्थानों में कोई अस्पृश्यता नहीं होनी चाहिए और देव-मन्दिरों में सब वर्णों से अन्त्यजों को पृथक् नहीं किया जाना चाहिए। पर इससे संघर्ष उत्पन्न हुआ। एक ओर एक तत्व की भावना थी और दूसरी ओर देव-मन्दिरों की शास्त्रीय मर्यादा की। इन दोनों में परस्पर संघर्ष का होना कभी अभीष्ट नहीं हो सकता। अत: समन्वय प्रधान बुद्धि से इसका समाधान होना चाहिए। जहाँ सामाजिक एकत्व की भावना है, वहाँ उसके साथ ईश्वर की भक्ति होनी चाहिए और उस भक्ति में कोई कलुषता या कृत्रिमता न होनी चाहिए। दूसरी ओर जहाँ शास्त्रीय मर्यादा की चिन्ता है, वहाँ सामाजिक एकत्व की भी भावना होनी चाहिए।

नए देव-मन्दिरों का निर्माण हो

इस दृष्टि से अखिल सनातनी हिन्दू समाज के द्वारा एक साथ भगवान् की सामूहिक पूजा तथा उपासना के लिए सर्वत्र नए देव या उपासना मन्दिर स्थापित किए जाने चाहिएं जिसमें सभी वर्णों के लोग भक्तिभाव से

एकत्र हो सकें और भगवदाश्रय में कुछ चिन्तन कर सकें, भगवान् का एक साथ ध्यान कर सकें। अभी जो हमारे देव मन्दिर हैं एक तो वे विवाद के गढ़ बन गए हैं और दूसरे उनमें यह काम नहीं हो सकता है। न तो उनमें इतना स्थान है कि पर्याप्त संख्या में लोग वहाँ एकत्र होकर स्वस्थ चित्त से बैठ कर भगवदुपासना का एक साथ लाभ उठा सकें और न उन का वातावरण ही ऐसा है जिसमें यह कार्य हो सके। वैयक्तिक रूप से भले ही कोई उपासना यहाँ हो सकती हो, पर सामूहिक रूप से नहीं हो सकती। फिर वहाँ के पंडे पुजारियों की दृष्टि एक-दूसरे ही प्रकार की होती है। अतः सामूहिक उपासना के लिए देव मन्दिरों का होना परम आवश्यक है। इन नए मन्दिरों में भगवान् की कोई ऐसी मूर्त्ति हो जो सब वर्णों के लिए समान हो और जिनमें सभी सम्मिलित हो सकें। इन मन्दिरों में पंडे पुजारियों की कोई आवश्यकता नहीं है। इनमें ऐसे धार्मिक प्रवचनों की व्यवस्था हो जिनसे सब को आत्म बुद्धि प्रसाद मिला करे। इन मन्दिरों का प्रबन्ध ऐसी समितियों के हाथ में हो जिनमें हरिजन आदि सभी वर्णों के लोग हों। महात्मा गांधी की जो प्रार्थना सभाएँ होती थीं उन्हीं के अनुरूप ये मन्दिर निर्मित हों। ये अत्यन्त लोकप्रिय होंगे, इनसे किसी का संघर्ष न होगा, सब के साथ मेल के ये केन्द्र बनेंगे। इनसे राष्ट्र में धार्मिक भाव का संचार होगा और शक्तिशाली हिन्दू जाति का निर्माण होगा।

समाज पर धर्म का नियंत्रण

अखिल मानव समाज के एक ही विश्वात्मा के प्रीत्यर्थ होने वाले विराट् विश्वयज्ञ के कर्मांग स्वरूप विविध वर्ण-धर्मों और उनके सामूहिक स्वरूप का यह अति संक्षिप्त तात्विक निरूपण हुआ। पर सनातन धर्म केवल वर्ण-धर्म या आश्रम धर्म में ही सीमित नहीं है। मानव के परस्पर वैयक्तिक सम्बन्ध और तज्जनित समस्त व्यवहार में इसकी व्याप्ति है। स्त्री, पुरुष, पति पत्नी, माता-पिता और पुत्र-पुत्री, भाई-भाई और बहन, गुरू और शिष्य, श्वसुर और जामाता, गृहस्थ और अतिथि, पड़ोसी पड़ोसी, वैद्य और रोगी, ग्राहक और दूकानदार, शासक और शासित, पथिक और सहपथिक आदि जितने भी प्रकार के मानव मानव के बीच सम्बन्ध हो सकते हैं वे धर्म के द्वारा नियंत्रित होने से ही सुखप्रद और समुन्नतिकारक होते हैं। इतना ही नहीं पशु पक्षी जगत् के साथ भी हमारा कुछ सम्बन्ध है। समस्त मूक जगत् का प्रतिनिधित्व गोमाता करती हैं जो मूर्तिमती अहिंसा हैं। यही कह कर महात्मा गांधी गो को पूजते थे। यही सनातन धर्म की शिक्षा है। समस्त प्राणियों के साथ पृथिव्यादि पंच महाभूतों के साथ, उन देवताओं के साथ जिनसे हमें तुष्टि और पुष्टि प्राप्त होती है, उन पितरों के साथ जिनकी हम संतति हैं और उन ऋषियों के साथ जो अपने समस्त तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान की विरासत हमें दे गए, इन सब के साथ प्रत्येक मानव का सम्बन्ध है और उनके प्रति हमारा कुछ धर्म है।

मानव धर्म क्या है ?

व्यक्ति के लिए व्यक्ति धर्म, वर्ण के लिए वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, समाज के लिए समाज धर्म, निमित्त विशेष के लिए नैमित्तिक धर्म, ये सब विशेष धर्म हैं। पर सब का एक सामान्य धर्म है जो प्रतिक्षण प्रत्येक मानव का धर्म है। भगवान् मनु ने इसका इस प्रकार कथन किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

—मनुस्मृति अ० ६, श्लोक ९८

किसी काम, क्रोध, लोभ या भय की परिस्थिति में विचलित न होना ही धृति या धैर्य है। परमेश्वर की सत्ता पर जिसकी अटल श्रद्धा है, अपने स्वरूप का ध्यान है और अपने जीवन के परम लक्ष्य में जिसका चित्त

है वही धैर्य का उदाहरण है। अविचल धैर्य ही धर्म है। जैसे हम अपने आपको अपने किसी भी दोष या अपराध के लिए क्षमा कर देते हैं वैसे ही दूसरों के दोषों और अपराधों को भुला कर उन्हें अपनाना ही क्षमा है। मन को इन्द्रियों के वश में न होने देना दम है। किसी का स्वत्व हरण न करना ही अस्तेय है। शौच यानी शुचिता त्रिविध है। देह को सर्वदा स्वच्छ और पवित्र रखना मन को सर्वदा निष्कपट और सद्भावयुक्त रखना और अन्यान्य से उपार्जित पदार्थ मात्र का त्याग करना और चाहे जिस स्थान या होटल में चाहे जिसके हाथ का बना और परोसा हुआ चाहे जो भी कुछ न खाना पीना, यही शुचिता है। इन्द्रियों को अपने वश में रखना इन्द्रिय निग्रह है। मानव जीवन के परम लक्ष्य का ध्यान रखनेवाली बुद्ध ही धी है। उस पर लक्ष्य का ज्ञान ही विद्या है। सत्य भाषण, सत्य विचार और सत्य आचरण ही सत्य है। निष्काम होना ही अक्रोध है, कारण काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है, निष्काम होकर अपना कर्त्तव्य कर्म करना ही अक्रोध की अवस्था है। इन धर्म लक्षणों का अभ्यास मानव मात्र का धर्म है।

वर्णाश्रमादि सब विशेष धर्मों की यह भूमि भित्ति है। इसी पर वर्णधर्म की अट्टालिका प्रतिष्ठित है। यदि आज यह अट्टालिका झुक गयी है तो इसका कारण यही हो सकता है कि अपनी मूल भित्ति से यह खिसक रही है। इसे समझने के लिए हम एक उदाहरण देते हैं। यदि कोई ब्राह्मण ऐसा है जो वेद शास्त्र पारंगत है, अपने वर्ण धर्म यजन याजनादि में निष्णात है, पर वह सत्य भाषण नहीं करता और काम क्रोध और लोभ के प्रसंग में विचलित हो कर धैर्य खो देता है तो उसका धर्म व्यर्थ हो जाता है। 'आचार हीनंतुन पुनन्ति वेदाः।' प्रत्येक विशेष धर्म इस सामान्य धर्म पर ही प्रतिष्ठित देख पड़ता है।

इन दशविध धर्म लक्षणों का श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में बहुत विस्तार है। स्वयं मनु भगवान् ने इनका संक्षेप वर्णन पाँच लक्षणों में किया है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।।

—मनुस्मृति अ० १० श्लोक ६३

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शुचिता और इन्द्रिय-निग्रह यह सब वर्णों का समान धर्म मन ने कहा है।

सत्य और अहिंसा

इन सभी लक्षणों का समावेश महात्मा गांधी ने दो लक्षणों में किया है—सत्य और अहिंसा। सत्य भगवान् का स्वरूप है और अहिंसा उनका स्वभाव। श्रीमद्भागवत ने सत्य को ही परम पुरुष परमेश्वर मान कर 'सत्य परं धीमहि' कह कर मंगलाचरण किया है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' आदि श्रुतियों में ज्ञानमय अनन्त ब्रह्म को ही सत्य कहा है। महात्मा गांधी भी कहा करते थे कि सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है। सत्य भाषण, सत्य चिन्तन और सत्य आचरण उस परम सत्य के साक्षात्कार का और समस्त विश्व की सेवा का चिर विजयी साधन है। 'सत्यमेव जायते नानृतमं।' सत्य की विजय होती है, असत्य का तो कोई अस्तित्व ही नहीं है, अतः वह कहीं ठहर नहीं सकता। मानव मात्र के सामान्य धर्म का दूसरा लक्षण अहिंसा है। सत्य स्वरूप भगवान ही गीता में कहते हैं कि "निर्वैरः सर्वभूतेषुयः स मामेति पाण्डवः"। समस्त प्राणियों में जो किसी प्राणी से वैर नहीं करता वह मुझे प्राप्त होता है। वह "अद्वेष्टा सर्व भूतानां मैत्रः करुण एव च" "वह किसी प्राणी से द्वेष नहीं करता, सब के हित साधन में लगा रहता और सब पर करुणा करता है।" सत्य, प्रेम और करुणा उसका स्वभाव बन जाते हैं। यही भगवान् का स्वरूप और स्वभाव है। फिर भगवान् और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। यह सनातन धर्म है।

सत्य और अहिंसा में कितनी अलौकिक और सर्व व्यापक शक्ति है यह महात्मा गांधी की उस कृति से सारे संसार के सामने ईश्वरी अवतार जैसी प्रकट हो गयी जिसके फलस्वरूप आज हम स्वाधीनता प्राप्त

कर सके। हमारे स्वराज्य की मूल भित्ति ही सत्य और अहिंसा है। सत्य और अहिंसा के द्वारा ही इसकी रक्षा, अभिवृद्धि और समस्त जगत् की कल्याण समृद्धि होगी। भौतिक विज्ञान के बहुत आश्चर्यजनक चमत्कार इस समय अपना प्रभाव जमा रहे हैं। पर वे कामाचारमूलक हैं। धर्म के द्वारा सत्य और अहिंसा के द्वारा नियंत्रित होने पर ही वे धर्म की कोटि में आ सकते हैं। इस विज्ञान द्वारा आविष्कृत जगत् संहारक अस्त्रों की अपेक्षा सत्य और अहिंसा की आध्यात्मिक अलौकिक आध्यात्मिक शक्ति अनन्त गुण अधिक है, ऐसा विश्वास होना चाहिए। धर्म का यह सनातन मूल है।

सारांश, हमें कामाचार त्यागना होगा, काम को धर्म से नियंत्रित कर उसे प्रेमाचार में परिणत करना होगा। कामाचार से ऊपर उठ कर हमें धर्म में स्थिर होना होगा, धर्म से प्रेम उत्पन्न होता है जो भगवान् का स्वरूप और स्वभाव है। अधर्म के अत्याचार से अत्यन्त पीड़ित गो तनुधारी पृथ्वी जब देवताओं के पास गयी और भगवान् कहाँ मिलेंगे, इसकी खोज होने लगी तब उस देव सभा में भगवान् शिव ने यह वचन कहा—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना।"

—रामचरित मानस, बालकांड

**

संस्कृति का पौदा बहुत नाजुक होता है। अनेक यत्न और सावचेतता के उपरांत वह किसी समाज में फूलता-फलता है। उसके लिए व्यक्ति का अभिमान, राष्ट्र का अभिमान और जाति का अभिमान—सब को तिलाञ्जलि देनी पड़ती है। मानव-जाति जिस दिन संस्कृति के महत्व को समझेगी, उसी दिन वह अपनी आत्मा के साथ साक्षात्कार करने के योग्य हो सकेगी। संस्कृति न तो भोगोलिक सीमा बंधनों को महत्व देती है, न राजनीति को ही। संस्कृति अखिल मानवता की सम्मिलित पूंजी है।

— आईंस्टीन

आर्य समाज: हिन्दू जाति का पहरेदार

श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

आज से अनेक वर्ष पूर्व १९१६ की घटना है। इन पंक्तियों का लेखक उन दिनों चौथी कक्षा में पढ़ रहा था। उसके एक अध्यापक थे श्री धर्मवीर शास्त्री। उनमें कोई विशेषता नहीं थी। अन्य अध्यापकों के समान वे भी संस्कृत पढ़ाते थे। परन्तु, हमें स्मरण है कि अध्यापकगण और आर्य सज्जन उनसे विशिष्ट व्यवहार करते थे। वे जाति के ओड़ थे, जिन्हें मुजफ्फरगढ़ और मुलतान आदि जिलों में अस्पृश्य व अछूत माना जाता था। उन्हें घृणा और तिरस्कार से देखा जाता था। वे बस्तियों से बाहर रहते थे, मिट्टी खोदते और मकान बनाने के लिए गारा बनाते थे। गुरुकुल के अनेक अध्यापक श्री धर्मवीर शास्त्री से समानता का व्यवहार नहीं करते थे, किन्तु आर्य समाज के प्रचारक उन्हें समाज में लाने और जनता में अछूतोद्धार का प्रचार करने के लिए विशेष आदर देने का प्रयत्न करते थे। वे अपनी जाति में प्रथम व्यक्ति थे, जिन्हें इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त हुई थी और इतना सम्मान मिला था। पंडित धर्मवीर शास्त्री के उपरान्त ओड़ जाति के अनेक बालक शिक्षा प्राप्त करने के लिए आगे बढ़े। वे सब क्लर्की या बाबूगिरी करने लगे थे। इन ओड़ों को शिक्षित करके समाज में मिलाने और छुआछूत मिटाने का सब से प्रथम प्रयत्न मुजफ्फरगढ़ जिले के मूक सेवक आर्य समाज के प्राण पंडित गंगारामजी ने किया था।

ऋषि दयानन्द की प्रेरणा

ऋषि दयानन्द ने जन्म से जातपाँत का खण्डन कर अस्पृश्यता व छूतछात के मूल पर ही कुठाराघात किया था।

"स्त्रीशूद्रोनाधीयाताम्" की ओजस्विनी वाणी तथा लेखनी द्वारा खण्डन करके ऋषि ने यह घोषणा की थी कि मानव मात्र एक समान है और सब को भगवान की पुनीत वेदवाणी पढ़ने का एक समान अधिकार है। उन्होंने पहले पहल शूद्रों द्वारा भोजन बनाने का विधान दिया है। ऋषि के जीवन में एक नाई के हाथ का भोजन विराट जनसभा में स्वीकार करने की घटना मिलती है, जो अस्पृश्यता निवारण या अछूतोद्धार का पहला सूत्रपात था।

पंडित गंगाराम का सूत्रपात

परन्तु पंजाब में अस्पृश्यता निवारण के कार्य को सामूहिक रूप देने का श्रेय मुजफ्फरगढ़ के पंडित गंगारामजी को है। वे जब इस जिले में ओवरसियर का काम करते थे, तब ओड़ों से भी काम लेते थे। ओड़ों की दीन-हीन और शोचनीय रहन-सहन देख कर उनका हृदय द्रवित हो गया था। उन्होंने उनका उद्धार करने का निश्चय कर लिया।

उनके हृदय में ओड़ों के प्रति करुणा के भाव बचपन से ही विद्यमान थे। उनके गाँव के बाहर के एक जलाशय में जिससे अछूत पानी लिया करते थे, एक लड़के ने पेशाब कर दी। गंगारामजी उन दिनों

केवल सात वर्ष के बालक थे। वे उस लड़के से लड़ पड़े और जब उसने क्षमा माँगी, तब जाकर छोड़ा। बड़े होने पर दीन दलितों के प्रति उनका करुणा भाव बढ़ता ही गया।

एक दिन ओड़ों के कुछ मुखियों को बुला कर उन्होंने कहा, तुम्हारे पित्रों का उद्धार हो गया है। एक लोकोक्ति के अनुसार ये ओड़ सगर के शापभ्रष्ट पुत्र थे। वे सब चकित रह गए। तब पंडितजी ने उनमें से एक को जल भर कर लाने के लिए कहा और पंडितजी ने गायत्री मंत्र पढ़ कर वह जल पी लिया। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। पंडितजी ने उनके हाथ का जल पी लिया था। फिर तो उन्हें यज्ञोपवीत दिए गए, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया, उन्हें किताबें, स्टेशनरी, फीस सब दी जाने लगी। उन्हें उच्च शिक्षा दी गयी और उनके परिणाम स्वरूप एक ओड़ बालक धर्मवीर शास्त्री बन गया और उसे गुरुकुल में अध्यापनकार्य मिला। ओड़ जाति के लिए ये गंगाराम सचमुच पतित पावनी गंगा सिद्ध हुए।

प्रचण्ड नेतृत्व

पंडित गंगारामजी ने अस्पृश्यता निवारण का काम १८८८ ईस्वी में प्रारम्भ किया था। कुछ वर्षों के उपरान्त आर्य समाज में एक नया प्रभावशाली और प्रचण्ड नेतृत्व आया, जिसमें इस आन्दोलन को अधिक व्यापक, अधिक गहरा तथा प्रभावशाली बना दिया। लाला मुंशीराम (बाद में महात्मा मुंशीराम और फिर स्वामी श्रद्धानन्द) आर्य समाज जालन्धर के प्रमुख कार्यकर्त्ता व नेता थे। ३ मार्च १८८९ को आर्य समाज की अन्तरंग सभा में रहतियों की शुद्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया। पंडित गंगाराम की तरह मुंशीरामजी को भी बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। आरम्भ में स्वयं आर्यसमाज ने उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। जालन्धर आर्यसमाज से निराश होकर मुंशीराम जी लाहौर गए और वहाँ ३ जून १९०० को क्षौर करा कर सौ रहतियों के एक समूह को आर्य बना लिया। इसी वर्ष लायलपुर और रोपड़ में भी रहतियों की शुद्धि हुई।

एक माता का अपूर्व बलिदान

रोपड़ में भी आर्य भाइयों को भयंकर कष्ट सहने पड़े। सनातन धर्मियों ने आर्य भाइयों को बिरादरी से ही बहिष्कृत नहीं कर दिया, बल्कि रोपड़ के कुओं से पानी लेने तक से रोक दिया। लाला सोमनाथजी की माँ मृत्यु-शय्या पर थी। डाक्टरों ने कुएँ का पानी लेने के लिए कहा, पर सनातनी लोगों ने कुएँ से पानी नहीं भरने दिया। वे माँ की दशा देख कर विचलित हो उठे और सनातन धर्मियों से माफी तक माँगने के लिए तैयार हो गए। माँ को मालूम हुआ। इस वीरांगना ने कहा :—

"मुझे आज नहीं तो कल मरना है, मेरे लिए अछूत सेवा का व्रत मत तोड़ो।"

वह वीरांगना इस पवित्र वेदी पर बलिदान हो गयी। इस घटना ने आर्य भाइयों को और भी अधिक उत्साह से कार्य में जुटने की प्रेरणा दी। फिर तो आस-पास के शहरों में यज्ञ करके रहतियों को यज्ञोपवीत देने और उन्हें अपने में मिलाने का काम जोरों से चल निकला। सैकड़ों अछूत आर्य समाज में प्रविष्ट होकर आर्य हो गए। पंडित गंगारामजी भी केवल ओड़ों को ही आर्य बना कर संतुष्ट नहीं हुए; बल्कि सन् १९०९ में उन्होंने दूसरी अछूत जाति माहतम लोगों के उद्धार का काम भी हाथ में लिया। मुजफ्फरगढ़ जिले के मोचीवाली ग्राम में उनके लिए एक पाठशाला भी खोली गयी जिसका नाम बाद में आर्य मुसाफिर दलितोद्धार पाठशाला रखा गया।

रामभजदत्त चौधरी

पंडित रामभजदत्त चौधरी जो अमृतसर के जलियाँवाले बाग की घटना के समय में बहुत प्रसिद्ध हो गए थे, अछूतोद्धार में पीछे नहीं रहे। उन्होंने गुरुदासपुर के डूमनों को उच्च वर्गों में मिलाने का काम जोरों

से किया। अन्य अस्पृश्य जातियों की अपेक्षा इस जिले में डूमनों की संख्या बहुत अधिक थी। उनके उद्धार में पंडित रामभजदत्तजी अपने जीवन के अन्त तक लगे रहे। ये डूमने "महाशय" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

महात्मा मुंशीराम का नेतृत्व

आर्य समाज का नेतृत्व उन दिनों जिस प्रचण्ड व्यक्तित्व के हाथ में था वह समस्त पंजाब में दलितोद्धार की नयी सुनहली किरण का प्रकाश दे रहा था। महात्मा मुंशीरामजी के द्वारा रहतियों के उद्धार करने के उपरान्त समस्त पंजाब में इसकी किरणें प्रकाश देने लगी थीं। जहाँ काम शनैः-शनैः हो रहा था वहाँ और अधिक उत्साह से आर्य समाज इस काम में जुट गया।

मेघ उद्धार

पंजाब के दलितोद्धार की कहानी अधूरी रह जाएगी, यदि सियालकोट के मेघ उद्धार के व्यापक और प्रभावशाली आन्दोलन की चर्चा न की जाए। मेघ नाम की अस्पृश्य जाति सियालकोट, गुरुदासपुर तथा गुजरात के अनेक जिलों तथा काश्मीर और जम्मू राज्य में रहती थी। सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार इस जाति की संख्या तीन लाख से परे थी। उनके साथ खानपान का प्रश्न तो दूर का था, उन्हें कुओं पर पानी भी नहीं लेने दिया जाता था। ये मेघ अछूत चोटी रखते थे, गो, ब्राह्मण की पूजा करते थे। राम और कृष्ण के उपासक थे, तीर्थों में जाते थे, अपने शव जलाते थे, फिर भी वे थे अस्पृश्य !!

उन्हें छूना पाप माना गया था। सियालकोट आर्यसमाज के नेता थे वकील लाला मंशाराम। २८ फरवरी १९०३ में उनके प्रयत्न से २०० मेघों को यज्ञोपवीत धारण कराया गया। इस आन्दोलन का विरोध केवल सनातनी ब्राह्मण ही नहीं कर रहे थे; मुसलमानों व ईसाइयों ने भी किया। इससे वे अपने धर्म के प्रचार में बाधा देखते थे। अतः वे भी इसका घोर विरोध कर रहे थे। मेघों के इस शुद्धि यज्ञ ने राजपूतों की क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित कर दी। पहले मेघ उन्हें "गरीब नवाज" कहते थे। पर अब मेघ उन्हें केवल "नमस्ते" कह कर अपनी सामाजिक समानता का परिचय देने लगे। उन्होंने मेघों के इस अहंकार को चूर-चूर करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने शुद्ध हुए आर्य मेघों को लाठियों से खूब मारा। सरकार और पुलिस उनके साथ थी। उच्च अदालत ने राजपूतों को निःसन्देह सजाएँ दीं, किन्तु साधारणतः अदालतें व जिलाधिकारी इस आन्दोलन के विरोधी थे। जम्मू निवासी रामदासजी से सौ रुपए का मुचलका इसलिए लिया गया कि वे ५०० मेघों को सियालकोट आर्य समाज में ले गए थे। मुसलमान जमींदारों ने एक गाँव में इन आर्य मेघों को अपनी जमीन में कुआँ खोदने से रोक दिया। उन्हें विवश होकर वह गाँव छोड़ देना पड़ा। फसल काटते समय नत्थू नामके एक मेघ को जब किसी हिन्दू कुएँ से पानी नहीं दिया गया, तब उसने एक मुसलमान कुएँ में छलांग मार ली और पानी पिया। इन मेघों को अब आर्य भक्त कहा जाने लगा। इनके घरों में आर्य जाते थे, खाते-पीते थे। पर मुख्य समस्या इनके जीवन में परिवर्तन की थी। उनके लिए आर्य समाज ने दस्तकारी स्कूल खोले, शिक्षा की व्यवस्था की। निर्धन मेघों के भोजन की व्यवस्था भी समाज करता था।

गुरुकुल कांगड़ी में

यहाँ एक और महत्वपूर्ण घटना हुई। १९०७ में एक आर्य सज्जन ने मृत्यु से पहले दो हजार रुपए एक मेघ बालक को गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ने के लिए जमा करा दिए। गुरुकुल के आचार्य महात्मा मुंशीरामजी ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया। मेघ बालक गुरुकुल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के बालकों के साथ रहने, खाने पीने, खेलने और पढ़ने लगे। गुरुकुल में अनेक विद्यार्थी दलित वर्ग के थे और उनके साथ किंचित् मात्र भी भेदभाव या पृथकता का व्यवहार न होता था। एक बार माननीय श्री श्रीनिवास शास्त्री ने गुरुकुल में

आकर यह भेद न कर सके कि कौन ब्रह्मचारी दलित वर्ग का है। मंगलमय भगवान की सृष्टि में तो सभी मानव एक समान हैं। छूतछात को सर्वथा दूर करने का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण गुरुकुल है, जहाँ किसी प्रकार का भेदभाव, व्यवहार और विचार में नहीं बरता जाता। एक चमार बालक को गुरुकुल के अस्पताल में कम्पाउण्डर रखा गया जो सब को दवाइयाँ बना कर पिलाता था।

आर्य समाज ने दलित वर्ग की आर्थिक व सामाजिक स्थिति के सुधार का प्रयत्न जारी रखा। मेघों के उद्धार के लिए एक पृथक् सभा स्थापित की गयी। खानेवाल में एक आर्य नगर बसाया गया जहाँ उनका मानसिक, शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक सभी दृष्टियों से अनुपम विकास हुआ। इसी जागृति के निरन्तर प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप इस जाति की काया पलट हो गयी।

इस प्रकार आर्य समाज हिन्दू जाति की रक्षा का प्रहरी बना। वह समाज का फाटक था जिसने हिन्दू जाति से बाहर गए हुए लोगों को अन्दर लिया और अछूतोद्धार तथा शुद्धि द्वारा बाहर जाने का मार्ग बन्द किया।

आर्य समाज ने केवल पंजाब में ही अस्पृश्यता निवारण का कार्य नहीं किया, बल्कि अन्य राज्यों में भी अस्पृश्यता को दूर करने तथा हरिजनों की सामाजिक स्थिति को उन्नत किया।

लाला लाजपतराय

लाला लाजपतराय उन दिनों आर्य समाज के नेता थे। उनका निर्माण ही आर्य समाज ने किया था। वे दलितों और पीड़ितों के महान् सेवक थे। दलितोद्धार के लिए लालाजी ने अपना जीवन दे दिया। उन्होंने यह घोषणा की थी, "राष्ट्रीय वैषम्य दूसरों पर किए गए अत्याचारों से अंकुरित होता है और यदि भारतवासी राष्ट्रीय आत्मसम्मान की आकांक्षा करें तो हमें अपने अछूत भाई, बहनों के लिए हाथ खोल देने चाहिएं। जब तक हमारे देश में बहु संख्यक अछूत भाई रहेंगे तब तक हम अपना वास्तविक राष्ट्रीय उत्थान नहीं कर सकते। अपने भाइयों की दुर्बलता पर कोई भी अपनी महत्ता का निर्माण नहीं कर सकता।" राजनीतिक क्षेत्र में काम करते हुए भी लाला लाजपतराय आर्य समाज के दलितोद्धार कार्य में महत्वपूर्ण योगदान देते थे।

चिरंजीलाल भारद्वाज बड़ौदा में प्लेग अफसर होकर गए थे। उन्होंने वहाँ डेढ़ों को आर्य बना कर उनकी शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध किया। कालान्तर में डेढ़ों की अनेक महिलाएँ शिक्षा प्राप्त कर ऊंचे घरों में विवाही गईं। एक ऐसी ही देवी जालन्धर के कन्या आश्रम की सहायक अध्यक्षा हुई।

उत्तर प्रदेश

पंजाब में यदि डूमन, ओड़ और मेघों का अछूतपन दूर करके उन्हें अपने में मिलाया जा रहा था तो उत्तर प्रदेश में अल्मोड़ा के नायकों तथा अन्य अछूत जातियों के प्रति आर्य समाज हिन्दू जाति के सदियों पुराने पाप का प्रायश्चित कर रहा था। नायकों की लड़कियों का विवाह भी वर्जित कर दिया गया था और परिणाम-स्वरूप नायक लड़कियाँ वेश्यावृत्ति के लिए रक्षित रखी गईं थीं। पंडित गंगा प्रसाद उपाध्याय के कथनानुसार उनके वेश्यावृत्ति ग्रहण करने के समय ब्राह्मण संस्कार कराते थे और उनसे दान-दक्षिणा भी लेते थे। समस्त जाति दलित एवं अपमानित हो चुकी थी। उसमें आत्माभिमान का लेश भी न रहा था। आर्य समाज ने इस दिशा में यत्न किया। अल्मोड़ा के श्री गजाधरप्रसाद प्रयाग में रहते थे। नायक जाति के उद्धार के लिए वे आगे बढ़े। नायक कन्याओं को विवाह का अधिकार देने के लिए एक कानून बनवाया गया और उनमें विवाह की प्रथा जारी की गई। उनकी शिक्षा के लिए हलदानी व मेरठ आदि में अनेक विद्यालय स्थापित किए गए। इसी जाति की एक महिला श्रीमती हीरादेवी युक्त प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा की बहुत वर्षों तक सदस्या रहीं। श्री नारायण स्वामी ने संन्यासी होने पर रामगढ़ की पहाड़ियों में जब अपना आश्रम बनाया तब कलंकमयी

एवं अभिशापित यह प्रथा नष्ट हो गयी। अब वहाँ इंटर कालिज है। अब नायक अन्य हिन्दुओं की तरह मान और प्रतिष्ठा का जीवन बिताने लगे। नायक जाति के उद्धार के साथ ही अन्तर्प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा ने एक और महत्वपूर्ण कार्य की ओर भारी कदम उठाया। जरायमपेशा जातियों के सुधार का कार्य ब्रिटिश सरकार ने ईसाइयों की सालवेशन आर्मी को सौंप दिया था। इस तरह वे जातियाँ ईसाइयत की ओर जा रही थीं। आर्य प्रतिनिधि सभा ने उनका कार्य हिन्दू संस्थाओं को सौंपने का आन्दोलन किया। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और लखनऊ के समीप एक बस्ती बना कर जरायमपेशा लोगों के सुधार का काम प्रतिनिधि सभा को सौंपा गया। इस तरह इन लोगों में ईसाई पादरियों की ठेकेदारी टूट गयी।

गढ़वाल और कुमायूँ के उच्च वर्ग ने निम्न वर्ग से डोला पालकी तथा जेवर पहनने तक का अधिकार छीन रखा था। आर्य समाज ने इस प्रथा को मिटा दिया। उपाध्यायजी के शब्दों में न उस समय महात्मा गांधी जी आगे आए थे और न कांग्रेस ही। ठक्कर बापा का तो नाम भी न था। न जाने कितने सिर फूटे, कितनी लड़ाइयाँ हुईं और कितने मुकदमे चले। बिजौरा और नजीबाबाद में आर्य गढ़वाल और कुमायूँ का साथ देते रहे। श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय ने एक उदाहरण दिया है। एक बार वे अलीगढ़ के एक गाँव में गए थे। उनका गाड़ीवान एक चमार था। भोजन के समय वह संकोच करने लगा। उसे ठाकुर साहब के कुपित होने का भय था। परन्तु ठाकुर साहब ने एक थाली उसके सामने रखते हुए कहा कि हम आर्य समाजी हैं। छुआछूत को नहीं मानते। इसी तरह उत्तर प्रदेश के अनेक जिलों में आर्य समाज अस्पृश्यता का नाश कर रहा था।

राजस्थान की रियासतों में

राजस्थान में शारदा परिवार ने और विशेष कर श्री चाँदकरण शारदा ने दलितोद्धार के लिए बेहद कार्य किया। देशी नरेशों, सामंतों और जागीरदारों के द्वारा अस्पृश्यता निवारण के कार्य में जो रोड़े डाले गए, कार्यकर्त्ताओं को जो कठिनाइयाँ तथा अत्याचार सहन करने पड़े, वे अत्यन्त हृदय विदारक हैं, सामंतों तथा नरेशों पर सनातन धर्मी पंडितों का अत्यन्त प्रभाव था। अतः धर्मनाश करनेवाले अछूतों के हाथ का पानी पीने-वाले आर्यों पर धर्म के नाम से कम अत्याचार नहीं हुए।

इन अत्याचारों की कहानियाँ बड़ी दर्दनाक हैं। आर्य समाज के अछूतोद्धार से मुसलमान और ईसाई दोनों ही चिन्तित थे। फिर अछूतोद्धार का प्रभाव ईसाई प्रचारकों पर विशेष रूप से पड़ता था; क्योंकि इन्हीं जातियों में पादरी छूतछात के नाम से अपना प्रचार करते थे। आर्य समाज ने अछूतों को गले लगा कर, उन्हें यज्ञोपवीत पहना कर, उनके साथ भोजन कर, ईसाई पादरियों के प्रचार का आधार ही नष्ट कर दिया था। इसलिए ईसाई पादरी आर्यों को कठिनाइयों में डालने के यथासम्भव सभी उपाय करते थे। मारपीट, जेल और मुकदमे आर्य प्रचारकों व कार्यकर्त्ताओं के लिए ब्रिटिश भारत में ही साधारण बात हो गई थी। राजस्थान की रियासतों में, जहाँ पूरी अंधेरगर्दी थी, उसकी कोई सीमा नहीं थी। इसका एक कारण और भी था। अधिकांश आर्य प्रचारक मानवता में विश्वास करनेवाले राष्ट्रीय विचारों के थे। इसलिए रियासती शासकों की प्रकोप दृष्टि अधिक उग्र हो जाती थी। अस्पृश्यता निवारण के साथ आत्माभिमान की भावना जागृत होती थी। वे ठाकुरों और राजपूतों की गुलामी व बेगार के प्रति घृणा भी उत्पन्न करते थे। इस तरह दलित शुद्ध हो—आर्य बन कर जेवर पहनने व डोला पालकी या घोड़े की सवारी करने लगते थे जिससे सवर्ण लोग सहन न करके उन पर अत्याचार करते थे। किन्तु अब तो उन्होंने ये सब अधिकार प्राप्त कर लिए हैं।

श्री रामचंद्र की आहुति

हमने पंजाब में आर्य समाज द्वारा किए गए दलितोद्धार की विशेष रूप से चर्चा की है। आर्य समाज का सब से अधिक प्रचार वहीं हुआ और समाज सेवा का सब से अधिक काम भी उन्होंने किया। हम उनके

प्रारम्भिक दलितोद्धार के प्रथमखंड की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। पर दलितोद्धार के द्वितीय खण्डकी चर्चा किए बिना इस दिशा में किए गए महान् कार्य का ज्ञान नहीं हो सकता। दलितोद्धार का कार्य शनैः-शनैः समस्तपंजाब में चल रहा था, स्थानीय आर्य समाज अपने अपने नगर में यह कार्य अपनी शक्ति के अनुसार कर रहे थे। मेघोद्धार सभा का कार्य सीमित तथा व्यवस्थित था, उसके शिक्षालय चल रहे थे, मेघ विद्यार्थी उच्च कक्षाओं में पढ़ने लगे थे तो भी सामान्य दलित भाइयों का कष्ट अभी तक मिटा नहीं था। उसके निवारण में जो मूक कार्यकर्त्ता आर्य सेवक अपना काम कर रहे थे कि उनमें रामचन्द्र के बलिदान ने इस कार्य की ओर जनता का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट कर लिया। जम्मू काश्मीर रियासत में अखनूर तहसील के खजांची श्री रामचन्द्र तथा उनके साथियों का दलित भाइयों की सेवा के कारण सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया था। राजपूत लोग उनके घोर विरोधी हो गए थे, क्योंकि इस तरह शुद्ध तथा शिक्षित दलित अब दीनता व गिड़गिड़ाना छोड़ कर स्वाभिमान रखने लगे थे। १४ जनवरी १९२३ को एक प्रचार सम्मेलन में राजपूतों ने श्री रामचन्द्रजी को लाठीप्रहार से जर्जरित कर दिया। उनका घायल शरीर नौका में जम्मू लाया गया जहाँ ६ दिन बाद उनका प्राणान्त हो गया। रामचन्द्र ने प्राण दे दिए पर दलितोद्धार जी उठा। चारों ओर से दलितोद्धार की आवाज आने लगी। सहस्त्रों की संख्या में दलित स्पृश्य माने जाने लगे। अब भी बुटहरा स्थान पर जहाँ रामचन्द्र का बलिदान हुआ था, प्रतिवर्ष मेला लगता है। इस मेले में सवर्ण असवर्ण सभी जातियों के लोग खेलते हैं, कुश्ती आदि करते हैं। १९२३ में किए गए पाप का यह असली प्रायश्चित है। इस बलिदान से प्रेरित हो कर पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने दनादन जोरों से कार्य शुरू कर दिया। इस बलिदान के कुछ दिन बाद दयानन्द दलितोद्धार मण्डल की स्थापना की गई। चमार व बटवालों में आर्य समाज का काम शुरू हो गया। हजारों परिवार आर्यसमाज में सम्मिलित होकर सवर्णों के समान हो गए। यही मण्डल फिर सभा के रूप में परिवर्तित हो गया। कुओं पर पानी भरने, विद्यालयों में पढ़ने, और दस्तकारी सिखाने, दलित जातियों को फिर से घरों में बसाने, सांसियों में मिल जुल कर उन्हें शिक्षित करने, उनकी कुरीतियाँ दूर करने और उन्हें सभ्य बनाने आदि के कार्यों ने तब एक नए जाग्रत समाज का निर्माण किया था, जब कांग्रेस ने इधर कोई ध्यान नहीं दिया था।

स्वामी श्रद्धानन्द का देशव्यापी कार्य

हमने मुंशीराम, (स्वामी श्रद्धानन्द) के कार्य का उल्लेख किया है, किन्तु दलितोद्धार की दिशा में उन्होंने जो प्रशंसनीय कार्य जालन्धर या पंजाब में किया था वह उनके महान् कार्य का एक अंश था। संन्यास लेने के बाद इस दिशा में उन्होंने जो कुछ किया, वह बहुत महत्वपूर्ण है। वस्तुतः स्वामीजी ने अपने दीर्घकालीन सावजनिक विविध क्षेत्रों में और फ़िर संन्यासआश्रम में जो काम किया, वे सब दलितोद्धार की भावना से सूत्र में पिरोये जा सकते हैं। संन्यास जीवन की बहुमुखी कार्य प्रणाली में दलितोद्धार का ही तारतम्य रहा है। वे अछूत जातियों को अछूत ही नहीं मानते थे। उन्हें हमने पददलित कर रखा है, इसलिए वे अछूतों को दलित कहते थे और उनकी सेवा के लिए किए गए कार्य को दलितोद्धार कहते थे। दलितोद्धार वस्तुतः उनकी दृष्टि में सवर्ण लोगों का अपने पाप के लिए किया गया प्रायश्चित था।

कांग्रेस के मंच से

स्वामी श्रद्धानन्द प्रथम नेता थे, जिन्होंने कांग्रेस के मंच से दलित उद्धारका संदेश दिया था। अमृतसर में स्वागताध्यक्ष पद से हिन्दीमें भाषण देते हुए स्वामीजी ने कहा था कि इस पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयोंको मातृभूमि के प्रेमजल में शुद्ध करके हम प्रतिज्ञा करें कि आज से साढ़े ६ करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे बल्कि हमारे बहन और भाई हैं। उनकी पुत्रियाँ और पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे। उनके प्रतिनिधि हमारी सभाओं में बराबरी में सम्मिलित होंगे। हे देवियो, मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न

पूरा हो। इसके बाद कलकत्ते में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में आप ने दलितोद्धार का प्रस्ताव पेश करना चाहा, किन्तु विषय निर्धारिणी समिति ने उसे पेश नहीं होने दिया। किन्तु गांधीजी पर स्वामीजी के विचारों का गहरा प्रभाव उस समय तक पड़ गया था और जब गांधीजी ने १२ मास में स्वराज्य प्राप्ति का कार्यक्रम उपस्थित किया,तब उसमें उन्होंने अछूतोद्धार को स्थान दिया। स्वामीजी जितना विचार करते, उसमें दलितोद्धार के महत्व का अत्यधिक अनुभव करते। कांग्रेस के नेताओं से अनेक प्रयत्न करने के बाद वे इस सम्बन्ध में निराश हो गए, इसलिए उन्होंने दिल्ली में दलितोद्धार सभा की स्थापना कर दी। उन्हें इसके लिए कांग्रेस से किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता नहीं मिली। दलितोद्धार सभा की स्थापना के समय उसके मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित रखे गए :—

१. दलित जातियों में सदाचार का प्रचार।
२. दलित समाज की विधर्मियों के आक्रमणों से रक्षा करना।
३. वंशगत घृणा के मिथ्या संस्कारों को दूर करके मानवीय अधिकारों को दिलाना।

दलितोद्धार सभा के प्रधान स्वामी श्रद्धानन्दजी चुने गए। डाक्टर सुखदेव, लाला नारायणदत्त और लाला ज्ञानचन्द व स्वामी रामानन्द प्रभृति इस सभा की ओरसे दलितोद्धार का काय करते रहे। सभा की ओर से जनवरी १९२४ में एक विराट सम्मेलन हुआ और उसमें एक विशाल सहभोज हुआ, जिसमें भंगी,चमार, जाट आदि हजारों दलितों के साथ सवर्ण भी हजारों की संख्या में सम्मिलित हुए थे। दिल्ली के प्रतिष्ठित नागरिक भी इसमें शामिल हुए थे। वस्तुतः उस समय प्रत्येक आर्य समाज के उत्सव में दलितोद्धार सम्मेलनों तथा प्रीतिभोजों की एक परम्परा चल पड़ी थी।

१९२३ में श्रीमद् दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा में मनाई गई थी। पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में यह केवल मेला ही न था, वह आर्य समाज और आर्य जाति में अत्यंत जागृति का विराट् प्रदर्शन था। इसमें दलितों अवैदिक धर्मियों के आर्य समाज में प्रवेश करने का समर्थन करते हुए एक विधि भी स्वीकार की गई। महात्मा हंसराजजी के सभापतित्व में दलितोद्धार सम्मेलन भी किया गया। स्वामी श्रद्धानन्द के अमर बलिदान के बाद १९२७ में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में एक विराट् आर्य महासम्मेलन किया गया। इसमें दलितोद्धार सम्बन्धी प्रस्ताव में 'अछूत कहलानेवाले भाइयों के साथ अस्पृश्यता के भाव को बिल्कुल मिटाने और समान सामाजिक अधिकार देने का अनुरोध किया गया था। इसी सम्मेलन में अस्पृश्यता के मूल आधार जन्म से जातपाँत की प्रथा को अमान्य घोषित करके जातपाँत के बन्धनों को सर्वथा तोड़ने का भी अनुरोध किया गया। १९३३ में अजमेर में दयानन्द निर्वाण अर्ध शताब्दी के विराट् उत्सव में भी दलितोद्धार को और भी आगे बढ़ाने का निश्चय किया गया। दलितोद्धार सभा की ओर से दिल्ली के समीपवर्ती जिलों से अछूतोद्धार का कार्य जोरों से आरम्भ कर कुओं पर से अछूतों को पानी मिलने पर खास जोर दिया गया। स्वामीजी के हृदय की वेदना उस पत्र से स्पष्ट होती है, जो आपने महात्मा गांधी को उन दिनों में लिखा था। उसमें आपने लिखा था—"जब तक साढ़े ६ करोड़ हमारे पाँव तले रोंधी हुई जातियाँ ब्रिटिश नौकरशाही की शरण ले रही हैं तब तक स्वदेशी का प्रचार कैसे होगा ? मैं नहीं जानता कि साढ़े ६ करोड़ उनसे अलग रहते हुए, जिन्हें अज्ञानवश अछूत समझा जाता है,स्वराज्य मिल भी गया तो हिन्दुस्तानी कौम के लिए कैसे हितकर हो सकता है ?" कांग्रेस से इस सम्बन्ध में अपनी निराशा प्रकट कर स्वामीजी दलितोद्धार के काम में लग गए। दलितोद्धार की सब से अधिक आवश्यकता दक्षिण भारत में थी। पंजाब में यह समस्या इतनी उग्र न थी। फिर पिछले तीस चालीस वर्षों में वहाँ कुछ काम भी हो चुका था। मद्रास के अनेक नेताओं म इस आर्य संन्यासी से वहाँ आकर दलितोद्धार के कार्य को संगठित करने का आग्रह किया था और कहा था कि इस कार्य के लिए मद्रास अपनी उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा है।

वे दो बार दक्षिण भारत में गए और अपने भाषणों में जिस ओजस्विता, मर्मस्पर्शिता और हृदय के करुण उद्‌गार प्रकट किए उसके लिए दो-एक वाक्य ही पर्याप्त होंगे :—

"यदि आपने अस्पृश्य कहे जानेवाले भाइयों के उद्धार की ओर ध्यान न दिया, तो वह दिन दूर नहीं, जब वे करोड़ों भाई, जिन्हें आप पंचम कहते हैं, आपसे सब सम्बन्ध तोड़ लेंगे।

"आज यह गम्भीर भाव से आप प्रतिज्ञा करें कि अपनी मातृभूमि की देह पर लगे हुए अस्पृश्यता के कलंक को धो डालेंगे।

मद्रास जैसे प्रान्त में दलितोद्धार का संदेश देने के लिए ही उन्होंने अंग्रेजी में "लिबरेटर" पत्र प्रकाशित किया था।

एक नयी चेतना

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन का अधिकांश भाग दलितोंकी सेवा में व्यतीत हुआ। उनकी प्रवृत्तियों तथा आन्दोलनोंने वह भूमि तैयार कर दी थी जिसमें गांधीजी कुछ वर्षों के बाद हरिजन सेवा का काम करने में समर्थ हुए। दलितोद्धार को जो प्रत्यक्ष योगदान आर्यसमाज ने दिया, उसकी चर्चा संक्षेप में यहाँ की गयी है। किन्तु इस दिशा में उसकी सब से बड़ी सेवा नई चेतना और नई तर्कपूर्ण मनोवृत्ति का प्रसार था। छूतछात का मूल जन्म से जातपाँत में है,इसी प्रश्न पर आर्यसमाज ने कुठाराघात किया। वेद पढ़ने का अधिकार सब को है, जन्म से सब शुद्ध होते हैं, कर्म से कोई भी मनुष्य ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है, जैसे अनेक ऋषियों ने प्राप्त किया, सब मनुष्य एक परम पिता को सन्तान हैं, यह मुख्य विचारधारा आर्य समाज की थी। उसमें मानवता, भ्रातृत्व और न्याय पर विशेष बल दिया। जातपाँत तोड़ कर विवाहों के आन्दोलन ने भी छूतछात को काफी कमजोर कर दिया।

आर्य समाज के दलितोद्धार में रोटी-बेटी का सम्बन्ध भी स्वाभाविक रूप से था। दलितोद्धार व अस्पृश्यता निवारण के आयोजनों में प्रीतिभोज का कार्यक्रम बहुत उत्साह से किया जाता था जिसमें सवर्ण और असवर्ण बिना किसी भेदभाव के एक पंक्ति में बैठ कर भोजन करते थे। आर्य समाज के सामने केवल हरिजनों की उन्नति व शिक्षा की दृष्टि नहीं थी, वरन् अस्पृश्यता को समाप्त करके उन्हें अपने समाज का एक अंग बनाने का भाव काम कर रहा था। पीछे से देश में चलनेवाले हरिजन सेवा के आन्दोलन ने छूतछात को तो दूर किया, हरिजनों की शिक्षा व आजीविका का भी कुछ प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें सवर्ण समाज का अभिन्न अंग नहीं बनाया। हरिजन एक पृथक् वर्ग के रूप में संगठित हो गए और कार्यकर्त्ता उनकी सेवामात्र करनेवाले बन गए। आर्य समाज इस भेद को समाप्त करके एक हिन्दू समाज संगठित कर रहा था। इसमें उसे सफलता भी हुई। १६३२ के सांप्रदायिक निर्णय में उन्हें पृथक् चुनाव देकर तथा १६५० के संविधान मे विशेषाधिकार देकर उस सफलता को धीमा कर दिया है। जब तक भोजन विवाह आदि के सम्बन्ध में भी सवर्ण और दलित वर्ग के लोगों में भेदभाव दूर नहीं होगा, तब तक हिन्दूसमाज में अस्पृश्यता किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान रहेगी।

**

समाज सुधार आन्दोलन के 200 वर्ष



श्रीसत्यदेव विद्यालंकार

चल चित्रों की गति से भी अधिक तेजी से अपना रूप-रंग बदलनेवाली प्रकृति का परिवर्तनशील स्वभाव, अविरल गति से बहनेवाली गंगा की निर्मल धारा, अविचल भाव से नित्य बहते रहनेवाला वायु का जीवनप्रद प्रवाह और बाल, यौवन तथा वृद्धावस्था को प्राप्त करके नष्ट हो जाने के बाद पुनर्जन्म धारण करनेवाली मानव देह, ये—सब मनुष्य को प्रगतिशील और क्रियाशील होने के लिए प्रेरित करते रहते हैं, क्योंकि गति, क्रिया, कर्म तथा चैतन्य का नाम ही जीवन है। परन्तु हर प्रकार के जीवन को स्वस्थ जीवन नहीं कहा जा सकता। स्वस्थ जीवन के लिए कुछ शर्तें, नियम, व्यवस्थाएँ, मर्यादाएँ आवश्यक हैं। नदी की धारा यदि सूख जाए, तो दो किनारों के रहते हुए भी वह बेकार बन जाती है। यदि कहीं उसकी धारा किनारों को पार कर जाए, तो वह विनाशकारी बाढ़ का रूप धारण कर लेती है। नदी का वास्तविक रूप उसकी मर्यादा में रहने में ही है। इसी प्रकार स्वस्थ मानव जीवन के लिए भी कुछ शर्तें, नियम, व्यवस्था तथा मर्यादा अनिवार्य है। उनके भंग अथवा अतिक्रमण होने पर मनुष्य किसी-न-किसी रोग से आक्रान्त हो जाता है। उस रुग्ण अवस्था में उसका औषधोपचार अथवा चीरफाड़-आपरेशन, करने की आवश्यकता हो जाती है। मनुष्य की शारीरिक दृष्टि से औषधोपचार की प्रक्रिया को सुधार और आपरेशन की प्रक्रिया को क्रान्ति की प्रक्रिया कहा जा सकता है।

क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन

प्राकृतिक जगत् में भी यह प्रक्रिया नित्य प्रति जारी रहती है। बसन्त से पहले प्रकट होनेवाला पतझड़ सूखे पत्ते और टहनियों को साफ करके वनस्पति में प्रकट होनेवाले नए जीवन के लिए मार्ग साफ कर देता है। तालाब, कुएँ आदि का पानी अवरुद्ध होने पर जब सड़ जाता है, तब उसकी सफाई करना आवश्यक हो जाता है। मानव-जीवन और प्राकृतिक जगत् की यह प्रक्रिया मानव समाज पर भी लागू होती है। जो समाज मानव समूह से निर्मित हुआ है उस पर मानव-जीवन की प्रक्रिया लागू होनी ही चाहिए। उसमें यदि गति, क्रिया, कर्म एवं चैतन्य के गुण न रहें, तो उसके विनाश के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। उस विनाश से उसकी रक्षा करने की प्रक्रिया का ही नाम समाज-सुधार है। जब वे लक्षण भयानक रूप धारण कर लेते हैं, तब उन्हें दूर करने के लिए किसी प्रचण्ड प्रक्रिया से काम लेना पड़ जाता है। प्रकृति में प्रकट करनेवाली आँधी, तूफान व झंझावात की तरह इस प्रचण्ड प्रक्रिया का रूप होता है और वह आमूल परिवर्तन करनेवाली सिद्ध होती है। उसी का नाम है सामाजिक क्रान्ति। केवल स्थूल दृष्टि से देखने वालों को उसका सिर्फ विनाशकारी रूप दिखायी देता है और वे उस पर सहसा ही घबड़ा उठते हैं। परिवर्तन से विचलित होनेवाले उसका स्वागत नहीं कर सकते। परन्तु सामाजिक जीवन के लिए क्रान्तिकारी-सामाजिक परिवर्तन आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनिवार्य भी होते हैं।

समाज-सुधार की अनिवार्य परम्परा

भारत के इतिहास में इस अनिवार्यता की लम्बी शृंखला निरन्तर पायी जाती है। समय-समय पर नए-नए धर्मों का प्रादुर्भाव, नए धर्मग्रन्थों की रचना, नई व्यवस्थाओं तथा मर्यादाओं का निर्माण और नए-नए धर्माचार्यों, साधुगण, सन्तों तथा महात्माओं का जन्म धारण करना इस अनिवार्यता का सूचक है। श्रीकृष्ण को भगवान का अवतार मानकर पूजा गया है। किन्तु यह भुला दिया जाता है कि हिन्दू-समाज में समाज-सुधार की परम्परा का आरम्भ करनेवाले आदि सुधारक वे ही हैं। उन्होंने गीता में वेद और वैदिक कर्मकाण्ड का खण्डन करने में संकोच नहीं किया। उन्होंने कहा—

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म कर्म फल प्रदाम्।
क्रिया विशेषबहुलां भोगेश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगेश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

वेद और वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतिवाद या खण्डन करना हिन्दू समाज में सब से बड़ा पाप माना गया है। किन्तु श्रीकृष्ण को इस में कोई संकोच न हुआ। वेद और वैदिक कर्मकाण्ड जब केवल वाद-विवाद और भोग-ऐश्वर्य के साधन अपना निमित्त बना लिए गए, तब श्रीकृष्ण जैसे क्रान्तिकारी महापुरुष के लिए उनका प्रतिवाद तथा खण्डन करने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग न रहा। उन्होंने कहा कि "कर्म फल की आकांक्षा रखने वाले जो पुरुष केवल फलश्रुति में आसक्ति रखते हैं, स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानते हैं। और जो यह कहते हैं कि उस से बढ़कर और कुछ नहीं है, वे अविवेकी जन जन्मरूप कर्मफल को देनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाली जिस लुभावनी वाणी का प्रयोग करते हैं, उससे जिनका चित्त भ्रम में पड़ गया है तथा जिनकी भोग-ऐश्वर्य में आसक्ति पैदा हो गयी है, उनका अन्तःकरण और बुद्धि दोनों विचलित हो जाते हैं। वेद मनुष्य को संसारिक विषयों में फँसानेवाले हैं। हे अर्जुन! तू उनसे ऊपर उठ। तू सुख-दुःख के द्वन्द्वों से रहित होकर नित्य वस्तु स्थित तथा योग-क्षेम, भोग-ऐश्वर्य को न चाहनेवाला और आत्मपरायण बन।"

महावीर और बुद्ध ने श्रीकृष्ण की समाज-सुधार की परम्परा को अपना कर वेद के साथ ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया। वेद और ईश्वर की दो कल्पनाएँ मानव को सब से बड़े भ्रम में डालनेवाली हैं। आदि गुरु शंकराचार्य ने भी वेदान्त का प्रतिपादन करके वेद और ईश्वर आदि की कल्पनाओं का अन्त कर दिया। मध्यकालीन साधु, सन्त और महात्माओं ने भी मनुष्य में दुई पैदा करनेवाले राम-रहीम, मन्दिर,-मस्जिद और वेद-पुराण आदि के झंझट से मनुष्य को मुक्त करने का निरन्तर प्रयत्न किया। इस सुधारक-परम्परा से यह स्पष्ट है कि मानव-समाज-सुधार का प्रयत्न निरन्तर जारी रहा है।

मूढ़मति की-सी स्थिति

हकीकत यह है कि मानव स्वभाव श्रद्धाभक्ति से आविर्भूत होकर अपने बुद्धि-विवेक से स्वतन्त्रता-पूर्वक काम लेना बन्द कर देता है। तब मूढ़मति की-सी उसकी स्थिति हो जाती है। वह रूढ़ि व परम्परा का लकीर का फकीर बन जाता है और सारे समाज को भी वैसा ही बना देता है। विज्ञान और दर्शन में स्वतन्त्र

विचार की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। और पिछले विचारों के रूढ़िगत भाष्यों की टीका-टिप्पणी करने में ही सारा दिमाग और योग्यता लगा दी जाती है। धर्म के प्रति अन्धविश्वास और ढोंग पनप उठते हैं। समाज के आपसी व्यवहार में संकीर्णता पैदा हो जाती है। जातपाँत तथा छूतछात आदि के भेद उस संकीर्णता के गर्भ में से ही पैदा होते हैं। कला में भी अश्लीलता का समावेश हो जाता है। धार्मिक कर्मकाण्ड के नाम से जो मिथ्याचार आरम्भ होता है, उसकी कोई सीमा नहीं रहती। मध्यकालीन धार्मिक ग्रन्थों में यह कहा गया है कि प्रत्येक नैष्टिक हिन्दू को वर्ष में लगभग २००० व्रत पूजा व अनुष्ठान करने चाहिएं। प्रतिदिन के हिसाब से इनका औसत साढ़े पाँच हुआ। जिन लोगों का सारा ध्यान, समय और शक्ति इन पूजा-पाठ, व्रत और उपवास आदि में लगी रहेगी, वे अपने समाज, देश व राष्ट्र के प्रति किसी कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकते, उनकी कर्त्तव्य बुद्धि ही नष्ट हो जाती है। केवल निठल्ले और साधन सम्पन्न लोग ही ऐसा कर सकते हैं अथवा वैसा करनेवाले निठल्ले बने बिना नहीं रह सकते। मध्यकालीन सन्तों ने इस स्थिति के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने जटिल क्रियाकलाप व कर्मकाण्ड तथा घोर व अश्लील पूजा-पाठ के स्थान में हृदय की सच्ची श्रद्धा-भक्ति को जगाने का प्रयत्न किया, जो कि सर्वसामान्य के लिए सर्वथा सुलभ और शक्य थी। जातपाँत व छूतछात के भेदभाव के विरुद्ध भी उन्होंने आवाज उठाई और एक नए समाज के निर्माण की नींव रखी। समाज-सुधार के इस महान् कार्य का स्वाभाविक परिणाम राजनीतिक चेतना के जागृत होने के रूप में प्रकट होना स्वाभाविक था। महाराष्ट्र में सन्त नामदेव और तुकाराम ने जो भूमि तैयार की उसने शिवाजी को जन्म दिया। उत्तर में गुरु नानक आदि गुरुओं ने जो वातावरण तैयार किया उसमें गुरु गोविन्द सिंह पैदा हुए। दक्षिण और उत्तर की इस क्रान्ति का प्रभाव देश के अन्य भागों पर भी पड़ा। स्वतन्त्रता की एक नई भूख चारों ओर पैदा हो गयी। शिवाजी, बाजीराव, छत्रसाल, गोविन्दसिंह और पृथ्वीनारायण के वंशज इस राजनीतिक पुनरुत्थान व पुनर्जागरण का समुचित लाभ नहीं उठा सके। क्योंकि उन्होंने मध्यकालीन साधुओं, सन्तों तथा महात्माओं के नाम से नए सम्प्रदायों की रचना करके अपने को फिर से नई संकीर्णता में उलझा लिया और उसका वही दुष्परिणाम हुआ, जो इस्लाम के भारत में आने का हुआ था। भिन्न-भिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, जातिभेदों और छूतछात के झगड़े तथा क्षेत्रीय भावनाओं की संकीर्णताओं में उलझे हुए भारतीय पश्चिम में १८ वीं सदी में उठी हुई ईसाईयत की लहर का सामना नहीं कर सके।

समाज-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि

यह है वह पृष्ठभूमि, जिसके प्रकाश में पिछली डेढ़-दो सदी के समाज-सुधार के आन्दोलन का अध्ययन किया जाना चाहिए। इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि १८ वीं सदी में प्रादुर्भूत समाज-सुधार का आन्दोलन कोई नई परम्परा नहीं थी और दूसरी यह कि समाज-सुधार उस समय की एक अनिवार्य आवश्यकता थी। यदि कहीं पिछली डेढ़ या दो सदी में पैदा हुए सुधारक महा-पुरुषों ने श्रीकृष्ण के समय से प्रारम्भ हुई समाज-सुधार की परम्परा को इस काल में एक बार फिर पुनर्जीवित न किया होता, तो यह कल्पना करना कठिन नहीं होना चाहिए कि हमारे देश की कैसी दुर्गति हुई होती। हमें एक बार फिर इतिहास के पन्नों को पलटना चाहिए। अरब से उठी हुई इस्लाम की लहर इस वेग से संसार में चारों ओर फैली कि उसने अनेक देशों को शत प्रतिशत अपने रंग में रँग दिया। अफ्रीका के मिश्र, सूडान, लीबिया, मोरक्को, अलजीरिया और टयुनीसिया आदि तथा एशिया के ईरान, अफगानिस्तान, मंगोलिया और हिन्देशिया प्रायः शत प्रतिशत तथा अन्य अनेक देश अधिकांश में इस्लामी रंग में रँग गए। योरप में भी तुर्की तथा दक्षिण-रूस के कुछ हिस्सों पर उसकी गहरी छाप पड़ गई। भारत में यदि कहीं शंकर, चैतन्य व रामानुज आदि ने वेदान्त का प्रसार करके और मध्यकालीन सन्तों ने वेदान्त की उस विचारधारा को नया रूप देकर इस्लाम की लहर का सामना न किया होता, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत भी ईरान और अफगानिस्तान

की तरह शत प्रतिशत इस्लामी देश बन गया होता। योरप में पैदा हुई ईसाईयत की लहर ने उसके वेग को रोका, अन्यथा अफ्रीका तथा एशिया की तरह योरप में भी उसने अपना रंग जमाया होता। ईरान तथा भारत व अन्य देशों में फैलने के बाद इस्लाम में भी अनेक साम्प्रदायिक संकीर्णताओं ने घर कर लिया। हिन्दुओं का जातिभेद मुसलमानों में भी पनप उठा। इस्लाम ने जिनको एक भातृभाव की सुदृढ़ शृंखला में बाँधा था वे धर्म और जाति दोनों ही दृष्टियों से बिखर गए। इन और ऐसी आन्तरिक बुराइयों के कारण पूरे वेग से उठे हुए इस्लाम की प्रगति भी रुक गई। उसके बाद ईसाईयत की लहर ने पूरे वेग से फैलना शुरू किया। अमरीका में पहुँच कर उसने वहाँ के असली निवासियों को नीग्रो, अफ्रीका पहुँच कर वहाँ के मूल निवासियों को हब्शी और आस्ट्रेलिया पहुँच कर वहाँ के आदि निवासियों को जंगली ठहरा कर अपने को शत प्रतिशत उनका मालिक बना लिया। चीन, जापान तथा भारत आदि में भी इसी उद्देश्य से ईसाईयत की लहर का प्रवेश हुआ था। यदि कहीं उसके मुकाबले में भारत में सर्वत्र समाज-सुधार का आन्दोलन प्रबल रूप में शुरू हुआ न होता, तो ईसाइयों के स्वप्न यहाँ भी पूरे हुए बिना न रहते। उन्होंने भारत को भी दूसरा अमरीका, अफ्रीका या आस्ट्रेलिया बना लिया होता। वह सदा के लिए ईसाइयों व अंग्रेजों का उपनिवेश ही नहीं, किन्तु उनके आधीन एक देश बन गया होता। यह कोरी कल्पना ही नहीं है। ऐतिहासिक घटनाएँ ईसाई पादरियों के मनसूबे और अंग्रेज राजनीतिज्ञों के उस समय के लेख हमारे इस कथन के समर्थक हैं। यदि कहीं किसी कारण से हमारा देश ईसाईयत की लहर में शत प्रतिशत रँगा जाने से बच भी गया होता, तो भी पाकिस्तान की तरह उसका एक बड़ा टुकड़ा ईसागढ़ बने बिना न रहता।

इतिहास का सामाजिक पहलू

इस समय हमारा लक्ष्य राजनीतिक दृष्टिकोण से उस समय के इतिहास का विवेचन करना नहीं है। हम केवल उस समय के इतिहास के सामाजिक पहलू पर प्रकाश डालना चाहते हैं, परन्तु यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारत को भी इंगलैण्ड का एक उपनिवेश बनाने की योजनाएँ पूरी तरह तैयार कर ली गयी थीं। इसमें सन्देह नहीं कि जो लोग शुरू दिनों में केवल अपनी आर्थिक पिपासा पूरी करने के लिए यहाँ आए थे, वे कुछ अधिक छेड़छाड़ न करके अपने-अपने आर्थिक कारबार व व्यापार में ही लगे रहना चाहते थे। परन्तु लार्ड क्लाइव और लार्ड मैकाले सरीखे अंग्रेज कूटनीतिज्ञों के दिल व दिमाग में राजनीतिक आसुरी लालसा व राक्षसी महत्वाकांक्षा के पनपने के बाद भारत को राजनीतिक दृष्टि से भी हड़पने का निश्चय कर लिया गया और यह मान लिया गया कि सारे देश में अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व कायम हुए बिना उनके आर्थिक स्वार्थ भी पूरे नहीं हो सकते और वे पूरी तरह सुरक्षित नहीं रह सकते। १७५७ की प्लासी की और १८१८ की किरकी की लड़ाई में विजयी हो जाने के बाद अंग्रेजों की राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति का मार्ग सर्वथा निष्कंटक बन गया। प्लासी के युद्ध के बाद सारे बंगाल पर उनकी एकछत्र सत्ता कायम हो गयी और किरकी के युद्ध में मराठों का पतन होने से दक्षिण में उनका एकतन्त्र प्रभुत्व कायम हो गया। दक्षिण में शक्ति सम्पन्न टीपू सुल्तान को पहले ही परास्त किया जा चुका था। उत्तर भारत में रही-सही समस्त बाधाएँ १८५७ की राज्य-क्रान्ति में विफल हो जाने के बाद दूर हो गईं। इसी बीच इंगलैण्ड में इस विषय की बड़ी चर्चा रही कि भारत में अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए किन उपायों से काम लिया जाए। लार्ड मैकाले ने जो उपाय सुझाए, उनकी चर्चा हम बाद में करेंगे। दूसरे राजनीतिज्ञों ने जो उपाय सुझाए, उनमें मुख्य यह था कि भारत में जहाँ-तहाँ अंग्रेज बस्तियाँ बसाकर उसको पूरी तरह अंग्रेजों का उपनिवेश बना दिया जाए। उनका यह स्पष्ट मत था कि इस तरह की बस्तियों से भारत में अंग्रेजी राज चिरस्थायी बन सकेगा। सर फ्रेडरिक शोर का मत यह था कि भारतवासियों की ओर से कोई विद्रोह या विप्लव होने पर भारत में बसे हुए अंग्रेज अपना सारा प्रभाव अंग्रेज सरकार के पक्ष में लगा देंगे और अपने देशी नौकरों व साथियों आदि को भी

ऐसा ही करने के लिए उत्तेजित करेंगे। ऐसे लोगों का मत प्रबल होता चला गया। इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के १८३३ चार्टर एक्ट में उन अंग्रेजों के लिए कई तरह की नई सुविधाएँ कर दी गईं, जो भारत में आकर बसना चाहते थे। नेपाल के रेजिडेण्ट ब्रायन हांटन हांसजन ने दिसम्बर सन् १८५६ में हिमालय की उर्वर घाटियों में योरोपियनों के उपनिवेश बसाने के पक्ष में एक अत्यन्त जोरदार पत्र लिखा। उसने लिखा था कि हिमालय में अपने उपनिवेशों को बसाना अंग्रेजी सरकार के सर्वोच्च और सब से अधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्यों में से एक है। "हॉसजन की राय में" भारत के अन्दर ब्रिटिश सत्ता को स्थायी बनाने के लिए सब से बड़ा, सब से पक्का, सब से निशंक और सब से सुगम राजनीतिक उपाय भारत के अन्दर अंग्रेजों के उपनिवेश ही हो सकते थे। उसकी योजना यह थी कि आयर्लैण्ड और स्वीटजरलैण्ड के किसानों को मुफ्त जमीन देकर भारत में प्रोत्साहित किया जाए।

१८५७ की क्रान्ति

१८५७ की राजक्रान्ति के विफल होने के बाद इस आन्दोलन ने इंगलैण्ड में और भी अधिक जोर पकड़ा। ईसाई पादरियों और अंग्रेजी राजनीतिज्ञों ने एक दूसरे के स्वर में स्वर मिलाकर यह कहना शुरू किया कि जहाँ कहीं भी ईसाईयत अथवा अंग्रेजीयत का प्रभाव था, वहाँ वह विद्रोह फैल नहीं सका। इसलिए सारे ही भारत में ईसाई-धर्म फैलाकर और अंग्रेजी बस्तियों को बसाकर अपने प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत एवं सुदृढ़ करना चाहिए। इसी हेतु से १८५८ में एक विशेष कमेटी इस सम्बन्ध में जाँच करने के लिए नियुक्त की गई थी। उसके बाद से अंग्रेज शासकों ने अंग्रेजों विशेषतः अंग्रेज पूँजीपतियों को भारत में आकर बसने के लिए उत्साहित करना शुरू किया। आसाम और कुमायूं में चाय की काश्त के प्रयोग किए गए और यह घोषणा की गयी कि उनके सफल होने पर बड़े-बड़े चाय बागान कायम करने के लिए उन अंग्रेजों को भूमि आदि की सुविधाएँ दी जाएँगी, जो भारत में आकर बसना चाहेंगे। वैसा ही किया भी गया। अंग्रेज पूँजीपतियों की स्थिति व आर्थिक लाभ को सुरक्षित रखने के लिए ऐसे कानून बनाये गए, जिनके कारण उनकी तुलना में भारतवासी केवल उनके कुली, मजदूर व कानूनी गुलाम बनकर रह गए। उनके साथ किया जानेवाला व्यवहार अंग्रेजी राज का सबसे अधिक गर्हित, कुत्सित और कलंकित अध्याय है। बिहार में इसी प्रकार नील की खेती करने का एकाधिकार अंग्रेजों को दे दिया गया। उन निलहे अंग्रेजों के विरुद्ध महात्मा गांधी ने चम्पारण में सब से पहला सत्याग्रह किया था। इस प्रकार भारत के पहाड़ी व उपजाऊ प्रदेशों को आबाद होने और मैदानों में अंग्रेज पूँजीपतियों को बड़े-बड़े उद्योगधन्धे शुरू करने की सुविधाएँ देकर भारतीय किसानों को बर्बाद कर दिया गया और उनकी स्थिति इतनी दयनीय बना दी गयी कि वे केवल उनकी कृपा पर निर्भर रह गए। उनकी योजना यह थी कि अलजीरिया व उत्तरी अफ्रीका के समान समस्त हिन्दुस्तान में अंग्रेज पूँजीपतियों, अंग्रेज किसानों और सम्भव हो तो अंग्रेज मजदूरों को बसाया जाए। जहाँ तक सम्भव हो सका, इस योजना को मूर्तरूप दिया गया।

दूसरा भयानक षड़यन्त्र

इससे भी कहीं अधिक बड़ा षडयंत्र ईसाई पादरियों और लार्ड मैकाले सरीखे अंग्रेजों ने सोचा था। लार्ड क्लाइव ने यह आविष्कार किया था कि भारत को भारत के ही धन, जल अथवा तलवार से जीतकर यहाँ अंग्रेजी राज्य कायम किया जा सकता है, तो लार्ड मैकाले ने यह आविष्कार किया कि भारत में भारतीयों की कलम से ही अंग्रेजी राज्य का संचालन किया जाना सर्वथा सम्भव है और ईसाई पादरियों का आविष्कार यह था कि भारत को ईसाईयत के रंग में रँग कर यहाँ अंग्रेजी राज को "यावतच्चन्द्र दिवाकरौ" अमर बनाया जा सकता है। इन सब आविष्कारों और उनके पीछे विद्यमान षडयंत्र का लक्ष्य यह था कि राजनीतिक विजय के बाद भारत पर सामाजिक और सांस्कृतिक विजय प्राप्त की जाए। १८३३ में लार्ड मैकाले को भारत में

वाइसराय की कौंसिल का कानूनी सदस्य बनाकर भेजा गया। भारतीय दंड विधान 'इंडियन पीनल कोड' की रचना और अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का सारा श्रेय लार्ड मैकाले को प्राप्त है। १८१३ के "चार्टर एक्ट" में भारत में शिक्षा व साहित्य के प्रसार के लिए सालाना एक लाख की रकम खर्च करने की स्वीकृति दी गई थी। १८३३ के चार्टर कानून में उसको बढ़ा कर बीस लाख कर दिया गया। लार्ड मैकाले के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इस बीस लाख की रकम का विनियोग किस प्रकार किया जाए। कुछ लोग इसको संस्कृत व अरबी की शिक्षा को उन्नत बनाने में खर्च करना चाहते थे और कुछ लोग उसको केवल अग्रेजी शिक्षा के प्रचार में लगाना चाहते थे। लार्ड मैकाले को भारतवासियों, भारत की धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं से और समस्त भारतीय चीजों से बड़ी घृणा थी। उसने इस रकम के विनियोग के सम्बन्ध में जो "खरीता" १८३५ में तैयार किया था, उसका एक शब्द भारत के प्रति उसकी घृणा को प्रकट करनेवाला है। वह भारतीयों की राष्ट्रीयता का घोर विरोधी और कट्टर दुश्मन था। उनके स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान को जड़-मूल से नष्ट करने के लिए ही उसने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अग्रेजी शिक्षा देने की उस "खरीते" में जोरदार वकालत की थी और यह लिखा था :

"हमें भारत में इस तरह की एक श्रेणी पैदा करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए जो कि हमारे और उन करोड़ों भारतीयों के बीच, जिन पर हम शासन करते हैं, दुभाषिये, मध्यस्थ, का काम करें। ये लोग ऐसे होने चाहिएं जो कि केवल रक्त और रंग की दृष्टि से हिन्दुस्तानी हों, किन्तु जो अपनी रुचि, भाषा, भावों और विचारों की दृष्टि से अंग्रेज हों।"

उस समय का गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिंग भी लार्ड मैकाले के ही मत का था। उसने ७ मार्च १८३५ को उस धनराशि को लार्ड मैकाले के लिखे अनुसार अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च करने का फैसला दे दिया।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रवेश

लार्ड मैकाले ने अपने द्वारा प्रारम्भ की गयी इस शिक्षा-प्रणाली की सफलता के सम्बन्ध में १८३६ में अपने पिता को एक पत्र में ठीक ही लिखा था कि "मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा की योजनाओं के अनुसार कार्य होता रहा, तो आज से तीस वर्ष बाद बंगाल के बाइज्जत लोगों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा।" इस पर "दी इंडियन डेली न्यूज" के अंग्रेज सम्पादक ने यह लिखा था कि "लार्ड मैकाले की जीत वास्तव में भारतवासियों के धार्मिक और सामाजिक जीवन को नाश करने के स्पष्ट संकल्प की जीत थी।"

सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक प्रो० एच० एच० विलसन ने ५ जुलाई, १८५३ को पार्लमिंट की सिलेक्ट कमेटी के सामने लार्ड मैकाले की शिक्षा-प्रणाली और लार्ड विलियम बेंटिंग के फैसले के परिणामों की चर्चा करते हुए कहा था कि "वास्तव में हम ने अंग्रेजी पढ़े-लिखों की एक पृथक् जाति बना दी है, जिन्हें कि अपने देश-वासियों के साथ या तो जरा भी सहानुभूति नहीं है और यदि है, तो बहुत ही कम।"

लार्ड मैकाले के बहनोई सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने इसी सिलेक्ट कमेटी के सामने बहुत विस्तार के साथ अंग्रजी की सफलता पर प्रकाश डाला था। उसने अपने विचार एक पत्र द्वारा प्रकट किए थे। उसमें उसने लिखा था कि "भारतवासियों के अरबी और संस्कृत पढ़ाने या उनके प्राचीन विचारों और प्राचीन राष्ट्रीय साहित्य के जीवित रखने का अर्थ यह होगा कि मुसलमानों को सदा यह बात याद आती रहेगी कि हम विधर्मी ईसाई शासकों ने उनके अनेक सुन्दर-से-सुन्दर प्रदेश उनसे छीनकर अपने आधीन कर लिए हैं और हिन्दुओं को सदा यह याद रहेगा कि अंग्रेज लोग इस प्रकार के अपवित्र राक्षस हैं, जिनके साथ किसी तरह का मेल-जोल रखना लज्जाजनक और पाप है। हमारे बड़े-से-बड़े शत्रु भी इससे अधिक और कुछ इच्छा नहीं कर सकते कि हम इस तरह की विद्याओं का प्रचार करें, जिनसे मानव स्वभाव के उग्र-से-उग्र भाव हमारे विरुद्ध भड़क उठें। इसके विपरीत अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव अंग्रेजी राज के लिए हितकर हुए बिना नहीं रह सकता। जो भारतीय

युवक हमारे साहित्य द्वारा हमसे भलीभाँति परिचित हो जाते हैं, वे हमें विदेशी समझना प्राय: बन्द कर देते हैं। वे हमारे महापुरुषों का जिक्र उसी उत्साह के साथ करते हैं, जिस उत्साह के साथ हम करते हैं। हमारी ही शिक्षा, हमारी ही रुचि और हमारे ही रहन-सहन के कारण इन लोगों में हिन्दुस्तानियत कम हो जाती है और अंग्रेजियत अधिक आ जाती है। पर बजाय इसके कि हमारे तीव्र विरोधी हों, या यदि हमारे अनुयायी भी हों तो उनके हृदय में हमारी ओर क्रोधभरा रहे, वे हमारे होशियार और उत्साही मददगार बन जाते हैं। फिर वे हमें अपने देश से बाहर निकालने के प्रचण्ड उपाय सोचना बन्द कर देते हैं। उनके राष्ट्रीय विचारों को दूसरी ओर मोड़ने का केवल एक ही उपाय है। वह यह है कि उनमें पाश्चात्य विचार पैदा कर दिये जाएँ। जो युवक हमारे स्कूलों और कालिजोंमें पढ़ते हैं वे उस सभ्य शासन को, जिनके आधीन उनके पूर्वज रहा करते थे, घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं, और फिर अपनी राष्ट्रीय संस्थाओं को "अंग्रेजी ढंग पर ढालने की आशा करने लगते हैं; बजाय इसके कि उनके दिलों में यही विचार सब से ऊपर हो कि हम अंग्रेजों को निकाल कर समुद्र में फेंक दें। हम यदि भारतीयों को योरोपियन ढंग की उन्नति करने में लगा देंगे, तो फिर उनमें से पुराने ढंग पर भारत को स्वाधीन करने की इच्छा ही जाती रहेगी। देश में अचानक राजक्रान्ति फिर असम्भव हो जाएगी और हमारे लिए भारत पर अपना साम्राज्य कायम रखना बहुत काल के लिए असंन्दिग्ध हो जाएगा। भारत-वासी फिर हमारे विरुद्ध विद्रोह न करेंगे। मुझे विश्वास है कि थोड़े ही दिनों में भारतवासियों का सम्बन्ध हमारे साथ वैसा ही हो जाएगा, जैसा कि किसी समय हमारा रोमन लोगों के साथ था। हमारे लिए यह शर्म की बात होगी, यदि हम भारतीयों के दिलों में रोमन्स की तरह यह भय पैदा न कर दें कि हमारा इस देश को छोड़ना उनके लिए भयानक विपत्ति का कारण बन जाएगा।"

ईसाई-धर्म का प्रचार

लार्ड मैकाले की शिक्षा-प्रणाली के पीछे विद्यमान हेतु को स्पष्ट करने के लिए और अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। अंग्रेजों के राज्य के समाप्त हो जाने के ग्यारह वर्ष बाद भी हम उसके दुष्परिणाम भोग रहे हैं। हमारी राष्ट्रीयता को उससे जो चोट लगी, उसकी भरपाई आज तक कभी नहीं की जा सकी है। ईसाई-धर्म के प्रसार का लक्ष्य भी यही था। चीन के राष्ट्रपिता डा० सुनयात सेन स्वयं ईसाई होते हुए भी ईसाई पादरियों को साम्राज्यवादियों के शिकारी कुत्ते कहा करते थे। अनेक स्वतन्त्र विचारकों न इसी कारण "बाइबिल" की गणना "बियर" और "बियोनेट" के उन साधनों के साथ की है, जिनसे काम लेते हुए पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने एशिया के देशों में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। ईसाई पादरियों के जो पहले जत्थे भारत में आए थे, उनकी योजना केवल तीस वर्षों में सारे भारत को ईसाई बना देने की थी। १८१३ के ईस्ट इंडिया कंपनी के चार्टर एक्ट के अनुसार भारत में ईसाई-धर्म के प्रचार के लिए एक सरकारी महकमा भी कायम कर दिया गया था। उसका नाम था "एक्लेजिएस्टिकल डिपार्टमेंट।" इस चार्टर एक्ट में यह भी एक धारा थी कि जो अंग्रेज ईसाई पादरी भारतवासियों के धार्मिक उद्धार के लिए यानी उन्हें ईसाई बनाने के लिए भारत जाना चाहें और वहाँ रहना चाहें 'उन्हें' कानून के जरिए हर प्रकार की सुविधा दी जाए। यह महकमा और उसका सारा खर्च भारतीयों के सिर मढ़ा जाता था। बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी और सेना के अफसर भी ईसाईयत के प्रचार में लगे रहते थे। सरकारी नौकरियों और ऊँचे सैनिक पदों पर नियुक्ति के लिए ईसाई बननेवालों को तरजीह दी जाती थी। १८५७ की राज्यक्रान्ति के कारणों की निष्पक्ष मीमांसा करनेवालों ने एक मुख्य कारण ईसाई-धर्म का प्रचार भी बताया है। इसीलिए उस राज्य-क्रान्ति का दमन करते हुए भारतीयों की धार्मिक भावनाओं को यहाँ तक कुचलने की कोशिश की गई कि ऊँचे घराने के हिन्दुओं व मुसलमानों से झाड़ू लगवायी गयी, मेहतरों का काम करवाया गया, गाय या सूअर का मांस जबरन उनके मुँह में ठूँसा गया और फांसी देने से पहले गाय व सूअर के चमड़ों में उनको लपेटा गया। ये सारे

कुकृत्य केवल इसीलिए किए जाते थे कि मरने के बाद भी उनकी अपने धार्मिक विचारों के अनुसार सद्गति न मिल सके। १८५७ की राज्यक्रान्ति को कुचल देने के बाद अधिकांश अंग्रेज राजनीतिज्ञों का यह निश्चित मत हो गया था कि भारतीयों की रही-सही राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अन्त करने के लिए ईसाई-मत का प्रचार और अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार बे रोक-टोक किया जाना चाहिए। यद्यपि विक्टोरिया की सुप्रसिद्ध घोषणा में धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वायदा किया गया था, परन्तु सन् १८५८ में प्रधान मन्त्री लार्ड पामर्सटन ने ईसाई पादरियों के एक शिष्ट मण्डल को कहा था कि "मालूम होता है कि अन्तिम लक्ष्य के विषय में हम सब का एक ही मत है। समस्त भारत में पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक ईसाई-मत के प्रसार में जहाँ तक हो सके मदद देना, न केवल हमारा कर्त्तव्य है, बल्कि इसी में हमारा हित है।"

इंगलैण्ड में प्रायः सर्वत्र यह एक मत से स्वीकार किया गया कि हमारे दुश्मन वे मुसलमान थे जिनके मजहब की तारीफ करके हमने उन्हें फुला दिया और वे हिन्दू थे जिनके अन्ध विश्वासों को हमने पुष्ट किया किन्तु हमारे सच्चे मित्र वे हिन्दुस्तानी थे जिन्हें हमारे पादरियों ने ईसाई बना लिया था। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार और ईसाई-धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में अंग्रेज राजनीतिज्ञों की आकांक्षाएँ अधिकांश में पूरी हुईं।

भारतीय दंड विधान का लक्ष्य

इसी प्रसंग में लार्ड मैकाले द्वारा तैयार किए गए भारतीय दंड विधान, इण्डियन पीनल कोड के वास्तविक उद्देश्य पर कुछ प्रकाश डालना भी आवश्यक प्रतीत होता है। आयरलैण्ड और भारत में प्रायः एक-सी ही दुर्नीति अपनाई गई थी। इस कारण दोनों में दंड विधान की भी एक सरीखी व्यवस्था की गई थी। बर्क ने "आइरिश दंड विधान" के सम्बन्ध में लिखा है कि "किसी भी कुशाग्र बुद्धि किन्तु सदाचार रहित व्यक्ति ने किसी कौम पर अत्याचार करने, उसे दरिद्र बनाने, उसे आचारभ्रष्ट करने और उनमें से मनुष्यत्व का नाश करने के लिए इससे अधिक उपयुक्त यंत्र न रचा होगा।" यही बात "भारतीय दंड विधान" पर भी लागू होती है। इस विधान का उद्देश्य भारतीयों को निर्धन बनाना, उन्हें चरित्र भ्रष्ट करना, उनमें बेईमानी और मुकदमेबाजी की आदत पैदा करना और उन्हें सर्वथा बर्बाद करना था। लार्ड हेस्टिंग्स ने सन् १८१९ में यह स्वीकार किया था कि किस प्रकार नई अंग्रेजी अदालतों ने बंगाल की जायदादों को बर्बाद किया, देश के सुखी और समृद्ध किसानों को निर्धनता और दरिद्रता की नीचतम स्थिति तक पहुँचा दिया, उनके सदाचार का सत्यानाश किया, पुरानी सामाजिक संस्थाओं को तोड़-फोड़ डाला और भारतवासियों की परवशता को और भी अधिक बढ़ा दिया। इस स्थिति को लार्ड मैकाले के भारतीय दंड विधान ने चरम सीमा पर पहुँचा दिया और सदा के लिए उस पर एक मोहर लगा दी।

संकटापन्न विषम स्थिति

भारतीय जीवन पर इस प्रकार चारों ओर से आक्रमण करने के लिए अंग्रेजी राजनीतिज्ञों और ईसाई पादरियों ने जो भीषण षडयंत्र रचा था, उसके परिणामों की विशद चर्चा करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो यही दिखाना अभीष्ट है कि डेढ़-दो सदी पहले भारतीय जीवन के लिए कैसी संकटापन्न विषम स्थिति पैदा हो गयी थी। यदि कहीं राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरीखे समाज सुधारक महापुरुषों ने धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति का शंखनाद न किया होता, तो इसमें तनिक भी सन्देश नहीं है कि उनका वह षडयंत्र निश्चित रूप से सफल हो गया होता और भारतीयता नाम की कोई भी चीज इस देश में देखने को कहीं नसीब न होती। इस ऐतिहासिक विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पिछली डेढ़ सदी का समाज-सुधार आन्दोलन अंग्रेजों अथवा अंग्रेजी शिक्षा की देन नहीं है। वस्तुतः वह इस दुर्नीति की प्रतिक्रिया है, जो

इस देश म अंग्रेजी बस्तियाँ बसाने, अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार करने, ईसाई-धर्म का प्रचार करने और भारतीय दंड-विधान की व्यवस्था को चालू करने के रूप में अपनायी गयी थीं। यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ यह दुर्नीति इसलिए भी सफल न हो सकी कि इस महान् प्राचीन शिक्षित और सुसंस्कृत देश की करोड़ों जनता को मिटाकर, उनकी जगह अंग्रेजी बस्तियों का बसाना वैसा आसान न था, जैसा कि अमेरिका, अफ्रीका व आस्ट्रेलिया के अर्ध सभ्य आदिवासियों को मिटाकर उनकी जगह ले लेना था। परन्तु जो भी सफलताएँ ईसाई पादरियों तथा अंग्रेज राजनीतिज्ञों को प्राप्त हो सकीं, वे सब हमारी ही सामाजिक एवं धार्मिक कमजोरियों का परिणाम थीं। धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से हमारा राष्ट्रीय जीवन बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो चुका था। जनता का सामान्य सामाजिक जीवन धार्मिक अन्ध विश्वासों, मिथ्या रूढ़ियों, भ्रान्त धारणाओं और अविवेकी मान्यताओं के मायाजाल में बुरी तरह उलझा दिया गया था। साम्प्रदायिक भेदभाव के धर्म व जाति के नाम पर पत्थर की लकीर बना दिया गया था। रोटी-बेटी के पारस्परिक सामाजिक व्यवहार का दायरा संकीर्ण बना दिया गया था कि हजारों टुकड़ों में भारतीय समाज बिखरा हुआ था। चार हजार से अधिक जाति व उपजाति के भेद देश में फैले हुए थे। छूतछात सरीखी कठोर, निर्दय और मनुष्यत्वहीन कुप्रथा का समर्थन भी धर्म के नाम से किया जाने लग गया था। पति के साथ उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नी के सहमरण को उसके सतीत्व की सब से बड़ी मर्यादा मान लिया गया था और उसका पालन एक कठोरता के साथ किया जाता था कि जबरन उसको पति की चिता पर बिठाकर उसका भी दाह कर दिया जाता था। इससे भी कहीं अधिक कठोर निर्दयता यह थी कि उस निर्मम कुप्रथा को "सती" नाम दे दिया गया था। पुरुष के विवाहों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वह पत्नी के जीवित रहते अथवा उसके मरने के बाद भी मनमाने विवाह कर सकता था, किन्तु विधवा हो जाने के बाद पत्नी अपने मुंह से विवाह शब्द का उच्चारण तक नहीं कर सकती थी। उसको सब अपशकुनों का जीवित प्रतीक मानकर सब प्रकार के पारिवारिक, सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यों तथा व्यवहारों से बहिष्कृत रखा जाता था। हरिजनों के लिए मन्दिरों में देव-दर्शन करना तो दूर रहा, वे देव-मन्दिरों को जानेवाली सड़कों पर भी चल नहीं सकते थे। भीषण गर्मी में भी कुओं, बावलियों, तालाबों तथा घाटों से पानी लेना उनके लिए निषिद्ध था। देव मन्दिरों में देवदासी प्रथा को मान्यता देकर अनैतिक तथा भ्रष्टाचार को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई थी। सारा धर्म-कर्म पण्डों, पंडितों तथा पुरोहितों के हाथों में देकर उनकी मनमानी व्यवस्था को धर्म की व्यवस्था मान लिया जाता था। जन्म से भी पहले से लेकर मृत्यु के भी बाद तक मानव जीवन पर उनका एकाधिकार अथवा स्वच्छन्द नियंत्रण कायम था। शास्त्रों में बन्द धर्म तक जनता की कोई पहुँच न थी और उन शास्त्रों के नाम पर कही जानेवाली बेहूदा-से-बेहूदा बात को भी धार्मिक आदेश मानकर स्वीकार करने को वह बाध्य थी। इस प्रकार जो धार्मिक एवं सामाजिक अनाचार सारे ही देश में व्यापक था, उससे अंग्रेज राजनीतिज्ञों और ईसाई पादरियों ने पूरा लाभ उठाया। जैसे विशृंखल सेना को पराजित करना सुसंगठित सेना के लिए कुछ भी कठिन नहीं होता, ठीक वैसे ही धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से विशृंखल समाज पर दूसरे सहसा ही छा जाते हैं। डेढ़-दो सदी पहले हमारी भी ठीक यही स्थिति थी।

दुर्नीति की प्रतिक्रिया

उनके दुर्नीतिपूर्ण इस भीषण षडयंत्र को विफल बनाने की कहानी अत्यन्त विस्तृत, उत्साहपूर्ण, स्फूर्तिदायक और प्रेरणाप्रद है। हम यहाँ विभिन्न प्रदेशों की दृष्टि से उसका अत्यन्त संक्षेप में केवल सिंहावलोकन कर सकते हैं। उसका विस्तृत विवरण एक लम्बे इतिहास का विषय है। संस्थाओं के रूप में पूर्व में ब्राह्म समाज, उत्तर में आर्य समाज और दक्षिण में सत्यशोधक समाज तथा प्रार्थना समाज के शीर्षकों में मुख्यत: उसको बाँटा जा सकता है। महापुरुषों की दृष्टि से राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन,

स्वामी दयानन्द, ज्योतिर्बाफूले आदि के नाम मुख्यतः लिए जा सकते हैं। उनकी पूरी तालिका तैयार की जाए, तो दर्जनों पर पहुँच जाएगी। हमारे सरीखे सुविस्तृत देश और सुविस्तृत समाज में किसी भी एक संस्था और एक महापुरुष द्वारा धार्मिक व सामाजिक क्रान्ति के इस महान् कार्य का सम्पादन किया जाना सम्भव ही न था। तब यह महान् कार्य और भी अधिक दुस्साध्य था, जब कि समाज-सुधारकों की स्थिति उस छोटी-सी सेना के समान थी जो चारों ओर से शत्रु-सेना द्वारा घेर ली जाती है और जिस पर चारों ओर से आक्रमण कर दिया जाता है। एक ओर इन सुधारकों को विदेशी ईसाई पादरियों तथा अंग्रेज राजनीतिज्ञों की अपार शक्ति का सामना करना था, तो दूसरी ओर अपने ही घर के पुरातन पंथियों, धर्माचार्यों तथा समाज के पंचों व चौधरियों की सुसंगठित शक्ति से लोहा लेना था। अपने घर का विरोध सदा ही तीव्र और भयानक होता है। इस युग के सुधारकों को भी इस तीव्र और भयानक विरोध का अत्यन्त भीषण सामना करना पड़ा, परन्तु वे धीर, वीर व साहसी सैनिकों की तरह मैदान में डटे रहे और अपने ध्येय की पूर्ति के लिए बड़े-से बड़े बलिदान करने के लिए तत्पर रहे।

उनकी साहसपूर्ण इस लम्बी कहानी को हम यहाँ मुख्यतः पूर्व, उत्तर और दक्षिण के तीन हिस्सों में बाँट लेना चाहते हैं। इन्हीं में ब्राह्म समाज, आर्य समाज तथा सत्यशोधक समाज व प्रार्थना समाज का मुख्य कार्य-क्षेत्र रहा। समय की दृष्टि से पहला स्थान ब्राह्म समाज के कार्यक्षेत्र पूर्व भारत का है, दूसरा सत्यशोधक समाज व प्रार्थना समाज के कार्यक्षेत्र दक्षिण पश्चिमी भारत और तीसरा आर्य समाज का कार्यक्षेत्र उत्तर भारत का है। एतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि १७५७ में प्लासी की पराजय की जो प्रतिक्रिया पूर्वी भारत में ब्राह्म समाज के रूप में हुई, वही १८१८ में किरकी की पराजय के रूप में सत्यशोधक समाज व प्रार्थना समाज के रूप में दक्षिण पश्चिमी भारत में और १८५७ की राज्यक्रान्ति की विफलता की प्रतिक्रिया उत्तर भारत में आर्य समाज के रूप में हुई। यह प्रतिक्रिया दो मुखी थी। उसका एक लक्ष्य यह था कि उन धार्मिक व सामाजिक कमी व कमजोरियों को दूर किया जाए, जिनसे लाभ उठाकर ईसाई पादरी अंग्रेज राजनीतिज्ञों की सहायता पाकर ईसाई-धर्म व अंग्रेजियत का प्रचार करने में सफल हो रहे थे और दूसरा यह था कि उसके फल-स्वरूप स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान की जो भावना बढ़ती जा रही थी, उसको पुनर्जीवित किया जाए। यह एक सर्वसम्मत ऐतिहासिक तथ्य है कि जब राजनीतिक भावना के स्पष्ट रूप में प्रकट होने के सब मार्ग अवरुद्ध कर दिए जाते हैं, तब वह भावना धार्मिक व सामाजिक सुधार के निरापद मार्गों से प्रकट होती है। हमारे देश में भी ऐसा ही हुआ। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में और उसके बाद तीसरे में जो राजनीतिक आन्दोलन उग्र रूप में प्रकट हुए, उनका बीजारोपण १९ वीं सदी में यत्र-तत्र प्रारम्भ हुए समाज सुधार के आन्दोलन द्वारा किया गया था। इसी दृष्टि से उन आन्दोलनों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

हम यहाँ उसी क्रम से समाज-सुधार के इस महान् देशव्यापी आन्दोलन का सिंहावलोकन करना अधिक उचित समझते हैं, जिसका हमने अनेक दृष्टियों से ऊपर उल्लेख किया है।

पूर्वी भारत

यह आमतौर पर मान लिया गया है कि अंग्रेजी शिक्षा से लोगों के दिल और दिमाग में स्वतन्त्र विचार करने की प्रवृत्ति पैदा हुई और उस प्रवृत्ति के गर्भ में से समाज-सुधार के आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। यह मान्यता नितान्त भ्रममूलक है। उसके प्रभाव की हम सर्वथा उपेक्षा नहीं करना चाहते, परन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य तो जनता में दीनता, दास व हीनता की मनोवृत्ति पैदा करना था। ऊपर हम यह दिखा आए हैं कि बंगाल में यह मनोवृत्ति अंग्रेजी शिक्षा द्वारा किस तेजी से, किस प्रकार सफलतापूर्वक पैदा की गई थी। इस शिक्षा-प्रणाली के भी शुरू होने से पहले अंग्रेज पादरी अपना प्रचार कार्य शुरू कर चुके थे। १७९२ में बंगाल में "बैपतिस्त मिशनरी सोसाइटी" के रूप में पहला ईसाई मिशन कायम हो चुका था। ईसाई पादरी अपने

धर्म के प्रचार के लिए यहाँ प्रचलित धार्मिक व सामाजिक आचार-विचार की कमियाँ और कमजोरियाँ लोगों के सामने रखने लगे। वे धार्मिक संस्कारों और विचारों पर सीधी चोट भी करने लग गए। तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं की पूजा, उत्कट ब्राह्मणवाद तथा जाति-भेद आदि का उन्होंने मजाक करना शुरू कर दिया। इस प्रकार वे हिन्दू-धर्म को हेय बताकर ईसाई-धर्म की उपादेयता का प्रतिपादन करने लग गए। मिशनरियों के इन कार्यकलापों की प्रतिक्रिया बंगाल में धर्म-सुधार और समाज-सुधार के आन्दोलन के रूप में हुई। उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में ईसाई पादरियों का वेग बंगाल में बहुत बढ़ गया। इसी समय बंगाल में समाज-सुधार के आन्दोलन का भी सूत्रपात हुआ। १८१४ में राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में स्थायी रूप से रहना शुरू कर दिया। राजा राममोहन राय ने अपने कार्य का आरम्भ स्वामी दयानन्द की तरह धर्म-सुधार से किया। ईसाई पादरी हिन्दू-धर्म का जो विकृत रूप जनता के सम्मुख उपस्थित करते थे, उसका निराकरण करने के लिए धर्म-सुधार आवश्यक था। फिर जिन अन्धरूढ़ियों, मिथ्या सामाजिक परम्पराओं और भ्रान्त धारणाओं में जनता फँसी हुई थी और जिनसे ईसाई पादरी अनुचित लाभ उठाते थे, उनका मूल भी धर्मान्धता में निहित था। यह धर्मान्धता धर्म-सुधार के बिना दूर नहीं की जा सकती थी। धर्म को सुधारे बिना समाज के सुधार की कोई कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। इसीलिए उन्होंने अपने धर्म का वास्तविक रूप जनता के सम्मुख उपस्थित करने के लिए १८१५ में वेदों व उपनिषदों आदि का बंगला में अनुवाद प्रकाशित करवाया। अन्य धर्म-ग्रन्थों के भी इसी प्रकार उन्होंने अनुवाद प्रकाशित करवाए। बहुत-सा साहित्य उन्होंने जनता को जागृत व शिक्षित करने के लिए मुफ्त बँटवाया। इस ज्ञान-गंगा को आम जनता के लिए सुलभ बनाकर उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक विप्लव का सूत्रपात करने का भगीरथ प्रयत्न किया। भगीरथ इसको इसलिए कहना चाहिए कि जो ज्ञान-गंगा अब तक केवल ब्राह्मणों के स्वर्गलोक और उनके पोथी-पत्रों में बन्द रहने के कारण आम जनता के लिए दुर्लभ और दुर्बोध थी, उसको उन्होंने उसकी अपनी भाषा में सुलभ और सुबोध बना दिया। एक ओर ब्राह्मणों व पुरोहितों के धार्मिक एकाधिकार के विरुद्ध विद्रोह किया गया और दूसरी ओर ईसाई पादरियों के मायाजाल को छिन्न-भिन्न किया गया। उनकी मुख्य युक्ति यह थी कि यदि ईसाई पादरियों द्वारा विकृत किए जाने पर भी ईसाई-धर्म हेय व त्याज्य नहीं माना गया, तो ब्राह्मणों व पुरोहितों द्वारा विकृत किए गए हिन्दू-धर्म को हेय व त्याज्य क्यों माना जाए? अपने इस कथन को पुष्ट करने के लिए उन्होंने वेदों, उपनिषदों तथा अन्य धर्मशास्त्रों का बंगला में अनुवाद करा कर धर्म के वास्तविक रूप को प्रकट किया। उन्होंने यह भी बताया कि मूर्ति-पूजा तथा बहुदेवोपासना आदि ही हिन्दू-धर्म नहीं है। इसी वर्ष १८१५ में हिन्दू-धर्म के वास्तविक रूप को जनता के सम्मुख उपस्थित करने के लिए उन्होंने "आत्मीय सभा" के नाम से एक संस्था की भी स्थापना की थी। सम्भवतः बंगाल की यही सर्वप्रथम धार्मिक एवं सामाजिक सुधार की संस्था है। इस सभा के अधिवेशनों में नियमित रूप से धार्मिक एवं सामाजिक विषयों पर चर्चा की जाने लगी, वेदों का पाठ किया जाने लगा और धार्मिक प्रार्थनाएँ की जाने लगीं। जिन सामाजिक विषयों की चर्चा इसमें की जाती, उनमें जातिभेद, पंक्ति भोजन-निषिद्ध खाद्य पदार्थ, बाल-विधवाओं का बलात् वैधव्य, बहुविवाह, सती-प्रथा, मूर्त्ति-पूजा आदि मुख्य थे। मुख्यतः ये ही वे विषय हैं, जिनकी भित्ति पर देशव्यापी समाज-सुधार आन्दोलन का पूर्व के बाद उत्तर-दक्षिण और पश्चिम में व्यापक संगठन व संचालन किया गया। स्थिति पालक, पुरातन पंथी तथा प्रतिक्रियावादी लोगों के प्रचण्ड प्रतिगामी आन्दोलन का इस सभा को जो सामना करना पड़ा, उसका इतिहास भी कुछ कम भयानक नहीं है। निम्नतम कोटि के अनेक उपाय उसके विरोध में काम में लाए गए।

ब्राह्म समाज की स्थापना

आत्मीय सभा के इस विरोध के कारण बिखर जाने पर भी राजा राममोहनराय निराश नहीं हुए। उन्होंने १८२१ में यूनिटेरियन सोसाइटी की स्थापना की। उससे भी सन्तुष्ट न होकर १८२८ में ब्राह्म समाज

स्थापित किया। प्रारम्भ में यह समाज किसी भी समाज विशेष तक सीमित कोई साम्प्रदायिक संगठन नहीं था। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि सब समान भाव से उसमें सम्मिलित हुआ करते थे। बाद में उसमें कुछ ऐसे परिवर्तन हुए कि उसने हिन्दुओं तक सीमित रहकर एक सम्प्रदाय का-सा रूप धारण कर लिया। परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि ब्राह्म समाज ही बंगाल में समाज-सुधार का आन्दोलन करनेवाली एक अगुवा संस्था थी, जिसका प्रभाव बंगाल के बाहर, विशेषतः दक्षिण भारत पर पड़ा। सम्प्रदाय का-सा रूप धारण कर लेने पर भी ब्राह्म समाज ने समाज-सुधार के आदर्श को अपने सामने से कभी भी तिरोहित नहीं किया। अमानुषिक सती-प्रथा का उन्मूलन राजा राममोहनराय की वर्तमान भारत को सब से बड़ी देन है और समाज-सुधार का सब से बड़ा काम है। उनका यह स्पष्ट मत था कि यह अमानवीय कुप्रथा धर्म सम्मत व शास्त्र सम्मत नहीं है। किन्तु धर्म विकृत शास्त्र विकृत कुसंस्कार है। ४ दिसम्बर १८२९ को इस कुप्रथा को गैर-कानूनी घोषित किया गया। समाज-सुधार की दिशा में यह पहला और बहुत बड़ा कदम था, जिसका सारा श्रेय एकमात्र राजा राममोहन राय को है। इस कानून के बनते ही राजा राममोहन राय पर चारों ओर से भीषण प्रहार होने प्रारम्भ हो गए और धर्म डूबता देखकर उसको बचाने के लिए १८३० में एक धर्म सभा स्थापित की गई। इसके द्वारा उनका संगठित विरोध किया जाने लगा। इस कानून को रद्द कराने के लिए सभा की ओर से आकाश-पाताल एक कर दिया गया। हिन्दू धर्माभिमानी कोई पंडित समुद्र यात्रा करने का पाप कृत्य करके इंगलैण्ड नहीं जा सकता था। इसलिए बेथी नाम के एक अंग्रेज को अपना वकील या प्रतिनिधि बनाकर सभा की ओर से वहाँ भेजा गया। १८३० में राजा राममोहन राय इंगलैण्ड गए और वहाँ ही १८३३ में उनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गवास के साथ बंगाल में समाज-सुधार आन्दोलन का आदि पर्व पूरा हो गया। केवल सती-प्रथा के सम्बन्ध में ही नहीं, किन्तु कुलीन प्रथा, बहुविवाह, बाल-विवाह, हिन्दू नारी का उत्तराधिकार, जाति-भेद और मूर्त्ति-पूजा आदि अनेक सामाजिक व धार्मिक विषयों की भी खुलकर उन्होंने चर्चा की। उनका बस चलता तो वे इस सम्बन्ध में भी कानून द्वारा सुधार करवाए बिना नहीं रहते।

राजा राममोहन राय के बाद

उनके स्वर्गवास के बाद बंगाल में १८३० और १८४० के बीच में समाज-सुधार के आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए "यंग बंगाल" और "तत्व बोधिनी" संस्थाओं का गठन किया गया। २९ जनवरी १८१७ को स्थापित हुए हिन्दू कालिज से भी समाज-सुधार के आन्दोलन को बड़ा बल मिला। नवयुग के बुद्धिवादी वर्ग का बंगाल में विकास करने में इस कालिज का प्रमुख स्थान है। इस बुद्धिवादी वर्ग को इस संस्था के द्वारा वर्तमान युग की पाश्चात्य वैज्ञानिक विचार धारा तथा दर्शनशास्त्र का परिचय मिला, जिससे बद्धमूल कुसंस्कारों की जड़ता से मुक्त होकर उस वर्ग में स्वतन्त्र विचार करने की प्रवृत्ति एवं भावना पैदा हुई। "यंग बंगाल" नाम से काम करनेवाले युवक इसी संस्था की उपज थे। इस संस्था की धर्म-सभा के साथ सीधी टक्कर हुई और खूब संघर्ष चला। "यंग बंगाल" के बंगला मुख पत्र "ज्ञानान्वेषण" तथा अंग्रेजी "बंगाल स्पेक्टेटर" में बाल-विवाह और जाति-भेद के विरुद्ध प्रचण्ड आन्दोलन किया गया और विधवा विवाह के पक्ष में भी बड़ी निर्भीकता से लिखा गया। इसका शिक्षित वर्ग पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा और समाज-सुधार आन्दोलन की बंगाल में गहरी जड़ें जम गयीं।

राजा राममोहन राय के ब्राह्म समाज के उत्तराधिकारी महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने "तत्वबोधिनी" संस्था कायम कर उनके समाज-सुधार के कार्य को और आगे बढ़ाया। उसके मुख पत्र "तत्वबोधिनी" से भी उसको बड़ा समर्थन मिला। दो वर्ष में इस सभा के सदस्यों की संख्या पाँच सौ पर पहुँच गयी। इससे यह प्रकट है कि समाज-सुधार आन्दोलन की ओर लोग किस तेजी से आकर्षित हो रहे थे। इस सारे आन्दोलन

के सम्मुख ईसाई पादरियों का धर्म प्रचार फीका पड़ गया और बंगाल में एक नई चेतना का संचार हो गया। ब्राह्म समाज को एक नई धार्मिक व साम्प्रदायिक संस्था मानकर जो लोग उसकी ओर आकर्षित नहीं होते थे, वे भी तत्वबोधिनी सभा की ओर आकर्षित हो गए।

विद्यासागर पर्व

इसके बाद बंगाल में समाज-सुधार का दूसरा पर्व शुरू हुआ। उसको हम सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और समाज-सुधारक श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के नाम से विद्यासागर पर्व कह सकते हैं। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और अक्षयकुमार दत्त आदि सुधारक महापुरुष भी तत्वबोधिनी सभा और उसकी पत्रिका के साथ सम्बन्धित थे। २० वर्ष "यंग बंगाल" और धर्म-सभा में हुए विवाद और वितंडावाद में निकल गए। इन वर्षों में समाज-सुधार का आन्दोलन कोई व्यवस्थित रूप ग्रहण नहीं कर सका। लगभग १८४० के बाद श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्त्री-शिक्षा और मातृभाषा की शिक्षा के रूप में उसको व्यवस्थित रूप दिया। १८५१ में वे संस्कृत कालिज के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किए गए। ब्राह्मण और वैद्य विद्यार्थियों के अतिरिक्त कायस्थ आदि को संस्कृत पढ़ने का अधिकार नहीं था। उन्होंने उनके लिए भी संस्कृत पढ़ने का द्वार खोल दिए। समाज-सुधार की दृष्टि से यह बहुत बड़ी बात थी। ६ मास बाद उन्होंने बिना किसी भेदभाव के समस्त हिन्दू-छात्रों को संस्कृत पढ़ने का अधिकार दिलवा दिया। १८५४ में उन्होंने विधवा विवाह का आन्दोलन शुरू किया और तत्वबोधिनी पत्रिका में उसके पक्ष में लिखवाना प्रारम्भ कर दिया। जनता में अपने लेखों तथा पुस्तक-पुस्तिकाओं द्वारा आन्दोलन करने के बाद उन्होंने ४ अक्टूबर, १८५५ को उसके पक्ष में कानून बनाने के लिए आवेदन पत्र दिया। १६ जुलाई, १८५६ को वह कानून बनाया गया। बंगाल में समाज-सुधार आन्दोलन के लम्बे और प्रशस्त मार्ग का इसको दूसरा "माइल स्टोन" कहना चाहिए। इन कानून के अनुसार पहला विधवा विवाह ७ दिसम्बर, १८५६ को सम्पन्न हुआ। इससे पुरातन पंथियों के गढ़ में एक बार फिर तूफान खड़ा हो गया। परन्तु उन्होंने विधवा विवाहों का सिलसिला जारी कर दिया। संस्कृत के एक पंडित द्वारा ब्राह्मण वर्ग में विधवा विवाह का इस प्रकार सूत्रपात किया जाना असाधारण साहस का काम था। जनता पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। बहुविवाह और कुलीन प्रथा के विरुद्ध भी उन्होंने तुमुल आन्दोलन किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक पुस्तक-पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं और सरकार को भी आवेदन पत्र दिए। पुरातन पंथी पंडितों के साथ तर्क-वितर्क भी किया गया, जो कि लिपिबद्ध कर प्रकाशित किया गया। २६ जुलाई, १८९१ को उनके देहावसान के साथ बंगाल में समाज-सुधार आन्दोलन के दूसरे पर्व की समाप्ति हो गई। इसको बंगाल के समाज-सुधार आन्दोलन का स्वर्णिम युग माना जाता है।

"विद्यासागर पर्व" के साथ ही ब्राह्म समाज के तरुण नेता श्री केशवचन्द्र सेन और श्री रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द समाज-सुधार के मैदान में आ चुके थे। प्रचण्ड तूफान के बाद जैसे शान्त एवं गम्भीर वातावरण पैदा हो जाता है, वैसे ही धर्म सुधार-और समाज-सुधार के प्रचण्ड विवाद के बाद समन्वयात्मक दृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। श्री परमहंस उसके प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने अपने प्रकाण्ड पांडित्य, अद्भुत वाक्चातुरी तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व से उसको विशेष बल प्रदान किया। ईसाई पादरियों द्वारा हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज के प्रति पैदा की गई दीनता व हीनता की भावना को उन्होंने अमेरिका और योरप जाकर जो चनौती दी, वह भारतीयों के हृदय में स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान का संचार करने में अत्यन्त प्रबल शक्ति सिद्ध हुई। हिन्दू-धर्म व हिन्दू-समाज की संकीर्णता की जो दीवार पुरातन पंथियों ने खड़ी की थी, उस पर भी स्वामी विवेकानन्द ने बड़े प्रबल प्रहार किए। वे तत्कालीन हिन्दू-धर्म को चौके-चूल्हे अथवा रसोई-घर का धर्म कहा करते थे। केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में प्रगतिशील युवकों ने और भी अधिक तेजी से आगे बढ़ना शुरू किया। उन्होंने स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द किया। यहाँ कुछ कम आश्चर्य

की बात नहीं है कि पुराने विकृत संस्कारों के कारण स्त्रियों को ब्राह्म समाज की प्रार्थना व उपासना में भी सम्मिलित होने का अवसर नहीं दिया जाता था और वे अपने पतियों के साथ भी घर से बाहर नहीं निकल सकती थीं। इसके विरुद्ध उठायी गई आवाज के परिणामस्वरूप १८७२ में सिविल मेरिज का कानून बना। १८८५ में राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस की स्थापना होने पर समाज-सुधार के आन्दोलन को भी उसमें सम्मिलित कर दिया गया और बाद में राष्ट्रीय समाज-सुधार-परिषद् के नाम से उसको पृथक् व स्वतन्त्र रूप दे दिया गया।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत की मुख्य समस्या जाति भेद और उस पर आश्रित छूतछात की कुप्रथा थी और देवदासी प्रथा का भी वह मुख्य स्थान था। वैसे दक्षिण में मध्यकालीन सन्तों व आचार्यों ने और उनसे भी पहले आदि गुरु शंकराचार्य ने समाज सुधार के आन्दोलन का बीजारोपण किया था। उनके बाद रामानुज व माधवाचार्य ने भी उनके विचार को बल प्रदान किया। कन्नड के वसवेश्वराचार्य का नाम भी उल्लेखनीय है। शंकराचार्य को अपनी समाज सुधार सम्बन्धी प्रवृत्तियों के कारण ही समाज से यहाँ तक तिरस्कृत एवं बहिष्कृत किया गया था कि कहते हैं कि उनको माता के देहावसान के बाद उसके शव-दाह में किसी ने उनका साथ नहीं दिया। केरल में श्री शंकराचार्य के समय की यह कट्टरता वर्तमान काल में भी अनेक रूपों में विद्यमान थी। यहाँ तक कि उच्च जाति के लोगों से दूसरी जाति के लोगों को दस गज दूर खड़ा रहना पड़ता था और अस्पृश्य माने गए लोग उन सड़कों पर भी नहीं चल सकते थे जिनपर उच्च जाति के लोग चलते थे। दृष्टिदोष के लिए भी प्रायश्चित किया जाता था। बीसवीं सदी के शुरू में जाति भेद के विरोध में आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और उसने ब्राह्मण वर्चस्व के विरुद्ध विद्रोह का रूप धारण कर लिया। डा० नायर को इसका श्रेय प्राप्त है। डा० नायर के ब्राह्मणेत्तर आन्दोलन ने बाद में मर्यादा आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। तामिलनाड में वह बहुत वेग से फैला। यही आन्दोलन बाद में द्रविड़ कड़घम के आन्दोलन में परिणत हो गया जो कि इस समय में भी चालू है। इस आन्दोलन का उद्देश्य यह है कि उच्च जातियों के आधिपत्य का अन्त किया जाए जिसका आधार हिन्दू शास्त्रों तथा स्मृतियों पर अवलम्बित है और आन्दोलनकारियों का कहना यह है कि इनका निर्माण इसी प्रयोजन से किया गया है। इसलिए वे इन की होली जलाने आदि का कार्यक्रम भी समय-समय पर करते हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि इन शास्त्रों के प्रति अन्ध श्रद्धा को नष्ट किए बिना वह अन्ध भावना दूर नहीं हो सकती जिस पर जातिभेद तथा उच्च वर्णों का वर्चस्व कायम है। आन्ध्र में समाज सुधार का जो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ वह ब्राह्म समाज की देन है। इसीलिए हमें दक्षिण पूर्वी भारत के इस आन्दोलन की चर्चा बंगाल के साथ करना अधिक उचित प्रतीत हुआ। सर आर० वेंकटरत्नम् नायडू और श्री कंदुकुरी विदेशलिंगम पंतुलु आदि के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के उदाहरण और साहित्य द्वारा युवकों को समाजसुधार के क्षेत्र में आगे आने के लिए उत्साहित व प्रेरित किया। देवदासी प्रथा, शुभ समारोहों में वेश्याओं के नृत्य, विधवाओं पर अन्याय व अत्याचार तथा छोटी-छोटी बालिकाओं का विवाह आदि कुरीतियों से बड़ा साहसपूर्ण युद्ध किया गया।

कन्नड़ एवं कर्नाटक

कन्नड़ अथवा कर्नाटक में समाज सुधार की नींव रखनेवाले आचार्य बसेश्वर थे, जिन्होंने जातपाँत की बुराइयाँ, कुरीतियाँ तथा विषमताओं को दूर करने का सराहनीय प्रयत्न किया। स्त्रियों और पुरुषों के बीच में पैदा की गयी अधिकारों की विषमता, जाति-जाति के बीच भेद, ईश्वर तथा धर्म के नाम से किए जानेवाले अन्याय, मन्दिरों तथा धर्मपीठों को अड्डा बना कर उनके द्वारा स्वार्थियों के साम्प्रदायिक मायाजाल को छिन्न-भिन्न करने में समाज सुधारकों ने बड़े साहस से काम लिया। आज समाज सुधार की दृष्टि से समस्त दक्षिण-पूर्वी भारत का प्राय: कायाकल्प हो चुका है।

महाराष्ट्र तथा बम्बई

इस प्रदेश के समाज सुधार आन्दोलन पर विचार करते हुए इसमें पैदा हुए मध्यकालीन सन्तों और उन सन्तों के पुण्य प्रताप से जन्म लेनेवाले छत्रपति शिवाजी महाराज की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने स्वाधीन राज्य की स्थापना करके न केवल राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध विद्रोह किया, किन्तु धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी देश के ह्रास को रोका। १८१८ में किरकी की पराजय के बाद मराठाशाही का अन्त होकर अंग्रेजी राज्य का सूत्रपात हो गया। अंग्रेजी राज्य राजनीतिज्ञों और ईसाई पादरियों ने भारतीयों के हृदय में दीनता और हीनता की जो भावना पैदा करने का प्रयत्न किया, महाराष्ट्र में उसके विरुद्ध विद्रोह करनेवाले अनेक विचारक और महापुरुष प्रकट हुए। उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक साहित्यिक तथा संगीत आदि के जीवन के हर क्षेत्र में भारतीय दृष्टिकोण से विचार करना शुरू कर दिया। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस की स्थापना १८८५ में इसी प्रदेश में हुई। सत्यशोधक समाज (१८७३) आर्य समाज (१८५७) और प्रार्थना समाज (१८६७) आदि संस्थाओं का जन्म भी इसी प्रदेश में हुआ। महात्मा ज्योतिर्बाफूले लोकहितवादी श्री गोपालहरि देशमुख, श्री गोपाल राव आगरकर, श्री विट्ठल राव शिंदे, न्यायमूर्ति श्री महादेव गोविन्द रानाडे, डा० रामकृष्ण भांडारकर, श्री गोपालराव देवधर आदि सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में अगुवा कहे जा सकते हैं। शतायु महर्षि अण्णा साहब कर्वे का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए। बम्बई हाइकोर्ट के स्वर्गीय न्यायमूर्ति श्री गजेन्द्र गडकर ने राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद् को पुनर्जन्म देने के लिए पूना में १९५३ में किए गए सम्मेलन में बिल्कुल ठीक ही कहा था कि आधुनिक महाराष्ट्र के सामाजिक जीवन में क्रान्ति पैदा करने के लिए किए गए प्रयत्नों का जब भी कभी इतिहास लिखा जाएगा तब उसमें २७ नवम्बर १८२७ को जन्म लेनेवाले उसके अगुवा वीर ज्योतिर्बाफूले का नाम सब से पहले लिखा जाएगा। ब्राह्मण धर्म पर आश्रित जाति भेद पर उन्होंने सब से पहले कुठाराघात किया था। समाज में विद्यमान विषमता को दूर करने और पद दलित वर्ग को उठाने का जो निस्वार्थ व्रत उन्होंने लिया उसको जीवनभर निबाहा। १८५८ में पूना में हरिजनों के लिए उन्होंने सब से पहली पाठशाला स्थापित की और हिन्दुओं के पनघट व प्याऊ उनके लिए खोलने का आन्दोलन भी उन्होंने शुरू किया। बलात् वैधव्य से आक्रान्त कुमारी, बाल-विधवाओं तथा तरुण विधवाओं के उद्धार के लिए भी उन्होंने अपनी आवाज उठाई। उनके लिए एक जच्चाघर की भी स्थापना की, जिसमें विपदग्रस्त विधवाएँ बच्चा पैदा कर उसे वहाँ ही छोड़ कर जा सकती थीं। १८७८ में पंढरपुर में जो सुप्रसिद्ध अनाथ बालिकाश्रम प्रार्थना समाज की ओर से श्री महादेव गोविन्द रानाडे की प्रेरणा से स्थापित किया गया उसकी कल्पना यहाँ से ही ली गयी थी। विधवा विवाह का आन्दोलन भी उन्होंने शुरू किया। उन्होंने २४ सितम्बर १८७३ को सत्यशोधक समाज की नींव डाली। उसके उद्देश्य पत्र में यह लिखा गया था कि इसकी स्थापना शूद्र जाति को ब्राह्मण, भट्ट, जोशी एवं उपाध्याय आदि की गुलामी से मुक्ति दिलानेके लिए की जा रही है। हजारों वर्षों से धर्म और शास्त्र के नाम पर जिस वर्गको समाजने पददलित उपेक्षित एवं दीन-हीन अवस्था में रखा हुआ था उसका उद्धार करना इस संस्था का मुख्य काम था। इस संस्था के महान् सामाजिक कार्य के कारण महाराष्ट्र में ब्राह्मण ब्राह्मणेत्तरवाद का उग्र रूप धारण करना सर्वथा स्वाभाविक था। पद-दलित, पीड़ित और शोषित वर्ग ने उनको महात्मा-पद पर प्रतिष्ठित किया और उच्च ब्राह्मणवर्ग ने उनको अपने धर्म तथा संस्कृति का विरोधी बता कर बदनाम करने में कुछ उठा न रखा। हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की बुराइयों की उन्होंने बड़ी तीव्र आलोचना की और सच्चे मानव धर्म का प्रतिपादन किया।

परमहंस गुप्त संस्था

१८१० में जन्म लेनेवाले श्री बालशास्त्री जांत्रेकर का भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। केवल ३५ वर्ष की आयु (सन् १८४६) में उनका स्वर्गवास हो गया था। किन्तु इस छोटी सी आयु में उन्होंने 'दर्पण'

और 'दिग्दर्शन' पत्रों द्वारा महाराष्ट्र में समाचार पत्रों की परम्परा शुरू करने के साथ-साथ विधवा विवाह और पतित प्रावर्तन के आन्दोलनों का भी बीजारोपण किया। १८५० के लगभग श्री दादोबा पांडुरंग और उन के साथियों ने 'परम हंस' नामक एक संस्था बम्बई में स्थापित की थी। उसे वैसे ही गुप्त रखा गया था, जैसे कि राजनीतिक क्रान्तिकारी संस्थाओं को रक्खा जाता था। १५ वर्ष तक यह संस्था कार्य करती रही। एक अन्तर्जातीय भोजमें सम्मिलित होने वाले उसके सदस्यों के नाम प्रकाशित कर दिए जाने से वह छिन्न-भिन्न हो गयी, क्योंकि सामाजिक बहिष्कार का सामना करने का साहस उसके सदस्य न दिखा सके। १८५७ में इसी के भग्नावशेषों में से पूना में 'प्रार्थना समाज' का जन्म हुआ।

सन् १८२३ से १८९२ तक समाज सुधार का प्रचंड आन्दोलन करनेवाले श्री लोकहितवादी को महाराष्ट्र में समाज-सुधार के आन्दोलन को प्रगट और स्वतंत्र रूप देने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने अपने 'प्रभाकर' पत्र द्वारा सुसुप्त समाज को जागृत करनेका सफल प्रयास किया है। वे देश की पराधीनता को अपनी सामाजिक हीनता का परिणाम मानते थे और उस दीनता के विरुद्ध जनमत जागृत करने में वे बराबर लगे रहे। हर सामाजिक कुप्रथा पर उन्होंने तीव्र चोट की। हरिजनों की दीन-हीन स्थिति के विरुद्ध भी उन्होंने खूब लिखा। बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा करके शास्त्रों के रूढ़ि धर्म का उन्होंने जोरदार प्रतिवाद किया। न्यायमूर्ति श्री महादेव गोविन्द रानाडे का कार्यकाल सन् १८४२ से १९०१ का है। उन्होंने प्रार्थना-समाज को प्रभावशाली बनाया और राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद् की भी स्थापना में हाथ बढ़ाया। पूना में उन्होंने वक्तृत्वातेजक सभा, वसन्त व्याख्यानमाला, औद्योगिक परिषद्, फीमेल-हाई स्कूल, नेटिव जनरल लाइब्रेरी और सार्वजनिक सभा आदि की भी स्थापनाएँ कीं। १८७५ में बम्बई में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भी मुख्यत: समाज सुधार सम्बन्धी आदर्शों से ही प्रेरित होकर की गयी थी। परन्तु लोकमान्य तिलक सरीखे प्रभावशाली नेता समाज-सुधार की अपेक्षा राजनीतिक स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देते थे। इसलिए, जब कांग्रेस विशुद्ध रूप से राजनीतिक संस्था बन गई, तब लोकमान्य और श्रीआगरकर में गहरा मतभेद हो गया और उन्होंने लोकमान्य से अलग होकर अपना 'सुधारक' पत्र निकालना शुरू कर दिया। वे समाज सुधार के प्रश्नों पर जनता में किसी प्रकार का बुद्धिभेद पैदा करने के विरोधी थे। अपने व्यक्तिगत जीवन में वे बड़े-बड़े समाज सुधारकों से भी कहीं अधिक बड़े समाज सुधारक थे। वे 'केसरी' और 'मराठा' पत्रों के काम को सब से बड़ी 'संध्या' कहा करते थे। बम्बई में कहा गया उन का यह कथन प्रसिद्ध है कि यदि ईश्वर को कदाचित् अस्पृश्यता मंजूर है, तो मैं ऐसे ईश्वर को मंजूर नहीं कर सकता। १८९० में उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा था कि विवाह के लिए लड़की की आयु १६ वर्ष और लड़के की २० वर्ष हो, उस से कम उम्रमें विवाह न किया जाए। ४० वर्ष की आयु के बाद पुरुष विवाह न करें। यदि उसे करना ही हो, तो वह विधवा विवाह करे। शराब पीना बन्द किया जाए। दहेज की प्रथा बन्द हो। हरएक व्यक्ति अपनी आय का दसवां हिस्सा सार्वजनिक कार्य में लगाए।

श्री आगरकर

श्री गोपालराव आगरकर (१८५६-१८९५) को महाराष्ट्र का श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कहा जा सकता है। उन्होंने अपनी लेखनी से सर्वतोमुखी क्रान्ति का प्रतिपादन करते हुए बुद्धिवाद की अत्यन्त आग्रह से प्रतिष्ठा की और समाजवाद का आदर्श भी उपस्थित किया। १९ वीं सदी के अन्तिम दो दशकों में महाराष्ट्र में जो-जो सर्वतोमुखी विचार मंथन हुआ, उस में श्री आगरकर का प्रमुख भाग है। उन के बाद महाराष्ट्र में उग्र समाज सुधार की लहर कुछ लुप्त हो गयी और लोकमान्य के रूप में एक ओर प्रचंड राजनीति तथा दूसरी ओर न्यायमूर्ति श्री रानाडे के रूप में नरम समाज की नीति की लहरें चलती रहीं। परन्तु, श्री आगरकर जिस सामाजिक चेतना को पैदा कर गए वह महाराष्ट्र के जीवन में अपना रंग निरन्तर दिखाई देती रही।

श्री आगरकर के विचारों को उन के बाद मूर्तरूप देने का श्रेय महर्षि अण्णा साहब कर्वे को है, जिन के सौ वर्ष के दीर्घ जीवन पर महाराष्ट्र के पिछले ७-८ दशक के समाज सुधार के सक्रिय आन्दोलन की लम्बी कहानी अंकित है। १८९६ में उन के उद्योग से पूना में उस अनाथ बालिकाश्रम की स्थापना की गई जो आज महिला-विश्व-विद्यालय का एक महान रूप धारण कर चुका है। १९०८ में श्री गोपाल कृष्ण देवधर ने 'सेवासदन' कायम किया।

साहित्यकारों ने भी समाज सुधार के आन्दोलन को बल प्रदान करने का सराहनीय काम किया। श्री हरिनारायण आपटे के सामाजिक उपन्यासों ने मध्यम-वर्ग को हिला दिया। रंगमंच ने भी उसमें बड़ी सहायता की। 'इन्दु-प्रकाश' सरीखे अन्य अनेक समाचार पत्रों की सहायता भी उल्लेखनीय है।

१८६२ में महाराष्ट्र में बम्बई में सब से पहला विधवा विवाह हुआ। उसको भी 'परम-हंस-संस्था' के सहभोज की तरह गुप्त रखा गया। १८६५ में 'विधवा 'विवाहोत्तेजक मंडली' का गठन करके उसका खुला प्रचार किया जाने लगा। इस को श्री माधवरावजी का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। उसके मन्त्री थे श्री विष्णुशास्त्री पंडित। श्री महादेव रानाडे उस के प्रमुख सदस्यों में से थे। इसके विरोध में रूढ़िपंथियों ने हिन्दू धर्म व्यवस्थापक सभा की स्थापना की। वर्षों तक दोनों में प्रतिद्वन्द्विता बनी रही। सन् १८६९ में सार्वजनिक रूप में हजारों की उपस्थिति में मंडली की ओर से विधवा विवाह सम्पन्न किया गया।

१८८६ में श्री बैरमजी एम० मालावारी ने बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन शुरू करके उसके लिए कानून बनाने का भी प्रयत्न किया। १८९१ में घोर प्रयत्न के बाद एक बिल बम्बई की लेजिस्लेटिव कौंसिल में स्वीकार कराया जा सका। इस के पक्षमें दो हजार स्त्रियों के हस्ताक्षर से एक आवेदनपत्र भी दिया गया। १९०८ में उन के द्वारा 'सेवा-सदन' की स्थापित की गयी। इस संस्था ने स्त्रियों की शिक्षा के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया।

श्री चन्द्रावरकर प्रभृति के प्रयत्न से बम्बई में प्रादेशिक समाज सुधार एसोशिएशनका गठन किया गया। यह संस्था आज तक भी कायम है। इसने शारदा बिल (१९२५) हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल (१९३५) और हिन्दू कोड़ बिल का भी निरन्तर समर्थन किया। कुछ वर्ष बाद १९११ में 'सोशल वेलफेयर लीग' नामक संस्था कायम की गयी, उस ने भी समाज सुधार के क्षेत्र में कार्य किया। मजदूर नेता श्री एन० एम० जोशी इस के भी प्रमुख नेता थे।

सत्य-शोधन समाज का पुनर्गठन

कोल्हापुर में सन् १९०२-३ में शुरू हुए वेदोक्त प्रकरण का यहाँ उल्लेख किया जाना आवश्यक है। यद्यपि उसने ब्राह्मण आब्राह्मण विवाद का रूप धारण कर लिया, फिर भी अब्राह्मणों में उस से विशेष सामाजिक चेतना पैदा हुई और उस से समस्त महाराष्ट्र के मराठा समाज में स्वाभिमान की भावना का संचार हो गया। एक ओर इस आन्दोलन का प्रसार नागपुर तक हुआ और दूसरी ओर दक्षिण भारत को भी इस ने जागृत किया। कोल्हापुर के छत्रपति साहू महाराज ने यह आन्दोलन आरम्भ किया था कि मराठा क्षत्रियों के सब संस्कार भी ब्राह्मणों के समान वेदोक्त पद्धति से होने चाहिएं न कि पौराणिक पद्धति से। कोल्हापुर के ब्राह्मणों ने यह कह कर विरोध किया कि साहू कुलीन मराठा घराने के नहीं हैं। करवीर ब्राह्मणों ने करवीर मठ के शंकराचार्य को मध्यस्थ मानने से भी इन्कार कर दिया। संकेश्वरपीठ के शंकराचार्य ने उन के विरोध में व्यवस्था दे डाली। महाराज इस सामाजिक विषमता और धार्मिक अन्याय को सहन नहीं कर सके। १९०४ में कोल्हापुर में एक नए पीठ की स्थापना करके उस गद्दी पर अब्राह्मण अर्थात् क्षत्रिय गुरु को आसन्न किया गया। और उनके द्वारा मराठों के भी वेदोक्त संस्कार आरम्भ कर दिए गए। १९१२ में कोल्हापुर में सत्यशोधक समाज को

फिर से गठित किया गया और उसके द्वारा ब्राह्मणों के बहिष्कार स्वरूप बिना ब्राह्मण-पुरोहित के ही विवाह संस्कार होने का आन्दोलन शुरू किया गया। १६१३ में १५१३ विवाह बिना ब्राह्मण पुरोहित के वेदोक्त पद्धति से कराए गए। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि समाज सुधार की दृष्टि से पूना व बम्बई का स्थान कोल्हापुर ने ले लिया और साहू छत्रपति के हाथों में उसका नेतृत्व आ गया। महात्मा फुले ने सत्य-शोधक समाज की स्थापना इस मूलभूत सिद्धान्त पर की थी कि शिव और जीव की एकता में किसी साध्य की आवश्यकता नहीं या ईश्वर और भक्त के बीच किसी आढ़तिए तथा दलाल की आवश्यकता नहीं है। उनके इस विचारने कोल्हापुर में जिस आन्दोलन को जन्म दिया, उसने शीघ्र ही ब्राह्मण विरोध और ब्राह्मण-द्वेषका रूप धारण कर लिया। सदियों से ब्राह्मणों द्वारा पददलित, शोषित और उत्पीड़ित जनता में ऐसी प्रतिक्रिया होना सर्वथा स्वाभाविक था। किन्तु यह प्रतिक्रिया इतनी प्रबल हुई कि ब्राह्मणों का जहाँ भी कहीं प्रभाव अथवा वर्चस्व था, उस का तीव्र विरोध किया जाने लगा। यहाँ तक कि अंग्रेजी नौकरियों में उन की अधिकता और कांग्रेस में उनके प्रभाव का भी विरोध किया जाने लगा। माउन्टफोर्ड शासन सुधारों के अनुसार प्रान्तीय शासन व्यवस्थामें स्वायत्त शासन के जिन तत्त्वों का समावेश किया गया, उनसे ब्राह्मणेत्तर आन्दोलन के नेताओं ने पूरा लाभ उठाया और कांग्रेस की असहयोग नीति के कारण उन को उस के लिए पूरा अवसर हाथ लग गया। बम्बई, नागपुर तथा मद्रास के इस स्वायत्त शासनकी बागडोर ब्राह्मणेत्तर नेताओं के हाथों में आ गयी और इन राज्यों के शिक्षा विभाग उनके मन्त्रियों के हाथों में आ जाने से उन्होंने ब्राह्मणेत्तर समाज में शिक्षा का प्रसार विशेष रूप से किया। इस से मराठा अथवा ब्राह्मणेत्तर समाज में सामाजिक चेतना का प्रादुर्भाव बड़ी तीव्रता से हुआ। महात्मा गांधी के हाथ में देश तथा कांग्रेस का नेतृत्व आ जाने से ब्राह्मण विद्वेष की यह भावना कुछ कम हुई और ब्राह्मणेत्तर वर्ग ने कांग्रेस के आन्दोलन में बड़े उत्साह से भाग लेना शुरू किया। गान्धीजी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम में समाज सुधार के तत्वों का जो समावेश किया, उस से भी कांग्रेस में ब्राह्मणेत्तर वर्ग की आस्था व विश्वास पैदा होने में बड़ी सहायता मिली। हरिजनों के लिए गान्धीजीने सन् १६३० में जेल में जो उपवास किया था, वह पूना के यरवदा-जेल में ही किया गया था और उसके परिणामस्वरूप देशमें जो हरिजन आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और उसके लिए जिस हरिजन सेवक-संघ की स्थापना की गई उसका श्रेय इस प्रकार पूना महाराष्ट्र को ही प्राप्त है। ब्राह्मणेत्तर परिषद् में इन सब कारणों से गान्धीजी और कांग्रेस का समर्थन किया जाने लगा। महात्माजी के हरिजन आन्दोलन ने बड़ा जोर पकड़ा। पूना, नासिक तथा पंढ़रपुर में मंदिर प्रवेश का आन्दोलन बड़ी तीव्रता से चलाया गया। उसके सम्बन्ध में स्वर्गीय विट्ठलराव शिंदे, साने गुरूजी और गर्दे गुरूजी आदि के नाम चिरस्मरणीय बन गए हैं। स्वर्गीय डा० भीमराव अम्बेडकर ने हरिजनों की सेवा और उद्धार का जो कार्य किया उससे समाज सुधार के क्षेत्र में उनका नाम अमर हो गया है।

पतित पावन मन्दिर

स्वातन्त्र्य वीर श्री सावरकरजी का नाम भी इस सम्बन्ध में लिया जा सकता है। १६२४ से १६३७ तक रत्नागिरी में नजरबन्द रहते हुए उन्होंने हरिजन सेवा का श्लाघनीय कार्य किया और पतित पावन नाम से एक मन्दिर की स्थापना की। उन्होंने हरिजनों के साथ सहभोज का आन्दोलन भी शुरू किया। श्री अनन्त हरि गर्दे आज भी उस को चला रहे हैं। अपने लेखों द्वारा भी सावरकरजी ने समाज सुधार आन्दोलन को बल प्रदान किया।

श्री महादेव शास्त्री दिवेकर ने पाखन्डी साधु सन्यासियों के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन करके जनता को उनके मायाचार से बचाने का यशस्वी कार्य किया। इस आन्दोलन का सूत्रपात सन् १६११ में किया गया था।

समाज सुधार परिषद्

कांग्रेस के साथ प्रतिवर्ष होनेवाली समाज सुधार परिषद् का उल्लेख अन्यत्र किया गया है। उसकी विधिवत् स्थापना यद्यपि १८८७ में मद्रास में हुई फिर भी उसके उन्नायकों में न्यायमूर्ति श्री महादेव रानाडे आदि का प्रमुख हाथ होने से उसका उल्लेख इसी-प्रकरण में किया जाना आवश्यक है। यह भी पीछे लिखा जा चुका है कि सन् १८८५ में बम्बई में स्थापित की गई कांग्रेस के प्रारम्भिक कार्यक्रम में समाज सुधार को भी सम्मिलित किया गया था। उस के मुख्यतः राजनीतिक संस्था बन जाने से समाज सुधार के लिए परिषद् की स्थापना करना आवश्यक समझा गया और उसके बाद उसी पंडाल में उसके भी अधिवेशन किये जाने लगे। १९१७ तक यह सिलसिला इसी प्रकार चला। १९१८ में नरम-दली लोगों के कांग्रेस से अलग हो जाने पर इस सामाजिक परिषद् के अधिवेशन नेशनल लिबरल फेडरेशन के साथ होने लग गए। १९२८ में कांग्रेस का ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता स्थिर किए जाने पर उग्र राष्ट्रवादियों का ध्यान एक बार फिर समाज सुधार की ओर आकर्षित हुआ। नेताजी सुभाष-चन्द्र बोस और श्री जवाहरलाल नेहरू सरीखे युवक नेताओं ने यह अनुभव किया कि सामाजिक विषमता को दूर किए बिना स्वतन्त्रता के ध्येय को पूरा किया जा सकना सम्भव नहीं है। उन्होंने समाज सुधार की विशुद्ध दृष्टि से भारतीय स्वातन्त्र संघ—इन्डिपेन्डेंस आफ इंडिया लीग नामक संस्था का गठन किया और १९२८ में कलकत्ता कांग्रेस के साथ राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद् के नाम से सामाजिक परिषद् को फिर से संगठित किया गया और उस के नियमित अधिवेशनों का सिलसिला एक बार फिर शुरू हो गया। तब सारा ध्यान अन्तर्जातीय सहभोज पर केन्द्रित किया गया और परिषद् के अधिवेशन के साथ ऐसे सार्वजनिक सहभोज भी किए जाने लगे।

१९५३ में पूना में राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद् को महाराष्ट्र में पुनर्जीवित करने का प्रशस्त प्रयत्न किया गया। इस सम्मेलन के अध्यक्षपद से बम्बई के न्यायमूर्ति स्वर्गीय श्रीगजेन्द्र गड़कर ने जो भाषण दिया था, वह समाज-सुधार की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण था। उन्होंने यह ठीक ही कहा कि महाराष्ट्र में स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान जाग्रत करने का काम चिपलूणकर ने अपनी तेज लेखनी से किया। उन्हें अगर स्वामी दयानन्द सरस्वती या महात्माफुले के विचारों के ध्येयवाद से कुछ न कुछ सहानुभूति एवं श्रद्धा होती और तिलक, आगरकर एक दूसरे की प्रति-स्पर्धा करने की अपेक्षा सहकारी होते और उनके संयुक्त-नेतृत्व में राजनीतिक जागरण का आन्दोलन शुरू रहता, तो महाराष्ट्र का ही नहीं, सारे भारत का इतिहास बदल जाता।

गुजरात के क्षेत्र में

पुराने बम्बई राज्य के समान नए बम्बई राज्य में भी गुजरात सम्मिलित है। किन्तु उस का समाज सुधार आन्दोलन कुछ स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। इसीलिए उसकी अलग से चर्चा की जानी चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि महाराष्ट्र में न्यायमूर्ति श्री महादेव गोविन्द रानाडे द्वारा १८६७ में संस्थापित प्रार्थना-समाज से बहुत पहले १८७१ में अहमदाबाद में एक प्रार्थना समाज की स्थापना की गयी थी। इसकी स्थापना की कहानी बड़ी मनोरंजक है और उसका धार्मिक अथवा सामाजिक सुधार के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। १८७१ में महारानी विक्टोरिया के पुत्र युवराज (बाद में सप्तम एडवर्ड) बहुत बीमार हो गए, उनकी स्वास्थ कामना के लिए प्रार्थनाओं का आयोजन किया गया। अहमदाबाद में कुछ मित्रों ने सब धर्मों के अनुयाइयों की सम्मिलित सार्वजनिक प्रार्थना करने का विचार करके उसको मूर्तरूप दिया। यह प्रार्थना ऐसी प्रभावोत्पादक हुई कि हर सातवें दिन उसका आयोजन किया जाने लगा। इस सामूहिक और सम्मिलित प्रार्थना को १७ सितम्बर १८७१ को 'प्रार्थना समाज' नाम दे दिया गया। इस प्रकार उसकी स्थापना का श्रेय डा० भोलानाथ साराभाई, महीपतराय रूपराम और रणछोड़लाल सरीखे सज्जनों को है। ३ मई १८७९ को उसका अपना भवन भी बना दिया गया। उपनिषदों के धार्मिक ग्रन्थों को स्वीकार कर

अमूर्त , निराकार, अव्यय, अविकारी परमेश्वर की मानसिक प्रार्थना की पद्धति अपनाई गयी। उदार धार्मिक भावना को स्वीकार करने के कारण समाज सुधार की भावना का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था। बंगाल में ४५ वर्ष पहले ब्राह्म समाज और महाराष्ट्र में १५ वर्ष पहले सत्यशोधक समाज की स्थापना होकर समाज सुधार का जो आन्दोलन आरम्भ हुआ था, उसका भी इस पर प्रभाव पड़ा। तदुपरान्त विभिन्न समाज सुधारों के सम्बन्ध में अनेक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। उनमें बाल-विवाह, प्रतिबन्धक सभा, अनमेल और वृद्ध विवाह रोकने के लिए व्यवस्थापिका सभा, विधवा विवाह को प्रोत्साहन देने के लिए विधवा-विवाह संस्था, मद्य-निषेध सभा, स्त्री-शिक्षा प्रचार संस्था, मृतक भोज प्रतिबन्धक संस्था, विदेश यात्रा प्रोत्साहन मण्डल, वेश्यावृत्ति व नृत्य अवरोधक सभा, जातपाँत तोड़क सभा, आदि उल्लेखनीय हैं। बाद में इन्हें सबको मिला कर 'गुजरात संसार सुधार समाज' संगठन कायम किया गया। गुजरात में 'संसार' शब्द का प्रयोग कुटुम्ब एवं परिवार व समाज में प्रचलित जीवन व्यवहार व लोक व्यवहार के लिए किया जाता है। इसलिए संसार सुधार का वही अर्थ है, जो समाज सुधार का है। इसकी स्थापना करनेवाले प्रार्थना समाज के ही सदस्य थे। देश के अन्य प्रदेशों की तरह गुजरात में भी जन-जीवन धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक रूढ़ियों में चारों ओर से जकड़ा हुआ था।

धर्मान्धता व रूढ़ियाँ

देश के अन्य प्रान्तों की तरह गुजरात भी धार्मिक अन्धविश्वासों और मिथ्या सामाजिक रूढ़ियों में चारों ओर से बुरी तरह जकड़ा हुआ था। घूंघट, मृत्यु के मौकों पर गली मोहल्लों व बाजारों में स्त्रियों का छाती पीटना, बारहवीं वर्षी व मृत्यु भोज, बाल-विवाह विदेश-यात्रा के लिए जात-बहिष्कार, बहु-विवाह, कन्या-विक्रय, अनमेल विवाह और बहन-भाई का आटा-साटा आदि सारी कुरीतियां गुजरात में सर्वत्र फैली हुई थीं। विधवा विवाह पर भी वैसा ही प्रतिबन्ध था। आज इन सब कुरीतियों का प्रायः अन्त हो चुका है और उसका श्रेय उन संस्थाओं को है, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है।

विदेश यात्राकेसम्बन्धमें कैसी कठोरता थी, इसका पता इससे लग सकता है कि सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री महीपत राय रूपराय नीलकण्ठ को विदेश यात्रा के दण्ड स्वरूप बिरादरी को तीन हजार रुपए दण्ड देने पड़े थे और प्रायश्चित विधि करने को भी बाध्य किया गया था। फिर भी उनको जाति भोजों में सम्मिलित नहीं किया जाता था। सुप्रसिद्ध समाज सेवी डाक्टर सुमन्त मेहता के पिताजी को भी उसके लिए बिरादरी को २८ सौ रुपए का दण्ड और भोज देना पड़ा था।

बड़ौदा के स्वर्गीय महाराज

बड़ौदा के महाराज सयाजीराव गायकवाड़ का नाम समाज सुधार के इतिहास में सदा ही गौरव के साथ लिखा जाएगा। उन्होंने १९०४ में बाल-विवाह प्रतिबन्धक कानून बना कर उसमें माता-पिता के लिए दण्ड का विधान किया था। कुछ वर्षों बाद एक और कानून बना कर विवाह करानेवाले पुरोहितों के लिए भी दण्ड की व्यवस्था की गयी। विधवा विवाह आदि करने वाले और उनके सम्बन्धियों को जात बिरादरी की ओर से बड़ा कष्ट दिया जाता था। उसको रोकने के लिए बड़ौदा में जाति-त्रास प्रतिबन्धक कानून बनाया गया। बड़ौदा में सिविल मैरिज कानून भी बनाया गया। इस कानून से बड़ौदा के बाहर रहनेवालों ने भी बड़ौदा आकर विवाह करके लाभ उठाया। हरिजनोद्धार और स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भी बड़ौदा में विशेष जाग्रति की गयी। उसका प्रभाव समूचे गुजरात पर पड़ा। आज स्थिति यह है कि अहमदाबाद के गुजरात कालिज में विज्ञान विभाग के सिवा अन्य विभागों में लड़कियों की संख्या लड़कों के बराबर है। कभी स्थिति यह थी कि पढ़ने के लिए जानेवाली लड़कियाँ अपनी पुस्तकें इस प्रकार छिपा कर ले जाती थीं कि किसी को उनके स्कूल जाने का पता न लगे।

गुजरात को वर्तमान काल में धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से युग-परिवर्तन करनेवाले दो महापुरुष स्वामी दयानन्द और महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी को जन्म देने का गर्व एवं गौरव प्राप्त है।

उत्तर भारत की गति-विधि

यह कुछ कम आश्चर्यजनक घटना नहीं है कि वर्तमान युग में चतुर्मुखी धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द का जन्म तो हुआ गुजरात में और उन्होंने आर्य समाज की स्थापना सन् १८७५ में बम्बई में की। किन्तु, उनके मिशन और आर्य समाज का प्रचार हुआ अधिकतर उत्तर भारत में। इसी कारण उत्तर भारत का धार्मिक व सामाजिक सुधार का इतिहास अधिकतर आर्य समाज के कार्य का इतिहास है। उत्तर भारत में आर्य समाज का कार्य प्रारम्भ होन से पहले धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से यहाँ की स्थिति भी देश के अन्य भागों से कुछ अधिक भिन्न नहीं थी। उत्तर भारत में मुख्यतः पंजाब, राजस्थान, वर्तमान उत्तर प्रदेश व बिहार गिने जा सकते हैं। जिन धार्मिक अन्धविश्वासों तथा मिथ्या रूढ़ियों का देश के अन्य भागों में हम पीछे उल्लेख कर आए हैं, वे सब उत्तर प्रदेश के इन हिस्सों में भी फैली हुई थीं। स्त्रियों के प्रति पुरुषों की दीन हीन भावना, दलितों व हरिजनों के प्रति भीषण अन्याय, जन्मगत जातपाँत की संकीर्णता, रोटी-बेटी के व्यवहार में हदबन्दी, मृतक बिरादरी भोज, बाल-वृद्ध अनमेल तथा बहु-विवाह, दलित स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा जाना और वेश्या-नृत्य इत्यादि समस्त अन्धरूढ़ियाँ उत्तर भारत में सर्वत्र छायी हुईं थीं। पर्दे का अभिशाप अत्यन्त भीषण रूप में सर्वत्र विद्यमान था। अनेक विभिन्न और विचित्र रूपों में सामाजिक विषमता यत्र-तत्र पायी जाती थी। राजस्थान और बिहार में छोटी-छोटी कन्याएँ बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों तक से पर्दा करती थीं। राजपूतों और कुछ कुलीन क्षत्रिय घरानों में बालिका के पैदा होने के साथ ही उसकी हत्या कर देने की भी अत्यन्त निर्मम कुप्रथा जारी थी। राजस्थान में दास-दासी रखने की निर्दय प्रथा भी चालू थी। इन रखेल दास-दासियों को दारोगा, बांदी और चाकर कहा जाता था। उनके कुटुम्ब के कुटुम्ब अथवा कुटुम्ब के कुछ व्यक्ति विवाह पर दहेज में दे दिए जाते थे। पति-पत्नी तथा पिता-पुत्र के सम्बन्ध का कोई ध्यान न रखा जाता था। उनकी स्त्रियों व लड़कियों के सतीत्व की न कोई मर्यादा थी और न महत्व। सन् १९२१ की जनगणना में उनकी संख्या १ लाख ६० हजार बताई गयी थी। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी जिलों में बसनेवाली नायक जाति की लड़कियाँ खुले रूप से बड़े नगरों में वेश्या-वृत्ति के लिए लायी जाती थीं। करेला और नीम चढ़ा वाला हाल यह था कि पंडितों ने यह व्यवस्था दी हुई थी कि नायक जाति की लड़कियों को विवाह करने का शास्त्रोक्त अधिकार नहीं है। उनसे वेश्या-वृत्ति कराने के लिए ब्राह्मण एक संस्कार विशेष करवाया करते तथा उसकी दक्षिणा भी लिया करते। पहाड़ी क्षेत्रों में जाति भेद और छूतछात की भावना अत्यन्त प्रबल रूप में विद्यमान थी। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में जाति भेद के अनुसार पहरावे पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगे हुए थे। ब्राह्मणों तक में बड़ी धोती और छोटी धोती नामके जो भेद पाये जाते थे, वे परस्पर घोर विद्वेष का कारण बने हुए थे। हरिजन डोला पालकी में चंवर के साथ अपनी बारात नहीं निकाल सकते थे। राजस्थान में सामन्ती वर्ग के सिवा दूसरा कोई घोड़े की सवारी नहीं कर सकता था। हरिजन विवाहों में चीनी की मिठाई नहीं बना सकते थे। उनकी स्त्रियाँ चाँदी के आभूषण नहीं पहन सकती थीं। कुएँ, तालाब व पोखर उनके लिए बिल्कुल बन्द थे। गाँवों से बाहर अलग बस्ती में उनको रहना पड़ता था। तिलक व दहेज की प्रथा सभी जातियों में भयानक रूप से फैली हुई थी। पंजाब के लोग प्राचीन भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकारी होने और सिर हथेली पर रख कर विदेशी आक्रान्ताओं से उसकी रक्षा करने का दावा करते हैं, परन्तु उनके वर्तमान जीवन में धार्मिक व सामाजिक कुसंस्कारों के कारण उस संस्कृति की कहीं छाया तक दीख नहीं पड़ती। राजस्थान के राजा और राजपूत सूर्यवंशी व चन्द्रवंशी होने का दावा करते हुए अपने को राम और कृष्ण की सन्तान कहने में गौरव अनुभव करते हैं। किन्तु उनके जीवन में उनके

पवित्र चरित्र का अत्यन्त अभाव है। वर्तमान उत्तर प्रदेश को भी प्राचीन आर्यावर्त्त बताया जाता है। गंगा और जमुना की पवित्र भूमि तथा राम और कृष्ण की जन्मभूमि होने का गर्व किया जाता है। बद्रीनाथ, केदारनाथ, हरिद्वार, मथुरा, बृन्दावन, प्रयाग (संगम) तथा काशी के पुनीत तीर्थ धामों का उल्लेख भी बड़े गौरव के साथ किया जाता है। इस प्रकार इस क्षेत्र की धार्मिकता का दावा करनेवाले यह भूल जाते हैं कि उस सारी धार्मिकता का रूप आज सिवा धर्मान्धता के कुछ और नहीं रहा है और उस धर्मन्धता के कारण जन-जीवन तथा सामाजिक धरातल अधोगति की चरम सीमा पर पहुँच गया है। बिहार को महावीर और गौतम बुद्ध के जन्म देने का गर्व है, किन्तु उनकी शिक्षा दीक्षा को आज के बिहारियों ने बिल्कुल भुला दिया है। इन सर्वथा विपरीत विषम परिस्थितियों में आर्य समाज ने जो कार्य उत्तर भारत में किया, उसका कुछ महत्व उसके यथार्थ रूप में आँका जा सकता है। पहाड़ी क्षेत्रों में इसी धर्मान्धता के कारण ईसाइयों को अपने धर्म-प्रचार में जो सफलता मिली, उसका दुष्परिणाम हम आज भी भोग रहे हैं। आसाम की समस्त पहाड़ी नागा जातियाँ प्रायः शत-प्रतिशत ईसाई बना चुकी हैं। वर्तमान नागा समस्या उनके ही प्रचार की उपज है। उड़ीसा व बिहार के आदिवासी पहाड़ी क्षेत्रों में ईसाइयों के बड़े-बड़े अड्डे कायम हैं। उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान के पहाड़ी क्षेत्र भी उनसे सुरक्षित नहीं हैं। पुराने मध्य भारत और मध्य प्रदेश में स्थानीय सरकारों द्वारा नियुक्त की गई जाँच कमेटियों ने ईसाई पादरियों के हथकंडों पर जो प्रकाश डाला है, उसके सम्बन्ध में नए सिरे से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है।

ईसाई प्रचार की प्रतिक्रिया

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि स्वामी दयानन्द के प्रचार और आर्य समाज के काम में जो उग्रता पैदा हुई, वह ईसाई पादरियों के इस प्रचार की ही प्रतिक्रिया है। ईसाइयों ने जिस धर्मान्धता से लाभ उठाया, उसको जड़मूल से नष्ट करने में स्वामी दयानन्द और आर्य समाज ने अपने को लगा दिया। पिछली सदी व डेढ़-सदी में जो धर्म सुधारक अथवा समाज सुधारक महापुरुष पैदा हुए और जिन संस्थाओं का गठन किया गया उनमें तथा स्वामी दयानन्द व आर्य समाज में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि इनका दृष्टिकोण सर्वथा राष्ट्रीय था। उसमें स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान का सर्वोपरि स्थान था। वे अपने देश की किसी भी प्राचीन बात को पश्चिम वालों की तुलना में दीन-हीन मानने को तैयार नहीं थे। इसीलिए उन्होंने अपने धर्म, धर्म-शास्त्रों, उन पर आश्रित धार्मिक व सामाजिक आचार-विचार तथा व्यवहार और संस्कारों पर जो जड़ता व मूढ़ता का मैल चढ़ा हुआ था उसको दूर कर अपने वास्तविक रूप में रखने का भरपूर प्रयत्न किया और उनके सर्वश्रेष्ठ होने के सम्बन्ध में जो चुनौती दी, उसका कोई भी उत्तर ईसाई पादरी व अंग्रेज विचारक नहीं दे सके। स्वामी विवेकानन्द ने इस चुनौती को अत्यन्त प्रखर रूप में अमेरिका और योरप में जाकर उपस्थित किया। परिणाम इसका यह हुआ कि पश्चिम से उठी हुई ईसाइयत व अंग्रेजियत की उस लहर का वेग बहुत कम हो गया, जिसने राजा राममोहन राय और श्री केशवचन्द्र सेन सरीखे कट्टर समाज सुधारकों तथा ब्राह्म समाज, सत्यशोधक समाज व प्रार्थना समाज के अन्य नेताओं को भी प्रभावित कर दिया था। स्वामी दयानन्द ने "सत्यार्थ प्रकाश" में स्वयं इसका उल्लेख किया है।

पंजाब का नेतृत्व

उत्तर भारत में विशेषतः पंजाब में आर्य समाज के काम को जो सफलता प्राप्त हुई उसका श्रेय सिख गुरुओं विशेषतः दसवें गुरु श्री गोबिन्दसिंह को दिया जाना चाहिए। उन्होंने पंच प्यारों के रूप में जिस नए मानव को जन्म दिया था और जिसका नाम, रूप, वेषभूषा व जाति-धर्म आदि सब कुछ बदल कर जिस सामाजिक व धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया था, उससे आर्य समाज के लिए बहुत अनुकूल भूमि तैयार हो

चुकी थी। सिख गुरु इसप्रकार क्रान्ति के जो बीज बखेर गए थे, वे आर्य समाज के कारण फिर से पनप उठे। स्वामी दयानन्द ने स्वयं उत्तरभारत का सुविस्तृत और व्यापक दौरा करके धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से उसका मन्थन कर डाला था। उसके बाद जिन महापुरुषों ने उनके काम को आगे बढ़ाया, उनमें महात्मा हंसराज, अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द, लाला देवराज, सर गंगाराम और श्री हरविलास शारदा के नाम मुख्य रूप से लिए जा सकते हैं।

ईसाई पादरियों और अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली को अपने कार्यक्रम का मुख्य साधन बनाया था। आर्य समाज ने भी उनके मुकाबले में सहसा ही शिक्षा के कार्य को अपना लिया। सन् १८८८ में स्थापित लाहौर में दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज में, लगभग इन्हीं दिनों में स्थापित जालन्धर में कन्या महाविद्यालय और सन् १९०२ में हरिद्वार में गंगा के उस पार स्थापित किए गए गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी का शिक्षा के क्षेत्र में विशेष महत्व है। इन तीनों की स्थापना का श्रेय क्रमशः महात्मा हंसराज, लाला देवराज और स्वामी श्रद्धानन्द (जब वे महात्मा मुंशीराम के नाम से प्रसिद्ध थे) को है। इन तीनों संस्थाओं ने शिक्षा प्रसार के साथ-साथ धार्मिक अन्धविश्वास, सामाजिक रूढ़ियाँ, जातपांत, संकीर्ण हदबन्दियाँ तथा छूतछात के भेदभाव, रोटी-बेटी व्यवहार के अन्तर तथा प्रान्तीयता की संकुचित भावनाओं को सर्वथा नष्ट करके नई धार्मिक व सामाजिक चेतना का संचार करने का अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। जिन परिस्थितियों में इन संस्थाओं की स्थापना की गई, उसकी यहाँ कुछ चर्चा करना आवश्यक है।

महाकन्या विद्यालय, जालन्धर

कन्या महाविद्यालय, जालन्धर के संस्थापक लाला देवराज (जन्म ३ मार्च १८०७ और मृत्यु १७ एप्रिल १९३५) ने अपने काम को कोलम्बस की अमेरिका की खोज से उपमा दी थी और कहा था कि जैसे कोई यह विश्वास नहीं करता था कि पाताल में भी कोई दुनिया कायम है, ठीक वैसे ही स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भी लोगों में विश्वास पैदा करना बड़ा कठिन था। उसकी स्थापना के लिए पहले प्रयत्न किया गया, तो कोई अध्यापिका नहीं मिली। फिर दुबारा प्रयत्न किया गया, तो लड़कियाँ न मिलीं। आर्य समाजियों की प्रवृत्ति यह थी कि दो बार जालन्धर आर्य समाज द्वारा कायम की गयी कमेटियों ने प्रायः कुछ भी ठोस काम नहीं किया। आर्य समाज ने १८ जून १८८६ को स्त्रियों के भी साप्ताहिक अधिवेशन में सम्मिलित होने का सुझाव पेश किया। परन्तु यह स्वीकार नहीं किया गया और स्त्री आर्य समाज अलग कायम किया गया। २६ दिसम्बर १८८६ को कन्या महाविद्यालय की स्थापना आठ-लड़कियों से की गयी थी, उन दिनों के सम्बन्ध में संस्था की मुख्य पत्रिका 'जलविदसखा' में लिखा गया मिलता है कि जब स्त्री शिक्षा के प्रेमियों पर ईंटों और पत्थरों की बौछारें होती थीं, लोग उन पर अनेक लांछन लगाने में संकोच नहीं करते थे, शिक्षा पाप कर्म समझा जाता था, किसी कन्या के हाथ अक्षर-दीपिका होना इतना बड़ा अपराध समझा जाता था कि उसकी सगाई छूट जाती थी, तब श्रद्धेय चाचाजी (देवराजजी) ने कन्या महाविद्यालय की स्थापना कर बड़ी दूरदर्शिता का काम किया। जो लड़कियाँ विद्यालय में पढ़ने के लिए आतीं, उनके घर वालों का सामाजिक बहिष्कार किया जाता था। आर्य समाज में भी उसका काफी विरोध था। यहाँ तक कि उसके सम्बन्ध में सारे प्रान्तों की आर्य समाजों का मत संग्रह किया गया, तब कुल ६८ आर्य समाजों में से ५४ ने पक्ष में और १४ ने फिर भी विरोध में मत दिया। लेकिन लालाजी अपनी धुन में लगे रहे। दो वर्ष में लड़कियों की संख्या ५५ पर पहुँच गयीं। १५ एप्रिल १८९२ को विद्यालय के साथ आश्रम-'अनाथ गृह' तथा विधवाओं के लिए विशेष शिक्षा विभाग और विधवा आश्रम खोलने का भी निश्चय किया गया। सन् १९०० में छात्राओं की संख्या १२० और सन् १९१० में ३०० पर पहुँच गयी। आश्रम में भी उनकी संख्या लगभग दो सौ हो गयी। इस संख्या के पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा देनेवाली १२५ संस्थाएँ पंजाब में कायम हो गयीं। उनको

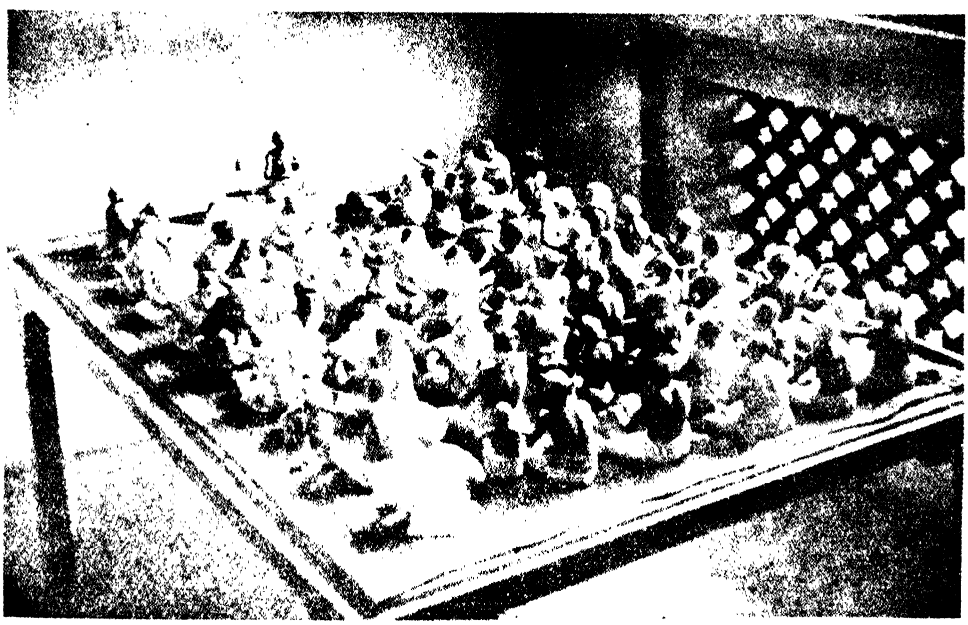
जिस आत्मा ने करोड़ों मानवों को हिला दिया

हरिजनों का मसीहा



गांधी जी के ७९ वर्षों के उत्सर्ग जीवन में, कभी ऐसा सूना क्षण नहीं हुआ, जब उन्हें करोड़ों हरिजनों के उद्धार की चिन्ता न रही हो जिन के जीवन में उनकी आत्मा स्वत: अविच्छिन्न रूप में घुली मिली हुयी थी। उनके निधन के दस वर्ष पश्चात् समय की चौड़ी खाई के उसपार से वे अपनी निरन्तर चुनौती मानव को दे रहे हैं कि वह स्वत: ऊंचा उठे, जातिवाद और अस्पृश्यता से परे हो और अपनी बुनियादी मानवता को कायम करे।

बापू का लाइफ साइज चित्र डी डब्ल्यू लेद्मर की कलम से



बापू की रामधुन

मिट्टी का माडल--श्री के० सी० पाल द्वारा निर्मित

अमर पंछी, तुम पैदा नहीं



राजघाट—गांधी स्मारक, यहाँ गांधी जी की समाधि पर प्रति वर्ष देश-विदेश के सहस्त्रों व्यक्ति अपनी श्रद्धांजलि प्रकट करने आते हैं।

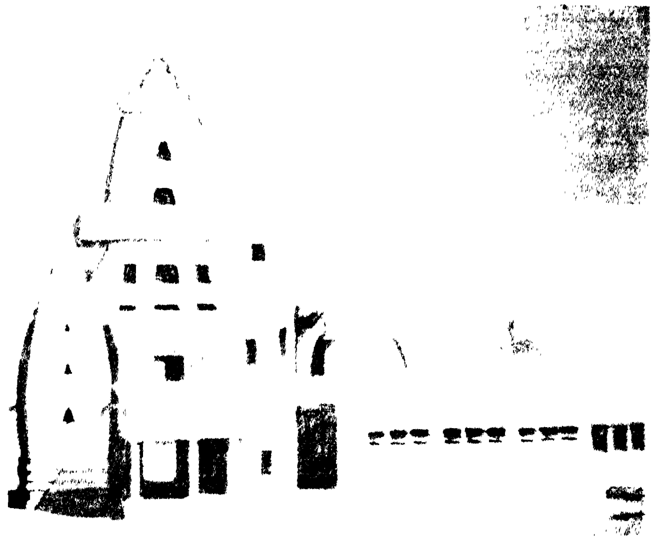


बुद्धि ज्ञान मंदिर वर्धा। गांधी साहित्य के इस पुस्तकालय का नेहरू जी ने अनावरण किया।

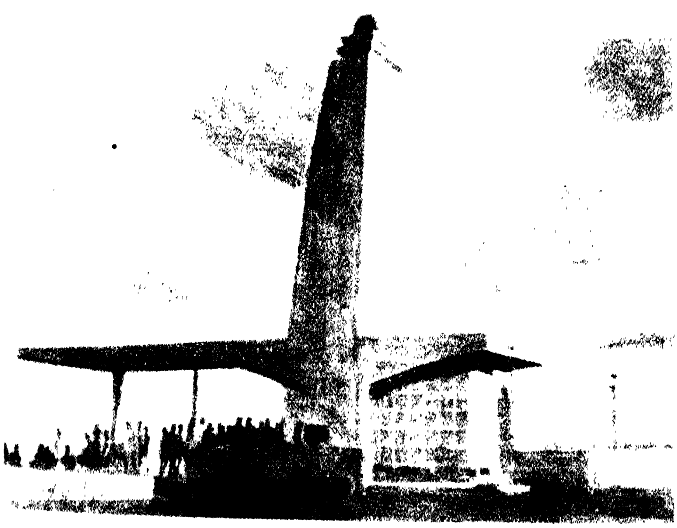
थे मरने के लिए



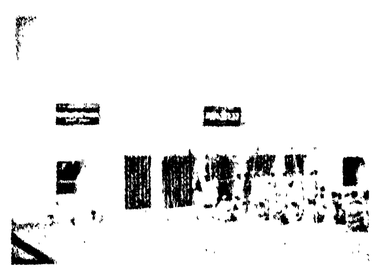
गांधी जी का अध्ययन चित्र प्लास्टर में
श्री के० बी० पटेल ने तैयार किया



गांधी स्मारक कुमारी में

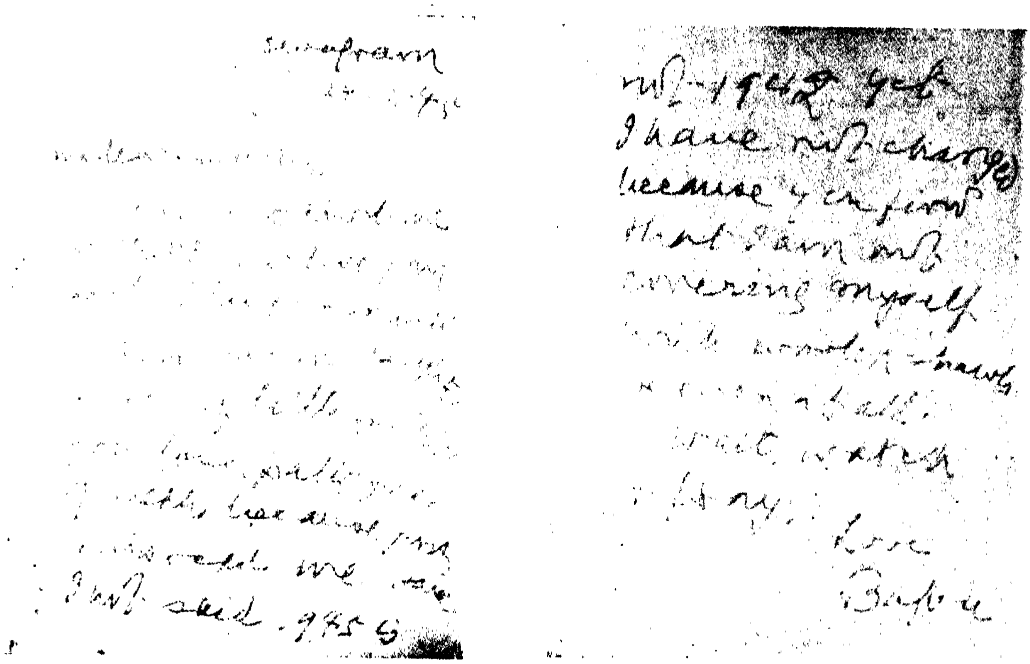


गांधी घाट—कलकत्ते के बैरकपुर में स्थापित



पंजाब में —असवती में गांधी घर

अमर शहीद की शहादत


Sevagram

I said 1945

I have

because

that I am not

covering myself

watch

Love

Bapu

गांधी जी का अप्रकाशित पत्र जो उन्होंने १६४५ में श्रीमती अरुणा आसफ़ अली को लिखा था जब कि वे भूमिगत गुप्त थीं।



राष्ट्र की थाती—गांधी जी के दैनिक जीवन की वस्तुएं !



वह गोली जिसने बापू का जीवन लिया तथा भस्मी कलश

इसकी शाखा ही कहा जाना चाहिए। विद्यालय की सारी पढ़ाई हिन्दी में होती थी और पहली से दसवीं तक की सब आवश्यक हिन्दी पुस्तकें लालाजी ने स्वयं ही लिखी थीं। विद्यालय में सभी प्रान्त और यहाँ तक कि फिजी तथा अफ्रीका से लड़कियाँ आयी थीं। पंजाब में तब साड़ी का पहनावा इतना प्रचलित न हुआ था। इसलिए लड़कियों के साड़ी के पहनावे और संगीत की शिक्षा पर भी आपत्ति की गयी। सन् १९१३ में शहर के बाहर दो मील पर संस्था का अपना भवन बनाना शुरू किया गया। पर्दा, जात-पाँत, छूतछात, प्रादेशिकता तथा साम्प्रदायिकता की संकीर्णता का इस संस्था द्वारा सर्वथा अन्त कर दिया गया। किसी भी लड़की में ऐसी कोई भी संकीर्णता नहीं रही। लालाजी स्वभावत: समाज सुधारक थे। सन् १९०९ में लाहौर में समाज सुधार परिषद् का उन्हें अध्यक्ष और १९२८ में स्वागताध्यक्ष चुना गया था।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

स्वामी दयानन्द के देहावसान के उपरान्त उनकी स्मृति में सन् १८८८ में लाहौर में दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज की स्थापना की गयी थी। वह भी इसी प्रकार कम समय में लोकप्रिय बन गया। उसमें भी देश के कोने-कोने से विद्यार्थी आकर भरती हुए और वह लाहौर की सब से बड़ी शिक्षा संस्था बन गया। परन्तु अनेक बातों में आर्य समाजियों में आपस में मतभेद पैदा हो गया और उग्र दली आर्य समाजियों ने 'गुरुकुल' नाम से शिक्षा संस्था कायम करने का निश्चय किया। लाला मुंशीराम इस दल के नेता थे। अगस्त सन् १८९८ को उसके लिए ३० हजार रुपए जमा करने का उन्होंने संकल्प किया और यह घोषणा की कि इतनी रकम जमा न होने तक वे घर नहीं लौटेंगे। केवल नौ मास में उन्होंने ४० हजार रुपए जमा कर लिए। हरिद्वार के उस पार कांगड़ी गाँव के जमींदार मुंशी अमरसिंह ने अपनी भूमि उसके लिए दान में दे दी। वहाँ २ मार्च १९०२ को ३४ ब्रह्मचारियों के साथ उसकी स्थापना कर दी गयी। गुजरानवाला में उसका कार्य कुछ समय पहले शुरू कर दिया गया था। राष्ट्रीय दृष्टि से गुरुकुल का महत्व यह था कि उसका किसी भी सरकारी संस्था के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न था। और न सरकारी पाठ्यक्रम स्वीकार किया गया था। सारी पढ़ाई हिन्दी के माध्यम से दी जाकर संस्कृत को प्रमुख तथा अंग्रेजी को गौण स्थान दिया गया था। यही वह विद्रोह था, जो सरकारी अधिकारियों को उसमें दीख पड़ता था। धार्मिक दृष्टि से इसका महत्व यह था कि उसमें किसी प्रकार की धर्मान्धिता अथवा अन्य अन्धविश्वास के लिए कोई स्थान न था, कर्मचारी और ब्रह्मचारी सब नए आदर्शों और नयी मान्यताओं से अनुप्राणित थे। सामाजिक दृष्टि से उसका महत्व यह था कि जन्म, जाति, स्पर्शा-स्पर्श तथा रोटी-व्यवहार के समस्त भेदभाव को तिलांजलि दे दी गयी थी। सब का एक-सा पहरावा था और सब एक पंक्ति में बैठ कर भोजन करते थे। लन्दन के 'दि न्यू-स्टेटसमैन' ने २० जून १९१४ को लिखा था कि 'इसका सब से बड़ा महत्व जातपाँत के भेदभाव को मिटाना है। उसमें ब्राह्मण से लेकर मेहतर तक सभी जातियों के लड़के शिक्षा पाते हैं। सब का एक-सा जीवन और रहन-सहन है। जातपाँत का भेद भारत में खूब गहरी जड़ें पकड़े हुए है। परन्तु यहाँ गुरुकुल में उसकी जड़ें बड़ी सफलता के साथ काट दी गई हैं। पश्चिम के नाम पर उनके अनुकरण में नहीं; किन्तु पूर्व के पुरातन और सुन्दर आदर्शों की पुनर्जीवित करने के नाम पर आर्य समाज के शिक्षा कार्य का यह एक उदाहरण है और शिक्षा का यह कार्य उस महान् समाज सेवा के कार्य का छोटा-सा हिस्सा है, जो आर्य समाज उत्तरी भारत में कर रहा है। आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से प्राय: रहित प्रतिभाशून्य ब्रिटिश अधिकारी एकाएक घबड़ा जाते हैं। वे नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं। इसलिए वे उसमें राजद्रोह का सन्देह करने के आदी हो गए हैं।'

आर्य समाज के शिक्षा के कार्य में इस प्रकार धर्म सुधार और समाज सुधार दोनों मिले हुए थे। गुरुकुल कांगड़ी के ढंग पर कुछ वर्षों बाद देहरादून में कन्या गुरुकुल भी खोला गया। विधवा आश्रमों और

अनाथालयों की स्थापना भी उसके कार्यक्रम का मुख्य अंग बन गया। इस कार्य का जो विस्तार हुआ उसका परिचय निम्नलिखित संस्थाओं से मिल जाता है। इस समय इन संस्थाओं की संख्या निम्नप्रकार है— गुरुकुल (बालकों के लिए) ३०, कन्या गुरुकुल १०, आर्य महाविद्यालय १५, प्रारम्भिक पाठशालाएँ ८६२, माध्यमिक १६१, उच्चमाध्यमिक २००, रात्रि पाठशालाएँ १४२, दलित विद्यालय ३२२, विधवा आश्रम ४१, दलितोद्धार सभाएँ (हरिजन सेवा करनेवाली) ४३ और अनाथालयों की संख्या भी इसी प्रकार सैकड़ों से कम नहीं हैं। फिरोजपुर में सब से पहला अनाथालय स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित किया गया था। इनका उद्देश्य अनाथों को आवारा और विधर्मी बनने से बचाना था।

समाज सुधार के क्षेत्र में इसप्रकार आर्य समाज की बहुत बड़ी देन है, इसका सब से बड़ा लाभ यह हुआ कि पुरातन पंथियों की सनातन धर्म सभाओं और सिखों की सिंह सभाओं तथा अन्य जातीय संस्थाओं ने भी अपनी शिक्षण संस्थाएँ जहाँ तहाँ खोलनी शुरू कर दीं। अपने पुराने विचारों और कुसंस्कारों के कारण जो स्त्री-शिक्षा के कट्टर विरोधी थे, उनमें और आर्य समाजियों में शिक्षा के क्षेत्र में एक होड़ लग गयी।

लाला मुंशीराम (जन्म फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी संवत् १९१३ सन् १८५७ १२, एप्रिल १९१७) ने संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के उपरान्त स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी के नाम से प्रसिद्ध हुए। १३ दिसम्बर, १९२६ को एक धर्मान्ध मुसलमान अब्दुल रसीद द्वारा दिल्ली में उनकी हत्या कर दी गयी। संन्यास आश्रम के ये दस वर्ष उनके बहुत व्यस्त बीते। सन् १९१९ में अमृतसर कांग्रेस में स्वागताध्यक्ष के पद से उन्होंने जो हिन्दी में भाषण दिया था, वह समाज सुधार की दृष्टि से महान् क्रान्तिकारी था। उसमें उन्होंने हरिजनोद्धार पर जोर देते हुए यह प्रकट किया था कि ईसाई और अंग्रेज राजनीतिज्ञ उनको हिन्दुओं से इसीलिए अलग करने की कोशिश में हैं कि वे उनको वे भारत में अपने साम्राज्य रूपी जहाज का लंगर मानते हैं। कांग्रेस ने तब उसको अनसुना कर दिया, परन्तु सन् १९३० में गांधीजी को इसी प्रश्न पर यरवदा जेल में आमरण अनशन करने को बाध्य होना पड़ा। १९२१ में कांग्रेस के १ करोड़ की तिलक निधि में से ५ लाख रुपए हरिजनोद्धार के लिए अलग रख देने का स्वामीजी का प्रस्ताव था। और उनका यह आग्रह था कि प्रत्येक कांग्रेस-जन को अपने घरेलू काम-काज के लिए हरिजन को ही अपने यहाँ नौकर रखना चाहिए। कांग्रेस द्वारा इसके स्वीकार न किए जाने पर स्वामीजी उससे अलग हो गए और उन्होंने दलितोद्धार सभा कायम करके स्वतन्त्र रूप से वह कार्य शुरू कर दिया। इसी प्रकार विधवा विवाह के प्रश्न पर हिन्दू नेताओं के साथ मतभेद होने पर वे हिन्दू महासभा से भी अलग हो गए। उनके शुद्धि और संगठन कार्य का भी एक सामाजिक पहलू था। आर्य समाज ने पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में शुद्धि का कार्य १९ वीं सदी के अन्तिम दिनों में ही शुरू कर दिया था। तब वह अधिकतर हरिजनों व पहाड़ी प्रदेशों तक ही सीमित था। और उसका मुख्य उद्देश्य उनमें आचार-विचार तथा व्यवहार की पवित्रता पैदा करना था। कुछ मुसलमानों और ईसाइयों को फिर से हिन्दू बनाने का काम भी आर्य समाज ने किया। यह काम शुरू में पुराने हिन्दुओं को पसन्द नहीं था। १९२१-२२ जून में स्वामीजी के ही कारण इस काम में तूफान-सा पैदा हो गया और हजारों मलकाओं आदि की शुद्धि करके उनको अपनी पुरानी बिरादरियों में शामिल किया गया। समाज सुधार की दृष्टि से इस कार्य का महत्व यह था कि पुरानी संकीर्ण धार्मिक और सामाजिक हदबन्दियाँ बहुत कुछ मिट गयीं और रोटी-बेटी के पारस्परिक सम्बन्ध में कुछ उदारता बरती जाने लगी। इस प्रकार जीवनभर धर्म सुधार व समाज सुधार के कार्य में लगे रह कर स्वामीजी ने यह सिद्ध कर दिया कि वे जन्मजात सुधारक थे।

विधवा विवाह सहायक सभा

अपने एकाकी प्रयत्न से विधवा विवाह के कार्य को शिखर पर पहुँचा कर उसको देश व्यापी बना देने-वाले सर गंगारामजी (जन्म १३ एप्रिल १८५१ और मृत्यु लन्दन में १० जुलाई १९२७) का नाम उत्तर भारत

के समाज सुधार के इतिहास में सदा ही स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। उन्होंने सैकड़ों हाथों से जो कमाया, उसको हजारों हाथों से विधवाओं की सेवा में लगा दिया। अपने जीवन-काल में केवल अपने उपार्जन से उन्होंने इस कार्य के लिए १ करोड़ रुपए का ट्रस्ट कायम किया और स्वयं निरन्तर इस कार्य में दिलचस्पी भी लेते रहे। सरकारी सेवा से मुक्त होकर अपने बंगले के एक कमरे में एक सहयोगी को बिठा कर १९१४ में उन्होंने इस कार्य का शुभारम्भ किया और विधवा विवाह सहायक सभा की स्थापना की। सन् १९२६ में सभा का कार्य सारे देश में फैल गया। ६०० सभाएँ शाखाओं के रूप में कायम हो गयी थीं। उनके आधीन १० विधवा आश्रम भी कायम हो गए थे। उपदेशकों, प्रचारकों तथा अवैतनिक कार्यकर्ताओं का जाल भी सारे देश में फैला हुआ था। 'विधवा बन्धु' और 'विडोज काज' नामक दो मासिक पत्रों के अलावा हर प्रान्तीय भाषा में हजारों हस्त-पत्रक प्रकाशित किए जाते थे। विवाह योग्य विधवाओं के अलावा अन्य विधवाओं को स्वावलम्बी बनाने के लिए एक "इंडस्ट्रियल स्कूल" स्थापित किया था और सर्वथा काम के अयोग्य विधवाओं के लिए अपाहिज आश्रम कायम किया था। महात्मा गांधी ने नवजीवन में ३१ जुलाई १९२७ को उनके सम्बन्ध में ठीक ही लिखा था कि, "वे देश के ठोस और कर्मठ कार्यकर्त्ता थे तथा वाह्यप्रदर्शन, जुलूस, सार्वजनिक सत्कार, मानपत्र, फूलों के हार, पुष्प वर्षा इत्यादि से सर्वथा दूर रहने वाले थे।" सर गंगाराम का सारा जीवन सरकारी नौकरी और ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने में ही बीता। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनमें देश-भक्ति की भावना किसी से कम थी। देश-सेवा केवल राजनीतिज्ञ द्वारा ही नहीं हो सकती है। बहुधा त्वरित यश प्राप्ति के लिए राजनीतिक क्षेत्र सर्वोत्तम होता है। सर गंगाराम भी सरकारी सेवा से निवृत्त हो तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में चमक सकते थे। देश की उस समय की अवस्था के अनुसार यह शायद सरल होता। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। ये जानते थे कि विदेशियों को गाली देकर देशभक्त बनना आसान है, किन्तु अपने घर के फोड़ों की चीरफाड़ करना दुष्कर है। इसमें यश मिलना तो दूर रहा, घरवालों से ही निन्दा और भर्त्सना सुननी पड़ती है। सर गंगाराम का यह दृढ़ विश्वास था कि समाज सुधार के बिना राजनीतिक उन्नति और स्वतन्त्रता लंगड़ी है। इसलिए उन्होंने सामाजिक सेवा को अपना क्षेत्र चुना और इसमें भी उस समस्या को हाथ में लिया जो सब से अधिक नाजुक है, अर्थात् विधवाओं का प्रश्न। यह सारी अपार सम्पत्ति, सर गंगाराम ने मिन्टगुमारी जिले में बंजर पड़ी हुई जमीन खेती के लिए ठेके पर लेकर पैदा की थी और उस सात्विक सम्पत्ति का विनियोग उन्होंने विधवाओं की सहायता के सात्विक काम में किया। पंजाब में जन्म लेनेवाले यह महान् समाज सुधारक स्वतः एक संस्था थे और बड़ी बड़ी संस्था से भी कहीं अधिक बड़ा काम करके उन्होंने पंजाब का कायाकल्प कर दिया। सन् १९२० के लगभग स्थापित श्री सन्तराम के 'जातपाँत तोड़क मण्डल' ने जन्मगत जात-पाँत के विरुद्ध तीव्र और यशस्वी आन्दोलन जारी किया। मण्डल के क्रान्ति और 'रिफार्मर' मासिक पत्र सामाजिक व धार्मिक क्रान्ति के संदेशवाहक थे।

राजस्थान पीछे न रहा

आर्य समाज का कार्य और प्रचार भले ही राजस्थान की अपेक्षा अधिक पंजाब मे हुआ, किन्तु स्वामी दयानन्द की दृष्टि अधिकतर राजस्थान पर लगी हुई थी। अजमेर को उन्होंने अपने कार्य का मुख्य केन्द्र बनाया और अन्त में धोखा देकर दिए गए विष के कारण अजमेर में ही आपका सन् १८८३ में देहावसान हो गया। यहाँ ही बैठ कर आपने अपने सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' का निर्माण किया था और परोपकारिणी सभा कायम करके वैदिक यंत्रालय की भी स्थापना की थी। उदयपुर, जोधपुर तथा शाहपुरा आदि के नरेशों में समाज सुधार तथा धर्म सुधार की भावना पैदा करने का आपने विशेष प्रयत्न किया। जोधपुर महाराज की वेश्यावृत्ति के कारण भर्त्सना करने पर आपको अपने प्राणों की बलि दे देनी पड़ी और यहाँ ही वह षड्यंत्र रचा गया, जिसका आपको शिकार बनाया गया। राजस्थान का यह सब से बड़ा दुर्भाग्य था कि, वह लगभग

दो दर्जन छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त रहा और किसी भी नरेश में धर्म सुधार व समाज सुधार के लिए बड़ौदा के महाराज सयाजीराव तथा कोल्हापुर के साहू छत्रपति सरीखी भावना पैदा नहीं हो सकी। जागीरदारी प्रथा के कारण वह और भी अधिक पिछड़ा रहा। स्थिति यह रही कि अनेक राज्यों में सेवा समिति का गठन करना, पुस्तकालय तथा पाठशाला का स्थापित करना और धार्मिक एवं सामाजिक व्याख्यान देना भी अपराध माना जाता था। फिर भी आर्य समाज ने यथासम्भव कार्य किया। अजमेर में अनाथालय, विधवा आश्रम, और हाई-स्कूल कायम किए गए। वह हाई-स्कूल अब दयानन्द कालिज के रूप में चल रहा है।

आर्य समाज के प्रचार व कार्य का यह लाभ हुआ कि विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के लोगों का ध्यान अपना सुधार करने की ओर आकर्षित हुआ और इसी कारण प्रायः सभी जातियों की समाज सुधारक संस्थाएँ जहाँ-तहाँ पनप उठीं। प्रवासी राजस्थानियों में अखिल भारतीय मारवाड़ी अग्रवाल सभा, अखिल भारतीय महेश्वरी महासभा, खण्डेलवाल महासभा, वैश्य महासभा, ओसवाल सम्मेलन, दिगम्बर जैन परिषद् तथा ब्राह्मण महासभा आदि का गठन प्रायः प्रवासी राजस्थानियों ने ही किया। बाद में मारवाड़ी कार्यकर्त्ता सम्मेलन तथा मारवाड़ी सम्मेलन भी संगठित किए गए। उनकी देखादेखी वैश्यों, राजपूतों, गुर्जर राजपूतों, मीना राजपूतों तथा अन्य वर्गों की भी अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ। ये सब अपनी जात बिरादरी में समाज सुधार के लिए कुछ-न-कुछ प्रयत्न करने में लग गईं और यह मानना होगा कि उनका प्रयत्न बिल्कुल व्यर्थ नहीं गया। मृतक भोज, पर्दा, विवाह सम्बन्धी बुराइयाँ, विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, वेश्या-नृत्य तथा स्त्रियों के बाजारों व विवाहों में अश्लील गीत गाने आदि के विरुद्ध आन्दोलन और अनेक स्थानों पर सत्याग्रह भी हुए। महात्मा गांधी के हरिजन आन्दोलन के परिणाम स्वरूप सब से पहले झालावाड़ नरेश ने अपना राम मन्दिर अछूतों के लिए खोला। उसके बाद उदयपुर का जगदीश मन्दिर भी खोला गया। परन्तु राजस्थान में धर्मान्धता और सामाजिक कट्टरता अब भी काले बादलों की तरह छायी हुई है। राज्य के अनेक हिस्से ऐसे हैं, जिनमें वर्तमान युग की प्रगति व उन्नति का सन्देश अब तक भी नहीं पहुँचा। राजस्थान के समाज सुधार आन्दोलन के इतिहास में स्वर्गीय दीवान बहादुर श्री हरविलास शारदा (जन्म ३ जून १८६७ और मृत्यु १९५५) अपना नाम अमर कर गए हैं। वे आर्य समाज के प्रमुख नेताओं में रहे। सन् १८८८ में उन्होंने अजमेर में आर्य समाज सन् १८८९ में आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा और सन् १८८९ में हाईस्कूल (अब दयानन्द कालिज) की स्थापना की। सन् १८९३ में परोपकारिणी सभा के मंत्री चुने गए और जीवन पर्यन्त उसके मंत्री रहे। सन् १९२४ से १९३३ तक वे केन्द्रीय एसेम्बली के सदस्य रहे। सन् १९२५ में उनके प्रयत्नों से बाल-विवाह-निषेध कानून बना, जो शारदा कानून के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी एक दुर्भाग्य ही है कि, राजस्थान में देशी राज्यों में वह लागू नहीं हुआ और उसके लाभों से राजस्थान की देशी जनता वंचित रही। विधवाओं के उत्तराधिकार और बाल धूम्रपान निषेध के बारे में भी आपने विधेयक प्रस्तुत किए। परन्तु समय को देखते हुए इन सब कानूनों का यथेष्ट परिणाम नहीं निकला। राजस्थान में इस समय भी बाल-विवाह भयानक रूप में प्रचलित हैं और हरिजनों तथा महिलाओं को भयानक रूप में सामाजिक विषमता भोगनी पड़ रही है।

उत्तर-प्रदेश का पिछड़ापन

उत्तर-प्रदेश जितना बड़ा है उतना बड़ा उसके समाज सुधार आन्दोलन का इतिहास नहीं है। उसे धर्मान्धता का सब से बड़ा गढ़ अवश्य कहा जा सकता है। उसके उत्तर से बनारस तक फैले हुए तीर्थ और तीर्थों में रहनेवाले पुजारी, पंडे तथा पुरोहित उसकी धर्मान्धता के संरक्षक बने हुए हैं। किसी ने ठीक कहा कि, वह ऐसा मध्यवर्ती प्रदेश है कि उसको सीमावर्ती प्रदेशों से उठने वाली समाज सुधार की लहरें प्रभावित नहीं कर सकीं। स्वामी दयानन्द ने मथुरा में बैठ कर गुरु बिरजानन्द से शिक्षा-दीक्षा ली थी और हरिद्वार में

सबसे पहले पाखण्ड-खण्डिनी पताका गाड़ कर अपना कार्य आरम्भ किया था। आर्य समाज ने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का क्रान्तिकारी प्रयोग यहाँ ही प्रारम्भ किया था। परन्तु उस सब का यथेष्ट परिणाम हाथ नहीं लगा। फिर भी जो कुछ हुआ उसका श्रेय मुख्यतः आर्य समाज को ही है। यहाँ वैवाहिक कुप्रथाओं का कभी बड़ा जोर था और उन में वेश्या-नृत्य की बड़ी प्रमुखता थी। विधवा समस्या भी बड़े उग्र रूप में थी।

बिजनौर के श्रोत्रिय शंकरलाल ने श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की विधवा विवाह सम्बन्धी पुस्तक का अनुवाद करके उसके पक्ष में प्रचार शुरू किया और सन् १९०४ में स्वयं अपना विवाह एक बाल-विधवा से किया था। दूसरा उल्लेखनीय विवाह सन् १९१४ में आर्य समाज के सुप्रसिद्ध नेता पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के परिवार में हुआ। एटा में एक बहुत बड़ी पंचायत की गई और उपाध्यायजी का सामाजिक बहिष्कार किया गया।

पर्वतीय प्रान्त की नायक जाति की लड़कियों के सम्बन्ध में पहले उल्लेख किया गया है। आर्य समाज ने उनके उद्धार का काम अपने हाथ में लिया। प्रयाग के रहनेवाले श्री गजाधर प्रसाद उन दिनों में अल्मोड़ा में रहते थे। उन्होंने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया और उसके विरुद्ध सरकार से एक विशेष कानून बनवाया। नायक जाति की मेरठ निवासी श्रीमती हीरादेवी ने इस ओर बड़ी लगन से कार्य किया। श्री नारायण स्वामी महाराज ने रामगढ़ में अपना आश्रम बना कर जब वहाँ रहना शुरू किया, तब यह कार्य अधिक आगे बढ़ा।

जात-पाँत और छूतछात के सम्बन्ध में इस प्रदेश में आठ कनौजिया और नौ चूल्हों की कहावत प्रसिद्ध है। यहाँ तक कि आर्य समाज में भी जन्मगत जात-पाँत को माननेवाला एक वर्ग इस प्रदेश में पैदा हो गया। खान-पान की कट्टरता और संकीर्णता इतनी अधिक थी कि उसको लांघना सूली पर लटकने से भी अधिक कठिन था। गढ़वाल में इस दृष्टि से स्थिति बड़ी भयानक थी। दलित जाति के लोग विवाह में डोला-पालकी का प्रयोग नहीं कर सकते थे। आर्य समाज ने उस अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई तो कितनों के सिर फोड़ दिए गए और कितनों को खून से लथपथ किया गया। बिजनौर और नजीबाबाद के आर्यों ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया और बड़े लम्बे संघर्ष के बाद वे सफल हुए। इस प्रकार सामाजिक स्थिति पर जो चोट की गयी, उनका कुछ परिणाम अवश्य प्रकट हुआ है। परन्तु, इस सारे कार्य को केवल प्रारम्भ समझा जाना चाहिए। वास्तविक कार्य किया जाना अभी बाकी है।

गांधीजी का नेतृत्व

बीसवीं सदी के तीसरे चौथे और अधिकांश पाँचवें दशक में भी देश के सार्वजनिक जीवन पर महात्मा गांधी का व्यक्तित्व छाया रहा। उन्होंने राजनीति को सत्य और अहिंसा पर आधारित कर उसमें आध्यात्मिकता की पुट दी और कांग्रेस कार्यक्रम में नशाबन्दी व मद्य-निषेध को प्रमुख स्थान देकर राजनीति में समाज सुधार इस ढंग से सम्मिलित कर दिया कि उस पर किसी को कुछ भी आपत्ति नहीं हुई। धीरे-धीरे हरिजन सेवा को भी उन्होंने कांग्रेस के कार्यक्रम का मुख्य अंग बना दिया। इस आन्दोलन ने मन्दिर प्रवेश, हरिजन बस्तियों की सफाई और उनकी शिक्षा की विशेष व्यवस्था ने अनेक रूप धारण किए। १९३० में यरवदा जेल में हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने की अंग्रेज राजनीतिज्ञों की दुर्नीति के विरुद्ध किए गए आमरण अनशन से सहसा ही हरिजन आन्दोलन देश व्यापी बन गया। नमक सत्याग्रह के दिनों में विदेशी कपड़े तथा शराब की दूकानों पर धरना देने के लिए महिलाओं को आह्वान करके पुरुषों की बराबरी में खड़ा कर दिया। पर्दा-प्रथा के निवारण और महिला उत्थान के कार्य के लिए श्री मगनलाल गांधी को बिहार में विशेष रूप से भेजा गया। जेलों में जानेवाले हजारों सत्याग्रही बिना किसी भेदभाव के सब एक साथ रहते और एक साथ खाते-पीते। इससे जातिभाव और छूतछात जातिगत भेदभाव का स्वतः ही बहुत कुछ अन्त हो गया। सत्याग्रह आश्रम, गांधी आश्रम तथा खादी आदि के उत्पादन केन्द्रों में समान रहन-सहन व खान-पान आदि

का सिलसिला अपनाने से भी जन्मगत जात-पाँत और उस पर आश्रित भेदभाव पर घातक प्रहार हुआ। इस प्रकार गांधीजी समाज सुधार का जो काम कर गए, वह उनके राजनीतिक कार्य से किसी भी अंश में कम महत्व पूर्ण नहीं है।

नए युग का प्रादुर्भाव

स्वतन्त्र होने के बाद हमारे देश में सभी दृष्टियों से एक नए युग का प्रादुर्भाव हुआ है। अपने संविधान में हमने उन सब सामाजिक आदर्श तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिन पर समाज सुधार की भित्ति खड़ी करके श्रेणी-हीन, वर्गहीन व विषमताहीन आदर्श एवं समुन्नत समाज का गठन किया जा सकता है। मानव के शोषण, दोहन, उत्पीड़न का अन्त करने का हमने संकल्प किया है। स्त्री या पुरुष के बीच के समस्त अन्तर को समाप्त करने और अस्पृश्यता के कलंक को मिटाने की घोषणा की है। राष्ट्र के समस्त नागरिकों के लिए समान अवसर और समान अधिकार का प्रतिपादन किया है। अपने राष्ट्र के लिए धर्म निरपेक्ष किंवा सम्प्रदायातीत आदर्श को स्वीकार करके राजनीति से धर्मान्धता को हटा दिया गया है। समाज रचना के लिए जिस समाजवादी आदर्श को अंगीकार किया गया है, उसका प्रयोजन सामाजिक व धार्मिक दृष्टि से भी समता व समानता कायम करना है। अपने राष्ट्र को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित करते हुए उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्रदान करने तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करनेवाली बन्धुता बढ़ाने का हमने अपने संविधान के आरम्भ में ही दृढ़ संकल्प किया है। इस संकल्प को पूरा करके हम जिस समाज का निर्माण करेंगे वह सचमुच ही सामाजिक दृष्टि से भी एक आदर्श समाज होगा।

अस्पृश्यता को एक अपराध ठहरा कर उसकी दण्ड व्यवस्था करने वाला विधान बनाया गया है। हिन्दू कोड में संशोधन करके स्त्रियों को उत्तराधिकार आदि प्रदान करने के लिए बनाए गए विधान को भारतीय नारी के अधिकारों का मैगना चार्ट कहा गया है। ये प्रमाण हैं, इस बात के कि हम अपने संविधान में निहित सामाजिक आदर्श एवं संकल्प को सत्यता व ईमानदारी से पूर्ण करने में लगे हुए हैं। परन्तु संविधान और ऐसे विधानों को अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी। यह अपने कर्त्तव्य पालन का केवल आरम्भ है। समाज सुधार का क्षेत्र इतना विस्तृत और व्यापक है कि उसके अन्तिम छोर की वैसे ही कल्पना नहीं की जा सकती, जैसे कि सृष्टि के अन्त की कल्पना करना कठिन है। मानव-समाज को इसी कारण अनादि और अनन्त माना जाता है। उसके साथ ही लगे हुए समाज सुधार के कार्य को भी अनादि और अनन्त कहा जा सकता है। हमारा कर्त्तव्य अपने समय के समाज को समुन्नत एवं आदर्श बनाने में अपने श्रद्धा एवं विश्वास से पूरा करना है। वह वैदिक आदर्श हमारे सामने सदा ही बना रहना चाहिए जिसको "चरैवेति चरैवेति" शब्दों में प्रकट किया गया है। बस, बढ़ते चलो, बढ़ते चलो। हमारा कदम न रुके।

मानव जीवन का यही अर्थ और यही प्रयोजन है।

जातिवाद पर संतों का वज्र प्रहार



श्री वियोगीहरि

वर्ण-भेद और उससे उत्पन्न जातिभेद पर, या कहिए, जातिवाद पर उसके जन्मकाल से ही प्रहार-पर-प्रहार हुए हैं। प्रहार प्रायः सारे ही श्रमण-संस्कृति के द्वारा हुए हैं। मानव-मानव के बीच भेद-भाव या वैषम्य जगत के किसी भी श्रमण या सन्त को कभी सहन नहीं हुआ। वर्ण-भेद और जातिवाद को काटनेवाले उनके तर्क इतने सीधे-सादे किन्तु तीक्ष्ण होते थे कि जनसाधारण की सामान्य बुद्धि उनको बिना किसी प्रयास के पकड़ लेती थी, जब कि उससे विपरीत विचारों को सिद्ध करने के लिए बड़े-बड़े पंडितों को एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ा। शास्त्रों की दुहाई देकर जनसाधारण को बार-बार प्रलोभन दिए गए कि वर्ण-भेद और जातिभेद पर विश्वास रखने से स्वर्ग-लाभ होगा और उस पर अविश्वास करने से नरक भोगना होगा। किन्तु सन्तों ने इस भारी भ्रम का निवारण कर अपनी सहज दयालुता का परिचय दिया। भेद-भावना के अंधेरे गर्त्त में गिरते हुओं को वे सदा प्रकाश-पथ पर लाते रहे। 'वज्रसूचिकोपनिषद्' का ऋषि वर्ण-भेद पर कुठाराघात करते हुए कहता है :—

आचाण्डालादिपर्यन्तानां मानुषणां पाँचभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वात्जरामरणधर्मादिसाम्यदर्शनात् ।
ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियोरक्त वर्णः वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्णः इति नियमाभावात् ।।

अर्थात्—तथाकथित चाण्डाल से लेकर सभी मनुष्यों के शरीर पंचभौतिक और एक ही प्रकार के हैं। सर्वत्र ही जरा-मरण धर्म की एकता दिखती है। ऐसा तो कोई नियम नहीं दिखाई देता कि, ब्राह्मण श्वेतवर्ण का हो, क्षत्रिय रक्तवण का हो, वैश्य पीतवर्ण का हो और शूद्र कृष्ण वर्ण का।

कहाँ असमानता है ?

जब यह देखा गया कि चलना-फिरना, शरीर, वर्ण, वेश, सुख-दुःख, रक्त, त्वचा, मांस, मज्जा, अस्थि और रस सभी मनुष्यों के समान हैं, तो फिर यह चार वर्णों का भेद कहाँ से पैदा हो गया ? सभी मरणशील हैं। सब के शरीर में एक-जैसा ही मांस है, एक-जैसा ही मल-मूत्र भरा हुआ है, तब फिर यह ऊँच-नीच का भेद कहाँ से आया ?

अभेद और अद्वैत का साक्षात्कार करनेवाले सन्तजन वर्ण-भेद और जाति-भेद को कैसे सहन कर सकते थे ! उनको कहीं भेदभाव दिखाई ही नहीं देता था। महात्मा सुन्दरदास कहते हैं :—

अन्त्यज ब्राह्मण आदि दै, छार मथै जो कोइ।
'सुन्दर' भेद कछू नहीं, प्रकट हुताशन होइ ।।
अन्त्यज के जल-कुम्भ में, ब्राह्मण-कलस मंझार।
'सुन्दर सूर प्रकाशिया, बुहुंवनि में इकसार ।।

एक लकड़ी को दूसरी लकड़ी पर यदि ब्राह्मण घिसे और उसी प्रकार उसे कोई अन्त्यज। लकड़ियों के मन्थन का यही अकाट्य तर्क भगवान बुद्ध ने दिया था। आश्वलायन ने जब वर्ण-भेद का प्रश्न तथागत के सामने रखा, तो उससे वे पूछते हैं :—

'आश्वलायन ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि यदि कोई मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा एक जगह नाना जातियों के सौ आदमी एकत्र करे और उन्हें कहे कि, आप सब क्षत्रिय कुल, ब्राह्मण कुल, और राजन्य-कुल वाले साल की या चन्दन की या पद्मकाष्ठा की उत्तरारणी लेकर आग बनाएँ और इसी प्रकार बसौर-कुल, रथकार-कुल और पुक्कस-कुल वालों को एकत्र करके उनसे कहें कि, आप सब कुत्ते के या सूअर के पीने की कठौती या धोबी की कठोती या रेण्ड की लकड़ी की उत्तरारणी ले कर आग बनाएँ, तो क्या आश्वलायन ! तुम मानते हो कि क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य-कुलवालों द्वारा शाल-चन्दन-पद्म की उत्तरारणी को लेकर जो आग बनाई गई, क्या वही अग्नि अर्चिमान, वर्णवान् अग्नि होगी ? उसी से क्या अग्नि का काम लिया जा सकता है ? और जो वह चाण्डाल-निषाद-बसौर-रथकार-पुक्कस-कुलों द्वारा श्वपान तथा सूकरपान-कठौंती की, रेण्ड की लकड़ी की उत्तरारणी से ले कर आग बनाई गई है, वह क्या अर्चिमान, वर्णवान् न होगी ? उससे क्या अग्नि का काम नहीं लिया जा सकेगा ?"

सन्तों के तीखे प्रहार

हर युग में, समय-समय पर, स्थान-स्थान पर, बुद्धि-स्वातन्त्र्य के क्रांतिकारी बीज इस प्रकार मानस क्षेत्र पर ये संतजन मुक्त-हस्त छितराते रहे।

कबीर साहब ने जात-पाँत पर जो प्रहार किए, वे सचमुच वज्र के प्रहार थे। तर्क उनके अनूठे थे। ललकार कर कबीर पूछते हैं :—

जो तू बांमन बभनी जाया, आन बाट से क्यों नहीं आया ?

इसीप्रकार—

तुम कत ब्राह्मन, हम कत शूद्र।
हम कत लोहू, तू कत दूध ।।

तुम ब्राह्मण किस खास मसाले से तैयार हुए हो ? और हम शूद्र कैसे हो गए ? छुरी से चीरने पर ठीक है, शरीर से रक्त निकलेगा, निकलना ही चाहिए ; पर पाण्डे महाराज, तुम्हारे शरीर से तब क्या दूध की धारा बहने लगेगी ?

कर्नाटक के महान् सन्त वसवेश्वर और आन्ध्र के सन्त कवि वेमन तथा महाराष्ट्र के चक्रधर स्वामी ने भी इसी प्रकार जातिवाद का उच्छेद किया है। वेमन पूछते हैं—'तेरे जन्म के समय कहाँ थी गायत्री और कहाँ था उपवीत ? सब का जन्म एक ही तरह से हुआ है। सब का रक्त एक ही है और मांस भी एक ही है। सभी समान हैं—फिर क्यों यह भेद-भाव विभेद चलाते हो ?

इन तमाम सन्तों ने रूढ़िग्रस्त समाज के विरोध का सत्य के लिए साहसपूर्वक सामना किया और अपने-आप को बलिवेदी पर भी चढ़ा दिया। चक्रधर स्वामी ने स्त्री-पुरुषों और विभिन्न वर्णों में जानबूझ कर विषमता

निर्माण करनेवाली वैदिक परम्परा को अस्वीकार किया। वर्ण-समानता और स्त्री-पुरुष की समानता स्थापित करने का उन्होंने प्रयत्न किया। एक मातंग (एक अस्पृश्य जाति) के हाथ का लड्डू खाने में उन्हें कोई दिक्कत नहीं मालूम पड़ी। स्वयं खाकर उन्होंने अपने अनुयायियों में भी उसे बाँट दिया।

चक्रधर स्वामी के उपदेशों का प्रमाण तेरहवीं शताब्दी के उच्च वर्णवालों को कैसे सहन हो सकता था? ब्राह्मण-पुरोहित बहुत चिन्तित हुए। इतिहास साक्षी है कि चक्रधर स्वामी को उस जमाने के प्रसिद्ध हेमाद्रि पण्डितों ने ग्राम के पास मरवा डाला।

महाराष्ट्र के सन्त

महाराष्ट्र के सन्त नामदेव और चोखामेला को भी अपने क्रान्तिकारी विचारों के परिणाम स्वरूप अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ी थीं। जो अपमान उनको सहन करने पड़े, उनका वर्णन अपने अनेक अभंगों में उन्होंने किया है; किन्तु अपनी आत्मा की आवाज को दबाया नहीं। सन्त नामदेव ने पुरोहितों के विरुद्ध आवाज उठा कर कहा—'ये लोग सब दंभी हैं, गर्वोन्मत्त हैं, भेदाभाव और विधि-निषेध के बन्धनों में फँसे हुए हैं। इनसे ईश्वर-ज्ञान की क्या आशा की जा सकती है? इनसे तो दूर रहना ही अच्छा है।'

हरि भक्त

कई सगुण-भक्तों ने भी जात-पाँत का खण्डन किया है, पर उतने जोरों से नहीं, जितना कि निर्गुणी सन्तों ने। उन्होंने एक शर्त लगा दी है कि जो हरि का भजन करता है, वह जात-पाँत से ऊपर उठ जाता है। संस्कृत तथा अनेक प्रान्तीय भाषाओं में इस आशय के कितने ही वचन मिलते हैं, जिनमें कहा गया है कि हरि-भक्त की जाति सब से ऊँची होती है और यह भी कहा गया है कि हरिभक्ति से विमुख ब्राह्मण को भी निम्न-जाति का मानना चाहिए। किन्तु, इतने से जाति-भेद का सहज उच्छेद नहीं होता है। यह तो विशिष्ट उच्छेद हुआ।

भगवान बुद्ध ने व्याख्या बदली

भगवान बुद्ध का दृष्टिकोण और उनका प्रयास इससे भिन्न था। तब वर्ण-भेद मौजूद था। ब्राह्मण को श्रेष्ठ और शूद्रों-अतिशूद्रों का समाज में बहुत नीचा स्थान था। जन्मना ब्राह्मण का श्रेष्ठ स्थान और शूद्र का निम्न स्थान स्वीकार न करके उन्होंने शील-सम्पन्नता को श्रेष्ठ और शीलहीनता को निकृष्ट माना।

वर्ण की व्याख्या मौलिक रूप में भगवान बुद्ध ने बदली। संघ में जो जिस किसी वर्ण का आया, वह बौद्ध कहा गया। भागवत अथवा वैष्णव के विषय में भी ऐसा ही कहा जाता है। किन्तु व्यवहारतः भागवतों में वर्ण-व्यवस्था को किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत प्रश्रय दिया गया है। हाँ, महाराष्ट्र के 'वारकरी' पंथ में वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध निःसन्देह विद्रोह की आवाज़ उठाई गई। व्यक्तिगत रूप से अनेक वैष्णवों के जीवन में इस प्रकार की क्रान्ति का उल्लेख मिलता है। परन्तु; सब मिला कर जहाँ तक बौद्ध इस दिशा में आगे बढ़े, वहाँ तक भागवत सम्प्रदाय नहीं जा सका। किन्तु वर्ण-व्यवस्था को बौद्ध धर्म भी जड़-मूल से नहीं उखाड़ सका। पीछे, जैसा कि होना था, स्वतः यह व्यवस्था विकृत बन कर एक घातक अव्यवस्था में परिणत हो गई। उसका स्थान उससे उत्पन्न जातिवाद ने ले लिया। सन्तों को यह चीज बराबर खलती रही। वे चुप नहीं बैठे। इसके खिलाफ वे सतत विद्रोह का प्रचार करते रहे।

रूढ़िग्रस्त समाज का विरोध

रूढ़िग्रस्त समाज ने सन्तों के इस प्रकार के क्रान्तिकारी विचारों का खुल्लमखुल्ला विरोध तो नहीं किया, पर स्वागत भी नहीं किया। उसने यह मान लिया कि सन्त तो सर्व समर्थ हैं, उनकी टीका नहीं करनी चाहिए, पर उनके ऐसे ऐसे उग्र विचारों पर आचरण नहीं किया जा सकता। प्रकारान्तर से मानों इसका

मतलब यह हुआ कि सत्यमूलक मानव-साम्य केवल पहुँचे हुए साधु-सन्त और भागवतों के ही लिए है, जनसाधारण इस ऊँची अवस्था तक कहाँ पहुँच सकता है ? उसका कल्याण तो जातिवाद को ही छाती से चिपटाए रहने में है। सन्तों के चरणों को, खास कर जब कि वे प्रत्यक्ष कोई चमत्कार दिखा दें या दिखाने का दावा करें—नित्य भक्ति पूर्वक पूजना चाहिए। उनके सद्विचारों को सुन लिया जाए, पाठ भी उनका कर लिया जाए, पर उन पर आचरण न किया जाए। जातिवाद से जकड़े हुए हिन्दू-समाज ने उन कतिपय भक्तों के वचनों को निःसंदेह प्रमाण रूप में स्वीकार किया, जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया है। ऐसे भगवद्भक्तों ने हरिभक्ति को वर्णाभिमान की समता में निःसंदेह ऊँचा स्थान दिया है। पर इस महँगी शर्त से बहुत अनुचित लाभ उठाया गया। कौन तो भक्त है और कौन अभक्त, इसका मापदण्ड बहुधा उन्हीं के हाथ में रहा, जो जातिवाद का साहसपूर्वक खण्डन नहीं कर सके, या करना नहीं चाहते थे।

कबीर, रैदास या चोखामेला की ऊँचे भक्तों में गणना तो कर ली गई ; पर उनके जीवन-वृत्तों में कोई ऐसा प्रसंग जोड़ दिया गया कि पूर्व जन्म में वे ब्राह्मण थे, किन्तु करनी कुछ बिगड़ जाने से उनको नीच-कुलों में जन्म लेना पड़ा।

यह स्पष्ट है कि वर्ण-भेद या जातिवाद को निर्गुण-उपासक संत तथा सगुण-उपासक भक्तों ने श्रेयस्कर नहीं माना। किसी ने तो बिना किसी शर्त के और किसी ने शर्त को जोड़ कर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसका खण्डन ही किया है। उधर काल भी अपना काम करता गया। क्यों न हम मानें कि काल पर संतों की वाणी एवं आचरण का प्रभाव पड़ा और उसीके परिणाम स्वरूप वर्ण-भेद और उससे उत्पन्न जातिवाद विकलांग हो गया है। राजनीति, या कहिए गलत राजनीति ने इधर जाति-पांतिवाद को अप्रत्यक्ष रूप से जो उत्तेजन दिया है वह बहुत टिकनेवाला नहीं। अन्त में संतों की अभेद मूलक निर्मल वाणी ही ठहरनेवाली है। भारत को राजनीतिज्ञों ने नहीं; बल्कि संतों ने अपनी शील-सम्पदा से स्वाभाविक रूप से सम्पन्न किया।

वैदिक-काल में अस्पृश्यता

प्राचीन-काल में, या कहा जाए कि वैदिक-काल में और उसके उपरान्त अस्पृश्यता की जैसी कोई घृणित विषमता हमारे समाज में नहीं पाई जाती थी। सब लोग एक साथ उठते-बैठते थे, मिलते-जुलते थे। वैदिक ऋषि कहता था कि—"तुम्हारे जल पीने के स्थान समान हों, तुम सब मिल कर भोजन करो, मैं तुम्हें प्रेम के धागे में बाँधता हूँ, मिल कर चलो और परमेश्वर की उपासना करो। कैसे, जैसे कि रथ के पहिए नाभि के चारों ओर मिले हुए रहते हैं।"

तब न तो कोई ज्येष्ठ या बड़ा माना जाता था और न कोई कनिष्ठ या छोटा। पारस्परिक प्रेमपूर्ण समता के पारिजात पुष्प समाज के उद्यान में सदा सुगन्ध फैलाते रहते थे। समाज की मंगल यात्रा अभेद की ओर ही रहती थी। तब—

समाज की दीवारें

यह दुर्दिनों का आना तो तब शुरू हुआ, जब न जाने क्या समझ कर, समाज ने भेद की नीची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दीं। विषमता का अजीब अजीब दलीलों से कुछ पोथियों में समर्थन भी किया गया। सुरक्षा की छत में दरारें पड़ने लगीं, क्योंकि एक मानव अपने ही जैसे दूसरे मानव से परहेज करने लगा और दुर्दिन आ गए।

दूर की दृष्टि रखनेवाले महापुरुषों से यह न देखा गया। समय-समय पर उन्होंने उन दीवारों को तोड़ने और गिराने का यत्न किया। कुछ हद तक वे सफल भी हुए, पर कुछ ही हद तक। साधु-संतों ने भेदासुर के ऊपर प्रहार पर प्रहार किए। वे कब सहन कर सकते थे, अभेद के सूर्य पर भेद के ग्रहण की काली-काली छाया को। बुद्ध और महावीर से लेकर कबीर, नानक, तुकाराम, रामकृष्ण और गांधी ने

असमानता और अस्पृश्यता के विरुद्ध हाथ ऊँचा करके विषमता के गर्त्त में गिरते हुए समाज को ललकारा और चेताया।

पुराना ढाँचा बदला

पिछले सौ वर्षों का सिंहावलोकन जब हम करते हैं तब एक विशेष अन्तर पड़ता हुआ देखते हैं, यद्यपि अभी भी भेद की जीर्ण-शीर्ण दीवारें ढही नहीं, विषवृक्ष की कितनी ही जड़ें अभी तक उखड़ी नहीं हैं, तो भी इन्कार नहीं किया जा सकता, इस सचाई से कि इन पिछले सौ वर्षों में और इधर २५ वर्षों में, तो और भी अधिक उल्लेखनीय अन्तर पड़ा है।

क्या हालत थी, सौ वर्ष पहले, जब पूना में महात्मा ज्योतिबा फुले ने सन् १८३४ में अस्पृश्यों को पढ़ाने के लिए एक शिक्षा समिति बनाई थी। उन दिनों यह एक बहुत बड़ी बात थी। अछूत बालकों को तब कौन सवर्ण किसी भी पाठशाला में प्रवेश देने के लिए तैयार था? घर के हौज में पानी भरवाना तो बहुत दूर की बात थी। ज्योतिबा फुले को इस क्रान्तिकारी कदम के उठाने पर कड़े से कड़े सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ा।

विश्वास न करने की जैसी बात है कि, एक सार्वजनिक मेज पर चाय और एक बिस्कुट लोकमान्य तिलक ने ग्रहण किया, तो उनको प्रायश्चित करने के लिए बाध्य किया गया। इस प्रश्न पर कई वर्षों तक गोखले और तिलक के बीच विवाद भी चला कि पहले देश स्वातन्त्र्य के लिए जोरदार प्रयत्न किया जाए या सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने के लिए।

अस्पृश्यता का शास्त्रीय आधार नहीं

यह बात नहीं कि लोकमान्य तिलक समाज-घातक रूढ़ियों को तोड़ना नहीं चाहते थे। उनका विश्वास था कि देश को किसी भी प्रकार विदेशी शासन से पहले स्वतन्त्र किया जाए, उसके उपरान्त सामाजिक रूढ़ियों के किले का गिराना आसान हो जाएगा, किन्तु गोखले और आगरकर मानते थे कि जब तक समाज का संशोधन नहीं होगा, तब तक स्वातन्त्र्य का दर्शन कैसे हो सकता है?

इन महापुरुषों से भिन्न मत रखते हुए भी तिलक महाराज के मन में ऊँच-नीच की भेद-भावना और अस्पृश्यता कितनी खटकती थी, यह उनके इन अग्नि उद्गारों से प्रकट होती है—

"अस्पृश्यता हमारे वैदिक धर्म से जरा भी मेल नहीं खाती। यह तो एक रूढ़ि है। मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि यह रूढ़ि प्राचीन काल के कतिपय ब्राह्मणों के अत्याचारों और तानाशाही से ही पैदा और दृढ़ हुई है। अब हमें इसे उखाड़ कर फेंक देना चाहिए।"

"अस्पृश्यता को हमारे समाज में कायम रखना परमेश्वर के प्रति पाप करने के समान है। अस्पृश्यता यदि एक बार परमेश्वर को भी मान्य हो, तो मैं उसे परमेश्वर मानने को तैयार नहीं।"

"अस्पृश्यता का कोई भी शास्त्रीय आधार नहीं है। परमेश्वर के मन्दिर का द्वार किसी के भी लिए बन्द नहीं। यदि वह हो जाए, तो उसके अन्दर रहनेवाला परमेश्वर नहीं, ऐसा मैं मानता हूँ।"

तिलक महाराज ने ऐसे-ऐसे इस प्रकार के उद्गार केवल निकाले ही नहीं, बल्कि सक्रिय रूप से उन्होंने अस्पृश्यता के उच्छेदन का प्रयत्न किया था। उनके जीवन का यह एक बड़ा पावन प्रसंग है—

"१८९४ साल की बात है, पूना की। गणपति विसर्जन का दिन था। गणपति की मूर्तियों को हजारों ही स्त्री-पुरुष, नदी में विसर्जन करने के लिए, भजन-कीर्त्तन करते हुए जा रहे थे; लोकमान्य तिलक भी उस जुलूस में थे। एकाएक उनका ध्यान सामने के घर की एक खिड़की की ओर गया, जहाँ से किसी बच्चे के रोने-चिल्लाने की आवाज आ रही थी। उन्होंने देखा कि सात या आठ वर्ष का एक बालक जोर-जोर से रो रहा है और उसकी माँ उसे चुप करा रही है।

तिलक महाराज वहीं रुक गए और बालक के रोने का कारण उन्होंने पूछा। माँ की समझ में नहीं आया कि वह उन्हें क्या जबाव दे। शर्म से, बल्कि कुछ भयभीत होकर वह ठिठक गई। बहुत पूछने पर अन्त में उसने बताया कि उसका नासमझ लड़का अपने गणपतियों को दूसरे गणपतियों के साथ ले जाने की ज़िद कर रहा है।

"तो वह रोता क्यों है? ले चले न अपना गणपति हमारे साथ-साथ।"—लोकमान्य ने प्रेमपूर्ण आदेश के स्वर में कहा।

"हम लोग अन्त्यज हैं, महाराज। ऐसा हम कैसे कर सकते हैं?"

लोकमान्य के नेत्र सजल हो आए। एक भोले बच्चे को वे इस तरह रोते न देख सके। घर के अन्दर चले गए और उसके गणपति की मूर्त्ति को अपने गणपति के साथ चौकी पर बिठा दिया और बालक का हाथ पकड़ कर फिर जुलूस के आगे-आगे चलने लगे। क्या उस बेला आकाश से पुष्प-वर्षा न हुई होगी।

सुधार-संस्थाएँ

इस कालावधि में अनेक समाज सुधारकों ने अस्पृश्यता के विष-वृक्ष को अत्यन्त झकझोरा। उसकी जिन जड़ों को साधु-सन्तों ने खोखला कर दिया था, वे हिल गईं और उखड़ने भी लगीं। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज और प्रार्थना-समाज ने इस दिशा में बड़ा कार्य किया। गांधीजी ने तो स्वराज्य-प्राप्ति का एक प्रमुख साधन ही अस्पृश्यता-निवारण-कार्य को बना डाला। परिणामतः तथाकथित स्मृतियों के अस्पृश्यता-समर्थक प्रमाणों का आज कोई मूल्य नहीं रहा। आज लोग उन वाद-विवादों को सुनने को भी तैयार नहीं। पुराने पड़े हुए कुछ कुसंस्कारों के कारण रूढ़ियाँ तोड़ने की हिम्मत भले ही न हो, पर अस्पृश्यता का समर्थन सिर ऊँचा करके आज कौन करता है और जो लोग ऐसा करते हैं, उनकी बात तो गम्भीरता से न तो कोई सुनता है और न कोई उस पर ध्यान देता है।

देव-मन्दिर उद्घाटन

हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न काफी उलझा हुआ और बड़ा कठिन मालूम देता था वह भी लगभग सुलझ गया। महात्मा गांधी के प्रखर तप ने एवं काल के प्रभाव ने अगणित देव-मन्दिरों के द्वार समान रूप से आज सब के लिए खुलवा दिए हैं। यह महान् कार्य तथा साधन से ही सहज बन पड़ा, कानून के जोर या बलात्कार से नहीं। महाराष्ट्र के पुण्यतीर्थ पंढरपुर का श्री विट्ठल-मन्दिर स्वर्गीय साने गुरुजी के तप से ही खुला।

सन् १९४५ में ३५ मास की जेल की सजा काटने के उपरान्त जब आचार्य विनोबा ने एक व्याख्यान में कहा कि पंढरपुर के भगवान विठोबा का दर्शन भी हम अपने हरिजन भाइयों को नहीं करने देते हैं, तो हमें स्वराज्य का अधिकार ही क्या? स्वराज्य हमारा जो जन्मसिद्ध अधिकार है, वह टिक सकेगा?

साने गुरुजी ने विनोबाजी के इस व्याख्यान को पढ़ कर प्रतिज्ञा की कि जब तक विठोबा का मन्दिर हरिजनों के लिए नहीं खुल जाता, तब तक मैं अनशन करूँगा!' अनुकूल जन-मत तैयार करने के लिए छः महीने सारे महाराष्ट्र में वे घूमे और उन्होंने अपना शरीर सुखा डाला। उन्होंने तप किया और विठोबा का मन्दिर हरिजनों के लिए खुल गया और आज तो वहाँ और भी बड़ा चमत्कार हुआ है। अन्य धर्मावलम्बियों में भी विनोबा के साथ भगवान विठोबा का दर्शन ही नहीं उनके चरणों का स्पर्श किया और उनका आलिंगन भी।

इसी प्रकार भगवान काशी-विश्वनाथ ने भी अनुग्रह करते मार्ग भूले हुए सवर्णों को प्रकाश दिखाया और उनका उद्धार किया, परन्तु और भी नया परिवर्तन जो देखने में आता है, वह परिगणित जातियों में आया हुआ जागरण। जब उनका सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार होता है, तो वे उसे अब सहन नहीं करते हैं। हर तरह का अपना अपमान उनको आज खलने लगा है। अपने सामाजिक, नागरिक और धार्मिक अधिकारों को वे आज समझते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्न भी करते हैं। ये शुभचिह्न हैं।

मंजिल बाकी है

इस प्रकार पिछले सौ वर्षों में अन्तर पड़ा है, पर उतना नहीं कि उस पर सन्तोष किया जा सके और यह कहा जाए कि थोड़ा-सा अन्तर रह गया, वह अपने-आप दूर हो जाएगा, इसलिए अब कोई खास प्रयत्न करने की जरूरत नहीं। ऐसी बात है कि अस्पृश्यता के विरुद्ध, जो संघर्ष आज से सौ साल पहले और उससे भी बहुत पहले शुरू किया गया था, वह अभी कहाँ समाप्त हुआ है ?

सभी कुओं पर जब तक हरिजनों को समान रूप से चढ़ने नहीं दिया जाता, सभी भोजन घरों में जब तक उनका सम्मानपूर्वक प्रवेश नहीं होता है, सभी सार्वजनिक स्थानों में जब तक वे निर्बाध रूप से नहीं आ-जा सकते है और जो सामाजिक सेवाएँ दूसरे लोगों को सहज रूप से उपलब्ध हैं, वैसी ही वे उनको भी प्राप्त हो नहीं जाती हैं, तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि अस्पृश्यता का निर्मूलन हो चुका। उसकी एक-एक विषैली जड़ के उखाड़ के लिए और भी वेग से और पूरी शक्ति से अभी भी हमें प्रयत्न करना है, तभी हमारा राष्ट्र हमारा समाज और हिन्दू धर्म अस्पृश्यता के कलंक से मुक्त हो सकेगा।

**

दुर्भाग्य पूर्ण विभाजन के बाद भारत अब भी एक बड़ा मुल्क है। लेकिन किसी देश की विशालता उसके लिए खुशकिस्मती या बदकिस्मती बन सकती है। जब किसी बड़े मुल्क के लोगों के दिल दिमाग बड़े होते हैं और वे छोटे-छोटे मामलों तथा झगड़ों में नहीं फंसते, तो उस देश की विशालता सौभाग्य बन जाती हैं। लेकिन जब लोगों के दिमाग छोटे होते हैं और वे आपस में लड़ते-झगड़ते तथा कटुता से काम लेते हैं, तो मुल्क का बड़ा होना बदकिस्मती हो जाता है। यह एक ऐसी बात है, जिसे लोगों को, खास कर नयी पीढ़ी वालों को, जो कि भविष्य में नेता बनेंगे,—ध्यान से समझनी है। भारत का नव युवा भारत की आजादी का झण्डा तभी इज्जत और शान से ऊँचा रख सकेंगे, जब कि वे महात्मा गांधी के आदर्शों के अनुसार मातृभूमि के निर्माण के महान कार्य के लिए उत्तरदायित्वपूर्ण लोकतंत्र के वातावरण में अपने दिल दिमाग को उन्नत होने देंगे। लेकिन यदि वे रास्ते से भटक गए, और जान बूझकर या अनजाने ही उन्होंने हिंसा, नागरिक अव्यवस्था, वर्ग संघर्ष तथा पारस्परिक घृणा का मार्ग पकड़ा तो भारतीय राष्ट्र उज्वल भविष्य की आशा नहीं कर सकता। गांधी जी साधन की तुलना बीज से करते थे। यदि बीज अपवित्र या सड़ा गला हो तो उससे एक शक्तिशाली वृक्ष नहीं पैदा हो सकता।

—जवाहरलाल नेहरू

भारतीय संस्कृति का मार्ग-दर्शन

श्री रामधारी सिंह दिनकर, एम० पी०

उन्नीसवीं शताब्दी में होनेवाले हिन्दुत्व के सांस्कृतिक महा जागरण के काल से ही भारतवासियों के अन्दर एक प्रकार का रहस्यात्मक विश्वास सुगबुगाता रहा है कि, हो न हो, संसार का आध्यात्मिक नेतृत्व फिर से भारत के हाथ आने वाला है। फिर स्वतन्त्रता मिलने के बाद से तो भारत से बाहर के लोग भी यदा-कदा, यह सोचते दिखायी देने लगे हैं कि, शायद भारत के पास सचमुच ही कोई संदेश है जिस से अखिल भू-मंडल का कल्याण हो सकता है।

रूढ़िग्रस्त हिन्दू-समाज

किन्तु सोचने की बात है कि यह दुर्बल, दरिद्र और अशिक्षित देश आज के नए जगत को कौनसा नेतृत्व दे सकता है। ले-दे-कर हमारे पास कुछ प्राचीन ज्ञान ध्यान की बातें हैं, पर ज्ञान से ही मनुष्य का कल्याण नहीं होता। कल्याण उस का आचरण की शुद्धता से होता है। अपार ज्ञान राशि के उत्तराधिकारी होते हुए भी भारत वासियों ने अपने आचरण बिगाड़ लिए हैं। गीता और उपनिषदें हमारे पास हैं, किन्तु उन के उपदेशों पर चलने की हम में शक्ति नहीं रही। शास्त्र और पुराण भी हमें भली भांति उपलब्ध हैं। किन्तु, जिस सत्य के चारों ओर हमारे शास्त्र और पुराण चक्कर काटते हैं, उस सत्य तक पहुँचने की राह, हम भूल गए हैं। केन्द्र में स्थित सत्य का स्वरूप हमारी आंखों से ओझल हो गया है। दिखायी देती हैं केवल कठिनाइयां, जिन्हें पार किए बिना हमें वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो सकता। एक ही ब्रह्म फैलकर अनेक हो गया है, यह सूक्ति तो हमें याद है, किन्तु, आचरण हमारा ठीक इस के विपरीत हो गया है। हिन्दू रूढ़ियों से इतने ग्रस्त हैं कि अब उनका व्यक्तित्व ही खंडित् हो गया है। एक सांस में तो वे 'एकोऽहम् बहुस्याम:' की दुहाई देते हैं, किंतु दूसरी सांस में वे मनुष्य में भेद करने लगते हैं। एक मनुष्य को जन्म से ही श्रेष्ठ और दूसरे को अधम बताने लगते हैं। यह वह हिन्दुत्व नहीं है, जिस की नींव आर्यों ने डाली थी अथवा जिस के आधीन अनेक देशों से आनेवाली जातियाँ यहाँ एक हुई थीं।

भारत क्या दे

दु:ख की बात है कि नवीन भारत नवीन विश्व को कुछ भी देने के योग्य नहीं रहा। नवीन विश्व को यदि कुछ पाना है, तो वह प्राचीन भारत से ही प्राप्त कर सकता है। सच तो यह है कि भारतीय ज्ञान की गौरव शिखाएँ, गीता और उपनिषद्, नए संसार को मिल चुकी हैं और नया विश्व उन्हें समझने और साधने की चेष्टा भी कर रहा है। किन्तु, इस से भी एक बड़ी वस्तु है, जिसे भारत नए संसार को दे सकता है।

भोग त्याग के साथ

संसार की पीड़ाओं का आध्यात्मिक निदान यह है कि अभिनव मनुष्य अति भोगवादी बन गया है। वह अपनी रोटी दूसरों के साथ बाँट कर नहीं खाना चाहता। उसे पूरी रोटी केवल अपने लिए चाहिए, बल्कि, बस चले तो वह दूसरों की भी रोटियाँ छीन कर बेच डालेगा और जो पैसे मिलेंगे, उन से और नहीं तो घूंट भर शराब ही पी लेगा। बुद्ध से पहले, उपनिषदों के आलोकपूर्ण काल में, भारत को अतिभोगवाद की यंत्रणाओं का कहीं न कहीं आभास मिला था और इसी कारण एक ऋषि ने चेतावनी देते हुए घोषणा की थी, 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:।' भोग भी त्याग के साथ करो।

शान्ति और सद्भावना

किन्तु संसार की पीड़ा का कारण इतना ही नहीं है, विश्व की एकता की बाधा केवल इस बात को लेकर नहीं है कि संसार में त्यागी कम और स्वार्थमय भोगवाले लोग अधिक हैं। प्रत्युत एकता की मुख्य बाधा तो यह है कि संसार में अनेक वंशों के लोग हैं जो आपस में एक दूसरे से नहीं मिलते, जिन के धर्म अलग-अलग हैं, जिन के दर्शन और विचार भिन्न-भिन्न हैं, जिन के व्यवहार और आचरणों में कोई समानता नहीं है और जो विभिन्न वादों के फेर में पड़कर एक दूसरे का मस्तक फोड़ रहे हैं। इतनी विभिन्नतावाली दुनिया किसी एक संस्कृति के अनुशासन में कैसे लायी जा सकती है ? कौन है, जो अपने धर्म को छोड़कर केवल एकता के लिए किसी दूसरे धर्म को स्वीकार करेगा। कौन है, जो अपने विचारों और मतवादों को छोड़कर केवल इसलिए दूसरों के विचारों को स्वीकार कर लेगा कि संसार में विग्रह और मारकाट का नहीं, बल्कि शान्ति और सद्भावना का साम्राज्य हो ?

विभिन्नताओं में सामंजस्य

प्रश्न बहुत ही जटिल है, किन्तु यही वह स्थल है जहाँ भारत का उदाहरण संसार का सहायक हो सकता है। भारत में जितनी जातियाँ मिलीं, वे एक मत की नहीं थीं। भारत में जितने धर्म मिले, वे एक ही प्रकार के धर्म नहीं थे। भारत में जितने विचारों के बीच समन्वय हुआ, वे सभी विचार परस्पर में समान नहीं थे और भारत में जितनी संस्कृतियों के मिश्रण से राष्ट्रीय या सामाजिक संस्कृति उद्भूत हुई, वे संस्कृतियाँ भी परस्पर अविरोधिनी नहीं थीं। किन्तु, फिर भी भारत ने इन विभिन्न विचारक, मत, धर्म, और संस्कृतियों के बीच पूरा सामञ्जस्य बिठा दिया और इन्हीं विभिन्नताओं का समन्वित रूप हमारा सब से बड़ा उत्तराधिकार है।

एक सांस्कृतिक सूत्र में

विश्व की भावी एकता की भूमिका भारत की सामाजिक संस्कृति में है जैसे भारत ने किसी भी धर्म का दलन किए बिना अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की, जैसे भारत ने किसी भी जाति की विशेषता को नष्ट किए बिना सभी जातियों को एक सांस्कृतिक सूत्र में आवद्ध किया, जैसे भारत ने किसी भी भाषा की गरिमा घटाए बिना संस्कृत को अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की भाषा बना कर देश की भाषागत कठिनाइयों का समाधान निकाला, कुछ उसी प्रकार, हम संसार के सभी देशों, सभी जातियों एवं सभी विचारों के बीच में एकता स्थापित कर सकते हैं। बड़े पैमाने पर जैसी समस्या आज विश्ववादियों के समक्ष खड़ी है, छोटे पैमाने पर कुछ ऐसी ही समस्या थीं, जिस का समाधान भारतवर्ष ने निकाला था।

अहिंसा की साधना

किन्तु, क्या कारण है कि जिस समस्या का समाधान भारत में सुगमता से प्राप्त हो गया था, उस समस्या को सुलझाने में सारा संसार विफल हो रहा है। इस प्रश्न का निदान हमें भारतीय संस्कृति के मूल में मिलेगा। वैदिक काल से लेकर महात्मा गांधी के समय तक दृष्टि दौड़ा जाइए, भारतीय संस्कृति की जो एक विशेषता हमेशा उसके साथ मिलेगी, वह उस की अहिंसाप्रियता है। वस्तुतः संस्कृतियों के बीच में सात्विक समन्वय का काम अहिंसा के बिना चल ही नहीं सकता। तलवार से हम मनुष्य को पराजित कर सकते हैं, उसे जीत नहीं सकते। मनुष्य को जीतना, असल में, उस के हृदय पर अधिकार पाना है और हृदय की राह समर भूमि की लाल कीच नहीं, सहिष्णुता का शीतल-प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीर समुद्र है। अनन्तकाल से भारत अहिंसा की साधना में लीन रहा है। यह साधना कभी-कभी आत्मीघातिनी भी सिद्ध हुई, किन्तु भारत तब भी अपन परमधर्म से नहीं डिगा और भारतीय अहिंसा का अर्थ केवल रक्तपात से ही बचना नहीं, वरन् उन सभी बातों से बचना रहा है, जिन से किसी प्रकार का भी क्लेश पहुँचता हो। रक्तपात यदि आत्मरक्षा के लिए किया

जाए, किसी ऐसे युद्ध में किया जाए जो हम पर जबर्दस्ती थोपा गया है, तो भारतीय संस्कृति उसे हिंसा नहीं मानती। ऐसे रक्तपात की उपेक्षा करने का उपदेश स्वयं भगवान् कृष्ण ने दिया है। किन्तु, समस्त भारतीय साहित्य में कभी-भी वह पाप नहीं बताया गया, जो कटु वचन कह कर दूसरों को कष्ट पहुँचाने से होता है, जो वाणी में तर्क ही नहीं, आँखों में अंगार भर कर शास्त्रार्थ करने से होता है। संक्षेप में, मनुष्य का वह पाप है जिस का विश्वास है कि मैं जो कहता हूँ वह ठीक है, बाकी लोग गलत बोलते हैं।

सत्य के सभी पक्ष

भारत की अहिंसा साधना जैन धर्म में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और जैन धर्म में भी अहिंसा का उच्चतम शिखर अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ। कितने बड़े थे वे लोग, जिन्हें यह दिखलायी पड़ा था कि केवल रक्तपात करना, कटु वचन कहना अथवा दूसरों का अनिष्ट सोचना ही हिंसा नहीं है, प्रत्युत्, जब हम यह आग्रह कर बैठते हैं कि जो कुछ हम कह रहे हैं, वही सत्य है, तब भी हम हिंसा ही करते हैं। इसलिए, अनेकान्तवादियों ने यह धर्म निकाला कि सत्य के पहलू अनेक हैं।

जिसे जो पहलू दिखायी देता है वह उस पहलू की बात कहता है और जो पहलू दूसरों को दिखायी देते हैं, उन की बातें दूसरे लोग कहते हैं। इसलिए, यह कहना हिंसा है कि "केवल यही ठीक है।" सच्चा अहिंसक मनुष्य इतना ही कह सकता है कि शायद, यह ठीक हो ; क्योंकि सत्य के सभी पक्ष सभी मनुष्यों को एक साथ दिखायी नहीं देते।

भारत और योरप--दो दिशाओं में

अनेकान्तवाद नाम, यद्यपि जैनों का दिया हुआ है, किन्तु जिस दृष्टिकोण की ओर यह सिद्धान्त इंगित करता है, वह दृष्टिकोण भारत में आरम्भ से ही विद्यमान था। यदि यह विद्यमान नहीं रहता तो भारत में इतनी विभिन्न जातियाँ एक ही मानवता के अंग बन कर एकता की छाया में शान्ति से नहीं जीतीं। तब, शायद, भारत का भी वही हाल होता जो योरप का रहा है। भारत और योरप, रूस को छोड़ कर, आकार में बहुत कुछ समान हैं और दोनों ही महादेशों में भाषा एवं जातिगत् भिन्नताएं भी बहुत हैं, फिर भी भारत में ये भिन्नताएँ एक समाधान पर आ गयी हैं, मानों, अनेक नदियों ने एक ही समुद्र में अपना विलय खोज लिया हो। किन्तु योरप के बित्ते भर-भर के देश परस्पर मारकाट और भयानक रक्तपात मचाते रहे हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ? और तो और, राष्ट्रीयता का जो भी भाव भारत की एकता में दृढ़ता लाने का कारण हुआ, ठीक उसी के कारण योरप के देश परस्पर और भी दूर हो गए।

सत्य के मार्ग पर

किन्तु, एक दूसरी दृष्टि से देखने से इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं दीखती। अहिंसा प्रियताके कारण जो तत्त्व भारत में अमृत बरसाता है, हिंसाप्रियता के कारण योरप में वही जहर बन गया है। वर्त्तमान विश्व की कठिनाई यह नहीं है कि उस के कई देशों ने अणु और उद्जन बम निकाल रखें हैं, बल्कि यह कि ये देश जब आपस में विचार विनियम करने को बैठते हैं, तब उनकी वाणी में तर्क हो या न हो, किन्तु आँखों में क्रोध की मशाल अवश्य होती है। संसार अपनी जलती हुई देह को क्षीरोदक से शीतल करने को बेचैन है, किन्तु तन को शीतल करने से पहले उसे मन को शीतल करना चाहिए और मन की शीतलता की राह दुराग्रह के त्याग में है, दूसरों को झुठलाने की क्रूरता से बचने में है। सत्य की राह पर आए बिना शान्ति नहीं मिलती और सत्य की राह पर आए हुए आदमी की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह किसी भी अवस्था में दुराग्रह या हठ नहीं करता। गांधी जी हठी प्रह्लाद को अपना आदर्श मानते थे, किन्तु सच्ची बात यह है कि स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के वे मूर्तमान अवतार थे। सन् १९४२ में लुई फिशर ने उन से कहा कि, 'अमेरिका इस लड़ाई में अपना धन



बर्लिन के विश्वविद्यालय में श्री स्टेडफेट के साथ श्री जगजीवनराम बातचीत कर रहे हैं

जन झोंके जा रहा है, किन्तु आन्दोलन छेड़ कर आप युद्धोद्योग में बाधा पहुँचाना चाहते हैं। क्या ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि अमेरिका वाले आप के काम की प्रशंसा करें? "गांधीजी चौंक कर बोले,—फिशर, तुम अपने राष्ट्रपति से कहो कि वे मुझे आन्दोलन छोड़ने से रोक दें। मैं मूलत: समझौतावादी मनुष्य हूँ; क्योंकि मुझे कभी भी ऐसा नहीं लगता कि मैं ठीक हूँ।" अपने मत पर एक तरह का हल्का सन्देह और विरोधियों के मतों पर भी अविरल श्रद्धा, अनेकान्तवादी की यह मामूली पहचान है।

अनेकान्तवाद का आदर्श

सहिष्णुता, उदारता, सामाजिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में, यह भारतवर्ष ही उस सब से बड़ी विलक्षणता का नाम है, जिस के आधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी वह है, जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है, जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है, जो समझौतों को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्धन अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म में दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म में दिखायी नहीं दिए एवं सम्पूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी। और गांधीजी का तो साराजीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।

अपने को पहचानो

किन्तु, पूर्व इस के कि हम विश्व का नेतृत्व करने का मनसूबा बांधे, आवश्यक यह है कि हम अपने आप को पहचाने। संसार को एक करने के पहले भारत को एक रहना चाहिए। संसार को यह सिखाने से पहले कि शास्त्रार्थ में आंखें लाल कर लेना पाप है, हमें अपने आप से यह पूछना चाहिए कि कहीं आंखें लाल करके बहस करने का रोग हमें भी तो नहीं पकड़ रहा है।

ऐसा हम इसलिए कहते हैं कि भारत की सामाजिक संस्कृति का सारा दारोमदार अहिंसा पर है, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की कोमल भावना पर। यदि अहिंसा नीचे दबी और असहिष्णुता एवं दुराग्रह का विस्फोट हुआ, तो वे सारे ताने-बाने टूट जाएँगें, जिन्हें इस देश में आने वाली बीसों जातियों ने हजारों वर्ष तक मिल कर बुना है।

पारस्परिक सम्पर्क से विकास

कूपमन्डूकता अहंकार की वस्तु नहीं हो सकती। शोभा उदार बन कर जीने में हैं, न कि ऐसी कोई बात कहने या करने में, जिस से सत्य लांछित होता हो अथवा दूसरों को क्लेश पहुँचाता हो। सब से अलग रह कर कूपमन्डूक की तरह जीने वाले समाज की भी कोई संस्कृति होती होगी। किन्तु, निस्सन्देह, वह संस्कृति, स्वभाव से ही, अत्यन्त सीमित और संकीर्ण होगी, संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान प्रदान से बढ़ती है। जो जाति केवल देना ही जानती है, लेना कुछ भी नहीं, उस की संस्कृति का एक दिन, निश्चय ही, महत्व घट जाता है। इस के विपरीत, जिस जाति के सांस्कृतिक दरवाजे बराबर खुले रहते हैं, उस के सरोवर का जल कभी नहीं सूखता। उस में सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है। और नए-नए कमल के फूल खिलते रहते हैं। कूपमन्डूकता और जगत से रूठ कर अलग हो बैठने का भाव संस्कृति को ले डूबता है। संस्कृतियों का सर्वाधिक विकास पारस्परिक सम्पर्क से होता है। पहले एक भाषा में 'शैली' और कोट्स 'पैदा होते हैं, तब दूसरी भाषाओं में रवीन्द्र प्रभृति जन्म लेते हैं। पहले एक देश में बुद्ध पैदा होते हैं, तब दूसरे देश में ईसा मसीह का जन्म होता है। अगर मुसलमान इस देश में न आए होते तो सूफी कविता, और कलम की चित्रकारी यहाँ नहीं

खिली होती। अगर योरप से भारत का सम्पर्क न हुआ होता, तो विज्ञान का प्रचार यहाँ देर से होता और ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, थियासोफिकल समाज और रामकृष्ण तथा विवेकानन्द का जन्म होता या नहीं, यह संदिग्ध है।

भारत के प्रांगण में

विभिन्न जातियों, विभिन्न भाषा भाषियों और विभिन्न मतावलम्बियों के बीच रक्त मिश्रण एवं सांस्कृतिक समन्वय के उदाहरण कुछ अन्य देशों, जैसे मेक्सिको और प्राचीन यूनान में उपलब्ध हैं, किन्तु वैसे नहीं जैसे भारत में। संसार में कुल मिलाकर गोरे, गेहुँए, काले और पीले, ये चार रंग के लोग हैं और इन चारों रंगों का भरपूर मिश्रण भारतीय जनता में हुआ है। भाषा की दृष्टि से देखें तब भी सभी प्रमुख भाषा परिवारों की सन्ततियाँ इस देश में एक साथ जी रही हैं और धर्म की दृष्टि से तो सारा भारत, आरम्भ से ही संसार के सभी प्रमुख धर्मों की सम्मिलित भूमि रहा है। तिरुवंकुर के भारतवासी इंग्लैंड वालों से पहले क्रिस्तान हुए थे, एवं मोपला लोगों के बीच इस्लाम, शायद, तभी पहुँच गया था जब हजरत मुहम्मद स्वर्गीय नहीं हुए थे। इसी प्रकार, जरथुस्त्र के अनुयायी भी दसवीं सदी से भारत में बसे हुए हैं, जब अरब के मुसलमानों ने ईरान पर अधिकार कर लिया और वहाँ जनता में वे अपने धर्म का प्रचार करने लगे, तब पारसी ईरान से भाग कर भारत चले आए। जब रोमनों के अत्याचार से फिलस्तीन के यहूदी मन्दिर टूटने लगे तभी कुछ यहूदी लोग भी अपने धर्म को बचाने के लिए भारत भाग आए और तब से वे दक्षिण भारत में आनन्द के साथ जी रहे हैं। अतएव, ईसाइयत, इस्लाम, यहूदी, और पारसी धर्म भारत और हिन्दू धर्म के ऋणी हैं।

ऐसा लगता है, मानों, विश्व की एकता को सम्भव बनाने के लिए, प्रकृति ने भारत भूमि में एकता का प्रयोग किया हो। यदि भारत की सामाजिक संस्कृति सत्य है, तो एक दिन विश्व संस्कृति एवं विश्व मानवता की कल्पना भी सत्य होगी। भारत ने मार्ग बता दिया है। सत्य अहिंसा और शांति का मार्ग है।

**

लक्ष्मी जब पृथ्वी पर उतरी, तो पृथ्वी ने उसे बीच में ही ठहरा कर पूछा :—

'हे शुभे, तुम मृत्यु लोक आ रही हो; किंतु यहां स्वर्ग के समान सदैव वरदायी मत बन जाना। तुमने हर याचना पर वर दे देकर स्वर्ग वासियों को चिर आलसी बना दिया है।

लक्ष्मी ने कहा :—'सुनो पृथ्वी, मैं तो वही करूंगी, जो अब तक करती आयी, अपने पुत्रों की खबर तुम लेती रहना।

पृथ्वी झुंझला उठी और कहा :—लक्ष्मी ! सुन लो, यहां किसी दूसरे की न चलेगी, सिर्फ मेरी चलेगी, मेरा दूध पीने वाला स्वयं उपार्जन करेगा, परिश्रम करेगा, और खाएगा, तुमसे कभी कुछ नहीं मांगेगा।

लक्ष्मी मुसकरायी और पृथ्वी पर उतर आयी। और वह लोगों से बात करने लगी। किंतु भारत की धरती आज सौ-सौ आंसू रोती है, कि सौ में निन्यानबे धरती के पुत्र लक्ष्मी से मांगते ही हैं, मेहनत से ईमानदारी से नहीं कमाते।

—नवनीत



महात्मा गांधी की सामाजिक व्यवस्था

श्री रमशचन्द्र गुप्त

सर्वोदय का विचार गांधीजी के मस्तिष्क में रस्किन की प्रख्यात पुस्तक "अन्टु दिस लास्ट" पढ़ने के बाद जमा और टालस्टाय के "ब्रेड लेबर" पढ़ने के बाद वह दृढ़ हुआ। रस्किन की पुस्तक का उनके ऊपर बहुत ही जबर्दस्त प्रभाव पड़ा और उसका कारण यह था कि उन्हें उस पुस्तक में अपने दिमाग में जमे विश्वासों की प्रतिछाया ही नहीं मिली, वरन् उनका धुंधलापन भी दूर हो गया। टी० एम० बोन्डारेम् द्वारा प्रतिपादित और टालस्टाय द्वारा प्रसारित विचार कि "रोटी के लिए शरीर श्रम"—सबके लिए अनिवार्य होना चाहिए, गांधी जी ने बाद में पढ़ा जिसने उनके रस्किन समर्पित विचारों को चमका भर दिया। इसलिए यह मानना ही होगा कि रस्किन के "अन्टु दिस लास्ट" का सर्वाधिक प्रभाव उन पर पड़ा। पुस्तक उन्हें इतनी पसन्द आयी कि जान्सवर्ग से डरबन तक के २४ घंटे के सफर में वह रात भर सो नहीं सके और पुस्तक उन्होंने समाप्त कर दी। यही एक पुस्तक थी, जिसने 'वर्णित विचारों' के अनुकूल अपना जीवन ढालने का दृढ़ निश्चय उन्हें प्रदान किया और तत्काल उनके "जीवन में परिवतन" ला दिया। रस्किन के विचार संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

सभी—वर्ग के लोग श्रम करें

किसी देश की शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो कि युवकों और युवतियों को आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा दे। आज स्कूलों और कालिजों म घुड़सवारी, क्रिकेट आदि के खल सिखाये जाते हैं जिनकी उत्पादन की दृष्टि से कोई उपयोगिता नहीं। वास्तव में शरीर श्रम को उत्पादन के साथ जोड़ देना चाहिए। छात्रों और छात्राओं के लिए सरकार की ओर से ऐसे श्रमालयों की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि वहां उन्हें तत्सम्बन्धी शिक्षा दी जा सके। शरीर से श्रम करना गिरा हुआ कार्य नहीं वरन् सम्मान की बात है। सबको उत्पादक श्रम करना चाहिए। संसद के सदस्यों को भी खेतों में हल चलाने में हिचक नहीं होनी चाहिए। एक मजदूर अपने फावड़े से अपने देश की उतनी ही सेवा करता है जितना कि उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा न लेने वाले मध्यमवर्गीय लोग अपने तलवार, कलम और डाक्टरी औजारों द्वारा। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने शरीर से श्रम करना बड़े ही सम्मान और श्रेय की बात है।

उद्योगपति और मजदूर

यह बात निरर्थक है कि चूंकि इस दुनिया में लोगों के स्वार्थ भिन्न भिन्न ही नहीं परस्पर विरोधी हैं, अतः धूर्तता या हिंसा द्वारा स्वार्थसिद्धि के मौजूदा अन्तर्विरोध का निराकरण नहीं हो सकता। समाज में न्याय की प्रतिष्ठा होनी चाहिए और इस सामाजिक न्याय में उद्योगपति और श्रमिक के संबंधों का आधार भी प्रेम होना चाहिए। यह बात अनुभव सिद्ध है कि यदि उद्योगपति और श्रमिक के संबंध स्नेह के होते हैं तो उत्पादन में अधिक वृद्धि होती है। सुवर्ण दंड से स्नेह की अदृश्य डोर अधिक मजबूत होती है। पिता का पुत्र पर अधिकार इसीलिए अधिक होता है, क्योंकि उसका आधार प्रेम है। किसी को विवश बना देने के बाद उस पर अपना अधिकार कायम करने में वह आनन्द नहीं जितना प्रेम की शक्ति द्वारा उसका हृदय जीतने और उस पर अधिकार कायम करने में है। क्या उद्योगपति और श्रमिक के संबंध पिता और पुत्र जैसे हो सकते हैं? आज इस स्नेह सम्बन्ध का अभाव है और इसे कायम होना चाहिए।

सामाजिक कर्त्तव्य

इतिहास पांच प्रकार के अनुत्पादक व्यवसायों को जानता है। ये हैं—१. सैनिक, २. चिकित्सक, ३. कानूनवेत्ता, ४. शिक्षक, ५. व्यापारिक। इन पांच श्रेणियों के लोगों में प्रथम चार को सार्वजनिक सम्मान प्राप्त है, किन्तु पांचवें को नहीं। इसका कारण क्या है? इसका कारण है प्रथम चार कामों का सेवा और उत्सर्ग वृत्ति पर आधारित होना। इन चारों कामों के लोग आवश्यकता पड़ने पर अपने कर्त्तव्य पालन के लिए अपने प्राण भी न्यौछावर कर सकते हैं, इसीलिए हर राष्ट्र की जनता उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती है। इस सम्मान का कारण यह है कि उन्होंने "सेवा" को ही अपना स्वार्थ मान लिया है। इसी प्रकार व्यापारी का भी सामाजिक कर्त्तव्य है कि वह जनता की आवश्यकता की पूर्ति निःस्वार्थ रूप से करे। मौजूदा अर्थ-शास्त्र ने उन्हें यह सीख दी है कि "जहां सस्ते से सस्ता मिले वहां खरीदो और जहां महंगे से महंगा बिके बेचो।" इतिहास में ऐसा शर्मनाक और मानवता को लज्जित करने वाला नियम पहले कभी नहीं दिखाई दिया। इसका आधार अमानुषिकता है। व्यापारियों को चाहिए कि सस्ते से सस्ता और अच्छे से अच्छा सामान तैयार करना अपना कर्त्तव्य समझें। मुनाफे के लिए किए जाने वाले उत्पादन को बन्द कर ऐसी व्यवस्था करें कि साधनों का उपयोग इस प्रकार हो कि जिससे उत्पादन में लगे हुए लोगों का अधिकतम हित हो। इसके लिए उद्योगपतियों को श्रमिकों के साथ पितृवत् व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार किया जाने वाला स्नेह व्यवहार उनके प्रति सामाजिक सम्मान उत्पन्न करेगा।

अमीरी और गरीबी

"अमीरी" गरीबी के साथ जुड़ा हुआ शब्द है। सभी अमीर हो सकते हों तो यह शब्द अपना अस्तित्व खो बैठेगा, इसलिए "अमीर" होने के लिए "गरीब" का होना भी अनिवार्य है, अन्यथा अमीरी की तुलना किसके आधार पर होगी? मौजूदा अर्थशास्त्र यह दावा करता है कि जो उसकी शरण लेगा वह अमीर बन सकता है, यह धोखे की बात है। एक के हाथ से धन निकल कर ही दूसरे की जेब में जाता है। एक ओर धन का बाहुल्य है तो दूसरी ओर वह कमी पैदा करता है। एक ओर धनियों की जिस अनुपात में संख्या बढ़ती है, दूसरी ओर उसी अनुपात से समाज के दूसरे हिस्से में ऋणों की संख्या में वृद्धि होती है। इसलिए धनवान होना तो अपने हित के लिए अधिकतम असमानता स्थापित करने की ही एक कला है।

सम्पत्ति पर मजदूर का अधिकार

धन, अन्य लोगों पर अपना आधिपत्य कायम करने के लिए, एक निमित्त मात्र है ताकि उसका उपयोग कर शोषण को अमर बनाए रखा जाए। वह स्वयं साध्य नहीं है। उसकी उपयोगिता इसी में है कि वह

लोगों को विवशतापूर्वक आत्मसमर्पण के लिए दबाव के रूप में काम करे। परन्तु जहां तक लोगों को अपने पाशों में रखने का प्रश्न है वह तो प्रेम शक्ति से ही हो जाता है, फिर उनके सामने रोटी की तलवार लटका कर उन्हें जकड़ने की आवश्यकता ही क्या? "सम्पत्ति" तो मूल्यवान होती नहीं है, मूल्यवान सम्पत्ति के स्रोत हुआ करते हैं। घोड़े की लगाम तो निमित्त मात्र है, असली सम्पत्ति तो घोड़ा है। यदि वह कमजोर हुआ तो वह सम्पत्ति का उत्पादन ही क्या करेगा। चमकीली आंखों और चमकीले चेहरे वाला हृष्ट पुष्ट मनुष्य ही सबसे बड़ी सर्वोच्च सम्पत्ति है। वही सारी सम्पत्ति का स्रोत है। यदि वही स्रोत सूखता पड़ जाएगा तो सम्पत्ति का अपना जीवन और सम्पत्ति का अपना स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाएगा।

"व्यावसायिक पूंजीवादी लोगों की मजबूरी और अपनी शक्ति का अनैतिक लाभ उठाता है। कहा जाता है कि सम्पत्ति को उस ओर बहना चाहिए जहां उसकी आवश्यकता हो। "आवश्यकता" है उस ओर बहने की जहां उसका अभाव है। यही नहीं होता। मौजूदा व्यवस्था में दोष है कि धनिक और धनिक, तथा गरीब और गरीब होते जाते हैं। सम्पत्ति आवश्यकता को ध्यान में रख कर नहीं बहने दी जाती। मौजूदा न्याय व्यवस्था भी इसमें सहायक है। गरीब को अमीर खाए जा रहा है। मजदूर को अपना उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता। यह "मत्स्य न्याय है"। सारी सम्पत्ति का स्रोत श्रमिक—मजदूर है और उसे उचित पारिश्रमिक पाने का अधिकार है। गरीब को यह न्याय मिलना चाहिए। यह बात घोषित भी है और लम्बे अर्से से सर्वविदित भी कि "गरीब का धनिक की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं।" रस्किन का कहना है :—'मैं दुनिया को इस बात से अवगत करा देना चाहता हूँ कि धनिकों का गरीबों की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है। धनिकों के पास दीखने वाली सम्पत्ति का स्रोत आज का गरीब ही है। उनके पास होने वाली सम्पत्ति वास्तव में गरीबों की है। फिर उन पर धनिक का अधिकार कैसे?'

लाभ और हानि का तत्व

"मूल्यवान केवल दो वस्तुएँ हैं—एक है जीवन और दूसरी उसके पोषण की सामग्रियां। हर उत्पादित वस्तु का आधार उपयोग ही है। सम्पत्ति की उसके उपभोग के सिवा अन्य कोई उपयोगिता नहीं। उपभोग में आ सकने वाली वस्तुएँ या शक्ति को ही सम्पत्ति कहते हैं। इसी प्रकार विनिमय स्वयम् उत्पादन नहीं है। वह तो उपभोग में सहायक एक सुविधा भर है, जैसे ही इसमें मुनाफे का तत्व सम्मिलित हो जाता है, मनुष्य अमीरों और गरीबों में विभक्त होने लगता है। एक का "लाभ" दूसरे की "हानि" है।

शोषण न हो

"श्रमिक का श्रम एक बीज की तरह समझा जाना चाहिए जो दो काम करता है, एक तो बीज पैदा करना, दूसरे भोजन पैदा करना। इसलिए श्रमिक को श्रम का पारिश्रमिक भी बढ़ा हुआ तथा उसके द्वारा व्यय की गयी श्रम की मात्रा के अनुसार नियत किया जाना चाहिए, अर्थात् उसे न्यायपूर्वक उसके द्वारा व्यय किए गए श्रम और समय के परिमाण के बराबर ही मजदूरी मिलनी चाहिए, ताकि जितना उसने व्यय किया है उतना वह खरीद भी सके। यदि ऐसा हो तो शोषण नहीं हो सकता और समाज में शांति स्थापित हो सकती है।

उत्पादन के लिए पूंजी एक निमित्त मात्र है। उत्पादन पूंजी का आकार बढ़ाने के लिए नहीं वरन् उपभोग के लिए होता है। जलहीन बादल यदि अपने सदृश्य असंख्य बादलों की सृष्टि करता जाए तो उससे क्या लाभ है? इसी प्रकार पूंजी बढ़ती जाने से कोई लाभ नहीं, यदि उसका उपभोग मानवहित के लिए न हो सके। पूंजी जीवन के लिए आवश्यक है। पदार्थों के उत्पादन का एक साधन है। बीज की तरह पूंजी का भी दुहरा कर्तव्य है, एक तो आवश्यक पूंजी पैदा करना और दूसरे उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करना।

आवश्यक पूंजी का उत्पादन इसलिए, ताकि भविष्य में उपभोग के लिए उत्पादन संभव हो और उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन मानव के हित के लिए हो।

किन्हीं वस्तुओं के उत्पादन को, उत्पादन केवल इसलिए नहीं कहा जाना चाहिए जिनकी मानव जीवन के लिए उपयोगिता हो। इसलिए किसी राष्ट्र के समक्ष यह प्रश्न नहीं होना चाहिए कि जीवन का पोषण करने वाली वस्तुओं का उत्पादन कैसे करे। यह इसलिए क्योंकि जिस प्रकार उपभोग ही उत्पादन का आधार है, वैसे ही उपभोग का लक्ष्य और साध्य है जीवन। दुनिया में "जीवन" जैसी और उससे मूल्यवान कोई सम्पत्ति नहीं है। व्यावसायिक पूंजीवाद का पक्ष लेने वाले जन संख्या की वृद्धि की शिकायत करते हैं कि यदि श्रमिकों को अधिक मजदूरी दी जाएगी तो वे जन संख्या और बढ़ायेंगे। परन्तु रस्किन तथा गांधीजी का कहना है कि उन्हें अधिक तो दूर पर्याप्त मजदूरी नहीं दी जा रही है। "केवल जीवित रहने लायक" मजदूरी देना शर्मनाक है। कुछ लोगों की विलासिता और वैभव को इसप्रकार अमरत्व प्रदान नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न का एक मात्र जवाब है कि ऐसी वस्तुओं का उत्पादन बन्द कर दिया जाए जिनकी जीवन को पुष्ट बनाने के लिए कोई उपयोगिता नहीं और सब मिल कर सबके हित के लिए जीवन को जीने लायक बनाने वाली वस्तुओं का ही उत्पादन करें और अपने पड़ोसी के दुःख को अपना दुःख समझ कर त्यागवृत्ति अपनाएँ।

गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक "अन्टु दिस लास्ट" का गुजराती अनुवाद भी किया तथा, उसे सर्वोदय के नाम से प्रकाशित किया। रस्किन के विचारों से गांधी जी ने सार निकाला वह यह है—

१. व्यष्टि हित और समष्टि हित में मौलिक अन्तर नहीं। दोनों एक ही है।
२. अनुत्पादक श्रम सभी समान हैं, चाहे वह एक नाई का कार्य हो अथवा एक कानून वेत्ता का।
३. उत्पादक-श्रम श्रेष्ठ है। हरएक को प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में भाग लेना चाहिए।

अतएव एक श्रमिक और कृषक का जीवन ही जीने योग्य जीवन है। गांधीजी, इन मूल विचारों की सहायता से, जीवन भर सर्वोदय की सामाजिक व्यवस्था के लिए अपने जीवन को तदवत बना कर एक व्यावहारिक चित्र उपस्थित करते रहे। वह एक ऐसी सामाजिक रचना करना चाहते थे, केवल आर्थिक ही नहीं वरन् बौद्धिक शोषण का भी अन्त कर देना चाहते थे। अपने सामाजिक दर्शन में गांधीजी व्यक्ति को स्वभावतः बुरा मान कर नहीं चलते। वह उसे अच्छा और अच्छा होने योग्य मान कर चलते हैं। इसलिए उनके सामाजिक दर्शन में समाज के लिए अहितकर कार्य करने वालों के लिए भी करुणा तथा प्रेम है। ऐसे व्यक्तियों को वे रोगी मान कर चलते हैं, जिनका निदान असंभव नहीं। गांधीजी का ट्रस्टशिप सिद्धांत इसी बुनियाद पर खड़ा है। यही कारण है कि मार्क्सवादी पद्धति के अनुसार पूंजीपति के संहार द्वारा समाज परिवर्तन के बजाय वे अहिंसा और प्रेम की शक्ति द्वारा सुधार पर आस्था रखते हैं। उनकी दृष्टि में शोषण और अन्य समाज विरोधी कार्य कोई इसलिए करता है, क्योंकि उसे यह सब शिक्षा विरासत में मिली है। इसके विपरीत जीवन के नए मूल्यों की शिक्षा देकर उसे नयी सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल बनाया जा सकता है।

— त्रिपथगा

**

कर्मयोगी नेतृत्व

राष्ट्र के लिए उत्साह, साहस और संघर्ष शक्ति के प्रदायक
तथा विश्वास एवं आशा के संदेशवाहक



देशगौरव श्री जगजीवनराम



दिल्ली स्थित निवास स्थान पर नेहरू जी के साथ बाबू जगजीवनराम



अखिल भारतीय कांग्रेस वर्किंग कमेटी के अधिवेशन में दाहिनी ओर बिहार के नेतृवृन्द डा० अनुग्रहनारायण सिंह और श्रीकृष्ण सिंह के साथ नेहरूजीके पास——बाबू जगजीवनराम



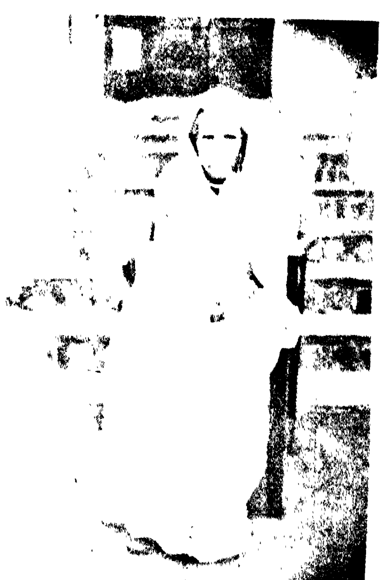
बाबू जगजीवनराम बैठे हुए हैं और आपके साथ भारत के अन्तिम वायसराय लार्ड माउंटबेटन तथा लेडी माउंटबेटन दोनों सामने खड़े हुए वार्तालाप कर रहे हैं



रोम में इटली के श्रम मंत्री श्री आर्कानज्ये मैराज्जा से हाथ मिलाते और वार्तालाप करते हुए श्री जगजीवनराम। मध्य में रोम स्थित भारतीय राजदूत की सेक्रेटरी मिस माची है



जगजीवनरामजी के अग्रज
श्री संतलाल



जगजीवनरामजी की माता
स्वर्गीया बासन्ती देवी



भारत के लौह पुरुष सरदार पटेल, भारतीय संसद की लोक-सभा के प्रथम सभापति श्री मावलंकर के साथ श्री जगजीवनराम



राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन और डा० सीतारमैयाके साथ बाबू जगजीवनराम



भारतीय संसद के हरिजन सदस्यों के मध्य में हमारे देशगौरव जगजीवनराम

जातीयता के विनाश में समाज का कल्याण

श्री ब्रिजलाल बियाणी, एम० एल० ए०

भारत के सर्वांगीण विकास के क्षेत्र में जो अनेक बाधाएँ तथा आपत्तियां हैं, उनमें एक गहरी तथा सर्वव्यापी आपत्ति इस देश में प्रचलित जातीयता है। इसके निवारण के लिए यह अन्य बाधाओं की अपेक्षा अधिक कष्टप्रद है। कारण, जातीयता का भारतीय जीवन की जड़ों से सम्बन्ध है। वह हमारे रक्त में स्रवित है, हमारी संस्कृति में ओतप्रोत है और अन्य राष्ट्रों से हमारी विभिन्नता की द्योतक है।

भेद-भाव की भावना

मानव स्वभाव के मूल में श्रेष्ठता या हीनता की भावना है। इसी भावना ने समाज में भेद-भाव और ऊँच-नीच की व्यवस्था को जन्म दिया है। विश्व के समस्त राष्ट्रों में सामाजिक भेद-भाव का अस्तित्व है, पर भारतीय सामाजिक जीवन में यह चरम सीमा तक पहुँच गया है।

आदि-काल से मानव के जीवन में धर्म का महत्व का स्थान रहा है। जीवन के दृष्टिकोण तथा व्यवस्था के पीछे धर्म की प्रेरणा रही है। भारतीय जीवन में धार्मिक भावना सर्वव्यापी है। जीवन के हर क्षेत्र के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्यवहार में धार्मिक तत्वों का संचालन रहा और आज भी बहुतांश में विद्यमान है। जीवन की सम्पूर्ण इमारत ही धार्मिक भित्ति पर निर्मित की गई है। जाति-प्रथा का बीज या अंकुर भी हमारी धार्मिक व्यवस्था में पनपा है।

आरम्भ में सारा भारतीय समाज चार वर्णों में विभाजित हुआ। इसी वर्ण-व्यवस्था की जड़ों से भारतीय जातीयता का विशाल वट वृक्ष सींचा गया, वृद्धिगत हुआ और पल्लवित हुआ। भारतीय धार्मिक तथा अन्य जल प्रवाहों ने इसका इतना सिंचन किया कि यह वृक्ष फैलता ही गया और आज उसकी शाखाएं उपशाखाएं जाति-उपजाति के रूप में ८०० से अधिक हो गई हैं। अगर स्थानीय और सूक्ष्म भेदों से गिनती की जाए, तो उनकी संख्या ५००० के करीब पहुँच गई है।

जिन कारणों से यह व्यवस्था वृद्धिगत हुई, हिन्दू समाज के रक्त में भिद गई, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—(१) धार्मिक एवं (२) राजकीय विजय, (३) आर्थिक व्यवस्था, (४) व्यावहारिक कार्य, (५) अन्तर वैवाहिक सम्बन्ध, (६) स्थान, (७) उद्योग और (८) धर्म परिवर्तन।

भारत में हिन्दू धर्म के अलावा अन्य धर्म भी स्थापित हुए, यथा—बौद्ध, जैन और अन्य बीसियों पन्थ। विदेशों से अन्य धर्मों का आगमन हुआ। मुसलमान आए, ईसाई आए, पारसी भी आए। भारत संस्कृतियों का संघर्ष-स्थल बना। हिन्दू धर्म की एक बड़ी संख्या ने धर्म-परिवर्तन किया। जैन, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों में मूल में जातीयता का स्थान नहीं, पर भारतीय जाति-व्यवस्था का प्रभाव इतना गहरा रहा कि अन्य धर्मों में भी उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष असर आए बिना न रहा। भारतीय समाज के व्यापक जीवन को इस प्रथा ने पूर्णतया व्याप्त कर लिया और इसी जातीय जीवन सागर में से अस्पृश्यता जैसे मानवता के कलंक-रूपी विष का प्रादुर्भाव हुआ। जातीयता का भयंकर स्वरूप हमारे जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा।

जातीयता का पनपना

भारतीय हिन्दू धर्म अत्यंत व्यापक-धर्म है। कट्टरता की पुट उसमें कम है। एक काल तक उसकी सर्वसंग्रही शक्ति के कारण ही अन्य कोई धर्म यहां स्थायित्व प्राप्त न कर सका। अन्य संस्कृतियों का भारतीय

जीवन पर प्रभाव अवश्य पड़ा, पर कोई सांस्कृतिक या राजकीय सत्ता भारतीय जीवन-व्यवस्था या सभ्यता को समाप्त न कर सकी। भारतीय धर्म में विश्वव्यापी जीवन के सिद्धान्त निहित हैं। मानव की एकता भी इसमें विद्यमान है। हमारा लक्ष्य ईश्वर की एकता के साथ संसार के मानव की एकता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—का विशाल दृष्टिकोण हमारा आदर्श है। तब फिर, इस व्यापकता और समानता के धार्मिक वातावरण में, जातीयता का निर्माण, विकास और स्थायित्व कैसे हुआ, यह प्रश्न विचारणीय है। पर हमें तो जो मौजूद स्थिति है, उसी का विवेचन करना है।

मानव समानता और एकता के प्रतिकूल पड़ने वाली जातीय प्रणाली देश-व्यापी स्वरूप धारण कर हजारों वर्षों से जीवित रह सकी, इसका कारण है उसकी उपयोगात्मक और दंडात्मक व्यवस्था-शक्ति। मानव को उससे सुगमता, रक्षा तथा सहारा प्राप्त हुआ। साथ ही, जातीय पंचायतों के रूप में व्यक्ति को दण्ड देने की सामर्थ्य भी उसमें रही। इन्हीं दोनों शक्तियों के सहारे जातीयता जीवित रह सकी।

मनुष्य के लिए जाति उसके आर्थिक, सामाजिक, व्यक्तिगत, संरक्षणात्मक, धार्मिक आदि जीवन के सब क्षेत्रों में सहारा बनी रही और उसने मनुष्य के जीवन को संकुचित भले ही किया हो, पर जीवन को सहज और सरल बनाने में भी वह अवश्य सहायक हुई।

जाति का जन्म से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, जातीयता की जड़ ही जन्म है। जिस जाति में जन्म हुआ हो वही मनुष्य की जाति है। जाति के साथ रोजगार या व्यवसाय का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। पिता की आजीविका का मार्ग ही पुत्र के लिए सरल मार्ग रहा। गृह ही उसके लिए निर्वाह, साधन, शिक्षा की पाठशाला बना। आर्थिक क्षेत्र में प्रतिद्वंद्विता के सीमित हो जाने के कारण अकुशल व्यक्ति को भी जीवन-निर्वाह में सहारा मिला। जातियों ने व्यक्ति के आर्थिक जीवन में सहायक होने का कार्य किया। सामाजिक जीवन के हर कार्य में और विशेषतः विवाह और मृत्यु के समय जाति उपयोगी रही। धार्मिक या अन्य कार्य भी सुगमता से पार करने में जाति की मदद रही। जाति के लोग कष्ट न पाएं, इस ओर जातीय संगठनों ने ध्यान दिया। राजकीय सत्ता निर्बल होने के कारण जातीय संगठनों ने अन्य जातियों से तथा जाति के अंतर्गत भी व्यक्ति को संरक्षण दिया। जातीयता मनुष्य के जीवन में लाभप्रद बनी रही। व्यक्ति अपनी जाति का अभिमान करने लगा और अनेक जातियां मिलकर एक सर्वक्षेत्रीय सह-कुटंब बन गईं। देश की राजकीय अनावस्था तथा अत्याचारमय प्रवृत्तियों में जातीय संगठन एक प्रभावशाली संरक्षण रहा। इस प्रकार अनेक उपयोगी परिणामों के कारण जातीयता भारतीय जीवन में स्थायी संस्था बन गई।

जातीयता के बंधन या सीमाएँ

जाति-उपजाति के संरक्षण और स्थापित्व के लिए जो अनेक छोटे मोटे बंधन या सीमाएं निर्मित की गईं, उनमें दो बंधन मुख्य या सर्वश्रेष्ठ रहे—खान-पान और विवाह या रोटी-बेटी का व्यवहार। प्राचीन काल में शहर तथा ग्रामों में परकोटा रहता था, जिससे भीतर का व्यक्ति बाहर नहीं आ सकता था और बाहर का भीतर नहीं आ सकता था। शहर परकोटे के भीतर स्वयंपूर्ण तथा सुरक्षित रहने का प्रयत्न करता था। इसी प्रकार जाति-उपजाति के चारों ओर रोटी और बेटी व्यवहार-रूपी दो कोटों का निर्माण किया गया, जिसके कारण जाति के व्यक्ति का बाहर आना-जाना रुक गया और जातियां अपना स्थायित्व टिका सकीं।

रक्षण और दण्ड की व्यवस्था के लिए जातियों-उपजातियों में पंचायत के रूप में संगठन बने। इन पंचायतों में लोकशाही की व्यवस्था रही और उनको कार्य-संचालन करने के लिए सरपंच तथा पंचों की नियुक्ति हुईं। पंचायतों की कार्य-व्यवस्था के लिए लिखित या अलिखित नियम बने। पंचायतों की सभाएं होती थीं। ये पंचायतें व्यक्ति के जीवन में सहारा देतीं और जाति के नियमों का भंग करनेवालों को शिक्षा या दण्ड भी देती थीं। दंड के अनेक छोटे-बड़े रूप थे, पर सबसे बड़ी सजा रोटी-बेटी व्यवहार-बंद की थी।

पंचायत से दण्डित व्यक्ति का जीवन कष्टमय हो जाता था। उसके लिए अन्य जातियों में समावेश या प्रवेश सम्भव होने पर भी कठिन अवश्य था। हर जाति की अपनी सीमा और उस सीमा में अपनी पवित्रता थी। पंचायत की आज्ञा का पालन व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता था। अपराधों की सजा के साथ उसके निवारण के मार्ग भी थे और जातीयता में सजा के साथ ममत्व का स्रोत भी सदा बहता था। इस प्रकार जाति-उपजाति की कठोर व्यवस्था के कारण जातीयता की जड़ें हमारे रक्त में प्रवेश कर गईं और हर व्यक्ति जाति की निगाह से अपने को देखने और संबोधित करने लगा। जातीयता ने मानव जीवन को संकुचित भले किया हो, पर भारतीय संस्कृति को प्राचीन काल में सुरक्षित भी किया। भारत की प्राचीन संस्कृति को जीवित रखने के कुछ प्रधान कारणों में से हमारी जाति-प्रथा भी एक है। स्त्रियों की रूढ़िप्रियता भी उस रक्षण में महत्व का स्थान रखती है।

जातीयता को उपयोगिता नहीं

हिन्दू धर्म की जीवनव्यापी जातीयता के साथ मुसलमानों के आगमन, उनकी राजसत्ता तथा उनके द्वारा किए गए अन्याय-व्यवहार के कारण इस देश में अंतर-धार्मिक जातीयता का भी निर्माण हुआ। हिन्दू-मुसलमान का भेद भी इस देश के जीवन में व्यापक गहराई तक पहुँच गया। सामाजिक तथा राजकीय क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों के भिन्न-भिन्न संगठन रहे। इस विभिन्नता का परिणाम देश को जीवन के अनेक क्षेत्रों में भोगना पड़ा। धार्मिकक्षेत्र की अपेक्षा राजकीय क्षेत्र में इस धार्मिक जातीयता ने अधिक उग्र रूप धारण किया। भारत के राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमान-समस्या एक सतत पहेली रही। उसे सुलझाने के लिए कांग्रेस द्वारा अनेक प्रयत्न हुए। कभी सफलता के दर्शन भी हुए, पर स्थायी मानसिक विभिन्नता जड़ से निर्मल न हो सकी और अंत में उसका परिणाम इस देश का विभाजन हुआ। पाकिस्तान बना। आज भी इस विभिन्नता की भावना देश में बनी हुई है।

जातीयता के जन्म, विस्तार, तथा स्थायित्व का यह अत्यंत संक्षिप्त विवेचन है। कोई भी प्रथा, रिवाज या व्यवस्था समाज में उपयोगिता या जीवन की सामयिक आवश्यकता की पूर्ति की क्षमता के कारण ही निर्मित होती है। पर शनैः शनैः उसकी उपयोगिता जड़त्व या अप्रगति का रूप धारण कर लेती है और समाज की गति को कुण्ठित कर देती है। व्यक्ति के विकास में बाधक होने पर उसके प्रतिकूल विचार आरम्भ होते हैं। पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था आने लगती है।

अंतःस्थ प्रेरणा, बाह्य शक्ति का प्रभाव या सम्पर्क अथवा इन दोनों शक्तियों के सम्मिश्रण से प्रचलित प्रथा में परिवर्तन आरम्भ होता है। इस तत्व के अनुसार जातीयता के प्रतिकूल भी विगत शताब्दी में भारतीय नवजीवन की लहर बहने लगी। अंग्रेजी राज्य के प्रभाव और वैज्ञानिक आविष्कार के परिणामों ने भी इस दिशा में कार्य करना आरम्भ किया।

जातीयता पर आघात

भारतीय जीवन-सरिता में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से नवीन विचार और नवशक्ति का प्रवाह बहने लगा, मानो भारत अपनी सदियों की निद्रा से जागृत हुआ हो। अंगरेजी राज्य, अंगरेजी शिक्षा और संस्कृति ने भारतीय जीवन को हिला दिया उसमें नयी गति आई। उसका स्वाभिमान जाग्रत हुआ।

जातीयता की सीमा में ही विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि निम्न श्रेणियों की जातियों में मानवता की प्रतिष्ठा की भावना पैदा हुई और नीचे की जातियां किसी-न-किसी प्रकार से उच्च बनने का प्रयत्न करने लगीं। नई शिक्षा, नए जीवन-व्यवहार, रेल का आगमन, व्यापार या व्यवसाय का विकास, नलों द्वारा जल की व्यवस्था, शासन में सब जातियों की नियुक्तियां, सेना में सब जातियों की भरती,

स्कूलों में एक साथ शिक्षा, स्त्री-शिक्षा, कारखानों में सब जाति के मजदूरों का एक-साथ काम करना, एक नए मजदूर वर्ग का निर्माण, आदि कारणों से जातीयता के किले पर आघात होने लगे।

जातीयता के बंधनों के प्रति शिक्षितों में बगावत फैलने लगी। नया सुशिक्षित वर्ग खान-पान तथा वैवाहिक शृंखला की कड़ियों को तोड़ने लगा। पंचायतों की शक्ति निर्बल होने लगी। सब धर्मों की समानता एवं धार्मिक सहिष्णुता के प्रचार से धार्मिक बंधन ढीले होने लगे, नीचे की जातियों में उच्च जातियों के प्रति द्वेष की दावाग्नि भड़कने लगी। भारत के कुछ हिस्सों में ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर आन्दोलन भी तीव्रता से आया।

जड़ें हिल गईं

भारतीय आकांक्षा के सारे शक्ति प्रवाह राजकीय स्वतंत्रता की ओर प्रवाहित होने लगे और राजकीय आन्दोलन जीवन के समस्त क्षेत्र में असर फैलाने लगा। गांधीजी के नेतृत्व के पश्चात राजनीतिक चेतना राष्ट्र की आत्मा बन गई। स्वराज्य प्राप्ति के सम्मुख जीवन के अन्य क्षेत्र गौण हो गए। इतना ही नहीं, उसके पोषक बन गए। स्वराज्य-प्राप्ति के विविध कारणों में महात्माजी ने अस्पृश्यता-निवारण को महत्व दिया। हिन्दू समाज में एक नई हलचल आई। अस्पृश्यता के कड़े बंधन ढीले पड़ गए। जातीयता का बांध टूट गया और जातीयता के वृक्ष की जड़ें हिल गईं।

देशव्यापी चेतना और त्याग का फल भारत को मिला। स्वराज्य आया। देश ने अपना संविधान बनाया। संविधान ने धर्म-निरपेक्ष जनतंत्र या लोकशाही की घोषणा की। धर्म का स्थान राजकीय जीवन से हटा। धर्म का तेज कम हुआ। लोकशाही के राजकीय प्रांगण में हर वयस्क, हर व्यक्ति को, स्त्री, पुरुष, अमीर, गरीब, सुशिक्षित, अशिक्षित आदि सबको मताधिकार देकर जन्म, जाति और सम्पत्ति के सामाजिक भेद नष्ट कर दिए गए और मानवीय समानता की स्थापना की गई। तत्वतः भारत में जातीयता का अन्त हुआ, पर व्यवहार में वह अभी तक जीवित है और मरते-मरते भी नए-नए रूप धारणकर भारतीय विकास-प्रवाह को कलुषित और अवरुद्ध करने का कार्य कर रही है। विशाल और प्रकट रूप छोड़ कर वह सूक्ष्म और अप्रकट रूप में अपना असर पैदा कर रही है।

सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा

स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व देश में त्याग की लहर थी। स्वराज्य-प्राप्ति के पश्चात् सत्ता की आकांक्षा प्रभावशाली हो गई। हर व्यक्ति, समाज या जाति सत्ता-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। जिस किसी मार्ग से सत्ता प्राप्त हो, उस मार्ग से सत्ता-प्राप्ति करने का हर कोई प्रयत्न कर रहा है। ग्राम पंचायत से लगा कर लोक सभा तक यही स्थिति है। जीवन के अन्य लक्ष्य गौण हो गए हैं। समस्त देश की जनता का सत्ता की ओर व्यापक झुकाव है।

सत्ता-प्राप्ति की इस घुड़दौड़ ने जातीयता की भावना को नया जीवन देने का कार्य कुछ अंशों में किया। विभिन्न क्षेत्रों की जातीयता राजकीय क्षेत्र में आ गई। राजकीय संस्थाओं में उसका अप्रत्यक्ष असर हो रहा है। मतों से राजसत्ता मिलती है। अतः अल्पसंख्यकों ने जातिवाद का कुछ अंश में सहारा लिया। भारतीय राजकीय जीवन के प्रवाह में जहर आ गया।

राजकीय संस्थाओं के कार्य पर भी जातीयता की छाप पड़ने लगी है। इसका असर आज कांग्रेस और अन्य सभी राजनीतिक संस्थाओं पर हो रहा है। चुनावों में जातीयता की ओर लक्ष्य रहने लगा है। उम्मीदवारों के चुनाव के पीछे भी कुछ अंश में जातीयता का दृष्टिकोण काम करता है। मतदान में भी जातीयता ने प्रवेश कर लिया है। अतः जातीयता अधिक खतरनाक हो गई है और उसका भारतीय जीवन और भविष्य निर्माण पर गहरा बुरा असर हो रहा है।

जातिवाद के विनाश में समाज का कल्याण

लोकतंत्र का अर्थ मानवता की खोज या आविष्कार है। जातीयता इस पवित्र कार्य पर परदा डाल देती है और सच्ची मानवता का विकास कठिन हो जाता है। लोकतंत्र में गुण तथा योग्यता का सम्यक स्थान होने से और उचित स्थान पर उचित व्यक्ति के आसीन होने की क्षमता होने से ही—लोकतंत्र आम जनता के विश्वास के योग्य और सफल बन सकता है। जातीयता ने इस औचित्य और योग्यता पर भी आघात किया है।

जातीयता के सम्पूर्ण नाश में ही देश का कल्याण और सर्वसंग्राहक विकास है। राष्ट्रीय महासभा इस ओर प्रयत्नशील है। कांग्रेस ने इस देश से ब्रिटिश राज हटाया और वह पूंजीवाद निर्मूल करने की ओर भी कदम बढ़ा रही है। अब उसका सर्वश्रेष्ठ कार्य जातीयता का नाश करने की सफलता में ही होने वाला है। जातीयता की शिक्षा से टकरा कर भारतीय एकता छिन्न-भिन्न होने की सम्भावना है। भारत माता देश युवकों को जातीयता का विनाश करने के लिए आह्वान कर रही है। भारत को मानव-प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होना है, तो जातीयता को जीवन के समस्त क्षेत्रों से सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्वरूप में भी समाप्त करना होगा। देश की आत्मा जातीयता-रूपी दानव के प्रभाव से ग्रसित है, उसे मुक्त करना है। जिस दिन यह होगा, वह दिन भारत के इतिहास में सुवर्ण-दिन होगा।

**

'मैं भारत को देखकर उसके समृद्धिवान होने की आकांक्षा करता हूँ। एक वर्ष भी नहीं बीता, जब मैं नई दिल्ली में आया था। तब भारत विकसित नहीं था। पर आज वह समृद्धवान दिखाई देता है। नई दिल्ली संसार के सबसे महान और सबसे विशाल विकसित नगरों में है। मैंने अनेक योजनाओं का निर्माण अपनी आँखों से देखा। मैंने उन समस्याओं पर दृष्टिपात किया, जिनका भारत साहसपूर्वक सामना करने में पीछे नहीं है। मैंने अत्यन्त विशाल औद्योगिक विज्ञान प्रयोगशाला को देखा, उससे यह प्रकट हुआ कि इस देश की सरकार ने यह अनुभव किया कि यदि भारतीयों का जीवन स्तर उच्चतम करना लक्ष्य है, तो देश को विज्ञान के समस्त स्रोतों का पूर्ण उपयोग करना आवश्यक है।

पर भारत की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धि लोकतंत्र व्यवस्था में उसका आम-निर्वाचन है। मैं अनेक बातों का विशेषज्ञ तो नहीं हूँ, किन्तु किसी हद तक आम निर्वाचन का अवश्य विशेषज्ञ हूँ। मैंने आम निर्वाचन लड़े हैं, और जब मैंने भारत के लिए प्रस्थान किया, तब मैंने यह सोचा कि इस देश के लिए आम निर्वाचन का संगठन करना कितना दुर्धर्ष कार्य है। पर भारत ने अपने निर्वाचनों का सफल संगठन कर सारे संसार में अपना शानदार रेकर्ड कायम किया। इतने बड़े पैमाने पर ऐसा निर्वाचन पूर्वकाल में कभी किसी देश में नहीं हुआ था। पर भारत ने उसे सफल कर दिखाया।

मेरा विश्वास है कि आज भारत का संसार में जो स्थान है, उससे उसे संसार में सबसे महान कार्य पूरा करना है, क्योंकि भारतवासी पूर्व और पश्चिम—दोनों को जितना भली भाँति समझते हैं, उतना दूसरे नहीं। भारत का अपना महान गौरवशाली इतिहास है और अपनी महान सभ्यता है। अतः पश्चिमीय सभ्यता के निकटतम में भारत का विकास हुआ है और आज निःसन्देह भारत एशिया खण्ड में सबसे महान लोकतंत्र देश है।'

—सी० आर० एटली

(ब्रिटिश मजदूर दल के नेता)

भारत का दैत्य रोग-जातपांत



श्री सन्तराम, बी० ए०

हैं, किसी व्यक्ति की छाती में बाण लग गया। उससे आहत हो, वह छटपटाता हुआ धरती पर लोटने लगा। वह असह्य वेदना से चिल्ला रहा था। कुछ लोग दौड़ कर उसके निकट पहुँचे। वे इस बाण को घाव में से खींच कर निकाल डालना चाहते थे। परन्तु उस आहत व्यक्ति ने लोगों को खींचने से रोक दिया। वह बोला, मैं यह बाण तब तक निकालने नहीं दूंगा, जब तक मुझे यह न बता दिया जाएगा कि वह किधर से आया, किस ने चलाया, वह किस पेड़ की लकड़ी से बना और किसने इसे बनाया और इसमें जो लोहा लगा है, वह किस खान से निकाला गया था और उसे किस लुहार ने ढाल कर बाण की अणि तैयार की थी। उन लोगों ने उसे बहुतेरा समझाया कि तुम पीड़ा से व्याकुल हो रहे हो, इन बातों को जानने से तुम्हारा दुःख कैसे दूर होगा? बाण किसी ने भी और कभी भी बनाया हो, तुम्हारी पीड़ा तो उसे निकालने में ही शान्त होगी। पर उसने अपनी हठ न छोड़ी।

समाज की भ्रान्त मान्यता

ऐसी ही स्थिति हिन्दू समाज की है, जो जातिभेद के घातक प्रभावों को देखते हुए भी उसे तब तक छोड़ने को तैयार नहीं है, जब तक उसे यह न बता दिया जाए कि यह किस ऋषि ने बनाया था। ऐसे हिन्दू हैं, जो यह कहते हैं कि चाहे इस समय वर्ण व्यवस्था हानिकारक हो गयी हो, पर प्राचीन काल में उसने बड़ा हित किया है। इसलिए इसे बनाए रखना उचित है। इन लोगों की बात वैसी ही है, जैसे कोई आज कहे कि चूंकि रायगढ़ का दुर्ग शिवाजी की राजभक्ति का एक आधार स्तम्भ था, इसलिए आज चाहे वह टूट-फूट गया हो और विमानों के आक्रमणों से सेवा की रक्षा नहीं कर सकता हो, तो भी उसे ही राजधानी और सैन्य शिविर बनाना चाहिए। यद्यपि उपर्युक्त दोनों बातें अर्थहीन और हास्यास्पद हैं, तो भी ऐसे लोगों की समाज में कमी नहीं है।

वेद में चार वर्णों का उल्लेख नहीं

हिन्दुओं में इस समय कई सहस्र जातियां और उपजातियां हैं। पर ये सब चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से ही बनी हैं। आर्यों का सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें कहीं भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि वर्ण नहीं कहे गए हैं। वेद में किसी स्थान पर भी ब्राह्मण वर्ण, क्षत्रिय वर्ण, और वैश्य वर्ण नहीं लिखा हुआ है। स्मृतियों ने ही इन्हें दीर्घकाल के उपरान्त वर्ण का नाम दिया है।

वेद में 'वर्ण' शब्द मिलता अवश्य है। पर उसका प्रयोग केवल 'आर्य' और 'दास' के साथ ही हुआ है। जैसे—

यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः। ऋ० २–१२–४

अर्थात्—जो दास वर्ण को नीचे गुफा में डालता है।

हत्वा दस्यून् आर्यं वर्णमावत्। ऋग० ३–३४–६

अर्थात्—दस्युओं को मार कर, आर्य वर्ण की पूरी-पूरी रक्षा करना है।

इतना ही नहीं, वेदों में वर्णों की चार संख्या भी प्रकट नहीं की गयी है। उनमें 'चातुर्वर्ण्य' भी कहीं लिखा हुआ नहीं मिलता है। हाँ, दो वर्ण अवश्य कहे गए हैं। जैसे :—

उभौवर्णावृषिरुग्रः पुर्पास। ऋग० १।१७१६।६

अर्थ—उग्र ऋषि ने दोनों वर्णों को पुष्ट किया।

इतना ही नहीं, बौद्धों के धर्मग्रन्थ 'मज्झिमनिकाय (६३) में लिखा है—'हे आश्वलायन, क्या तुम ने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमान्त देशों में दो वर्ण होते हैं :—आर्य और दास। आर्य दास हो सकता है और दास आर्य हो सकता है। वर्ण-व्यवस्था या चातुर्वर्ण्य विभाग के समर्थन में ऋग्वेद के दसवें मंडल का 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीह' वाला मंत्र पेश किया जाता है। परन्तु इस मंत्र में कहीं भी वर्ण शब्द नहीं है। प्राचीन विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद का दसवाँ मंडल अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसके अतिरिक्त उद्भट और महीधर आदि भाष्यकारों ने इसमें समाज का नहीं, बल्कि यज्ञ का वर्णन माना है।

इस में सन्देह नहीं है कि वेद में समाज कहीं-कहीं दो भागों में बँटा मिलता है। जैसे कि शूद्र और आर्य, या आर्य और दास या दस्यु। फिर कहीं चार, कहीं पाँच, कहीं छः और कहीं बीसियों जातियों में बँटा मिलता है, परन्तु वेद उन्हें वर्ण नहीं कहता।

एक ही वर्ण था

आदि काल में चार वर्णों में समाज का विभाजन नहीं था। यह विभाजन बाद में किया गया। इसके प्रमाण महाभारत और पुराणों में मिलते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है :—

एक एक पुरा वेदः प्रणतः सर्ववाङ्मयः
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निवर्ण एव च ॥

इसका अर्थ करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं कि पहले एकमात्र हंस ही एक वर्ण था। प्रारम्भ में मनुष्य की एकमात्र जाति हंस थी। 'आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतम्'। फिर महाभारत कहता है :—

एक वर्णमिदं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्मक्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थ—'हे युधिष्ठिर, इस जगत् में पहले एक ही वर्ण था। गुण-कर्म के विभाग से बाद में चार वर्ण हुए।

फिर भविष्य महापुराण के ब्रह्मपर्व अध्याय ४२ में लिखा है :—

"यदि एक पिता के चार पुत्र हैं, तो उन चारों की एक ही जाति होनी चाहिए। इसी प्रकार सब लोगों का पिता एक परमेश्वर ही है। अतएव, मनुष्य में, समाज में जातिभेद है ही नहीं। जिस प्रकार गूलर के पेड़ में अगला, मध्य और जड़ इन तीनों भागों में एक ही वर्ण और एक ही आकार के फल लगते हैं ; उसी प्रकार एक विराट पुरुष परमेश्वर के मुख, बाहु, पेट और पैर से चार उत्पन्न हुए। मनुष्यों में स्वाभाविक जाति भेद कैसे माना जा सकता है।

भविष्य पुराण (अध्याय ४) कहता है :—

तस्मान्न गोश्ववत् किंचिज्जातिभेदोस्ति देहिनाम् ।
कार्यभेद निमित्तेन संकेत कृत्रिम कृतः ।

अर्थ—मनुष्यों में गाय और घोड़ा जैसा कोई जातिभेद नहीं है। ये कर्म-भेद के लिए कृत्रिम रूप में संकेत किए गए हैं।

इतना ही नहीं, विष्णु पुराण (अंश ४, ८, १) ने तो भेद ही खोल दिया है। उसमें लिखा है :—

गृत्समदस्य शौनक चातुर्वर्ण्य प्रवर्त्तयिताऽभूत् ।

अर्थात्—गृत्समद के पुत्र शौनक ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रवर्तित की।

वेदों के प्रकांड पंडित श्री मेक्समूलर कहते हैं :—

If then, with all the documents before us, we ask the question, does caste, as we find it in Manu and at the present day, form part of the ancient religions texahings of the Vedas ? We can answer with a decided 'No'. There is no authority whatsoever in the hymns of the Vedas for the complicated system of castes, no authority for the offensive privileges claimed by the Brahmin, no authority for the degraded position of the Sudras. There is no law to prohibit the different classes of the people from living together, from eating and drinking.

तात्पर्य यह कि, मनुस्मृति का ऐसा जातिभेद वेद में बिल्कुल नहीं है। उसमें परस्पर खान-पान और विवाह-शादी का भी कोई निषेध नहीं है। ब्राह्मण की श्रेष्ठता और शूद्र की नीचता का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

मनुस्मृति-भेद

वर्ण व्यवस्था का विषम वर्णन जैसा मनुस्मृति अर्थात् मानव-धर्मशास्त्र में मिलता है, वैसा अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं है। मनुस्मृति को ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा गया है। खोज से पता लगा है कि सन् १८४ में ईसा से पूर्व बौद्ध राजा बृहद्रथ के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र सुंग ने धोखे से राजा की हत्या कर डाली और आप राजा बन बैठा। यह पहला ब्राह्मण राजा था जो सिंहासन पर बैठा। इसने इस घटना के स्मारक के रूप में अश्वमेध-यज्ञ का समारोह किया।

'मंजुश्री मूल कल्प' का बौद्ध लेखक लिखता है :—

इस पुष्यमित्र ने बौद्ध मठों को गिरवा दिया। बौद्ध-स्मृति चिह्नों को नष्ट करा दिया और बड़े-बड़े सच्चरित्र बौद्ध भिक्षुओं की हत्या करा दी।

यह पुष्यमित्र नष्टप्राय ब्राह्मण सत्ता को जीवित करना चाहता था। इसी ने मनुस्मृति की रचना करायी। इसका एक उद्देश्य पुष्यमित्र के विश्वासघात का नैतिक समर्थन करना था। नारद स्मृति के अनुसार स्मृति का रचयिता सुमति भार्गव नामक व्यक्ति था। पर एक मत यह भी है कि सृष्टि के आरम्भ में आज से लाखों वर्ष पूर्व भगवान मनु के द्वारा मनुस्मृति लिखी गयी थी। यदि यह मान लिया जाए कि मनुस्मृति की रचना सृष्टि के आरम्भ में मनु ने ही की थी, तो भी यह स्पष्ट है कि कालान्तर में पंडितों ने उन सड़ी-गली व्यवस्थाओं को लादा। उसमें असंगत निर्देश एक दूसरे के सर्वथा विपरीत दिए। पुष्यमित्र की मनुस्मृति ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मौर्यों की शासन पद्धति का बिल्कुल अन्त कर दिया। उसके पृष्ठों में नीचे के तीन वर्णों के प्रति घृणाभरी पड़ी है। श्री जायसवाल[1] स्वीकार करते हैं कि इस 'मानवधर्म-शास्त्र' में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक द्वेषभाव भरा पड़ा है। हो सकता है कि इसीलिए इस धर्मशास्त्र

[1] Jayaswal—An Imperial History of India, Page 18.

को इतना मान और इतनी प्रतिष्ठा मिली। पुष्यमित्र ने इसे अपना व्यवस्थाशास्त्र बना लिया। इस प्रकार राजसत्ता के बल पर वर्ण व्यवस्था स्थापित और प्रचलित की गयी।

वर्ण व्यवस्था या चातुर्वर्ण्य को बनाए रखने और उसके चलाने के लिए जातियों और उप-जातियों का निर्माण आवश्यक था। मान लीजिए, एक शूद्र किसी दूर स्थान में जाकर कहता है कि वह ब्राह्मण है। पर ब्राह्मण और शूद्र में कोई ऐसा भेद तो है नहीं, जो गाय घोड़े की तरह देखनेमात्र से पहचान हो जाए। इसलिए उससे पूछा जाता है कि वह कौन ब्राह्मण है? वह उत्तर में 'सारस्वत', 'गौड़', चितपावन, कान्यकुब्ज, मैथिल, देशस्थ, कोकणस्थ आदि में वह अपना अलग परिचय देता है। फिर पूछा गया, कौन सारस्वत, उत्तर मिला, 'अग्निहोत्री'। इस प्रकार वह शेष सारस्वतों में से चुन लिया गया। फिर उसका गोत्र और प्रवर पूछा गया। इस प्रकार उसके गोत्र और प्रवर के लोग थोड़े से होंगे। उनसे झट पता चल जाएगा कि वह सचमुच ब्राह्मण जाति का है या नहीं। अन्यथा, अपढ़ और पवित्र गोरे और काले तो सभी में हैं। रंग रूप या योग्यता में ब्राह्मण और अब्राह्मण की पहचान कठिन है! यदि ये उप-जातियाँ उड़ जाएँ तो बड़ी चार जातियाँ नहीं रह सकती हैं। जो लोग इन उप-जातियों को मिटा कर चार बड़ी जातियाँ या वर्ण बना रखना चाहते हैं, उन्हें इस समस्या के इस पक्ष पर विचार करना होगा।

जातिभेद सनातन धर्म नहीं

जातिभेद का हिन्दू धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आज समाजवाद, साम्यवाद और फासिज्म की तरह यह एक बिल्कुल सामाजिक प्रयोगमात्र था। यदि यह सनातन धर्म का अंग होता, तो पुष्यमित्र जैसे राजाओं को उसे तोड़नेवालों के लिए घोर दंड व्यवस्था करने की आवश्यकता न होती। अग्नि का सनातन धर्म गरमी पहुँचाना और जलाना है। उसके इस धर्म की रक्षा के लिए, आज के सनातन धर्म की रक्षा के लिए जैसे सभाएँ बनाई जाती हैं, वैसी सभा या संघ बनाने की आवश्यकता नहीं है। अग्नि के सनातन धर्म का कभी कोई नाश कर ही नहीं सकता। जिस धर्म को तोड़ा या नष्ट किया जा सकता है वह सनातन धर्म नहीं कहला सकता। सनातन धर्म तो विज्ञान के वे प्रयोगसिद्ध शाश्वत् सिद्धान्त हैं, जिनमें परिवर्तन करना मानव-शक्ति से परे है। यदि आप एक ऐसा जलयान बनाते हैं, जिसकी लकड़ी ठोस और सुदृढ़ है, जिसे वैज्ञानिक रीति से कील काँटे से लैस किया गया है, तो फिर उस पर कोई मदिरापान करे, गोमांस खाए, ईश्वर को गाली दे, वह जहाज अपने गन्तव्य स्थान पर जा पहुँचेगा। इसके विपरीत, यदि किसी जहाज में घुनी हुई लकड़ी लगाई गई है, वैज्ञानिक विषयों का पालन नहीं किया गया, तो फिर आप चाहें बड़े-बड़े वेद-मंत्र पढ़ कर, हवन-यज्ञ और पूजा-पाठ करके स्वस्तिवाचन करते हुए उसे समुद्र में डालें, किन्तु वह डूबने से कभी नहीं बचेगा। कारण यह है कि उसमें सनातन-धर्म का पालन नहीं किया गया।

अब इसी दृष्टि से वर्ण व्यवस्था पर विचार कीजिए। वर्ण व्यवस्था अपने वर्ण से बाहर के विवाह को अधर्म और पाप बताती है। परन्तु, हम देखते हैं कि संसार में कहीं ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अपने देश में लोग अपनी रुचि, स्थिति और योग्यता के अनुसार चाहें जहाँ और जिससे विवाह करते हैं। वे किसी भी शारीरिक, मानसिक या चारित्रिक दृष्टि से हिन्दुओं से हीन नहीं हैं। उन देशों में सनातन धर्म इस नाम से कोई आकाश नहीं फट पड़ता है। इतना ही नहीं, हमारे यहाँ भी प्राचीन काल में जात-पाँत तोड़ कर विवाह करनेवालों की कमी न थी। उन्हें कभी किसी ने समाज से बहिष्कृत नहीं किया और न उन अन्तर्जातीय विवाहों के कारण यहाँ कोई भूकम्प, महामारी या प्लेग आया या अनर्थ ही हुए! अब विवाह के भेद और उनकी मनोरंजक कथा सुनिए :—

अनुलोम विवाह

१. शुक्राचार्य ब्राह्मण ने राजा प्रियव्रत क्षत्रिय की पुत्री उर्जस्वती से विवाह किया।

२. श्रृंगी-ऋषि ब्राह्मण ने राजा लोमपाद की पुत्री और राजा दशरथ की गोद ली हुई पुत्री शान्ता से विवाह किया।

३. जमदग्नि ब्राह्मण ने सूर्यवंशी राजा प्रसेनजित की कन्या रेणुका से विवाह किया। इन्हीं के पुत्र परशुराम थे।

४. ऋचीक ब्राह्मण ने राजा गाधि क्षत्रिय की पुत्री सत्यवती से विवाह किया।

५. विश्वामित्र ने देवलोक की अप्सरा मेनका से शकुन्तला को उत्पन्न किया। शकुन्तला का विवाह राजा दुष्यन्त से हुआ। उनका पुत्र भरत हुआ। इसी भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतखण्ड पड़ा। (देवी-भागवत् पुराण स्कन्ध–४)

प्रतिलोम विवाह

१. राजा प्रियव्रत क्षत्रिय ने विश्वकर्मा ब्राह्मण की बेटी वर्हिष्मती से विवाह किया।

२. राजा नीप क्षत्रिय ने शुक्राचार्य ब्राह्मण की पुत्री कृत्वी से विवाह किया। उनका पुत्र ब्रह्मदत्त हुआ। इसी कुल में मुद्गल उत्पन्न हुआ, जिसके नाम पर ब्राह्मणों का मंदिगल्य गोत्र चला।

३. राजा ययाति क्षत्रिय ने शुक्राचार्य ब्राह्मण की पुत्री देवयानी से विवाह किया और उनके पाँच पुत्र हुए।

४. युमता ब्राह्मणी का विवाह एक नाई के साथ हुआ। इनके पुत्र मतंग महामुनि थे। (महाभारत-अनुशासन पर्व अध्याय २२)

५. कर्दम ऋषि की कन्या अरुन्धती का वेश्या के पुत्र वसिष्ठ मुनि से विवाह हुआ[1]। इनके पुत्र का नाम शक्तृ या शक्ति था। इसका विवाह चाण्डाल कन्या अहश्यन्ती से हुआ। इनके पुत्र पराशर थे। (लिंग-पुराण, पूर्वार्द्ध अ० ६३ और शिव-पुराण, पूर्वार्द्ध खण्ड १ अध्याय १३) पराशर ने धीवर की कन्या सत्यवती से कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास को उत्पन्न किया। वेदव्यास से कौरव और पाण्डव हुए।

यह तालिका बड़ी लम्बी की जा सकती है। यदि कोई कहे कि ये तो अपवाद हैं, सामान्य नियम तो अपनी जाति में ही विवाह करने का था। पर उसका उत्तर यह है कि मुसलमान और ईसाई यद्यपि अपने मामा, चाचा आदि निकट सम्बन्धियों से ही विवाह करते हैं। पर यदि वे कहीं बाहर दूसरी जगह भी सम्बन्ध कर लें, तो हिन्दुओं की भाँति उन्हें जाति बहिष्कृत नहीं कर दिया जाता। क्या इसका अर्थ यही निकल सकता है कि वे जात-पाँत मानते हैं ? कदापि नहीं। इसी प्रकार यह कहना कि चूँकि 'आर्य' को वेद एक वर्ण मानता है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आर्य के अन्तर्गत हैं इसलिए ये भी वर्ण हुए, हास्यजनक है। कारण यह कि, फिर ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की असंख्यक उप-जातियों को भी वर्ण मानना पड़ेगा और वर्णों की संख्या चार न कह कर चार सहस्र हो जाएँगी।

वर्ण भेद की कहानियाँ

यह बात हमें कभी न भूलनी चाहिए कि कोई धर्म, कोई ग्रन्थ मनुष्यों के लिए ही होते हैं। मनुष्य किसी धर्म के लिए नहीं। जो नियम मनुष्य समाज में सुख शान्ति की वृद्धि कर सकते हैं, वे ही धर्म कहलाने

[1] गणिकाः गर्भ सम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्त्त च कारणाम्॥
—(भविष्य पुराण, १–४२–४६)

के पात्र हैं। इसके विपरीत जिन प्रथाओं या नियमों पर चलने से समाज की हानि होती हो, वे कभी धर्म नहीं माने जा सकते। वास्तव में हिन्दू धर्म में कोई दोष नहीं है; दोष है, उसके विकृत सामाजिक ढाँचे में। अब विचारणीय विषय यह है कि इस वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दू समाज को लाभ पहुँचाया या हानि।

अन्तर्मुख होकर थोड़ा भी विचार करने से हमारी हीनता, हमारी राजनीतिक दासता और हमारी सामाजिक अधोगति का वास्तविक रहस्य प्रकट हो जाएगा। भारत अभी तक वही भारत है, जो किसी समय समस्त संसार का गुरु था। समाज रचना के सिवा हमारी और कोई भी चीज़ नहीं बदली। परन्तु; इस समाज व्यवस्था ने हमें घुन की तरह खा डाला। उसने भारत की एकता के आधार को ही नष्ट कर डाला। उसने भाई को भाई में लड़ा दिया और भाई को भाई का द्रोही बना दिया। हमारे जिस उच्च-चरित्र की किसी समय भूमंडल में धाक थी, वह नष्ट हो गयी। हमारा जीवन दु:खी हो गया है। हम कुत्ते और बिल्लियों की तरह लड़ रहे हैं।

हम लोग अपने दोषों को आप नहीं देख सकते। हम उस पैशाचिक शक्ति के चंगुल में फँसे हैं, जिसने हमारे अन्दर सामाजिक फूट और भेद उत्पन्न किए हैं और जो उस फूट तथा उन प्रभेदों को अपने नीच स्वार्थों के लिए सदा बनाए रखना चाहती है परन्तु एक निष्पक्ष व्यक्ति, जिसे हमारी समाज रचना से कुछ लेना देना नहीं, कह सकता है कि हमारे सामाजिक संगठन को छिन्न-भिन्न करनेवाला एकमात्र तत्व हमारी जात-पाँत है। यह एक ऐसी महाव्याधि है, जिसका फलाफल भारतीय इतिहास के पृष्ठों में पढ़ा जा सकता है। यह वह क्षय-रोग है, जिसने राष्ट्र को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट कर उसकी संयुक्त काम करने की शक्ति को नष्ट कर डाला है। वन के पशु तक शत्रु का सामना करने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। मेल की वह बुद्धि जो चिड़ियों और भैंसों तक में अब तक पाई जाती है, वह हम मनुष्य कहलानेवाले प्राणियों में लुप्त हो गयी है। सोचिए, उत्तर-पश्चिम की ओर से कुछ मुट्ठीभर मुसलमान आते हैं और अपने से कई गुना अधिक संख्या वाले हिन्दुओं को पराजय कर देते हैं। इसका कारण क्या है? एक विदेशी विद्वान का कथन है:—

'विभिन्न वर्णों और उपवर्णों को सदा के लिए एक दूसरे से पृथक्-पृथक् रखने का परिणाम यह हुआ है कि रंग-रूप, आकार-प्रकार और रहन-सहन की दृष्टि से हिन्दुओं का आपस में कुछ भी सादृश्य नहीं रहा। अन्य देशों के समान यह धनी और निर्धन, नगर और गाँव, स्वामी और सेवक का प्रश्न नहीं रहा। इनका अन्तर इससे भी कहीं अधिक गहरा है। किसी एक जिले या नगर को ले लीजिए। वहाँ के लोगों को देख कर आप को ऐसा नहीं जान पड़ेगा कि वे सब एक ही राष्ट्र के हैं। वे आपको विभिन्न राष्ट्रों का वरन् मनुष्य जाति के विभिन्न वंशों के समुदाय प्रतीत होंगे। जो एक दूसरे के साथ न खाते-पीते हैं और न विवाह-शादी करते हैं और जिनका संसार केवल उनकी अपनी ही छोटी-सी बिरादरी है। इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी यदि हम कहें कि जातिभेद ने भारत के अधिवासियों को दो सहस्र से भी अधिक जातियों में बाँट रखा है। इन जातियों का आपस में उससे अधिक सम्बन्ध नहीं है, जितना कि चिड़िया-घर के पशु-पक्षियों का आपस में होता है।

जो देश सामाजिक रूप से छोटी जातियों और उप-जातियों में बँटा हो, उसके भाग्य में पहले ही प्रबल आक्रमणकारी के सामने हार खा जाना स्पष्ट रूप से बदा था। यह आक्रमणकारी इस्लाम था। मुस्लिमों को एक बड़ा लाभ था। वे हिन्दुओं के विरुद्ध सब इकट्ठे हो जाते थे। इस्लाम हिन्दू धर्म से बिल्कुल उलटा है। उसका सिद्धान्त है कि सब मुसलमान भाई-भाई हैं। उसने अछूत और नीच वर्ण की बहुत बड़ी संख्या को आकर्षित किया। इस्लाम ग्रहण कर लेने पर उन लोगों की स्थिति शासकों के बराबर हो जाती थी। भारतीय मुसलमानों की संख्या इतनी अधिक होने का कारण यही है। ये अधिकांश उन हिन्दुओं के वंशज हैं, जिन्होंने विभिन्न कालों में इस्लाम ग्रहण किया था।

दाहर की घटना

सातवीं शताब्दी की बात है। सिन्ध नरेश दाहर के पिता चच्च ने अपने पण्डे, पुरोहितों के बहकावे में आकर सिन्ध के जाटों, मेड़ों और लुहाणों आदि को शूद्र ठहरा दिया था। उनके लिए घोड़े की सवारी, शस्त्र-धारण, सुन्दर वस्त्राभूषण पहनने और सेना में भर्ती होने का निषेध कर दिया था। इससे देश में बड़ी द्वेषाग्नि फैल गयी थी। अवसर पाकर जब दाहर के समय में अरब के अबुल कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया, तब दाहर ने प्रजा से देश-रक्षा के लिए लड़ने को कहा। परन्तु ब्राह्मणों ने कहा—'हम आप की विजय के लिए देवता से प्रार्थना कर सकते हैं, लड़ना हमारा काम नहीं। वैश्यों ने कहा—'हम आपसे रुपया पैसा और खाद्य सामग्री बेशक ले लीजिए, हम युद्ध करना नहीं जानते। शूद्रों ने कहा—'हमें क्या, किसी का राज्य हो? हम तो सदा दास ही बने रहेंगे। हमारा काम तो शास्त्रों ने द्विजों की सेवा ही ठहराया है।' बस, लड़ने के लिए थोड़े ही क्षत्रिय रह गए। उनमें भी आधी स्त्रियाँ थीं, कुछ बच्चे थे, कुछ वृद्ध थे और कुछ रोगी थे, जो लड़ न सकते थे। फलतः राणा की हार हुई। वह युद्ध में मारा गया। उसकी दो कन्याएँ पकड़ कर खलीफा के अन्तःपुर में पहुँचाई गयीं।[1]

मुसलमान बने

काठियावाड़ गुजरात का एक डेढ़ (अछूत) जब तक हिन्दू रहा वर्ण-व्यवस्था के ठेकेदारों ने उसे उठने न दिया। परन्तु, ज्योंही मुसलमान बन कर उसने अपना नाम नासिरुद्दीन खुशरो रखा, त्योंही उसने खिजली-वंश की सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली। हिन्दू रहते हुए, वह किसी क्षत्रिय स्त्री का स्पर्श तो दूर, दर्शन भी न कर सकता था। मुसलमान बन कर उसने राजा कर्णराव की स्त्री देवलदेवी के साथ, जिसे अलाउद्दीन ले आया था, विवाह कर लिया। उसने खिजली राजघराने की स्त्रियाँ अपने बन्धु बाँधवों में बाँट दीं। वह कुरान के ऊपर मूर्त्तियाँ रखाया करता था। पहले वह चाहता था कि हिन्दू राज की पुनः स्थापना हो। पर सवर्ण हिन्दुओं ने एक अछूत की सहायता करने से इन्कार कर दिया। इसी प्रकार मलक काफूर भी एक नीच जाति का गुजराती हिन्दू था, जो मुसलमान हो गया था।

सामाजिक वहिष्कार

सन् १९४७ में देश के विभाजन का मुख्य कारण भी जात-पाँत ही है। सन् १९४१ की बात है, मैंने स्वर्गीय श्री मुहम्मद अली जिन्ना से पूछा था कि चीन में भी मुसलमान बसते हैं और इंग्लैण्ड में भी लार्ड हेडले जैसे मुसलमान हैं। पर वे लोग कभी नहीं कहते कि अंग्रेजी या चीनी हमारी भाषा नहीं, हमारी भाषा अरबी है। नेलसन और क्रामवल हमारे महापुरुष नहीं, हमारे महापुरुष हारूँ-रशीद और गजनी का महमूद है। हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता, हमारा इतिहास, हमारे सामाजिक और राजनीतिक हित सब ईसाई अंग्रेजों से भिन्न हैं; पर क्या कारण है कि भारत में ज्योंही एक हिन्दू इस्लाम धर्म ग्रहण करता है, वह कहने लगता है कि हिन्दी मेरी भाषा नहीं, मेरी भाषा उर्दू-फारसी है, राम-कृष्ण मेरे महापुरुष नहीं, मेरे महापुरुष औरंगजेब और अबदाली हैं। मेरा इतिहास, संस्कृति, राजनीतिक और आर्थिक हित सब हिन्दुओं से अलग हैं।' इसका उत्तर देते हुए श्री जिन्ना ने कहा था, कि 'इसका कारण यह है कि इंग्लैण्ड में जब कोई व्यक्ति इस्लाम ग्रहण कर लेता है, तो उस का सामाजिक बहिष्कार नहीं कर दिया जाता। लोग उसे म्लेच्छ नहीं कहने लगते। परन्तु भारत में जब से हम मुसलमान बने हैं, हमारा पूरा-पूरा सामाजिक बहिष्कार है। इसीसे हमारी भाषा, हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारा इतिहास, हमारे सामाजिक और राजनीतिक हित, सब कुछ हिन्दुओं से अलग

[1] डा० ईश्वरीप्रसाद कृत 'मुस्लिम रूल इन इण्डिया'।

हो गए हैं। जिन शिवाजी और प्रताप को हिन्दू अपना महापुरुष समझते हैं, हम उनको अपना शत्रु मानते हैं और जिस औरंगजेब को हम अपना महापुरुष मानते हैं, उसे हिन्दू अपना शत्रु मानते हैं। जो हिन्दुओं की हार है, वह हमारी जीत है, जो हमारी हार है, वह हिन्दुओं की जीत है। इस सामाजिक बहिष्कार से ही हमारे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक हित हिन्दुओं से भिन्न हो गए हैं।

इसीप्रकार सन् १९४८ में काश्मीर राष्ट्र-संघ के विवाद में सर जफरुल्ला खाँ, पाकिस्तान के तत्कालीन विदेश मन्त्री ने कहा था कि, 'भारत में खराबी की असली जड़ हिन्दुओं का जातिभेद है। इसके कारण जीवन के प्रत्येक विभाग में मुसलमानों के साथ दुर्व्यवहार होता है।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जाति-भेद की हानियों को स्वीकार करते हुए कहा है :—

'शिवाजी के प्रयत्न से समूचे देश में एक अस्थायी उत्साह फैल गया और हमने समझ लिया कि देश संगठित हो गया। परन्तु, समूचे समाज रूपी शरीर में पड़ी हुई दरारें और छिद्र-गुप्त रूप से कार्य करते हैं। उनके कारण हम किसी उच्च आदर्श को चिरकाल तक बनाए नहीं रख सकते। वह विषमता से भरे गंगा-जमुनी समाज में समूचे भारत का विजेता बनाना चाहते थे। इसलिए वे मानो बालू की दीवारें तैयार कर रहे थे। वह असम्भव को सम्भव बनाने जा रहे थे। जात-पाँत से बुरी तरह दबे हुए, भीतर में फटे हुए तथा बिखरे हुए हिन्दू समाज का भारत जैसे विशाल महाद्वीप पर स्वराज्य स्थापित करना मानव की शक्ति से बाहर और विसर्ग के नियम के विरुद्ध है।'

सामाजिक दृष्टिकोण से हानियाँ

जात-पाँत के कारण हमने लाखों और करोड़ों अपनों को तो पराया बनाया, किन्तु हम एक भी पराए को अपना नहीं बना सके। कारण, यह कि जात-पाँत के कारण एक ब्राह्मण एक हिन्दू कहार को भी रोटी-बेटी के व्यवहार द्वारा अपने में मिला नहीं सकता, तो वह एक मुसलमान या ईसाई को कैसे अपना सकता है? आर्य समाज जैसे हिन्दू संगठनों के 'शुद्धि' आन्दोलन की विफलता का कारण यही है। अपनी इस बात को प्रमाणित करने के लिए हम दो ऐतिहासिक घटनाओं को प्रस्तुत कर रहे हैं :—

(१) बंगाल के टिपरा जिले में महीपाल या मछली बेचनेवाले मुसलमान रहते हैं। पहले वे हिन्दू कैवर्त थे। कहते हैं कि एक समय इनके निकटवर्ती एक गाँव में बहुत जोर का हैजा फैला। उससे वहाँ के सब लोग मर गए। केवल एक छोटा-सा बालक बच रहा। उस बालक पर एक कैवर्त स्त्री को दया आई। उसने बालक को लेकर पाल लिया। वह गाँव मुसलमान जुलाहों का था। जब वह लड़का कुछ बड़ा हुआ तो चर्चा होने लगी कि यह तो मुसलमान का लड़का है। इसलिए जिस स्त्री ने उसे पाला है और जो लोग उस स्त्री के साथ खान-पान कर रहे हैं, वे सब धर्म-भ्रष्ट हैं। वे सब मुसलमान हैं। कैवर्तों ने समाज के नेताओं की बड़ी अनुनय-विनय की, क्षमा माँगी, पर उनकी एक न सुनी। उनको हिन्दू समाज से ढकेल कर बाहर निकाल दिया गया। वे कुछ दिन तक प्रतीक्षा में रहे कि अब भी उन्हें हिन्दू समाज दुबारा अपनी गोद में ले लेगा। परन्तु उसको हताश होना पड़ा। फलतः आज वे कट्टर मुसलमान हैं[1]।

(२) ढाका, बंगाल, में एक लम्बा, ऊँचा, हृष्टपुष्ट, बाँका ब्राह्मणकुमार नित्य ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान करने जाया करता था। उसका मार्ग ढाका के नवाब के महल के निकट से होकर जाता था। नवाब की एकलौती बेटी झरोखे में से उसे नित्य जाते आते देखती थी। नवाब नन्दिनी का ब्राह्मणकुमार पर प्रेम हो गया। उसने अपने पिता से कहा। 'पिता ने लड़के को बुला कर अपनी बेटी से विवाह करने को कहा। पर ब्राह्मणकुमार ने एक मुसलमान युवती से विवाह करने से इन्कार कर दिया। इस पर नवाब ने अपनी बेटी

[1] भारतवर्ष में जाति-भेद, पृ० १८५।

को हिन्दू हो जाने की अनुमति दे दी। पर रूढ़िवादी पंडितों ने कहा कि किसी मुस्लिम को हिन्दू बनाने की भी आज्ञा शास्त्र में नहीं है। तब नवाब ने लड़के को मुसलमान हो जाने के लिए कहा। पर उसने इन्कार कर दिया। इस पर क्रोध में आकर नवाब ने लड़के का वध कर डालने का आदेश दे दिया।

ब्राह्मणकुमार वध स्थल में गर्दन झुकाए खड़ा है। उसके मुण्ड को रुण्ड से अलग कर डालने के लिए वधिक का खड्ग उठ चुका है। इतने में नवाब नन्दिनी लड़खड़ाती हुई कुमार के सामने आकर खड़ी हो जाती है। वह वधिक से कहती है इनका नहीं, मेरा वध करो। मैं प्रियतम के चरणों में अपना बलिदान करूँगी। यह देखकर ब्राह्मणकुमार का हृदय द्रवित हो जाता है। उसे मुसलमान नवाब की पुत्री और एक हिन्दू कन्या में गुणों की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं दीखता। वह उसे हृदय से ग्रहण कर लेता है और विवाह के लिए सहमत हो जाता है। इस पर उसे छोड़ दिया जाता है।

युवक ने अब अपने पिता से और पंडे-पुरोहितों से नवाब नन्दिनी को हिन्दू बना लेने की प्रार्थना की। पर, यह कह कर इन्कार कर दिया कि धर्म शास्त्र इसकी आज्ञा नहीं देता। तब वह युवक और युवती दोनों पुरी में पहुँचे। उन्होंने निश्चय किया कि अपने हृदयों की पवित्रता की साक्षी देकर हम जगन्नाथ जी के चरणों में विवाह बन्धन में बँध जाएँगे। पर पण्डों ने उन्हें जगन्नाथ के दर्शन न करने दिए। उन्होंने लातें और घूसों मार कर दोनों को निकाल दिया। इस पर युवक में प्रतिहिंसा की आग धड़क उठी। वह मुसलमान बन गया और उसने सम्पूर्ण बंग देश को मुसलमान बनाने का बीड़ा उठाया। इतिहास में यह काला-पहाड़ के नाम से प्रसिद्ध है[1]।

हिन्दू दूसरे अहिन्दू समाजों में खप जाते हैं और अहिन्दू हिन्दू समाज में क्यों नहीं खप पाते? इसका कारण हिन्दुओं का केवल अपनी ही जाति, वरन् उप-जाति के भीतर रोटी-बेटी व्यवहार की प्रथा के सिवा और कुछ नहीं।

अस्पृश्यता और चातुर्वर्ण्य

छूतछात जात-पाँत का एक अनिवार्य परिणाम है। जहाँ जात-पाँत है, छूतछात भी वहीं हो सकती है। जहाँ जात-पाँत नहीं, वहाँ छूतछात भी नहीं। कारण यह कि जात-पाँत के कारण प्रत्येक हिन्दू दूसरे हिन्दू के लिए अछूत है। अन्तर केवल अछूतपन के अंश में है। कोई कम अछूत है और कोई अधिक। एक हिन्दू के यहाँ आप दाल-भात खा सकते हैं, पर बेटी व्यवहार नहीं कर सकते। इसके आगे, दूसरे हिन्दू के यहाँ बेटी व्यवहार तो दूर, आप दाल-भात भी नहीं खा सकते। केवल पकवान खा सकते हैं। उसके बाद ऐसे हिन्दू हैं, जिनके यहाँ आप पकवान भी नहीं खा सकते। इस प्रकार अस्पृश्यता का विष सारे हिन्दू समाज में व्याप्त है। जिन्हें आज अछूत कहा जाता है, वे तो समाज रूपी शरीर का वह अन्तिम सिरा या अंग हैं, जहाँ यह अस्पृश्यता-रूपी कोढ़ नासूर के रूप में फूट कर बह रहा है। इसलिए, जो लोग वर्ण -व्यवस्था को बनाए रख कर छूतछात को दूर करना चाहते हैं, वे रोग के मूल को न काट कर केवल उसके बाह्य लक्षणों को ही दूर करने का विफल प्रयास कर रहे हैं।

श्री अमृतलाल बी० ठक्कर हरिजन सेवक संघ के प्रधान मन्त्री थे। उनका अधिकांश जीवन हरिजन सेवा में ही बीता था। वे अपने संघ की १९३२–३३ की रिपोर्ट के पृष्ठ ११ पर लिखते हैं :—

'किन्तु भारत में आज जो अस्पृश्यता प्रचलित है, यद्यपि उसका सम्बन्ध मैले काम करने और मैला भोजन खाने के साथ जोड़ा जाता है, तो भी यह इसका आधार नहीं। एक संस्था के रूप में अस्पृश्यता जाति-भेद का ही एक तर्क संगत परिणाम है। यह जाति-भेद हिन्दुओं की सामाजिक रचना रूपी शरीर का एक अंग

[1] राष्ट्र मीमांसा : लेखक, सावरकर ; सम्पादक, नाथूराम शुक्ल, पृ० १११–११२।

प्रतीत होता है। इसलिए वर्तमान जाति-प्रथा के उन्मूलन या कम-से-कम रूपान्तर के बिना अस्पृश्यता पूर्ण रूप से मिटाई नहीं जा सकती।'

जात-पाँत के रहते अस्पृश्यता का अन्त असम्भव है। और जात-पाँत को मिटाने के लिए कुछ भी नहीं किया जा रहा है। कदाचित् इसीसे हताश होकर भारत के प्रतिरक्षा मन्त्री श्री वी० के० कृष्णन् मेनन ने आचार्य कृपलानी के अंग्रेजी-पत्र 'विजिल' में हाल में लिखा है कि 'मेरे विचार में ये असहाय लोग, अछूत, सामूहिक रूप से धर्मान्तर द्वारा ही सुरक्षित रह सकते हैं। यदि ये लोग ईसाई धर्म ग्रहण कर लें, तो ईसाई मिशनरी उन्हें बचा सकेंगे। औरइस प्रकार यदि वे मुसलमान हो जाएँ, तो मुसलमान उनकी रक्षा कर सकते हैं।'

अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने बंगाल की एक घटना लिखी है। वे लिखते हैं:—

'एक डाक्टर ने एक हरिजन नवयुवक को पाट के खेत में गीत गाते सुना। डाक्टर को मालूम था कि नवयुवक हरिजन है। उसने पहले कभी उसे गीत गाते न सुना था। डाक्टर ने आश्चर्य से उससे पूछा—'आज तेरी इतनी प्रसन्नता का क्या कारण है कि गाना गा रहे हो?' नवयुवक ने उत्तर दिया—'डाक्टर बाबू मैं अनाथ था। सब कहीं ठुकराया जाता था। मैं नाइयों को पैसा देता था, पर वे हजामत बनाने के लिए तैयार न होते थे। यही बात 'धोबियों की भी थी। परन्तु एक मौलवी साहब की कृपा से मेरी दशा बिल्कुल बदल गयी। उन्होंने नाई से मेरी हजामत बनवाई, नए कपड़े दिए और मैंने इस्लाम ग्रहण कर लिया। मैं मस्जिद में प्रविष्ट हुआ। वहाँ धनी-निर्धन का कोई भेद न था। मुसलमानों में मुझे अपने बराबर समझा। अब मैं संसार में किसी से कम नहीं। अब मैंने एक नया जीवन पाया है, यही कारण है कि आज मैं आनन्द-विभोर हो झूम झूम कर गा रहा हूँ।'

श्री कृष्णन् मेनन ने जिस अप्रिय सत्य को कहने का साहस किया है, उससे हमें उनसे रुष्ट होने की अपेक्षा उनसे शिक्षा लेने की आवश्यकता है। इसी जात-पाँत के दुःख से आज सहस्रों नही, लाखों की संख्या में भारत की दलित, पीड़ित और अस्पृश्य जनता हिन्दू धर्म को शत-प्रतिशत अभिशापित करती हुई, बुद्ध-धर्म की शरण में जाने पर विवश हुई। अछूतों और शूद्रों को अपनी दरिद्रता उतनी नहीं खलती, जितनी कि सवर्ण हिन्दुओं द्वारा पग-पग पर होनेवाला उनका सामाजिक तिरस्कार। निर्धन और कंगाल मुसलमानों में भी हैं। भारत में ही नहीं, अपितु, मिस्र, अरब, फारस आदि दूसरे मुस्लिम देशों के भी सभी अधिवासी लखपति नहीं हैं। किन्तु वहाँ ईसाई पादरियों को रुपए के बल से सफलता नहीं होती है। भारत का दलित समाज ही क्यों रुपए से धर्म परिवर्तन कर रहा है?

सवर्ण हिन्दू वर्ण व्यवस्था का स्तोत्र गान करते हुए इसके पक्ष में सैकड़ों बातें बना सकते हैं। परन्तु दलित शूद्र उनसे इपिक्टेटस के शब्दों में पूछता है, 'हमारे स्वामी बने रहने में आप का तो हित हो सकता है, परन्तु आपका दास बने रहने में हमारा क्या हित है?'

कांग्रेस सरकार अछूतों को सरकारी नौकरियों और विधान सभाओं में विशेष सुविधाएँ देकर अस्पृश्यता को दूर करने का यत्न कर रही है। वह समझती है कि उनकी आर्थिक दशा उन्नत हो जाए उससे ही अछूतपन का अन्त हो जाएगा। यदि सामाजिक विषमता या जात-पाँत को दूर करने पर बल न दिया जाएगा तो इसका फिर वैसा ही भयंकर परिणाम होगा जैसे कि मुसलमानों को उनकी संख्या के अनुपात से बहुत अधिक राजनीतिक अधिकार तथा सुविधाएँ देनी पड़ीं। परन्तु हिन्दू और मुस्लिम के बीच की सामाजिक खाई को पाटने के लिए कुछ न करने का परिणाम पाकिस्तान के रूप में हुआ। दुर्बल, अपढ़, दरिद्र व्यक्ति को आप चाहें गाली दे लें, या उसके मुँह में थोड़ी-सी मिठाई डाल देवें, वह यह सब अपमान चुपचाप सहन कर लेगा। अज्ञानी और दबा होने के कारण वह स्वाभिमान से शून्य हो चुका है, परन्तु जागरूक और स्वाभिमानी और आत्म सम्मान की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर देता है। स्वर्गीय डा० अम्बेदकर ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए एक उदाहरण दिया था। उन्होंने कहा था कि एक भंगिन, गंदी नालियों और सँड़ास साफ करके कठिनाई से पाँच

सात रुपए मासिक कमाती है। उसके कपड़े फटे पुराने और खाना रूखा सूखा होता है। पर यदि वह वेश्या बन जाए, तो वह बढ़िया पलंग, सुन्दर वस्त्राभूषण और षटरस भोजन सहज में पा सकती है। पर, क्या उस वेश्या का जीवन उस गरीब भंगिन से अधिक सम्मानयुक्त समझा जाएगा? कदापि नहीं!

आत्म सम्मान की जागृति

यदि छूतछात की जननी जात-पांत को समाप्त न किया गया और अछूतों की आर्थिक और शैक्षणिक अवस्था को ही उन्नत करने पर सारा बल दिया गया तो इस का परिणाम भयंकर हो सकता है। हमारा यह अनुमान निराधार नहीं है। हाल में मद्रास और उत्तर-प्रदेश में ऐसी घटनाएँ घटी हैं, जो हमारे कथन का समर्थन करती हैं।

लखीमपुर जिले के अन्तर्गत मछरेहटा के पड़ोस के एक छोटे से ग्राम में एक पासी-अछूत के घर में सत्यनारायण की कथा थी। पंडितजी ने पासी के घर में कथा बाँचने के लिए स्वीकार कर लिया। कथा के उपरान्त पासी ने पंडितजी से अपने घर में पूड़ी खाने के लिए निवेदन किया। ब्राह्मण ने आनाकानी की। इस पर पासी ने ब्राह्मण का सिर काट लिया और उसे खाट पर लिटा दिया।

उसी गांव में एक ठाकुर के यहाँ तिलक था। पंडित की पर्याप्त प्रतीक्षा करने के उपरान्त ठाकुर (राजपूत) पासी के यहाँ उन्हें बुलाने पहुँचा। पासी ने बताया कि पंडित जी घर में लेटे हैं। चल कर बुला लीजिए। ठाकुर ने भीतर जाकर लाश देखी। इसी बीच में पासी ने दरवाजा बन्द कर तलवार ले खड़ा हो गया और ठाकुर को ललकार बैठा। हमारे यहाँ खाना खाओ, नहीं तो तुम्हारी भी यही गति होगी। "ठाकुर ने खाना खा लिया और अपने घर लौटा। घर से उस ने बन्दूक ली और पासी को सपरिवार समाप्त कर दिया। घर में तिलक चढ़ाने के बाद ठाकुर स्वयं थाने में उपस्थित हो गया।[1]

इसी प्रकार की एक दूसरी घटना है। बस्ती जिला के देवरिया ग्राम के चमारों ने ग्राम के एकमात्र ब्राह्मण पर जोर दिया कि वह अपनी वयस्क लड़की का किसी चमार से विवाह कर दे। अन्यथा, गांव के चमार स्वयं ही उस का विवाह किसी योग्य चमार नवयुवक के साथ कर देंगे। यह सुनकर ब्राह्मण रातों-रात ग्राम छोड़ कर चलता बना। रास्ते में उसे राजपूत जाति के डाकुओं ने आ घेरा। भयभीत ब्राह्मण ने उन्हें अपनी दुःख पूर्ण वार्ता कह सुनायी। इस पर डाकुओं ने ब्राह्मण के अपमान का बदला लेने के लिए ग्राम में जाकर हरिजन से बारात लाने के लिए कहा। जब बारात आयी, तो डाकुओं ने वर का सिर काट लिया और ४७ बारातियों को गोलियों से उड़ा दिया।

दूसरी एक घटना हरदोई जिले के दीपावली गांव में हुयी। कहा जाता है कि ग्राम के हरिजनों के यहाँ सत्यनारायण की कथा का आयोजन था। कथा की समाप्ति पर जब कथावाचक ब्राह्मण और नाई से प्रसाद लेने के लिए कहा गया तो उन्होंने चमारों के हाथ का खाने से इन्कार कर दिया। इस पर उन दोनों का वध कर डाला गया। ब्राह्मण के बड़े भाई को जब इस का पता लगा तो उस ने क्रोध में आकर बन्दूक से पन्द्रह चमारों की हत्या कर डाली।[2]

लंदन में भारतीयों को अंग्रेज जब अपने होटल में टिकने नहीं देते, दक्षिण अफ्रीका में जब गोरे हिन्दुओं को अपने मुहल्लों में बसने नहीं देते, अमेरिका में जब भारतीयों को सिनेमा घरों में में नहीं जाने दिया जाता, तो हम लोग इसे अपना अपमान समझ कर तिलमिला उठते हैं। इसी प्रकार अपने घर में सवर्णों के खाना खाने से इन्कार करने पर चमारों का अपना अपमान समझना स्वाभाविक है। यह ठीक है कि इस समय

[1] स्वतन्त्र भारत, १८ मई, १९५८

[2] प्रताप, जालंधर, १९ जून, १९५८

राजपूतों और ब्राह्मणों का अछूतों पर दबदबा छाया है। परन्तु अछूत सुप्त अवस्था में एक असीम शक्ति है। जब वह जाग उठेगी और उन में प्रतिहिंसा की आग भड़क उठेगी, तो देश में एक ऐसा गृह युद्ध आरम्भ हो जाएगा, जो समूचे राष्ट्र का नाश कर देगा। युग-धर्म पुकार-पुकार कर कह रहा है—

अय, खाक नशीनो उठ बैठो,
वह वक्त करीब है, आ पहुँचा।
जब तख्त गिराए जाएँगे,
तब ताज उछाले जाएँगे।

अध्यापक वाडिया ने ठीक ही लिखा है कि जातिभेद के अत्याचार के कारण उपनिषदों का उच्च ब्रह्मज्ञान और गीता की आधार नीति केवल बातें ही बातें रह गयीं हैं। भारत बल तो देता है समूचे जड़ और अचेतन जगत की एकता पर; किन्तु उस ने पोषित किया है, ऐसी समाज रचना को जिस ने उसके बच्चों को शताब्दियों से अलग-अलग कोठरियों में बन्द कर दिया है। इसी समाज रचना के कारण उस को विदेशी आक्रमणों से हारें खानी पड़ी हैं। उन से यह दरिद्र और दुर्बल हो गया है। सब से बुरी बात यह है कि इस समाज रचना ने भारत में ऐसे मनुष्य उत्पन्न कर दिए हैं जो अस्पृश्य माने जाते हैं, जिन्हें देखने से ही हिन्दू अपवित्र हो जाता है। इस ने 'भारत में भाई को भाई का हत्यारा बना दिया है।

जात-पाँत और सवर्ण

जात-पांत से शूद्र एवं अछूतों की दुर्दशा तो हुई ही है, पर स्वयं सवर्णों की भी कुछ कम हानियां नहीं हुईं। शूद्र तो सवर्णों के राजत्वकाल में भी गुलाम थे और विदेशियों के राजत्वकाल में भी। यदि जात-पांत के कारण स्वतंत्रता और प्रभुता छिनी है तो सवर्णों की भी छिनी है। वे भी स्वामी से दास बने हैं। अब भी यदि फिर देश पराधीन हुआ, तो सवर्णों को ही प्रधान मन्त्री, राष्ट्रपति, और राज्यपाल के पदों से वंचित होना पड़ेगा। शूद्र तो जो कुछ पहले थे, वही रहेंगे।

सुप्रजनन शास्त्र की दृष्टि से जात-पांत के कारण अपनी ही जाति में विवाह करते रहने से, सारे हिन्दू समाज की घोर हानि हुई है। बाहर का विभिन्न रक्त न मिलने से सदा एक ही रक्त में विवाह होते रहने से, मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। पूर्ण मनुष्य वह है जिस का मस्तिष्क, बाहु, उदर और पैर सभी उचित अनुपात में पुष्ट और उन्नत हों। जिस का सर कद्दू के समान बड़ा हो, परन्तु भुजाएँ सरकंडे के समान पतली, अथवा जिस की भुजा लोहे की लाठ के समान सुदृढ़ है, परन्तु सिर गेंद जैसा छोटा है, अथवा जिस का पेट तो कुप्पा सा, परन्तु पैर सूखे हुए हैं, आप उसे पूर्ण मनुष्य नहीं कह सकते हैं। जात-पांत के कारण हमारा ब्राह्मण जहाँ विद्वान है, वहाँ साथ ही वृथाभिमानी भी बन गया है। क्षत्रिय जहाँ लड़ाकू है, वहाँ साथ ही अदूरदर्शी और घमंडी भी है। वैश्य जहाँ धनोपार्जन में निपुण है, वहाँ साथ ही पहले दर्जे का कायर और लालची है। फिर शूद्र का तो कहना ही क्या? वह श्रम तो कड़े से कड़ा कर सकता है, पर बुद्धि की दृष्टि से निम्न-स्तर के पशुओं के समान है। इस जात-पाँत ने जहाँ ऐसे ब्राह्मण उत्पन्न कर दिए हैं, जो लकड़ी धोकर जलाते हैं, वहाँ भंगी भी ऐसे उत्पन्न कर दिए हैं जो एक हाथ में टट्टी साफ करते हुए, दूसरे हाथ से रोटी खाते जाते हैं। समाज के प्रतिकूल विभाग, जो विकास की दृष्टि से विभिन्न स्तरों पर हैं, लोकतन्त्र को विफल बना देते हैं। जात-पांत के रहते हुए लोकराज कभी सफल नहीं हो सकता है। हमारे राजपूत लड़ना और मारना जानते हैं, पर पर लड़ाई जीतना नहीं। हमारे ब्राह्मण वेद वक्ता पंडित थे, पर देश की रक्षा का उपाय न कर सकते थे। पश्चिम से मुट्ठी भर उजड्ड मुसलमान उठते थे और इन ब्रह्मज्ञानी, वेदज्ञ ब्राह्मणों और बांके-राजपूतों को मार-पीट कर उनसे बहू बेटियाँ ले जाते थे। अंग्रेजों ने पहले उत्तर प्रदेश के पुरबियों की सेवा से पंजाब के सिखों को जीता और फिर सन् १८५७ के विद्रोह में उन्हीं सिखों की सेना लेकर पुरबियों को हराया। तात्पर्य यह कि

वही सेना जीतती थी, जिस का सेनापति अंग्रेज होता था। कारण, यह कि अंग्रेजों में कोई जात-पांत न होने से सब प्रकार के लोगों का आपस में रक्त मिश्रण होता है। वहाँ एक मनुष्य में ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब के गुण रहते हैं। इसलिए आज जो वहाँ पादरी हैं, वही कल सेनापति बन कर युद्ध का संचालन भी सफलतापूर्वक कर सकता है। जो सेनापति है, वह कल सफल व्यापारी बन सकता है, पर भारत के हिन्दू में यह बात नहीं।

वर्णसंकरता का भय

वर्ण संकरता का हौआ भी व्यर्थ है और निराधार है। अमेरिका में संसार की सभी जातियों के लोग आपस में घुलमिल गए हैं। क्या वे हिन्दुओं से कम विद्वान, कम बलवान, घटिया राजनीतिज्ञ, घटिया व्यापारी और दुर्बल मजदूर उत्पन्न होते हैं। ग्रेट ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल, जिन्हों ने गत् महायुद्ध जीता, इंगलेंड के वर्तमान प्रधान मन्त्री श्री मैकमिलन, बेतार के तार के अन्वेषक मारकोनी, प्रसिद्ध विचारक आल्ड्स हक्सले तथा जुलियन हक्सले, सर आर्थर केनन डायल, फ्रांस के अलेकजेंडर ड्यूमा जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति अन्तर्जातीय विवाहों की ही सन्तानें हैं। हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों में भी वशिष्ठ, परासर वेदव्यास, परशुराम आदि सभी विख्यात विभूतियाँ वर्णसंकर सन्तानें थीं। प्रकृति में भी हम देखते हैं कि दो भिन्न-भिन्न जातियों के नर-मादा के मिलाप से जो संतान होती हैं वह अपने माता-पिता दोनों की जाति से अधिक बलवान होती हैं। खच्चर गधा और घोड़ा—दोनों से अधिक बलवान होता है। जामनगर के राजा रणजीतसिंह ने एक सिंह और बाघिन के मिलाप से एक बच्चा उत्पन्न कराया था। उस का नाम उन्होंने 'सिबाघ' रखा। वह इतनी प्रचण्ड-शक्ति रखता था कि 'उसे पिंजड़े में बन्द रखना कठिन हो गया था।

वास्तव में बात यह है कि स्त्री और पुरुष चाहे दो किन्हीं विभिन्न जातियों के हों, एक चाहे स्कन्डीनेविया का हो और दूसरा अफरीका का नीग्रो। यदि वे दोनों संस्कृति की दृष्टि से एक ही धरातल पर हैं, तो उन के आपस में विवाह करने से सन्तान कभी घटिया नहीं होगी।

विषाक्त उपदेश

शोषित एवं दलित शूद्र को शान्त रखने के लिए आज तक धर्मोपदेशक यही उपदेश करते रहे हैं कि तुम्हारा यह जन्म ईश्वर ने तुम्हारे पूर्व-जन्म के पाप कर्मों के अनुसार दिया है। इस जन्म में तुम सुकृत करोगे, अपने शूद्र धर्म का पालन करोगे, तो अगले जन्म में भगवान् तुम्हें द्विज बना देंगे। तुम्हें इस जन्म में द्विज के विरुद्ध विद्रोह नहीं करना चाहिए। इस विषाक्त उपदेश के परिणामस्वरूप इस देश में कोई सामाजिक, क्रान्ति नहीं हो सकी। भक्तजन भगवान के सामने प्रार्थनाएँ कर, माथा रगड़ कर, नाम घिस कर ही अगले जन्म में शूद्रता के नरक से निकलने की आशा में शान्त बैठे रह गए। इस शोषित तथा दलित मानवता के संबन्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक इंगरसोल के ये शब्द में याद रखने चाहिए।

'यदि हम यह स्वीकार कर लें कि किसी अनन्त-शक्ति का व्यक्तियों और जातियों के भाग्य निर्माण में हाथ है, तो सारा इतिहास एक अत्यन्त निर्दय और रक्तमय नाटक का रूप धारण कर लेता है। युग के बाद युग प्रत्येक युग में शक्तिशाली ने दुर्बल को अपने पांव तले रोंदा है, धूर्तों और निर्दयी मनुष्यों ने सरल तथा अबोध मनुष्यों को अपना दास बनाया है और मानव जाति के इतिहास में कभी किसी परमात्मा ने दलितों की सहायता नहीं की।'

'मनुष्यों को अब किसी भगवान से आशा छोड़ देनी चाहिए। अब उसे जान लेना चाहिए कि भगवान के न कान हैं, जिन से वह सुन सके और न उस के हाथ ही है, जिन से वह किसी की सहायता कर सके। वर्तमान अतीत की अवश्यम्भावी उपज है। अकस्मात् न कभी कुछ हुआ और न हो ही सकता है।

श्री इंगरसोल का कथन सत्य ही है। इतिहास एक अविच्छिन्न क्रिया हैं। आप भूत को वर्तमान म और वर्तमान को भविष्य म जाने से रोक नहीं सकते, किसी अगले काल में जात-पांत अपने आप नहीं मिट

जाएगी। यदि हम चाहते हैं कि भारत की आनेवाली पीढ़ियाँ इस क्षय-रोग का शिकार न हों, तो हमें अपन वर्तमान को इस महारोग से मुक्त करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। हताश होने की कोई बात नहीं है। सफलता अवश्यम्भावी है। इस बुराई के साथ निरन्तर युद्ध करने की आवश्यकता है।

कदम चूम लेती है खुद आ के मंजिल।
मुसाफिर अगर आप हिम्मत न हारे॥

जात-पाँत का भेद कैसे मिटे ?

प्रश्न यह है कि जात-पांत का भेद कैसे मिटे ? वे कौन से उपाय हैं ? वर्ण व्यवस्था को श्रम-विभाग कहना गलत है। यह तो श्रमिक विभाग है। इस में व्यक्ति की योग्यता, रुचि, बल, बुद्धि का विचार न करके किसी को पढ़ने पढ़ाने और किसी को सदा के लिए टट्टी साफ करने का काम दे दिया गया है। जिन लोगों को आरम्भ में अच्छे, साफ और लाभदायक काम मिले, उन्हों ने इस को अपना इजारा बना दिया। उन्होंने स्मृतियाँ बना कर ऐसे अधिनियम चला दिए, जिन से दूसरा कोई उन कार्यों को न कर सके। इन अधिनियमों को भंग करने वालों को पुष्प-मित्र जैसे राजा कठोर दंड दिया करते थे। ब्राह्मण पेशवाओं के समय में शूद्रों को गले में एक मटकी बांध कर और बगल में झाड़ू लटका कर चलना पड़ता था, ताकि थूकना हो तो मटकी में थूकें और झाड़ू से अपने पद चिन्हों से मिटाते जाएँ। कारण यह कि थूंक और पद चिन्हों पर ब्राह्मण का पैर पड़ जाने से ब्राह्मण अपवित्र हो जाता था। वेद-मन्त्र उच्चारण करने पर शूद्र की जीभ काट डालने और श्रुति कान में पड़ जाने पर काम में पिघला हुआ सीसा भर देने का विधान कथित धर्म ग्रन्थों में डाल दिया गया था। इतनी कड़ी पाबंदियाँ लगाने और घोर दंडों का विधान करने पर भी बारहबी शताब्दी तक जातियाँ न बन सकी थीं। कायस्थ जाति सन् १८४६ तक न बनी थी। काश्मीर का राजा ललितादित्य अपने अमात्यों को आदेश देता हुआ कहता है :—

अन्योन्योद्वाह सम्बन्धैः कायस्थाः मंहता यदि।
तदा विः संशयं क्षेयः प्रजाभाग्यविपर्ययः॥

अर्थात् परस्पर विवाहों द्वारा कायस्थ, छोटे राजकर्मचारी, यदि संहत हो जाएँगे तो निःसंशय प्रजा का दुर्भाग्य होगा।

इस से स्पष्ट है कि तब तक कायस्थ जात न बनी थी, पर उस के लक्षण प्रकट हो रहे थे। उन मेधावी लोगों को अनिष्ट आशंका होने लगी थी।

भगवान् बुद्ध का उपदेश है और हितकर उपदेश है :—

मनुष्य को अपना दीपक आप बनना चाहिए। उसे किसी बात को इसलिए नहीं करना चाहिए कि वह **किसी धर्म ग्रन्थ में लिखी है** या किसी गुरु ने कही है या दूसरे लोग ऐसा करते हैं या हमारे पुर्खे उसे मानते आए **हैं। वरन् उसे सोच कर** देखना चाहिए कि वह बात हितकर है या अहितकर। यदि अपनी बुद्धि से वह **हितकर प्रतीत हो तो उसे करना चाहिए,** नहीं तो छोड़ देना चाहिए।[1]

जात-पाँत क्यों नहीं टूटी ?

यहाँ प्रश्न उठता है कि जब बुद्ध से लेकर रामानुज, कबीर, वसवेश्वर, नानक, रैदास, गांधी और **जवाहरलाल नेहरू तक अनेक लोगों और** ब्रह्म-समाज, आर्य सामाज, प्रार्थना समाज, सत्य शोधक समाज, **तथा राधा स्वामी सत्संग आदि संगठन** जात-पांत पर कुठाराघात करते आए हैं, तो अब तक इसका अन्त क्यों

[1] **गौतम-धर्म सूत्र १२-४ और ब्राह्म सूत्र, शांकर भाष्य—१ १०३, अध्याय ६ सु. ३८**

नहीं हुआ ? इसका उत्तर यह है जिन साधु महात्माओं ने जाति-पांत की निंदा की है, वे अधिकतर विकृति मार्ग पर ही बल देते रहे हैं। वे इस संसार को तुच्छ बता कर इस की उपेक्षा करते रहे हैं कि परमात्मा के सामने अगले लोक में सब बराबर हैं वहाँ जात-पांत नहीं। परन्तु इस लोक में तो ऊँच-नीच की सीमाएँ बनी ही रहेंगी। उन्होंने इस संसार के व्यवहार में जात-पांत मिटाने पर विशेष बल नहीं दिया। दूसरे आर्य समाज और राधास्वामी सत्संग जैसी संस्थाओं ने छोटे-छोटे दूसरे अगणित काम हाथ में ले रखे हैं। इसलिए वे संस्थाएँ जात-पांत को मिटाने पर पूरा बल नहीं दे सकीं।

तीसरे यह है कि बुद्ध तथा नानक और दयानन्द सब ने वर्गों की बांट को मिटाने के लिए नहीं, वरन् वर्ण को जन्म के स्थान में गुण-कर्म से मानने को कहा। पर यह बात कार्यतः असम्भव है। इसलिए यह बांट जन्म से ही बनी रही। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चमार, भंगी आदि नामों के साथ ऊँच-नीच का जो दूषित भाव युग युगान्तर से लगा चला आ रहा है, उसे दूर करना सम्भव नहीं हुआ। इसलिए विष मिश्रित अमृत की भांति ये नाम भी त्याज्य हो गए हैं। इन को धराधाम से मिटा देना ही हितकर हैं। इन को रखते हुए समाज में समता का भाव न आ सकता है और न समाजवादी ढंग का समाज ही बन सकता है।

चौथी बात यह है कि जिन ग्रंथों ने अछूतों की सब से अधिक हानि की है, वे अछूत अपढ़, दरिद्र, दुर्बल एवं शोषित थे। स्मृतिकारों ने उन की आत्मा में जोंक लगा रखी थी। वे कथित उच्च वर्णों के अत्याचार के विरुद्ध संगठित होकर खड़े न हो सकते थे। उन के पास ईसाई या मुसलमान होने के सिवा उस सामाजिक दासता में छुटकारा पाने का और कोई उपाय न था। पर अब परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। अब जन-जागरण हो रहा है। क्या सवर्ण और क्या अवर्ण सभी वर्ण व्यवस्था की हानि और निःसारता को समझने लगे हैं।

पुराने समय में हिन्दुओं को विभिन्न जातियों का खान-पान, रहन सहन, शिक्षा-दीक्षा और काम धंधा एक दूसरे से बिलकुल अलग था। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण केवल संस्कृत पढ़ते, पूजा पाठ करते और शाकाहारी थे। क्षत्रिय शिकार खेलते थे। बनिए दूकानदारी करते थे और शूद्र मजदूरी करते थे। परन्तु अब यह बात नहीं है। अब सभी जातियों के बालकों की शिक्षा-दीक्षा एकसी है। ब्राह्मण क्षत्रियों के लिए बनियों और शूद्रों से कोई अलग स्कूल नहीं है। आज ब्राह्मण दूकानें करते हैं, बनिए सेना में कप्तान और मेजर हैं। शूद्र कालिजों में संस्कृत के प्रोफेसर हैं, सभी जातियों के लोग वकील, डाक्टर और न्यायाधीश हैं। अनेक ब्राह्मण और बनिए मांसाहारी हैं और अनेक क्षत्रिय और शूद्र मांस को छूते तक नहीं हैं। इसलिए पूर्व काल में अन्तर्जातीय विवाह के मार्ग में जो सांस्कृतिक भेदभाव की रुकावटें थीं वे अब दूर हो चुकी हैं। अब जात-पांत को मिटाना उतना कठिन नहीं, जितना आज से सौ वर्ष पहले था।

जात-पाँत को मिटाने के कुछ उपाय

जात-पाँत केवल उसकी निन्दा करने से ही न मिट सकेगी। इसकी जड़ हिन्दू समाज में गहरी जमी हैं। नवीं शताब्दी में काबुल में पालवंश के हिन्दू राजे राज्य करते थे। हा, हन्त !! आज अमृतसर के आगे लाहौर में भी हिन्दुओं का नामोनिशां मिट गया। हिन्दुओं ने अपनी माँ बहनें और बेटियाँ तक लुटवाना स्वीकार किया। देश का विभाजन करा लिया, परन्तु जात-पाँत तोड़ कर एक बनने को तैयार न हुए। इससे स्पष्ट है कि रोग बहुत गहरा घर कर चुका है। इसे दूर करने के लिए किसी कड़वी और सख्त दवा की जरूरत है। जब भी जात-पाँत को दरवाजे के रास्ते से बाहर ढकेला जाता है, यह खिड़की के रास्ते फिर भीतर घुस आती है। यह भेष बदल कर छिप जाती है। और सुअवसर आते ही फिर आ धमकती है। जात-पाँत को मिटाने के लिए हमारे निम्नलिखित सुझाव हैं :—

१. स्कूलों और कालिजों की पाठ्य पुस्तकों के द्वारा अगली पीढ़ी के लिए जात-पाँत सम्बन्धी भावना को नष्ट किया जाए। जात-पाँत की हानियाँ समझाने के लिए छोटी छोटी पुस्तिकाएँ वितरित की जाएँ।

२. जिन पुरानी पोथियों में जात-पाँत का विष भरा है, उन्हें या तो बिल्कुल नष्ट कर दिया जाए या उनके संशोधित संस्करण ही आगे छपने दिए जाएँ। इस्लाम को आप बेशक बुरा कहें, पर उसकी नीति बड़ी सफल और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई है। मुसलमान जिस जगह इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे, वहाँ के लोगों के धर्म ग्रन्थों, उनके धर्म के स्मारक चिह्नों और विद्वान प्रचारकों को नष्ट कर डालते थे। बस, इससे जिस चीज को मुसलमान हानिकारक समझते थे, उसका अन्त हो जाता था। हिन्दुओं के जो ग्रन्थ जात-पाँत का पोषण कर समाज को रसातल को पहुँचा रहे हैं जिनके कारण हिन्दू समाज संसार में लुप्त होता जा रहा है, उन विष बेलियों को बनाए रखने से क्या लाभ है? गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में लिखा है :—

पूजिए विप्र शील गुन हीना, शूद्र न पूजिए ज्ञान प्रवीना ।।

और पराशर स्मृति (८–३३) कहती है :—

'ब्राह्मण दुश्चरित्र भी हो तब भी पूजने योग्य है।'

शूद्र चाहे जितेन्द्रिय हो, तब भी पूज्य नहीं, क्योंकि ऐसा कौन है जो दुष्ट गो को छोड़ कर सुशीला गधी को दुहेगा?

इन निर्देशों से समाज में क्या हित हो सकता है? इन निर्देशों के साथ उन स्थानों का भी ध्वंस कर दिया जाए, जो सवर्ण और अवर्ण का भेदभाव बनाए रखने और वर्ण-व्यवस्था के स्मारक चिह्न हैं।

किसी वस्तु की उपयोगिता और अनुपयोगिता का विचार किए बिना प्रत्येक वस्तु को, उसके पुराना होने के कारण ही, छाती से लगाए रखना हितकर नहीं हो सकता। निसर्ग में हम देखते हैं कि पुराने पत्ते झड़ते और उनका स्थान नए लेते रहते हैं। पुराना जराजीर्ण शरीर नष्ट हो जाता है और उसके स्थान में आत्मा नया शरीर धारण कर लेती है। जो मनुष्य मृत शव से चिपटा रहता है, वह आप भी निर्जीव हो जाता है। इन वर्ण व्यवस्था की प्रचारक युगबाह्य, गतप्रयाण, गली-सड़ी पोथियों और संस्थाओं के नाश से समाज की कोई विशेष हानि नहीं होगी। इसका स्थान ले लेने के लिए नए और अधिक उपयोगी ऐसे ग्रन्थ तथा संस्थाएँ बन जाएँगी, जिनसे समाज का उपकार होगा।

३. अपनी जाति के भीतर आगे जो भी विवाह हों, उन्हें अवैध ठहराया जाए। जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व पहले अपनी जाति से बाहर होने वाले विवाह अवैध ठहराए जाते थे। इस समय हिन्दू को केवल अपनी ही एक जाति या उप-जाति में विवाह करने की अनुमति है। यहाँ बताए हुए उपाय से केवल अपनी एक जाति में विवाह का निषेध और शेष सब में विवाह की स्वतन्त्रता हो जाएगी। सहस्त्रों वर्ष से अपनी ही जाति में विवाह होते रहने से सारी की सारी जाति का रक्त एक हो गया है। इसलिए अपनी जाति में होने वाला विवाह एक प्रकार से बहन-भाई का या अपने ही रक्त में विवाह है। जैसे स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए बहुत से लोगों को अपने प्राणों तक से हाथ धोने पड़ते हैं, उसी प्रकार जात-पाँत को मिटाने के लिए यदि कुछ लोगों को कष्ट भी सहन करना पड़े, तो उसे सहन करना ही उचित है। जिस प्रकार अपनी सगी बहन और चाचा मामा की लड़की के साथ वासनात्मक प्रेम पाप समझा जाता है, वैसे ही अपनी जाति की लड़की के साथ प्रेम भी हो जाए, तो भी उसे अनुचित समझा जाए और उस विवाह को कानून से निषेध कर दिया जाए। यह निषेध उन मिश्रित विवाहों से उत्पन्न होनेवाली सन्तानों की दूसरी पीढ़ी में अनावश्यक हो जाएगा। यदि अपनी जाति के भीतर होनेवाले विवाह को अवैध नहीं ठहराया जाएगा और अन्तर्जातीय विवाह पर ही बल दिया जाएगा, तो भय है कि इससे और भी कई नई-नई जातियाँ उत्पन्न न हो जाएँ! स्मृति से पता चलता है कि दो विभिन्न जातियों के स्त्री-पुरुष की सन्तान को उन दोनों से भिन्न एक तीसरी जाति बना दी जाती रही है।

यह ठीक है कि इस समय ऐसा अधिनियम बनना कठिन है, क्योंकि विधान सभाओं और संसद के अधिकांश सदस्य जात-पाँत को माननेवाले और जाति-भेद को माननेवाली प्रजा के प्रतिनिधि हैं, तो भी इससे जनता का इस विषय में और नहीं तो शिक्षण तो आरम्भ हो जाएगा और कुछ काल उपरान्त जैसे जात-पाँत

तोड़ कर सिविल विवाह को वैध माना गया और एक से अधिक पत्नियाँ रखना अवैध माना गया है, वैसे उपर्युक्त अधिनियम भी स्वीकृत होकर ही रहेगा। इसकी चर्चा जारी रहने से जनता के विचार बदलेंगे।

प्रत्येक समाज या राज्य में विचारशील लोगों का सदा एक छोटा-सा प्रभावशाली दल रहता है। इसी दल को पहले समझाया और प्रेरित किया जा सकता है। और किया जाना चाहिए। ये थोड़े विचारशील व्यक्ति जब तब कानून बनाने की माँग करते हैं। जब कानून बन जाता है, तब आप न सोचनेवाली बहुसंख्यक जनता पहले डर से और बाद में अभ्यास के कारण उस नए कानून के अन्तर्निहित सिद्धान्त को शनैः-शनैः स्वीकार कर लेती है। अधिनियम की निरपेक्षता और न्याय न जानते हुए भी सर्वहारा के हृदय पर अंकित हो जाते हैं।

४. जात-पाँत तोड़ कर विवाह करनेवालों और उनकी सन्तानों को सरकारी नौकरियों में पहले स्थान दिया जाए।

५. जगह-जगह पर ऐसे पारिवारिक सम्मेलन किए जाएँ, जिनमें जात-पाँत तोड़ कर व्यक्ति और परिवार सम्मिलित हों, जिसे एक दूसरे को देख कर लोगों को जात-पाँत तोड़ने का भय दूर हो जाए और उत्साह बढ़े।

६. किसी गुरू, महात्मा, धर्म ग्रन्थ को विभ्रान्त मान कर तथा उस पर आँख मींच कर विश्वास करने के स्थान में लोगों को अपना दीपक आप बनने को कहना चाहिए। उन्हें अपने लिए आप सोचने और विचार करने पर जो बात हितकर जान पड़े उसे ही ग्रहण करने और जो अहितकर जान पड़े उसे छोड़ देने को कहना चाहिए। जो लोग कहते हैं कि वर्ण व्यवस्था ईश्वर ने बनाई है, इसलिए उससे मानना चाहिए, उनसे कहना चाहिए कि ऐसे ईश्वर को भी तुम अपने पास ही रखो।

७. जो लोग जात-पाँत तोड़ कर विवाह करें, सरकार की ओर से जिले के बड़े अधिकारी उसमें शामिल होकर वर-वधू को आशीर्वाद दें और भेंट दें।

८. किसी भी सरकारी विभाग में जात-पाँत न पूछी जाए और न लिखी जाए।

९. अछूत और पिछड़ी जातियों को शिक्षा और सरकारी नौकरी में विशेष सुविधाएँ दी जाएँ, जिससे वे उनकी आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा उन्नत हो और दूसरे उन्नत लोगों के साथ बेटी-व्यवहार करना उनके लिए सुगम हो जाए।

१०. धर्म एक निजी वस्तु है, जिसका समाज के साथ कोई सम्बन्ध न माना जाए। कोई व्यक्ति घर में गीता पढ़े, या और कुछ पढ़े, परन्तु उसका खान-पान और विवाह सब के साथ समान रूप से हो। धर्मान्तर के साथ किसी समाजान्तर की आवश्यकता न हो। इसी से सब भारतवासी घुल मिल कर एक सुदृढ़ राष्ट्र का रूप धारण कर सकेंगे।

जात-पाँत में यों तो सैकड़ों बुराइयाँ हैं, परन्तु इसकी सब से अधिक कष्टदायक बुराई सामाजिक तिरस्कार है, जो शूद्रों को कथित सवर्णों के हाथों से सहन करना पड़ता है। सवर्ण हिन्दू प्रभुत्व का इतना आदी हो गया है कि उसे विचार तक भी नहीं आता कि उसका यह आधिपत्य दूसरों को कितना अखरता है। अंग्रेज की प्रभुता का अनुभव तो शूद्र को जीवन में कदाचित् दो चार बार ही होता था, परन्तु सवर्ण हिन्दुओं द्वारा होनेवाला तिरस्कार तो उसे जीवन में प्रतिदिन पग-पग पर सहन करना पड़ता है। गली में, बाजार में, गाँव में, नगर में, स्कूल में, कचहरी में, रेल में, मन्दिर में, भोजनालय में, सब कहीं सवर्ण शूद्र को अनुभव कराने में कोई कसर नहीं उठा रखता कि तू नीच है और मैं ऊँच हूँ। अंग्रेजों ने तो शायद शूद्र के भौतिक शरीर का ही रक्त शोषण किया हो, परन्तु सवर्णों ने इस सामाजिक तिरस्कार के द्वारा शूद्रों की आत्मा में ही जोंक लगा रखी है। उसने शूद्र को उस मानवी प्रतिष्ठा से ही वंचित कर दिया है, जिसके बिना मनुष्य को अपना जीवन भार-सा लगने लगता है।

सूत पुत्र कर्ण

यह रोग कोई दो सौ वर्ष का नहीं, हजारों वर्ष पुराना है। महाभारत में हम क्या पढ़ते हैं ? राजा द्रुपद अपनी पुत्री द्रौपदी का स्वयंवर रचाते हैं। स्वयंवर में मत्स्य-वेध करने के लिए महावीर कर्ण धनुष-बाण लेकर आगे आते हैं। परन्तु द्रौपदी चिल्ला उठती है कि मैं इस सूत-पुत्र के साथ विवाह नहीं करूँगी। इस पर कर्ण विष का घूँट पीकर रह जाते हैं। वे जैसे तैसे इस अपमान और तिरस्कार को सहन करके चुप बैठ जाते हैं। इसी तरह एक दूसरे मौके पर जब अश्वस्थामा ने कर्ण को सूत-पुत्र कह कर अपमानित करने की चेष्टा की थी, तो महाबली कर्ण ने कहा था :—

सूतो वा सूत्र पुत्रो वा यो वा भवाम्यहम्।
दवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥

—मैं सूत हूँ या सूत-पुत्र हूँ, इससे क्या मतलब ? किसी कुल में जन्म होना देव के आधीन है। मेरे आधीन तो पुरुषार्थ करना है, सो मेरा पुरुषार्थ देखो। जन्म पर ध्यान न दो। कर्ण इस तिरस्कार को अपने जीवन भर नहीं भूल सके थे।

मनु का आदेश

महाराज कोल्हापुर शिवाजी महाराज के वंशज थे। शिवाजी की जाति भोंसले शूद्र थी। इसलिए श्री बालगंगाधर तिलक जैसे कट्टर राष्ट्रवादी ब्राह्मण भी कोल्हापुर नरेश को शूद्र ही समझते थे। उन्होंने महाराज का राज्याभिषेक वेद मन्त्रों द्वारा कराने से इन्कार कर दिया था। इस पर महाराज ने क्रोधित हो कर आज्ञा दी थी कि जो लोग हमें शूद्र समझते हैं वे हमारा राज्य छोड़ जाएँ, क्योंकि मनु का आदेश है कि शूद्र के राज्य में नहीं रहना चाहिए। इस पर कई ब्राह्मण कोल्हापुर छोड़ कर अन्यत्र चले गए थे। महाराज कोल्हापुर कहा करते थे कि यदि मुझे जात-पाँत को मिटाने के लिए राजसिंहासन से भी हाथ धोना पड़े तो मैं उसके लिए तैयार हूँ।

अब यहाँ अस्पृश्यता से उत्पन्न होनेवाले भेदभाव के कुछेक उदाहरण देकर हम इस लेख को समाप्त करेंगे। आइए, अपनी छाती पर हाथ देकर सुनिए :—

शूद्रों के सामाजिक तिरस्कार का कटु अनुभव मुझे अपने जीवन में सब से पहले उस समय हुआ, जब मैं सन् १९०४ में गवर्नमेंट कालिज लाहौर के पहली वर्ष की कक्षा में भर्ती हुआ। यद्यपि मेरे पिता मध्य एशिया में यारकन्द और काशगर के प्रतिनिधि व्यापारी थे, मेरे बड़े भाई स्कूलों के इन्सपेक्टर थे और एक दूसरे भाई रायसाहब की उपाधि से विभूषित थे, तो भी मुझ पर जाति की दृष्टि से कुम्हार का लेबल लगा था। मैं शाकाहारी था, इसलिए छात्रावास में एक कट्टरपन्थी भोजनालय का सदस्य बन गया। कुछ दिन बाद उस भोजनालय में भोजन करनेवाले छात्रों के साथ किसी बात पर मेरा झगड़ा हो गया। वे छात्र मेज कुर्सी पर बैठ कर नहीं वरन् रसोईघर के अन्दर चौका लगा कर भोजन किया करते थे। उन द्विज छात्रों ने मुझे रसोई-घर के भीतर बैठ कर खाना खाने से मना किया, क्योंकि मैं शूद्र था। यह धमकी दी गयी कि यदि मैं उनकी बात नहीं मानूँगा तो वे धर्म-भ्रष्ट करने के कारण मेरी शिकायत प्रिन्सिपल के पास ले जाएँगे। मेरी आत्मा ने उनके सामने झुकने से इन्कार कर दिया। मैंने उनसे कहा कि जब तक अपने भोजन के पैसे मैं देता हूँ तब तक वे मुझे रसोईघर के अन्दर बैठ कर खाने से रोक नहीं सकते। जिसके पास भी आपकी मरजी हो शिकायत कर दो। मैंने यह भी कहा कि मैं तुम्हारी बात एक ही शर्त पर मान सकता हूँ। मैं अपने कमरे में ही बैठा रहूँगा, यदि मुझे ठीक वक्त पर भोजन पहुँच जाया करे। और मैं भोजन का खर्च नहीं दूंगा, वह तुम्हें ही देना पड़ेगा। इस पर उनके सब दम-खम ढीले पड़ गए और मैं पूर्ववत् रसोईघर के भीतर ही बैठ कर खाना खाता रहा।

सभ्य असभ्य बना

मेरे एक भतीजे श्री सत्यव्रत एम० ए० अविभक्त पंजाब में सरकार टेक्स्टबुक कमेटी के सिनेमा डिमांस्ट्रेटर थे। एक बार वे एक नगर के स्कूलों में सिनेमा की फिल्म दिखाने गए। वहाँ एक स्कूल के हेडमास्टर ने उन्हें अपने यहाँ भोजन के लिए निमन्त्रित किया। वे जब हेडमास्टर साहब के घर खाना खाने बैठे तो उन्होंने बात ही बात में उनसे पूछा कि यहाँ कैथल में, अमुक स्कूल के हेडमास्टर, श्री तुलसीराम रहा करते थे, वे आजकल कहाँ हैं ? इस पर हेडमास्टर साहब बोल उठे, 'तुलसीराम तो कहार था, इस पर मेरा भतीजा बोला—'मैं भी तो कुम्हार ही हूँ।' हेडमास्टर बनिया जाति के थे। उनकी स्त्री चौके में बैठी भोजन खिला रही थी। उसने जब सुना कि अतिथि जन्म का कुम्हार है, तो उसने खाना खिलाना बन्द करके क्रोध में भर कर आटा दाल सब बाहर फेंक दिया और बड़बड़ाती हुई चौका छोड़ कर उठ गई। वह इस अपमान को सहन न कर सका। उसने हेड मास्टर को डाँटते हुए कहा कि भले आदमी मैंने तो आप से कहीं कहा था कि मुझे खाने के लिए बुलाओ। इस तरह बेइज्जत करने से आपका क्या मतलब है ?

हेडमास्टर ने लज्जित होकर उनसे माफी माँगी और कहा कि मेरी स्त्री मूर्खा है, पुराने विचारों की है। आप इसकी इस कुचेष्टा पर ध्यान न दीजिए। परन्तु मेरे भतीजे का क्रोध इससे शान्त न हुआ। वह बोला—'जब आपको मालूम था कि यह ऐसी हैं तो फिर आपको मुझे भोजन के लिए बुलाना ही नहीं चाहिए था। यह तो आप इसे पहले डाँट कर ठीक कर लेते, फिर मुझे बुलाते या मुझे बुलाते ही नहीं। इस तरह बुला कर किसी का अपमान करना आपके लिए कहाँ तक उचित है ?' इतना कह कर वे वहाँ से चले आए।

गैर ब्राह्मण मन्त्री चौके से बाहर

इंडियन रैशनलिस्ट सोसाइटी के संस्थापक और मद्रास राज्य के भूतपूर्व मन्त्री श्री एस० रामनाथन, एम० ए०, एडवोकेट, मेरे मित्र हैं। 'लीग आफ यूथ' नामक किताब में उन्होंने अपने लड़कपन की एक घटना दी है। एक समय वे अपने कुछ दूसरे मित्र लड़कों के साथ रेड हिल्ज में छुट्टी मानने गए। वहाँ सब मित्र खूब खेले और तैरे। जब उन्हें भूख सताने लगी, तब उन्होंने एक ब्राह्मण के घर भोजन का प्रबन्ध किया। भूखे भेड़ियों की भाँति वे सब उधर लपके। शेष सब लड़के तो भीतर चले गए, परन्तु रामनाथन जी को बाहर ही ठहरने के लिए कहा गया। कारण यह कि वे ब्राह्मण नहीं थे। उन्हें कहा गया कि जब ब्राह्मण लड़के खा चुकेंगे, तब बाद में तुम्हें खाना दिया जाएगा। रामनाथनजी को यह बात ऐसी लगी मानो किसी ने उनके मुँह पर तमाचा जड़ दिया हो ! इस मानसिक आघात के कारण वे क्रोध से अस्वस्थ हो गए। उन्हें रसोई बनानेवाले पर नहीं, वरन् अपने मित्रों पर क्रोध था। उस समय पहली बार उन्हें अनुभव हुआ कि दूसरे लड़के ब्राह्मण और मैं अब्राह्मण हूँ। रामनाथन लिखते हैं—'मित्र जानते थे कि मुझे बाहर रोक दिया गया है। परन्तु उन्होंने पर्वा नहीं की, क्योंकि ऐसी प्रथा ही थी। छोटी जाति वालों को ठहर जाना चाहिए और ऊँची जातिवालों के खा चुकने के बाद ही भोजन करना चाहिए। दूसरे लोगों की अवस्था में तो यह बात ठीक हो सकती है, परन्तु मेरे मित्र, जो इतने सुसंस्कृत थे, संवेदनशील थे, इस शैतानी को सहन न कर सके। मेरे दिल पर भारी चोट लगी। मैं उस घर के पास से भाग आया और कुछ दूर पर एक पेड़ के नीचे छिप कर रोने लगा। मुझे अपने रोने पर लज्जा होती थी, पर आँसू रोके न रुकते थे। मैं अभी बचपन के बहुत निकट था। मैंने शीघ्र ही अपने दिल को कड़ा किया, मुँह धोया और अपने मित्रों के पास भागा गया। वे खाना खा चुके थे और खाना खिलाने के लिए मुझे मेरी तलाश कर रहे थे। मैंने पेट दर्द का बहाना करके खाना खाने से इन्कार कर दिया। रेड हिल्ज से लौटते समय में सारे रास्ते चुप्पी साधे रहा। मैंने अपने दोस्तों के हँसी-मजाक में कोई भाग नहीं लिया। इस बात का मुझे बहुत दु:ख था कि मेरे मित्रों में से किसी ने भी मेरे दु:ख का अनुभव नहीं किया और मेरे खाने से इन्कार करने के असली सबब को टटोलने की कोशिश नहीं की।

नाई प्रोफेसर की गति

मेरे एक मित्र पंजाब विश्वविद्यालय के एम० ए० और विलायत के साहित्याचार्य हैं। परन्तु जाति से वे नाई हैं। जब वे पहले पंजाब के एक कालिज में प्रोफेसर हुए, तो उन्हें अपनी जाति के कारण बड़ा मानसिक कष्ट सहना पड़ा। जिस कक्षा में वे जाते वहाँ पहले ही लड़के काले तख्ते पर लिख देते—'मिस्टर बार्बर' अर्थात् नाई महाशय। इस रोजाना के अपमान से तंग आकर उन्होंने पंजाब ही छोड़ दिया और मद्रास में जाकर एक गवर्नमेंट कालिज के प्रिन्सिपल बन गए। उन्होंने अपने घर की भाषा भी पंजाबी छोड़ कर अंग्रेजी बना ली। उनके बच्चे अंग्रेजी ही बोलने लगे। वे कोई भी भारतीय भाषा नहीं जानते। अपनी भाषा और प्रान्त का इसप्रकार का परित्याग कर देने का कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि, भारत में जब एक हिन्दू दूसरे हिन्दू से मिलता है, तो सब से पहले वह उसकी जाति पूछता है। मैं नहीं चाहता कि मेरे बच्चों को कोई नाई कह कर उनमें हीनता का भाव पैदा कर सके। मेरे बच्चे अंग्रेजी बोलते और अंग्रेजी समझते हैं। इसलिए न तो कोई उनसे उनकी जाति पूछ सकता है और न बच्चों को ही पता है कि जाति क्या बला होती है। मेरे मित्र सेवा निवृत्त हो चुके हैं और उन्होंने अब बंगलोर में घर बना लिया है।

इसी प्रकार एक दूसरे सज्जन हैं। वे भी नाई जाति के हैं। सूबेदार मेजर के पद से अभी निवृत्त हुए हैं। जात-पाँत के कोढ़—इसी रोग से बचने के लिए वे भी पंजाब छोड़ कर रांची जा बसे हैं। उनके बच्चों के जात-पाँत तोड़ कर विवाह हुए हैं।

जात-पाँत के नामों के साथ ऊँच-नीच का भाव इस बुरी तरह से चिपट गया है कि बहुत नाम केवल घृणित ही नहीं, वरन् गाली भी बन गए हैं। भंगी, चूहड़ा, चमार आदि नाम गाली ही समझे जाते हैं। इसीलिए पंजाब में चमार अपने को आदि धर्मी और भंगी अपने को वाल्मीक कहते हैं। मैंने देखा है कि बिना झिझके भंगी अपने को स्वीपर, नाई अपने को बार्बर और चमार अपने को शू-मेकर कहते हैं और इन विदेशी शब्दों से उनमें हीनता का कोई भाव उत्पन्न नहीं होता है। इसी सामाजिक तिरस्कार से बचने के लिए स्पृश्य शूद्रों को भी अपनी जाति छिपानी पड़ती थी। पंजाब में कलवार अपने को आहलूवालिया, बढ़ई अपने को रामगढ़िया, कुम्हार अपने को वीर राजपूत, सुनार अपने को मेड़ राजपूत, छींपे अपने को टांक क्षत्रिय कहते हैं।

पाश्चात्य देशों में इसप्रकार की कोई जात-पाँत नहीं। इसलिए आपको वहाँ अनेक लेखक, राजनीतिज्ञ, अध्यापक और कवि ऐसे मिलेंगे जिनके नाम मिस्टर गोल्डस्मिथ, (सुनार) मिस्टर पाटर (कुम्हार) मिस्टर फिशर (कहार) मिस्टर कारपेंटर (बढ़ई) और मिस्टर स्मिथ (लुहार) हैं और वे उन नामों से पुकारे जाने पर, हमारे देश के इन नामावली जातियों के लोगों के विपरीत, किसी हीनता का अनुभव नहीं करते। इस देश में कला कौशल और दस्तकारी की दुरावस्था का एक बड़ा कारण यही है कि यहाँ कारीगरों को नीच समझा जाता है।

यहाँ एक चित्रण देना भी अप्रासंगिक न होगा। एक समय की बात है। दो बटोही जा रहे थे। कुछ देर चलने पर उनसे एक तीसरा बटोही मिला। तब उनमें से एक ने दूसरे से उसकी जाति पूछी। दूसरे ने उत्तर दिया, मेरी जाति आहलूवालिया है। तब दूसरे ने पहले से उसकी जाति पूछी। उसने उत्तर दिया, मैं रामगढिया हूँ। याद रहे कि आहलूवाल और रामगढ़ दो नगरों के उसी प्रकार नाम हैं, जिस प्रकार कि होशियारपुर और बहावलपुर हैं। तब उन दोनों ने तीसरे से उसकी जाति पूछी। इस पर तीसरे ने उत्तर दिया, सुनिए, यदि यह आहलूवालिया है और तुम रामगढिया हो, तो मैं बहावलपुरिया हूँ। परन्तु यदि वह कलवार है और तुम बढ़ई हो, तो भाई, मैं जुलाहा हूँ।

अभी थोड़े वर्ष हुए अखबार में एक घटना छपी थी। एक चमार अपने घर के बाहर खाट पर बैठा था। उधर से होकर एक राजपूत गुजरा। अपने सामने एक चमार को खाट पर बैठे रहना वह सहन न

कर सका। उसने उस बूढ़े चमार को इतना पीटा कि उस बेचारे ने वहीं दम तोड़ दिया। अब तक पहाड़ी प्रदेशों में और अनेक गाँवों में स्पृश्य और अस्पृश्य शूद्रों को वहाँ के राजपूत भूमिहार ब्राह्मण अपने सामने खाट पर न तो बैठने देते हैं और नहीं शादी विवाह के अवसर पर बाजा और पालकी की सवारी करने देते हैं।

पंजाब में मेरे एक परिचित हैं। पहले वे सब जज थे। आजकल वे एक राज्य सेवा आयोग के सचिव हैं। परन्तु जन्म के चमार हैं। उन्होंने मुझे एक आप बीती सुनाई। उनका जन्म स्थान होशियारपुर जिले की ऊना तहसील के अन्तर्गत एक छोटा सा पहाड़ी ग्राम है। एक समय की बात है, वे अपने गाँव से होशियारपुर आ रहे थे। उनके साथ उनकी पत्नी और कोई दो वर्ष का नन्हा बच्चा था। बच्चे को रास्ते में प्यास लगी। एक जगह एक प्याऊ थी। वहाँ एक नंग धड़ंग ब्राह्मण लंगोटी पहने बैठा पानी पिला रहा था। जज साहब की पत्नी ने बच्चे को पिलाने के लिए उससे पानी मांगा। ब्राह्मण ने कहा, कौन जात हो? "लड़की ने कहा—"चमार।" चमार का शब्द सुनते ही एक दूर पड़े मिट्टी के प्याले की ओर उँगली से संकेत करते हुए बोला, वह प्याला उठाओ। "जज की पत्नी ने जब उस प्याले को देखा तो उसमें कुत्ते ने विष्ठा कर रखी थी। उस ने ब्राह्मण से कहा—'प्याला मैला है। यदि तुम हिन्दू के पात्र से मुझे पानी नहीं दे सकते, तो मुसलमान वाले पात्र से ही पानी पिला दो।' इतने में एक मुसलमान राजपूत मजदूर मिट्टी से लथपथ, लंगोटी पहने और सिर पर घास का भारी गट्ठर उठाए आ पहुँचा। उसे सम्बोधन करके वह ब्राह्मण बोला, "देखो रहमत खाँ, अब चमार भी तुम्हारे बराबर होना चाहते हैं। यह चमार लड़की कह रही है कि मुझे मुसलमानों के बर्तन में पानी दे दो।" ब्राह्मण के ये शब्द सुन मेरे मित्र के दिल पर बड़ी चोट लगी। वे बिना पानी पिलाए ही, प्यास से तड़पते हुए बच्चे को लेकर आगे चल दिए। रास्ते में वे अपनी स्त्री से बोले—"क्या हुआ, जो मैं अलीपुर में जज हूँ। पर अपने सूबे में तो हम अब भी अछूत हैं।"

सन् १९४८ की बात है। मैं 'कानपुर से दिल्ली गया था। स्टेशन से जब मैं पुल बंगश पर पहुँचा, तो वहाँ एक मनुष्य गन्ने का रस बेच रहा था। मुझे रस पीने की आदत थी। मैं वहाँ रस पीने के लिए रुक गया। मैंने गन्ने वाले को एक आना दिया और उसने मुझे रस का गिलास भर दिया। मैंने गिलास मुँह को लगाया ही था कि इतने में एक दस बारह वर्ष का लड़का भी वहाँ आ गया। उसने भी एक आना देकर रस माँगा। लड़का गौर वर्ण और साफ सुथरे कपड़े पहने था। उस का सिर नंगा था। गन्ने वाले ने उसके लिए भी रस का गिलास भर दिया। परन्तु ज्योंही वह गिलास लड़के को देने लगा, उसकी नजर लड़के की बगल में दबी झाड़ू पर पड़ी। उसने गिलास का रस झट अपने लोटे में उड़ेल लिया और लड़के का आना उठा कर उसके आगे फेंक दिया। लड़का गिड़गिड़ा कर बोला कि अब तो महात्मा गांधी ने भी हम से छूतछात न करने को कह दिया है। मुझे बड़ी प्यास लगी है। कृपा करके रस पिला दीजिए। परन्तु उसने लड़के की एक न सुनी। वह भंगी लड़का मर्माहत होकर वहाँ से चला गया। यह दृश्य देखकर मुझे बहुत दुःख हुआ। मैं चाहता था कि यह लड़का यदि कुछ पहले आ जाता तो मैं भी रस पीने से इन्कार कर देता।

ब्राह्मण कन्या से खत्री का विवाह

ये तो हुए सवर्ण और शूद्र के एक दूसरे के प्रति भाव और व्यवहार के उदाहरण। अब दो कथित उच्च जातियों के एक दूसरे के प्रति भाव का नमूना भी सुनिए। एक समय की बात है, मैं लाहौर में अपने जात-पांत तोड़क मंडल के दफ्तर में बैठा हुआ था। एक बूट सूट धारी युवक मेरे पास आए। मैंने पूछा, कहिए कैसे आना हुआ? वे बोले मैं विवाह करना चाहता हूँ। क्या आप कोई अच्छी लड़की बता सकते हैं? मैंने कहा कि आप जानते हैं कि हम केवल जात-पांत तोड़ कर ही विवाह कराते हैं। क्या आप अपनी जाति से बाहर की किसी लड़की से विवाह करने को तैयार हैं? वे बोले—"मैं जात-पांत को मानने वाला होता तो आपके पास आता ही क्यों? एक ब्राह्मण को छोड़ कर मैं किसी भी जाति की योग्य कन्या से विवाह करने को तैयार हूँ।"



विदेश के एक स्वागत में
बाबू जगजीवनरामजी

"मैंने उससे उनकी जाति पूछी तो उन्होंने खत्री बताई। तब मैंने पूछा "आप ब्राह्मण कन्या से क्यों नहीं विवाह करना चाहते हैं, क्या कहीं इसलिए तो नहीं कि ब्राह्मण खत्री से ऊँचा वर्ण है और नीच वर्ण के पुरुष का उच्च वर्ण के साथ प्रतिलोम विवाह आप पाप समझते हैं?"

इस पर वे बोले कि यह बात नहीं। मैं अठारह वर्ष अमेरिका में रहा हूँ। वहाँ इतने दिनों तक रहने से मेरा स्वभाव और प्रकृति अमेरिकनों जैसी हो गयी है। अमेरिका में भीख मांग कर या मुफ्त में खाने से बढ़ कर बुरी दूसरी कोई बात नहीं समझी जाती। ब्राह्मण लड़कियों में मांग कर या मुफ्त में खाने की लत होती है, इसे मैं सहन नहीं कर सकता।

तब मैंने उनसे पूछा "क्या आप भंगी की लड़की से विवाह कर सकेंगे? इस पर उन्होंने झट उत्तर दिया "मुझे भंगी कन्या से विवाह करने में कोई संकोच नहीं। उनका यह उत्तर सुन कर मैं चकित रह गया। मैं मन में सोचने लगा कि ब्राह्मण अपने आप को चाहे कितना ही ऊँचा और भूदेव क्यों न समझते हों, परन्तु ऐसे लोगों की भी कमी नहीं, जो उनको भंगी से भी बुरा मानते हैं।"

जात-पाँत के आधार पर नौकरियाँ

देश के विभाजन से पहले की बात है। जात-पांत तोड़क मंडल, लाहौर के प्रचार मन्त्री स्वर्गीय श्री भूमानन्द नई दिल्ली में लोकसभा के एक मद्रासी सदस्य के पास मंडल के कार्य से गए। मद्रासी सज्जन ने उनसे मंडल का मकसद पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि जात-पांत मिटा कर समाज में समता और बन्धुता का भाव उत्पन्न करना ही मंडल का उद्देश्य है। इस पर वे महाशय बोले, तुम ब्राह्मण लोग बड़े चालाक हो। जब जात-पांत रखने से तुम्हें लाभ था, तब तुम ने इसे खूब बनाए रखा। देखो मद्रास में शूद्रों की संख्या ९७ प्रतिशत है, पर हमें सरकारी नौकरियाँ सिर्फ ३ फी सदी मिली हुई हैं। जब जात-पांत के आधार पर हमें हमारी जनसंख्या के माफिक नौकरियाँ मिलने लगी हैं, तब तुम अपने जात-पांत तोड़ने का उपदेश करने आए हो। चले जाओ, यहाँ से। नहीं तो मैं बूट की ठोकरों से मार कर तुम्हें निकाल दूंगा। मैं शूद्र हूँ, शूद्र।

शोलापुर में एक मद्रासी ब्राह्मण प्राध्यापक थे। यह विभाजन के बाद की बात है। उनसे किसी ने पूछा कि क्या आप ब्राह्मण हैं? उन्होंने झट उत्तर दिया कि यह कैसा निरर्थक प्रश्न है? ब्राह्मण क्या? मैं भी तुम्हारे जैसा ही एक इन्सान हूँ।

रेल-यात्रा में या सराय में जब कोई सवर्ण हिन्दू किसी दूसरे हिन्दू से मिलता हैं तो वह सबसे पहले उससे पूछता है—"आप ब्राह्मण ह या क्षत्रिय हैं?" मानो उसकी दृष्टि में केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हिन्दू हैं, शेष लुहार, कुम्हार, तेली, तम्बोली, बढ़ई, भंगी, चमार आदि जैसे सब जातियाँ हिन्दू ही नहीं।

इसलिए यह परम आवश्यक है कि भारतीय इस बात को दिमाग से निकाल दें कि हम ब्राह्मण है, या क्षत्रिय हैं या शूद्र हैं या अछूत हैं। सब अपने को भारतीय और मानव समझें। सभी अपनी योग्यता रुचि, और परिस्थिति के अनुसार जात-पांत और प्रान्त का विचार छोड़ कर आपस में विवाह शादी करें। इसीमें राष्ट्र और हिन्दू समाज का कल्याण निहित है।

**

'लोकतंत्र शासन में राज्य की उपयोगिता दीर्घकाल में उसके आधारभूत व्यक्तियों की उपयोगिता पर निर्भर है। अन्य किसी प्रकार के शासन की अपेक्षा लोकतंत्र प्रत्येक नागरिक के मानसिक विकास और उत्थान में योग देता है। उसमें मानव के मस्तिष्क और शरीर की स्वतन्त्रता पर कोई बंधन नहीं लगता है।'

—महात्मा गांधी



सनातन धर्म समाज के नए जीवन में

श्री स्वामी स्वरूपानन्द

सनातन धर्म भारत एवं अखिल विश्व का महान धर्म है। संसार का वह अति प्राचीन धर्म है। आज संसार में जितने भी छोटे-बड़े धर्म प्रचलित हैं, वे सब कल के हैं। फिर सनातन धर्म कोई मानव-कृत धर्म नहीं है। उसका संस्थापक कोई मानव नहीं है, जब कि हम देखते हैं, कि संसार के अन्य बड़े धर्म इस्लाम और ईसाई तथा बौद्धधर्म के संस्थापक मुहम्मद, क्राइस्ट तथा बुद्ध हुए हैं। बौद्ध धर्म और जैन धर्म हिन्दू धर्म के ही दार्शनिक अंग हैं। वे हमारे धर्म से जुदा नहीं है। सनातन-धर्म में एक व्यापकता रही है कि उसने इस्लाम और ईसाई धर्म के समान संकीर्णपन न रखा। कहा यह जाता है कि इस्लाम लोकतंत्र धर्म है और सामाजिक दृष्टि से किसी हद तक उसकी व्यवस्थाएँ लोकतंत्रीय हैं, किन्तु वह अपने अनुयाइयों को संकीर्णता के पाश में जकड़कर रखता है। प्रत्येक मुसलमान को इस्लाम में ईमान लाना पड़ता है, उसके खिलाफ कोई विचार प्रकट करना कुफ्र माना जाता है। दूसरी ओर ईसाई धर्म मानव को पापी करार देता है और वह कहता है कि तू ईसा की शरण में आ और वह तुझे मुक्ति देगा। यहाँ स्वतंत्र विवेचन को कोई स्थान नहीं है। पर सनातन धर्म सृष्टि के आरम्भ का धर्म है, ईश्वर कृत वेद और उपनिषद तथा शास्त्र आदि उस का निरूपण करते हैं। अन्य धर्मों की अपेक्षा सनातन धर्म में मानव को अमृत पुत्र कहा गया है और इस जगत को ही सब महत आकांक्षाओं और पदार्थों को प्राप्त करने को क्षेत्र बताया है। यह भी कहा गया है कि जो तत्त्व या पदार्थ इस लोक में नहीं हैं, वे फिर अन्यत्र कहीं नहीं हैं।

वेद का अमर सन्देश

ऋग्वेद के श्लोक में मानव को जो अमूल्य संदेश दिया गया, वह संसार के किसी धर्म में नहीं है :—

शृणुवन्तु, अमृतस्य पुत्र !
उत्तिष्ठ, जाग्रत, प्राप्त वरान्न बोधत
यत्रे नास्ति तत्र कुत्रापि।

अर्थात् हे अमृत के पुत्र सुनो, उठो, जागो। जो वस्तु तुम्हें इंगित है, उसे प्राप्त करो, जो वस्तु यहाँ नहीं है, वह फिर कहीं नहीं है।

वेद ने यह संदेश मानव के लिए दिया। फिर भारतीय दर्शन ने ईश्वर के चिंतन के लिए मानव को जो स्वतंत्रता दी, वह संसार के किसी धर्म ने नहीं। जिस देवता ने वेदों की आलोचना की, उन्हें भी धर्म और समाज से विलग नहीं किया गया। यह परम्परा सनातन-धर्म ने कायम की, कि ईश्वर को भिन्न-भिन्न रूप में चिन्तन करने वाले सब किसी को उसमें स्थान है। यह सह-अस्तित्व का प्रतीक हुआ। इस प्रकार हम देखें तो यह पाएँगे कि सनातन धर्म न तो आध्यात्मिक क्षेत्र और न सामाजिक क्षेत्र में किसी संकुचित खूंटे से बँधा है। सामाजिक क्षेत्र का नेतृत्व लंगोटीधारी ब्राह्मण ऋषियों के अधिकार में था और उन्होंने देश काल के अनुसार



बाबू जगजीवनरामजी ग्रौर 'ग्रभिनन्दन ग्रन्थ-प्रकाशन' के व्यवस्थापक स्वामी सत्यानन्द संन्यासी

भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ दीं। कभी कोई एक व्यवस्था सदा के लिए नहीं मानी गयी। यदि एक ही व्यवस्था होती तो इतनी स्मृतियों की कदापि रचना न होती। एक मनुस्मृति ही यथेष्ट थी। फिर हम यह भी देखते हैं कि एक स्मृति की व्यवस्थाएँ दूसरी स्मृति से सर्वथा भिन्न हैं। इन भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं के द्वारा ऋषियों ने हिन्दू जाति को जीवित जाति के रूप में आगे बढ़ने दिया। रोम, यूनान और मिश्र की सभ्यताएँ और संस्कृतियों का नाम-शेष न रहा, उनका पुराना अस्तित्व किस रूप था और कैसा था, उसका वर्णन केवल इतिहास के पृष्ठों में ही रह गया। आज जो कुछ हम उन देशों में देखते हैं, वे सब उनके नए रूप हैं, किन्तु सनातन धर्म और हिन्दू जाति तीन युग अर्थात् करोड़ों वर्ष व्यतीत करने पर भी आज जीवित हैं और अपना पुराना तारतम्य बनाए हुए हैं। यह हमारे लिए गौरवजनक है। इसलिए हम यह कभी नहीं मानते कि हमारा धर्म अप्रगतिशील है। जिस धर्म और जिस जाति ने इतना काल पार किया, उसमें संघर्ष के काल में कुछ विषमताएँ आ गयीं, तो वे स्वाभाविक हैं, किन्तु उन रूढ़ियों के कलंक या दाग धर्म पर नहीं लगते।

हमारा क्या हुआ ?

जिस विक्रम संवत् का हम उपयोग करते हैं, यद्यपि दुर्भाग्यवश आजकल हम ईस्वी सन् के स्थान पर विक्रम संवत् को कतई भूल गए हैं, वह हमें स्मरण दिलाता है, कि महाराजा विक्रमादित्य के शासन काल में जितनी विदेशी जातियाँ और संस्कृतियाँ इस देश में आक्रमण के रूप में आयीं, वे सब इस धर्म में और इस जाति में विलीन हो गयीं। कहना न होगा कि उस समय हिन्दू जाति की प्रबल पाचन शक्ति थी। किन्तु, उसके उपरान्त स्थिति बिगड़ी और देश को निरंतर जिन नाजुक संकटों में से गुजरना पड़ा, उससे सारी व्यवस्थाएँ अस्त-व्यस्त हो गयीं। धर्म के नाम पर संकीर्णताएँ आ गयीं। टुकड़े-टुकड़े में गिरोह बन गए और फिर दुर्भाग्यवश हमारा पतन हुआ। इस लम्बे समय में भय और त्रास उत्पन्न करने के लिए सामयिक लोगों ने प्राचीन स्मृतियों और ग्रंथों में नयी-नयी व्यवस्थाएँ जोड़ दीं। यह भी न सोचा कि वे उसमें फिट बैठती हैं या नहीं। इस दृष्टि से हम मनुस्मृति को ही लें, तो उसमें एक ही समस्या पर जुदी-जुदी व्यवस्थाएँ एक दूसरे के सर्वथा विपरीत मिलती हैं। इससे स्मृतियाँ बदनाम हुईं और धर्म का रूप विकृत हुआ। उसे कलंक लगा। और यह कहा गया कि सनातन धर्म प्रतिक्रियावादी धर्म है। उसमें समय के अनुकूल मोड़ लेने की गति नहीं है और उसकी व्यवस्थाएँ कलंकमयी हैं। इससे हिन्दू जाति का बड़ा अपकार हुआ। फिर समाज में अंध विश्वास पैदा हुआ। रूढ़ियों ने धर्म का स्थान ग्रहण किया। अनेक पंथ और धर्म चले। हमारी इस कमजोरी से इस्लाम और ईसाई धर्म इस देश में फूले। कबीर के बाद करीब तेरह सौ पंथ या धर्म कहिए इस देश में पनपे। सनातन धर्म में मूल में जो चार वर्ण थे, उसकी इतनी जातियाँ, उप-जातियाँ और उन उपजातियों से सहस्रों उप-जातियाँ बनीं कि जिनका कोई अंत नहीं। केवल सवर्ण हिन्दुओं में ही नहीं, दलित समाज में भी जातियों की कट्टरता ने स्थान लिया और एक दलित जाति ने दूसरी दलित जाति से अपना कोई सम्पर्क नहीं रखा। हिन्दू जाति इस दयनीय अवस्था को पहुँच गयी। किन्तु यह अधःपतन होते हुए भी हममें चेतना नहीं है। हम नयी मोड़ लेने को अधर्म समझते हैं।

एक जीवित जाति के लिए जो दो तत्व अनुकरणीय हैं, वे सर्वप्रथम संसार में ऋषियों ने प्रकट किए थे। हम उन्हें भूल गए, और अपने जीवन में उनका व्यवहार न कर सके। किन्तु, उन्हीं तत्वों को इस्लाम और ईसाई धर्म ने अपनाया और वे फूले-फले।

भगवान मनु ने सर्वप्रथम कहा :—

जन्मना जायते शूद्र संस्कारात द्विज उच्यते।
विद्या याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।।

अर्थात् माँ के गर्भ से सभी शूद्र उत्पन्न होते हैं, उनको कोई जाति नहीं होती है। अर्थात् तब नया जन्म धारण करते हैं, संस्कार द्वारा लोग द्विज बनते हैं। और विद्या प्राप्ति कर विप्र ब्राह्मण तथा वेदों का

अध्ययन कर श्रोत्रिय होते हैं। जीवित जाति के लिए यह महान व्यवस्था थी, पर हम अपनी मूर्खता से ऋषियों के इस संदेश को भूल गए। दूसरी ओर इस्लाम कभी किसी को छोटा बड़ा नहीं मानता। यह भी आश्चर्य है कि एक दलित वर्ग का व्यक्ति जिसे हम स्पर्श नहीं करते, यदि वह मुसलमान या ईसाई हो जाए तो उसे हम अपने पास बिठाते हैं। और उसके साथ कोई छूतछात नहीं मानते। किन्तु यदि वह अछूत रहता है और राम कृष्ण का नाम लेता है तो उसे हम स्पर्श नहीं करते। दूसरी ओर जो व्यक्ति इस्लाम ग्रहण करता है वहाँ उसके प्रति कोई भेद-भाव नहीं रहता है। तब भेद-भाव क्या सनातन धर्म के पट्टे में ईश्वर ने अलग से दिया है? क्या सनातनधर्मियों की रक्षा करने वाला ईश्वर मुसलमान और ईसाइयों के ईश्वर से जुदा है? हमारी यह कैसी संकीर्ण कल्पना है, विघातक धारणा है।

दूसरी बात ऋषियों ने प्रकट की :—

'स्त्री रत्नं दुष्कुलादपि'

स्त्री रत्न है, अप्राप्य है, उसे प्राप्त करो। अर्थात् स्त्री कभी न अपवित्र होती है और न त्याज्य। इसी तत्व को इस्लाम ने कहा कि 'औरत कभी नापाक नहीं है।' इस्लाम में उसके लिए दरवाजा खुला है। क्या हम ने नहीं देखा कि सती सावित्री और गौरी के समान जिन देवियों पर हम ने अत्याचार कर पिछले रास्ते से घरों से निकाल दिया, उन्हीं से इस देश में दस करोड़ मुसलमान पैदा हुए और दो करोड़ से अधिक ईसाई हुए। देश का विभाजन हमारे इसी घोर पाप का परिणाम है। कुलीन परिवारों की स्त्रियों के निष्कासन से मुसलमान बने। हम देखते हैं कि मुसलमानों में ब्राह्मण और राजपूतों के वंशज अधिक हैं, वैश्य भी हैं, किन्तु शूद्र कम हैं। क्योंकि सवर्णों के समान शूद्रों में सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं रहे। दलितों में विधवा विवाह, तलाक और दूसरे भेदभाव नहीं रहे। अछूत आर्थिक कारणों से विधर्मी बने और कितने सामाजिक अत्याचारों से विधर्मी बने। अछूत इस्लाम की अपेक्षा ईसाई धर्म में अधिक गए, मेहतर अधिक ईसाई बने और भी जातियाँ ईसाई बनीं।

हरिजनों पर ईसाइयों का पंजा

सुधारकों ने सोचा कि हम इन बिछुड़े हुए भाइयों को पुनः मिला लें। किन्तु वह संभव न हुआ। दूसरों के प्रवेश के लिए हमने अपना दरवाजा भली भाँति न खोला। इस निष्कासन का फाटक आज भी खुला है। दक्षिण भारत का केरल राज्य ईसाइयों से भरा है, करीबन वह ईसाई—काश्मीर बन गया है। वहाँ ईसाइयों की संख्या बढ़ती जा रही है। आसाम की सीमा पर पादरियों ने प्रायः सभी नागाओं को ईसाई बना दिया और अब उन से कहा गया कि वे स्वतंत्र-नागा राज्य की मांग करें। बिहार राज्य में हजारीबाग के आदिवासी और दलित वर्ग ईसाइयों के शिकार बन रहे हैं। मध्य-प्रदेश के भील—आदिवासी और पिछड़े वर्ग के लोग तेजी से ईसाई बन रहे हैं। सरकार इन पादरियों को रोकने में असमर्थ हैं। श्री जगजीवनराम जैसे हरिजन नेता ने ईसाइयों के इन कारनामों के प्रति बड़ी चिन्ता प्रकट की। पादरी धन की थैलियाँ खोल कर और तरह तरह के प्रलोभन देकर अछूतों को तेजी से ईसाई बनाने में लगे हैं। यदि हम उठ खड़े हों तो किसकी शक्ति है कि एक भी पादरी हरिजन और आदिवासियों को ईसाई बनाने का साहस करे। आर्यसमाज कुछ कार्य करता है। वह हरिजनों को ईसाई बनने से रोकता है। किन्तु उनके पास पादरियों के समान धन नहीं है और न साधन हैं। इसलिए उनके सामने आर्य समाज ठहर नहीं पाता है। सरकार पादरियों के इन कामों को रोकती नहीं है। छूट की एक सीमा होनी चाहिए। अवस्था इतनी दयनीय है कि सरकार के मंत्रिगण बेबश देखते हैं और वे कुछ नहीं कर पाते हैं। जो संस्थाएँ इस दिशा में कार्य करतीं हैं, वे राजनीतिक क्षेत्र में पड़ गयीं, जहाँ उनकी कोई उपयोगिता नहीं है। यदि ये संस्थाएँ सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में काम करतीं तो उन की उपयोगिता कई गुना बढ़ जाती। उस अवस्था में विधर्मियों की कोशिशें बेकार जातीं

और हिन्दू जाति से निष्कासन बन्द हो जाता। उल्टे हिन्दू धर्म के प्रभाव में दूसरे लोग आते। सम्राट अशोक के काल में बौद्ध भिक्षु संसार के विविध देशों में गए और उन्होंने धर्म तथा संस्कृति का प्रचार किया। भारत के स्वतंत्र होने पर वह समय फिर उपस्थित हुआ कि हम इस संस्कृति के दायरे में वे सब लोग ले आएँ, जो इस देश में बसते हैं। इतना ही नहीं हम देश के बाहर भी अपने धर्म और संस्कृति का प्रसार करते।

सुधारकों के प्रयत्न

सनातन धर्म में मूलतः वे दोष नहीं हैं, जो पिछलेकाल में आए। फिर यदि दोष आए भी, तो सुधारकों ने उन का कभी समर्थन नहीं किया। विगत् पचास वर्षों में समाज आगे बढ़ा है। आज की समस्या यह है कि समाज हिन्दू धर्म को मानने वाले किसी वर्ग को पेशे के कारण हीन न समझें, नीच न मानें, और उस के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार न करें। समाज में परिश्रम का कोई भी धंधा हो, हेय नहीं है, निम्नतर नहीं है। हम यह माने कि सब धन्धे समान हैं। एक प्रोफेसर व कानून वेता का धंधा जितना सन्मान पूर्वक है, उतना ही एक मेहतर का। मेहतर का धंधा किसी प्रकार नीच नहीं है। समाज ने उसे अज्ञानता से नीच मान लिया है। योरप में तो एक घर का मालिक अधिक आय के लिए किराएदारों की स्वयं टट्टियाँ साफ कर डालता है, वह इसे कोई नीच काम नहीं समझता है।

हरिजनों में भी जातीय भेद

खानपान और रोटी व्यवहार तथा विवाह शादी का प्रश्न अस्पृश्यता से सम्बन्ध नहीं रखता है। हम देखते हैं कि यह भेदभाव न केवल सवर्णों में, बल्कि निम्न वर्णों में भी है। धोबी, नाई, कुम्हार आदि वर्ण के लोग अपने अपने वर्ण में शादी व्यवहार करते हैं और खानपान करते हैं, जातीय दृष्टि से नाई, धोबी और कुम्हार के यहाँ नहीं खाता पीता है। पर आज की स्थिति ऐसी है कि सवर्ण लोग भले ही किसी भी दलित के यहाँ खा-पी लें और जातीय सम्बन्ध भी कर लें, किन्तु दलित तैयार नहीं होते। हम यह देखते हैं कि आज दलितों का दायरा बहुत छोटा रह गया है। सच पूछिए तो मेहतरों के सिवा आज किसी वर्ण के प्रति अस्पृश्यता नहीं रही है। सवर्ण हिन्दू सभी श्रेणी के अछूतों को स्पर्श करते हैं और कोई परहेज तथा हिकारत नहीं करते हैं। बड़े शहरों में मेहतरों के प्रति भी बहुत कम अस्पृश्यता रह गयी है। कट्टर सनातनी भी हरिजनों को गले लगाते हैं।

हरिजनों की अवस्था में परिवर्तन

हरिजनों की आर्थिक प्रगति ने अस्पृश्यता को मिटाया है। शिक्षा प्राप्त कर आज हरिजन समाज के युवक तेजी से सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ रहे हैं। व्यापार और उद्योग धंधों का वे संचालन करते हैं। छोटे धंधों की तो वे रीढ़ हैं। सरकारी और गैर सरकारी नौकरियों में हरिजनों ने तेजी से प्रवेश किया है। आज हरिजन छोटे पदों से लेकर बड़े-बड़े पदों तक पर मौजूद हैं। राष्ट्र के जीवन में कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ हरिजन समाज के व्यक्ति न हों। पिछले वर्षों में हरिजनों ने तेजी से शिक्षा में प्रगति की है और यही कारण है कि वे सभी पदों पर आसीन हैं। भारतीय संविधान ने हरिजनों को समाज में समान दर्जा दिया और यह अवसर दिया कि वे आगे बढ़ें। हकीकत यह है कि आज आर्थिक दृष्टि से हरिजन वर्ग पीड़ित नहीं है, मेहनतकश होने के नाते सवर्णों से अधिक अच्छी स्थिति में हैं। एक ब्राह्मण के प्रति रियायत या सुविधा भले हो कि वह अस्पृश्यता का शिकार नहीं, किन्तु आर्थिक दृष्टि से वह नितांत दलित है।

हरिजन यह नहीं चाहता है कि वे अपना धंधा नहीं करें। शिक्षा प्राप्त कर वे सरकारी और गैर सरकारी नौकरियों में गए, किन्तु उन्हें अपने पैत्रिक धंधों से घृणा नहीं है और होनी नहीं चाहिए। मेहतरों को लीजिए, वे अपना धंधा कब किसी को देने को तैयार हैं। कदापि नहीं। सब लोग अपने-अपने धंधों में लगे हैं। हिन्दू समाज सह-अस्तित्व का मूर्तिमंत रूप है, इतनी भिन्नता शायद ही संसार की किसी जाति में हो।

प्रादेशिक भिन्नता अलग है। जिस प्रकार और बिहार के ब्राह्मण बंगाल, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों से भिन्नता रखते हैं, वही स्थिति हरिजनों की भी है।

उनमें में भी एक-रूपता नहीं है। यही नहीं जो हरिजन सिख और ईसाई बने हैं वहाँ भी उन्हें अलग रखा गया है। सुधारक यह नहीं चाहते कि हरिजन एक पृथक् वर्ग रहे। उसे श्रम-जीवियों के रूप में हमें बदल देना चाहिए। हम देखते हैं कि समाज में अस्पृश्यता का विनाश तेजी से हो रहा है। देव-मन्दिर इच्छा तथा अनिच्छा से हरिजनों के लिए खुल रहे हैं। १९५७–५८ में केवल १२०० मन्दिर हरिजनों के लिए खुले, जिन में कई ऐतिहासिक मन्दिर हैं। हरिजनों में सनातन धर्म के प्रति जितनी आस्था है, उतनी सवर्णों में नहीं पायी जाती। वे सनातन धर्म के लिए जीते मरते हैं।

सनातन धर्म पर भार

आज सनातन धर्म का काम है कि वह अपने घर को ठीक करे, मेल से, स्नेह से, सब के सहयोग से एक निर्माण करे। इसके लिए द्वेश, कलह और जातीय संघर्ष वांछनीय नहीं है और न एक दूसरे वर्ग पर आरोप लगाने की आवश्यकता है। किसी वर्ग को कोसने और लांछित करने से हरिजनों के समाज सुधार का मार्ग प्रशस्त नहीं होता है। हमें समाज की भावनाएँ और विचार में परिवर्तन करना है। इस विचार क्रान्ति में समाज बहुत आगे बढ़ा चुका है और यह दिन दूर नहीं है, जब समाज में अस्पृश्यता और जातीय भेदभाव का नामशेष न रहेगा। वह पिछले युग की बात हो जाएगी।

सनातन धर्म का काम शास्त्रों के पन्नों के आधार पर केवल निषेध मात्र करना नहीं है, बल्कि देश-काल के अनुसार उत्पन्न परिस्थितियों के लिए व्यवस्थाएँ देना भी है।

**

भारत में लोक कल्याण शासन

'भारत का लोक कल्याण राज्य के निर्माण में आगे बढ़ना वर्तमान समस्याओं के हल का एक ही मार्ग है। आज समाज में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक समस्याएँ एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, और उन्हें दूर करने के लिए यही एक उपाय है।

आज प्रत्येक व्यक्ति के सामने सामाजिक शक्तियों को अपने नियंत्रण में लाने की समस्या उपस्थित है। अतः इसके लिए लोक कल्याण राज्य व्यवस्था ही ऐसा प्रथम और आवश्यक कदम है, जिसके अन्तर्गत कठिनतर सामाजिक शक्तियाँ नियंत्रण में आ सकती हैं। भारत इस दिशा में सच्चे मार्ग पर अग्रसर है। हमारा लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए केवल शरण देना भर नहीं है, बल्कि उस सुदृढ़ आधारशिला का निर्माण करना है, जिससे देश के ग्राम स्रोतों और साधनों के अन्तर्गत सबको सामाजिक न्याय, समृद्धि और सुरक्षा प्राप्त हो।'

—बेवन

समाज का यह विषम जीवन

श्री कन्हैयालाल मिश्र "प्रभाकर"

जहाँ मैं आज रहता हूँ, उस स्थान की नापजोख, सर्वे, इस प्रकार है, एक विशाल और शानदार कोठी का दो मंजिला। ऊपर के हिस्से में रहते हैं एक अपटूडेट सज्जन, जो अपने व्यापार के सिलसिले में बाहर से आकर यहाँ रह रहे हैं। कोठी के मालिक उनके पार्टनर हैं। पुराने रईस हैं। अफसरों से भी मिलते हैं। आप की पत्नी अद्भुत हैं। अपनी लड़की के साथ पढ़ रही हैं, सेकण्ड ईयर में। बड़ा सुखीपरिवार है।

नीचे के हिस्से में स्वयं कोठी के मालिक रहते हैं। लाखों रुपए का कारबार है। स्वयं शिक्षित हैं, पत्नी सार्वजनिक क्षेत्र में यश प्राप्त है। किसी प्रकार का अभाव नहीं, दुःख नहीं, सब भगवान की कृपा है। पास के क्वार्टर में हिन्दी के एक यशस्वी पत्रकार रहते हैं। सहृदय सज्जन, हँसमुख और सेवाशील। इन के परिवार में एक पुत्र है, विधवा भाभी है। पास के क्वार्टरों में दो और भले परिवार रहते हैं और सामने ही रहता है, कोठी का भंगी अपनी झोपड़े में। इस का परिवार बड़ा है। कई लड़के, लड़कियाँ, बहुएँ और बच्चे।

जरा बच कर सामने ही सात क्वार्टर हैं, जिनमें किरायेदार रहते हैं। सभी परिवार शिक्षित हैं, शरीफ हैं, कमाल हैं। बराबर में दो कोठियाँ हैं, जिनमें बड़े आदमी रहते हैं। जो सर्वथा सुखी हैं, प्रसन्न हैं। सामने वाली तीन कोठियों में भी इसी प्रकार के परिवार रहते हैं, जिनके यहाँ अभाव नहीं, अभियोग नहीं, जो आराम की जिन्दगी गुजारते हैं और वाकई जिन्हें सुखी कहना चाहिए।

अपने पलंग पर पड़ा मैं अक्सर सोचा करता हूँ। इस सारे क्षेत्र में सबसे छोटा, सबसे गरीब, दीन, जिम्मेदारियों के बोझ से दबा जो परिवार है, वह उसी भंगी का है। थोड़ी आय, बड़ा कुनबा, अछूतपन की ग्लानि, अशिक्षा और अप्रतिष्ठा सारे वातावरण में वह ऐसा है, जैसे हिमाच्छादित कैलाश के धवल श्रृंगों के मध्य में पड़ा कोई अंधेरा खड्ड। उसके बच्चों को मैं अपने पास बुला लेता हूँ। पैसे देता हूँ खिलाता हूँ, कहानियाँ सुनाता हूँ। पहले तो वे झिझकते थे, अब भेद पा गए हैं। रास्ते में कुरता पकड़ लेते हैं और कभी कभी तो जबर्दस्ती पैसा वसूल करते हैं। इन्कार करने पर कहते हैं, अच्छा जेब दिखाओ।

मैं अपने कमरे में पड़ा सोचा करता हूँ, यह कैसी समाज व्यवस्था है, जिसके एक मानव को कैलाश का धवल शिखर और दूसरे को अन्धकार भरा खड्ड बना छोड़ा है। और हम कैसे हैं कि नरक का यह बोझ ढ़ोते चले जा रहे हैं। करवट लेकर उसे छाती पर से उलट नहीं देते। यह परिवार हमारी समाज व्यवस्था का एक नमूना है, मर्मवेधी और स्पष्ट। पता नहीं इस परिवार में प्रतिभा के कितने वरद पुत्र हैं, जो गायक, व्यापारी, लेखक और इंजीनियर हो सकते हैं, पर नहीं, उन्हें पाखाना ही ढोना है और हमारे इन ऊँचे परिवारों में न जाने कितने अकर्मण्य और बुद्धू हैं, जिन्हें पाखाना ढोना चाहिए, पर नहीं वे लाला बाबू और पंडित ही रहेंगे। यहाँ कोई क्यों नहीं कह सकता, क्योंकि यह समाज व्यवस्था है, धर्म की आज्ञा है।

हम व्यापार की धुन में हैं, पर असल में तो आज एक ही धुन चाहिए कि यह समाज व्यवस्था कैसे बदले और इस परिवर्तन में हम अपनी शक्ति का हिस्सा कैसे अदा करें।

"घिरि आई रे बदरिया सावन की"

सावन प्रकृति का यौवन है और इस सप्ताह में तो यह यौवन पूरे उभार के साथ उतरा है। रोज रिमझिम, छमाछम लगी रहती है। बदरियाँ तो इस बार कुछ ऐसी जमी हैं कि बस जमी ही हैं। पृथ्वी पर हरितिमा छा गयी है। वृक्षों पर अमृत बरस पड़ा है, शुष्कता जैसे समुद्र में जा डूबी, चारों ओर ताजगी, जीवन और रस। हाँ, बस रस ही रस। आखिर यह सावन है, जिसमें कोई सूरदास हो जाए, तो बस उसे हरा ही हरा सूझे। कहते हैं, सावन में मनहूसों में भी मस्ती की रमक आ जाती है। यह वह मौसम है, जिसमें सूखे-गड्ढे भी भर जाते हैं। अचल पृथ्वी भी मेढकों के रूप में मुखरित हो उठती है और खामोश पड़े भी अपनी झिंगरियों के स्वर में झंकृत हो पड़ते हैं। सावन, नीरवता, निष्पन्दता, जड़ता, अरसता और मनहूसियत के विरुद्ध एक प्राकृतिक विद्रोह है, जिहाद और क्रान्ति।

ओह यह सावन ! !

मैं अपने पलंग पर पड़ा सुन रहा हूँ। 'घिरि आई रे बदरिया सावन की।' —लड़कियाँ और बहुएँ मिल कर गा रही हैं। कोमल कण्ठ के साथ ढोलक की ठुमक मिल कर एक समां बांध देती है, जिसमें रूप है, रस है, जीवन है, यौवन है, पर कहीं दूर भी जिसमें वासना की छाया नहीं है।

भंगी के परिवार ने अपने झोपड़े के सामने खड़ी पूर्व जन्म की सहेली सी बूढ़ी बेरी की कमर से झुके तने में एक झूला डाल रखा है। उसमें रात के समय परिवार की कन्याएँ और बहुएँ झूला झूल रही हैं, गा रही हैं, और अपनी छोटी-सी ढुलकियाँ को टमकोर रही हैं। पास के सब मकानों की रोशनी बुझ गयी है। आवाजें सो गई है और यह संगीत सारे वातावरण में मोलसिरी की भीनी गन्ध सा व्याप रहा है। पता नहीं, और कोई भी इसे सुनता है या नहीं, पर तल्लीन हुआ मैं सुन रहा हूँ। मेरी देह निश्चय ही इस समय इस युग में है, पर मन चिर-अतीत के उस गृहस्थ में रम रहा है, जहाँ प्रति दिन कोई न कोई पर्व, त्यौहार, अतिथि रहता था और जिसकी हर कड़ी में गीत की गांठ थी, हमारा जीवन ही तब गीतमय था।

मैं अपने पलंग पर सोच रहा हूँ, सावन की यह मस्ती, क्या इसी दिन परिवार पर बरसी है ? वह सब में गरीब है, हीन है, अभाव-ग्रस्त है, दुखिया है, फिर भी सावन की इस फुंहार 'भरी—बदरिया के तले वहीं क्यों गीतमय है ? जिन के घर भरा है, कोई अभाव नहीं, जो शिक्षित हैं, कल्चर्ड हैं, जिन्हें संगीत का ज्ञान है टेस्ट है, जिनके यहाँ रेडियो हैं, ग्रामोफोन हैं, सिनेमा जिनके जीवन की एक जरूरत है, उनके महलों के दीप्तिमान बल्व बुझे पड़े हैं, और इस गरीब की झोपड़ी का यह टिमटिमाता दीपक अभी तक प्रकाश दान करता जा रहा है। क्या सावन इसी झोपड़ी का अतिथि है ? उन ऊँची अट्टालिकाओं से वह रूठ गया है ? सघन कंठों का वह संगीत मेरे रोम रोम में पुलक बन कर छा रहा है और प्रत्येक पुलकन में उसी का स्पन्दन मुझे सुनाई देता है। कहीं और दूसरा स्वर नहीं है, शब्द नहीं है, जैसे यह सारी सृष्टि ही आज गीतमय हो उठी है।

और भी भावना के उस घने आवेश में भी जरा सचेतसा मैं सोच रहा हूँ। इस दैवी चमत्कार का सृष्टा कौन है ? यह अमृत वर्षा समाज के इस आंगन में कौन कर रहा है ? मन मेरा कराह उठता है, यह देख कर कि उस सृष्टा को मेरे समाज ने कुछ नहीं दिया, जो दिया, बस विष ही विष दिया। तभी एक प्रश्न मनमें झांक उठता है, समाज का यह विष पापी सावन की इस अंधियारी में अमृत की वर्षा कर रहा है। और ये जो चारों ओर समाज का अमृत पीने वाले हैं सो रहे हैं, अमृत की इस वर्षा में भी निष्पन्द है। यह क्यों ?

और मन मेरा जैसे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हो समाज की तह में उतरा जा रहा है। समारे समाज में जो उच्च हैं, सम्मान्य है, उसने अपने को मूल प्रकृति से पृथककर लिया है। उसके भीतर अवकाश नहीं, व्यस्त है। उसने स्नेह, ममता, दया, बन्धुत्व और सौहार्द्र के स्थान में पश्चिम से उधार लेकर टेक्ट और धन लिप्सा और फैशन को अपने में समा लिया है और उसकी दशा उस वृक्ष जैसी है, जिसे सफाई के साथ बीच से काट कर मूल से सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया गया है। पर ऊपर से जो मूल के साथ मिला, ज्यों का त्यों खड़ा है।

अब यह वृक्ष अपनी मूल पर ज्यों का त्यों खड़ा है, पर उस से यह जीवन रस ग्रहण नहीं करता। जीवन रस के इस अभाव में वृक्ष सूखने लगता है। उसकी हरितिमा सूखी पत्तियों में परिणत हो जाती है। हम विदेश का हरा रंग और वार्निश लेकर उन सूखे पत्तों पर फेर देते हैं, अब वे पत्ते हरे हैं, चमकीले हैं और देखने में सुन्दर भी हैं। पर उनमें अपना जीवन नहीं है। यही दशा है, हमारे सम्मान्य ऊँचे वर्ग की। उसका सम्बन्ध व्यापार से है, व्यवसाय से है, विज्ञान से है, पर सुरुचि और संस्कृति उसकी अपनी नहीं है, सब विदेशियों की है; गैर है। फलस्वरूप उसमें रंग है, रौनक नहीं है, ऊँचाई है, उभार नहीं है, ग्रहण है, दान नहीं है, "एग्रीमेंट" की बारीकियाँ हैं, कविता की भावधारा नहीं है। उसका मानस पात्र भरा है, लबरेज नहीं है, फिर वह छलके कहाँ से, जिस बादल में घुमड़न नहीं, वह फुवार क्या देगा ?

और मैं फिर अपने पलंग पर पड़ा देख रहा हूँ। सारा वातावरण उसी मुधुर-ठुमक से भरा है और सारी प्रकृति उसमें डूबी नहाई, नग्न बालिका सी सिमटी भावलीन है। मन मेरा फिर विचारों में डूब चला है। कमल की सृष्टि कीच में है और इस गीत धारा की मान-अभाव भरे जीवन में। मैं उसी जीवन पर कल्पना की दृष्टि से एक सरसरी नजर डाल रहा हुँ। इस छोटे से जीवन का सम्बन्ध अभी मूल के साथ है, यह मूल से जीवन का रस ग्रहण करता रहता है, पर इसके पत्तों में, जीवन के विकास में, गरीबी और सामाजिक पदहीनता के कीटाणु हो गए हैं, जो इसे पनपने, लहलहाने नहीं देते। मूल से इसे जीवन रस न मिलता, तो यह कभी का सूख जाता।

गीत की रस धारा में बहते बहते मेरी पलकें अब भारी हो गयी हैं। और नींद उन पर अपना डेरा डाल रही है। कानों की ग्रहण शक्ति कम हो चली है, मस्तिष्क में तन्द्रा है और गीत स्वर इससे और भी भीना है, मधुर हो गया है, प्रकृति जैसे थिरकती थिरकती धीरे से नृत्य की विशेष मुद्रा में आकर स्थिर हो गयी है। मन वर्तमान की धारा से फिसल कर भावी चिन्ता में रम रहा है—'निन्दिया या मन, मेरा मन।'

आँखें झप रही हैं, और इसी खुमार भरी झपझपी में मैं देख रहा हूँ दूर से, कल्पना के पंखोंपर बैठा भावी धन्वन्तरि आ गया है। उसने यह लो, एक ही धक्के में उस मूलहीन वृक्ष को गिरा दिया है और अपने कैलाश से उस दिव्यात्मा ने दूसरे रोगी वृक्ष पर अमृत की बूंदे डाल कर उसे रोगहीन, जीवन पूर्ण, फिर से लहलहाता कर दिया है।

आज के वातावरण से और भी दूर अपने उसी पलंग पर पड़ा मैं तन्द्रा की झपझपी में देख रहा हूँ कि उस गिरे वृक्ष को चीर फाड़ कर लोगों ने ईंधन कर जलाना आरम्भ कर दिया है। साथ ही सूखे वृक्ष पर बौर लदा है, जिसकी महक से कोना कोना महक रहा है और विश्व उससे फलदान की आशा में आँखें बिछाए प्रार्थी है।

मेरी तन्द्रा नींद में बदल रही है। गीत की ध्वनि और भी मन्द मधुर हो चली है। अब ध्वनि नहीं, झंकार है और इसी धुंधली सी चेतना में मैं सोच रहा हूँ विदेशी रंग और पालिश के दर्द से दीप्त यह ऊँचा वृक्ष आज नहीं सोचता कि कल उसे अग्नि भोज बनना है और आज की दीनता में दबा यह दूसरा वृक्ष भी अनुभव नहीं कर पाता कि कल उसे इसी विश्व को अपनी सुगन्ध से भर देना है।

गीत और भी मीठा हो चला है, अनहद-नाद सा और ढोलक की टमकोर की टप-टप-सी प्यारी उँगलियाँ ढोलक पर खेल रही हैं। बस आ गया सम, पड़ी थाप और मेरी चेतना उसीमें रम गयी।

**

नवयुग की यह सभ्यता और संस्कृति

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

अब सारी ही मनुष्य जाति भूखों मर जाए, इस के सरजाम पैदा हो गए हैं। या तो मनुष्य-मनुष्य को खाए या वह भूखों मर जाए। अकाल, महामारी और युद्ध सब इस मानव विनाश के लिए काफी साबित नहीं हो रहे हैं। यद्यपि मनुष्य ने इन में विज्ञान का सहारा लेकर इन की विनाशक शक्ति को बहुत बढ़ा दिया है। आज स्त्री पुरुष रात दिन बच्चे पैदा करने के काम में जुटे हुए हैं और वे प्रतिदिन लाखों बच्चे उत्पन्न कर रहे हैं। उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं है कि वे क्या खाएँगे और कहां रहेंगे। सरकार उन के इस उत्पादन में कोई रोकथाम नहीं करती है। इन अन्धाधुन्ध और बेतरतीबी से पैदा हुए मनुष्य की तबाह जिन्दगी आज की सभ्यता और संस्कृति के लिए चुनौती है। इन की निकृष्ट जिन्दगी हद दर्जे की घृणास्पद और करुण है। उन की आदतों में कुछ ऐसी खराबियां आ गयी हैं जो संसार के किसी भी जीव जन्तु में नहीं। वे झूठे, कपटी, बेईमान, दगाबाज और व्यभिचारी हो गए हैं। वे चोर हैं, नशा करते हैं और एक दूसरे का गला काटते हैं। आज मनुष्य ही मनुष्य का सब से बड़ा खतरा बन गया है। मनुष्य का सब से बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह बुद्धिमान है, उस ने अपने सारे बुद्धिबल को अपने विनाश में लगाया हुआ है। और अब विनाश ने उसे चारों ओर से घेर लिया है। जिन्दा रहने की उस की सारी चेष्टाएँ अब हास्यास्पद हो गयी हैं। इधर वह अपने रहने के लिए बड़े-बड़े आलीशान महल बनाता है, भोग और ऐश्वर्य के साधन जुटाता है, उधर उसके लिए जेलखाने, पागलखाने और मुहताज खाने बनते जा रहे हैं, जितने बनते हैं उतने ही कम प्रतीत हो रहे हैं। वह आजाद होने की डींग हांकता है, पर जेलों और पागलखानों में अपनी घृणित जिन्दगी व्यतीत करता है। उस की जिन्दगी उसी के लिए बोझ है, मौत ही उस की मुक्ति है। मौत ही उस के सब दुख दर्दों की दवा है। वह मनुष्यता का बोझ अपने कन्धों पर लादे हुए थकावट से चूर-चूर, पसीने से लथपथ विश्राम और आराम की खोज में भटक रहा है। एक आवारा पागल की भाँति। उस की जिन्दगी बैल की जिन्दगी है और मौत कुत्ते की मौत है।

युग के ये सपने

आज हम सभ्यता और संस्कृति के राग मोहक सुरों में अलापते हैं परन्तु क्या अज्ञान दुराचार और दरिद्रता की यह बाढ़ हमारी आज की सभ्यता के लिए चुनौती नहीं है? वे लोग, जो न तो अपना न अपने बच्चों का पालन पोषण कर सकते हैं, जो गन्दी झोपड़ियों में जिन्दगी बिताते हैं, अपनी इन गन्दी झोपड़ियों को बच्चों से पाट रहे हैं। उन में अपनी जिम्मेदारी समझने की शक्ति नहीं है। वे भगवान और भाग्य के भरोसे पड़े कीड़ों की भाँति रेंगते हुए जीने के आदी हो गए हैं। वे बच्चों को चाहते हैं, उत्पन्न होने पर उनका स्वागत करते हैं, यद्यपि वे उन पर बोझ हैं। वे बच्चों की कोई खोज खबर नहीं लेते। वे बच्चे गन्दी गली कूचों में आवारा कुत्तों की भाँति भटकते हुए बढ़ते हैं, जेल जाते हैं, अस्पतालों में मरते हैं, फाँसी पर लटकते हैं। कुछ भीख मांगते हैं, कुछ गन्दी बीमारियों में सड़ते हैं, दुराचार उन के जीवन का सहारा हो जाता है। दुराचार को वे अपनी औलाद को विरासत में दे जाते हैं। इन अपराधी, आवारागर्द, दुराचारी, भिखारी और घृणित रोगों के रोगियों को बेतहाशा बच्चे पैदा करके संसार को पाट देने से रोकने के लिए सरकार ने कोई कानून नहीं बनाया है। उन्हें अपने में रहने देने को, उन के साथ रहने का खतरा उठाने को समाज बाध्य हैं। समाज पर उन्हें खाना कपड़ा और निवास देने का भार है। किन्तु कहाँ से? और कैसे? समाज न तो इतने आदमियों का भार उठा सकता है और न उन्हें खाना दे सकता है। इतने आदमियों के लिए भोजन उसके पास है ही नहीं।

सभ्यता के ठेकेदार हमें सदा यह झांसा ही देकर भुलावा देते रहे हैं कि ज्ञान और सदाचार मनुष्य के दुःख दर्द को हर लेंगे, मनुष्य का जीवन सफल होगा, जेलखाने ढहा दिए जाएँगे, फाँसी के तख्ते दुनिया से उठा दिए जाएँगे, जेल की काल कोठरियाँ प्रकाश से जगमगा उठेंगी, कोई दरिद्र न रहेगा, कोई भीख के लिए हाथ नहीं पसारेगा। मनुष्य समझदार, सदाचारी और सुखी हो जाएँगे। किन्तु कब? कब? कब? ये सपने आप ने युग-युग से देखे हैं, शायद युग-युग तक देखते रहेंगे।

धर्म और श्रद्धा ने

आप चाहते हैं कि मनुष्य सुख से रहे, भोजन वस्त्र और मकान तथा अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की उसे चिन्ता न रहे। इतना ही नहीं, आप यह भी चाहते हैं कि ज्ञान से, प्रेमसे, दर्शन से, कला से, वह अपने मन की भूख मिटाए। आदि युग के असभ्य मानव की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। परन्तु सभ्यता के साथ-साथ शारीरिक आवश्यकता भी बढ़ती गयी। मनुष्य का दिमाग और अधिक और अधिक की माँग करता गया। असभ्य युग का आदमी सोचता कम था वह केवल अनुभव करता था। वह दुनिया का बचपन था। उस युग का आदमी मन का कमजोर, आलसी, डरपोंक था। वह जो देखता उसे ही समझ पाता था। विपत्ति पड़ने पर प्रकृति से परे किसी अदृष्ट शक्ति की सहायता खोजता था। हजारों साल तक उसकी औलाद प्रकृति से परे की शक्ति की खोज करती रही। धर्म ने, श्रद्धा ने और दर्शन शास्त्र ने उसे अच्छी तरह भरमाया, भटकाया।

धर्म के विकास में

समाज के विकास के साथ ही धर्म का विकास हुआ। समाज संस्था और संस्कृति ने मिल कर धर्म का रूप धारण कर लिया। समाज में ज्यों-ज्यों बुद्धिवाद का समावेश होता गया, समाज में नए आचार विचार जन्म लेते गए और पुराने आचार विचार मरते चले गए। बुद्धिवाद और मनुष्य की अन्वेषक बुद्धि ने मानवीय प्रकृति को प्रगतिशील बनाया। इस प्रगति ने उस में भावना, आकांक्षा, श्रद्धा, भक्ति, प्रीति, द्वेष, भय और विश्वासों को जन्म दिया।

धर्म परमेश्वर का एजेंट बना

परन्तु आगे चल कर यह धर्म मनुष्य को गुमराह करने लगा। एक रहस्य को दूसरे रहस्य से समझना, जादू टोना, देवी शक्तियाँ, मन्त्र, चमत्कार, स्वप्न, भविष्य वाणियाँ, प्रवृत्ति से परे की शक्तियों में विश्वास रखना, चेतन से जड़ की उत्पत्ति हुई है और उसी का उस पर अधिकार है यह विश्वास रखना धर्म का मुख्य रूप बनता गया। यह धर्म का माया महल अन्ध विश्वास के आधार पर खड़ा होता चला गया। अंध श्रद्धा उस की दीवारें थीं। धीरे-धीरे यह प्रमाणित होता गया कि यह धर्म अज्ञात का पुत्र है। और दुनिया के मनुष्यों में दुःख दर्द फैलाना उस का पेशा है। संघर्ष, घृणा, और खून खराबी इस की नीति है। हजारों वर्षों से इस धर्म ने मनुष्य जाति को नाकों चने चवाए हैं। करोड़ों मनुष्यों का कम खून पिया है? हजारों कुल बधुओं को जिन्दा जलवाया है। धर्म के कारण युधिष्ठिर ने जुआ खेला, राजपाट हारा, भाइयों और स्त्रियों को जुए के दाव पर लगा कर गुलाम बनाया। फिर भी किसी माई के लाल ने उन की ओर उंगली न उठाई। वे धर्म के बेटे जो ठहरे, जो करें सो ठीक। धर्म ने मनुष्य के दिमाग को गुलाम बना दिया। इस से धर्म के नाम पर दुनिया भर के झूठ और अपराध दुनिया में किए गए, खून की नदियां बहाई गयीं और जातियां इस के पीछे तबाह हो गयीं—यह धर्म अब तक मनुष्य की छाती पर काला पर्दा बन कर छाया हुआ है। वह इसके पीछे मर मिटा पर अभी सचेत नहीं हुआ। इस हत्यारे राक्षस ने किस प्रकार जातियों को तबाह किया है, इस के ज्वलन्त उदाहरण रोम और स्पेन हैं। दो हजार वर्षों तक यह परमेश्वर का एजेंट इटली में रहा। वहाँ के पोप और पादरी सारे योरप को

बंदरों की भाँति इशारों पर नचाते रहे। सारा देश मठों, गिरजों और पादरियों, साधुओं, साधुनियों से भर गया। इन मठों को योरप के धनी मानी जनों ने सोने से भर दिया। सभी सड़कें रोम को जाती थीं जो भेंट ले जाने वाले यात्रियों से खचाखच भरी रहती थीं। अन्त में इस धर्म ने इटली का बेड़ा गर्क किया। स्पेन की कभी आधी दुनिया में हुकूमत थी, सारे संसार का सोना चांदी उस के अधिकार में था। योरप की दूसरी जातियों ने सोचना समझना शुरू कर दिया, पर स्पेन धर्म से चिपका रहा। योरप में विज्ञान का सूर्य चमका, पर स्पेन में नहीं। वह माला जपता रहा, प्रार्थनाएँ करता रहा, आत्मा की रक्षा के उपाय करता रहा। उसे चमत्कारों पर, अलौकिकता पर, ईश्वर के इन एजेंटों पर विश्वास था, ज्ञान पर नहीं। उस का यह धर्म उसे खा गया। स्पेन ने ने अपने को तबाह कर लिया। यही दशा पुर्तगाल, आस्ट्रिया और जर्मनी की भी हुई। हिन्दुओं का भी बेड़ा इसने गर्क किया। कभी यज्ञों का बोलबाला था। पुरोहितों और राजाओं ने खूब मनमानी की। सर्वसाधारण उन की दासता करते थे। लोग अन्धे थे, बहरे थे, धर्म और श्रद्धा के पीछे भेड़ की भाँति चलते थे। पोप की भाँति ही सब दुःख दैन्य की दवा, दान दक्षिणा, यज्ञ अनुष्ठान, तन्त्र मन्त्र बताते रहे, धन ऐंठते रहे। फिर तान्त्रिकों का दौर-दौरा हुआ। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, भैरव, भैरवी, काली, कराली, आदि सिद्धियाँ यज्ञों से होने लगीं। यज्ञों से बेटे पैदा कराए गए, मेघ वर्षाए, उपनिषदों ने 'ब्रह्म' का ढकोसला खड़ाकर बुद्धि को अंधेरे जाल में ला पटका। ये अज्ञानी अपने को ज्ञानी कहने से खुश होते थे, बौद्धों ने यज्ञों की आंच ठंढी की तो हिन्दू मूर्ति पूजा पर उतर आए। कोई शैव बना, कोई वैष्णव और कोई शाक्त! तीन शताब्दियों तक खूब खून खच्चर हुआ। तत्ववेत्ता और दार्शनिक अक्ल के आंशिक मजनू ठहरे। उन्होंने मनुष्य की बुद्धि को तर्क और वाद के चक्कर में खूब चक्कर खिलाए। अनगिनत आचार विचार स्मृतियों और धर्म सूत्रों ने जाति की जाति को नियमों में जकड़ दिया। अनगिनित जातियाँ, अनगिनत आचार, अनगिनत लोकचार बना डाले।

धर्म और स्वतन्त्रता

अतएव धर्म सब देशों में सब जातियों में असफल रहा। इस ने मनुष्य को उदार और दयालु नहीं बनाया, उसे दास और भिखारी बनाया, वह विज्ञान और खोज का शत्रु है, वह कभी मनुष्य को स्वतन्त्र नहीं रहने देगा। संयमी नहीं रहने देगा। ईमानदार नहीं रहने देगा। फिर भी वह समय आया जब ज्ञान विज्ञान ने उस की आखों का पर्दा हटा दिया। बहुत ही धीरे-धीरे बड़े कष्ट में उस की विचार सत्ता विकसित हुई और शरीर मन का सहायक हुआ। विचार और परिश्रम एकत्र मिले। और मनुष्य की उन्नति का सूत्रपात आरम्भ हुआ। वह प्रकृति से परे की आस छोड़, जो प्राकृतिक है उसी में विश्वास बढ़ाने लगा। पर इसके लिए उसे हजारों साल तक पुराने रीति रस्मों से लड़ना पड़ा।

आज की सभ्यता ने क्या किया?

परन्तु अभी मनुष्य भले प्रकार उभरा नहीं था। नयी सभ्यता ने उस के सामने तीन समस्याएँ ला खड़ी कीं, वे ये हैं :—

देश, राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की भावना। ये समस्याएँ दैत्य बन गयीं और अपने दादा गुरु दैत्यों के दैत्य 'युद्ध' को असहाय मनुष्य के सामने ला खड़ा किया। इस युद्ध के दानव ने सारे सभ्य संसार को कर्जदार, दिवालिया और दरिद्र बना दिया। इस युद्ध की बदौलत करोड़ों मनुष्यों को विवश होकर तथा जीवन की आवश्यकताओं से रहित होकर रहना पड़ रहा है। मनुष्य को मार डालने की तैयारी में, मृत्यु के नए-नए सपनों के निर्माण में वे अरबों रुपए खर्च कर डाले गए हैं जो मनुष्य की भलाई के लिए काम आने चाहिए थे। जरा आप उस खूनी क्रूरता और बेशर्म जुल्म का तो विचार कीजिए जब अकारण ही गोलियां जीवित

मनुष्यों की छाती को बींधती चली जाती हैं। उन अनाथ विधवाओं और अनाथ बच्चों के आंसुओं से भरे मुखड़ों को तो देखिए जिन के पति और पिता इस प्रकार मार डाले गए जब कि वे अभी भरी जवानी में थे। और फिर उन गूंगे, लंगड़े, लूले, अपंगों को देखिए, जो उन युद्धों से प्राणों को घसीट कर घर ले आए हैं।

पाशविक जिन्दगी है

आप देश भक्त हैं, राष्ट्रीयता के पुजारी हैं, स्वाधीनता के पुजारी हैं। इसलिए आप को कदाचित् देश, राष्ट्रीयता और स्वाधीनता के सम्बन्ध में हमारी बात अच्छी न लगे। परन्तु हम आप से इन मसलों पर विचार करने की अपील तो अवश्य करेंगे। मनुष्य के नाम पर, भूखे नंगे, दुखी, भयभीत और दर्द से कराहते हुए मनुष्य के नाम पर, जिस की जिन्दगी को बैल की जिन्दगी और मौत को कुत्ते की मौत आप ने, आप की सभ्यता ने, आप की देशभक्ति ने, आप की राष्ट्रीयता ने आप की स्वाधीनता के जनून ने बना डाला है।

देश नाम का देवता

पहले हम देश की बात कहेंगे। एक घायल जानवर जिस कदर दर्द से छटपटाता हुआ कराह कर चीख सकता है, उतना ही चीख कर हम आप से कहना चाहते हैं कि इस देश नाम के देवता ने इस सभ्य युग में जन्म लेकर दुनिया के सब देवताओं को पीछे ढकेल दिया है। यही आज संसार की सब सभ्य जातियों का सब से बड़ा देवता बन गया है। परन्तु असभ्य युग में असभ्य जातियों ने कभी भी किसी देवता को इतनी नरबलि न दी थी जितनी इस सभ्य युग के इस देवता को मनुष्य ने दी है और देता जा रहा है। और पता नहीं कि कब तक देगा। इस देवता की खून की प्यास का अंत नहीं है। बलिदान की पुरानी तलवार के स्थान पर मनुष्य ने अपना सारा बुद्धिबल खर्च करके ऐसे-ऐसे खूनी हथियार इस देवता के पुजारियों ने इस देवता को तृप्त करने के लिए बना लिए हैं कि लाखों नर नारियों से हरा भरा नगर बात की बात में मुर्दों का टीला बन जाए। हंसते, खेलते बच्चे, घर-गिरस्ती के काम में मगन भुनभुनाती बहुएँ और जीवन के उद्योगों में व्यस्त पुरुष क्षण भर में जो जहां है जलभुन कर खाक हो जाएं। रोज मनुष्य का ताजा रक्त इस देवता को चाहिए। जो सब से अधिक नर वध कर सकता है, वही सब से अधिक इस देवता का वरदान प्राप्त कर सकता हैं। यह देवता शायद संसार को खा जाएगा। एक भी आदमी के बच्चे को जीता न छोड़ेगा। इस बात के सरंजाम इस देवता के पुजारी जुटा रहे हैं। इस देवता का इतिहास सुनने योग्य है। इसी से हम संक्षेप में सुनाते हैं। यह देवता योरप में उत्पन्न हुआ और वहाँ से अंग्रेज इसे भारत में लाए। सारे संसार की जातियों में देवता संस्कृति का प्रतीक रहा है। फिर पराजितों की अपनी जातियों में विजयिनी जातियों का देवता संस्कृति का प्रतीक रहा है। विजयिनी जातियाँ पराजितों पर अपनी जातियों को थोपती आयी हैं। जब आर्यों ने भारत को विजय किया था तो उनका नेता इन्द्र जो सिन्ध और पंजाब का राजा बन गया था, वहाँ के लोगों का देवता बन गया। अशोक ने अपनी धर्म विजय से बुद्ध को, शकों ने 'महादेव' को, गुप्तों ने 'वासुदेव कृष्ण को अपना देवता बनाया और उसे मनुष्यों के आगे लाए। इसी प्रकार अंग्रेज इस 'देश' नाम के देवता को लेकर भारत में आए।

जब भूमध्य सागर और अटलांटिक महासागर पर अभियान कर पुर्तगीज नाविक दीयाज, कोलम्बस, और वास्कोडिगामा ने पूर्व का द्वार योरप के लिए खोल दिया और भारत चीन तथा अमेरिका जैसे महादेशों की उसे उपलब्धि हुई तब इन देशों की सम्पत्ति पर सारे पश्चिमी योरप की लोलुप दृष्टि पड़ी और उनमें प्रतिस्पर्द्धा बढ़ने लगी। पुर्तगीज के बाद डच और उनके बाद अंग्रेजों ने उद्योग किए। फ्रेंचों ने भी हाथ पैर मारे। अन्त में प्लासी के निर्णायक युद्ध में भारत में अंग्रेजों के राज्य की नींव बद्धमूल हुई। आज इस राजा का और कल उस राजा का पक्ष लेकर उन्होंने सारा भारत यूनियन जैक के नीचे ला दिया। पर अंग्रेजों को भारत में केवल भाग्य से ही सफलता नहीं मिली, उस का कारण वह औद्योगिक क्रान्ति थी जिसका श्री गणेश योरप में

मार्कोपोलो के बाद पन्द्रहवीं शताब्दी में आरम्भ हो गया था। अपनी कूटनीति और उद्योग से अंग्रेज सब योरोपीय देशों से बाजी मार ले गए थे। उन्होंने राज सत्ता और धर्मसत्ता के प्रति अपनी यह नीति बना ली थी कि जब उससे लाभ उठाने का अवसर हो तो लाभ उठा लिया जाए। जब जरूरत नहीं तो उसे ही ठुकरा दिया जाए। इंगलैंड के सरदारों और मध्यवर्गी जनों ने राजा पर अंकुश लगाने को पार्लमेंट की जो स्थापना की उस से उन्हें व्यापारिक क्रान्ति में बड़ी मदद मिली। सोलहवीं शताब्दी में उसने मार्टिन लूथर के नेतृत्व में पोप का धार्मिक प्रभुत्व भी ठुकरा दिया। बढ़ते हुए मध्यम वर्ग ने अपनी इस बात में आड़ लगाने के अपराध में अपने राजा चार्ल्स का सिर काट लिया और योरप भर के राजाओं का विद्रोह भी उनके दृढ़ निश्चय को हटाने में कारगर न हुआ। इस प्रकार अंग्रेजों का मध्यवर्ग राजसत्ता और धर्म सत्ता दोनों से उन्मुक्त होता गया। इस समय फ्रांस की रक्त क्रान्ति ने जो उलझनें उत्पन्न कर दी थीं उससे इंगलैंड योरप के सारे देशों से प्रगति में आगे निकल गया और भारत में उसने केवल विलासी, आलसी, घमण्डी और राजनीति में कोरे राजाओं और बदमाशों को परास्त ही नहीं किया, अपनी व्यापारिक क्रान्ति के द्वारा उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति की लहर भारत के कोने-कोने में फैला दी और जिसका बहुत गहरा प्रभाव हमारे समाज और जीवन पर पड़ा। बड़े-बड़े मनस्वी भी अंग्रेजों के न्याय के गीत गाने लगे।

शुद्ध भारतीय संस्कृति

अंग्रेजों के द्वारा जो कुछ हो रहा था उस पर भारत के तत्कालीन मनीषियों ने यह देखा कि अंग्रेजों की उन्नति और सफलता का कारण उनका ईसाई धर्म या बाइबिल नहीं है, 'देश भक्ति है'। प्रत्येक अंग्रेज अपने देश के लिए बड़े से बड़ा त्याग कर सकता है पर हिन्दू नहीं कर सकता। हिन्दू अधिक से अधिक अपने धर्म या जाति के लिए त्याग कर सकता था। इन स्वतंत्रचेता नेताओं के मनमें यह विचार पकड़ गया कि यदि हिन्दू समाज में भी देश भक्ति की भावना जाग्रत हो जाए तो हिन्दू भी अंग्रेजों की भाँति जाग्रत और संगठित हो सकते हैं। इसी समय बंकिमचन्द्र ने 'वन्देमातरम्' का घोष किया। और उस माता की मूर्ति का वर्णन किया—'सुजलां, सफलां, मलयज शीतलां शस्यस्यामलां मातरम्।' अष्टभुजी दुर्गा के स्थान पर उन्होंने इस प्रतिमा की 'सप्तकोटि भुजघृत कर बाले,' का नाद किया और अन्त में कहा 'के बोले मा तुमि अबले।' इस सप्त कोटि भुजघृत करबाले—वाक्य में साढ़े तीन करोड़ बंगालियों का सामूहिक आव्हान था। उस समय बंकिम ने केवल बंगाल को ही देश माना था, सम्पूर्ण भारतवर्ष को नहीं। शीघ्र ही सम्पूर्ण बंगाल 'सप्तकोटिभुजघृत खर कर बाले' 'के बोले मा तुमि अबले', के निनाद से गुंजायमान हो गया। और बन्देमातरम् उनका मूल मंत्र हो गया तथा 'मातृभूमि' उनकी भूमि माता बन गयी। इस नयी देवी की उपासना करते ही बंगाल ने जो फुफकार भरी वह भारत के इतिहास की एक वस्तु है। शीघ्र ही यह मंत्र और इस मंत्र की यह नई देवी 'मातृभूमि' बंगाल की परिधि को पार कर अंग्रेजी साम्राज्य की वृद्धि के साथ-साथ 'अंग्रेजी राज के मूल स्तम्भ अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दुओं द्वारा भारत में चारों ओर फैलने लगी। परन्तु देश में एकता नहीं थी। बंगाली अपने को बंगाल तक महाराष्ट्रीय महाराष्ट्र तक पंजाबी पंजाब तक अपनी सीमा में सीमित थे। समूचे देश को एक कहने वाला कोई न था। समूचे देश में एकता स्थापित करने के लिए एक धर्म और एक भाषा की बड़ी आवश्यकता थी। इस बात पर ध्यान दिया स्वामी दयानन्द ने। उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से वेदों को धर्म का केन्द्र बना कर अनेक सम्प्रदायों में बिखरे हुए हिन्दुओं को एक वैदिकधर्म के झण्डे के नीचे ले आने का उपक्रम किया। कोई भी हिन्दू सम्प्रदाय वेद का विरोध न कर सकता था। वेदों ही के सहारे असंख्य देवताओं को रद्द करके उन्होंने एक निराकार परमेश्वर की प्रतिष्ठा की, जो मुसलमानों के खुदा व ईसाइयों के ईश्वर और ब्राह्म समाज के ब्रह्म ही के समान था। विशेषता यह थी कि उसका समर्थन विदेशी नहीं, प्राचीन वेदों से होता था। वेदसे ही उन्होंने जाति भेद का विरोध किया, सारे भारत को एक राष्ट्र बनाने के लिए उन्होंने रेल तार बिजली विज्ञान भाप जो

कुछ इस नए युग के अंग्रेजी पढ़े लिखे पुरुष को चाहिए था सब की उत्पत्ति वेदों से दिखाकर समूचे हिन्दू समाज को अपनी वैदिक संस्कृति की ओर उन्मुख कर दिया। लोग आश्चर्य दिग्विमूढ़ हो गए। जन्म से दरिद्र को घर ही की भूमि में गड़ा बाप दादों का धन मिल गया। उन सब प्रभावित जनों को स्वामी दयानन्द ने एक भाषा एक देश, और एक धर्म का मन्त्र दे आर्य वंश और वेदों से उन्हें सम्पन्न कर, उन्हें 'देशभक्ति' से सराबोर कर दिया। सम्पूर्ण उत्तर भारत में स्वामी दयानन्द का जयघोष होने लगा। चारों ओर से आवाज आने लगी—'वेदों का डंका बजवा दिया ऋषि दयानन्द ने' 'वेद और आर्य शब्द के जादू ने इस अंग्रेजों के लाए देश नाम के देवता को शुद्ध भारतीय संस्कृति का जामा पहना दिया।

देश भक्ति का पाठ

बंगभंग से क्रुद्ध बंगाली तरुणों ने 'बन्देमातरम्' का जयघोष करते हुए सर्वप्रथम इस नए देवता 'देश' को अपना रक्त दान दिया। इसके बाद तो 'देश' का देश भक्त लोगों को जुनून चढ़ गया। देश के लिए मर मिटने के हौंसले जन जन में भर गए। हिन्दी साहित्य में इस देवता की भक्ति की स्थापना की भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य ने विविध काव्य भाषा में साहित्य को देश भक्ति की आवाज से भर दिया और दिनदिन 'देश' का देवता नई पौद के तरुणों का सर्वोपरि देवता बन गया। देश के बच्चे-बच्चे के मन में देश का देवता रम गया। यदि आप आज भी किसी पढ़े लिखे से यह कहें कि 'तू देश भक्त' नहीं है तो वह इसे अपने लिए एक सब से बड़ी गाली समझेगा। यह एक मार्के की बात थी कि 'देश' के इस देवता की पूजा सिर्फ हिन्दुओं ने ही की, मुसलमानों ने नहीं। कुछ मुस्लिम कवियों ने वतन के तराने दबी जबान में जरूर गाए पर उन में वह प्रेम, बलिदान, भक्ति और आसक्ति न थी जो इसलाम धर्म के प्रति थी। उन्होंने इस देश को माता के समान पूज्यनीय नहीं अपने बाप दादों के द्वारा फतह की हुई लौंडी समझा और सदैव इसे भोगने के अधिकार का दावा किया। वे अन्ततः साम्प्रदायिक बने रहे।

स्याही पोत दी

परन्तु जैसे अच्छी से अच्छी दवा भी ओवर डोज होने पर घातक बन जाती है उसी भाँति हिन्दुओं की यह देश भक्ति और मुसलमानों की स्लिमम् परस्ती दोनों ही दोनों जाति के मनुष्यों के लिए घातक प्रमाणित हुई। इसीका परिणाम यह हुआ कि जब अंग्रेज भारत को मुक्त करके जाने लगे और ४२ करोड़ नर नारियों की दासता की मुक्ति का पुण्य पर्व आया, तब प्रत्येक हिन्दू मुसलमान को छाती से छाती मिला कर एक होने खुशी मनाने और गर्व करने का क्षण आया; किंतु ठीक उसी क्षण में हिन्दू और मुसलमान दोनों के खून और आँसुओं ने मिलकर इन दोनों महाजातियों के मुँह पर स्याही पोत दी। दोनों जातियों के हाथ दुःख दर्द और मलाल को छोड़ कुछ भी हाथ न लगा। अब हम आपका ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करेंगे कि इस देश नाम के देवता ने किस तौर पर खून खराबी का कारबार शुरू किया। देश नाम के इस देवता के पुजारियों ने इसकी प्रतिष्ठा में एक मन्दिर की बड़ी इमारत खड़ी की, वह इमारत थी राष्ट्रीयता। यह राष्ट्रीयता की इमारत मनुष्य के खून के गारे से खड़ी की गयी।

भोग तृष्णा एवं राष्ट्रीयता

सब जानते हैं कि भोग तृष्णा सब दुःखों की जड़ है। शरीर की आवश्यकता की पूर्ति को भोगतृष्णा नहीं कहते हैं। मनुष्य के मनमें जब भोग वस्तुओं की बेहद लालसा बढ़ जाती है तब उसे तृष्णा कहते हैं। यह तृष्णा मनुष्य में संसार के सब प्राणियों से अधिक है। इसीसे वह आज संसार के सब प्राणियों से अधिक दुःखी है। वास्तव में भोग तृष्णा मनुष्य में उत्पन्न होकर उसको नष्ट कर देती है। परन्तु इसका संहारक

रूप तो तब देखा जाता है जब वह समूचे समाज में प्रविष्ट हो जाती है। भोगतृष्णा के इसी सामाजिक रूप को 'राष्ट्रीयता' के नाम से विख्यात किया गया है।

यह हमारा जीवन है ?

देश भक्ति ही इस राष्ट्रीयता को उत्पन्न करती है। 'देश' की पूजा करने वालों का दल ही राष्ट्र बन जाता है। इस राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में एक बहुत मजेदार बात है। एक व्यक्ति के लिए कोई भी कुकर्म नहीं किया जा सकता। कोई करे तो उसे दण्डनीय कहते हैं। पर इस सामाजिक भोगलिप्सा के लिए राष्ट्रीयता के लिए देश के और राष्ट्र के लिए सात खून माफ। सब कुकर्म, सब गुनाह, सब पातक, न केवल क्षमा की दृष्टि से वरन् प्रशंसा की दृष्टि से देखें जाएँगे। राष्ट्र और देश के लिए खून बहाने वाले हत्यारे अपराधी नहीं ठहराए जाते, व्यभिचार कराने वाली स्त्रियाँ, पति को हत्या करने वाली स्त्रियाँ, प्रशंसनीय समझी जाती हैं। उनका प्रत्येक अनैतिक कर्म देश भक्ति और राष्ट्र के लिए त्याग समझा जाता है। पिछले दो विश्व युद्ध में देश के देवता और राष्ट्रीय भोगतृष्णा ने बारह करोड़ मनुष्यों की बलि दी। और इतना धन व उद्योग-शक्ति खर्च की गयी जिससे आधी शताब्दी तक सारी दुनिया के मनुष्यों का निर्वाह हो सकता था। आज भी समुद्र फौलादी जंगी बेड़ों से भरा है। आकाश बम वर्षकों से घिरा हुआ है। परन्तु अब इस देश और राष्ट्र के देवता को अपने प्राण, इज्जत, शान्ति और जीवन का सारा सुख देते देते दुनियां के मनुष्य कंगाल और तबाह हो गए हैं।

दो नयी जातियाँ

देश भक्ति के समान राष्ट्रीयता का जन्म भी इंगलैंड ही में हुआ। अकाल और महामारी सभी देशोंमें फैलती है परन्तु इस के द्वारा राष्ट्रीय हानि का ज्ञान हुआ सब से प्रथम अंग्रेजों को सोलहवीं शताब्दी में। उस की प्रतिक्रिया रूप उन में राष्ट्रीय तृष्णा उत्पन्न हुई। और उन में यह प्यास जागी कि जैसे बने अपने देश को समृद्ध करे। उन्होंने खोज प्रारम्भ की। अमेरिका में उपनिवेश बसाए। ईस्ट इन्डिया कम्पनी की स्थापना की लाभ के स्थान पर वे आगे बढ़े। हानि से सावधान हुए इसी तृष्णा की पूर्ति के लिए उन्होंने समुद्र पर अपना एकाधिपत्य कायम किया। इस के लिए ब्रिटेन ने सारे योरप से लोहा लिया और वे लहरों के अधिपति हो गए। अन्त में अपनी राष्ट्रीय तृष्णा के बोझ से ही इंगलैंड कमजोर होने लगा। इसी समय इटली, फ्रांस और जर्मन राष्ट्रों का उदय हुआ। जर्मनी की दुर्दमनीय राष्ट्रीय भूख ने दो विश्वयुद्धों को जन्म दिया। और समूचे योरप को मृत्यु और विनाश के मुंह से ढकेल दिया। राष्ट्र ने पूंजीवाद को जन्म दिया। इसका जन्म भी इंगलैंड में हुआ। जब विज्ञान ने व्यापार क्रान्ति को उद्योग क्रांति का रूप दिया तो छोटे-छोटे उद्योग नष्ट होकर विराट उद्योग केन्द्र स्थापित हुए। सम्मिलित उद्योग स्थापना ही पूंजीवाद का श्रीगणेश था। इन उद्योगपतियों की एक नयी जाति बन गयी, जिसका विस्तार हुआ अमेरिका की भूमि से। इस के बाद जब योरोपीयुद्ध बन्द हो गए, और योरप तथा अमेरिका के विद्वानों की सम्मिलित खोजों ने एक के बाद एक नए आविष्कार किए, जिन के सहारे पूंजीपति उन्नत् हो गए। तेल, कोयला और बिजली के आविष्कारों ने इन महाजातियों में शक्ति का स्रोत प्रवाहित कर दिया। परन्तु इस के साथ ही एक नए संघर्ष का जन्म हुआ और इन सभ्य देशों के लोग "श्रमिक" और "पूंजीपति" के रूप में विभक्त हो गए।

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष

अन्तमें राष्ट्रीयता और पूंजी के गठबन्धन ने अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप ही योरप को दो महायुद्धों की विपदा झेलनी पड़ी। ये युद्ध राजाओं की राज्य लिप्सा के साधारण युद्ध न थे। राष्ट्रों

की भोग तृष्णा के युद्ध थे। इसलिए समूचे समाज को ही उसका भोग भोगना पड़ा। प्रथम संसार का यह पहला युद्ध था जिसका क्षेत्र अकल्पित था। युद्ध का पश्चिमी क्षेत्र स्विटजरलैंड तक ५०० मील से भी अधिक लम्बा था। पूर्वी क्षेत्र बाल्टिक से कृष्णा सागर एक हजार 'लम्बे क्षेत्र में फैला था। इस युद्ध में दो विरोधी गुट बने। एकमें वे राष्ट्र थे जिन के पास यथेष्ट साम्राज्य और धन था। दूसरे वे थे जिन्हें इन से कुछ छीनना था। विजय साम्राज्यों के पक्ष में अवश्य हुई परन्तु उन की साम्राज्य सत्ता डगमगा गयी। फलस्वरूप रूस में निराली क्रांति हो गई। इस में दस लाख अंग्रेज और १४ लाख फ्रांसीसी मारे गए, तीस लाख से अधिक व्यक्ति अंगभंग हो गए। और लगभग एक हजार अरब रुपया खर्च हुआ।

विज्ञान की प्रगति और अहिंसा

धन जन की इस भयंकर हानि में राष्ट्रीयता के ढांचे को खोखला कर डाला। धन जन की हानि से भी अधिक घातक प्रभाव पड़ा राष्ट्रीयता पर रूस की लाल क्रान्ति का। युद्ध को जीतने से यद्यपि ब्रिटिश और फ्रांस की राज्य सीमाएँ बढ़ गयी थीं। परन्तु उन की आन्तरिक शक्ति बहुत घट गयी थी। इस से दोनों ही साम्राज्यों में विद्रोह बढ़ते चले गए। उधर विभाजित योरप में भी फूट पड़ गयी। जिस का परिणाम यह हुआ कि महायुद्ध के २५ वर्ष बाद ही दूसरे युद्ध का खतरा योरप को उठाना पड़ा। यह युद्ध पहले से भी अधिक घातक और विनाशक था। इसमें नए वैज्ञानिक यन्त्रों से इन खूनी राष्ट्रवादियों ने हिंसा और मृत्यु का नंगा नाच नाचा। तेल, रबर, बिजली और विज्ञान संसार को प्रतिदिन प्रातःकाल अनहोनी खबरें सुना कर आश्चर्य चकित करने लगे। अन्त में विज्ञान और हिंसा की दोस्ती का सच्चा रूप ६ अगस्त सन् ४५ के दिन दुनिया ने देखा जब जापान के दो सम्पन्न नगर अणु बम से भस्म कर डाले गए।

विनाश का नंगा नाच

इस युद्ध ने साम्राज्यों की रीढ़ की हड्डी तोड़ डाली। साम्राज्य विध्वंस हो गए। पर राष्ट्रीयता का कंकाल अभी तक खड़ा है। और अब वह संसार के भूखे, नंगे, रोगी और असहाय भयभीत मनुष्यों को तीसरे युद्ध के लिए उकसा रहा है। लोग युद्ध नहीं चाहते, मृत्यु नहीं चाहते, परन्तु ये राष्ट्रपंथी पूंजीवादी उन्हें आराम से बैठने नहीं देते।

स्वाधीनता की आवाज गुलामों की आवाज है, यह आवाज एशिया भर की संयुक्त आवाज है। जब से योरप में राष्ट्रीयता का उदय हुआ तभी से योरप के राष्ट्रों ने समूचे एशिया को अपनी दासता में जकड़ कर बांध रखा था। दोनों महायुद्धों से प्रथम तक तो योरप के घमण्डी राष्ट्र एशिया के सब नर नारियों को अपना जीवित शिकार समझते रहे थे। उन का विश्वास था कि हम चिरकाल तक इस शिकार का स्वादिष्ट मांस खाते रहेंगे। परन्तु इन युद्धों ने उन्हें सही रास्ता दिखा दिया। वे समझ गए कि यह राष्ट्रीयता हलाहल विष है। और अब वे इस राष्ट्रीयता के बन्धनों को तोड़ कर एक महाराष्ट्र बनाने की सोचने लगे हैं। परन्तु इस से क्या? जब तक वे राजनैतिक और आर्थिक गुलामी से पार नही पा लेते और विशुद्ध सांस्कृतिक एकता की राह पर नहीं चलते उन का निस्तार नहीं है। वे हलाहल विष तो पी चुके, अब उस की ज्वाला से छटपटा रहे हैं। कहा नहीं जा सकता, वे जीते बच सकेंगे या नहीं। परन्तु बचने की तो एक ही राह है कि वे मानव धर्म को अपनाएं, कर्त्तव्य को अपना आदर्श बनाएं तथा अधिकार का सर्वथा त्याग करें। इसी में उनकी भलाई है। नहीं तो उन की खैर नहीं। अभी तो गत दोनों युद्धों में उन के लाखों जवान बच्चे कुत्तों की मौत मरे हैं। उनकी लाखों पुत्रियां विधवा होकर रोई हैं। लाखों बच्चे बिना बाप के हुए हैं। उन का सारा धन ही स्वाहा हो चुका है, उन की सारी अकड़ समाप्त हो चुकी है। वे सब जगह से निकाले, भगाए और

दुत्कारे जा रहे हैं। वे बेत से पीटे हुए कुत्ते की तरह मोर्चा छोड़कर भागने लगे हैं। पर अभी हुआ क्या है? अभी तो उन्हें भूख प्यास और महामारी से बीच सड़क पर कीड़ों की भाँति मरना है। हिरोशिया का खून रंग लाएगा। उस की प्रतिक्रिया उन के नगरों पर, लाल बच्चों पर होनी है, विनाश का नंगा नाच उन के आंगन में होना है। जो बबूल उन्होंने बोए हैं उन के कांटों पर उन्हें चलना है।

एकता और पारस्परिक सहयोग

योरप के संसर्ग से एशिया वासियों में राष्ट्रीयता का प्रवाह फैला है। उसीने उस की दासता से मिल कर उनके मुँह से मिलकर स्वाधीनता की चीत्कार ऊँची उठाई है। पर स्वाधीनता की पुकार करने वालों को यह न भूल जाना चाहिए कि वे ये नारा बुलन्द करके अपने ही से विद्रोह कर रहे हैं। अपने ही समाज में आग लगा रहे हैं। आप कह सकते हैं कि गुलामी के बन्धन तोड़ने के लिए स्वाधीनता ही एक जोरदार आवाज है। परन्तु हम आपकी बात मानने से इन्कार करते हैं। गुलामी के बन्धन स्वाधीनता की पुकार करने से नहीं कटेगा। अपने भीतर साहस, तेज, अहिंसा तथा औरों के साथ सहयोग करने से कटेंगे। मनुष्य एक सामाजिक जीव है। इसीसे वह नगर बसा कर रहता है। विज्ञान ने संसार को समेट कर बहुत छोटा कर दिया है और अब मनुष्य के सम्बन्ध विश्वव्यापी हो गए हैं। युद्ध के दिन अब बीत गए। अब तो विश्व में एकता और पारस्परिक सहयोग का काल उपस्थित हो गया है। अब मनुष्य को स्वाधीन होने की नहीं, सबसे मिलकर सहयोग करने की एक संयुक्त विश्व समाज बनाने की आवश्यकता है। हमें यह न सोचना चाहिए कि स्वाधीनता की भावना नष्ट हो जाने से हमें बासना के फन्दे में फँसे रहना होगा। दासता तो उसे भी भोगनी पड़ती है जो स्वाधीन होने की भरसक कोशिश करता है यदि वह दासता की स्थिति को पहुंच चुका है। हम पहले कह चुके हैं कि स्वाधीनता के प्रवाह ने भारत को ठीक उस समय विभाजित किया जब वह एक होने का पूरा लाभ उठाता था। हिन्दू मुसलमान दोनों ही परस्पर का विश्वास और प्रेम खो बैठे और इतने दिन साथ-साथ गुलामी के दुःख झेल कर भी मुक्ति का आनन्द से स्वागत न कर सके। अब दोनों ही दुःखी हैं। दोनों ही दोनों पर सन्देह करते हैं। पाकिस्तान तो बन ही गया, अब पाकिस्तान से पख्तूनिस्तान निकलना चाहता है। शायद हिन्दुस्तान से जाट स्थान व सिख स्थान भी निकले, जिले और प्रान्त भी स्वाधीन होने की पुकार कर रहे हैं। स्वाधीनता के इस जहरीले नशे में चूर पति से पत्नी, पत्नी से पति, भाई से भाई, पिता से पुत्र और मित्र से मित्र स्वाधीन रहने में ही जीवन का लाभ समझते रहे हैं, जिससे समाज की एकता, विश्वास और शान्ति छिन्न-भिन्न हो रही है। भाइयों जरा उस मकान की ओर दृष्टि कीजिए उस की ईंटों को आपने एक पर एक रखकर जो दीवार बनाई है इसके खिलाफ ये ईंटे आपसे फर्याद कर रही हैं। वे आप के अन्याय का विरोध करती हैं। आपने उन्हें एक पर एक मिला कर रखा क्यों? उनसे दीवार चुनी क्यों? ये ईंटे स्वाधीन होना चाहती हैं। अरे स्वाधीनता के पुजारियों इन ईंटों को स्वतन्त्र कर दो। मकान को ढहा दो, ईंटो को बखेर दो और फिर खुद बिखर जाओ। संसार को स्वाधीनता का सच्चा रूप देख लेने दो। आप नगर गाँव बस्ती बसाते हैं परस्पर मिल जुल कर, आप व्यापार करते हैं फर्म बनाकर, कम्पनी बना कर, आप ने इस प्रकार पारस्परिक सहयोग से बड़े-बड़े उद्योग केन्द्र स्थापित किए हैं, बड़े-बड़े नगर बसाएँ हैं। बैंक, कम्पनियाँ और भारी-भारी कारबार संसार भर में आप कर रहे हैं। वायुयान और रेडियो द्वारा आपने सारे संसार से सहयोग स्थापित कर रखा है यह सब खेल खत्म कर दीजिए? केवल स्वाधीनता की बाग लगाइए और सारी सभ्यता, विकास, नागरिकता, कारबार, उद्योग धन्धों का आमूल सत्यानाश कर डालिए। परन्तु यदि अपने जीवन का विकास आप अधिकाधिक पारस्परिक सहयोग पर निर्भर रखते हैं तो आप सहयोग को ही जीवन में आत्मसात कीजिए, स्वाधीनता के भूत को मस्तिष्क से निकाल डलिए, जहाँ स्वाधीनता होने की चाह नहीं, वहाँ दासता की भी हस्ती नहीं।

मनुष्य ने क्या किया

जीवन और मृत्यु का प्रभावशाली प्रवाह हमारे सामने है। सम्पूर्ण जीवन मृत्यु की ओर जा रहे हैं और मृत्यु वापस जीवन की ओर। हम चारों ओर से रहस्यमयी प्रकृति से घिरे हुए हैं। प्रत्येक चीज समान रूप से आश्चर्यकारक है। पानी की एक बूंद भी समुद्र जैसी आश्चर्यजनक कारक है। बालू का एक कण भी हिमालय के समान आश्चर्यकारक है। एक मच्छड़, एक तिनका, एक कीड़ा, एग अंकुर, एक फूल ये सब अनन्त आकाश में फले नक्षत्रों के समान आश्चर्यजनक हैं। बड़ा से बड़ा विद्वान भी एक घास के तिनके का मूलाधार नहीं बता सकता। जिन्होंने संसार, नर्क, स्वर्ग सभी कुछ जानने का दावा किया है, जिन्होंने अपने को ज्ञानी महात्मा, ईश्वर, का प्रतिनिधि और रहस्यों का ज्ञाता होने का दावा किया था, वे झूठे थे। उन्होंने हम से अज्ञान की पूजा कराई, अनुमान को दंडवत् कराई। अन्ध विश्वास, पौराणिक गपोड़ों, श्रद्धा, चमत्कारों और जादू टोनों पर विश्वास करके सारा संसार पागल खाना हो गया। हमारी बुद्धि कुंठित कर दी गयी। अन्ध विश्वास के सामने मनुष्य भय से थर-थर कांपता, गुलाम की भाँति खड़ा रहा। बेईमानी, अन्ध विश्वास तर्क को सिंहासन से नीचे ढकेलकर स्वयं राजाधिराज बन बैठा। इसने संसार के मनुष्यों के दिमाग खोखले और दिल पत्थर के कर दिए। मनुष्यत्व को मार डाला। न्याय और दया से मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क शून्य करके भय के कारागार में बन्द कर दिया।

विज्ञान की महा देन

अन्त में विज्ञान ने हमें मुक्ति दी। ज्ञान और मस्तिष्क के विकास को बढ़ाया। विज्ञान से सम्पन्न होकर मनुष्य मन की गुलामी से मुक्त हो गया। विज्ञान मनुष्य का मुक्तिदाता बन गया और हमें आशा होने लगी कि अब मनुष्य श्रेष्ठ और महान् बनेगा। हमने छापने की विद्या का आविष्कार किया, पुस्तकें धड़ाधड़ छपने लगीं और हम प्रत्येक पीढ़ी की मानसिक सम्पत्ति को अगली पीढ़ी के लिए सुरक्षित करने लगे। पौराणिक गपोड़ों का स्थान इतिहास ने लिया। हमने धरती खोद डाली, हजारों वर्षों से भूमि में गड़े हुए नगरों के ध्वंसों को खोद निकाला, भाप की शक्ति का पता लगाया, बजली को तारों में बांधा दूरवीक्षण यन्त्र बनाए, नक्षत्रों की चालें समझीं, लाखों करोड़ों मनुष्यों के काम करने वाले भाप और बिजली के यन्त्र बनाए। रेल गाड़ियाँ धड़धड़ाने लगीं, तार, रेडियो, और टेलीविजन अपना चमत्कार दिखाने लगे। हमारे घर व नगर बिजली के प्रकाश से जगमगाने लगे। जातियां एक दूसरे की पड़ोसिन हो गयीं। विश्व सिमट कर एकत्र हो गया। हम हवाई जहाज में बैठ कर वायु की गति से व्योम बिहार करने लगे।

जीवन या मौत

परन्तु हमने अभी अपने इस परिश्रम का, विज्ञान की सम्पदा का, अपने बनाए हुए हवाई जहाजोंकी सैर का पूरा आनन्द भी नहीं उठाया था कि इन हत्यारे राष्ट्र पंथियों ने वैज्ञानिकों को अपनी खूनी वासना का गुलाम बना लिया। और हमारे इन हवाई जहाजों को, समुद्र के पानी को मशीनगनों, तोपों और बमों से भर दिया। और ये हत्यारे हमी पर बम, रोग के कीटाणु और अणु अस्त्रों की वर्षा करने लगे। आज हम सोच रहे हैं कि यह विज्ञान हमारा मुक्तिदाता है या मृत्यु दूत। हमारी सभ्यता का यह विकास हमें जीवन देता है या मौत ?

सभ्यता के ये अग्रदूत

शर्म और घृणा की बात है कि इन वैज्ञानिकों ने अपनी आत्माएँ इन खूनी भेड़ियों को बेच डालीं। क्या कोई कह सकता है कि हिरोशिमाके कहर से लन्दन, न्यूयार्क, मास्को और दिल्ली बच जाएगी। हत्या और खून खराबी का यह दिन-दिन बढ़ता हुआ व्यापार कम हो जाएगा। क्या इन हत्यारों के संगी साथी वैज्ञानिकों

से ओझल कर दिया। प्राचीन भारतीय परम्परा में साधारण से साधारण व्यवहार में भी नारी को नर का श्रेष्ठतम अर्द्धांग बताया गया है और उसको नर की अपेक्षा प्रथम स्थान दिया गया है। उदाहरण के लिए लक्ष्मी नारायण, दुर्गाशंकर, सीताराम तथा राधाकृष्ण आदि नामों की कल्पना में नारी को महत्त्व देकर नर से पहले प्रतिष्ठित किया गया है और देवी के बिना देवताओं की कल्पना को अधूरा माना गया है। विवाह संस्कार में गठबन्धन, सप्तपदी तथा यज्ञपरिक्रमा आदि के सब संस्कार समानता के नाते से किए जाते हैं और पति पत्नी को 'सखे' कह कर सम्बोधन करता है जो कि दोनों की समानता का सूचक है। किसी भी संस्कार में नारी के प्रति हीनता की कोई भावना प्रगट नहीं की जाती। जो प्रतिमाएँ या संकल्प उस अवसर पर किए जाते हैं उनमें भी दीनता अथवा हीनता की कोई भावना व्यक्त नहीं की जाती।

व्यवहार की विषमता

इस आदर्श सामाजिक व्यवस्था में नर और नारी को समता और समानता का दर्जा देने वालों ने व्यवहार में जिस असमानता तथा विषमता को पुनर्स्थापित किया है यह देखकर आश्चर्य होता है कि उसका समर्थन धर्म अथवा श्रुति एवं स्मृति के नाम से किया गया है। वस्तुतः वह मनुष्य के दम्भ, स्वार्थ, अहंकार एवं [illegible]विक वृत्ति का परिणाम है। मनुष्य ने प्रकृति द्वारा प्रदत्त अथवा समाज व्यवस्था में प्राप्त अवसर तथा अधिकारों का दुरुपयोग करके वर्तमान अन्यायपूर्ण एक तरफा व्यवस्था को निर्माण किया और नारी को दीनता, हीनता तथा पराधीनता के बन्धनों में जकड़ दिया। अपने प्रति नारी के स्वभावासिद्ध विश्वास से वह न मालूम कब से अनुचित लाभ उठाता चला आ रहा है। उसने उसे सामाजिक दृष्टि से न केवल अपना आश्रित बनाया, किन्तु दासी व भोग्य सम्पत्ति भी बना दिया। उसके साथ जीवनहीन जड़ वस्तु का सा व्यवहार करने में भी संकोच नहीं किया। उसके व्यक्तित्व को अत्यन्त निर्दयतापूर्वक अपने पैरों तले रौंद कर उसको सर्वथा समाप्त कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि उसके अन्दर अपनी कोई अनुभूति ही नहीं है और अपने प्रति किए जाने वाले दुर्व्यवहार का प्रतिकार करने का उसको कोई अधिकार ही नहीं है। श्रुति के नाम पर उससे अपना विकास, उन्नति तथा प्रगति करने के समस्त अधिकार छीन लिए गए और स्मृति के नाम पर उसको स्वतन्त्रता के समस्त अवसरों से सर्वथा वंचित कर दिया गया। इतिहास का ऐसा कोई पृष्ठ दीख नहीं पड़ता जिसमें उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं अस्तित्व का अपमान व अवहेलना तथा उपेक्षा न की गई हो। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने अग्नि परीक्षा के उपरान्त भी सती साध्वी सीता का गर्भावस्था में जो परित्याग किया, उसकी परम्परा आज भी समाज में वैसी ही बनी हुई है और जरा सी बातों पर उसका परित्याग करने में थोड़ा सा भी संकोच नहीं किया जाता। रामायण के उपरान्त महाभारत के काल में नारी की स्थिति को और भी अधिक दयनीय बना दिया गया था। कदाचित ही अतीत के इतिहास में ऐसा कोई काल रहा होगा जिसमें नारी को समता व समानता का अधिकार व्यवहार में भी प्राप्त रहा होगा। विवाह संस्कार के सारे आदर्शों पर उसमें कन्यादान सरीखी जघन्य व्यवस्था लागू करके हड़ताल फेर दी गयी। कन्यादान द्वारा उसकी सामाजिक दीनता, हीनता और पराधीनता पर सदा के लिए धार्मिक छाप लगा दी गयी।

नारी के विरुद्ध षडयंत्र

न केवल हिन्दू धर्म किन्तु विश्व के सभी धर्मों में नारी के सम्बन्ध में जो एक तरफा व्यवस्था दी गयी है उस से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि विश्व के समस्त धर्माचार्यों ने मिल कर नारी के विरुद्ध कोई षडयंत्र रचा हो। उस षडयंत्र ने कुछ ऐसा भीषण रूप धारण किया कि समाज के पंच और पेशेवर अधिकार करने वाले शासक भी उस में सम्मिलित हो गए। इस प्रकार निर्मित हुई धर्म व्यवस्था, समाज व्यवस्था, राज व्यवस्था तथा अर्थ व्यवस्था में नारी का स्थान केवल दीनता, हीनता एवं पराधीनता भोगनेवाले दासी का सा रह गया। वह

केवल तिरस्कार भोगने के लिए पददलित बना दी गई, हिन्दू धर्म, संस्कृति तथा समाज में इस प्रकार इसे जो स्थान मिला उसी की छाया अन्य धर्मों के संस्कृति तथा समाजों में भी दीख पड़ती है। नारी को प्रायः सभी धर्म ग्रन्थों में निन्दा एवं उपेक्षा की गई है। और उसे नरक की ओर ले जाने वाली बताया गया है। विष बेल कह कर उसकी भर्त्सना की गई है। यहाँ तक कि बाइबिल में नारी को सारे अनर्थों की जड़ कहा गया गया है। उस को अन्य धर्म ग्रन्थों में शैतान का दरवाजा और दैवी नियम अथवा धर्म का परित्याग करनेवाली बताया है। इसी प्रकार यहूदी व इस्लाम तथा अन्य धर्मों में भी स्त्री को हेय व त्याज्य ठहराया गया है। किसी भी धर्म, समुदाय, देश अथवा समाज में उसे पुरुष के समान सम्मानास्पद स्थान प्राप्त नहीं है। परिवार तथा घर में भी उस का सम्मान पुरुष के हाथ का खिलौना बना दिया गया है। उस का महिलापन पूरी तरह अवला-पन में परिणत कर दिया गया है।

नारी के उद्धार के लिए प्रयत्न

इस निराशापूर्ण स्थिति का एक दूसरा पहलू भी है और वह मानव इतिहास की काली घटाओं में बिजली की तरह चमकता दीख पड़ता है। वह उन महान समाज सुधारकों से सम्बन्ध रखता है जिन्होंने सदैव ही नारी की इस दीन, हीन एवं पराधीन स्थिति और अन्यायपूर्ण दुर्व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह अथवा क्रान्ति की है, दूर जाने की आवश्यकता नहीं,पिछले सौ डेढ़ सौ वर्षों के समाज सुधारके आन्दोलन को हम लें तो वह मुख्यतः नारी के पक्ष में किया गया प्रचंड आन्दोलन है। ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज आदि सभी संस्थाओं ने नारी के प्रति कायम की गई एक पक्षीय मनमानी धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था को बदलने का भरपूर प्रयत्न किया। राजा राममोहन राय, श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द तथा महात्मा गांन्धी आदि महान नेताओं ने स्त्रियों के साथ किए जाने वाले अन्याय, पक्षपात तथा दुर्व्यवहारका निराकरण करने के लिए सदा ही याद किए जाते रहेंगे। जैसे कि भरे दरबार में द्रौपदी का चीर हरण किए जाने पर श्रीकृष्ण ने उस का उद्धार किया था ठीक वैसे ही इन और ऐसे महापुरुषों ने वर्तमान काल में उस से भी कहीं अधिक गर्हित स्थिति में से नारी का उद्धार किया है और उस के लिए वे भारतीय समाज में चिरस्मरणीय बन गए हैं। पति के मर जाने के उपरान्त सहमरण की व्यवस्था देकर जीवित नारी को पति की चिता पर बिठा कर जलने के लिए वाध्य करना कैसा निठुर कांड था। एक ओर बाल्यावस्था में दुधमुही बच्चियों के विवाह की व्यवस्था और दूसरी ओर पति के मर जाने पर जीवन वैधव्य की यातनाओं को भोगना कठोरता की पराकाष्ठा थी। नारी को शूद्र के समान कह कर शिक्षा, उन्नति, प्रगति तथा विकास के समस्त अधिकारों तथा अवसरों से वंचित किए जाने से अधिक निन्दनीय एक तरफा व्यवस्था और क्या हो सकती है। यदि कहीं इन महापुरुषों ने इस का प्रतिकार न किया होता तो नारी की जो दुर्दशा हुई होती, उस की कल्पना कर सकना कठिन नहीं है।

समिति क्षेत्र का कदम

इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि ब्राह्म समाज, आर्य समाज तथा प्रार्थना समाज और उनके महान नेताओं ने समाज में नारी की स्थिति को सुधारने के लिए महान कार्य किया है, परन्तु उन की दृष्टि भी उन्हें सुशिक्षित पत्नी अथवा सुसभ्य माता बनाने तक सीमित रही। उन्होंने उसे गृहस्थ की चार दीवारी में उच्चतम स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है, परन्तु वे उन की सामाजिक हीनता के बन्धन प्रायः नहीं काट सके। ब्राह्म समाज अथवा आर्य समाज में तो कभी यह विषय विवादास्पद बना रहा कि उन के साप्ताहिक अधिवेशनों में स्त्रियों को पुरुषों के साथ समानता के नाते उपस्थित होने का अधिकार तथा अवसर दिया जाए या नहीं। इसी कारण आर्य समाज में स्त्री आर्य समाज की पृथक स्थापना की गई और इस का सिलसिला प्रारम्भ हुआ उस जलंधर आर्य समाज से, जिस में महात्मा मुंशीरामजी, बाद में स्वामी श्रद्धानन्द और लाला देवराज जी सरीखे महिलाओं

के अन्यतम उद्धारक नेता विद्यमान थे। बम्बई में भी स्थिति यह थी कि अपने पतियों के साथ घर से बाहर निकलनेवाली स्त्रियों को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा जाता था और कभी सर्कस का खेल देखने के लिए एक साथ जाने वाले पति पत्नी का सामाजिक बहिष्कार किया जाता था। इसीलिए यह कहने का दुस्साहस किया गया है कि ये क्रान्तिकारी समाज सुधारक संस्थाएं भी सामाजिक हीन स्थिति से नारी का उद्धार नहीं कर सकी थीं। उन्होंने घर और परिवार के क्षेत्र में नारी की प्रतिष्ठा को पर्याप्त रूप में उन्नत कर दिया था और उन की शिक्षा के मार्ग की सारी बाधाएँ अवश्य ही दूर कर दी थीं। सामाजिक दीनता, हीनता तथा पराधीनता के बन्धनों को काटने का कार्य आदर्श रूप में महात्मा गांधी ने किया।

महात्मा गांधी का महान कार्य

लोकमान्य ने कभी यह कहा था कि जिस ईश्वर को हरिजनों के प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार स्वीकार है, मैं उसे ईश्वर नहीं मान सकता। इसी प्रकार महात्मा गांधी ने यह कहा था कि यदि धर्म और शास्त्र नारी की समानता और स्वतन्त्रता के विरोधी हैं तो वे मेरे लिए मान्य और पवित्र नहीं हैं।

सब से बड़ी कठिनाई यह थी कि स्त्री के प्रति किए जानेवाले अन्याय, पक्षपात तथा दुर्व्यवहार को धर्म और शास्त्र के नाम से ऐसी रूढ़िगत परम्परा बना दिया गया कि पुरुष तो क्या स्त्री ने भी उस को अपने लिए स्वभाव सिद्ध मान लिया और उस में किसी भी प्रकार की दीनता व हीनता को अनुभव करना उस ने छोड़ दिया। महात्मा गाँधी ने इस स्थिति के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाकर बाल विवाह, बलात् वैधव्य, पर्दा, देवदासी प्रथा, वेश्यावृत्ति, दहेज, स्त्री की आर्थिक दासता और उन सब बातों को घोर विरोध किया, जो नारी की पराधीनता की प्रतीक बन गई थीं और जिन्हें धर्म मान कर समाज में उस में किंचित परिवर्तन नहीं करना चाहता था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि स्त्रियों के अधिकारों के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं किया जा सकता। अपने आश्रम और आन्दोलनों में महिलाओं को प्रधानता देकर उन की सामाजिक दीनता, हीनता तथा पराधीनता के उन्होंने जिस प्रकार बन्धन काटे उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

नवीन तुर्की के निर्माता कमाल अतातुर्क ने अपने देश में महिलाओं की सामाजिक दासता के विरुद्ध यह घोषणा की थी कि देश की आधी जनता को इस पराधीनता में रख कर प्रजातन्त्र के परीक्षण को कभी भी सफल नहीं बनाया जा सकता।

स्त्रियों का जागरूक होना

महात्मा गांधी ने १९१८ में महिलाओं की पराधीनता और देहातियों की दुर्वस्था को लक्ष्य करके यह कहा था कि यह ८५ प्रतिशत जनता जब तक हमारे आन्दोलन से उदासीन रहेगी तब तक वे सफल नहीं हो सकेंगे। इसी कारण उन्होंने अपने आन्दोलनों द्वारा राजनीति की गंगा को शिवजी की जटाओं में से निकाल कर आम जनता में प्रवाहित करने के लिए और महिलाओं को भी उस में सम्मिलित करने के लिए भगीरथ से भी कहीं अधिक कठोर प्रयत्न किया। महिला जागृति अथवा उत्थान के लिए आम तौर पर स्त्री शिक्षा की चर्चा की जाती है और उसको अनिवार्य बताया जाता है। परन्तु महात्मा जी के लिए उन को शिक्षित करने तक उन का वर्तमान स्थिति में पड़ा रहना सर्वथा असह्य था और वे यह प्रायः कहा करते थे कि उन के उद्धार के लिए शिक्षा की कोई शर्त नहीं है। स्त्रियों में वर्तमान स्थिति के विरुद्ध जागृति पैदा करने को वे सब से अधिक महत्व देते थे और वे उस के लिए उनको जागरूक करने पर सब से अधिक जोर दिया करते थे। अन्य अनेक अन्ध विश्वास तथा अन्ध परम्पराओं की तरह महिलाओं की वर्तमान स्थिति को भी वे एक अन्ध विश्वास अथवा अन्ध परम्परा माना करते थे जिस में सारा समाज नर और नारी दोनों ही जकड़े हुए थे। इस प्रकार नारी की

सामाजिक दीनता, हीनता तथा पराधीनता का उन का अपना मौलिक विश्लेषण था, एक बार उन्होंने अपनी भावना को बहुत ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा था :—

'नारी के जीवन का लक्ष्य और शिक्षाका उद्देश्य किसी एक ही पुरुष के हाथ की गुड़िया बन जाना नहीं है। यह सत्य है कि उसे आदर्श नारी व आदर्श माता बनना चाहिए; परन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि वह अपने को सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र से एकदम लुप्त कर ले। उसे अपने को दूसरों की भी सेवा के योग्य बनना चाहिए।'

यही अन्तर है उन की तथा अन्य सुधारकों की नारी के प्रति की दृष्टि में और नारी जागरण के प्रति भावना में।

गांधीजी महिलाओं को आगे लाए

महिलाओं के सम्बन्ध में गांधीजी की कार्य पद्धति को स्पष्ट करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। सन् १९३० में आरम्भ किए गए नमक सत्याग्रह से पहले सार्वजनिक क्षेत्र और सार्वजनिक आन्दोलन में भाग लेनेवाली महिलाओं की संख्या सर्वथा नगण्य थी। कांग्रेस और कांग्रेस महा समिति की बैठकों में मुश्किल से दो एक महिलाएँ दिखायी देती थीं। इस पर भी गान्धी जी ने नमक सत्याग्रह के लिए की गई सुप्रसिद्ध डांडी यात्रा में गिरफ्तार होने के बाद नमक सत्याग्रह की उत्तराधिकारिणी श्रीमती सरोजनी नायडू को नियुक्त किया था और विदेशी वस्त्रों तथा शराब की दूकानों पर धरना देने का काम अपने हाथों में लेने के लिए मार्मिक अपील महिलाओं से की थी। उस का जो शुभ परिणाम हुआ वह हमारे देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। हजारों महिलाएँ उन की पुकार पर मैदान में ऐसे निकल पड़ीं जैसे कि मानों वे उस के लिए प्रतीक्षा में बैठी थीं। शराब की दूकानों पर महिलाओं द्वारा धरना दिए जाने के सम्बन्ध में अनेक तरह की आपत्तियां की गयीं। यहाँ तक कहा गया कि वहाँ का वातावरण बड़ा अपवित्र होता है और धरना देने वाली महिलाओं के साथ वहाँ दुर्व्यवहार होने की भी सम्भावना है। गाँधीजी ने कहा कि महिला पवित्रता की प्रतीक है और ऐसे अपवित्र स्थानों को उसी में पवित्र बना की क्षमता है। जिस काम को महात्माजी उचित मान कर करने का निश्चय कर लेते थे उसके लिए बड़ी सी बड़ी जोखिम उठाना उनका स्वभाव सा बन गया था। इसीलिए महिलाओं के उद्धार अथवा उत्थान के लिए भी वे बड़े से बड़े खतरे को उठाने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। उन का यह स्पष्ट मत था कि महिलाओं के उत्थान का कार्य स्वयं महिलाओं को ही रचना चाहिए। यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट करना पर्याप्त होना चाहिए कि गाँधीजी ने अपने विचारों और कार्य पद्धति से महिला जागरण को इतना आगे बढ़ाया कि पिछली कई सदियों में उस को इतना आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। उसे उन्होंने राष्ट्रीय जागृति और राष्ट्रीय आन्दोलन का एक आवश्यक अंग वैसे ही बना दिया जैसे कि हरिजन सेवा को बनाया था। उस का परिणाम भी अत्यन्त शुभ निकला और गांधीजी की परम्परा को हमारे वर्तमान नेता श्री जवाहरलाल नेहरू और आगे बढ़ाने में निरन्तर लगे हुए हैं।

संविधान में निहित आदर्श

अपने लिए हम ने जिस संविधान को स्वीकार किया है उस में केवल शासन की व्यवस्था के सम्बन्ध में ही कुछ आदर्शों का प्रतिपादन नहीं किया गया है, परन्तु अपने सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ आदर्शों की स्थापना की गयी है। समस्त भारतवासियों में भातृभाव की स्थापना करने के लिए समता व समानता की भावना को परिपुष्ट करने की स्पष्ट घोषणा संविधान के आरम्भ में की गयी है। जिन नैसर्गिक अधिकारों का उल्लेख संविधान में किया गया है, उनके लिए स्त्री और पुरुष में कोई अन्तर नहीं बताया गया है। विधि के

के अन्यतम उद्धारक नेता विद्यमान थे। बम्बई में भी स्थिति यह थी कि अपने पतियों के साथ घर से बाहर निकलनेवाली स्त्रियों को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा जाता था और कभी सर्कस का खेल देखने के लिए एक साथ जाने वाले पति पत्नी का सामाजिक बहिष्कार किया जाता था। इसीलिए यह कहने का दुस्साहस किया गया है कि ये क्रान्तिकारी समाज सुधारक संस्थाएं भी सामाजिक हीन स्थिति से नारी का उद्धार नहीं कर सकी थीं। उन्होंने घर और परिवार के क्षेत्र में नारी की प्रतिष्ठा को पर्याप्त रूप में उन्नत कर दिया था और उन की शिक्षा के मार्ग की सारी बाधाएँ अवश्य ही दूर कर दी थीं। सामाजिक दीनता, हीनता तथा पराधीनता के बन्धनों को काटने का कार्य आदर्श रूप में महात्मा गांधी ने किया।

महात्मा गांधी का महान कार्य

लोकमान्य ने कभी यह कहा था कि जिस ईश्वर को हरिजनों के प्रति अस्पृश्यता का व्यवहार स्वीकार है, मैं उसे ईश्वर नहीं मान सकता। इसी प्रकार महात्मा गांधी ने यह कहा था कि यदि धर्म और शास्त्र नारी की समानता और स्वतन्त्रता के विरोधी हैं तो वे मेरे लिए मान्य और पवित्र नहीं हैं।

सब से बड़ी कठिनाई यह थी कि स्त्री के प्रति किए जानेवाले अन्याय, पक्षपात तथा दुर्व्यवहार को धर्म और शास्त्र के नाम से ऐसी रूढ़िगत परम्परा बना दिया गया कि पुरुष तो क्या स्त्री ने भी उस को अपने लिए स्वभाव सिद्ध मान लिया और उस में किसी भी प्रकार की दीनता व हीनता को अनुभव करना उस ने छोड़ दिया। महात्मा गाँधी ने इस स्थिति के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाकर बाल विवाह, बलात् वैधव्य, पर्दा, देवदासी प्रथा, वेश्यावृत्ति, दहेज, स्त्री की आर्थिक दासता और उन सब बातों को घोर विरोध किया, जो नारी की पराधीनता की प्रतीक बन गई थीं और जिन्हें धर्म मान कर समाज में उस में किंचित परिवर्तन नहीं करना चाहता था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि स्त्रियों के अधिकारों के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं किया जा सकता। अपने आश्रम और आन्दोलनों में महिलाओं को प्रधानता देकर उन की सामाजिक दीनता, हीनता तथा पराधीनता के उन्होंने जिस प्रकार बन्धन काटे उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

नवीन तुर्की के निर्माता कमाल अतातुर्क ने अपने देश में महिलाओं की सामाजिक दासता के विरुद्ध यह घोषणा की थी कि देश की आधी जनता को इस पराधीनता में रख कर प्रजातन्त्र के परीक्षण को कभी भी सफल नहीं बनाया जा सकता।

स्त्रियों का जागरूक होना

महात्मा गांधी ने १६१८ में महिलाओं की पराधीनता और देहातियों की दुर्वस्था को लक्ष्य करके यह कहा था कि यह ८५ प्रतिशत जनता जब तक हमारे आन्दोलन से उदासीन रहेगी तब तक वे सफल नहीं हो सकेंगे। इसी कारण उन्होंने अपने आन्दोलनों द्वारा राजनीति की गंगा को शिवजी की जटाओं में से निकाल कर आम जनता में प्रवाहित करने के लिए और महिलाओं को भी उस में सम्मिलित करने के लिए भगीरथ से भी कहीं अधिक कठोर प्रयत्न किया। महिला जागृति अथवा उत्थान के लिए आम तौर पर स्त्री शिक्षा की चर्चा की जाती है और उसको अनिवार्य बताया जाता है। परन्तु महात्मा जी के लिए उन को शिक्षित करने तक उन का वर्तमान स्थिति में पड़ा रहना सर्वथा असह्य था और वे यह प्रायः कहा करते थे कि उन के उद्धार के लिए शिक्षा की कोई शर्त नहीं है। स्त्रियों में वर्तमान स्थिति के विरुद्ध जागृति पैदा करने को वे सब से अधिक महत्व देते थे और वे उस के लिए उनको जागरूक करने पर सब से अधिक जोर दिया करते थे। अन्य अनेक अन्ध विश्वास तथा अन्ध परम्पराओं की तरह महिलाओं की वर्तमान स्थिति को भी वे एक अन्ध विश्वास अथवा अन्ध परम्परा माना करते थे जिस में सारा समाज नर और नारी दोनों ही जकड़े हुए थे। इस प्रकार नारी की

सामाजिक दीनता, हीनता तथा पराधीनता का उन का अपना मौलिक विश्लेषण था, एक बार उन्होंने अपनी भावना को बहुत ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा था :—

'नारी के जीवन का लक्ष्य और शिक्षाका उद्देश्य किसी एक ही पुरुष के हाथ की गुड़िया बन जाना नहीं है। यह सत्य है कि उसे आदर्श नारी व आदर्श माता बनना चाहिए; परन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि वह अपने को सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र से एकदम लुप्त कर ले। उसे अपने को दूसरों की भी सेवा के योग्य बनना चाहिए।'

यही अन्तर है उन की तथा अन्य सुधारकों की नारी के प्रति की दृष्टि में और नारी जागरण के प्रति भावना में।

गांधीजी महिलाओं को आगे लाए

महिलाओं के सम्बन्ध में गांधीजी की कार्य पद्धति को स्पष्ट करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। सन् १९३० में आरम्भ किए गए नमक सत्याग्रह से पहले सार्वजनिक क्षेत्र और सार्वजनिक आन्दोलन में भाग लेनेवाली महिलाओं की संख्या सर्वथा नगण्य थी। कांग्रेस और कांग्रेस महा समिति की बैठकों में मुश्किल से दो एक महिलाएँ दिखायी देती थीं। इस पर भी गान्धी जी ने नमक सत्याग्रह के लिए की गई सुप्रसिद्ध डांडी यात्रा में गिरफ्तार होने के बाद नमक सत्याग्रह की उत्तराधिकारिणी श्रीमती सरोजनी नायडू को नियुक्त किया था और विदेशी वस्त्रों तथा शराब की दूकानों पर धरना देने का काम अपने हाथों में लेने के लिए मार्मिक अपील महिलाओं से की थी। उस का जो शुभ परिणाम हुआ वह हमारे देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। हजारों महिलाएँ उन की पुकार पर मैदान में ऐसे निकल पड़ीं जैसे कि मानों वे उस के लिए प्रतीक्षा में बैठी थीं। शराब की दूकानों पर महिलाओं द्वारा धरना दिए जाने के सम्बन्ध में अनेक तरह की आपत्तियां की गयीं। यहाँ तक कहा गया कि वहाँ का वातावरण बड़ा अपवित्र होता है और धरना देने वाली महिलाओं के साथ वहाँ दुर्व्यवहार होने की भी सम्भावना है। गाँधीजी ने कहा कि महिला पवित्रता की प्रतीक है और ऐसे अपवित्र स्थानों को उसी में पवित्र बना` की क्षमता है। जिस काम को महात्माजी उचित मान कर करने का निश्चय कर लेते थे उसके लिए बड़ी सी बड़ी जोखिम उठाना उनका स्वभाव सा बन गया था। इसीलिए महिलाओं के उद्धार अथवा उत्थान के लिए भी वे बड़े से बड़े खतरे को उठाने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। उन का यह स्पष्ट मत था कि महिलाओं के उत्थान का कार्य स्वयं महिलाओं को ही रचना चाहिए। यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट करना पर्याप्त होना चाहिए कि गाँधीजी ने अपने विचारों और कार्य पद्धति से महिला जागरण को इतना आगे बढ़ाया कि पिछली कई सदियों में उस को इतना आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। उसे उन्होंने राष्ट्रीय जागृति और राष्ट्रीय आन्दोलन का एक आवश्यक अंग वैसे ही बना दिया जैसे कि हरिजन सेवा को बनाया था। उस का परिणाम भी अत्यन्त शुभ निकला और गांधीजी की परम्परा को हमारे वर्तमान नेता श्री जवाहरलाल नेहरू और आगे बढ़ाने में निरन्तर लगे हुए हैं।

संविधान में निहित आदर्श

अपने लिए हम ने जिस संविधान को स्वीकार किया है उस में केवल शासन की व्यवस्था के सम्बन्ध में ही कुछ आदर्शों का प्रतिपादन नहीं किया गया है, परन्तु अपने सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ आदर्शों की स्थापना की गयी है। समस्त भारतवासियों में भ्रातृभाव की स्थापना करने के लिए समता व समानता की भावना को परिपुष्ट करने की स्पष्ट घोषणा संविधान के आरम्भ में की गयी है। जिन नैसर्गिक अधिकारों का उल्लेख संविधान में किया गया है, उनके लिए स्त्री और पुरुष में कोई अन्तर नहीं बताया गया है। विधि के

लिए स्त्री और पुरुष में कोई अन्तर नहीं बताया गया है। विधि के समक्ष जिन भेदवावों को स्वीकार किया गया है उन में स्त्री पुरुष का भेद भी शामिल है। यह बिना किसी सन्देह और संकोच के स्वीकार किया गया है कि स्वतन्त्र प्रजातन्त्रीय भारत में स्त्री और पुरुष दोनों को ही समान अवसर और समान अधिकार प्राप्त होंगे। अपना विकास, प्रगति तथा उन्नति करने के लिए सबको ही समान अवसर और समान अधिकार प्राप्त होंगे। अपना विकास, प्रगति तथा उन्नति करने की सब को एक ही सी सुविधा प्राप्त होगी और आजीविका उपार्जन के लिए भी एक सरीखी स्वतन्त्रता रहेगी। सम्भवत: केवल हमारे ही देश में स्त्रियों को बिना मांगे और आन्दोलन किए बिना किसी शर्त के पुरुषों के समान मताधिकार दिया गया है और उस का उपयोग भी उसे अशिक्षित रहते हुए भी बड़े साहस के करना शुरू कर दिया है। समाज व्यवस्था के लिए समाजवादी आदर्श को स्वीकार करके जहाँ समाज में विद्यमान अन्य विषमताओं को दूर करने का संकल्प किया गया है वहाँ पुरुष द्वारा स्त्री के प्रति पैदा की गयी विषमताको भी दूर करने का निश्चय किया गया है। हमारे वर्तमान नेता विशेषत: हमारे लोकप्रिय प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू जब भी कभी समाजवादी आदर्श की चर्चा करते हैं तब वे सदा ही स्त्रियों की विषमता के बन्धनों को काटने पर जोर देते हैं यहाँ तक कि वे पर्दे की कुप्रथा से भी उन को मुक्त करने का आग्रह करते हैं। पर्दे को पिंजरे से उपमा देकर वे पंक्षियों की तरह उन को कैद रखने की सदैव निन्दा करते हुए सुने जाते हैं। उन के ही व्यक्तित्व और नेतृत्व का यह शुभ परिणाम है कि महिलाओं को राज-काज में पुरुषों के समान स्थान व प्रतिनिधित्व देने का प्रयत्न किया जा रहा है। सन् १९५६ में ग्राम निर्वाचन में कांग्रेस ने उन के लिए १५ प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखने का निश्चय किया था और उसे अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व देने का प्रयत्न किया गया था। राज्यों के मंत्रिमंडल तथा संसद के मंत्रिमंडल तथा दूतावासों में भी नियुक्तियां की जाने लगी हैं। ऊँचे से ऊँचे पदों पर उन की नियुक्तियाँ की गयीं और अब उन की प्रगति में कोई बाधा नहीं रह गयी।

स्त्रियों के अधिकार का घोषणापत्र

स्त्रियों को समान स्थित, अधिकार तथा अवसर देने की दिशा में जो महान प्रयत्न किया गया है वह है स्त्रियों को नए वैधानिक अधिकार। १९४१ से इस दिशा में प्रयत्न किया गया है। श्री बी० एन० राव की अध्यक्षता में एक कमेटी को यह सौंपा गया था कि वह स्त्रियों को समान अधिकार देने के लिए हिन्दू कानून में आवश्यक सुधार करने का मसविदा तैयार करे। उस की मुख्य सिफारिश यह थी कि उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कन्याओं के प्रति किए जाने वाले अन्यायपूर्ण वैषम्य व्यवहार को दूर करने के लिए कानून में संशोधन किया जाए। उस के अनुसार १९४२ में केन्द्रीय धारा सभा में एक विधेयक भी प्रस्तुत किया गया। विधेयक जब प्रवर समिति को सौंपा गया तब उस ने केवल इस आंशिक सुधार को पर्याप्त न मान कर समस्त हिन्दू विधान को नया रूप देने के लिए राव कमेटी को पुनर्जीवित करके सारे प्रश्न पर व्यापक रूप से स्थिर विचार करने का कार्य सौंपने का अनुरोध किया। उसने १९४७ में हिन्दू विधान के सम्बन्ध में एक नए विधेयक का व्यापक मसविदा तैयार किया जो कि १९४७ में केन्द्रीय धारा सभा में उपस्थित किया गया। इस सम्बन्ध में तत्कालीन विधि मंत्री स्वर्गीय श्री भीमराव अम्बेडकर ने जो प्रयत्न किया वह कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। १९४८ में प्रवर समिति ने उस पर विचार करके उस में अनेक संशोधन किए। प्रवर कमेटी की सिफारिशों के अनुसार विधेयक को चार निम्न भागों में बांटा गया और चारों में संसद में विस्तृत रूप से विचार किया गया।

१ हिन्दू विवाह विधेयक
२ हिन्दू अल्पवयस्कता व संरक्षणता विधेयक
३ हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक
४ हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह विधेयक

१९५१ के ग्राम निर्वाचन के उपरांत केन्द्रीय धारा सभा का स्थान संसद ने ले लिया और इन चारों विधेयकों पर संसद के दोनों सदनों में खूब विस्तार के साथ विचार करके उन को स्वीकार किया गया है। उनकी स्वीकृति की तिथियाँ निम्नलिखित हैं :—

१ हिन्दू विवाह विधेयक १८ मई १९५५

२ हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक १७ जून १९५६

३ हिन्दू अल्पवयस्कता व संरक्षणता विधेयक २५ अगस्त १९५६

४ हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह विधेयक १४ दिसम्बर १९५६

इन विधेयकों को संसद में स्वीकृति के दिन ही राष्ट्रपति की भी अन्तिम स्वीकृति मिल गयी और वे कानून में परिणत हो गए। ये कानून मुसलमानों, ईसाइयों, पारसियों तथा यहूदियों को छोड़ कर समस्त हिन्दू समाज पर लागू किये गए, जिस में शैव, लियांगत, ब्रह्मसमाज, प्राचीन समाज, बौद्ध, जैन आदि सब सम्मिलित हैं।

इन चारों कानूनों की विस्तृत व्याख्याओं का वर्णन देना यहाँ सम्भव नहीं है। यह कहना ही पर्याप्त होगा कि हिन्दू विवाह कानून का उद्देश्य विवाह के सम्बन्ध में संहिता तैयार करना था। इस से पहले जितने भी कानून बनाए गए थे उन से विशेष सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी उन को पूर्ण नहीं कहा जा सकता था। वैध विवाहों की सामान्य शर्तें तय करके उनके नियमों को सरल बनाने का प्रयत्न किया गया। बहु विवाह का निषेध और तलाक की अनुमति, इस की विशेष धाराएँ हैं, जिन का प्रतिपादन हिन्दू समाज के लिए समान आधार पर किया गया है।

उत्तराधिकार कानून

हिन्दू उत्तराधिकार कानून का उद्देश्य वसीयत की गई सम्पति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में सब हिन्दुओं के लिए समान व्यवस्था का किया जाना है। कन्याओं को भी सम्पत्ति में उत्तराधिकार प्राप्त करने का अवसर दिया गया है और लड़के के व लड़की अथवा स्त्री या पुरुष का भेद दूर कर दिया गया है। धार्मिक आधार का अन्त करके प्रेम व स्नेह के आधार को प्रमुखता दी गयी है।

अल्पवयस्कता और संरक्षणता

हिन्दू अल्पव्यस्कता और संरक्षणता कानून का उद्देश्य उस व्यवस्था को दूर करना था जिससे कि हिन्दू नाबालिग के संरक्षक को यह अधिकार प्राप्त था कि वह उस की सम्पति को गिरवी रख सकता था, बेच सकता था अथवा उस का मनचाहा उपयोग कर सकता था। अब इन अधिकारों को सीमित कर दिया गया है। अल्प व्ययस्क के लिए १८ वर्ष की आयु की मर्यादा निश्चित कर दी गयी है।

दत्तक ग्रहण और निर्वाह कानून

हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह कानून का उद्देश्य गोद लेने की वर्तमान प्रणालियों में एक रूपता पैदा करना है। इस कानून के बन जाने से पुराने सब कानून रद्द कर दिए गए। इस से पूर्व लड़की को गोद लेने और पत्नी द्वारा पति को निर्वाह देने की व्यवस्था नहीं थी। अब यदि कोई व्यक्ति गोद लेने का अधिकारी न हो, गोद देने वाला गोद देने का अधिकारी न हो और गोद लिया जानेवाला गोद लेने का पात्र न हो तो दत्तक ग्रहण वैध नहीं माना जाएगा। कोई भी हिन्दू वयस्क पुरुष किसी भी लड़के या लड़की को गोद ले सकता है। पत्नी की सहमति भी कुछ अपवादों के साथ आवश्यक मानी गयी है। हिन्दू वयस्क स्त्री को भी किसी भी लड़की या लड़के को गोद लेने का अधिकार दिया गया है।

प्रगति रुक नहीं सकती

इन कानूनों द्वारा की गयी व्यवस्था के पक्ष या विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा चुका है। जो लोग सामाजिक व्यवस्था में कुछ भी सुधार या परिवर्तन करने के पक्ष में नहीं हैं उन्होंने जैसे १९५६ में सती दाह के विरुद्ध बनाए गए कानून का विरोध किया था वैसे ही लगभग सौ वर्षों बाद इन कानूनों के बनाये जाने का भी विरोध किया। कहने का तात्पर्य यह है कि विरोधियों की मनोवृत्ति एक सदी बाद भी वैसी ही बनी हुई है, परन्तु ऐसे लोगों के कारण न तो समाज में अन्याय, विषमता तथा दुर्व्यवहार बना रह सकता है और न समाज की प्रगति, विकास तथा उन्नति को रोका जा सकता है।

महिलाओं का मेगनाचार्ट

इन चारों कानूनों को महिलाओं के सामाजिक अधिकार का मेगनाचार्ट अर्थात् अधिकार घोषणा पत्र कहा गया है। सदियों के उपरांत उनकी धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषमता को दूर किया गया है जिस पर शासन की और सदियों की परम्परा की रूढ़ि की मुहर लगी हुई थी। लोकाचार तथा शास्त्राचार के नाम से जिन बेहूदगियों का शिकार नारी को बना दिया गया था उनका भी इन कानूनों द्वारा निराकरण करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है। मनु, याज्ञवल्क्य तथा अन्य स्मृतिकारों ने श्रुति व स्मृति के नाम से जो एक तरफा धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था कायम की हुई थी और जिस का पोषण अपनी मूढ़ धारणा तथा जड़भावना के कारण हिन्दू समाज सदियों से करता चला आ रहा था उस का भी इन कानूनों द्वारा अन्त कर दिया गया।

हमारा नया कर्तव्य

सचमुच ही भारतीय स्वतन्त्रता और प्रजातंत्र के साथ भारतीय नारी की स्वतंत्रता के नवयुग का भी शुभ श्री गणेश हुआ है। और हिन्दू समाज की चादर पर नारी के प्रति अन्याय का जो गहरा काला दाग लगा हुआ था उसे धो डाला गया। उस से लाभ उठाना और भारतीय नारी की स्वतन्त्रता के इस सन्देह को घर-घर में हर स्त्री तक पहुँचना उन जागृत एवं जागरूक महिलाओं का कर्तव्य है जिन्हें समाज का नेतृत्व करने का गौरव प्राप्त है। केवल कानून की पुस्तक पर कुछ कानूनों के दर्ज हो जाने और संविधान में कुछ उच्च आदर्शों के प्रस्थापित हो जाने मात्र से उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। उस के लिए आवश्यक है कि उन को मूर्तरूप दिया जाए और समाज के व्यावहारिक जीवन में उन को पूरा उतारा जाए।

**

स्विटजरलैंड के एक भाई साथ में यात्रा कर रहे थे। गांवों में उन्होंने जितना दारिद्रय देखा, उतना पहले कभी नहीं देखा था। इतने दारिद्रय का उन्हें ख्याल भी नहीं था। वे मुझे कहने लगे, 'यह सब मैं देखता हूँ, परन्तु आश्चर्य इस बात का लगता है कि उनके चेहरे पर दुःख नहीं, आनन्द ही दीखता है। इसका कारण क्या है? हमने कहा, 'यह भारत का चमत्कार है। दुःख में भी वे हँसते हैं। रोनी सूरत आपको यहाँ बहुत कम दीखेगी। घर में बहुत दारिद्रय होगा, पर दुपहर में कभी भी उनके यहाँ जाकर रहिए, वे आप को खिलाए बगैर नहीं भेजेंगे। यह भारत की बादशाही है। भारतीय कहता है कि मैं दुनिया का बादशाह हूँ।'

—विनोबा

समाज में नयी क्रान्ति का उद्गम

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल

जीवन के मूल्यवान् स्थायी तत्त्वों की व्याख्या के अनेक प्रयत्न प्राचीन भागवत धर्म में पाए जाते हैं। उसी का एक नमूना पञ्चाख्यान नामक एक सुन्दर उपाख्यान है। कथा का शिल्प प्राचीन होते हुए भी कहानी का नीति तत्व अर्वाचीन है।

एक बार ऋषियों ने व्यास से पूछा—"ऐसा कोई यज्ञ बताइए जिसे बड़े और छोटे सब कर सकें, जो कष्ट के बिना सब वर्गों के लिए सुलभ हो, जिस के करने से देवों को मिलनेवाला स्वर्ग भी मानवको मिले और धर्म का भी पूर्ण फल प्राप्त हो।

प्रश्न सुन कर व्यास ने कहा—"इस विषय में पञ्चाख्यान प्रसिद्ध है। इन पांचों आख्यानों का जो तत्व है यदि उसे एक सूत्र में पिरोकर जीवन में ग्रहण किया जाए तो यश और स्वर्ग क्या मोक्ष भी मिल सकता है। अब वह आख्यान सुनो।"

एक कोई नरोत्तम नामक ब्राह्मण था। वह अपनी माता और पिता की अवज्ञा करके तीर्थयात्रा से पुण्य कमाने के लिए तीर्थों को चला गया। अनेक तीर्थों में स्नान करने से उसे इतना पुण्य मिला कि उसके भीगे हुए वस्त्र अधर आकाश में सूखने लगे। ब्राह्मण के मन में अहंकार आ गया कि मुझे जैसा पुण्यकर्मा कोई नहीं है। वह यह कह ही रहा था कि उस के ऊपर एक बगुले ने बींट कर दी। ब्राह्मण को क्रोध आ गया और उसने शाप देते हुए बगुले की ओर देखा। बगुला तत्काल भस्म होकर गिर पड़ा। उस पाप से ब्राह्मण के वस्त्रों का आकाश में सूखना बन्द हो गया। ब्राह्मण को इस से दुःख हुआ। उसी समय आकाशवाणी हुई—"हे ब्राह्मण, मूक नामका एक परम धार्मिक चांडाल है। तुम उसके पास जाओ, वह धर्म को जानता है उस के वचन से तुम्हारा क्षेम होगा।"

यह सुन कर वह ब्राह्मण ढूंढता हुआ मूक चांडाल के घर पहुचा। वह वहां क्या देखता है कि मूक के पास जो कुछ भी शक्ति और सम्पत्ति थी उन से वह अपने माता पिता की सेवा शुश्रूषा कर रहा था। उन दोनों की परिचर्या करने के बाद ही भोजन करता और अनेक प्रकार से उन के श्रम और सन्ताप का निवारण करता था। उसके इस पुण्य से विष्णु भगवान् ने उस के घर के भीतर विप्र रूप में अपना निवास बनाया। नरोत्तम ब्राह्मण ने मूक के घर को तेज और सत्व से सम्पन्न देख कर आश्चर्य से पूछा "कृपा करके मुझ से कहिए कि सब लोगों का शाश्वत हित किस प्रकार हो सकता है। इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर मुझे चाहिए।"

मूक ने कहा—,मैं और कुछ नहीं जानता समझता। मेरे लिए माता पिता की सेवा बड़ा कर्त्तव्य है। मेरी दृष्टि में पिता ही धर्म और पिता ही तप है। पिता को प्रसन्न कर सकूं तो सब देवता स्वयं प्रसन्न रहेंगे। मेरी दृष्टि में माता पिता की सेवा नित्य गंगा स्नान के समान है। माता सर्व तीर्थमयी है और पिता सर्वदेवमय है। वह मानवलोक में धन्य है, जिसने अपने शरीर को माता पिता की सेवा से पवित्र बनाया।

माता पिता की आराधना के बिना जो तीर्थ के देवताओं की ओर भागता है वह कीड़े की तरह कितना ही पृथ्वी का चक्कर काटे उसे कोई फल नहीं मिलता। अच्छा, अभी तो मैं पिता की सेवा में लगा हूं, तुम द्वार पर ठहरो। इस चर्चा से निवृत्त होकर मैं तुम्हारा आतिथ्य करूंगा।"

चांडाल की यह बात सुन कर ब्राह्मण आग बबूला हो गया और बोला—"मुझ ब्राह्मण की ओर ध्यान देने से भी क्या अधिक तुम्हारे पास कोई काम है?"

मूक ने शान्त भाव से कहा—"हे विप्रराज, व्यर्थ कोप मत करो। मैं वह बगुला नहीं हूँ जिस पर तुम्हारा कोप चल गया था। क्रोध से ही तो तुम्हारे वस्त्र आकाश में सूखना बन्द हो गए। उसी पर आकाश-वाणी सुन कर ही तो तुम मेरे घर पर आए हो। यदि तुम ठहरना चाहो तो ठहरो, नहीं तो उस पतिव्रता के पास जाओ जो धर्म को जानती है। और जिसके पास तुम्हारी जिज्ञासा पूरी होगी।"

उसी समय घर के भीतर से ब्राह्मण वेषधारी विष्णु ने बाहर आकर नरोत्तम से कहा "मैं उस प्रतिव्रता का घर जानता हूँ। मेरे साथ चलो।" ब्राह्मण उस के साथ हो लिया पर अत्यन्त विस्मित होकर उसने मार्ग में पूछा—"हे ब्राह्मण, तुम कौन हो जो इस चांडाल के घरमें रहते हो।" विप्र रूपधारी विष्णु ने कहा इस समय तुम्हारा मन शुद्ध नहीं है। पतिव्रता आदि के दर्शन करके पीछे तुम जानोंगे कि मैं कौन हूँ।" "नरोत्तम ने पूछा—"यह पतिव्रता कौन है? क्या उसका ज्ञान इतना अधिक है कि मेरे जैसा ब्राह्मण भी उस से जाकर कुछ सीखे?" विप्ररूपधारी विष्णुने उत्तर दिया—"नदियों में जैसे गंगा श्रेष्ठ है, मनुष्यों में जैसे राजा है और देवों में जैसे स्वयं विष्णु हैं, वैसे ही स्त्रियों में पतिव्रता का स्थान है। पतिव्रता नारी दोनों ओर के सौ कुलों का उद्धार करती है। उस के लिए स्वर्ग और मोक्ष दोनों सुलभ हैं जो पुत्र के स्नेह से सौगुने प्रेम से पति की सेवा करती है और राजा से होने वाले भय की अपेक्षा सौगुने भय से अपने पति की चर्या करती है, जो विष्णु की भांति पति की आराधना करती है, वह पतिव्रता है। जो अपने पति के लिए कार्य में दासी, रति में वेश्या, भोजन में माता और विपत्ति में मंत्रिणी बनती है उसे ही पतिव्रता भार्या जानो।"

इस प्रकार बातचीत करते हुए उस पतिव्रता का घर आ गया और विप्र रूपधारी विष्णु ने कहा—"देखो, उस का नाम शुभा है। तुम वहाँ जाकर उस से अपने हित की बात पूंछो।" उसके बाद वह विप्र 'दिखाई न पड़ा और नरोत्तम ने साध्वी शुभा के घर जाकर आवाज दी। वह सुनते ही बाहर आई। तब विप्र ने उस से कहा "मेरा जिस से कल्याण हो ऐसा उपदेश अपने अनुभव के आधार पर तुम मुझे दो। पतिव्रता ने कहा—"अभी में पति की सेवा में लगी हूँ। पीछे कहूँगी। अभी तो आतिथ्य ग्रहण करो।" विप्र ने कहा—"मुझे न भूख है न प्यास। मैंने जो पूछा है या तो उसका उत्तर दो नहीं तो तुम्हें शाप दे दूंगा।" यह सुनते ही उस ने कहा "हे ब्राह्मण, मुझे वह बगुला मत समझो। यदि ऐसी शीघ्रता है तो धर्मतुलाधार के पास चले जाओ। वे तुम्हारा हित कथन करेंगे।" यह कह कर वह घर के भीतर चली गयी। नरोत्तम ने भी उसी क्षण घर से बाहर निकलते हुए एक ब्राह्मण को देखा जैसा चांडाल के घर में हुआ था। नरोत्तम ने अचरज से कहा—"दूर देश में जो हुआ था उसे इस ने कैसे जान लिया? चांडाल की तरह इस ने भी वही बात कही।" ब्राह्मण वेशधारी विष्णु ने कहा—"अत्यन्त पुण्यात्मा लोग सदाचार के नियमों से सब कारणों को जान लेता है। इस में आश्चर्य क्या। पर यह तो बताओ कि उस ने तुम से क्या कहा?" नरोत्तम ने उत्तर दिया—"उस ने मुझे तुलाधार के पास जाने को कहा है।" विप्र ने कहा—"चलो मैं तुम्हें वहाँ पहुँचा देता हूँ। दोनों धर्मतुलाधार के स्थान पर पहुँचे। वहाँ वह अनेक रसों की बिक्री कर रहा था। स्त्री और पुरुष ग्राहक चारों ओर से उसे घेरे हुए थे और उस से वस्तुओं का भाव ताव पूछ रहे थे। नरोत्तम ने वहाँ एक विचित्र वातावरण देखा। वह तुलाधार अपने मुख से ही सब को दे और ले रहा था। उस की वाणी में न तो झूठ था न मन में किसी प्रकार की दुर्जनता। दुकान करते हुए उस की दृष्टि सर्वलोक हित में लगी थी। वह अपने धन्धे में मन, कर्म और वाणी से कोई विकार नहीं आने देता था। सब के प्रति वह समभाव से बरतता

था। उसके लिए मिट्टी और सोना बराबर थे। जो, रस, घी, तेल, अन्न जितना उस ने मुंह से कह दिया लोग प्रसन्न होकर ले जाते थे। वह प्राणान्त संकट आने पर भी कभी सत्य छोड़ कर झूठ नहीं कहता था।

धर्मतुलाधार ने नए अतिथि को देख कर आने का कारण पूछा। अतिथि ने कहा "मैं धर्म का तत्व जानने के लिये तुम्हारे पास आया हूँ।" तुलाधार ने उत्तर दिया "हे विप्र, जब तक ये ग्राहक मुझे घेरे हैं मुझे स्वस्थता नहीं है। रात्रि के समय आओ तो ठीक रहेगा। यदि अभी उपदेश चाहते हो तो अद्रोहक धर्माकर नाम के व्यक्ति के पास चले जाओ जो कभी किसी से द्रोह नहीं करता। तुम्हारे द्वारा बगुले के मरने और वस्त्र सूखने की बात भी वह जानता है। वहाँ तुम्हारी इच्छा पूरी हो जाएगी और तुम सब जान लोगे।" यह कह कर वह तुलाधार फिर अपने क्रय-विक्रय में लग गया।

नरोत्तम ने कहा—"हे तात, मैं उस का घर नहीं जानता।" तुरन्त ही विप्र रूप धारी हरि ने कहा—"मैं तुम्हारे साथ वहाँ तक चलूंगा।" रास्ते में जाते हुए नरोत्तम को शंका हुई कि यह तुलाधार कैसा है जो न देवपूजन करता है, न पितरों का तर्पण, जिस का शरीर भी मैल से भरा है, कैसे उस ने दूर देश में हुई मेरी बात जान ली। हरि ने कहा "भाई, क्या पूछते हो? सत्य के पालन और समभाव के द्वारा उस ने तीनों लोक वश में कर लिए हैं। ऋषि, देवता और पितर सब इसी कारण उस से प्रसन्न हो उठे हैं। भूत और भविष्य का सारा वृत्तान्त इसी से वह जान लेता है। सत्य से परे और धर्म नहीं एवं झूठ से बढ़ कर पातक नहीं। जो शत्रु और मित्र से समभाव से बरतता है उस के सब पाप क्षीण हो जाते हैं। लोक में कोई उस के बाहर नहीं ठहरता। वह तो स्वयं ही धर्म का साक्षात् रूप हो गया है और यह संसार उसी के आधार पर टिका है।" यह सुन कर नरोत्तम ने कहा—"तुलाधार का मर्म तो मैंने जाना। अब द्रोहक करनेवाले उस धर्माकर की बात भी कहिए।" विप्ररूपी हरि ने कहा—

"पहले समय में एक राजकुमार था। उस की नव यौवना स्त्री अत्यन्त रूपवती थी। राजकुमार को अकस्मात् कहीं जाने का काम आ गया। उस ने सोचा कि इस प्राण समान भार्या को कहां रख कर जाऊँ, जिस से इसका चरित्र निरापद रहे। यह विचार कर वह अद्रोहक के पास आया और उससे अपनी सुन्दर स्त्री को रख लेने की बात कही। अद्रोहक ने उत्तर दिया—"राजपुत्र, क्या कहते हो? मैं तुम्हारा माता पिता भाई बन्धु बान्धव कोई नहीं और इस स्त्री के भी मातृ पितृ कुल का नहीं। मेरे घर में इसे रख कर तुम कैसे रह सकोगे?" राजपुत्र ने कहा—"मैंने जान लिया कि तुम्हारे समान लोक में जितेन्द्रिय और धर्मज्ञ नहीं।" अद्रोहक ने कहा—"भाई, अच्छी तरह समझ लो, पीछे मुझे दोष मत देना। त्रिलोकमोहिनी स्त्री से अपनी रक्षा कौन कर सकता है?" राजपुत्र ने पहली बात को दृढ़ करते हुए कहा—"पृथ्वी में अच्छी तरह पूछताछ कर ही मैं तुम्हारे पास आया हूँ। यह स्त्री तुम्हारे ही यहाँ रहेगी, मैं जाता हूँ।" तब उस गृहस्थ ने राजपुत्र से कहा—"अनेक कामियों से भरे हुए इस नगर में स्त्री की रक्षा कठिन है। यदि तुम्हारी स्त्री मेरे ही बराबर एक शयन पर मेरी भार्या के साथ सोएगी और अपने देवस्वरूप पति का ध्यान रखेगी तभी मैं इसे रख सकता हूँ।" राजपुत्र ने क्षण भर सोचा और कहा—"तुम्हारी बात मुझे स्वीकार है।" तब उस गृहस्थ ने उस सुन्दरी से कहा—"हे सुन्दरी, जो मैं कहूँ वैसा करना होगा, उसमें दोष मत मानना।"

रात्रि आने पर वह गृहस्थ जिस ने अपने मन और इन्द्रियों को सर्वथा जीत लिया था एक ही पलंग पर अपनी पत्नी और उस सुन्दरी के बीच में सोया। जब अपनी स्त्री से स्पर्श करता तो उसके मन में काम की अभिलाषा होती, पर जब उस सुन्दरी का संस्पर्श होता तो समझता कि मेरी पुत्री सोई हुई है। जब सुन्दरी के स्तन उसके पृष्ठभाग का स्पर्श करते तो वह समझता कि ये मेरी माता के स्तन हैं जो मुझ बालक पुत्र को प्राप्त हो रहे हैं। प्रतिदिन वह उस सुन्दरी में अपनी माता की ही भावना रखता। इस प्रकार जब छः मास बीत गए तब वह राजपुत्र नगर में वापस आया। उसने अपनी पत्नी और गृहस्थ के आचार के विषय में लोगों से पूछा। किसी ने भला और किन्हीं युवकों ने अचरज प्रकट किया। किसी ने कहा—वह तो उसके साथ सोती

है। स्त्री पुरुष के एकत्र संसर्गमें भला कहीं कोई शान्त रह सकता है ? जनापवाद की कुछ भनक उस गृहस्थके कान में भी पड़ी। उस के सूक्ष्म धर्म वेदी मानस ने तत्काल कर्तव्य निश्चित कर लिया। उस ने ईंधन मंगाकर अग्नि जुलाई। इसी बीच में राजपुत्र ने आकर उसे और अपनी स्त्री को देखा। स्त्री प्रसन्न थी परन्तु वह पुरुष दुखी था उस के मन का भाव जानकर राजपुत्र ने कहा "हे मित्र, मैं बहुत दिनमें आया हूँ, तुम मुझ से बोलते क्यों नहीं ?" उस धर्मात्मा ने कहा—"मैंने तुम्हारे लिए जो कुछ भी संयम किया वह सब व्यर्थ है यदि लोग मुझ पर शंका करते हैं। इसलिए आज अग्नि मुझे शुद्ध कर देगी। मनुष्य और देवता दोनों इसे आज देखेंगे।" यह कह कर वह अग्नि में कूद पड़ा। किन्तु आग की लपटें उस का बाल बांका न कर सकीं। आकाश के देवता उस पर फूल बरसाने लगे। जिन्हों ने उस के विषय में निन्दा के वाक्य कहे थे उन के मुँह अनेक रोगों से बन्द हो गए। उस के चरणों की धूल से पवित्र हुई पृथिवी अन्न से भर गई। देवों ने प्रकट होकर कहा इस के सदृश लोक में न कोई हुआ है न होगा। काम लोभ इसे नहीं जीत सके।

एतस्य सदृशो लोके न भूतो न भविष्यति।
नास्तीति सांप्रत पुण्यां कामलोभाजितःपुमान ।।

पद्मपुराण, सृष्टि खंड, ४७ १३६

काम क्रोध और लोभ सभी जीवों को घेर लेते हैं पर इस ने उन्हें जीत कर चौदहों भुवन जीत लिए। इसी आनन्द से स्वयं विष्णु इस के हृदय में निवास करने लगे हैं। इस प्रकार उस व्यक्ति के दर्शन से मनुष्य अपने पापों से मुक्त होने लगे। उस धर्मात्मा को दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। जो देव हैं उन्हें वह प्रत्यक्ष देखने लगा और त्रैलोक्य की सब बातें उस ने इच्छामात्र से जान लीं।"

इतनी बात करते हुए नरोत्तम उस धर्मात्मा के घर के पास पहुँच गया और उसने उस से धर्म के तत्व के विषय में प्रश्न किया। धर्मात्मा गृहस्थ ने कहा 'हे विप्र अच्छा हो कि तुम विष्णु भक्त पुरुषोत्तम के पास चले जाओ। उसी के दर्शन से तुम्हारा अभीष्ट पूरा होगा। बगुले के मरने और वस्त्रों के सूखने की बात तथा जो तुम्हारे मन में है, वह सब जानता है।"

यह सुन कर वह नरोत्तम हरि रूपी विप्र के साथ उस के घर पहुँचा। वहाँ उस ने एक शुद्ध पुरुष के दर्शन किए जो अपने ही तेज से भासमान बैठा था और भगवान के ध्यान में बैठा हुआ था। पहुँचकर जिज्ञासु ब्राह्मण ने कहा—"मैं दूर से आपके पास आया हूँ। मुझ पर जो बीती है, आप सब जानते हैं।" विष्णु भक्त ने कहा "आप पर भगवान प्रसन्न हैं। आप के दर्शन से मेरा मन भी प्रसन्न हुआ है। आज आप का मनोरथ पूर्ण होगा और फिर पहले की तरह आप का स्तानीय वस्त्र आकाश में सूखने लगेगा।" यह सुनकर आगन्तुक ने गद्‌गद होकर कहा—"आप के वह विष्णु कहाँ हैं ? मुझे उन के दर्शन कराइए।" तब वह विष्णुभक्त उसे अपने घर में ले गया और वहाँ उस अतिथि ने पद्मासन पर विराजमान उसी विप्र के दर्शन किए जो उस के साथ कई बार आया था। तब उस ने शिर से प्रणाम करके उसके चरण पकड़ कर 'कहा "मुझ पर कृपा कीजिए। मैंने पहले आपको नहीं पहचाना। इस लोक में और परलोक में आप का ही दास हूँ। आप के अनुग्रह को मैंने इन आँखों से देखा है। अब आप के रूप को भी देखना चाहता हूँ, यदि आप की मुझ पर कृपा हो जाए।'

तब विष्णु ने कहा—"हे ब्राह्मण, मैं तुम से प्रसन्न हूँ। तुम सदा मेरे प्रिय हो। उसी स्नेह के वश ही हो मैंने तुम्हें पुण्यवान के दर्शन कराए हैं। यहाँ स्वर्ग और क्या है ? पुण्यवानों का एक बार भी यदि दर्शन स्पर्शन हो जाए या उन से भाषण का अवसर मिल जाए, या उन के विषय में सोचने और उन के गुण कीर्तन का अवसर मिल जाए तो वही अक्षय स्वर्ग है। जो मेरा भक्त है वह तीर्थ का ही रूप है। तुम उसी मूक नामक महात्मा चांडाल के घर जाओ। वह तीर्थ का ही रूप है और पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ है। उसी मूक के दर्शन से तुमने यह सब चमत्कार देखा और तुम मेरे पास तक दर्शन और सम्भाषण के लिए पहुँच सके हो। हे वत्स तुम मेरे पास तक आ गए हो तो मुझ से कोई भी वर मांग लो।" ब्राह्मण ने कहा—"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं

तो हे भगवन् ! आप मेरे मानस में निवास करें।" विष्णु ने कहा—"यदि तुम्हारी ऐसी बुद्धि है तो तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी ; किन्तु मेरा यह उपदेश है कि पहले जाकर अपने माता-पिता की पूजा करो, पीछे मेरे पास आना। उन्हीं की कृपा से तुम मेरे स्थान में पहुँच सकोगे।"

इतना सुन कर उस ब्राह्मण ने जगद्गुरु भगवान विष्णु से फिर कहा—"भगवन् ! मुझे आज भी यह विस्मय है कि मूक आदि ने देशान्तर में घटित मेरे वृत्तान्त को कैसे जान लिया ?" विष्णु ने उत्तर दिया—"मूक अपने माता पिता का भक्त था। वह शुभा स्त्री मन वचन कर्म से पतिव्रता थी। तुलाधार सत्यवादी और सद्भाव से युक्त था। अद्रोह ने लोभ और काम को जीत लिया था और यह वैष्णव मेरा सच्चा भक्त है। इन के इन्हीं गुणों से मैं प्रसन्न हुआ और इन के घर में साक्षात् रूप से रहने लगा।"

भागवत धर्म के किसी निपुण साहित्यिक शिल्पी ने इस पञ्चाख्यान की रचना की थी। भगवान क्या है ? मानव के समाज में किसप्रकार धर्म तत्त्व ऊँच नीच का भेद छोड़ कर गुणों के रूप में गृहीत किया जा सकता है, इसकी स्पष्ट सुनिश्चित व्याख्या इस उपाख्यान के द्वारा की गई है। सदाचार का उत्तम गुण ही भगवान का सच्चा स्वरूप है। सच कहा जाए तो माता पिता की पूजा अर्थात् गृहस्थ के पारिवारिक कर्तव्यों का पूर्णतया पालन, स्त्रीमें-पातिव्रतधर्म का आग्रह, प्रत्येक व्यक्ति के लिए सब मनुष्यों के प्रति समता का भाव, किसी से भी द्रोह न करना और भगवान की भक्ति ये पाँच महायज्ञ हैं, जिन के द्वारा मानव पवित्र से पवित्रतर बन जाता है :—

पित्री इर्चाऽय पत्युश्च साम्यं सर्व जनेषु च।
मित्रा द्रोही विष्णु भक्तिरेते पञ्चमहामखाः ॥

(पद्मपुराण, सृष्टि खंड, ४७।७)

कथा का महान लक्ष्य सदाचार के ऐसे प्रजातन्त्र की स्थापना है जिस में स्त्री और पुरुष, राजा और प्रजा, ब्राह्मण और चांडाल जो कथा के पात्र हैं, समान अधिकार रखते हैं और भगवत्स्वरूप की अभिव्यक्ति में सम्मिलित प्रयत्न करते हैं।

वेदव्यास का लक्ष्य

वेदव्यास का मुख्य लक्ष्य आचार प्रधान जीवन पर ही था। अन्यत्र भी उन्हों ने इस विषय में बहुत कुछ लिखा है। उदाहरण के लिए महाभारत आरण्यक पर्व में अजगर पर्व के नाम से एक महत्वपूर्ण प्रकरण है। (आरण्यक पर्व, अध्याय १७०, पूना संस्करण) जन्म से ब्राह्मणादि वर्ण है या सदाचार से, सदाचार का दृष्टिकोण रखते हुए ब्राह्मण और शूद्र की परिभाषा क्या है—इत्यादि प्रश्नों पर उस प्रकरण में मौलिक और साहसपूर्ण विचार पाए जाते हैं जो आज के युग के लिए भी उपयोगी हैं। वे कहीं भी रुकते या झिझकते नहीं वरन् प्रश्न के आधार पर भेदते हुए उस पर विचार करते हैं। महाभारत राष्ट्रीय धर्मग्रन्थ है और उस में इस प्रकार का निर्भय चिन्तन सार्वजनिक मानस को आश्वस्त करनेवाला है। एक ओर पञ्चाख्यान के मूक नामक चांडाल की भाषा हृदय के द्रावक भावों से निकली है तो दूसरी ओर युधिष्ठिर के प्रौढ़ और निर्भय उत्तर बुद्धिवाद को आधार बनाकर प्रवृत्त हुए हैं। नागराज और युधिष्ठिर का वह संवाद इसप्रकार है :—

अजगर ने प्रश्न किया "हे राजन्, ब्राह्मण कौन है ?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "हे नागराज, सत्य, दान, क्षमा, शील, सहृदयता, तप तथा दया (घृणा का अभाव) जिस में दिखाई पड़े, वही ब्राह्मण है।"

कौन ब्राह्मण और शुद्र है ?

नागराज को इस से सन्तोष नहीं हुआ। उस ने युधिष्ठिर की संशय रहित सम्मति जानने के लिए प्रश्न का मुँह फिर खोला।

उस ने कहा—'हे युधिष्ठिर, लोक में चातुर्वर्ण्य का प्रमाण माना जाता है। यदि किसी शूद्र में आप के कहे हुए सत्य, दान, क्रोध, सहृदयता, अहिंसा, दया आदि गुण हों तो क्या वह ब्राह्मण हो जाएगा ?

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"शूद्र में यदि आचार के ये लक्षण हों तो वह शूद्र नहीं रहा। ब्राह्मण में यदि ये लक्षण न हों तो वह ब्राह्मण नहीं। हे नागराज ! जिस में चरित्र वृत्त है, वही ब्राह्मण है। जिस में चरित्र नहीं है, वही शूद्र है।"

नागराज ने तर्क में धर्मराज को पुनः चांपते हुए कहा—"यदि तुम्हारे मत से चरित्र से ही ब्राह्मण होता है तब तो बिना चरित्र या कर्म के जाति व्यर्थ हो जाती है।"

प्रश्न मामूली नहीं है। यह जातपांत के वृक्ष पर सदा उठने वाला बड़ा कुल्हाड़ा है। इस कंटीले प्रश्न से भी युधिष्ठिर ठिठके नहीं। उन्होंने उसी धीरता और साहस से उत्तर दिया—"हे नागराज, यहां जातपांत है ही कहां ? कौन सी वह जाति है जिस में वर्ण का संकर नहीं हुआ ? वर्णों की आपसी मिलावट के कारण मेरी सम्मति में जाति की ठीक पहचान की बात उठाना बेकार है। इसलिए जो तत्वदर्शी हैं, उन के मत में शील ही मुख्य है। जन्म के बाद वर्णों के जातकर्म आदि संस्कार भी यदि किए जाएँ, पर अगर किसी में चरित्र नहीं हुआ, तो मैं उसे वर्णसंकर की हालत में पड़ा ही समझूंगा। इसीलिए, हे नागराज, मैंने पहले ही यह कहा कि जिस व्यक्ति में निखरा हुआ चरित्र, संस्कृत वृत्त है, वही ब्राह्मण है।"

(वनपर्व, अजगर पर्व, अ० १७७-२६-३०, पूना।)

धर्म की व्याख्या

भारत की विश्वात्मा को प्रकट करने वाले ये शूद्र व्यास की नूतन धर्म व्याख्या के अन्तर्गत थे। भगवान् बुद्ध और महावीर ने अपने जीवन और उपदेश से इस सत्य का प्रचार किया और विश्वकोटि भारतीय जनता ने उस का समर्थन किया और उसे जीवन में ग्रहण किया। परन्तु यह राष्ट्रीय कोढ़ निर्मूल नहीं हुआ :—

१ सत्यं दानं क्षमाशील मानृशंस्यं ततो घृणा।
दृश्यंते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ।।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ।।
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणा ।।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृतं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ।।
यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः।
वृथा जातिस्तदा यूष्मन्कृतिर्यावन्न विद्यते ।।
जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संस्कारात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ।।
यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते।
तं ब्राम्हणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम ।।

अष्टम शताब्दी में भगवान् शंकराचार्य ने वेदान्त ज्ञान को राष्ट्र का दार्शनिक दृष्टिकोण ही बना दिया। सब भूतों में आत्मतत्व की एकता की पहचान ही वेदान्त का फल है। शंकर के शारीरिक भाष्य में अप शूद्राधिकरण नामक जो प्रकरण है, वह उन के लिए क्षम्य नहीं कहा जा सकता। लेकिन मायावाद से छुआछूत के

गहरे संस्कार लिए हुए वह उत्तरापथ के ज्ञान की अधिष्ठात्री काशीपुरी है। शंकर उसी काशीपुरी में आए और सामने से आते हुए मेहतर-मेहतरानी को देख कर 'हटो—बचो' करने लगे। उन का वेदान्त ज्ञान भूल गया। यह बात काशी के ज्ञानाधिदेवता शिव बर्दाश्त नहीं कर सके। उसी चांडाल के मुँह से उन्होंने शंकर को डपटा :—

"हे श्रेष्ठ ब्राह्मण, अपने मिट्टी के शरीर से मेरे इस मिट्टी के शरीर को हटाना चाहते हो या अपनी आत्मा को मेरी आत्मा से दूर करना चाहते हो? किस नियत से 'हटो—बचो' करते हो?"

"ज्ञात होता है, कि तुम्हारा शरीर तो गंगाजल है, उस में जो सूर्य की परछाईं पड़ रही है, वह मुझ चांडाल की मडैया के जल में पड़नेवाली परछाईं से अवश्य भिन्न है।

"तुम्हारे पास सोने का घट है, मेरे पास केवल मिट्टी की हांडी है। मालूम होता है, दोनों में दो भिन्न तरह के आकाश हैं।

"घट में जो बसनेवाला जो आत्मरूप सहजानन्द ज्ञान का समुद्र है, उस में भी तुम्हारे ब्राह्मण चांडाल का भेद भ्रम अभी तक नहीं मिटा?"

"मैं कौन हूँ, जानते हो? जानते होते तो इस देह में जिस निर्मल चैतन्य की किरणें फूटती रहती हैं, ब्रह्मा से लेकर रेंगनेवाली चींटी तक के शरीर में रमता हुआ जो इस जगत् की साखी भरता है, वही मैं हूँ।"

"इस प्रकार की स्थिर बुद्धि यदि है तो गुरु बन कर चांडाल अथवा ब्राह्मण भेद बुद्धि छोड़ दें।"[1]

शंकर के बाद आनेवाले सिद्धों ने भेद भ्रम नाशक परम्परा पर बहुत जोर दिया। मुनि रामसिंह के पाहुड़ दोहे में छुआछूत के वाह्य-आचार को आत्मा की दृष्टि से निरर्थक कहा गया है :—

कासु समाहि करहुं को अंचउं।
छोपु अछोपु मणिवि को बंचउं॥

"किस का ध्यान करूँ, किस को पूजूं, किस को छूत और किसको अछूत मानूं?"

सहज यानी सिद्धों ने (८वी शती से १२ वीं शती) भी इसी विचारधारा को पुष्ट किया। सरोरुह-पाद कहते हैं कि 'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो सब की उत्पत्ति एक सी है। यदि कहो कि संस्कार देकर हुए, तो सबको ब्राह्मण क्यों नहीं हो जाने देते।" (श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १३३)। अनेक सिद्ध सन्त स्वयं शूद्र वर्ग में उत्पन्न होकर पूजा को प्राप्त हुए।

सिद्धों की परम्परा को नाथों ने १२ वीं से १५ वीं शती तक आगे बढ़ाया। गोरखनाथ आदि नाथों ने जाति की अपेक्षा आचार और चरित्र पर बहुत जोर दिया। समाज में भंगी या चूहड़ा वही है, जो जननेन्द्रिय और स्वाद इन्द्रिय के विषय में लम्पट हैं :—

यंद्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा।
गोरख कहै ते पर्तषि चूहड़ा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानन्द और कबीर ने हिन्दू समाज की इस वाणी को जोर से दुहराया। उन्होंने ज्ञान और अनुभव को जात पांत की हदबंदी से ऊपर रख कर उस क्षेत्र की नागरिकता का अधिकार सब के लिए खोल दिया। फिर तो चैतन्य, रैदास, नानक, नामदेव आदि अनेक सन्तों ने इसे एक राजमार्ग ही बना दिया और उनके उपदेशों को हिन्दू समाज ने बहुत कुछ स्वीकार किया।

[1] अन्नमयादन्नमय मथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्।
द्विजवर दूरी कर्तमिच्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति। (मनीषापंचक॥)

नयी क्रान्ति ने जन्म लिया

१६ वीं शती में भारतवर्ष में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। सब धर्मों से ऊपर राष्ट्रीय धर्म का उदय होने लगा। धर्म के भीतर से अभी तक जो समाज सुधार के आन्दोलन थे, अब वे राष्ट्रीयता की शक्ति और युक्तिमत्ता लेकर समाज के सामने आने लगे। स्वामी दयानन्द ने धर्म और राष्ट्रीयता, दोनों के भीतर से भारत की प्राचीन उदार वाणी की घोषणा की और हिन्दू समाज से स्पष्ट शब्दों में कहा कि अछूतपन हिन्दू धर्म और समाज का कलंक है, यह मैल उस पर बाहर से चढ़ा है, उस की निजी संस्कृति में इस के लिए कोई स्थान नहीं है। यह छुआछूत की जड़ पर प्रबल कुठाराघात हुआ और उस के शास्त्रीय अनुमोदन की जड़ें हिल गईं। शास्त्र प्रमाण से अस्पृश्यता का समर्थन करनेवालों के हाथ से अखाड़ा जाता रहा और उनकी हिम्मत टूट गई। यह एक बड़ी क्रान्ति थी, जो नवीन होते हुए भी प्राचीनता की शक्ति से संचालित थी।

**

'क्षुधा' समस्त राजनीतिज्ञों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वह लोकतंत्र शासन के विकास पथ में जबर्दस्त रोड़ा है। लोग अन्न और जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध न होने पर सहसा यह विश्वास करने लगते हैं कि वे किसी शासन को पलट कर अथवा आर्थिक व्यवस्था को मिटा कर उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।'

—लार्ड वायडओर

'एक लोक-कल्याण राज्य में सबके न्याय के लिए संयोजित अर्थ व्यवस्था का निर्माण और विकास होना चाहिए। बिना आर्थिक समानता के प्रभावशाली राजनीतिक लोकतंत्रता का प्राप्त करना संभव नहीं है। एक क्षुधा पीड़ित व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता का क्या अर्थ है? वह स्वतंत्रता को न खा सकता है और न पी सकता है।'

—हावसन



महात्मा गांधी और अस्पृश्यता

अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

'मुझे छुओ मत'—की यह छूत केवल हरिजनों तक ही सीमित नहीं है। इस ने किसी भी जाति और किसी भी धर्म को अछूता नहीं छोड़ा है। एक जाति दूसरी जाति की दृष्टि में अछूत है और एक धर्म दूसरे धर्म के लिए अस्पृश्य है। मैं तब तक संतुष्ट नहीं होऊँगा, जब तक कि इस आन्दोलन के फलस्वरूप भारत में बसने वाली भिन्न-भिन्न जातियों और सम्प्रदायों के बीच में हम हार्दिक एकता स्थापित नहीं कर देते। यही कारण है कि मैं भारत और भारत के प्रत्येक अधिवासी से सहानुभूति और सहयोग की भीख मांग रहा हूँ।'

—महात्मा गांधी

अस्पृश्यता का आरम्भ कब हुआ और कैसे हुआ, यह विषय आज भी अन्धकार में है। देश में अस्पृश्यता ने कब प्रवेश किया, इसे आज इतिहास निश्चयपूर्वक बताने में असमर्थ है। लेकिन महाभारत के समय अछूतपन देश में व्याप्त था और उस के विरुद्ध आन्दोलन जारी था। गीता में कहा गया है :—

"ब्राह्मणे गवि हस्तिनि
शुनि चैव श्वपाके च
पंडिताः समदर्शिनः

चाण्डाल उस समय थे, यह इस श्लोक से प्रकट है। आध्यात्मिक दृष्टि से उन की समानता अवश्य स्वीकार की गयी थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से उनकी समानता उस समय भी स्वीकार नहीं की गयी थी जैसा कि गांधीजी ने कहा है :—

"हिन्दू धर्म के शुद्धतम रूप में तो ब्राह्मण, हाथी, चींटी, श्वान और श्वपच सब बराबर ही माने गए हैं। और चूंकि हमारा तत्वज्ञान बहुत ऊंचा है और उसके अनुसार हम आचरण नहीं कर सके, इसलिए वही तत्वज्ञान आज हमारी नाक में दुर्गन्ध मार रहा है। न केवल मानव जाति, बल्कि प्राणीमात्र के लिए हिन्दू धर्म का बन्धुत्व पर आग्रह है। यह एक ऐसा विचार है, जो हमारे दिमाग को चकरा देता है, परन्तु उसमें व्यवहार का रूप देना होगा।"

- बौद्ध धर्म भी इस सामाजिक असमानता और विषमता को दूर नहीं कर सका। क्योंकि फाहियान ने यात्रा के वृत्तान्त में लिखा है कि, चाण्डाल बस्ती के बाहर रहते थे। बुद्ध के अनुयाइयों में इस वर्ग का कोई भी व्यक्ति नहीं था। यदि कोई हुआ हो तो भी उनकी अस्पृश्यता का बौद्ध धर्म अन्त न कर सका।

सामाजिक असमानता के विरुद्ध फिर सन्तों और भक्तों की आवाज सुनाई देती है। इनका नारा था :—

"हरि को भजे सो हरि का होय।"

लेकिन यह भी धार्मिक जगत तक सीमित था। अस्पृश्य वर्ग में भी अनेक सन्त और भक्त हुए हैं, लेकिन वे समाज के अन्दर विद्यमान ऊँच-नीच के भेदभाव को दूर नहीं कर सके। अस्पृश्यता फिर भी

बनी रही। उन्नीसवीं सदी में ईसाई और इस्लाम धर्म के जबर्दस्त प्रचार और प्रबल हमलों ने हिन्दू समाज को पैर से लेकर चोटी तक झकझोर दिया। ऐसे समय में इस युग के महान सुधारक ऋषि दयानन्द आए।

उन्होंने महान जयघोष कर मानव मात्र के लिए वेदोंका पाठ खोल दिया। लेकिन अस्पृश्यता का अन्त करनेके लिए जो आर्य समाज में आए और जिन्हों ने यज्ञोपवीत लिए, वे पैतृक पेशा छोड़ कर ही यह कर सके। वे अपने पुराने समाज और वर्ग से अलग हो गए। अतः इसका कोई विशेष प्रभाव सारे समाज पर नहीं पड़ा। जो ईसाई और मुसलमान हो गए, वे धर्म परिवर्तन करके भी अपनी अस्पृश्यता की छाप नहीं मिटा सके। हां उन लोगों के लिए सार्वजनिक कुओं से पानी भरना, स्कूलों में पढ़ना निषिद्ध नहीं रहा। किन्तु इस का कारण यह नहीं था कि विधर्मी हुए लोगों को हिन्दू आदर और स्नेह से देखते थे। धर्म परिवर्तन किए हुए लोगों के साथ राजशक्ति थी और वे राजशक्ति के सामने शीश झुकाने को वाध्य थे। लेकिन उन्होंने उन लोगों के साथ भी अपने बर्ताव में कोई अन्तर न होने दिया। उन्हें सदा अछूत ही माना। यह स्थिति बनी हुयी थी, जब गांधीजी भारतके राजनीतिक रंगमंच पर आए। अमृतसर कांग्रेस में सन् १९१९ के स्वागताध्यक्ष अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने स्वागताध्यक्ष के भाषण में अस्पृश्यता की ओर कांग्रेस और देश का ध्यान खींचा था और चेतावनी दी थी कि ब्रिटिश सरकार अछूतों को अपनी कुल्हाड़ी का बेंट बना रही है। यदि अस्पृश्यता का अन्त न किया गया तो भारत माता का एक और अंग जो ७ करोड़ अछूत के रूप में है, कट कर अलग हो जाएगा। लेकिन यह चेतावनी बहरे कानों में पड़ी। खिलाफत और असहयोग का प्रस्ताव जब कलकत्ता में, कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में स्वीकार किया गया, तब भी कांग्रेस के कार्यक्रम में अस्पृश्यता निवारण को स्थान नहीं दिया गया था। लेकिन जब गांधी जी तिलक स्वराज्य फन्ड के लिए चन्दा जमा करने के लिए तामिलनाद के ग्रामों में आए और वहाँ उन्होंने अपनी आँखों से अस्पृश्यता के नग्नरूप को देखा और अस्पृश्यों की कातर आँखों ने उनसे जब यह पूछा कि आप के स्वराज्य में हमारे लिए क्या स्थान है, तब गांधीजी ने अनुभव किया कि अस्पृश्यता का अन्त हुए बिना इस देश में स्वराज्य स्थापित नहीं हो सकता। तब नागपुर कांग्रेस में जो कार्यक्रम तैयार किया गया, तो उस में अस्पृश्यता निवारण को विशेष स्थान दिया गया। इस समय गांधीजी और कांग्रेस ने अनुभव किया कि भारत की दासता का एक कारण अस्पृश्यता भी है। गांधीजीने १९२१ में लिखा था :—

"हां, बेशक, यही हमारे द्वारा अपने भाइयों का दबाया जाना ही, इस का मूल कारण है, यह आन्तरिक अवनति है। हम ने जो अपने ही भाई बिरादरों को लूटा है और धर्म के पवित्र नाम पर उन को जानबूझ कर नीचे गिराया है, उसका परिणाम है कि ईश्वरदत्त बदला विदेशी सरकार का आधिपत्य और आर्थिक लूट का अभिशाप है। इसलिए मैंने छूआछूत को निकाल देना स्वराज्य की प्राप्ति में एक अनिवार्य शर्त रखी है। जब हमने दूसरों को गुलाम बना रखा है, तब हमें इस समय तक अपनी गुलामी के लिए दूसरों से झगड़ने का कोई कारण नहीं है, जबतक कि हम अपने ही गुलामों को बिना किसी शर्त के स्वतन्त्र नहीं कर दें। अपने शासकों की आँख में से रजकण निकालने की कोशिश करने के पहले खुद अपनी आँख में से छूआछूत की फांस निकाल बाहर करनी चाहिए।"

गांधीजी और अस्पृश्यता

गांधीजी के हृदय में अस्पृश्यता निवारण की भावना का उदय राजनीतिक कारणों से हुआ, यह समझना गलत होगा। मानव-मात्र समान है और मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं रहना चाहिए। इस उदात्त मानवीय अनुभूति के कारण गांधीजी बचपन से ही अछूतपन को बुरा मानते थे। अछूतपन हिन्दू धर्म का कलंक है, यह धारणा गांधीजी को कैसे हुई, इस विषय में गांधीजी ने स्वतः लिखा है :—

"अस्पृश्यता को मैं हिन्दूधर्म का सबसे बड़ा कलंक मानता हूँ। इस विचार के प्रतीक मुझे दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के दौरान में प्राप्त हुए कड़ुवे अनुभवों द्वारा हुई थी। इसका कारण भी यह नहीं है कि मैं एक

समय नास्तिक था। यह मानना भी—जैसा कि कुछ लोग मानते हैं—उतना ही गलत है कि यह विचार मैंने ईसाई धार्मिक साहित्य के अध्ययन से ग्रहण किया हैं। मेरे यह विचार उस समय भी थे, जब मैं न तो बाइबिल या न उस के अनुयायियों के प्रति आकर्षित हुआ था और न उनके परिचय में आया था।"

लेकिन प्रश्न बना ही रहता है कि गांधी जी को यह विचार कब से हुआ कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का कलंक है? गांधीजी ने इस का उत्तर इस प्रकार दिया है :—

"यह विचार पहले पहल जब मेरे मन में उठा, तब मैं मुश्किल से बारह वर्ष का रहा होऊँगा। उस समय ऊका नामक एक भंगी अछूत टट्टियां साफ करने के लिए हमारे घर आया करता था। तब मैं अक्सर अपनी मां से पूछा करता था कि, इसे छूना बुरा क्यों हैं। मुझे छूने से क्यों रोका जाता है। कभी अचानक मैं उसको छू लेता, तो मुझे स्नान करने के लिए कहा जाता। यद्यपि स्वभाव से ही इस आदेश का पालन करता था, लेकिन मैं मुस्कराते हुए अपना यह विरोध भी प्रकट किए बिना नहीं रहता था कि हिन्दू धर्म ने अस्पृश्यता को स्वीकृति नहीं दी है। यह सर्वथा असम्भव है। मैं अपने माता पिता का बड़ा कर्तव्य परायण और आज्ञाकारी बालक था, लेकिन उनके सम्मान की रक्षा करते हुए इस विषय में उनके साथ प्रायः झगड़ा हो जाया करता था। मैंने अपनी मां से कह दिया था कि तुम्हारा यह मानना बिलकुल गलत है कि उनको छूने में पाप है।"

इसी भाषण में गांधीजी ने कहा था—

"स्कूल में अकसर अछूतों को छू लेता हूं और चूंकि अपनी कोई बात अपने माता पिता से छिपाता नहीं था। मेरी मां मुझ से कहती कि अछूतों के अपवित्र स्पर्श के बाद यदि पास से गुजरते हुए मुसलमान को छू लिया जाए तो आदमी फिर पवित्र हो जाता है। और मां के प्रति आदर और सम्मान का भाव होने के कारण मैं अकसर ऐसा करता भी था; लेकिन धार्मिक कर्तव्य मान कर मैंने ऐसा कभी भी नहीं किया।"

अछूतपन मानना पाप है, शैतानियत है यह बुद्धि गांधीजी में कैसी उत्पन्न हुई यह बताते हुए आपने पूर्वोक्त भाषण में कहा था :—

'हमारे परिवार में रामायण का नियमित पाठ होता था। मैं अपने मन में सोचा करता था कि रामायण में यह कथा है। एक ऐसा आदमी जिसे हम आज अछूत मानते हैं, राम को अपनी नाव में बैठा कर गंगा पार ले गया था। वही रामायण किसी मनुष्य को इस आधार पर अछूत मानने के विचार का कैसे समर्थन कर सकती है कि वह भ्रष्ट या पतित है। हम भगवान को पतित पावन और ऐसे ही नामों से पुकारते हैं। यह इसे बताता है कि हिन्दू धर्म में पैदा हुए किसी भी मनुष्य को पतित या अछूत मानना पाप है, शैतानियत है। इसलिए मैं यह कहते हुए कभी नहीं थका। मैं यह दावा तो नहीं करता कि, बारह वर्ष की आयु में मुझे यह बात विश्वास के रूप में स्पष्ट होगयी थी, लेकिन इतना जरूर कहूंगा कि उस समय भी मैं अस्पृश्यता को पाप मानता था। यह बात मैं वैष्णव और सनातनी हिन्दुओं की जानकारी के लिए कहता हूं।'

अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग नहीं है न हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुकूल है। सम्पूर्ण हिन्दू समाज को यह विश्वास दिलाने के लिए कि, अस्पृश्यता शास्त्रानुकूल नहीं है, शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रश्न की मीमांसा करना उचित था। फिर कट्टर सनातनी प्राचीन शास्त्रों की दुहाई देकर ही अस्पृश्यता का समर्थन करते थे और करते हैं। अतः शास्त्रों का इस विषय में क्या मत है, यह बताना आवश्यक था। गांधीजी ने इस विषय में लिखा है :—

'मैं आज भी यह स्वीकार करता हूं कि मुझे हिन्दू-शास्त्रों का शास्त्रीय ज्ञान नहीं है, लेकिन मैं हिन्दू धर्म के रहस्य को समझने का दावा अवश्य करता हूं। और मैं अत्यन्त नम्रता किन्तु अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ यह कहने का साहस करता हूं कि अस्पृश्यता को आज तक हम ने जिस रूप में जारी रखा है उस रूप में जारी रखना हिन्दूधर्म में बड़ा कलंक है। यह स्मृतियों का अनुचित दुरुपयोग है, जो हिन्दूधर्म का आधार है।'

इसी सिलसिले में गांधी ने गीता के आधार पर अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा: —

'भगवान श्रीकृष्णने गीतामें समता के जिस सिद्धान्त की शिक्षा दी है, उसमें मेरा विश्वास है। गीता हमें सिखाती हैकि चारों वर्णों के लोगों के साथ समता के आधार पर हमें व्यवहार करना चाहिए। गीता कहती है कि ब्राह्मण और चाण्डाल को समान समझो; किन्तु वह ब्राह्मण और चाण्डाल के लिए एक धर्म नहीं बताती। किन्तु उसका आग्रह इस बात पर है कि चाण्डाल उसी न्याय और आदर का अधिकारी है जिसका एक ब्राह्मण अपनी उत्कृष्ट विद्वता के कारण है।'

इतना ही नहीं, गांधीजी एक कदम और आगे बढ़े और उन्होंने यह घोषित किया :—

'यदि हम अस्पृश्यता के इस अभिप्राय से चिपटे रहे, तो हम सारी दुनियां के हंसी के पात्र बनेंगे और जो धर्म उस का पोषण करता है, उसी की सारी दुनिया निन्दा करेगी।'

गांधी जी इस नतीजे पर कैसे पहुँचे और उनके यह निर्णय करने की कसौटी क्या है, इसका उत्तर देते हुए गांधीजी ने कहा :—

'मैं कोई साहित्यिक नहीं हूँ। इसलिए मैं संसार के विभिन्न धर्मग्रन्थों की भावनाओं को समझने का प्रयत्न करता हूँ, जो इन धर्मग्रन्थों द्वारा ही बतायी गयी हैं। जो चीज उस कसौटी पर खरी नहीं उतरती, उसे छोड़ देता हूँ और जो चीज खरी उतरती है उसे अपना लेता हूँ।'

शुद्धि सवर्णों की होनी है

अस्पृश्यता निवारण के लिए गांधीजी अछूतों की शुद्धि करना जरूरी नहीं समझते थे। दूसरे वे अस्पृश्यता निवारण मानव के समान अधिकार के आधार पर करना चाहते थे। वे मानते थे कि ईश्वर के छोटे से छोटे प्राणी को भी दुनिया में जीने का हक है। जब हम यह हक स्वीकार करते हैं, तब अस्पृश्यता के लिए स्थान नहीं रहता। इसी बात को गांधीजी ने इस प्रकार कहा है :—

'छूआछूत दूर करना एक ऐसा प्रायश्चित है, जो सवर्ण हिन्दुओं को हिन्दू धर्म के लिए और स्वयं अपने लिए करना चाहिए। शुद्धि, अछूतों की नहीं, बल्कि ऊँची कहलानेवाली जातियों की जरूरी है। कोई ऐब ऐसा नहीं है, जो खास तौर पर 'अछूतों' के ही अन्दर हो। मैला, कुचैलापन और आरोग्य रक्षा के नियमों को तोड़नेवाली आदतें भी महज उन्हीं के अन्दर नहीं हैं। अपने को ऊँचा समझने वाले हम हिन्दुओं का अभिमान है, जो हमें अपने दोषों के प्रति अन्धा बना देता है और हमारे बेचारे दलित और पीड़ित भाइयों के दोष को राई का पहाड़ बना कर दिखाता है। जिन्हें हम सदियों से दबाते चले आए हैं और आज भी जिन की गर्दन पर सवार रहते हैं। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की तरह भिन्न-भिन्न धर्म भी इस वक्त कसौटी पर चढ़ाए जा रहे हैं। ईश्वरीय अनुग्रह और प्रकाश तथा धर्म व संस्कृति का ठेका किसी एक जाति और राष्ट्र का ही नहीं है। वे बिना किसी भेदभाव के उन सब बन्दों को प्राप्त होते हैं, जो ईश्वर की भक्ति और आराधना करते हैं। उस जाति और उस धर्म का नामोनिशान इस दुनिया से मिटे बिना नहीं रहेगा, जो अन्याय, असत्य और हिंसा पर श्रद्धा रखता है। ईश्वर प्रकाश है, अन्धकार नहीं, ईश्वर प्रेम है घृणा नहीं, ईश्वर सत्य है, असत्य नहीं। एक ईश्वर ही महान है, हम उस के बन्दे, उसकी चरण रज हैं। आओ, हम सब नम्र बनें और ईश्वर के छोटे से छोटे को भी इस संसार में जीने के हक को मानें। श्रीकृष्णने फटे पुराने चिथड़े पहने हुए सुदामा का वह स्वागत सत्कार किया, जो उन्होंने और किसी का नहीं किया। प्रेम, धर्म का मूल है। गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन है—'दया धरम का मूल है, पाप मूल अभिमान।'

'अस्पृश्यता हिन्दू धर्म के अनुकूल नहीं है, प्रतिकूल है। इसलिए इसका अन्त होना चाहिए।'

गांधीजी की इस मान्यता का आधार था कि कोई सच्चा धर्म सदाचार और नीति-शास्त्र के बुनियादी तत्त्वों के विरुद्ध नहीं हो सकता। इस का अर्थ हुआ कि अस्पृश्यता सदाचार और नीतिशास्त्र के मूल तत्त्वों के ही विरुद्ध हैं। गांधीजी ने त्रिवेन्द्रम में भाषण देते हुए कहा था :—

'अपने आज के भयंकर रूप में अस्पृश्यता से मुझे इतना कष्ट हमेशा इसलिए होता है कि मैं अपने आपको हिन्दू धर्म की भावना से ओत-प्रोत एक सच्चा हिन्दू मानता हूँ। आज जिस रूप में हम अस्पृश्यता को मानते और उस का आचरण करते हैं, उस के अस्तित्व का भी प्रमाण मुझे उन ग्रन्थोंमें नहीं मिलता, जो हिन्दू धर्मशास्त्रों के नाम से पुकारे जाते हैं, जैसा कि मैंने बार-बार अन्य स्थानों पर कहा है। यदि मुझे पता चला कि हिन्दू धर्म सचमुच अस्पृश्यता का समर्थन करता है, तो हिन्दू धर्म का त्याग करने में मुझे किसी तरह की हिचकिचाहट नहीं होगी। पर मैं मानता हूँ कि कोई सच्चा धर्म सदाचार और नीतिशास्त्र के बुनियादी रूप के विरुद्ध नहीं जा सकता। लेकिन चूंकि मेरा यह विश्वास है कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग नहीं है, इसलिए मैं पकड़े हुए हूँ। किन्तु, मैं इस भयंकर पाप से दिनोंदिन ज्यादा अधीर होता जा रहा हूँ।'

अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का कलंक है

गांधीजी एक हिन्दू थे, सच्चे हिन्दू थे और हिन्दू धर्म का हृदय से प्यार करते थे। अतः वे यह मानने को तैयार न थे कि सदियों से अस्पृश्यता चली आ रही है। इसलिए वह बनी रहनी चाहिए। जैसे अन्य अनेक बुरी प्रथाएँ चल पड़ी हैं, उसी प्रकार यह भी चली हुई है। यह उन की धारणा थी और वे इस का अन्त करने के लिए कटिबद्ध थे। गांधीजी ने अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का कलंक लिखा :—

"मैं कभी अपने मन को अस्पृश्यता के अनुकूल नहीं बना पाया हूँ। मैंने सदा इसे हिन्दू धर्म का एक कलंक माना है। यह सत्य है कि यह प्रथा परम्परा से हमारे यहाँ चली आई है। लेकिन, इसी तरह अन्य अनेक बुरी प्रथाएँ भी आज तक चली आई हैं। अगर मैं यह मानूं तो मेरे लिए यह लज्जा की बात होगी कि लड़कियों को वस्तुतः वेश्यावृत्ति के लिए समर्पित करना हिन्दू धर्म का अंग है। फिर भी मैं देखता हूँ कि हिन्दुस्तान के अनेक भागों में यह बुरी प्रथा आज भी प्रचलित है। काली माता के सामने बकरे की बलि देने को मैं निश्चित रूप से अधर्म मानता हूँ। इसे मैं हिन्दूधर्म का अंग नहीं मानता। हिन्दूधर्म तो युग के विकास का परिणाम है, जो धर्म गो पूजा की स्थापना करता है वह मानव जातियों के अमानुषिक और निर्दय बहिष्कार का न तो कभी समर्थन कर सकता है और न इसे किसी दशा में उचित मान सकता है। इन दबे और कुचले हुए वर्णोंका त्याग करने के बजाय मैं अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर—दिए जाने पर भी ज्यादा संतोष मानूंगा। अगर हिन्दू अस्पृश्यता के कलंक को कायम रख कर अपने उच्च और उदात्त धर्मको निन्दनीय बनने देंगे तो वे न तो कभी स्वतंत्रता के क्षेत्र में ठहरेंगे और न कभी प्राप्त कर सकेंगे। और चूंकि मैं हिन्दूधर्म को अपने प्राणोंसे अधिक प्यार करता हूँ, इसलिए अस्पृश्यता का कलंक मेरे लिए एक असह्य भार हो गया है। अपनी जाति के लोगोंको अपने साथ बराबरी के दर्जे पर रहने का अधिकार न देकर हम ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार न करें।"

गांधीजी हिन्दू-धर्म की तुलना गंगा से करते थे। उन का विचार था कि विभिन्न समय में शास्त्र तथा स्मृतियों का निर्माण हुआ है और अपने समय की परिस्थितियों का खयाल कर व्यवस्थाएँ दी गई हैं। शास्त्र और स्मृतियां भी विकास का परिणाम हैं। अत यह मानना कि यह प्रथा चली आई है, इसलिए उचित है, यह नहीं कहा जा सकता। अतः गांधीजी ने लिखा :—

'हिन्दूधर्म गंगाकी तरह, जो उद्गम स्थान पर तो शुद्ध और निर्मल है, किन्तु मार्ग में आगे बढ़ते हुए अपने साथ अनेक प्रकार की गन्दगी ले लेती है, गंगा की तरह ही यह कुल मिला कर लाभदायक है।'

'शास्त्रोंका सदा विकास होता रहता है। वेद, उपनिषद, स्मृतियां, पुराण और इतिहास सब एक ही कालकी उपज नहीं हैं। इनमें से अनेक विशेष काल की जरूरतों में से उत्पन्न और विकसित हुए हैं। इसलिए ये परस्पर विरोधी दिखायी देते हैं। ये ग्रन्थ शाश्वत सत्यका नवीन रूप में प्रतिपादन नहीं करते, बल्कि यह दिखाते हैं कि उनके अपने कालमें इस सत्य का कैसा आचरण किया गया। किसी ऐसी प्रथा का, जो एक विशेष समय के लिए अच्छी हो, दूसरे समय भी उसका अंधानुकरण किया जाए, तो वह लोगोंको निराशा के मार्ग में डाल

देगी। किसी समय हिन्दुस्तान में पशु बलि की प्रथा प्रचलित थी। इसलिए क्या आज हम इसे फिर मंगी करेंगे? चूंकि एक समय हम मांस खाते थे, इसलिए क्या आज भी हम वैसा ही करेंगे? चूंकि एक वक्त हम चोरों के हाथ पैर काट दिया करते थे, इसलिए क्या उस बर्बर प्रथा को आज हम फिर जारी करेंगे? क्या आज हम बहु पतित्व की प्रथा को पुनर्जीवित करेंगे? क्या हम बाल-विवाह फिर जारी करेंगे? चूंकि, एक समय हमने मानव समाज के एक वर्ण का बहिष्कार किया था, इसलिए क्या उनके वंशजों पर हम आज भी अस्पृश्यता की छाप लगाएँगे?'

'हिन्दूधर्म—'जैसे थे' की स्थिति से नफरत करना है। ज्ञान अनन्त और असीम है। यह बात सत्यके प्रयोग पर भी लागू होती है। प्रतिदिन हम आत्मशक्ति से अपने ज्ञान में वृद्धि करते हैं और आगे भी वृद्धि करते रहेंगे। नया अनुभव हमें नया कर्त्तव्य सिखाएगा, लेकिन सत्य सदा वही रहेगा।'

अस्पृश्यता निवारण आत्म शुद्धि है

गांधीजी का विश्वास था कि अस्पृश्यता निवारण का कार्य आत्म शुद्धि का है। अतः हिन्दुओं को इस काम में सोत्साह भाग लेना चाहिए। यही नहीं, महात्माजी हमारे हृदय में यह बिठाना चाहते थे कि हिन्दुओं के लिए यह परीक्षा की कसौटी है। यदि वे इस परीक्षा में फेल हुए तो हिन्दू और हिन्दूधर्म इन दोनों का नाश हो जाएगा। अतः गांधीजी ने लिखा :—

"स्वार्थवृत्ति से प्रेरित होकर अपने आप को ऊँचा मानना और दूसरे लोगों को नीचा मानना काफी बुरा है। परन्तु, अस्पृश्यता जैसी बुराई के साथ हमारे धर्मको जोड़ना न केवल अधिक बुराई है, बल्कि दुगना गलत है। इसलिए जब विद्वान पंडित आगे आकर अस्पृश्यता सदृश बुराई के लिए शास्त्रों के प्रमाण की दुहाई देते हैं तो हमें बड़ी वेदना होती है। मैंने यह कहा है और मैं उसे फिर दुहराता हूँ कि हिन्दू आज एक बड़ी कसौटी में से गुजर रहे हैं। हम चाहें या न चाहें अस्पृश्यता जा रही है। लेकिन परीक्षा काल में यदि हम अपने पापके लिए प्रायश्चित करें, यदि अपने आप को सुधारें और शुद्ध बनाएँ तो इतिहास में हिन्दुओंका यह कार्य आत्म-शुद्धि का एक उदात्त कार्य माना जाएगा। लेकिन, यदि समय के प्रवाह के कारण हमें अपनी मर्जी के खिलाफ़ काम करने को मजबूर होना पड़ा और हरिजनों ने अपने अधिकार प्राप्त कर लिए तो इसका श्रेय हिन्दुओं या हिन्दूधर्म को न मिलेगा। लेकिन मैं एक कदम आगे जाकर कहता हूँ कि यदि हम इस परीक्षा में असफल हो गए तो हिन्दू धर्म और हिन्दुओं का नाश हो जाएगा।"

हिन्दूधर्म में प्राणी मात्र की एकता

गांधीजी का विचार था कि हिन्दू धर्म मानव-मात्र की एकता की बात नहीं कहता, बल्कि प्राणी मात्र की एकता मानता है। इस अवस्था में हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता के लिए स्थान कहां है? अतः महात्माजी ने लिखा :—

"हिन्दूधर्म के शुद्धतम रूप में ब्राह्मण हाथी, चींटी, श्वान और श्वपच सब बराबर माने गए हैं और चूंकि हमारा तत्वज्ञान बहुत ऊँचा है और उसके अनुसार हम आचरण नहीं कर सके, इसलिए वही तत्वज्ञान आज नाक में दुर्गन्ध मार रहा है। हिन्दूधर्म का लेबल न केवल मानव जाति, बल्कि प्राणी मात्र के बन्धुत्व पर आग्रह है। वह एक ऐसा विचार है जो हमारे दिमाग को चकरा देता है परन्तु उसे हमें व्यावहारिक रूप देना होगा।"

वर्णाश्रम में विश्वास

गांधीजी अधिकांश हिन्दुओं के समान वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करते थे। इतना ही नहीं; वे वर्ण, गुण और कर्मानुसार ही नहीं, बल्कि जन्म के अनुसार वर्ण मानते थे। किन्तु; वर्ण-व्यवस्था को मानते हुए

भी वे अस्पृश्यता और ऊँच-नीच की भावना का हिन्दू धर्म में स्थान नहीं मानते। उन्होंने अपना इस विषय पर विश्वास रख कर लिखा था :—

'वर्णाश्रम को जन्मके आधार पर किया हुआ स्वस्थ शुभ अभिवादन जरूर मानता हूँ। जात-पांत के मौजूदा विचार, मूल वर्णाश्रम की विकृति मात्र हैं। मेरे लिए ऊँच नीच का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह शुद्ध कर्त्तव्य का प्रश्न है। हमें लड़ाई वर्णाश्रम के दुरुपयोग के खिलाफ लड़नी है; स्वयं वर्णाश्रम के खिलाफ नहीं।

वर्णाश्रम में अस्पृश्यता का अन्त

वर्णाश्रम में विश्वास करते हुए भी अस्पृश्यता का अन्त किया जा सकता है। यह उन की मान्यता थी और गांधीजी ने इस प्रकार व्यक्त किया था :—

"इसलिए जिस क्षण इस जन्मके कलंक को जन्म के साथ जोड़े हुए ऊँच नीच के विचार को हटा देंगे, उसी क्षण हम वर्णाश्रम को शुद्ध बना देंगे। भंगी के बच्चे भंगी रह सकते हैं, फिर भी न कोई उन्हें पतित मानेगा और न वे अपने को पतित समझेंगे और वे उसी तरह अस्पृश्य नहीं माने जाएँगे, जिस तरह ब्राह्मण नहीं माने जाएँगे। इसलिए वंश परम्परा और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में वंशगत गुण का नियम मानने में नहीं है, बल्कि असमानता के दोषपूर्ण आचार में है।"

वर्णव्यवस्था आदर्श है

वर्णाश्रम व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था मानते हुए गांधीजी का कहना था कि हिन्दूधर्म में पांचवें वर्ण के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः अस्पृश्यता शूद्रों में न मानी जानी चाहिए। इस विषय में महात्माजी की परम्परा इस प्रकार थी :—

"सभी प्राणियोंकी एकता और अभेद के ज्ञानमें ऊँची-नीचके भाव को कहीं अवकाश ही नहीं होता है। जीवन तो कर्त्तव्य है, अधिकार है, वह सुविधाओंका पुंज नहीं है, जो धर्म ऊँच-नीच के भेदों पर आधार रखता है, उसका नाश निश्चित है। वर्णाश्रम का मेरा अर्थ हिंसा नहीं है, उसमें मेरा विश्वास है; क्योंकि मेरा खयाल है कि वह विभिन्न लोगों के कर्त्तव्य निश्चित करता है। ब्राह्मण वह है जो सभी वर्णों का सेवक है, यहां तक कि शूद्रों और अस्पृश्यों का भी। चारों वर्णों की सेवा के लिए वह सब कुछ अर्पण कर देता है और अपने मानव बन्धुओं के दान और दया पर ही अपनी आजीविका का आधार रखता है। प्रतिष्ठा, सत्ता और अधिकारों का जो दावा करता है वह क्षत्रिय नहीं है। क्षत्रिय वही है, जो समाज की रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए स्वार्पण कर देता है और जो वैश्य अपने ही लिए कमाने वाला और धन संग्रह करनेवाला है वह वैश्य नहीं है। शूद्र इसलिए अन्य तीनों वर्ण से नीचा नहीं है कि वह मेहनताना लेकर समाज के लिए मेहनत मजदूरी करता है। हिन्दू धर्मकी मेरी कल्पना के अनुसार पांचवा अर्थात् अस्पृश्यों का वर्ण ही नहीं है। कथित अस्पृश्य भी शूद्रों की तरह ही समाज के अधिकार प्राप्त सेवक हैं। वर्णाश्रम को मैं समाज का ऊँचे से ऊँचे हित करने के लिए सोची गयी आदर्श व्यवस्था मानता हूँ। आज इसका जो हम रूप देखते हैं वह मूल व्यवस्था की विडम्बना मात्र है। यदि वर्णाश्रम को जीवित रहना है तो हिन्दुओं को उस के वर्तमान हास्यास्पद विकृत रूपको खत्म करके वर्णाश्रमके प्राचीन गौरव की फिर से स्थापना करनी होगी।"

वर्णाश्रम व्यवस्था को गांधीजी साम्यवाद से श्रेष्ठतर मानते थे। उन का विश्वास था :—

"एक भंगी को अपने कामका मेहनताना पानेका उसी तरह अधिकार है, जिस तरह किसी वकील को या आपके राष्ट्रपति को है। मेरे मत में यही सच्चा हिन्दू धर्म है और दुनिया में इससे बढ़ कर साम्यवाद कहीं नहीं मिलेगा। वर्णधर्म उसी तरह काम करता है, जिस तरह गुरुत्वाकर्षण का नियम है। मैं दिनोंदिन ज्यादा और ज्यादा उलझने का प्रयत्न करके इस नियम को या उसके कार्यको खत्म नहीं कर सकता, जब तक

गुरुत्वाकर्षण स्वयं न अपना कार्य बन्द कर दे। मेरा यह प्रयत्न निष्फल सिद्ध होगा। यही बात एक दूसरे पर कूदने के प्रयत्न के लिए भी सच है। वर्ण-धर्म उस होड़ के विरुद्ध है, जो आदमी को मार डालती है।"

स्वाधीन भारत में

स्वाधीन भारत में अस्पृश्यों का क्या स्थान होगा, इस प्रश्न का उत्तर गांधीजी ने इस प्रकार दिया था :—

'मेरी कल्पना के स्वराज्य में अछूतों की वही जगह होगी, जो सवर्ण कहलानेवाले हिन्दुओं की होगी। कांग्रेस भी इसी सिद्धान्त को मानती है।'

गांधीजी की इच्छा थी कि हीन से हीन लोगों को आजादी हासिल हो। इसलिए वे चाहते थे कि स्वराज्य मिलने से पहले ही हिन्दू लोग पंचम वर्ण को अपना लें। इस पर गांधीजी ने इस प्रकार अपना विचार प्रगट किया था :—

"शब्दके लिए मेरा कोई झगड़ा नहीं है, जिस प्रथा की बदौलत हिन्दुओंका एक बड़ा हिस्सा पशुसे भी अधर्म अवस्था में जा पहुँचा है उसके लिए मेरे रोम-रोममें घृणा व्याप्त हो रही है। मैं अन्त्यजों को अस्पर्श्य शब्द का प्रयोग नहीं करता। यदि अपने रास्ते जाने दिया जाए तो इस सवाल का हल आसानी से हो सकता है। पर दुःख की बात यह है कि उसमें न तो विचारशक्ति है और न कोई मार्ग ही है। क्या पशुके लिए उसके मालिक की मर्जी के अतिरिक्त कोई विचार शक्ति या रास्ता हो सकता है? अन्त्यज के लिए कोई ऐसा स्थान है, जिसे वह अपना कह सके। क्या पंचम अछूतकी कोई अपनी जगह है जिन्हें वह अपना समझता हो? जिन सड़कों को वह साफ करता है, जिसके लिए वह अपने खूनका पसीना बहा कर एक कर देता है और उन्हीं पर वह चलने नहीं पाता। वह औरों की तरह कपड़े भी नहीं पहन सकता। यह कहना कि हम हिन्दू लोग पंचम सवर्णों के साथ अधिक नहीं तो जरा तो सहिष्णुता का बर्त्ताव करते ही हैं, केवल व्यभिचार है। एक तो हमने उनको नीचे गिरा दिया और फिर उन्हीं के पतन का उपयोग उनके उत्थान के खिलाफ करनेकी धृष्टता करते हैं।"

"मेरे नजदीक स्वराज्य का मतलब है हमारे देश के हीन से हीन लोगोंको आजादी मिलना। जब हम सब लोग दुःखावस्था में हैं, तब यदि पंचमों के भाग आज न जगे तो फिर कौन सुनेगा, जब हम स्वराज्य के नशे में मदमाते हो जाएंगे। यदि हमारे लिए स्वराज्य प्राप्त की यह शर्त आवश्यक है कि हम अल्पतम जातिवालों से मेल कर लें तो यह भी उतना ही आवश्यक है कि उस के पहले जरा भी इन्साफ या आत्मसम्मान के साथ हम स्वराज्य की बात करें। हम पंचम भाइयों को अपना लें। मुझे इस बात में कुछ भी दिलचस्पी नहीं कि हिन्दुस्तान की गर्दन से महज अंग्रेजोंका जुआं हट जाए। मैं तो हिन्दुस्तान के गले से हर किस्मके जुएको हटा देनेपर तुला हुआ हूँ। मैं नहीं चाहता कि भूत को गद्दी से हटाकर पिशाच को बिठाऊँ। इसीलिए मेरे नजदीक तो स्वराज्य आन्दोलन के अर्थ हैं—आत्मशुद्धि-आन्दोलन।"

गांधीजी जन्मके कारण किसीको अछूत नहीं मानते थे और उन्होंने लिखा था :—

'इन सीधे सादे सिद्धान्तों को मानने में केवल जन्मके कारण कोई मनुष्य अछूत नहीं माना जा सकता, कोई ऊँचा दार्शनिक सिद्धान्त बीचमें नहीं आया। यह सिद्धान्त इतना सरल है कि अकेले कट्टर हिन्दुओं को छोड़ कर सारी दुनिया उसकी कायल है। और इस बात पर कि ऋषियों ने कैसे अछूतपन की शिक्षा दी है, जैसा कि मान रहे हैं, मैंने आपत्ति ही उठायी है।'

मन्दिर प्रवेश आन्दोलन

जब मन्दिर प्रवेश आन्दोलन ने जोर नहीं पकड़ा था, तब गांधीजी कहते थे कि उन के लिए अलग देवालय और मन्दिर बनाने चाहिएं। उस के पक्षमें गांधीजी का कहना था :—

"१९१५ में जब मैंने दक्षिण अफ्रीका से लौट कर इस आन्दोलन की नींव डाल दी थी, मैंने सोचा था कि अस्पृश्यता निवारण के साथ अछूतों के लिए अलग मन्दिर व पशुशाला खोलना सर्वथा असंगत है। लेकिन बादमें अनुभव से पता चलता है कि शुष्क तर्क के आधार पर यह आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। हम हिन्दुओं ने एक तिहाई हिस्से को इतना दबा रखा है कि समझदार हिन्दुओं के एक स्वर से अस्पृश्यता को मिटा डालने की घोषणा कर चुकने पर भी दलित और अस्पृश्य वर्ण को हमारी सहायता की आवश्यकता होगी। सिद्धान्तः और जबानी तौर से छुआछूत के मिटाने के निश्चय पर पहुँचने के पश्चात् यदि कोई खास कोशिश नहीं की जाएगी तो अधिकांश अछूत उस सन्धिसे लाभ नहीं उठा सकेंगे और जनता अज्ञानवश इस सुधारको सहन न कर सकेगी, विशेषकर उस हालत में जब कि अछूत बन्धु अपने स्वभाव के अनुसार या तो पहले की तरह अल्हड़ बने रहेंगे या बहुत दिनों बाद प्राप्त स्वतंत्रता को उपयोग करने के लिए बहुत आगे बढ़ जाएँगे। इसलिए मैं जो यह कहने बैठा हूँ कि ये दोनों काम एक साथ होने चाहिएं। अर्थात् समान मन्दिर, ग्राम मदरसे और कुओंका उपयोग करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रताके साथ ही साथ अछूतों के लिए खास तौरपर नमूनेदार मन्दिर और मदरसे बनाए जाने चाहिएँ। इन स्थानों का उपयोग अछूत तो पहले करेंगे ही, लेकिन सर्व-साधारण भी उनसे लाभ उठा सकेंगे। इसी विचारधारा के अनुसार मैंने कलकत्ता म्युनिसिपल गजट के अपने छोटे से लेख में यह बताने की कोशिश की है कि दलित जातियों के लिए नमूनेदार मन्दिर और पाठशालाएँ बना कर तथा मौजूदा मन्दिरों को अपने भाइयों के लिए खुला करवाकर हमारी म्युनिसिपैलटियां अस्पृश्यता निवारण के कार्य में काफी मदद कर सकती हैं।"

"अतः मेरे लेखकी इस आड़में कोई अछूतों के मदिर प्रवेश आन्दोलनको बेजा बताने अथवा उसे रोकने की कोशिश न करे। बम्बई के नेताओं ने अपने वक्तव्य द्वारा सारे बम्बई प्रान्त को अछूतों के लिए अपने मन्दिर खुले कर देनेकी जो सलाह दी है, उस की जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी ही होगी।"

कुएँ पाठशाला और संस्थाएँ

हरिजनों के लिए अलग कुएँ, पाठशालाएँ, संस्थाएँ बनाने से उनकी विलगता और पृथकता आजके समान बनी रहेगी। इस शंकाका उत्तर गांधीजी ने इस प्रकार दिया था :—

"तुम्हारे लिए नए कुएँ और नए स्कूल तुम्हें अवश्य बनाये रखने के लिए नहीं खुलवाए जाते हैं। मुझ से यह सहन नहीं होता कि तुम्हें पानी न मिले और मैं खड़ा-खड़ा देखा करूँ। यह कैसे बर्दास्त किया जा सकता है कि जिन पोखरों में कुत्ते और शेर पानी पीते हैं, उन का पानी हरिजन पिएँ? तुम लोग तो शहर के रहनेवाले हो, इससे तुम्हें नल का पानी मिल जाता है। मगर गांवमें तो सवर्ण हिन्दू उदन्डता से हरिजनों को अपने कुओंके पास फटकने भी नहीं देते। पानी देते भी हैं तो दूर से और गाली देकर उनके घड़ेमें डाल देते हैं। यह बात न तो तुम न हम सहन कर सकते हैं। हरिजनों को अछूत बनाए रखने के लिए कुएँ नहीं खुदवाए जाते, बल्कि इसलिए कि उन्हें पीने लायक अच्छा पानी तो मिले। और यह बात नहीं कि ये कुएँ केवल हरिजनों के लिए हैं। दूसरे लोग भी पानी भरने आ सकते हैं। पर हरिजनों को इन कुओं पर पानी भरने का पूरा अधिकार है ही। उन्हें जो पोखरों में से पानी भरना पड़ता है, वह तो बन्द होना ही चाहिए। वस्तुतः उनके लिए जितने कुएँ खुदवाने चाहिएं, उतने में खुदवा नहीं सकता और तुम यह देखते हो कि कितने ही सवर्ण अपने कुएं हरिजनों के लिए खोलते जाते हैं।"

"यही बात पाठशालाओं के बारे में है। सार्वजनिक स्कूलों में हरिजन प्रवेश की बात चल रही है पर बात चल ही रही है पर जब तक सब सार्वजनिक स्कूलों में उन्हें प्रवेश नहीं कराया जा सकता, तब तक तो यह सवाल रहता ही है कि या तो उनके लिए पाठशालाएँ खुलवायी जाएँ या उनके बालकों को अनपढ़ ही रहने

दिया जाए। फिर इन पाठशालाओं में दूसरे बालक भी तो आ सकते हैं, पर हरिजनों का तो इन में आनेका पूरा अधिकार है।'

हरिजन क्या करें ?

'श्रद्धानन्द-नगर में आने से मुझे आनन्द हुआ है। हिन्दू समाज में ऐसा कौन होगा, जो दिवंगत स्वामी श्रद्धानन्दजी का नाम न जानता हो। श्रद्धानन्दजी के हृदय में हरिजनों के लिए जो दया और प्रेम था उससे अधिक किसी दूसरे व्यक्ति के हृदयमें नहीं है। हिन्दू जाति ने ही प्रमाद में आकर अस्पृश्य जातियों को बनाया है। श्रद्धानन्दजी को इसका भारी दुःख था। या तो इस पाप के लिए हिन्दू जातिको नष्ट होना पड़ेगा या इस कलंक को धो डालना होगा। इसे धो डालने के कार्यमें आप लोग हमारी सहायता करें। दूसरे हरिजनों के पास आप यह संदेश ले जाएँ। जो शुद्धि यज्ञ हो रहा है, उसमें भाग लें। बाह्य और आन्तरिक में शौच रहें। मुर्दा मांस और गो मांसका परित्याग कर दें। इन तीन बातोंका पालन तो अवश्य ही करें। चौथी बात यह है कि मद्यपान छोड़ दें। दूसरे हिन्दू शराब पीते हों तो भी आप लोग उसका त्याग कर दें। आपको इस अवस्था से ऊँचा उठना है। इसीसे मद्य त्याग के लिए आपसे प्रार्थना करता हूँ। यह सब आप भी करें और अन्य हरिजनों से भी कराएँ।'

'आपने मुझे यह थैली दी है, पर हरिजनों से तो मैं एक पाई भी नहीं मांगता। चाहिए तो यह कि हम लोग आपको दें। आपका भी तो हमारे ऊपर ऋण चढ़ा हुआ है। फिर भी हरिजन देते है, तो मैं ले लेता हूँ, फिर पीछे इसका अनेक गुना आपको मिल जाएगा। पर और आप को देने की कोई आवश्यकता नहीं।'

आज स्पृश्यता निवारण में हरिजन स्वतः किस तरह सहायक हो सकते हैं और आत्मोद्धार की प्रगति को तीव्र कर सकते हैं, इस विषय में गांधीजी ने उनको सम्बोधन करते हुए कहा था :—

'आप इस आत्म शुद्धि से मुक्त नहीं रह सकते। आपको भी इस वेदी पर अपनी आहुति यथेष्ट करनी होगी। यह आहुति इस बातमें है कि आप आन्तरिक और बाह्य स्वच्छता तथा शुद्धता के नियमों का कड़ाई से पालन करें और जहाँ कहीं भी मुर्दामांस और गो मांस खाने का रिवाज अभी तक जारी हो, वहाँ उसे छोड़ दें। सभ्य जगतके हर भाग में मांस से घृणा की जाती है। वह मानव अहार के योग्य नहीं माना जाता और कोई मनुष्य खाकर अपने को हिन्दू नहीं कह सकता। गाय की पवित्रता और उसकी पूजा हिन्दू धर्मका अभिन्न अंग है। तीसरे यहाँ उपस्थित अन्य हरिजन स्त्री और पुरुषों से मैं अपील करूंगा कि वे शराब की लत छोड़ दें। कोई हरिजन अपने आपसे यह न कहे कि सवर्ण हिन्दू भी शराब पीते हैं।'

'स्वेच्छा से बने हुए आपके एक हरिजन बन्धु के नाते मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप सवर्ण हिन्दुओं की सब बुराइयों से दूर रहें। हिन्दू आपके साथ किए गए अन्याय की कितनी ही क्षतिपूर्ति क्यों न करें, वे भगवान के समक्ष उस के लिए कितना ही प्रायश्चित क्यों न करें, अन्त में तो आपका उद्धार आपके ही हाथ रहेगा।'

कानून और अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का अन्त कानून द्वारा करना क्या इष्ट है ? गांधीजी का विचार था कि कानून अस्पृश्यता में सहायक हो सकता है, किन्तु उद्देश्य की सिद्धि तो हिन्दुओं के हृदय के परिवर्तन से ही सम्भव है। गांधीजी ने लिखा था :—

'अस्पृश्यता कानून के बलसे भी दूर नहीं होगी। वह तभी दूर होगी, जब हिन्दुओं का बहुमत इस बात को अनुभव कर ले कि अस्पृश्यता ईश्वर और मनुष्य के विरुद्ध एक अपराध है और उसके लिए लज्जित हों। दूसरे शब्दोंमें वह हिन्दुओं के हृदय परिवर्तन अर्थात् हृदय शुद्धि की एक क्रिया है। कानून की सहायता तो तब लेनी पड़ेगी, जब वह सुधार की प्रगति में बाधा पहुँचाए। उदाहरणके लिए जब मन्दिर के ट्रस्टियों और मन्दिर में जानेवाली जनता की इच्छा के बावजूद कानून किसी खास मन्दिर के खोलने में रुकावट डाले।'

हिन्दू अपना उत्सर्ग करें

गांधीजी की मान्यता थी कि अस्पृश्यता निवारण के लिए हिन्दुओं को प्राणों की बाजी लगानी पड़ेगी :–

'यह अस्पृश्यता निवारण का कार्य ईंट चूने का मन्दिर बनाने से कहीं ज्यादा बड़ा है। उसके लिए हिन्दुओं को अपने प्राणोंकी बाजी लगानी होगी। बहुत बड़ा त्याग करना होगा। उन्हें इस अभिप्राय को दूर करनेके लिए अपने स्त्री बच्चों को छोड़ने और सर्वस्व का त्याग करने के लिए तैयार रहना होगा।'

रोटी-बेटी आवश्यक नहीं

गांधीजी का मत था कि अस्पृश्यता निवारण के लिए तथा भाईचारे की भावना बढ़ाने के लिए रोटी बेटी का व्यवहार आवश्यक नहीं है। आपने अपने इस विचार के प्रति लिखा था :—

'व्यक्तिगत रूप में निश्चय के साथ में यह नहीं कह सकता कि सहभोजन या रोटी व्यवहार कोई आवश्यक सुधार है। साथ ही में इस प्रतिबन्ध को बिलकुल मिटा देने की प्रवृत्ति को स्वीकार करता हूँ। मैं इस प्रतिबन्ध के पक्ष और विपक्ष दोनोंके लिए कारण पा सकता हूं। लेकिन इस की प्रगति को मैं जबरन् आगे बढ़ाना पसन्द नहीं करूंगा। अगर कोई आदमी दूसरे के साथ न खाए तो इसमें पाप नहीं मानता, न किसी के सहभोजन की हिमायत करने और उसके अनुसार आचरण करने को ही मैं पाप मानता हूँ। लेकिन मैं दूसरों की भावनाओं की उपेक्षा करके या उन्हें चोट पहुँचाकर इस प्रतिबन्ध को तोड़ने के प्रयत्न का विरोध करूंगा। उल्टे मैं इस विषय में उनकी हिचकिचाहट का आदर करूंगा।'

गांधीजी रोटी बेटीके व्यवहार को वैयक्तिक इच्छा का विषय मानते हैं। गांधीजी की मान्यता थी कि कोई पुरुष या स्त्री कहीं खाए, या विवाह सम्बन्ध करे यह उसकी इच्छा पर ही छोड़ देना चाहिए। गांधीजी की धारणा थी :—

'साधारणतया विवाह और भोजन व्यक्तिगत बातें हैं। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरे की किसी लड़कीको अपनी पत्नीके रूप में पसन्द करने को कहे या दूसरे के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध भोजन करने को कहे। लेकिन अगर कोई मनुष्य अस्पृश्यता या नीचता की बुनियाद पर किसी का छुआ भोजन करने से इन्कार करें, तो कहना चाहिए कि वह अस्पृश्यता को मान रहा है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि अस्पृश्यता सहभोजन या वर्णान्तर विवाह में बाधा डालनेवाली कोई कारण नहीं बन सकती।'

हम सब भगवान की सन्तान हैं

सब एक ही सृजनहार की सन्तान हैं, इस कारण ऊँच-नीच का भाव रखना उचित नहीं है और युक्ति के आधार पर गांधीजी का कहना था कि मन्दिर में अस्पृश्यों को इस आधार पर न आने देना उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिए गांधीजी इस बात का प्रचार करते थे :—

'ईश्वर से व्याप्त जगत में न कोई ऊँचा है न कोई नीचा है, सब एक सरीखे हैं, सब समान हैं। क्योंकि सब एक ही सृजनहार की सन्तान हैं। यह ब्राह्मणों या क्षत्रियों के समान प्रतिपादन करने का कोई तत्वज्ञान नहीं है। इसमें शाश्वत सत्य समाया हुआ है। इसमें न कोई कमी की जा सकती है और न कोई तोड़ मरोड़। और यदि ऐसा है तो फिर कोई मनुष्य दूसरे मनुष्यों से ऊँचा होने का विचार कैसे रख सकता है? इसलिए मैं आपसे कहता हूँ कि यदि यह मंत्र सच है और यदि कोई मनुष्य यह मानता है कि 'अवर्णों' के प्रवेश से मन्दिर अपवित्र हो जाते हैं, तो वह महा-पाप करता है।'

हिन्दुओं में भ्रातृभाव

अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन गांधीजी की दृष्टि में मानव मात्र में बंधुता और समता स्थापित करने का एक साधन था। गांधीजी की धारणा थी :—

'अस्पृश्यता रूपी राक्षस का नाश करने के प्रयत्न में मेरी अपनी हार्दिक कामना केवल यही नहीं है कि, हिन्दुओं में भ्रातृत्व स्थापित किया जाए, भले वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, पारसी हो या यहूदी हो। संसार में जितने भी महान धर्म हैं उन सब के बुनियादी सत्य में मेरा विश्वास है। मैं मानता हूं कि वे ईश्वरप्रदत्त हैं और मैं यह भी मानता हूँ कि जिन्हें धर्मों का प्रकाश मिला है उनके लिए यह आवश्यक थे। और मेरा यह विश्वास है कि यदि हम सब केवल विभिन्न धर्मों के ग्रन्थ उनके अनुयाइयों की दृष्टिमें पढ़ सकें तो हमें पता चलेगा कि वे सब मूलतः एक हैं और एक दूसरे के सहायक हैं।'

राजनीति से परे हो

अस्पृश्यता निवारण का कार्य राजनीतिक परिणामों का खयाल छोड़ कर हिन्दू धर्मको शुद्ध, पवित्र और सजीव रखने के लिए करना चाहिए, यह गांधीजी की निश्चित मान्यता थी। गांधीजी की हरिजन सेवकों को सलाह थी :—

'एक प्रथम दर्जेके हरिजन सेवक को अपने धर्म का अभिमान होना चाहिए, प्रेम होना चाहिए। उसके लिए मरने की तैयारी होनी चाहिए। जैसा कि मैंने बारम्बार कहा है, उसे यह समझना चाहिए कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्मका अविभाज्य अंग न तो थी, न है और न हो सकती है। अगर इसका नाश न हुआ, तो हिन्दू धर्म का नाश निश्चित है। क्योंकि असत्य पर कोई धर्म कायम नहीं रह सकता और अस्पृश्यता असत्य है।'

'अगर उसमें यह विश्वास आ गया है तो फिर वह माता पिता, स्त्री, बच्चे, यहाँ तक कि अपनी भी आहुति देकर इस काममें लगा रहेगा। वह 'हरिजन सेवकसंघ' के मिलनेवाले द्रव्य के लालच से काम न करेगा। हरिजन सेवक को आजीविका का खयाल तक नहीं करना चाहिए। हरिजन सेवा पेशा नहीं, धर्म है। इसके लिए फाकामस्ती करनी पड़े तो वह उसे नहीं छोड़ेगा।'

'इतना होगा तो बाकी चीजें अपने आप उसमें आ जाएंगी। अगर कहीं कोई भंगी बीमार है, तो वह उसकी सेवा करेगा, कोई मारपीट करता है तो उससे वह हरिजनों की रक्षा करेगा। कोई शराब पीता है, तो उससे शराब पीना छुड़ाएगा, अगर किसीके पास धंधा नहीं है तो उसे धंधा दिलाएगा।'

'यह सब सेवक ही नहीं, मालिक भी कर सकता है। उसमें प्रभाव होगा तो उसका असर आस-पास की हरिजन जनता पर पड़ेगा सबको वह अपना कुटुम्बी जन सा लगेगा। अगर कोई भूखा हरिजन उस के नजदीक है, तो वह पहले उसे खिलाएगा, पीछे आप खाएगा?'

अस्पृश्यता निवारण से लाभ

अस्पृश्यता निवारण से क्या लाभ होगा? इस का गांधीजी ने उत्तर देते हुए कहा था कि हरिजनों की उन्नति होगी तो भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में सच्ची एकता स्थापित होगी और इससे विश्व बन्धुता बढ़ाने में बहुत सहायता मिलेगी। गांधीजी का उत्तर इस प्रकार है :—

१—'मैं अस्पृश्यता के कलंक से अपनेको मुक्त करके आत्मशुद्धि के अर्थ में इस हरिजन कार्य में लगा हुआ हूँ। मैं अस्पृश्यता रूपी पापका प्रायश्चित कर रहा हूँ और जिस धर्मका मैं स्वयं अनुयायी हूँ, उसको कीर्ति-वादी होने के नाते मैं इस बात के लिए आतुर हो रहा हूँ कि मेरे सहधर्मी अस्पृश्यता के इस पाप से मुक्त हो जाएँ।'

२—'ईसाई धर्मावलम्बी केवल इस के अधिकारी ही नहीं, बल्कि उनका यह कर्तव्य है कि उन के अपने समाज में विद्यमान अस्पृश्यता का वे मुकाबला करें। लेकिन अगर यह प्रश्न हो तो ईसाइयों को हिन्दू धर्मकी अस्पृश्यताके खिलाफ लड़ना चाहिए तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा वे निश्चय ही नहीं कर सकते। कारण यह है कि ईसाइयों के लिए हिन्दू धर्म के अस्पृश्य, अछूत नहीं होने चाहिएं। अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन का अर्थ है हिन्दुओं को उनके पास से विरक्त करना। यह कार्य सफलतापूर्वक अहिन्दुओं से नहीं हो सकता।

ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि ईसाई या मुसलमान समाज के अन्दर हिन्दू कोई धार्मिक सुधार नहीं कर सकते। अगर इस प्रश्न का यह अभिप्राय हो कि ईसाई धर्म में अछूतों को धर्मान्तरित करके हिन्दुओं में विद्यमान अस्पृश्यता का मुकाबला ईसाई करें, तो वे ऐसा करके किसी भी दशा में हरिजन कार्य में सहायक नहीं हो सकते। यह प्रवृत्ति तो सवर्ण हिन्दुओं को अपनी धार्मिक संशोधन की प्रवृत्ति है। सवर्ण हिन्दू जब अपने इस पाप का प्रायश्चित कर डालेंगे, उसी क्षण अस्पृश्यता से हरिजनों का पिण्ड छूट जयगा। धर्म परिवर्तन के द्वारा यह सम्भव नहीं। इससे तो मौजूदा कटुता ही और बढ़ेगी और जो बुरी स्थिति आज है, उस में और भी बखेड़ा हो जाएगा। 'हरिजन सेवक संघ' के कार्य तथा हिन्दूधर्मान्तर्गत अन्य सुधार आन्दोलनों की बदौलत स्थिति धीरे-धीरे सुधर ही रही है और अस्पृश्यता दिन-ब-दिन कुछ न कुछ दूर होती जा रही है।

३—कई प्रकार के लाभ होंगे। उनमें से कुछ लाभोंको में यहाँ गिनता हूँ।

(क) प्रायश्चित्त करके सवर्ण हिन्दू शुद्ध हो जाएँगे।

(ख) उन्नति मार्गमें बाधक अस्पृश्यता का कृत्रिम अडंगा दूर होते ही उसी समय हरिजनों की आर्थिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अवस्था उन्नत हो जाएगी।

(ग) हरिजनों पर आरोपित अस्पृश्यता एक ऐसा जहर है कि उसके घेरे में जो भी आया, उसको वह व्याप गया और इसलिए हिन्दू, ईसाई, मुसलमान और अन्य सम्प्रदाय एक दूसरेके लिए अस्पृश्य बन गए हैं। वास्तविक अस्पृश्यता निवारण हम सबको निश्चय ही एकाकार कर देगी और इसप्रकार भारतमें विभिन्न सम्प्रदायोंमें अच्छी एकता स्थापित हो जाएगी।

(घ) पूरी तरह से अस्पृश्यता दूर हो गई तो विश्व बन्धुता बढ़ाने वाला यह एक बहुत बड़ा काम होगा।

४—हरिजन अगर नहीं चाहते तो उन्हें हिन्दू मन्दिरों में जानेकी कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन अगर उनको मन्दिरों में विश्वास है, तो उन्हें वहाँ अवश्य जाना चाहिए। मन्दिर प्रवेश आन्दोलन का उद्देश्य हरिजनों के लिए मन्दिरों को खुलवा देना है। इसे यों भी कह सकते हैं कि यह आन्दोलन सवर्ण हिन्दुओं के प्रायश्चित और हृदय परिवर्तन का आन्दोलन है।

५—मुझे दुःख होना चाहिए, यदि मुझे यह मालूम हो कि हिन्दू देवी देवताओं ने हरिजनों को सताया। उन्होंने यदि ऐसा किया हो तो वे निश्चय ही कल्याणकारी नहीं, अपकारी देवी देवता हैं और इसलिए वे त्याज्य हैं।

६—वह साहसी ही व्यक्ति होगा, जो आज कुछ भी सफलता के साथ यह कह सके कि कौन आर्य है कौन अनार्य। इतिहासकार तो हमें यही बताते हैं कि इन दोनों जातियों को घुले-मिले कई शताब्दियाँ गुजर गयीं। अगर फिर से आर्य अनार्य के अनिष्टकर विभाजन का कोई प्रयास किया जाए तो उसे समस्त भारत को क्षति पहुँचेगी। इतना ही नहीं, उस लपेटे में सारी मानव-जाति क्षत-विक्षत हो जाएगी।

७—जब सवर्ण हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत अस्पृश्यता जड़मूल से दूर हो जाएगी तो अछूत समाज में उसकी जो शाखा प्रशाखाएँ फैली हुई हैं वे तो आप ही मुरझा जाएंगी।

८—वर्तमान आन्दोलन सिर्फ सवर्ण हिन्दुओं की और इसलिए हिन्दुओं की ही शुद्धि के लिए चलाया जा रहा है। जब यह शुद्धि हमें प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाएगी तब केवल स्वराज्य ही नहीं, बल्कि जिस प्रकार रात्रिका अनुगमन दिन करता है, उसी प्रकार उसके साथ ही अनेक वांछनीय परिणाम हमें प्राप्त होंगे। स्वराज्य शब्दका अर्थ यहाँ एक कानून विधान नहीं है, बल्कि उस से कुछ अधिक अच्छी और अधिक स्थायी चीज है। मैं उसे एक ऐसी नैसर्गिक अवस्था कहूँगा, जिस का विकास मनुष्य की आत्मा से हुआ करता है।

९—स्वराज्य शब्द का चाहे जो भी अर्थ निकाला जाए, पर यदि उससे हरिजनोंको ज्यों के त्यों वे सब अधिकार हासिल न हुए जो अन्य हिन्दुओं तथा दूसरे सम्प्रदायों को मिले हुए हैं या मिलेंगे तो अस्पृश्यता निवारण का यह कार्य एक तरह का क्षय ही कहा जाएगा।

१०—मेरे जैसे एक गरीब मनुष्य के बूते का यह काम नहीं है कि मैं लाखों करोड़ों आदमियों की आजीविका का कोई प्रबन्ध कर सकूं। यह तो उन्हींके अपने पूरे उद्योग और भगवान की कृपा से हो सकता है। यदि हरिजनों के लिए भी मन्दिरों के द्वार खोल दिए गए और अस्पृश्यता जड़ मूल से नष्ट हो गयी तो जिस भारी चक्की में वे आज पिस रहे हैं, उससे वे छुटकारा पा जाएंगे और दूसरे मनुष्यों की तरह ईमानदारी से अपनी रोजी कमाने का उन्हें भी समान अवसर मिल जाएगा।

अस्पृश्यता निवारण के प्रति गांधीजी की क्या दृष्टि थी, क्या धारणा थी और उनकी मान्यता थी, जहाँ यह इससे स्पष्ट होता है, वहाँ यह भी प्रकट है कि गाँधीजी को इससे क्या-क्या आशाएँ थीं और वे इस आन्दोलन में कितनी बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ निहित मानते थे। गांधीजी ने कितनी व्यापक दृष्टि से यह आन्दोलन प्रारम्भ किया था, यह सब इससे जाना जा सकता है।

अस्पृश्य, अछूत, अनत्यज आदि नामों के होते हुए एक और नया नाम 'हरिजन' गांधीजीने क्यों चुना ? 'हरिजन' नाम नया नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इस नाम का प्रयोग किया है। किन्तु गांधीजी ने अछूतों के लिए 'हरिजन' नाम क्यों चुना, इस सवाल का उत्तर गांधीजी ने स्वयं इस प्रकार दिया—

"तो तुम्हारा दूसरा नाम क्या रखा जाए ? 'हरिजन' नाम एक अन्त्यज भाई ने ही तजवीज किया था। गुजरात में एक सन्त कवि ने इस नाम का उपयोग किया है, ऐसा उस भाई ने मुझे बताया। मैंने यही नाम मान लिया और फिर वह चल गया। हजारों हरिजनों ने इस नाम पर प्रसन्नता ही प्रकट की है। इस का उद्देश्य तुम्हारी विषमता दिखाने या उसे कायम रखने का नहीं है। जब तक दुर्भाग्य से हिन्दू समाज के दो भाग रहेंगे तब तक दोनों भाइयों के लिए पृथक्-पृथक् नामों की आवश्यकता तो रहेगी ही, पर 'अस्पृश्य' 'सवर्ण, आदि दिल दुखानेवाले नाम तो निकाल ही देने चाहिएं। इन घृणित नामोंके स्थान पर 'हरिजन' नाम बड़ा अच्छा है। मैं नहीं जानता कि जब अस्पृश्यता दूर हो जाएगी, तब सारा हिन्दू समाज अपने को हिन्दू कहलाना पसन्द करेगा या अहिन्दू। पर उस दिन के आने तक तो पृथक् नामों की जरूरत रहेगी ही। तुम्हारी दलील मैं समझता हूँ। मैं स्वेच्छा से 'हरिजन' बन गया हूँ और मेरा विश्वास है कि यदि मैंने निःस्वार्थ भाव से तुम्हारी सेवा की होगी, तो अन्त में तुम उसे अवश्य स्वीकार करोगे। धीरज रखो और देखो, कि कैसा चल रहा है। 'हरिजन सेवक संघ' का उद्देश्य केवल तुम्हारा कल्याण करने का ही है। उसका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है।

पैसे में परमेश्वर को देखना परमेश्वर को भूलने जैसा है। पूर्ण समर्पण का अर्थ है, चिंता से मुक्त होना। सब में अच्छा कोई व्यक्ति तभी साबित होता है, जब वह निर्लेप होकर काम करे। कोई बाहरी शक्ति मनुष्य को नीचा नहीं गिरा सकती है। हमारे कर्तव्य की बात तो कर्म है, कर्म-फल में नहीं। सब अपने धर्म का पालन करें, तो कोई दुःख नहीं होगा। उन्नति का मूल-मंत्र है, मनुष्य का आत्मसमर्पण। उन्नति का अर्थ है,—आत्मसमर्पण। उन्नति का अर्थ है आत्मज्ञान। त्याग के लिए त्याग करना कठिनतर है, किंतु सेवा के लिए त्याग सरल है।

—महात्मा गांधी



श्रीमती ईश्वरीदेवी

आज की भारतीय नारी एक ओर सती सीता, सावित्री और दमयन्ती के आदर्श चरित्र पढ़ती है, तो दूसरी ओर वह नए समाज और नए जगत् को देखती है, जिससे समाज और युग उससे कुछ ऐसी चीज माँगता है और ऐसा प्रतीत होता है, जिसकी शायद कभी अपेक्षा नहीं की गयी थी। एक ओर नारी पुरानी व्यवस्थाओं से यह सुनती है कि पति ही परमेश्वर है। वह निर्धन हो, बधिर हो, कुष्ठ हो, रोगी हो किन्तु, उसकी सेवा से ही उसका उद्धार होता है, दूसरी ओर वह विश्व के नारी जागरण को देखती है। एक ओर रामायण व महाभारत की कथाओं द्वारा आदर्श गृहणी, आदर्श पत्नी, आदर्श माता आदि के नैतिक उपदेश सुनती है, तो दूसरी ओर वह राष्ट्र-निर्माण में भाग लनेवाली नारियों के विविध क्षेत्रों में पुरुषों के समकक्ष प्रतियोगिता द्वारा आगे आनेवाली साहसिक नारियों के कार्य और देश के स्वातंत्र्य संग्राम में नेतृत्व करनेवाली वीर महिलाओं के वृतान्त पढ़ती है। शासन के सम्मान-पूर्ण पदों पर स्थित अपनी बहनों को देखती है तथा सार्वजनिक सेवा के द्वारा सार्वजनिक जीवन में बहनों को सम्मान प्राप्त करते हुए देखती है, यह सब देखकर वह सोच में पड़ जाती है। पहले नारी केवल अपने परिवार तक और उसमें भी एक संकुचित क्षेत्र तक सीमित थी; उसका बाहरी जगत से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। लेकिन आज जगत बदल गया है। भारतीय जीवन में नयी भावनाएँ प्रवेश कर चुकी हैं। समय के साथ-साथ आज परिस्थितियाँ भी बदल गयी हैं। पुरुष वर्ग नए आदर्शों और नए वातावरण को अपना रहा है। अतः वह अपनी जीवन संगिनी से भी यही आशा करता है। नारी जानती है कि उसे पुरानी रूढ़ियों को तिलांजली देनी होगी। नारी जो अब तक घर की चहरदीवारी में बन्द थी, वह नए वातावरण को पाकर यदि उस की ओर आकृष्ट हो, तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है।

मानसिक विद्रोह

आज की प्रगतिशील नारी जब पुरुष को संसार के बड़े-से-बड़े साहसिक कार्य करते हुए देखती है, तो उसका हृदय भी समुद्र के विशाल वक्षस्थल को चीरने, उन्मुक्त नीले आकाश में वायुयानों द्वारा विचरने और भीषण विध्वंस में पुरुष से भी आगे बढ़ने के लिए उत्सुक हो उठता है। वह पुरुष को राष्ट्र के स्वातंत्र्य संग्राम

में कूदकर आहुति देते हुए देखती है, तो वह भी राष्ट्र-सेवा के पुनीत सौभाग्य से अपने को वंचित नहीं रखना चाहती। जब वह देखती है कि उसके पिता, पति या भाई धनार्जन कर उस पर शासन करते हैं तो वह भी उपार्जन कर आत्म-निर्भर बनने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार पुरुष के समकक्ष होने पर वह समान अधिकार की मांग करती है। केवल अधिकार ही नहीं माँगती, बल्कि अपनी योग्यता शक्ति, और तत्परता से आगे बढ़ना चाहती है।

सदियों से अत्याचार

पुरुष नारी पर सदियों से अत्याचार करता आया है। वह स्वयं किसी भी नैतिक कर्त्तव्य और उत्तर-दायित्व को अपने सिर पर नहीं लेना चाहता। किन्तु वह नारी को सदा संयम, पातिव्रत धर्म और तपस्या का उपदेश देता है। एक शिक्षित नारी यह सब देखकर सोचती है कि क्या संसार के समस्त वैभव और विलास के सम्पूर्ण सुख केवल पुरुषों के लिए हैं? हां हैं? क्या सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों के रमणीक दृश्य तथा प्रकृति के सुन्दर दृश्य केवल पुरुषों के लिए हैं? फिर इसके विपरीत क्या समस्त जप, तप, नियम एवं शास्त्रों की कठोर व्यवस्थाएँ स्त्रियों के लिए ही हैं? क्या पुरुषों पर शास्त्र-व्यवस्थाएँ लागू नहीं होती हैं और न समाज के बन्धन लागू होते हैं? क्या स्त्री का संसार केवल घर की चहरदीवारी तक ही सीमित है?

स्मृति और शास्त्रों में नारी निन्दा

पुरुष स्मृतिकार था, नियम-विधान बनाता था, शासन करता था, धर्म का नेता था, उसने नारी को निन्दित किया। प्रत्येक धर्म के नेताओं ने जी भर नारी जाति को अभिषापित किया। बाइबिल में नारी को सारे अनर्थों की जड़ कहा गया है और योरप के प्रसिद्ध धर्मवेत्ता ने नारी को शैतान का दरवाजा कहा है। इस्लाम में स्त्री को पैर की जूती मानते हुए उसे बदलने में कोई संकोच न करने की सलाह दी है। हजरत मुहम्मद ने जब एक बार बहिश्त व दोजख का नजारा देखा तो उन्हें पता चला कि दोजख—नरक में बन्द अधिकांश औरतें ही हैं। चीन में स्त्रियों की शक्ल जूड़े, में मानी जाती है। इन धर्मों व देशों को असभ्य मान कर छोड़ भी दें, तो अपनी प्राचीन सभ्यता पर गर्व करने वाले भारत में स्त्रियों के प्रति जिस व्यवहार के दर्शन होते हैं, उसे देखते हुए वह भी किसी तरह उन्नत या सभ्य नहीं कहा जा सकता। हिन्दू, जैन, बौद्ध तथा सन्त साहित्य ने नारी की जी भर निन्दा की है। नारी को केवल विष की बेलि कह कर त्याज्य बताया है।

धर्म ग्रन्थों में कहा गया है कि स्त्रियां वाणी में अमृत रखती हैं, लेकिन हृदय में विष भरी हुई हैं और वे स्वभाव से ही कुटिल हैं। स्त्री-पुरुषों को वज्राग्नि की ज्वाला के समान और सांप की दाढ़के समान भय तथा सन्ताप देने वाली हैं। क्रोध से फुंकार मारती हुई सर्पिणी का आलिंगन करना अच्छा है, किन्तु स्त्री के कौतुक मात्र से आलिंगन करना भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्पिणी यदि काटे, तो एक बार ही मरण होता है, पर स्त्री तो नरक की यातना के समान है। वह एक बार नहीं, बार-बार मरण देकर नरक में जाने वाली है।

भय जिह्वानल ज्वाला वज्र विद्युत विषकुराल।
समाहृत्य कृतां वेधतेयं विलासिनी।।
निर्दयत्वमनार्यत्वं मूर्खत्वमति चापलम्।
वंचकत्वं कुटीलत्व स्त्रीणा दोषा स्वभावजाः।।

अर्थात् विधाता ने यमराज की जीभ, अग्नि की ज्वाला, बिजली और विष इन सबका सारा भाग लेकर स्त्री को बनाया है। निर्दयता, अपवित्रता, मूर्खता, अति-चपलता, वंचकता और कुशीलता—ये दोष स्त्रियों में स्वाभाविक होते हैं।

बौद्ध-ग्रन्थों में स्त्रियों की निन्दा कम नहीं की गयी है। उन्हें असाध्वी, माया, मरीचि, शोक, रोग, उपद्रव, बंधन तथा मृत्यु-पाश आदि कहा गया है।

कुछ लोग सकते हैं कि जैन और बौद्ध-धर्म संन्यास और वैराग्य के धर्म हैं। इसलिए उनमें यदि नारी की अधिक निन्दा की गयी है, तो वह वस्तुतः नारी की नहीं, बल्कि नारी के प्रति आसक्ति और विषय वासना का तिरस्कार करने के लिए ही कहा गया है, किन्तु आप हिन्दू-धर्म का प्रसिद्ध ग्रंथ मनुस्मृति के सम्बन्ध में क्या कहेंगे ? इसके केवल दो श्लोक ही उद्धृत करना यथेष्ट होगा :—

नेता रूपं परीक्षते नासावयसि संस्थिति
सुरुपं सुरुपम् वा विरुपं वा पुमानिस्त्वेदिभुंजते ।। १४ ।।
शय्यासनमलंकारं कामं क्रोधं ममार्जवम् ।
द्रोह भावं कुचर्यांच स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ।।१७ ।।
नास्ति स्त्रीणां क्रियामंत्रैरिति धर्म व्यवस्थितिः
निरिन्द्रिया ह्वयन्याश्च, स्त्रियो ऽनृतमिति स्थितिः ।।

स्त्रियाँ, रूप, सौन्दर्य आदि किसी की चिन्ता न करती हुई जिस किसी पुरुष से सम्भोग के लिए उत्सुक हो जाती हैं। पुरुष को देखते ही उनका चित्त चंचल हो जाता है। उन्हें तो शैय्या पर सोना, बैठना आभूषण धारण करना, पुरुष-प्रसंग, क्रोध, कुटिलता, द्रोह आदि के लिए ही बनाया गया है। स्त्रियों का धार्मिक संस्कारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो अनृत मात्र है।

शुक्रनीति में भी असत्य, भाषण, साहस, कपट, मूर्खता, अत्यन्त लोभ, अपवित्रता, निर्दयता आदि आठ दुर्गुण स्त्रियों में स्वाभाविक बताए गए हैं।

उपनृतं साहसं माया मूर्खत्वभति लोभता
प्रशौचं निर्दयतवर्य स्त्रीणामष्टो स्वदुर्गुणा। ३।१६४

संस्कृत साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रंथ पंचतंत्र है, उसमें अनेक ऐसे श्लोक हैं, जिनमें नारी को श्मशान में जैसे घड़े फोड़ दिए जाते हैं, वैसे ही उनके परित्यागका परामर्श दिया गया है। एक श्लोक में स्त्रियों को सन्देहों का आवर्त, अविनयों का घर, विग्रह का केन्द्र, दोषों का भण्डार, सैकड़ों तरहके कपटोंका घर, अविश्वास का खेत और माया का पुतला बताते हुए पूछा गया है कि अमृतयुक्त विष के समान स्त्री रूपी यंत्र को धर्म के नाश के लिए बनाया गया है। जैसे :—

आवर्तः संशयानामविनय भवन, पतनं साहसानां,
दोषाणां संनिधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमपुन्ययाताम् ।
दुग्रहिवं यन्महद्भिर्नरवरवृषभैः सर्वमाया करांड,
स्त्री यंत्र केन लोक विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृ ।।

यह परम्परा हिन्दी-साहित्य में भी पायी जाती है। सती, सीता, पार्वती पतिव्रता मंदोदरी के पावन चरित्रों से भलीभाँति परिचित संत गोस्वामी तुलसीदास पत्नी के कर्त्तव्य बताते हुए लिखते हैं :—

बृद्ध रोगबस जड़ धन हीना, अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसहु पतिकर किय अपमाना, नारि पाय यमपुर दुख नाना ।।

*　　*　　*　　*

एकै धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा ।।

गोस्वामी जी ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी को एक पंक्ति में रखकर समान ताड़ना देने को अधिकार देते हैं।

यहां कबीर की भी 'उदार' सम्मति सुनने लायक है। वे फरमाते हैं :—

नारी की झांई परत, अंधा होत भुजंग।
तिनकी गति क्या कहिए, जे नारी के संग।।

सामाजिक जीवन में

यह विष-वमन केवल पुस्तकें या ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रहा। वह व्यवहार में भी लाया गया। नारी का घोर तिरस्कार और निर्दयतापूर्ण अपमान किया जाता था।—स्त्री शूद्रों नाधीयाताम्।'—कहकर नारी को वेद आदि पढ़ने से भी वंचित कर दिया गया था। संस्कृत-साहित्य के नाटकों में सीता और द्रौपदी जैसे कुलीन पात्र भी संस्कृत में नहीं बोलते। वे नारियाँ अशिक्षित, नीच, कुलोत्पन्न की भाँति अपभ्रंश प्राकृत में बोलती हैं, जैसे उन के लिए संस्कृत में बोलना और पढ़ना वर्जित हो।

पुरुषों का बार-बार विवाह करना, बहु विवाह, अनमेल विवाह आदि प्रथाएँ हमारे समाज में घुन की तरह प्रवेश कर गयी हैं। दुध मुँही बच्चियों का विवाह और उनका बलात् आजन्म वैधव्य, नारी का क्रय-विक्रय, जुएँ पर पत्नी को लगा देना, उस पर तरह-तरह के बलात्कार—यह सब हिन्दू-समाज के इतने सामान्य अंग बन गए हैं कि हमें उनमें कोई असाधारणता प्रतीत नहीं होती। रोज वेश्याओं में रत रहनेवाले पति अपनी पत्नी के सम्बन्ध में सन्देह की झूंठी बातें भी सुनना पसन्द नहीं करते।

राम और कृष्ण के जीवन की विकृति भावनाओं ने समाज में स्थान पाया और उन से समाज गिरा। समाज का नैतिक पतन हुआ। उससे नारी पर असह्य अत्याचार हुए।

बहु-विवाह एक सनातन प्रथा बन गयी थी। लड़कियों का विवाह आज भी एक भयंकर समस्या है। लड़की का कोई व्यक्तित्व नहीं है, वह तो रुपए-पैसे की तराजू पर तौली जाती है। दहेज की बलिवेदी पर सैकड़ों ललनाओं के बलिदान हो चुके हैं, किन्तु आज भी यह राक्षसी प्रथा सुरसा के बदन की तरह विकराल होती जा रही है। राजस्थान में कन्या को जन्मते ही वध करने की प्रथा धारण कर चुकी थी। यह सब घोर अत्याचार थे, जिनकी प्रतिक्रिया आज बीसवीं सदी में हो रही है।

विद्रोहिणी नारी

पर आज की नारी, जिसने अपनी आँखें खोल ली हैं, कान खोल लिए हैं और शिक्षा पाने लगी है, वह ये सब अत्याचार कहाँ तक सहन करेगी? अब वह विद्रोह पर उतर आयी है। घर में, समाज में और राजनीति में सर्वत्र वह पुरुष के समान अधिकार माँगने लगी है। वह पुरुष के साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर चलना चाहती है, वह हरएक क्षेत्र में पुरुष से समता करने के लिए प्रस्तुत है। आज वह अधिकारों के लिए संघर्ष करने लगी है। राजनीति के मंच पर गरजने लगी है, दफ्तरों में काम करने लगी है। अब वह सैनिक बन कर बन्दूक चलाने में रस लेने लगी है। वह वकील और डाक्टर बनकर रहना चाहती है। वह बड़े-से-बड़े पद ग्रहण कर अपनी योग्यता एवं कार्य क्षमता प्रकट करने में सफल हुई है।

समाज में सहचारिणी

एक समय ऐसा अवश्य था, जब यह स्वीकार कर लिया जाता था कि नारी के बिना पुरुष अपूर्ण है। कोई यज्ञ या महान् कर्त्तव्य उसके बिना पूर्ण नहीं होता था। राम की पत्नी सीता बनवास भोग रही थीं, तो राम को सीता की प्रतिमा यज्ञ में साथ रखनी पड़ी। आज नारी पुरुष से विद्रोह नहीं करती, किन्तु वह दलित जीवन में भी नहीं रहना चाहती। वह राष्ट्र के निर्माण में, समाज के विकास में और गृहस्थी के संचालन में पुरुष की सहचारिणी बनने के लिए तत्पर है। आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व तीर्थ-यात्राओं और विवाह-शादियों के अतिरिक्त रेलों में, ट्रामों में, तांगों में, बसों में, नारी के बहुत कम दर्शन होते थे। पर आज बड़े नगरों में,

लड़कियाँ कालिजों, दफ्तरों व अन्य स्थानों पर जाती हुई मिलती हैं। वह सचमुच समाज में अपना स्थान पुरुषों के समान स्तर पर कायम करने के लिए उत्सुक ही नहीं, बल्कि प्रयत्नशील हैं। कालिजों में वे अपनी योग्यता से पुरुष को पीछे छोड़ती जा रही हैं। सार्वजनिक जीवन में बहुत आगे बढ़ रही हैं। म्युनिसिपल कमेटियों, विधान सभाओं और संसद के लिए वे बेधड़क होकर चुनाव लड़ती हैं और विजयी बनकर वहाँ जाती हैं और महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विवाद में भाग लेती हैं। इसीका परिणाम है कि आज नारी-शिक्षा बढ़ रही है। क्या संभव, एक दिन वह भी आए, जब लोकसभा और विधान सभाओं में नारियों का बहुमत हो।

नारी-जागरण का आन्दोलन

नारी-जागरण का अपना एक इतिहास है। स्वामी दयानन्द, राममोहनराय, स्वामी विवेकानन्द आदि ने नारी-जागृति की भावना पैदा की। पुरुष को नारी-गौरव का पाठ पढ़ाया। महात्मा गांधी के द्वारा संचालित सत्याग्रह में नारी ने अपूर्व योगदान दिया, उससे उसने अपनी शक्ति का ज्ञान न केवल पुरुष को कराया ; बल्कि वह स्वयं भी अपने में निहित शक्ति का आभास पाकर चकित रह गई।

संविधान में समान अधिकार

विभिन्न देशों में नारी ने अपने वैधानिक अधिकारों के लिए कितने ही संघर्ष किए हैं ; किन्तु भारत यह अभिमान-पूर्वक कह सकता है कि उसने आज समय की गति देखकर संसार में सब से पहले नारी को अधिकार देने में संकोच नहीं किया। भारत के नए संविधान में नारी को किसी तरह पुरुष से हीन नहीं माना गया। कानून की दृष्टि में वह पुरुष के समकक्ष है। संविधान के १५ व १६ अनुच्छेद इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं---

राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी प्रकार पर कोई भेद नहीं करेगा। केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी भी आधार पर कोई नागरिक अधिकार रखेगा :---

(क) दूकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश अथवा पूर्ण या आंशिक रूप में राज्य विधि से घोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, तालावों, स्नानघरों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों में भी कोई प्रतिबन्ध न होगा।

राजकीय नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समानता होगी।

केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान, निवास अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में अमान्यता होगी और न विभेद किया जाएगा। आज भारत की नारी को को नौकरी पाने, उत्तराधिकार पाने, मत देने, किसी प्रतिनिधि चुनाव में खड़े होने के सभी अधिकार प्राप्त हैं। किसी पद पर काम करते हुए उसे भी पुरुष के समान वेतन पाने का अधिकार प्राप्त है।

पतन के दो मुख्य कारण

सुधारकों ने नारी को अपनी दयनीय दशा से मुक्त होने के लिए प्रेरित किया। स्त्री-शिक्षा के साथ-साथ नारी जागरण का आन्दोलन जोर पकड़ता गया। शिक्षित नारी ने अपनी दुर्दशा के कारणों पर विचार किया। वह इस परिणाम पर पहुँची कि नारी की दुर्दशा के दो प्रमुख कारण हैं---एक तो यह कि विवाह सम्बन्धी कानून पुरुष ने अपने हित के लिए बनाए हैं, जिनमें नारी की कोई स्थिति ही नहीं है। नारी की दुर्दशा का दूसरा कारण यह अनुभव किया गया कि आर्थिक दृष्टि से वह परतन्त्र है। पैसा मनुष्य कमाता है और नारी को रोटी देता है। उत्तराधिकार में भी नारी का कोई स्थान नहीं है। शिक्षित नारी ने इन कारणों को दूर करने का निश्चय कर लिया है। इसीलिए पिछले वर्षों में भारत में जो नारी जागरण का

आन्दोलन हुआ, उसके परिणाम स्वरूप दो महत्वपूर्ण कानून स्वीकृत किए गए हैं। एक है, विवाह सम्बन्धी कानून और दूसरा उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून। इन दोनों कानूनों की संक्षेप में यहाँ चर्चा आवश्यक है।

नए विवाह कानून

१८ मई १९५५ से हिन्दू, सिक्ख, बौद्ध और जैनों के विवाह-कानून बिल्कुल बदल गए हैं। पहले एक पुरुष एक साथ अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था; किन्तु नए कानून की पाँचवीं धारा के अनुसार प्रथम पत्नी के जीवित रहते हुए विवाह नहीं हो सकता। यदि कोई एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह करेगा, तो उसे कठोर दंड देने का विधान कानून में रखा गया है। पहली जीवित पत्नी की बात छिपा लेने पर दश वर्ष की कैद की सजा देने का विधान भी कानून में है। इस व्यवस्था से बहु-विवाह की दूषित प्रथा हिन्दुओं में सदा के लिए समाप्त हो गयी है। अब कोई पुरुष किसी दूसरी सुन्दर या सम्पन्न युवती के चक्कर में पड़ कर पहली पत्नी को तिरस्कृत नहीं कर सकेगा।

नए कानून में अनमेल विवाह की उस प्रथा को भी सदा के लिए समाप्त कर देना चाहिए था, जिसके अनुसार एक पैर कब्र में लटकानेवाला वृद्ध चौदह-पन्द्रह वर्ष की अबोध कन्यासे विवाह कर उसका जीवन सदा के लिए नष्ट कर देता है। परन्तु इसकी कोई व्यवस्था नहीं की गयी। नए प्रगतिशील कानून में अनमेल विवाह पर कोई बन्धन न लगाना बहुत बड़ी कमी रह गयी है।

दुधमुंही या बहुत छोटी लड़कियों तथा छोटे बच्चों के विवाह को रोकने के लिए कन्या की न्यूनतम उम्र १५ वर्ष तथा वर की आयु १८ वर्ष नियत कर दी गयी है। विवाह के समय दोनों में से कोई भी जड़-बुद्धि या पागल न हो। दोनों पक्षों का सम्बन्ध निषिद्ध कोटि में न आता हो। सपिण्ड पक्ष परस्पर विवाह नहीं कर सकते। १८ वर्ष से कम आयु की लड़की माता-पिता की अनुमति के बिना विवाह नहीं कर सकेगी। नए कानून में विवाह की सब धार्मिक पद्धतियों को स्वीकार किया गया है, तथापि विवाह के प्रमाण के लिए रजिस्ट्री कराने की सुविधा भी दी गयी है।

पृथक् वास

नारी की सब से बड़ी शिकायत यह थी कि चरित्रहीन तथा असाध्य गन्दे रोगों का शिकार और अत्याचारी पुरुष भी पत्नी के निरन्तर साथ रहने के लिए विवाह कर सकता था और इस कारण पत्नी का समस्त जीवन ही नष्ट हो जाता था। इसे रोकने के लिए नए कानून में दो प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई हैं। साधारण कारण होने पर कानूनी तौर पर पत्नी पति से अलग रहने का अधिकार प्राप्त कर लेती है। इस स्थिति में पुरुष स्त्री को साथ रहने के लिए बाधित नहीं कर सकता। निम्न दृष्टि से अदालत जुडिशियल पृथक् वास की इजाजत दे सकती है :—

(क) एक ने दूसरे पर जुल्म किए हैं।
(ख) कोढ़ या कोई गुप्त बीमारी हो गयी हो।
(ग) एक ने दूसरे को दो वर्ष या इससे अधिक समय से छोड़ रखा है।
(घ) विवाह के बाद किसी ने दूसरे व्यक्ति के साथ व्यभिचार किया है।

तलाक का अधिकार

किन्तु; इस नियम का सब से क्रान्तिकारी रूप सामान्य हिन्दू नारी को भी तलाक देने का अधिकार है। यद्यपि दो-एक राज्यों में तलाक का अधिकार कानून से प्राप्त हो चुका था और छोटी जातियों में यह अधिकार प्रथा के रूप में विद्यमान था, तथापि सामान्यतः देश में हिन्दू-विवाह का विच्छेद न हो सकता था।

इस नए नियम से देशव्यापी विरोध के बावजूद शिक्षित स्त्रियों व देश के उच्च नेताओं के प्रबल प्रयत्नों के कारण तलाक का अधिकार भारतीय कानून में सम्मिलित हो गया है। इस कानून के अनुसार स्त्री या पुरुष एक दूसरे को तलाक दे सकता है, यदि दूसरा पक्ष––

(क) व्यभिचारी है, या

(ख) हिन्दू-धर्म छोड़ दिया है, या

(ग) कुष्ट या अन्य असाध्य गुप्त रोग से पीड़ित हो।

(घ) असाधारण रूप से पागल है और तीन साल तक पागल रहा है।

(च) संसार से विरक्त होकर संन्यास ले लिया है।

(ज) सात वर्ष से लापता है।

(झ) कानूनी पृथक् वास को दो वर्ष हो गए हैं।

पत्नी को निम्न कारणों से भी तलाक देने का अधिकार दिया गया है––

(क) इस कानून से पहले किसी पति ने दो विवाह किए हैं और दूसरी पत्नी अर्जी देते समय भी जीवित है।

(ख) विवाह के बाद पति ने किसी दूसरे के साथ व्यभिचार किया है, किसी स्त्री पर बलात्कार किया है।

अदालत द्वारा तलाक स्वीकृत किए जाने व अपील की अवधि समाप्त होने के एक वर्ष बाद दोनों अपना पुनः विवाह करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

नारी को उत्तराधिकार

हम ऊपर कह आए हैं कि नारी ने पुरुष समाज के अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए दो उपाय किए :––

(१) तलाक अधिकार की प्राप्ति तथा आर्थिक अधिकार की प्राप्ति। आर्थिक स्वावलम्बन के लिए उसने एक ओर बाहर के कार्य क्षेत्र में प्रवेश करके शुरू किमा, तो दूसरी ओर उसने उत्तराधिकार कानून में परिवर्तन कराकर माता- पुत्री व पत्नी के लिए भी अधिकार प्राप्त किए।

अब तक हिन्दू-कानून के अनुसार पिता की सम्पत्ति पुत्रों में बाँटी जाती थी, पुत्रियों का उस पर कोई अधिकार नहीं था। नए कानून के अनुसार यदि पिता कोई वसीयत न कर गया हो, तो पुत्रियों को भी अपने पिता की सम्पत्ति पैतृक या स्वार्जित सम्पत्ति में पुत्रों की भाँति अधिकार मिलेगा। इसी तरह पति की मृत्यु पर पत्नी भी देवर, जेठ के पुत्रों पर आश्रित न रह कर पति की सम्पत्ति के एक भाग की अधिकारिणी होगी। अब पत्नियों का उत्तराधिकार सीमित नहीं रहा। अब वे उस सम्पत्ति को बेच भी सकेंगी। अपने हिस्से में से वे किसी को दे भी सकेंगी। कृषि भूमि, मकान आदि छिन्न-भिन्न न हो जाएँ, इसके लिए कुछ व्यवस्था की गयी है। इस कानून के द्वारा यह मान लिया गया है कि लिंग भेद के कारण स्त्री-पुरुष या पुत्र-पुत्री में कोई भेद नहीं है। एक दूसरे कानून के अनुसार लड़की को भी गोद लिया जा सकता है।

इन कानूनों से निस्संदेह स्त्री की सांसारिक स्थिति में परिवर्तन आ जाएगा। इन कानूनों का दूसरा पक्ष भी है, पर किस नियम का अपवाद या दूसरा पक्ष नहीं होता। दीर्घकाल से स्मृतियाँ बदलती रही हैं, कानून बदलते रहे हैं, यदि शिक्षित नारी कोई नया परिवर्तन चाहती है तो वह क्या परीक्षा योग्य नहीं है ?

नारी यदि रूढ़ियों के अत्याचारों का निवारण चाहती है, तो यह उसका अधिकार है, जो इसे मिलना चाहिए।

**

निर्माण की ओर

श्री सतीशचन्द्र शुक्ल

हम इस समय नाजुक घड़ियों में से गुजर रहे हैं। आणविक युग का प्रारम्भ हो गया है। हम ज्वालामुखी के किनारे पर खड़े हुए हैं, जो किसी भी क्षण भभक सकती है और अपने अंगारे तथा शोलों से सर्वनाश कर सकती है। ऐसी नाजुक घड़ी में एशिया के नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संसार को संकटों से मुक्ति पाने के लिए एक उपाय प्रदान किया—संसार की सुख शान्ति का रहस्य प्रकट किया।

'पंचशील' एक प्राचीन शब्द है, उतना ही प्राचीन, जितना प्राचीन है गौतम बुद्ध का नाम। भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयायियों के चरित्र के लिए पाँच सिद्धान्त निर्धारित किए थे। सार रूप में वे इस प्रकार हैं :—

१. तुम किसी की हत्या न करोगे,
२. तुम चोरी न करोगे,
३. तुम झूंठ न बोलोगे,
४. तुम मदिरा न पिओगे,
५. तुम व्यभिचार न करोगे।

भगवान बुद्ध ने अपने अनुयायियों के सामाजिक जीवन के लिए जो आधारभूत सिद्धान्त निर्माण किए, वे 'पंचशील' के नाम से विख्यात हुए। वे ही सामाजिक व्यवहार के पाँच नियम बने। अपनी इंडोनेशिया की यात्रा के काल में नेहरूजी पर उस देश के विधान में काम आनेवाले इस पंचशील शब्द का भारी प्रभाव पड़ा। वे पाँच सिद्धान्त हैं, जिन के आधार पर इंडोनेशिया राज्य का आधार कायम है :—१—ईश्वर में विश्वास, २—मानवता, ३—राष्ट्रीयता, ४—लोकतन्त्रता और ५—सामाजिक न्याय। नेहरूजी ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों के आपसी व्यवहार के लिए इन सिद्धान्तों को स्थान दिया। संसार को नेहरूजी ने पंचशील के द्वारा जो तत्व दिए, वे इसप्रकार हैं :—

१. एक राज्य का दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता, पूर्णता और स्वतंत्रता के प्रति परस्पर सम्मान।
२. एक दूसरे के आंतरिक मामले में परस्पर हस्तक्षेप न करना।
३. परस्पर अनाक्रमण का व्यवहार करना।
४. परस्पर शान्तिपूर्ण सह-आस्तित्व।
५. परस्पर समानता और लाभ।

१९५४ में तिब्बत के सम्बन्ध में चीन और भारत की संधि में ये सिद्धान्त प्रथम बार प्रकट हुए। भारत ने तिब्बत को अपना क्षेत्र नहीं माना, यद्यपि अंग्रेजों ने उसे भारत में मिलाया, किन्तु फिर भी चीन की प्रभुसत्ता से इन्कार नहीं किया। इसलिए इस क्षेत्र पर भारत ने पंचशील के आधार पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार

कर ली। तदुपरांत् पंचशील का उल्लेख एप्रिल १९५४ के एशियाई अफ्रीकन सम्मेलन में हुआ। बांडुंग में एकत्रित उन्तीस राज्यों ने यह स्वीकार किया कि वर्तमान शीतयुद्ध तथा खींचतान के वातावरण में राष्ट्रों के जीवन की आशा पंचशील में अंतर्निहित है। इसके बाद जब जनतन्त्र चीन के प्रधान मन्त्री चाऊ इन लाई ने भारत यात्रा की, तब भारत, बर्मा और चीन के प्रधान मन्त्रियों के संयुक्त वक्तव्य में इन सिद्धान्तों को स्थान दिया गया। तत्पश्चात् जापान, विटनाम, युगोस्लोविया, रूस और नेपाल ने अपनी वैदेशिक नीति में पंचशील को आधारयुक्त स्वीकार किया। पंचशील को इस जगत व्यापी मान्यता मिलने से यह प्रकट हुआ कि केवल यह सिद्धान्त ही जगत को विश्व व्यापी युद्ध की विपत्ति से त्राण दे सकता है।

अब प्रश्न यह है कि ये पाँच सिद्धान्त क्या प्रकट करते हैं? मूल रूप से वे राष्ट्रों के एक दूसरे के प्रति व्यवहार का निर्देश करते हैं, जिससे कि भविष्य में कोई युद्ध न हो। एक दूसरे को अपनी शर्तें मनवाने के लिए युद्ध का आधार शक्ति के उपयोग में होता है। युद्ध मानव की निम्न प्रकृति का प्रदर्शक है। वह खून खराबी हिंसा और लोलुपता का प्रतीक है। फिर आज की स्थिति में युद्ध का अर्थ मानव सभ्यता और जीवन का सम्पूर्ण क्षय, विनाश एवं उन्मूलन है।

आज से तीस वर्ष पूर्व एच० जी० वेल्स ने अपने एक उपन्यास में यह अंकित किया था कि विश्व राज्य ही केवल संसार की शान्ति और समृद्धि की गारंटी दे सकता है। उनका नारा था "विश्व राज्य या विश्वनाश।" इसी प्रकार प्रोफेसर इंस्टीन और बरट्रेन्ड रसेल ने अपने संयुक्त वक्तव्य में कहा था कि यहाँ यह समस्या उप स्थित है, जो हम आपके सामने रखते हैं, जो कठोरतम है, भयावह है और जिससे बचा नहीं जा सकता है। प्रश्न है कि क्या हम मानवजाति का अन्त चाहते हैं? या मानवता युद्ध का त्याग करेगी? विश्व के दो महानतम विचारक और दार्शनिकों का यह मत था।

डा० राधाकृष्णन ने भी पंचशील के व्यावहारिक मूल्य को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा—"ये पाँच सिद्धान्त निरे शब्द ही नहीं हैं। यदि हम उन पर गंभीरता से लक्ष्य दें तो हमें अतीत की ओर मोड़ लेना चाहिए। हम अपनी कठोरतम चिरस्थायी कलह, विवेक रहित इच्छाएँ आदि भूल जाएँ। अपने जड़ीभूत विचार और निष्फल निषेधात्मक कार्यों का परित्याग करें। हम अपने विचारों को नवीन दृष्टिकोण, नवीन भावनाएँ और नवीन मानवता तथा नवीन समता की ओर मोड़ें। आज संसार में सर्वाधिक स्वार्थ फैला हुआ है। पंचशील की भावना संयम की भावना है, मानवता और भ्रातृभाव पूर्ण सहयोग भी है उसमें किसीके प्रति द्वेष नहीं है और सबके प्रति उदारता है। इन मनीषियों के ये उद्‌गार पंचशील के महत्त्व को निर्लेप प्रकट करते हैं।

इन सिन्द्धातों के अनुसरण से भारत का संसार में ऊँचा दर्जा हुआ है। काश्मीर के आक्रमण के मामले में भारत का अनुकरणीय व्यवहार देखिए। गोआ में पुर्तगीज के आतंक पैदा करने वाले व्यवहार के आगे भारत का संयम भी देखिए। यह पंचशील के सहयोग की भावना थी, जिसने फ्रांस को प्रभावित किया कि वह भारतीय क्षेत्रों को भारत सरकार को अर्पित कर दे। फ्रांस में स्थित भारतीय प्रतिनिधि श्री एच० एस० मल्लिक ने फ्रांस के प्रधान मन्त्री के सम्मुख यह प्रश्न रखा—"आप भारत की सदिच्छा या सहयोग को महत्त्व देते हैं, उससे फ्रांस का लाभ समझते हैं या भारतीय क्षेत्र में दुर्दशा पूर्ण फ्रेंच उपनिवेशों को, जो उसे कुछ न देगें, सिवा असंतोष और अपमान के?" भारत की विदेशी नीति का संचालन इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर हुआ। अपने पड़ोसी देशों के साथ उसका व्यवहार और संसार के दो शक्ति दलों में उसका निर्लेप स्थान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के महान नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित हुआ।

अमेरिका और योरप के कुछ देशों ने भारत की नीति को नहीं समझा। उसकी शक्तिमान निरपेक्षता को अवसरवादी बताया गया। कहा गया कि वह ओट में बैठकर देखता है कि किस ओर हवा बह रही है। इसे विदेशियों ने साहसहीन, गद्दार और निर्बल तथा नपुंसकत्व की नीति प्रकट की। भारत की चालबाजी

प्रकट की। यह प्रकट किया कि उसका व्यवहार संसार को उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ साधने का है। पड़ोसी शत्रुओं ने इन्हीं आरापों से तानेजनी की। इतना ही नहीं, देश के कई राजनीतिक दलों ने भी इस नीति की ऐसी ही आलोचनाएँ कीं, किन्तु भारत की प्राचीन परम्परा और उसकी प्रकाशमान नीति के सम्बन्ध में यह गलत विवेचन है।

भारत सबकी भलाई चाहता है, यहाँ तक कि अपने पड़ोसी पाकिस्तान की भी, जिसने काश्मीर पर आक्रमण किया। उसने पाकिस्तान से युद्ध न करने की घोषणा का प्रस्ताव किया, क्योंकि उसका लक्ष्य नहीं था कि पाकिस्तान को क्षति पहुँचाई जाए या उसे हड़प लिया जाए, किन्तु पाकिस्तान को भारत का प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुआ। इसीप्रकार भारत ने अपनी पंचवर्षीय विकास योजनाएँ तथा उन्नति और समृद्धि की ओर कदम बढ़ाने में अमेरिका और रूस दोनों से सहायता ली। भारत की किसी के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और शत्रुता नहीं है और अन्याय के मार्ग में न किसी का पक्षपात है। इसने राष्ट्रों की सद्भावना प्राप्त की। संसार के अधिकांश देशों ने उसकी नीति में विश्वास किया। सभी कार्यों में इसका जो गौरवपूर्ण और अनुकरणीय व्यवहार रहा है, इसलिए संसार में किसी का साहस नहीं हुआ कि उसकी ओर अंगुली उठा सके।

अब हम पंचशील के पाँच तत्त्वों का परीक्षण करें। इसमें से हरएक का अपना विशेषत्व है, जो राष्ट्रों के मध्य में सहयोग तथा मैत्री की भावना उत्पन्न करने में सहायता देता है। राष्ट्र संघ के महामन्त्री श्री डाग हेमरस्क जोल्ड ने इसी भावना का समर्थन करते हुए कहा कि पंचशील संयुक्त राष्ट्र संघ के लक्ष्य और जिम्मेदारियों का पुनर्वार समर्थन करता है। इन सिद्धान्तों को स्वीकार करने से दूसरे संगठन के खड़े करने की बात ही नहीं उठती है, जैसा कि कुछ देश सोचते हैं कि वह राष्ट्रसंघ के मुकाबले में होगा। अतएव यह शक पैदा होना कि भारत तीसरा ब्लाक खड़ा करना चाहता है या किसी रूप में शक्ति का संतुलन चाहता है, नितांत आधार रहित और अनुचित है।

पहला सिद्धान्त है, एक दूसरे की प्रभुसत्ता, पूर्णता और स्वतंत्रता के प्रति परस्पर सम्मान। इसका अर्थ यह है कि हरएक राज्य को जीवित रहने, अपने अस्तित्व को कायम रखने का अधिकार है। राज्य अपने स्वतः के अधिकार से कायम रहता है, न कि अपने पड़ोसी और शत्रु की दया पर। यदि क्षेत्रीय प्रभुसत्ता किसी प्रकार पवित्र और अविभाजित है, तो इसका तात्पर्य यह है कि हरएक राष्ट्र की स्वतंत्रता विश्वमत के द्वारा रक्षित है।

दूसरा सिद्धान्त है, एक दूसरे के आंतरिक मामले में परस्पर हस्तक्षेप न करना। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक राष्ट्र के अधिकार को मान्यता देना, जो अपनी क्षमता के आधार पर अपने विकास में आगे बढ़े। किसी देश को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों के मामले में हस्तक्षेप करे या अपनी टांग अड़ाए। राष्ट्रों और राज्यों के इस उपवन में भिन्नता को स्थान दिया गया है। बड़े राष्ट्र स्वतः दूसरों को सभ्य बनाने का कार्यभार अपने पर न लादें। हरएक छोटे-से-छोटे देश अपनी गतिविधि से आगे बढ़ें। इस प्रकार सभी देश अपने भाग्य का निर्माण अपनी स्वेच्छा के अनुसार करें। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक ढांचा प्रत्येक राष्ट्र अपनी परम्परा और परिस्थितियों के अनुरूप निर्माण करें। इसी विभेद में ही प्रगतिशील जीवन है। यंत्रवत् जड़ जीवन की संसार को आवश्यकता नहीं है, यद्यपि सभ्यता और प्रगतिशील व्यवस्था किसी एक राष्ट्र की सम्पत्ति नहीं है। कोई भी उसे अपना सकता है, पर उसे अपनाने के लिए कोई शक्ति मजबूर नहीं कर सकती।

तीसरा सिद्धान्त परस्पर आक्रमण का है। इसका अर्थ है कि राज्यों के आपस के झगड़े शान्तिपूर्ण उपायों से हल किए जाएँ। परस्पर बातचीत और पंचायत आदि के द्वारा हर मामला हल हो। उनके हल के लिए शस्त्रों की शक्ति का उपयोग न किया जाए। वैधानिक शक्ति का अनुसरण किया जाए, न कि शक्ति की वैधानिकता का। शक्ति की वैधानिकता का नाम ही बर्बरता का विधान है। राज्यों के झगड़े

तय करने के लिए शान्ति पूर्ण तरीके हमारा मार्ग दर्शन करें और हम उन्हीं पर चलें। शक्ति ही न्याय है, यह बात भूतकाल में लाभदायक और हितकारी हो सकती थी, किन्तु आज का दूसरा मार्ग है—न्याय ही शक्ति है। इसलिए यह आवश्यक है कि युद्ध की कोई घोषणा न हो और न सैनिक-सुरक्षा के समझौते हों। नेहरूजी ने अनेक बार यह कहा कि सुरक्षा के इकरारनामे युद्ध की भावना पैदा करते हैं और शक्ति के दर्जे से शर्तें रखने या अपनी बात कबूल कराने की स्थिति पैदा करते हैं। नेटो, सीटो, बगदाद पैक्ट और वारसा पैक्ट के सैनिक गँठजोड़ केवल आक्रमण के साधन हैं और शीत-युद्ध को गर्मयुद्ध में परिणत कर देते हैं।

चौथा सिद्धान्त, अर्थात् समानता और परस्पर लाभ का अर्थ है कि कोई राष्ट्र न बड़ा है और न छोटा। संसार के सारे राष्ट्र समानता की शर्तों पर मिलें और बातचीत करें। "चार बड़े" और "पाँच बड़े" कोई चीज नहीं हैं। सभी स्वतंत्र राष्ट्रों के साथ व्यवहार करने के समान अधिकार हैं। परस्पर लाभ के लिए राष्ट्रों में आवागमन, टैक्नीकल सहयोग या संयुक्त कार्यक्रम अथवा योजनाएँ ही सही मार्ग के कदम हैं, जिससे राष्ट्र एक दूसरे के समीप आते हैं।

पाँचवा सिद्धान्त, "शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व" का है। यह सम्भवतः सब में श्रेष्ठतर है। आज के जगत में दो मुख्य विचार धाराएँ बल पा रही हैं। एक है साम्यवाद और दूसरा पूंजीवाद। दोनों यह अनुभव करते हैं कि दूसरे के रहते हुए एक जीवित नहीं रह सकता। साम्यवादी पूंजीवाद को खत्म करने पर तुले हुए हैं, जिस प्रकार की पूंजीवादी साम्यवाद के निष्कासन करने के लिए दृढ़व्रत हैं। विनाश के लिए यह प्रयत्न करना ही युद्ध की नींव डालना है। संसार के भिन्न-भिन्न देशों में जुदी-जुदी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पद्धतियाँ हैं और वे जीवित रहनी चाहिएं। अन्यथा; विभिन्नता के स्थान पर निर्जीव समानता स्थान पाएगी। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का आदर्श यह है कि विभिन्न आदर्शों को एक दूसरे के समीप कायम रहने के लिए काफी स्थान और अनुकूलताएँ हैं। हरएक राष्ट्र या राज्य अपनी ऐतिहासिक परम्परा या परिस्थितिओं के कारण कुछ अपनी विचार धाराएँ रखता है, उन्हें बदलना उस राष्ट्र के जीवन को ही खत्म कर देना है। भारत ने अपने लिए नया आदर्श चुना। उसने दूसरे देशों के वादों पर चलना स्वीकार नहीं किया। अपनी इस पद्धति के अन्तर्गत भारत अपने ढंग का समाजवाद निर्माण करने के लिए बढ़ा है। अपने इस लक्ष्य के अन्तर्गत वह लोगों के जीवन स्तर में सुधार और सम्पत्ति और सुविधाओं की असमानता को कम करने के लिए प्रयत्नशील है। अंततः शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व विभिन्न क्षेत्रों की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं के जुदे-जुदे रूपों को भिन्नता के अन्तर्गत संसार की एकता के रूप का स्वागत करता है।

इसप्रकार पंचशील कोई नया वाद नहीं है, एक नई मनोवृत्ति है, जीवित रहने की एक नई पद्धति है, जो शक्ति की जगह न्याय, युद्ध की जगह समझौता और हिंसा की जगह अहिंसा की स्थापना करती है। यह कुछ का भला या बहुतों का भला इस सिद्धान्त को नहीं मानता, यह सब के भले के सिद्धान्त को मानता है। यह कुछ को बड़ा और कुछ को छोटा नहीं मानता, सब राष्ट्रों को समान मानता है। क्या कोई आदमी इसलिए श्रेष्ठ माना जाए कि उस के पास दस कपड़े हैं, बड़ा मकान या कुछ सोना है, भले ही वह डाकू हो? और क्या कोई आदमी इसलिए क्षुद्र माना जाता है कि उसके पास एक वस्त्र, मामूली झोपड़ी और थोड़ा-सा अन्न है। भले ही वह स्वयंसेवक है। नहीं, तो फिर हम जागरण के नवयुग में किसी राष्ट्र को बमों की संख्या या धरती की लम्बाई से कैसे बड़ा मान लेंगे? मनुष्य मनुष्य की समानता में धर्म का सिद्धान्त है। पंचशील उसे ही राष्ट्र-राष्ट्र की समानता तक ले जाता है और यही पंचशील आज के मनुष्य का धर्म है, आज के राष्ट्र का धर्म है, आज के विश्व का धर्म है। सब उसे अपनाएँ या फिर मिट जाएँ। बस और कोई रास्ता नहीं है।

**

अस्पृश्यता और धर्म

श्री बेनीमाधव शर्मा

"पंडित बाबा ! तनी पानी पिया देता बहुत पुन्न होई, रोग्रां रोग्रां जस गइहैं बाबा !"

कहते हुए, एक अछूत गिड़गिड़ाने लगा। उसका मुंह सूखा जा रहा था......

"कौन जात हएउ ?"

"रैदास भगत हई महाराज।"

"चल चल ससुर भगत बनत हउए। इन्हें हम पानी पिग्राउ के लोटा भरस्ट करीं..."

"बाबा, हम लोटवा थोड़े मांगत हई। अरे दूरै से पिया देता, हम चिरुग्रा से पी लेहत। कौनो लौटवा थोड़े जुठारब।"

"नाहीं नाहीं। ई सब ना होई। वाह ! दूर से पिया दा। अरे घरिया तो तोहरै मुंहे में जाई न ? तब हमार लौटा शुद्ध रह सकेला। हम लोग ब्राह्मण हई। बड़े पाखी से रहीला।......"

"सारी पृथ्वी कुम्हारका ग्रावां हो रही थी। किसी को बाहर निकालने का साहस न था। पर एक सवार इस लू में घोड़े पर चढ़ा चला ग्रा रहा था। वह ग्रौर उसका घोड़ा दोनों पसीने से तर थे। छाया देख घोड़ा रुक गया। सवार उतर पड़ा ग्रौर सिर से पगड़ी उतार कर पसीना पोंछ रहा था कि एक दर्दभरी ग्रावाज सुनाई दी।"

"पंडित बाबा, तनी पानी पिया देता।"

सवार ने घूम कर देखा, एक ग्रछूत दाँत निकाले पानी माँग रहा है ग्रौर पंडित बाबा झिड़क रहे हैं। सवार ने कहा—

"पंडितजी, काहे नहीं ग्रोके पनिया पिया देता ? पानी पिउऊले से लोटवा थोड़े ग्रशुद्ध हो जाई।"

"वाह, तू के हउग्रा ? हम पानी पियावै खातिर ग्रापन धरम भरस्ट करीं। हमार एक रुपया क लोटा ग्रशुद्ध हो जाई त कोई देवेवाला न होई।"

"पंडितजी, खुनसा मत। ग्रो बेचारे के पानी पिया दा। मरत हो। रुपया हम दे देब। तूहें एक रुपए न चाही। पियावा महाराज।"

पंडितजी ने पानी पिलाया। सवार ने एक रुपया दिया ग्रौर बोला—"ग्रच्छा पंडितजी, ग्रशुद्ध लौटवा ग्रोके दे द। ग्रब ऊ त तोहरे कौनो काम क ना रहल। ई बेचारा ले जाई। ग्रोके कोने कामै देई।"

"हें हें महाराज ! ग्रोके रहन दिहल जाए। हम ग्रागी ग्रोगी में बाल के शुद्ध कर लेब।"

"पंडितजी ! बड़े दुःख की बात है हो। ग्रबहिन त ग्राप क पानी पियउले से लोटा ग्रशुद्ध होत रहल ग्रऊ 'धरम' भरस्ट होत रहल, ग्रब लौटवा कइसे ले जाइल जाई ? वही के दे दिहल जाए।"

"नाहीं सरकार, रहन दिहल जाए। हम विधि से शुद्ध कै लेब न।"

"चुप रहा पंडितजी, हमहूँ ब्राह्मण हई पर कोई दुखिया के जल देहले ग्राज तक लोटा ग्रशुद्ध होता ना सुनली। ग्राप लोग बहुत बुरा करीला। ग्रइसन धर्म कब तक चली ? ग्रब देखल जाए, ग्रापक धरमवां एक्के रुपया में हवा हो गैल। ग्रगर ई दुखिया गरीब के खुसी खुसी पानी पियउले होती त रोग्रां सबाब देत...।"

**

हमारा सांस्कृतिक चरित्र

श्री जयशंकर त्रिपाठी

"मेरी पुत्रियों ! संसार के दूसरे पहाड़ों की नदियाँ सागर को वरण करती हैं, कच्छ मच्छों के सहचर नाग को, लेकिन तुम जनता के इस महासमुद्र को वरण करना, खूब याद रखना, तुम कई हो और यह महासमुद्र भी कई समुद्रों को मिलाकर बना है। देखो इन के नाम हैं—काश्मीर, पौरव, वाह्लीक, कुरुक्षेत्र, ब्रह्मावर्त, अवन्ती, वत्स, कौशल, मगध, अंग, बंग, कामरूप। फिर इनमें भी कई दो-दो भाई हैं,"—हिमालय ने अपनी बेटियों से कहा।

"पिताजी, विन्ध्य की पुत्रियाँ किसे वरण करती हैं ? कालिंदी ने जिज्ञासा की।

"यह तो मैं नहीं कह सकता कि वे सभी किसे वरण करती हैं। लेकिन उत्तर की ओर विन्ध्य की जो पुत्रियाँ आती हैं, वे तो तुम्हारी और गंगा की सहेलियाँ ही बनेंगी।"

"पिताजी ! अब आज्ञा और आशीर्वाद दीजिए, साथ ही बताइए हम किस-किस रास्ते से जाएं" सभी एक साथ उतावली होकर बोलने लगीं।

"अच्छा तो अपने रास्ते जान लो—यह गंगा ब्रह्मावर्त की ओर जाए और कालिन्दी अवन्ती की ओर। देखो कालिन्दी ! तुम्हारे पास जब विन्ध्य की बेटियाँ मिलने आएं, तब तुम क्षिप्रा और वेत्रवती को क्रमश: मालव और वत्स के जन समुद्रों के साथ कर देना, आगे तमसा विन्ध्य खण्ड को और शोण मगध को अपने प्रेमरस से तृप्त करेंगी, वितस्ता काश्मीर को और सिन्धु सौवीर को वरण करेगी। यह ब्रह्मपुत्र कामरूप की ओर जाए, क्योंकि इसकी चंचलता और नटखटपन वहीं के अनुरूप है। सरयू तो कौशल की ही प्राणप्रिया होगी। शेष तुम सब आपस में समझ लो। बड़ी बहनें छोटी बहनों को मार्ग दिखाएं और सीख दें।" पहाड़ों के राजा ने वात्सल्य और मोह में डूबते हुए कहा।

"बहुत अच्छा, पिताजी।"

"जाओ मेरा आशीर्वाद है, तुम सबका सौभाग्य सदा अमर हो। सृष्टि की प्रलय हो जाए, लेकिन तुम्हारे सौभाग्य का बाल भी बांका न हो। तुम जानती हो कि जब महाप्रलय होता है और यह सारी दुनिया जल सागर की उत्ताल तरंगों में डूब जाती है तब जमीन, पहाड़ भी उस प्रलय में ऐसे गोते लगाते हैं मानों काल के ग्राह ने उनका पैर पकड़ कर सागर के भीतर खींच लिया हो। तुम्हें मालूम हो उस समय दो महान शक्तियों का युद्ध चलता है। संसार के समस्त प्राणी सागर में समाधि लेते हैं, लेकिन इस ब्रह्मावर्त का नर, नारायण बन कर, प्रलय के सागर पर अपनी नाव खेता है। सागर की भीषण गगनचुम्बी लहरें उसकी नाव को डुबाने के लिए अट्टहास करती हैं, कभी-कभी उनके अट्टहास के छींटें मेरे मस्तक पर भी पड़ जाते हैं, लेकिन अपनी नाव लिए हुए वह मनु अपना साहस नहीं खोता है और एक दिन उसकी विजय होती है। प्रलय के सागर को यह धरती छोड़ कर भागना पड़ता है। दोनों के उस तुमुल संग्राम में मनु की विजय का साक्षी मैं हूं और हैं ये मेरी धवल चट्टानें, जिन पर कभी-कभी मनु की नाव डांड अपनी चोट कर जाते थे।"

तो पिताजी ! उन मनु में बड़ा अद्भुत पराक्रम था, जिसने इस महासागर की प्रलय लीला को अपने डांडों में परास्त कर दिया।"

"हाँ बेटियों ! तभी तो मैं कहता हूं उस महासागर से यह जन समुद्र मुझे अत्यधिक प्यारा है। यह विजयी मनु की संतान है और यही वह क्षीरसागर है, जिस पर शेष की शैय्या लगा कर विष्णु नामधारी सृष्टि का नियन्ता रमा करता है। सानन्द जाओ। हमारा संबंध सदैव विजयी के साथ होता है। जैसे मेरी मूर्धा को यह जल का सागर कभी छू नहीं पाया, वैसे ही इस जनसमुद्र को आत्मसात् करने की शक्ति उसमें कभी नहीं आयी। बस, इन जन समुद्र के साथ ही हिमालय की संतानों का संबंध हो सकता है।"

* * * *

नग राज की बेटियों का यह मंगलोत्सव हुए हजारों वर्ष बीत गए, इस उत्तरी भूमि पर जन समुद्र के साथ उनकी ऐसी गहरीं निर्भीक काश्मीर से लेकर कामरूप तक की मानव सभ्यता एवं संस्कृति इन नदियों की एक-एक तरंगों में और कल-कल गान के एक-एक स्वरों में समायी हुई हैं। जन समुद्र ने नदियों के अधरों का प्रेम रस पिया है और नदियों ने अपनी हंसी की चाँदनी से जन समुद्र के अन्तर को भर दिया है। इन नदियों ने केसर और कमल की हंसी बिखेरी है, वासन्ती परिधान में जन समुद्र के साथ होलियाँ खेली हैं, फिर मल्लिका की किलकारी भर कर सावन भादों की बाहुओं में जन समुद्र को लपेट दिया है। शरत्काल में दोनों ने शक्ति की उपासना की है और अगहन में जाकर शालि से भरे खेतों में अन्नपूर्णा की आरती उतारी है। पुनः हेमन्त और शिशिर आने पर दोनों अन्तःपुर से बाहर नहीं निकले हैं।

उस जन समुद्र पर जब जब आपत्तियाँ आयी हैं, इसकी शक्ति बनकर नदियों ने इसको उद्‌बुद्ध किया है। इन नदियों की लज्जा जाते देख कर जन समुद्र का स्वाभिमान जागा है, आँखों में सूर्य चमके हैं, रोमों से अग्नि के स्फुलिंग निकले हैं और फिर इसके बाद जन समुद्र ने यूनानियों, कुशानों, शकों और हूणों के मस्तक काट कर साड़ी को खूनी रंग में रंगा है। इन नदियों और इस जन समुद्र का यह सौभाग्य सम्बन्ध सदा ही इतिहास के सृजन और संहार की कथाओं में भरता रहा है। न तो कभी इस जन समुद्र ने नदियों को भुलाया और न तो इन नदियों ने इस जन समुद्र को।

जन समुद्र ने जब जब अपना इतिहास वेदों में उद्‌गीत किया, पुराणों में लिखा और काव्यों में गाया तो वह कभी भी अपनी मूल शक्ति इन नदियों की प्रशंसा करना नहीं भूला है। वह सदा कहता रहा है इस गंगा ने, इस जमुना ने, इस सरयू ने, इस सिन्धु ने, इस ब्रह्मपुत्र, वेत्रवती और क्षिप्रा ने एवं दक्षिण की गोदावरी, कृष्णा और कावेरी ने हमारी आत्मा को पवित्र किया है और हमारी सहस्त्र बाहुओं में शक्ति दी है।

इस जन समुद्र पर इतिहास चमकता हुआ आया है और फिर उसके बाद विलास की चांदनी अपनी मंथर गति से इसके आंगन में उतरती है, पर न तो कभी यह इतिहास के सूर्य से गरम हुआ है और न विलास की चाँदनी से इसकी बाहुओं में ठंढक आयी है और जब कभी वह अपनी इस मर्यादा से विचलित हुआ तब नदियों के नाम में और उनकी तरंगों में समायी हुई संस्कृति ने इसकी बाहुओं को पकड़ा है और इसे सचेत किया है। इसने गंगा गोदावरी कह कर अपने नाम को पवित्र किया है। नदियाँ इसकी संस्कृति की वीणाएँ हैं जिनमें शक्ति के तार बज कर इस के पैरों में मरुत की गति लाते हैं, हृदय में गगन की विशालता, बाहुओं में पहाड़ों की निर्भरता, आँखों में सूर्य चन्द्र की चमक और कानों में दिशाओं की असीमता भरते हैं।

जब कभी इस जन समुद्र की एक भी तरंग भारत की सीमा के बाहर पहुँची है, उसे गंगा के प्रेम ने व्याकुल किया है और फिर यहीं पर आकर तब आश्वस्त हुई है जब उसे गंगा का पवित्र जल ओठों पर मिल गया है, आँखों में सतरंगी साड़ी लहर उठी है।

* * * *

जल सागर में तैरता हुआ व्यापारियों का वह जहाजी बेड़ा जनता के समुद्र के किनारे आ लगा। जैसे जल सागर ने ही उसे जन समुद्र के तट पर पहुँचाया हो। ऐसा प्रतीत होता था मानों इस सागर ने जन समुद्र से अपने पुराने बैर का शोध लेना चाहा है। उसने व्यापारियों से कहा मुझ में क्या है? इस जन समुद्र में

अपने जंगी बेड़े दौड़ाओ, रुपए मिलेंगे, रतन मिलेंगे, हीरे जवाहरात मिलेंगे, और शायद कभी तुम्हें इस जन समुद्र की धरती का राज्य मिल जाए। अगर मुझ में रहोगे तो तुम्हारे जहाज मेरे थपेड़ों से रसातल में चले जाएँगे। एक बात समझ रखना, इस जन समुद्र में नवाबों और राजाओं के नाम से पुकारे जाने वाले बड़े-बड़े टापू हैं, उन्हीं को सब से पहले अपने वश में करना, लोभ देकर और सेवा करके वे वश में हुए कि जन समुद्र तुम्हारे वश में है!

तब उन व्यापारियों ने अपने जहाज इस जन समुद्र के कलकत्ता नगर में उतारे थे। आज इस अवधि को सौ वर्ष से अधिक बीत गए। सागर ने जो कहा था सब सच निकला। व्यापारियों ने यहाँ का सोना, चाँदी, हीरे और जवाहरात, खजाने जन समुद्र में गोते लगा कर निकाल लिए और उन्हें जहाजों पर लाद कर गंगा के किनारे से ले जाकर टेम्स के किनारे उतार दिया।

जहाज टापुओं के नीचे रुक गए। इधर उन टापुओं के सहारे वे व्यापारी मौज करते रहे, जन समुद्र में गोताखोरी करते रहे और जहाजों को लाद कर इंगलैंड भेजते रहे।

परिस्थिति अब और भी बिगड़ गयी। व्यापारियों में लार्ड डलहौजी की भू पिपासा ने, जन समुद्र को सोख लेने की इच्छा ने इस समुद्र को उद्वेलित कर दिया। टापुओं में भी आग के तूफान उठे।

जन समुद्र ने व्यापारियों की यह गोताखोरी देखी और चाहा कि वह प्रलय की एक सांस खींच कर इन्हें रसातल में पहुँचा दे। पर ये व्यापारी उस जन समुद्र के अन्तर बसे राजाओं और नवाबों के बड़े बड़े टापुओं पर अपना डेरा डाले हुए थे। वे रसातल को जाते तो टापू भी रसातल को जाता। निदान जन समुद्र की सांस उन टापुओं की भाँति इन शाहों, नवाबों, राजाओं को अंग्रेजों की संधि बड़ी प्रिय लगी थी। इनकी ओर से ही जनता में मनमाना शासन करने की छूट अंग्रेजों को मिल गयी थी। वे शासन करते थे और इनके विलास के प्रसाधनों के हेतु कुछ शुल्क दे दिया करते थे। अंग्रेज व्यापारियों ने जब देखा कि विलास के नसेड़ी ये राजा और नवाब अब बैठे बैठे लंगड़े होते जा रहे हैं और इनके वंशज निर्वीर्य होते जा रहे हैं, तो उन्होंने अधिकांश को पदच्युत करके अपने आपको जन समुद्र का अधिपति घोषित कर दिया। कुछ को केवल पेट की पेंशन देते रहे।

व्यापारियों की भू पिपासा बढ़ती गयी। नवाबों और राजाओं ने चाहा कि इस का प्रतिकार करें, उठने को हुए पर अब पैरों की शक्ति में लकवा मार गया था। उनके पास जो सेना थी उसके संचालक थे अंग्रेज। देश का सौदा करने का फल अब उन राजाओं को मालूम हुआ। संयोग की बात थी, इसी समय जन समुद्र की दो संतानें उन राजाओं की गद्दीनसीन हुई जिनके पेट अंग्रेजों की पेंशन पर जीवित थे और जो शीघ्र ही इस लोक से चल बसे थे। तब झाँसी और बिठूर में उन संतानों की, लक्ष्मीबाई और नाना धुंधूपन्त की क्रांति लीला शुरू हुई। राजाओं की भाँति जन समुद्र की उन संतानों की उपेक्षा भी वे अंग्रेज करते रहे और दूसरी ओर इधर क्रांति की आग भड़कती रही, क्योंकि लक्ष्मीबाई और नाना भारतीय जन जीवन के दहकते अंगारे थे।

लक्ष्मीबाई और नाना ने अंग्रेजों को भारत से निकालने की मंत्रणा को कार्यरूप में परिणत किया। सम्राट जनमेजय के सर्प यज्ञ की भांति यह जन समुद्र का क्रान्ति यज्ञ था, जिन में अंग्रेजी सत्ता की आहुति देनी थी। जनता के दो नायक, तात्या टोपे और अजीमुल्ला उस क्रान्ति यज्ञ में होताओं को बुलाने चल पड़े। तात्या ने भारत भ्रमण किया और अजीमुल्ला ने योरप की यात्रा की। पहले सौ, फिर हजार, फिर लाख और वर्ष बीतते बीतते करोड़ होताओं ने यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए तात्या टोपे का निमंत्रण स्वीकार किया और उधर योरप यात्री अजीमुल्ला ने लंदन में जाकर यज्ञ की हवन सामग्री का निरीक्षण किया। उसने देखा उस लंदन के छोटे से टापू को जिसे ब्रह्मावर्त का एक हाथ ही उठा कर सागर में डुबो सकता था। यह देख कर आश्चर्य था अपनी पराधीनता पर। पर जब उसने अंग्रेज व्यापारियों की ताकत का पता लगाया तो उसने

जाना कि इन अंग्रेजों की सफलता में सैन्य शक्ति का बल नहीं काम करता, ये तो केवल बुद्धि, छल और क्रूरता के बल पर मुल्क का मुल्क कब्जा करते जा रहे हैं। उसने ये बातें समझीं और देश को लौट पड़ा। लौटते समय उसने इटली के देशभक्त सेनापति गैरीबाल्डी को अपने क्रांति यज्ञ में बतौर होता के निमंत्रित किया।

इधर अंग्रेज व्यापारियों ने जन-समुद्र से कहा—'तुम गंगा के किस रूप यौवन पर मुग्ध हो। सिन्धु और यमुना की यह भद्दी शकल तुम्हें कैसे लुभाती है? क्या तुम ने टेम्स की उछलती कुमारियों को नहीं देखा? छोड़ो, इन बुड्ढी नदियों के प्रेम को और इनकी खेतोंवाली हरी चुनरी की ममता को। इन पर तो वह बनवासी राम अथवा गायों का चरवाहा कृष्ण ही रीझ सकता है। और तुम जो रीझे तो रीझे लेकिन तुम्हारी ये औलाद जो अब पढ़ लिख कर सभ्य हो गई हैं और अपने को पढ़ा-लिखा के मानिन्द लगाते हैं, उन्हें यह जंगली सभ्यता छोड़नी चाहिए। भला कहीं नदियाँ माता होती हैं? गंगा माता हैं और मनुष्य गंगा मइया के पुत्र। हमें तो भारतीयों जैसा मूर्ख नहीं मिला। एक छोर से दूसरे छोर तक बहने वाली नदियाँ जिसकी माता और पहाड़ जिसके पिता हैं, पत्थर और आग जिसके देवता हैं।'

भूमि छीनी गयी, वस्त्र छीना गया, रोजगार छीना गया, पेट दूसरे के टुकड़ों पर पलने लगा और अब ये व्यापारी धर्म संस्कृति की हत्या करने पर भी तुल गए। अफसरों ने कहा, जो ईसाई बन जाए उसे जल्दी ही नौकरी में आगे तरक्की दे दी जाएगी। पादरियों ने कहा कि जब तक कोई मसीह की शरण में नहीं आता, उसे मरने के बाद नरक में जाना पड़ेगा। व्यापारियों की ठग लीला पहले व्यापारी, फिर राजा और अब पैगम्बर बन गए। और सब के नीचे छिपी रही राज्य कायम रखने की चाल। भारत की राजनीति मध्यरात बिता रही थी। सत्ताधारी अधिकांश रजवाड़े अंग्रेजों की संधि शैय्या पर सुख की नींद सो रहे थे और उनके पास ही उनके दूसरे भाई अंग्रेजी—कूटनीति के सर्प-दंशन से चीख रहे थे।

* * * *

जैसे एक युग बीतने लगा और प्रलय का समय आ गया। गंगा और यमुना के इस विस्तृत भू-भाग के ऊपर आसमान में तीन सूर्य एक साथ उदय हुए—संस्कृति, समाज और स्वतंत्रता। तीनों ने प्रचंड ताप से इस जन-समद्र को तपाना शरू किया। जब जन-समद्र खूब तपा, तब प्रलय करनेवाले जन-जन के मानस मेघ उससे ऊपर उठने लगे। कुछ ऊँची तरंगें उठ-उठ कर विन्ध्याचल और हिमालय के अन्तर में नवाबों और राजाओं की राजधानियों में प्रवेश करने लगीं। सभी ने इस जन-समद्र की जयकार की और विलास के प्रासाद ढहने शरू हुए।

जन-समद्र तीर्थ बन गया। पेशवा, नाना धुंधूपंत अपने वीर सेनानी तात्या टोपे और मंत्री अजीमुल्ला के साथ तीर्थों की यात्रा करने निकल पड़े। छोटे-बड़े मिला कर उसने कई तीर्थों पर स्नान किए। दिल्ली, लखनऊ, बनारस, जगदीशपुर, प्रयाग, चरखारी, झाँसी कालपी। कई छोटे तीर्थों के उसने दर्शन मात्र ही कर पाए और अब पुनः बिठूर लौटा तो उसकी आत्मा आजादी की पवित्रता से पावन हो गयी थी।

पूरब में बैरकपुर से लेकर पश्चिम में पेशावर तक सिन्ध और गंगा का समस्त मैदान जन-समद्र की लहरों से भर उठा। एक-एक करके लहरें तरंगित होने लगीं और उनमें कमल उतराने लगे तथा कमल के पत्तों-सी चपातियाँ एक किनारे से दूसरे किनारे तक हाथों-हाथ बँट गयीं।

जन-समद्र के उमड़ने के साथ क्रांति यज्ञ की भूमिका बँधी। पेशवा नाना इस यज्ञ का प्रधान यजमान बना और तात्या प्रधान पुरोहित। यज्ञ में पहली आहुति दी गयी। दिल्ली सम्राट् बहादुरशाह जफर की और उसका हरा निशान हिमालय के आँगन में फहराने लगा। यज्ञ की मूल शक्ति झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अपनी तलवार चमकायी। आजादी के मंत्रों से यज्ञ के अभिभावक अस्सी वर्ष के पितामह कुंवरसिंह में भी पच्चीस वर्ष की नौजवानी उछलने लगी।

एक ओर प्रकृति ग्रीष्म के प्रचंड ताप में धरती को झुलस रही थी और दूसरी ओर भारतीय सिपाहियों ने तोपों और बन्दूकों की बाढ़ में अंग्रेजों की प्रभता को भूनना शुरू किया। गाँव-गाँव और डगर-डगर में डुग्गियाँ बजने लगीं "खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का, हुकुम पेशवा नाना साहब का, हुकुम रानी लक्ष्मीबाई का, हुकुम नवाब विरजीस कदर का, हुकुम राजाकुंवर सिंह का।" देश में जान आ गयी और उसकी जवानी शत्रुओं को ललकारने लगी। सभी की उमंगें बहुत ऊँची थीं। इस महाभारत में जो शरीर छोड़ेगा उसे मुक्ति मिलेगी। फिर क्या था, एक बार अंग्रेजी शासन का तख्ता उलट गया। "हर-हर महादेव!" "दीन, दीन," इस फिरंगियों को मारो" की जयघोषों से गाँव-गाँव प्रतिध्वनित हो उठे।

लेकिन शीघ्र ही गोरी पलटनों ने अपने प्रतिकार शुरू किए। उनमें से एक था जनरल नील, जो बनारस से इलाहाबाद की ओर गाँवों में आग लगाता हुआ चला। उसने निरपराध और निरीह मनुष्यों को फाँसी पर लटकाया, बच्चों और औरतों को कत्ल किया। पर गाँवों की भारतीय आत्मा टस से मस नहीं हुई। उसने जन्म-भूमि की लाज के लिए स्त्रियों की लाज गवांयी और देश की आजादी के लिए बेघरबार हो कर घूमने लगीं। देश बीरान हो गया, पर स्ववतंत्रता के प्रेमियों ने अंग्रेजों की प्रभुता स्वीकार न की।

गाँवों में आग की ज्वाला शांत न हुई और राजधानियों में खून के समुद्र में डूब गयीं दिल्ली, लखनऊ, झाँसी, कानपुर में अंग्रेजों ने दाँत पीस-पीस कर भारतीयों से लोहा लिया। देश से उनका विश्वास उठ गया।

देश का बच्चा-बच्चा अंग्रेजों के विनाश के लिए तैयार था। पर वे थे अंग्रेज जो सात समुद्र पार करके इस जन-समुद्र में उतरे थे। उन्होंने कभी लोहा उठा कर धरती की प्रभुता नहीं प्राप्त की थी। उनके पास तो केवल एक ही अस्त्र था, कूटनीति, छल और प्रवंचना।

अंग्रेजों को दिखायी दिया, कहीं इस खून के समुद्र में लंदन का सिंहासन भी न डूब जाए। उन्हें भागते शरण नहीं मिल रही थी। बढ़ते हुए जनता के उस महासमुद्र को रोकना अंग्रेजों को बड़ा कठिन हो गया। उन्होंने निरीह प्रजा की बस्तियों में आग लगायी। पेड़ों की डालों पर फाँसियाँ लटकायीं, पर सब व्यर्थ। किन्तु इसी समय घटनाचक्र बदला, बढ़ते हुए महासमुद्र के आगे इस धरती से रेगिस्तान फूट पड़ा और उसकी प्रलयंकर लहरें रेगिस्तान में विलीन होने लगीं। दिल्ली और झाँसी के, इलाहाबाद और बनारस के जन-समुद्र इस घटना के पहले शिकार हुए, फिर तो जहाँ-तहाँ इस गंगा यमुना के मैदान में रेगिस्तान के ही आसार प्रकट होने लगे। पंजाब तो प्रायः रेगिस्तान हो ही गया। हिमालय की तराई से भी रेगिस्तान की लहर अवध की ओर बढ़ी।

स्वतंत्रता के दीवाने गोरी पल्टनों से नहीं हारे, देश के गद्दारों से हारे। देश के वे गद्दार जिनको अंग्रेजों ने रुपयों का लोभ देकर, जातीयता की भावना भर कर पैदा किए थे। देशी रियासतों के तटस्थ रहने पर भी, सिक्खों और नेपालियों के अपने विरोध में लड़ने पर भी वे सपूत न हारते, यदि देश के गद्दार ऊपर से दोस्ती का बाना पहन कर उनके साथ अपनी साठ गाँठ न साधते और अपनी ओर से निश्चिन्त उन मित्रों को अकस्मात अंग्रेजों के हवाले न कर देते! न तो सम्राट् बहादुरशाह जान पाया कि मेरे शरीर का सौदा कुछ रुपयों पर तय हो गया है, न तो झाँसी की रानी जान पायी कि किले का फाटक थोड़े से लोभ पर ही बिक गया है और न अवध के सेनानी अहमदशाह ने यह जाना था कि मेरे सिर का भी मोल तोल हो गया है।

अवध में सत्य ही खून का समुद्र उमड़ पड़ा। जन-समुद्र में देश की आजादी की असीम उमंगें थीं, पर पंजाब का रेगिस्तान दिल्ली को ढहाता हुआ अवध भी पहुँच गया और उधर से नैपाल का भी। दिल्ली के बादशाह के आँसू तो कैदी हालत में रंगून में टपके थे, पर अवध की बेगम हजरत महल, नवाब चिरजीस कदर, पेशवा नाना साहब अपने भक्त सैनिकों के साथ हिमालय के चरणों को आँसू से धो रहे थे। जगदीशपुर के राजा अमरसिंह को कैमूर की पहाड़ियों ने शरण दी थी। इसी प्रकार जन-समुद्र की विशाल तरंगें, जो रेगिस्तान से बच सकी थीं, मैदानों से हट कर पहाड़ों और जंगलों में विलीन होती गयीं।

पर अभी झाँसी के जन-समुद्र के अवशेष बचे थे। उनका सेनानी अब भी मध्य भारत के जंगलों में गतिमान था, जिस की एक गति पर जन-समुद्र से प्रलयंकर तूफान उठ रहे थे। वह था वीर तात्या। उसके लड़कपन के वीर साथी रानी और नाना अब भी उनसे बहुत दूर थे। फिर भी उनके प्रेम और उनकी आज्ञा से वह जी-जान से देश की लड़ाई लड़ रहा था। उसे विश्वास था कि मै विजय प्राप्त करूँगा। देश को अंग्रेजों के शासन से मुक्त करने की उसमें असीम व्यग्रता और लगन थी और वैसी ही थी दूरदर्शिता और वीरता। गद्दार उसे बाधा देते रहे और देश भक्त उसके साथ होते रहे, किन्तु उसकी सेना का प्रस्थान होता था जैसे झंझावात में सागर का तूफान हो। एक क्षण उत्तर और एक क्षण दक्षिण तूफानी लहरें अट्टहास करती थीं और युद्ध का बिगुल बजता था। मध्य भारत के जंगल में तात्या टोपे ने महान् आश्चर्यकारी युद्ध अंग्रेजों से किया, जैसे क्षिप्रा की घाटी में दो हजार वर्ष पूर्व का वीर विक्रम का इतिहास अपनी पुनरावृत्ति कर रहा हो। तात्या नर्मदा पार कर दक्षिण जाना चाहता था, दक्षिण और उत्तर एक करने के लिए, किन्तु उसके पीछे अंग्रेजों के पाँच बड़े-बड़े सेनापति लगे हुए थे। दक्षिण में मिचले, पूर्व में मिडेल, उत्तर में करनल मीड, पश्चिम में कर्नल पार्क और चम्बल की ओर जनरल राबर्ट्स थे। वे सब सावधानी से नर्मदा के किनारे की ताक में थे, पर तात्या के युद्ध कौशल से नर्मदा पर जोरों से जयघोष हुआ—"वीर तात्या की जय।"

तात्या दक्षिण तो गया, पर वहाँ की दशा देश के गद्दारों की ही नहीं; देश की पेटुओं की थी, उसे फिर उत्तर की ओर आना पड़ा। वर्ष बीत चले, इस प्रकार संग्राम करते हुए, न तो अंग्रेज विजय कर सके और न वह अपनी बाधाओं पर विजय पा सका, संग्राम चलता रहा। तात्या टोपे का आतंक योरप में फैल गया, उसकीवीरता की तारीफ की जाने लगी। पर देश में उसकी वीरता का मूल्य आँकनेवाला कोई नहीं था। ऐसे में जब ग्वालियर के मानसिंह ने आकर उससे कहा "मैं तुम्हारी सहायता करूँगा", तो उसने सादर स्वीकार कर लिया।

एक दिन युद्ध से श्रांत, दिन भर भागा भागा तात्या रात में अलवर के समीप के एक जंगल में सो रहा था, तभी मानसिंह ने जन-मन के उस देवता तात्या टोपे को अंग्रेजों के हवाले कर दिया। जब उसकी छाती पर बैठ कर कोई उसे हथकड़ियों से बाँधने चला, तब उस तात्या की आँखें खुलीं, उसने कुछ कहना चाहा, पर देखा यह तो छाती पर मानसिंह है और उसके साथी चारों ओर से घेरे खड़े हैं, मंत्र बल से बँधे हुए साँप की भाँति उसकी वाणी मौन हो गयी।

इसप्रकार जन-समुद्र की जो प्रलयंकर बाढ़ दो वर्ष पहले शुरू हुई थी, आज उसका अन्तिम वेग समाप्त हो गया। उसके सूखने के बाद उसकी संतानें बहुत निर्बल थीं और हिमालय की वे बेटियाँ अब दीन हो गयी थीं, उनके स्थानों पर अधिकांश नाले और नालियाँ बहने लगीं।

एक शताब्दी के भीतर ही जन-समुद्र में फिर बाढ़ आयी। अब की बार अंग्रेजों का सिंहासन डूब गया और हम आजाद हैं, लेकिन नदियों की घाटियों, जंगलों और पहाड़ों की गुफाओं में उस पिछले जनसमुद्र की करुण ध्वनि अब भी प्रतिध्वनित होती और पूछती है, "क्या आज भी इस देश में गद्दार बसते हैं?"—**'त्रिपथगा'**

हकीकत यह है कि आज देश का इतना नैतिक पतन हो गया कि समाज में कौन गद्दार अनाचारी और भ्रष्टाचारी नहीं है, यह कह सकना कठिन है। देश के प्रत्येक जनजन में यह रोग घर कर गया है, तब फिर क्या होगा इस देश का?

मानव जीवन की कविता

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

असंकल्पाज्जयेत् कामं, क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानपेक्षया लोभं भयं तत्वावमर्शनात् ।।

—भागवत, १५, २२

मनुष्य को धर्म-पथ से विचलित करनेवाली आदिम मनोवृत्तियों को कैसे जीता जा सकता है । इसमें विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि काम को असंकल्प से जीतने की बात कही गयी है, क्रोध को काम मूलक समझकर काम विवर्जन के द्वारा जीतने की बात बताई गई है, अर्थ में अनर्थ बुद्धि उत्पन्न करके उसे परास्त करने की बात सोची गयी है, लेकिन भय को दूर करने के लिए तत्व चिंतन की आवश्यकता बताई गयी है । सच बात तो यह है कि शास्त्रकारों की दृष्टि से 'भय'––मानस शत्रु का अस्तित्व बहुत गहराई में है । आधुनिक विज्ञान भी बताता है कि जीव के प्रथम दर्शन के साथ ही साथ 'भय' नामक वृत्ति का जन्म हो जाता है । वह आत्म-रक्षा का आवश्यक अस्त्र है । जीव तत्व में सबसे प्रमुख वृत्ति जिजीविषा की है । जिजीविषा अर्थात् जीवित रहने की, बचे रहने की इच्छा । इस इच्छा का प्रकाश दो रूपों में होता है:—(१) अपने को समस्त विध्वंसक तत्वों से बचा रखना, और (२) संतान प्रवाह के रूप में अपने-आप को चिर काल तक जीवित रखने का प्रयास । आत्म-रक्षा के लिए लोभ और क्रोध की भी आवश्यकता है; क्योंकि लोभ के द्वारा अपनी पुष्टि के साधन जुटाए जाते हैं और क्रोध के द्वारा भीतिजनक तत्वों का विध्वंस किया जाता है । लोभ अर्थ संचय की ओर प्रवृत्त करता है और क्रोध अनर्थ निश्चय की ओर । पर इन दोनों ही के मूल में अपने-आपके उच्छेद का भय है । यदि आधुनिक मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त को सर्वात्मना स्वीकार किया जाए, तो मानना पड़ेगा कि जीव की ये सहजात प्रवृत्तियाँ हैं । काम का स्थान मुख्य है, भय का दूसरा है और शास्त्र में बताए हुए अन्य शत्रुओं के स्थान बाद में आते हैं । जीवित रहने की प्रवृत्ति शास्त्रकारों ने षट रिपुओं में काम, भय और लोभ को मुख्य स्थान दिया है यद्यपि काम उनमें मुख्य है । व्यापक अर्थों में भय भी काम का ही परिणाम है, क्योंकि जिजीविषा या जीते रहने की इच्छा एक प्रकार का काम ही है और भय उसका साधन मात्र है । मनुष्य डर कर आत्म-रक्षा करना चाहता है, अर्थात् वह चाहता है । यह "चाहना" ही काम है । इस सहजात वृत्ति से जीवमात्र बँधा हुआ है । लोभ, मोह इत्यादि इसीके परिणाम हैं । परन्तु व्यावहारिक जीवन में काम, भय और लोभ को मनुष्य के समस्त स्खलन, पतन का कारण बनते देखा गया है, जिसे संत लोग धर्म कहते हैं उसके मार्ग में ये वृत्तियाँ प्रधान रूप से बाधक हैं । परन्तु, ये तीनों ही जीवमात्र की प्रबल वृत्ति जिजीविषा ही के परिणाम हैं । इसीलिए, व्यासने "भारत सावित्री" में कहा है कि काम, भय और लोभ से चालित होकर कभी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए । परन्तु, ये तीनों मनुष्य के जीवित रहने की सहजात प्रवृत्तियों के परिणाम हैं । इसीलिए, व्यास ने और भी स्पष्ट रूप से कहा है कि जीवित या जीवन के लिए भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए । क्योंकि धर्म नित्य सत्य है, सुख और दुःख अनित्य हैं और जीव नित्य है, किन्तु, उसके हेतु भूत सुख दुःखादि विषय अनित्य हैं :—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्यः ।।

जीवन की उलझनें

यदि वैज्ञानिक रहस्य को स्वीकार किया जाए, तो मानना पड़ेगा कि जीव अपने प्रादुर्भावकाल ही से काम पूरक है। यदि जीव अपने प्रादुर्भाव काल से ही कामात्मता से ग्रस्त है, तो फिर उपाय क्या है ? मनु भगवान ने इस बात को सोच कर मनुस्मृति में कहा था, "कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहात्यकामता।" अर्थात्, कामात्मता बुरी बात है, लेकिन, कठिनाई यह है कि इस दुनिया में काम विर्वजित भाव है भी नहीं। यह एक विचित्र उलझन है। यदि काम विर्वजित भाव नहीं है, तो भय और लोभ से छुटकारा भी नहीं है। लेकिन छुटकारा आवश्यक है। कैसे छूटा जाए ? संसार का इतिहास कहता है कि लोभ ने बड़े-बड़े विद्वानों को, तत्वचिंतकों को, मनीषियों को और संतों को पछाड़ दिया। भागवत में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है :—

पंडिता बहवो राजन् बहुज्ञा संशयच्छिदः।
सदसस्पतयो प्ये के असन्तोषात् पतत्यधः ।।

—भागवत, ७, १५, २१

अर्थात्, हे राजन् ! विविध विद्याओं के ज्ञाता, दूसरों के अनेक संशयों के उच्छेदक और अनेक सभाओं के सभापति अगणित पंडित असंतोष के कारण ही पतित हो चुके हैं। और प्रत्येक मनुष्य कभी-न-कभी यह अवश्य अनुभव करता है कि भय के कारण वह सच बोल नहीं सकता, धर्म मार्ग पर चल नहीं पाता, नामर्दी और कायरता का शिकार बन जाता है। इतिहास कहता है कि लोभ से मनुष्य पतित हो जाता है और अनुभव कहता है कि भय से आदमी बर्बाद हो जाता है और संसार के विकास के रहस्य को जाननेवाले कहते हैं कि लोभ मनुष्य के साथ-साथ पैदा होता है और भय भी साथ-साथ ही पैदा होता है। इसप्रकार एक तरफ कुआँ है, तो दूसरी तरफ खाई। क्या हम लोभ और भय से छुटकारा नहीं पा सकते ? यही सोचने की जरूरत पड़ती है। कोई दूसरा प्राणी नहीं सोचता, मनुष्य ही सोचता है। मनुष्य की यह विशेषता है कि उसे जीव धर्म से अलग-अलग नहीं किया जा सकता। जिसे वैज्ञानिक जीव धर्म कहते हैं, उसी के पेट से मनुष्य का यह विशेष धर्म भी निकला है। संक्षेप में इसको मानवता कहते हैं। वह संसार के इतर जीवों से भिन्न श्रेणी की है, किन्तु, मनुष्य का यह सहज धर्म है। भागवत का जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है और उसमें जो यह कहा गया है कि "तत्व चिंतन से मनुष्य भय को जीत सकता है", वह मानव धर्म है। मनुष्य का सहज धर्म है तत्व चिंतन। तत्व चिंतन के द्वारा ही हम इस उलझन से निकल सकते हैं। तत्व क्या है ? "तत्व" शब्द का शाब्दिक अर्थ न तत् का भाव। "तत्" अर्थात् "वह" जो मुझसे अलग है, भिन्न है, जो वस्तु हमसे पृथक् दिखायी देती है उसका स्वरूप क्या है ? और वह है क्या ? संतों ने अपने अनुभव से देखा है कि विकास की प्रक्रिया से संसार में जो नाना प्रकार की चीजें दिखाई देती हैं, वह वस्तुतः एक ही मूल सत्य का नाना रूपों में विकास है। सच्चे अर्थों में जो "मैं हूँ, वही "वह है", जो "मैं" हूँ वही "तुम" है। उपनिषदों में इसी को कहा है कि "जो वह है, वही तू है, वही मैं हूँ"—तत्वमसि, नेहनानास्ति किंचन।" यदि मनुष्य इस तत्व दर्शन तक पहुँचे, तो आत्म रक्षा और आत्म पोषण की बातें बिल्कुल बेकार और थोथी साबित हों। कौन किसे डरे, कौन किसे पाने की कोशिश करे। जिसे आत्म रक्षा कहा जाता है, वह असल में तत्व ज्ञान न होने का परिणाममात्र है। हम इस रहस्य को भूल जाते हैं, इसीलिए डरते हैं, इसीलिए लोभ करते हैं, इसीलिए विविध वस्तुओं को पाने की इच्छा करते हैं। क्रोध ही से हिंसा उत्पन्न होती है। गांधीजी ने अपने अन्तिम जीवन में अपनी यह भूल स्वीकार की थी कि हिन्दुस्तान में अंग्रजों से सत्ता प्राप्त करने की जो लड़ाई हुई, वह क्या

अहिंसक लड़ाई थी। वह कमजोरों और बुजदिलों की लड़ाई को अहिंसा की लड़ाई नहीं मानते थे। जो आध्यात्मिक दृष्टि से पंगु और अपाहिज हैं वे भय को जीत नहीं सकते, और जो भय को नहीं जीत सकता, वह अहिंसा और मैत्री पर विश्वास भी नहीं कर सकता। २४ दिसम्बर सन् १९४७ के अपने प्रार्थना प्रवचन में उन्होंने कहा था कि "दुनिया मानती है कि हिंदुस्तान ने अहिंसा और शांतिके जरिए आजादी ली है। अगर ऐसा ही होता, तो मुझे अच्छा लगता। मगर पंगु और नामर्दों से अहिंसा चल नहीं सकती। यह पंगुपन गूँगापन शारीरिक नहीं है। शरीर से पंगु बननेवाले तो ईश्वर की मदद से अहिंसा पर खड़े रह सकते हैं। एक बच्चा भी अहिंसा पर खड़ा रह सकता है, जैसे प्रह्लाद। ऐसा हुआ या नहीं, मैं नहीं जानता। पर कहानी बन गयी है कि प्रह्लाद ने अपने पिता से साफ कह दिया था कि मेरी कलम से राम के सिवा कुछ निकलेगा ही नहीं। मेरे सामने बारह वर्ष का बच्चा प्रह्लाद आज भी खड़ा है। मगर जो आदमी, आत्मा से' लूला है, पंगु है, अंधा है, वह अहिंसा को समझ नहीं सकता। अहिंसा का पालन कर नहीं सकता। मैंने गलती से यह सोच लिया था कि हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई अहिंसक लड़ाई थी। लेकिन, पिछली घटनाओं ने मेरी आँखें खोल दी हैं कि हमारी अहिंसा कमजोरों का मंद विरोध था। अगर हिन्दुस्तान के लोग सचमुच अहिंसा का पालन करते, तो वे इतनी हिंसा कभी नहीं करते।"

जो स्थिति है, जिसे पद-पद पर अपने आप से उच्छिन्न होने की आशंका है, वह भयार्त-जीव आध्यात्मिक रूप से पंगु और अपाहिज है। उससे सत्य और अहिंसा धर्म का पालन नहीं हो सकता। इसलिए, शास्त्रकारों ने 'भय' के निवारण के लिए 'तत्व चिंतन' को उपाय बतलाया है। भारतवर्ष में गांधीजी के भक्तों की कमी नहीं थी, उनको दैवी शक्ति सम्पन्न महात्मा माननेवाले भी कम नहीं थे, पर अधिकतर मानते उतना ही थे, जितने से उसका तात्कालिक लाभ दिखाई देता था। जरा सी मतलब से इधर-उधर की बातें उन्होंने कही नहीं कि लोगों ने कान बन्द किए। सोचा कि महात्मा लोग तो ऐसी बहकी-बहकी बातें कहते रहते हैं। वे सदा अव्यावहारिक होते हैं। लोगों ने तो उन्हें पत्र लिख-लिख कर पागल कहा। २८ दिसम्बर को महात्माजी ने अपनी प्रार्थना सभा में कहा था, "मैंने तो करोड़ों की आवाज उठायी। न उठाऊँ तो मेरी आवाज को कोई क्यों सुनें? जब मैं अपनी आवाज उठाता हूँ तब कौन सुनता है? मैं कहता हूँ कि मुसलमानों को दुश्मन मत मानो, तब लोग मुँह मोड़ लेते हैं। लोग कहते हैं कि यह क्या पागलपन करता है। मेरी ऐसी आवाज कोई नहीं सुनता। हाँ, मैं इतना तो जरूर कहूँगा कि जो करोड़ों लोग मेरी आवाज सुनते हैं, तो क्या वे अपने धर्म को हानि पहुँचाते हैं? लोगों को समझना चाहिए कि मैं जबहमेशा अच्छी बातें कहता हूँ, तब कभी बुरी बात क्यों कहूँगा? मैं गलत बात कहता ही नहीं। इसमें गलत बात क्या कहनी थी। जो मैं कहता हूँ कि धर्म की जड़ दया है, वह तो तुलसीदास का है। उससे कहो कि तू दीवाना है। लेकिन, उसकी रामायण जितनी चलती है, उतनी सारे हिन्दुस्तान में कोई दूसरी पुस्तक नहीं चलती। शायद ही दुनिया में इतनी कोई पुस्तक चलती होगी। वह ग्रन्थ केवल बिहार में चलता है या युक्तप्रान्त में चलता है, ऐसी बात नहीं है। वह सब जगह चलता है। मैंने तो उनका काम किया, उनकी आवाज उठायी है। इसमें मुझको पागल कहने की क्या बात है।"

प्रवृत्तियों से आक्रान्त

सब से बड़ी कठिनाई यह है कि साधारण मनुष्य प्रवृत्तियों से बुरी तरह आक्रान्त है। वह तत्व चिंतन के रास्ते जा नहीं पाता। उस का जड़ग्राही पशुत्व प्रबल हो उठता है और चिदाश्रयी मनुष्य परास्त हो जाता है। क्या किया जाए। जड़ का आकर्षण बड़ा प्रबल होता है। पर मनुष्य हार कर भी नहीं हारता। कहीं कोई बड़ी शक्ति है, कि उसे उठा देती है। ऐसा न होता तो मनुष्य कब का समाप्त हो गया होता। सब भटक जाते हैं, फिर भी मनुष्य धर्म बचा रहता है। आदमी आग से डरता है, जल जाने की आशंका होती है और इस आशंका में मृत्यु का हो जाना भी निश्चित रहता है, लेकिन, आदमी कीचड़ से भी डरता है, विशेषकर

उस अवस्था में जिस समय साफ कपड़े पहने हो। गन्दगी से बच कर पवित्र रहना मनुष्य का स्वभाव है। सामाजिक जीवन में भी हम दो प्रकार के भय से ग्रस्त होते हैं। एक तो ऐसा भय, जिसमें विनष्ट हो जाने की आशंका हो, और एक ऐसा भय, जिसमें यश या कीर्ति के धूमिल होने की आशंका है। कई बार मनुष्य मृत्यु-भय को बर्दाश्त कर लेता है, लेकिन, यश के दूषित होने की आशंका को नहीं सह सकता। सामाजिक जटिलताओं में कभी-कभी शुद्धशील व्यक्ति को कलंकित होते देखा गया है। शूद्रक के "मृच्छकटिक" नाटक का नायक चारुदत्त धर्म भीरु था, परन्तु उसे स्त्री हत्या के अपराध में अदालत से मृत्यु दंड सुनना पड़ा। चारुदत्त के मुंह से कवि ने सभ्य और सुसंस्कृत मनुष्य की मनोकामनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया है :—

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्र जन्म समंचिद्॥

मैं मृत्यु के भय से नहीं डरता। मुझे इसी बात का अफसोस है कि मेरा यश धूमिल हो जाएगा। यदि मैं लोक दृष्टि में विशुद्ध माना जाता, तो उस अवस्था की मृत्यु मेरे लिए पुत्र-जन्म जैसी आनन्दकर होती। "गांधीजी के सेवा-क्षेत्र में आने के पूर्व इतिहास और पुराण में ऐसी घटनाएँ प्राप्त होती हैं, जहाँ साहसी लोगों ने लोक-निन्दा के भय को भी अमान्य किया है। परन्तु, गांधीजी ने सब प्रकार के भय से मुक्त होने का मंत्र दिया है। प्रचलित कानून के अनुसार अदालत द्वारा दंडित होना पहले बड़ा भारी कलंक माना जाता था। साधारण मनुष्य इस कलंक से उद्धार पाने के लिए ऐसे अनेक प्रयत्न करता था, जो ईमानदारी और सच्चाई से नहीं, बल्कि सिर्फ आत्म-रक्षा के भाव से ही चालित होते थे। गांधीजी ने सारे देश को वह नैतिक शक्ति दी, जिसे पाकर लोगों ने उचित कार्य के लिए कानून द्वारा लांछित होने को श्रेयस्कर समझा। जहाँ उद्देश्य साधु हो, लक्ष्य लोक-हित हो, परिणाम दीनता और परमुखापेक्षिता से मुक्ति हो, वहाँ प्रचलित कानूनों का विरोध किया जा सकता है, वहाँ स्वेच्छा से सब प्रकार की यातनाओं का वरण किया जा सकता है। परन्तु, गांधीजी ने एक बड़ी भारी शर्त लगा दी। कष्ट पानेवाले के चित्त में विरोधी के प्रति घृणा का भाव नहीं होना चाहिए। यदि विरोधी को मोह और जड़ता से उबारा जा सके, तो सभी कष्ट चरितार्थ होते हैं। यह बहुत बड़ी शक्ति है। गांधीजी के ऊपर अपार श्रद्धा होने के कारण विदेशी सत्ता से संघर्ष के समय लोगों ने उनकी आज्ञाओं का पालन किया। कुछ लोगों ने युद्ध नीति के रूप में, अन्य उपाय के अभाव में और कुछ थोड़े से लोगों ने सच्चे हृदय से इस शर्त का पालन किया। अवस्था बदलते ही अधिकांश की व्यवस्था भी बदल गयी। इसीलिए, गांधीजी को कहना पड़ा कि "मैंने जो सोचा था कि भारतवर्ष अहिंसा की लड़ाई लड़ रहा है, वह ठीक नहीं था।" लेकिन, इससे एक बात साधारण व्यक्ति की समझ में आ जाती है कि श्रद्धा और भक्ति से ऐसी बहुत सी बातें हो सकती हैं, जो साधारणतः असम्भव मानी जाती हैं। इसीलिए सभी संतों और शास्त्रों ने भगवान की श्रद्धा भक्ति का उपदेश दिया है। हमने संघर्ष के दिनों में गांधीजी पर अर्थात् भगवान के अनन्य भक्त पर अपार श्रद्धा रखी थी, जो भगवान पर श्रद्धा रखने के बराबर ही थी। लेकिन, हमारी श्रद्धा ऐकांतिक नहीं थी। गांधीजी ने अपने महा प्रयाण के नौ दिन पहले अपनी प्रार्थना सभा में कहा था कि "इस जगत् में पाप कभी अपने-आप रह नहीं सकता, वह किसी के सहारे ही टिक सकता है। सिर्फ भगवान और उनके भक्त ही अपने सहारे रह सकते हैं। इसीमें से हमारा 'असहयोग' निकाला। अहिंसात्मक असहयोग यहाँ भी ठीक है। आप भगवान का नाम लेते हैं, कोई पुलिस भी मदद पर न आए, गोलियाँ चलती रहें, फिर भी मैं राम नाम लेता रहूँ और आपसे लिवाता रहूँ, तभी मैं धन्यवाद के लायक हूँ।" ईश्वर पर भरोसा करनेवाला आदमी विपत्तियों से नहीं डरता। विपत्ति वह नहीं है, जिसे दुनिया में साधारणतः सुख-दुःख या यातना कहा जाता है। असली विपत्ति वह है जब मनुष्य का भगवान पर से विश्वास हिल जाता है। रामचरित मानस में तुलसीदास ने एक बड़े सुन्दर प्रसंग के अवतरण दिए हैं। जब हनुमान लंका से लौट कर आए, तब उन्होंने भगवान रामचन्द्र



कलकत्ते के दमदम हवाई अड्डे पर विदेश से लौटने पर
श्री जगजीवनराम जी का स्वागत



रेलवे बोर्ड के अधिवेशन में रेलवे बोर्ड के सदस्य और अधिकारी (बायीं ओर से बैठे हुए छठी संख्या में)
श्री जगजीवनराम रेलवे मन्त्री और प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू

से सीताजी की अवस्था का वर्णन किया। उन्होंने बताया कि सीता दिन-रात राम नाम ही का जप किया करती हैं और बड़े कष्टों में हैं। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि "सीता के अति विपति विशाला, बिनही कहे भल दीन दयाला।" भगवान राम ने सुना, तो आँखों में आँसू आ गए--"सुनि सीता दुःख प्रभु सुख ऐना, भरि आए जल राजिब नैना।" फिर उन्होंने बड़े प्रेम से हनुमान से पूछा, "कहो हनुमान, मन से, कर्म से और वचन से जिसने मेरी ही टेक धारण की हो उस व्यक्ति पर कभी विपत्ति आनी चाहिए ?" रामचन्द्रजी ने बड़े दुःख से यह वाक्य कहा। साधारण मनुष्य होता, तो समझता कि श्रीराम अपनी असमर्थता की बात कह रह हैं, परन्तु, हनुमान परम भक्त थ, उन्होंने अपनी गलती महसूस की। कैसी परस्पर विरुद्ध बातें कह दी थीं उन्होंने। जो मनुष्य भगवान पर दृढ़ भाव से भरोसा किए हुए है, उसे क्या विपति सता सकती है। सीता के लिए विपत्ति तब थी, जब वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाती। भगवान पर से उनका भरोसा उठ जाता। परन्तु, ऐसा हुआ तो नहीं, फिर भी हनुमान ने कातर भाव से कह दिया, "सीता के अति विपति विशाला" जब भगवान ने उलट कर उनसे प्रश्न किया कि "सपनेहु विपत्ति की बूझिय ताही" तब उन्होंने बात समझी, और फिर ठीक ढंग से कहा, "कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई, जब तब सुमिरन भजन न होई।" गांधीजी ने यही बात अपने ढंग से कितनी ही बार कही। वह राम पर भरोसा रखते थे और राम की आवाज पहचानते थे। अपनी अन्तिम प्रार्थना सभा में उन्होंने कहा था कि, "मैं किसी के कहने से कैसे भाग सकता हूँ, किसी के कहने से मैं खिदमतगार नहीं बना हूँ, किसी के कहने से मैं मिट भी नहीं सकता हूँ। ईश्वर के चाहने से जो मैं हूँ, बना हूँ, ईश्वर को जो करना होगा, सो होगा। ईश्वर चाहे तो मुझे मार सकता है। मैं समझता हूँ कि मैं ईश्वर की बात मानता हूँ।"

महात्माजी का यह अन्तिम उपदेश बहुत महत्वपूर्ण है। भगवान पर उनके अखंड विश्वास का यह दृढ़ उद्घोष है और साधारण मनुष्य के लिए यह उनका दृढ़ कंठ से दिया हुआ परम मंत्र है। यह समस्त जीवन के तत्व चिंतन का सार है। विपत्ति, कष्ट, मृत्यु और लोक निंदा से आदि सब प्रकार के भयों से मुक्ति पाने का अमोघ शस्त्र है। यह 'मत डरो' का सब से उत्तम सब से सरल और सब से अमोघ मंत्र है। साधारण मनुष्यों के लिए उनका यह उपदेश अत्यन्त उपादेय है। हम जब किसी प्रकार के भय या आशंका से विचलित होते हैं, तब उसका मतलब होता है कि हमने भगवान का भरोसा छोड़ दिया जो भगवान का भरोसा नहीं छोड़ता, वह डरता भी नहीं। गांधीजी ने कहा है, "राम पर भरोसा रखो, डरो मत।" समस्त विपत्तियाँ, सारी यातनाएँ और सारी लांछनाएँ भगवान को समर्पित होकर धन्य हो जाती हैं। जो प्रभु का भक्त है, वह किसी का शत्रु नहीं। यातनाएँ और विपत्तियाँ उसके लिए फूल की सेज बन जाती हे। लांछनाएँ और भर्त्सनाएँ उसके गले का हार सिद्ध होती हैं। ऐसे भक्त के लिए जब दुःख आता है तब वह उसमें भी भगवान का दर्शन पाता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाया है कि "तुम दुःख के रूप में आए हो, इसलिए मैं तुम से डर नहीं जाऊँगा। जहाँ व्यथा है, वहीं तो तुम हो, वहीं तुम्हें कसकर पकडूंगा।"

दुखर बेशे एसेछो बले
तोमारे नाहि डरिब हे!
येथाय व्यथा सेथा तोमारे
निविड़ करे धरिब बे।।

★★

एकांकी अभिनय-



श्री शिवप्रसन्नदास

निद्राति, स्नाति, मुंक्ते, चलति, कचमरं शोषयत्यन्तरास्ते
दीव्यत्यक्षैः, न चायं गदितुमवसरो, भूयमायाहि, याहि
इत्युद्दन्डैः प्रभुणामसकृतधिकृतैः वारितान् द्वारदीना
नस्मान् पश्याब्धिकन्ये करसिजरुहैरन्तरंगैः कटाक्षैः ।।

एक गरीब लक्ष्मी से कहता है कि, "हे, अविधकन्ये ! तुम अपने अन्तरंग कटाक्ष से हमारी ओर देख दो, तो हमारा दुःख दारिद्रय दूर हो जाए। जब हम अमीर लोगों की ड्योढ़ी पर जाते हैं, तो उन नृशंस पूँजी-पतियों के उद्दंड पहरेदार यह कह कर दुरियाय देते हैं कि मालिक इस समय सो रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, भोजन पर बैठे हैं, बाहर गए हैं, बाल सँवार रहे हैं, जनाने में हैं, चौसर खेल रहे हैं, इस समय उनसे कुछ कहने का अवसर नहीं है, फिर आना, अभी जाओ।"

अब अवज्ञा सहन नहीं होती।"

कादम्बरी में लिखा है :—

"इयं हि सुभटखंगमन्डलोत्पलवनवि भ्रमभ्रमरी लक्ष्मीः
क्षीर सागरात् पारिजातपल्लवेभ्यो रागम्, इन्दुशकलादे
कान्तवक्रताम्, उच्चैः श्रवसश्चंचलताम्, कालकूटान्मोहन
शक्तिंम्अविराया मवम्, कौस्तुभमणेरतिनैष्ठुर्य्यम् इत्येतानि
सहवासपरिचय वशाद्विवरहविनोद चिह्नानि गृहीत्वेवोद् गता ।।"

अर्थात् यह लक्ष्मी रणभूमि-रूपी उद्यान की भ्रमरी है, जरा इसके साथियों को देखो, समुद्र मंथन के समय जब यह बाहर आयी तो अपने साथ अपना परिचय देती हुई आयी। पारिजात के पल्लवों से इसने तमतमाहट ली, चन्द्रमा से टेढ़ापन, उच्चैःश्रवा घोड़े से चंचलता, कालकूट से बेसुध कर देने की शक्ति, मदिरा से मद, कौस्तुभ मणि से अत्यधिक निठुरता ली। इससे सदा सजग रहना।

प्रथम अंक

दृश्य पहला

स्थान—जमींदार ठाकुर करणसिंह का बैठकखाना।

करणसिंह मसनद के सहारे बैठा है, हुक्के की नली उसके मुँह में है। मुंशी सम्पत एक ओर बैठे हुए खाता बही उलट रहे हैं। दमरी को लेकर एक ओर रघुवीर सिंह का प्रवेश, ठाकुर की नजर उसकी ओर जाती है, नली मुंह से निकाल कर पूछता है।

जमींदार—कौन, दमरी ? आ गया। बहुत अच्छा हुआ। देख मैंने तुम्हें इसीलिए बुलाया है कि तू अब बूढ़ा हो चुका है, मगर अभी तक तुझसे मेरा कर्ज वसूल न हो सका। तेरे बुढ़ापेका क्या भरोसा। इसीलिए मेरा ख्याल है, कि तू अपनी धरती इस कर्जमें लिख दे तो कर्ज के पाप से मुक्त हो जाए और मेरा कर्ज भी वसूल हो जाए। बोल, तेरी क्या रायहै ?

मुंशी—जो चश्मे को एक इंच नीचे करके लगाए हैं, हाँ, भाई दमरी, छोटे सरकार जो कुछ कहते हैं, ठीक ही तो कहते हैं। कर्ज का पाप बहुत बड़ा पाप होता है। सात जन्म तक पीछा नहीं छोड़ता। अगर सरकार की बात मान लो तो भगवान कसम सब ठीक हो जाए।

दमरी—सरकार ! हमने बचपन से लेकर बुढ़ापे के छोर पर पहुँच कर भी आप का वचन कभी नहीं टाला। आध पेट खाकर कम मजदूरी में तथा भूखा रह कर, चिलचिलाती धूप में कड़ाके की सरदी तथा घोर वर्षा में, इस शरीर को असह्य दुःख देकर आपकी तावेदारी की है। आपका हुक्म हमेशा सर माथे पर रहा। सरकार, हमारे माई-बाप हैं, जो कुछ भी कहें, हमें मंजूर है। मेरे पास यही एक बीवा धरती है। सरकार, जिसे बड़ी मुश्किलों से बचा रखा है। यही बुढ़ापे का सहारा है। यदि आप इसे भी ले लेंगे तो मेरा इस दुनिया में कोई ठिकाना नहीं रह जाएगा। सरकार, गिर पड़ता है।

जमींदार—हाँ, यह तो ठीक है, लेकिन तुम ही बताओ कि कर्ज भी तो कम नहीं है। मैं जो कुछ भी कहता हूँ तुम्हारी भलाई के लिए कहता हूँ। क्यों मुंशीजी ?

मुंशी—हाँ, सरकार, आप जो कुछ भी कहते हैं, बिल्कुल ठीक है। आखिर कर्ज भी तो कम नहीं है। ४२२ रुपये मूलधन ही है। अभी उसका ब्याज तो जोड़ना बाकी है।

दमरी—आश्चर्य, क्या कहा ४२२ रुपए ! नहीं, नहीं इतना कभी नहीं हो सकता ! मैंने कर्ज जो लिया था उसका पैसा-पैसा चुका दिया है।

मुंशी—लेकिन खाते में तो इतना ही निकलता है, दमरी।

दमरी—तुम्हारे खाते में जो भी निकले, मैं नाजायज एक पैसा भी नहीं दे सकता, चलने लगता है। दूसरी ओर मुड़ कर, हे भगवन ! क्या दुनिया में हम गरीबों का कोई सहारा नहीं। सारी जिन्दगी हड्डी घिसने का क्या यही फल है कि बुढ़ापे की आखिरी मंजिल पर पहुँच कर कर्ज की चिन्ता से मरते वक्त भी फुर्सत न मिले। कहाँ हो भगवान ! इन जालिमों के जुल्म से ही गरीबों का कब छुटकारा होगा ? (जाने लगता है।)

जमींदार—भगवान के बच्चे तू जाता कहाँ है ? ठहर। मैंने जो तुझसे पूछा वह मंजूर है कि नहीं ? साफ-साफ जवाब दिए जा।

दमरी—ठाकुर तुमने जीवन भर हमें पीस कर मारा। अब जवाब किस बात का माँगते हो ? मुझसे भला यह कैसे हो सकता है ? मैं अपनी धरती को, जो मेरे जीवन की कमाई है, तुम्हारे हवाले कर दूं ? जमींन मेरी जान से भी प्यारी है। मैं भला यह कैसे दे दूं ? और हाँ, अभी मेरा बेटा भी तो जिन्दा है।

ठाकुर—तब तू सीधे नहीं सुनेगा ? मुंशीजी। कौन है इसका बेटा ? उसे मेरे सामने हाजिर करो। मैं इन सब का होश ठिकाने लगा कर ही छोड़ूंगा। नीच जात, चला है मुझसे अकड़ने

मुंशी—जैसी आज्ञा सरकार की।

पटाक्षेप

दृश्य दूसरा

स्थान---किसान हरिजनों की बस्ती।

समय---शाम का, गोधूलि।

थके माँदे हरिजन काम से लौट कर बस्ती में दमरी के घर के सामने गाने बजाने में व्यस्त होकर अपने दुःखी जीवन को कुछ समय के लिए भूल से गए हैं। इतने में मुंशी सम्पत का एक ओर से प्रवेश करना।

गीत

दुख में गरीबों की सुने कौन बिनती,
धनवानों को है क्या पता, हम पर है क्या गुजरती।
ओ सूरज चाँद उगाने वाले, हमारा एक सहारा तू ही।
भगवान हमारा तू ही ॥१॥

जीवन की लहरों पर तूफान भी क्या कम है,
सितम सहना सीखा है, मगर फरियाद कहाँ है।
ओ सूरज चाँद उगाने वाले, हमारा एक सहारा तू ही।
भगवान हमारा तू ही ॥२॥

न रहने का ठिकाना है, न पेट में दाने,
फिर भी लोग देखो, हमें दे रहे हैं आज ताने।
ओ सूरज चाँद उगाने वाले, हमारा एक सहारा तू ही।
भगवान हमारा तू ही ॥३॥

मुंशी---अरे, यहाँ दमरी का बेटा सोहन है? कोई उत्तर नहीं, अरे तुम सब बोलते क्यों नहीं, यहाँ दमरी का बेटा सोहन है?

सोहन---क्या बात है? मैं हूँ दमरी का बेटा सोहन।

मुंशी---तो तेरा नाम है सोहन?

सोहन---एकदम मुंशी के करीब जाकर, हाँ, हाँ मेरा नाम सोहन है।

मुंशी---तो जरा हट कर बातें कर। मालूम होता है जैसे मेरे सर पर चढ़ जाएगा। आखिर तुझे छोटे बड़े का तो कुछ खयाल होना चाहिए।

सोहन---हा, हा, हा, छोटा और बड़ा। तेरे जैसे सूदखोर, हाँ में हाँ मिलानेवाले और जहाँ एक पैसा कर्ज नहीं, वहाँ ४२२ रुपए लिखनेवाले एक बेईमान आदमी को कौन बड़ा मानता है। क्या तू अपने बड़े होने का सपना देखता है?

मुंशी---अरे बदतमीज? जरा होश से बातें कर। क्या तू मुझे पहचानता नहीं, मैं कौन हूँ? तुम्हारी खाल उड़वा लूंगा, खाल। मैं भगवान की कसम खाकर कहता हूँ। तू जानता नहीं कि मैं असली ब्राह्मण हूँ?

सोहन---जरा ब्राह्मण की सूरत तो देखो। टुकड़े पर जीनेवाले मुंशी ब्राह्मण और क्षत्रिय के घमण्ड में चूर हो कर अन्धे न बनो। जरा सोच लो, तुम और तुम्हारे ठाकुर ने झूठे कर्ज का बोझ

लाद करके, बेइमानी से हम लोगों की तमाम धरती हड़प ली है। मगर अब तुम्हारी चालाकी हमारे सामने नहीं चल सकती। नीच, काम करे शैतान का और नाम ले भगवान का। तुम्हें शर्म नहीं आती? जा हमारी आँख के सामने से चला जा, इसी में तेरी खैरियत है।

मुंशी—जरा होश से बातें कर। क्या तू मौत को भूल गया। दूर हट, तेरे छूने से मेरा शरीर नापाक हो जाएगा।

सोहन—मौत की धमकी देनेवाले मुंशी, वह दिन भूल जा जब कि तुम लोगों ने हम गरीब हरिजनों की जिन्दगी से खुल कर खिलवाड़ किया था, जिनकी पुरजोर मेहनत की बदौलत तुम लोग तरह-तरह की मौज उड़ाते हो। और हमें गरीब समझ कर अछूत करार दिया है। युगों से अस्पृश्य बना कर तुम लोगों ने हमें सभी अधिकारों से अलग रखा है। मन्दिरों में जाना मना है, कुएँ और घाटों पर जाने का कोई अधिकार नहीं है। क्या यही तुम्हारे ऊँचेपन की निशानी है और मानवता का रूप है, जिस पर तुम इतना घमण्ड करते हो?

मुंशी—खामोश, छोटी जात और बड़ी बात अच्छी नहीं लगती। तुम्हारे जैसे एक नीच के बकने से हमारा कुछ नहीं बिगड़ सकता। ऊँच-ऊंच और नीच-नीच ही रहेंगे। और यह भी सुन ले, यदि इस अपमान का बदला मैंने नहीं लिया तो मेरा नाम मुंशी सम्पत नहीं! याद रखना।

कुछ मजदूर—अरे ये मुंशी आए, बड़े याद दिलानेवाले, तुम्हारे जैसे. . . . .

दृश्य तीसरा

स्थान—ठाकुर का बैठकखाना।

समय—सायंकाल का।

जमींदार अपने साथियों के साथ बैठा है। नशे में चूर है। नर्तकी नृत्य से जमींदार को बहलाने की चेष्टा करती है। और प्रहरी आदि सभी मस्त हैं।

मुंशी—सरकार! सरकार! जुल्म हो गया सरकार!

जमींदार—अरे, जुल्म के बच्चे कुछ कहेगा भी, क्या जुल्म हो गया?

मुंशी—सरकार आज जब मैं इन्द्र नगर पहुँचा तो क्या देखता हूँ कि सोहन कुछ किसानों के बीच खड़ा होकर लेक्चर दे रहा है। मैंने जब पूछा, सोहन कहाँ है? तो सरकार भगवान की कसम खाकर कहता हूँ, मेरा जो अपमान किया, अगर मैं वहाँ से पाँव दबाकर नहीं भागता तो न जाने मेरा क्या हाल करता सरकार! कुछ न पूछिए, कुछ न. . . .

जमींदार—लड़खड़ाती जबान में कौन? दमरी का बेटा सोहन? और तुम्हारा अपमान हरगिज नहीं, यह तुम्हारा नहीं मेरा अपमान है। रघुवीरसिंह जाओ तुम इसी समय इन्द्र नगर जाओ और उस पाजी सोहन को इसी वक्त हाजिर करो। मैं उसकी लीडरी का तमाम नशा सर से न उतार दूँ तो मेरा नाम ठाकुर करणसिंह नहीं।

रघुवीर सिंह—जैसी आज्ञा सरकार की। मैं आज ही इन्द्र नगर जाता हूँ।

(रघुवीर सिंह का प्रस्थान)

पटाक्षेप

दृश्य चौथा

स्थान––मन्दिर।

समय––प्रातःकाल।

पुजारी पूजा करता है। साथ में दूसरा पुजारी है। एक ओर कुछ भक्त खड़े हैं, दूसरी ओर एक बुढ़िया माथा टेक कर बैठी है। सामने थाली में पूजा का सामान रखा है।

पंडित––थाली में प्रसाद लिए हुए बम-बम करते निकलता है। लो, बच्चो प्रसाद लो। सभी प्रसाद लेकर सिर झुकाते हैं। पंडित आगे बढ़ कर मनोहर सेठ की लड़की छमिया को भी प्रसाद देने लगता है। क्यों री छमिया, मनोहर सेठ तो अच्छे हैं न? तुझे भी प्रसाद चाहिए न? ले। थाल से प्रायः अधिकांश प्रसाद दे डालता है, अच्छा अब निकाल दक्षिणा......छमिया पैसे देती है, पंडित हाथ पकड़ता है, छमिया हाथ छुड़ा कर थप्पड़ उठाती है, इतने में पंडित कहता है अरी बुरा क्यों मान गयी री? अच्छा कल आएगी। हाँ, जरूर आएगी न––इतना कह कर पंडित आगे बढ़ता है कि एक वृद्धा हरिजन महिला को पूजा के ध्यान में मग्न देखता है, देखते ही थाल में ठोकर मार कर फेंक देता है और चिल्लाने लगता है––घोर अन्याय, भला शिव मन्दिर के प्रांगण में अछूत का प्रवेश! जय भोले शंकर कहाँ आँखें बन्द किए बैठे हो।

अछूत महिला––पंडितजी महाराज! मुझे भी प्रसाद दीजिए।

पंडित––नीच, अछूत होकर तू मन्दिर में चढ़ आयी और अब प्रसाद माँगती है? दूर हो चाण्डालिन कहीं की।

अछूत महिला––पंडितजी तनिक भगवान का परसाद दे दो।

पंडितजी––दूर हट, जाती है कि नहीं, प्रसाद क्या तेरे जैसी छोटी जाति के लिए है?

अछूत महिला––पंडितजी, हम भी तो भगवान के ही बनाए मनुष्य हैं। भगवान का प्रसाद क्या हम लोगों को नहीं खाना चाहिए?

पंडित––मनुष्य की बच्ची, तू मुँह बन्द करती है कि मारे थप्पड़ के......हाथ उठाता है।

अछूत महिला––पंडितजी, खबरदार! हमें छूना नहीं। हम गरीब हैं, लेकिन आपके जैसे नीच नहीं। पंडित होकर मन्दिर में आई लड़कियों व बहनों पर बुरी निगाह डालते हो और भगवान के नाम पर ढोंग रचते हो। तुम्हारे जैसे नीच पुजारियों से हमें भी घृणा है। याद रखो पंडित, तुम्हारे अत्याचार और जुल्म के कारण इन गरीबों की आह से कहीं ऐसा न हो कि इस पवित्र हिन्दू धर्म का नाश हो जाए। हे भगवन! तुम कहाँ हो? इन जालिमों के जुल्म से कब हम गरीबों का छुटकारा होगा?

पंडित––भगवान की बच्ची, तू जाती है कि नहीं? दूर हो इस पवित्र स्थान से। हे भोले शंकर सत्यानाश कर दो इन सब का।

अछूत महिला––बुला, और जोर से बुला भोले शंकर को। शंकर जैसे तुम पंडितों के खरीदे हैं।

पंडित––मैं...मैं अभी ठाकुर के दरबार में जाकर कहता हूँ कि तुम सब ने शिव मन्दिर को अपवित्र कर दिया है। जाने लगता है।

अछूत महिला—हे दीनबन्धु भगवन ! कहाँ हो ? इस भारत भूमि पर क्या अनर्थ हो रहा है। तुम्हारे मन्दिर में भी मनुष्य से घृणा करे ? हे भगवन ! कोटि-कोटि दीनों पर अब दया दृष्टि डालो। हे भगवन !

पटाक्षेप

दृश्य पाँचवाँ

स्थान—कुआँ।

समय—प्रातःकाल।

बहुत से लोग पानी लेने के लिए खड़े हैं। दो पंडित पानी लेते हुए।

पहला हरिजन—पंडितजी ! हमहूँ के एक घड़ा, पंडितजी।

दूसरा हरिजन—महाराज हम कब से खड़ा हई, पंडितजी।

बच्चा—पंडितजी मेरी बुढ़िया माँ कब से प्यासी है। उसे बुखार है।

पहला पंडित—चल रे हट, आया है बुढ़िया माँ वाला ! जा, जा, जाता है कि नहीं ?

दूसरा पंडित—मैं तेरे बाप का नौकर हूँ, जो तुझे पानी दे दूँ ?

बच्चा—नौकर कौन बोलता है, पंडितजी, हम प्यासे हैं। पानी दे दो।

पहला हरिजन—घड़ा उठा कर रखता है, पंडितजी एक घड़ा दे दो।

पहला पंडित—अरे रे रे ! शैतान तू तो कुआँ ही छू देना चाहता है क्या रे ? देखता नहीं। तू हटेगा कि नहीं ?

दूसरा पंडित—तू दूर हटता कि नहीं ?

दूसरा हरिजन—महाराज ! हम लोग दो घंटे से खड़ा हई।

दूसरा पंडित—खड़ा है, तो क्या मेरे लिए खड़ा है ?

(चन्द्रा का प्रवेश)

चन्द्रा—क्या बात है, पंडितजी ?

पहला पंडित—कौन चन्द्रा बिटिया ? अरे देखो न छोटी मालकिन। ये सब अछूत होकर कुएँ के घाट पर आते हैं पानी के लिए।

दूसरा पंडित—अरे हाँ बेटी देखो न ! लगता है जैसे इन सब के बाप के हम नौकर हैं।

चन्द्रा—इनके बाप के नौकर नहीं तो इनके नौकर होकर दे दीजिए न पानी, क्या नुकसान हो जाएगा ?

पहला पंडित—अरे तुम भला क्या कहती हो, मालकिन ! नुकसान नहीं होगा ? कुआँ छू जाएगा, यह क्या कम नुकसान है ?

चन्द्रा—कुआँ छू जाएगा तो क्या पानी काला हो जाएगा ? या आपकी देह में कोई दाग लग जाएगा ?

दूसरा पंडित—अरे तुम्हारा दिमाग तो खराब नहीं हो गया है ?

चन्द्रा—हाँ, मेरा दिमाग एकदम खराब हो गया है। कह कर बालटा उठाती है और सब को पानी देने लगती है। ऐ बच्चे ! लाओ बाल्टी, पानी लो, बच्चा पानी लेता है, चन्द्रा पंडितों की ओर देख कर, पंडितजी ये लोग मनुष्य हैं। इन्हीं की मजदूरी का फल है कि पाताल

से पानी निकला है। इनको क्या चुल्लू भर पानी लेने का अधिकार नहीं है ? जब ये गरीब खून पसीना एक करके मिट्टी खोद कर पानी निकालते हैं तब तो तुम्हारे धर्म की क्षति नहीं होती है। आज ये पीने के लिए पानी माँगते हैं तो तुम्हारा धर्म डूब जाता है। धिक्कार है, तुम्हारे इस धर्म के विधान को।

पंडित—मैं अभी जाकर ठाकुर से कहता हूँ कि तूने हरिजनों को पानी दिया है।

चन्द्रा—जाओ, जाकर कह दो चाचा से कि मैंने अछूतों को पानी दिया है।

पंडित—हे भोले शंकर, अन्धेर हो गया........

चन्द्रा—हा, हा, हा, बुलाओ, जोर से बुलाओ अपने भोले शंकर को।

पटाक्षेप

दृश्य छठा

स्थान—दमरी का घर।

समय—दिन के दस बजे।

दमरी खाट पर अस्वस्थ पड़ा है, खाट के एक किनारे पर सोहन बैठा है। पिता का सिर सहला रहा है, इतने में बाहर से पुकारने की आवाज आती है।

रघुवीर सिंह—ओ दमरी। अरे दमरी, क्या है। बोलता क्यों नहीं। तेरे बेटे को ठाकुर ने बुलाया है। सुनता है कि नहीं ?

सोहन—बाहर निकल कर क्या बात है, ठाकुर ने क्यों बुलाया है ?

रघुवीर सिंह—यह सब मुझे मालूम नहीं। ठाकुर ने बुलाया है, तुम्हें जाना होगा।

सोहन—लेकिन मेरे पिताजी सख्त बीमार हैं। उनकी हालत इतनी खराब है कि मैं उन्हें छोड़ कर दवा लेने भी नहीं जा सकता, मैं ठाकुर के बुलावे पर कैसे जाऊँ ?

रघुवीर सिंह—बेकार की बकवास बन्द कर। चलना है तो सीधे चल, नहीं तो मुझे सख्ती से काम लेना पड़ेगा।

सोहन—लेकिन मेरे पिताजी की हालत बड़ी नाजुक है, वे कहीं......इतने में खाँसने की आवाज आती है। सोहन दौड़ कर खाट के पास जाता है।

दमरी—कौन है बेटा, ठाकुर का कोई आदमी है क्या ?

सोहन—हाँ, पिताजी ठाकुर करणसिंह का ही नायब है। वही कर्ज का बहाना लगा कर...

दमरी—बेटा कर्ज तो मेरे यहाँ उसका एक पैसा नहीं है। हाँ, मैंने तुम्हारी माँ की बीमारी में दस रुपए और उसके मरने के बाद दस रुपए श्राद्ध करने के लिए लाया था। उसी कर्ज को सूद मूल चुकाने के विचार से मैंने दो साल तक बिना मजदूरी लिए ही उसके यहाँ घोर परिश्रम किया। लेकिन फिर भी कर्ज उसने जैसा का तैसा बनाए रखा। मैंने इसी धरती से कमा कर तुम को आधा पेट खिला कर और खुद ना-खाकर बड़ा किया। सूद दर सूद देते-देते थक गया, लेकिन इस अत्याचारी ने कर्ज जैसे-का-तैसा बनाए रखा। जा.....बेटा, लेकिन देखना उसकी बातों में आकर कहीं इस धरती को देने के लिए हाँ न कर देना। धरती हम गरीबों की माँ है। यह मेरी आखिरी अमानत है, इसकी रक्षा करना। जा...जा...भगवान तेरी रक्षा और मदद करेंगें। इतने में रघुवीर सिंह का प्रवेश।

रघुवीरसिंह---हाथ पकड़ते हुए अरे ओ चलता है कि नहीं ?

सोहन---हाथ छुड़ा कर छोड़ो हाथ, मैं खुद चलने को तैयार हूँ। दमरी दु:ख से खाँसने लगता है। गुलामी के टुकड़े पर जीनेवाले तुम लोग भी इन्सानियत से हाथ धो बैठे हो, जो गरीबों की तड़पती जान पर भी रहम नहीं खाते। तुम मानवता की राह को भी भूल गए। धिक्कार है तुम्हारा मानव समाज में जन्म लेना !

रघुवीरसिंह---अरे चल, तब न पता चलेगा। है किस गुमान में फूला, घसीट कर ले जाने लगता है।

मधु---भइया, न जाओ भइया। जालिम तुम्हें मार डालेगा। पिताजी बहुत बीमार हैं, इनको छोड़ कर न जाओ।

सोहन---ठहर जा मधु ! मैं अभी आया।

मधु---ना भइया ! न जाओ।

सोहन---मधु ! अरे बहादुर क्या इसी तरह बनेगा ? रोता क्यों है ?

मधु---देखो न भइया, पिताजी कैसे करने लगे।

सोहन---तू पिताजी को सम्भाल मधु, मैं ठाकुर से निपट कर अभी आया।

मधु---ना, ना, भइया तुम न जाओ।

दमरी---ना, ना सोहन ! तू जा बेटे ! जा भगवान तेरी सहायता करेंगे। इस पुण्य धरती की रक्षा करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। जा, जा।

मधु---भइया न जा, भइया......

सोहन---पिताजी, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस धरती की रक्षा अपनी जान देकर करूँगा।

दमरी---तू सच कहता है बेटा......

सोहन---हाँ पिताजी, गरीब जान देते हैं पर जबान की रक्षा करते हैं।

पटाक्षेप

दृश्य सातवाँ

स्थान---जमींदार का बैठकखाना।

समय---दिन के चार बजे।

हाथ में कोड़ा लिए जमींदार परेशान घूमता है। एक ओर मुंशी बैठा कभी बही की ओर कभी जमींदार की ओर देखता है। इतने में एक ओर से सोहन के साथ रघुवीरसिंह का प्रवेश।

रघुवीरसिंह---सरकार ! सोहन हाजिर है।

जमींदार नीचे से ऊपर तक एक बार सोहन को देखता है।

जमींदार---क्या रे, कल जब मेरा मुंशी पैगाम लेकर तुझे बुलाने गया तो तूने मेरे मुंशी को अपमानित क्यों किया ?

सोहन---आश्चर्य अपमान !! मैंने आपके मुंशी का किसी तरह का अपमान नहीं किया। यदि यह इलजाम मुझ पर लगाया जाता है, तो मैं कहूँगा कि जुल्म का एक बहाना है।

जमींदार---क्या कहा, जुल्म का एक बहाना है ?

सोहन—हाँ, जुल्म करनेवाले इसी तरह का बहाना करते हैं।

जमींदार—क्या कहा ?

सोहन—यही कि आपका जुल्म हम गरीबों पर बेहद बढ़ चुका है। आप जमींदार हैं। जमींदार गरीब रियाया का माँ-बाप होता है। लेकिन आपकी बात बिल्कुल उलटी है। आप हम लोगों पर झूठे कर्ज का बोझ लाद कर सूद-दर-सूद जोड़ कर जीवन भर बेगारी कराते हैं, आधा पेट मजदूरी पर हम गरीबों को जैसे आप खरीद लेते हैं ! सभी प्रकार के हकों से वंचित रख कर आप लोग हम गरीबों पर जो जुल्म की चक्की जमाने से चलाते आए हैं वह अब हमारी सहनशक्ति से बाहर है। अब यह जुल्म की चक्की नहीं चलने पाएगी, कान खोल कर सुन लीजिए !

जमींदार—बकवास बन्द कर। चक्की जमाने से चली, अब भी चलेगी। जबान हिलाओगे तो जबान काट ली जाएगी !

सोहन—(व्यंग से मुस्करा कर) ठाकुर आप मेरी जबान काट लेंगे। लेकिन उन हजार लोगों की जबान नहीं रोक सकते, जिनका पेट जीवन में कभी नहीं भरा। जिन के घर का छप्पर साबित नहीं रहा, जिनके मरने के बाद गज भर कफन का कपड़ा भी नसीब नहीं हुआ। सरदी, गरमी, बरसात में अपना खून पसीना एक करते रहे और खाने वगैर उनके बच्चे बिलखते रहे ! यहाँ तक कि जिन्हें गरीब समझ कर आप लोग अछूत कहते हैं उनके लिए भगवान के मन्दिर के दरवाजे भी बन्द हैं, जिन्हें कुएँ और घाट पर जाने का भी कोई अधिकार नहीं। आप नाचरंग के एक ताल पर हजारों रुपए लुटा देते हैं, लेकिन क्या हजार बार माँगने पर कभी किसी भूखे गरीब को एक पैसा दिया है ?

जमींदार—शैतान, तेरी मौत आई है ?

सोहन—मौत ? मौत आने से पहले ही ये हरिजन और किसान मर चुके हैं ठाकुर !

जमींदार—मेरे सामने तेरी यह हिम्मत ?

सोहन—हूँ ! हिम्मत की बात आप करते हैं ठाकुर ! आप कायरों की तरह हवेली में छिपे पड़े रहते हैं और पियादे तथा मुंशी को हम गरीबों पर जुल्म ढाने के लिए भेजते हैं। जिन गरीबों की पुरजोर मेहनत के बदौलत तुम सोने-चाँदी के ढेर पर बैठे हो, वह सब किस की कमाई है ? जो इतना गुमान करते हो ?

जमींदार—मुंह बन्द कर शैतान !

सोहन—ठाकुर, शैतान वे हैं जो तुम्हारे टुकड़े पर जीते हैं। और इशारे पर नाचते हैं और उनके सरदार हैं। गुस्से में ठाकुर उठता है। ठाकुर रोटी तुम भी खाते हो और हम गरीब भी। तुम कुछ चाँदी के टुकड़े नहीं खाते। और यह रोटी इन गरीबों के बाजू के बदौलत ही है। याद रखो ठाकुर, यदि इन गरीबों की तड़पती जान और जिगर की तुमने कीमत न समझी तो किसी दिन सोने-चाँदी से भरे इस महल की भी ईंट से ईंट बज जाएगी।

जमींदार—तेरी यह हिम्मत कि जमींदारों से मुकाबला करना चाहता है। शैतान में तेरी चमड़ी उधेड़ डालूंगा।
कोड़े मारते-मारते गिरा देता है, सोहन कराहता है।

रघुवीरसिंह की ओर मुड़ कर
रघुवीरसिंह , शैतान को बाहर उठा कर फेंक दो ।
चला था मुझसे टकराने ।
रघुवीरसिंह सोहन को उठाने लगता है ।

पटाक्षप

दूसरा अंक

दृश्य पहला

स्थान—एक ओर एक मन्दिर और दूसरी ओर झाड़ी
समय—सबेरे के पांच बजे

झाड़ी की ओर एक कोने में सोहन पड़ा कराहता है। दूसरी ओर चन्द्रा का उस झाड़ी की ओर जाना ।

चन्द्रा—तुम कौन हो मुसाफिर ? तुम्हें इस हालत में किसने यहाँ छोड़ दिया ? क्या तुम बतला सकते हो ?

सोहन—मैं. . .मैं इन्द्रनगर के रहनेवाले एक गरीब किसान का लड़का हूँ। मेरे पिता का नाम दमरी है । लोग मुझे सो. . .हन कहते हैं । आ. . .ज. . .मैं ठाकुर करणसिंह के बुलाने पर उनके यहाँ गया था, उसीने कर्ज का झूठा बहाना लगा कर मेरे जिस्म पर बेहद कोड़े मार कर मेरी यह हालत कर दी है। मैं यहाँ तक कैसे आया मुझे कुछ भी पता नहीं ।

चन्द्रा—कौन करणसिंह और तुम्हारे साथ यह व्यवहार ? आखिर तुम्हारा अपराध !

सोहन—अपराध ! ! हो सकता है उनकी नजरों में मैंने कोई अपराध किया हो, लेकिन मुझसे कोई अपराध नहीं हुआ है। ऐसा मुझे तो पता नहीं । उठने लगता है,

चन्द्रा—नहीं, नहीं ठहरो, मैं तुम्हें इन्द्रनगर पहुँचा देती हूँ ।

सोहन—क्या मैं जान सकता हूँ कि आप कौन हैं ?

चन्द्रा—मेरा नाम चन्द्रा और पिता का नाम प्रतापसिंह है। मेरे पिता का स्वर्गवास हो चुका है। करणसिंह मेरे चाचा हैं ।

सोहन—करणसिंह आपके चाचा हैं ? पत्थर पर कमल का फूल खिला है ? मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। मैं जा रहा हूँ। मेरे लिए आप कोई तकलीफ न करें ।

चन्द्रा—मगर तुम इस हालत में इन्द्रनगर कैसे जाओगे ?

सोहन—चाहे मैं जैसे भी जाऊँ। आखिर मुझे तो अब काफी होश भी हो गया है और हाँ, मेरी इस हालत से आपको क्या सरोकार है ? कहाँ ठाकुर करणसिंह की भतीजी और कहाँ मैं गरीब किसान ! !

चन्द्रा—तुम मुझे समझने की कोशिश करो, सोहन ।

सोहन---बहुत समझ चुका हूँ। इतना ही क्या कम है कि आप अत्याचारी करणसिंह के घर में पलीं एक जमींदार की लड़की हैं।

चन्द्रा---लेकिन मेरे मन की.........

सोहन---रहने दीजिए। आपकी जैसी लड़की के मन की बात मुझ जैसे खून पसीना एक करनेवाले गरीब, जिसे समाज अछूत कहता है, उसकी मरहम पट्टी नहीं कर सकतीं।

चन्द्रा---मेरा यकीन करो सोहन।

सोहन---यकीन ! वह भी ठाकुर करणसिंह की भतीजी का। हा, हा, हा

चन्द्रा---खैर, अभी तुम्हें आराम की जरूरत है। मैं तुम्हें इन्द्रनगर अपनी गाड़ी से छोड़ आती हूँ।

सोहन---नहीं, नहीं ऐसा न करना। नहीं तो आपकी तौहीन होगी और ये भी तो है कि हम गरीबों के लिए गाड़ी है भी नहीं। जाने लगता है।

चन्द्रा---सोहन ! भगवान के लिए मुझे शरमिन्दा न करो। मैं समझती हूँ कि अभी तुम्हारे दिल पर क्या गुजर रही है। तुम्हारे साथ जो अन्याय हुआ है उसे समझने का मुझे मौका दो, सोहन।

सोहन---मगर इससे क्या ? चन्दन में लिपटने पर भी साँप आखिर साँप ही रहता है।

चन्द्रा---लेकिन तुम्हें यकीन दिलाती हूँ कि मैं हमेशा ईमानदारी, सचाई और न्याय से काम लूंगी।

सोहन---मगर आप जैसे बड़े आदमी से मदद लेना भी तो खतरे से खाली नहीं है।

चन्द्रा---लाचार होकर अच्छा ! आखिर तुम जिद तो छोड़ोगे नहीं। खैर मेरा नौकर शामू तुम्हें गाड़ी में छोड़ आएगा। शामू......

सोहन---नहीं ऐसा न करो। मैं खुद चला जाऊँगा।

चन्द्रा---शामू, इनको इन्द्रनगर गाड़ी में छोड़ आओ।

शामू हाथ पकड़ कर जाता है। सोहन मुड़ कर एक बार देखता है।

सोहन को चन्द्रा भी देखती है और दर्द भरी आवाज़ में बोलने की चेष्टा करती हुई एक हाथ बढ़ाती है।

पटाक्षेप

दृश्य दूसरा

स्थान---जमींदार का बैठकखाना

समय---सबेरे आठ बजे

चन्द्रा एक कुर्सी पर बैठी है, किताब के पन्ने उलट रही है।

ठाकुर करणसिंह घर में चक्कर काट रहे हैं।

चन्द्रा---चाचाजी, आप इतने परेशान क्यों नजर आ रहे हैं ?

जमींदार---हाँ, बेटी, मेरी परेशानी का एक विशेष कारण है।

चन्द्रा---क्या मैं नहीं जान सकती ?

जमींदार---तुम जान कर क्या करोगी ? यह जमींदारी का मामला है।

चन्द्रा—हाँ, चाचाजी, सुना है कि जमींदारी उन्मूलन बिल सरकार ने पास कर दिया है और अस्पृश्यता निवारण बिल भी पास हो चुका है।

जमींदार—तुम से किसने कहा चन्द्रा कि ये सब बिल पास हो चुके हैं।

चन्द्रा—किसी ने नहीं कहा। अखबार में तो ये सब खबरें छपती हैं न।

जमींदार—पास करने दो, यहाँ मानता कौन है ?

चन्द्रा—मगर चाचाजी ! ये भारत सरकार के कानून हैं। इनको तोड़ना क्या हँसी खेल है ?

जमींदार—यह जमींदारी का मामला है, जिस जमींदारी की शान के लिए बरसों से हमारे बाप-दादे संघर्ष करते आए, क्या इस जायदाद को सरकार की कोरी धमकियों से हम लोग छोड़ देंगे ? इसके लिए जान भी जाए, तो भी हम धरती का एक इंच देने को तैयार नहीं।

चन्द्रा—मगर चाचाजी जहाँ बड़े-बड़े राजे महाराजे अपने राज-पाट और करोड़ों की सम्पत्ति देश के लिए त्याग चुके हैं, वहाँ आप अपनी थोड़ी-सी सम्पत्ति देश के लिए नहीं दे सकते ?

(इतने में मुंशी का प्रवेश)

मुंशी—सरकार, सरकार जल्दी चलिए, दमरी मर गया।

जमींदार—दमरी मर गया ?

मुंशी—हाँ सरकार, उसे जलाने के लिए सभी लोग श्मशान ले गए। कहीं जला दिया तो न ४२२ रुपए ही मिलेंगे, न एक हाथ धरती ही !

जमींदार—तो क्या करना चाहिए, मुंशी ?

मुंशी—सरकार इसमें करना क्या है, सिर्फ एक अँगूठे के निशान की जरूरत है। यह देखिए न पहले से ही सब ठीक कर रखा है। यह देखिए सब "रेडी" है। एक कागज दिखाता है। दोनों चलने लगते हैं, एक ओर से चन्द्रा शामू को बुलाती है।

चन्द्रा—शामू, ओ शामू।

शामू—आया बाबा आया, क्यों क्या बात है ?

चन्द्रा—शामू दादा, तुम जल्दी साधु का वेष बना कर श्मशान चले जाओ। नहीं तो सोहन खतरे में फँस जाएगा और यह लो, रुपए की थैली सोहन को देकर चले आना और हाँ देखना खूब होशियारी से काम लेना। कहीं वे लोग समझ न जाएँ। शामू सिर हिलाते चला जाता है।

पटाक्षेप

दृश्य तीसरा

स्थान—श्मशान घाट,

समय—रात का

दमरी को दाह संस्कार के लिए लोग घाट पर लाए हैं, कुछ चिताएँ जल रही हैं।

जमींदार—क्यों सोहन, तू मेरे बगैर इजाजत अपने बाप को जलाने आ गया ?

सोहन—तो क्या शव जलाने के लिए सरकार की इजाजत की जरूरत होगी ?

जमींदार—तो क्या तुझे मालूम नहीं कि तेरे बाप के पास मेरा ४२२ रुपए बाकी हैं ? क्या तू सब रकम हजम करना चाहता है ?

सोहन—ठाकुर ! मेरे पिता पर एक पैसा कर्ज नहीं है। लेकिन जब आप कहते हैं, तो उसे देने वाला मैं जिन्दा हूँ।

जमींदार—यदि जिन्दा है, तो ले इस कागज पर दस्तखत कर दे।

सोहन—लेकिन मैं बार-बार कहता हूँ कि मेरे पिता पर आपका कर्ज नहीं है।

जमींदार—तो क्या मैं बेईमान हूँ ?

सोहन—बेईमान नहीं ; तो क्या आप ईमानदार हैं ?

जमींदार—सोहन अगर जिन्दगी चाहता है, तो होश से बात कर, वरना इसका नतीजा बड़ा ही भयंकर होगा।

सोहन—भयंकर तो हो चुका, ठाकुर। इससे भी भयंकर होगा तो वह भी देखा जाएगा।

जमींदार—अच्छा तो देखना है कि आज तू दमरी को कैसे जला पाता है।

कई मजदूर—देखा जाएगा कि हमें दमरी काका के दाह संस्कार से कौन रोकता है ! क्रोध से जमींदार कोड़ा उठाता है, लोग लाठी उठाते हैं। इतने में एक ओर से साधु गाते हुए आता है।

गीत

भाई रे ! राम कहाँ है मोहि बताओ।
राम कहत सब जगत भुलाना, सो यह राम न होई।
करम अकरम करुणामय करत, से कोई रे।
रे भाई राम कहाँ......

जा रामहि सब जग जानत, भरम भूले रे भाई।
आप आप ते कोई न जाने, कहे बैन सूं जाई।
रे भाई राम कहाँ......

तम रज लोभ पास जीवे मन, गुन परसत नहीं जाई।
अलख नांव, जाको ठौर न कितहूँ, क्यों न कहौं समुझाई।
रे भाई राम कहाँ......

अनै रंदास उदास ताही में, करता को है भाई।
केवल करता एक सही कर, सन्त राम तिहि ठाई।
रे भाई राम कहाँ......

गाना शेष होते ही साधु एक थैली सोहन को देकर चलता बनता है।

सोहन एक बार थैली और एक बार जमींदार को और साधु को देखता है, फिर खूब हँसता है और थैली से रुपए निकाल कर जमींदार के मुँह पर फेंकता है।

सोहन—हा, हा, हा, हा पैसे के गुलाम ठाकुर करणसिंह, जिस गरीब ने एक-एक पैसा अपना खून-पसीना एक करके चुका दिया उसके मरने पर भी तुम अँगूठे का निशान माँगते हो। इसी

ठीकरे के लिए न ? ये लो अपने ठीकरे और रास्ता नापो। ईमानदार। हा, हा, हा।

जमींदार कुछ भुनभुनाता हुआ चला जाता है।

सोहन—अरे भाई देखते क्या हो। करो अपना काम।

चिता जलाने की तैयारी करने लगते हैं।

पटाक्षेप

दृश्य चौथा

स्थान—मन्दिर , झाड़ी,

समय—सबेरे का

सोहन एक ओर चिन्ता में टहल रहा है, चन्द्रा का प्रवेश

चन्द्रा—सोहन तुम कब आए ?

सोहन—अरे, चन्द्रादेवी ! यही कोई एक घंटा हुआ।

चन्द्रा—तब तो बड़ी इन्तजार करनी पड़ी ?

सोहन—इन्तजार की क्या बात है ? अच्छा चन्द्रादेवी, क्या मैं यह जान सकता हूँ कि इस रास्ते में कदम बढ़ाने से पहले कुछ सोचा भी है कि इसका अन्जाम क्या होगा ?

चन्द्रा—अन्जाम ? किस बात का अन्जाम ?

सोहन—यही मेरे और अपने मिलने-जुलने का अन्जाम ! कहाँ मैं गरीब किसान मजदूर का लड़का जिसे गरीब समझ कर समाज अछूत और छोटी जाति कह कर घृणा की दृष्टि से देखता है। और कहाँ आप ऊँची जाति की लड़की। इस छोटी जाति के साथ मिलना-जुलना कहाँ तक ठीक होगा, क्या आपने सोच लिया है ?

चन्द्रा—सोच लिया है सोहन ! समाज के धर्म के ठेकेदारों को, जिन्होंने अपनी सुविधा के लिए छोटा और बड़ा बनाया है, उन्हें मैं भी दिखा दूँगी कि संसार के सभी मनुष्य एक भगवान की सन्तान हैं, सब में एक जैसी जान और प्रेम है। हम सब को अधिकार है, एक दूसरे के प्रति स्नेह और सहानुभूति रखने का, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, ऊँच हो या नीच।

सोहन—लेकिन हमारे और आपकी राह में बहुत-सी रुकावटें हैं। कदम-कदम पर गरीबी और अमीरी की ऊँची-ऊँची दीवारें हैं और दरिया जैसी खाइयाँ, जिस राह में हजारों हस्तियाँ गर्क हो चुकी हैं !

चन्द्रा—मैं अपने सच्चे प्रेम से अमीरी, गरीबी, छोटे और बड़े के भेदभाव को दूर कर संसार को दिखाऊँगी।

सोहन—मान लिया, लेकिन चन्द्रादेवी हमारे सामने एक तरफ किसानों की जिन्दगी का सवाल है, तो दूसरी तरफ पहाड़ जैसी हस्तियों से टकराना, क्या ये शीशा-सा दिल टूटने से बच सकेगा ?

चन्द्रा—सोहन, सच्चाई पर मिट जाने का ही नाम जिन्दगी है।

सोहन—तो क्या आप इसके लिए तैयार हैं ?

चन्द्रा—सोहन, मुझे आप कह कर लज्जित न करो और लो यह वसीयतनामा, जिसमें मेरे पिता मरने के पहले पाँच गाँव की जायदाद मेरे नाम लिख गए हैं। तुम्हें अधिकार है, इस सम्पत्ति का चाहे जैसे व्यवहार करो।

सोहन—चन्द्रा, तुम मेरे पर एहसान का इतना बोझ लादती हो कि मैं सर नहीं उठा सकता। अच्छा, इस वसीयतनामे को व्यवहार करने से पहले तो अच्छा होता कि सरकार से इसके लिए अनुमति ले ली जाती और एक सभा करके आम मजदूरों को समझा दिया जाता।

चन्द्रा—मुझे मंजूर है, सोहन। तुम जैसे चाहो मेरी सारी सम्पत्ति व्यवहार करो।

सोहन—क्या सच ?

चन्द्रा—विश्वास नहीं तो आओ मेरे साथ। (मन्दिर की ओर जाकर) सोहन मैं भगवान से प्रतिज्ञा करती हूँ कि इसीप्रकार जब तक हर एक मनुष्य को इतना अधिकार नहीं मिलजाता तब तक मैं मन्दिर में पैर भी न रखूंगी।

दोनों एक दूसरे को देखते-देखते चले जाते हैं।

पटाक्षेप

दृश्य पाँचवाँ

स्थान—जमींदार का मकान।

समय—शाम का।

ठाकुर शराब में मस्त है। नर्तकी नाचती है। मुंशी दरबार में प्रवेश करता है।

मुंशी—सरकार, सरकार, अन्धेर हो गया सरकार !

जमींदार—क्या अन्धेर हो गया, कुछ कहेगा भी।

मुंशी—सरकार घर की आग से ही घर जल रहा है। अब भी आँखें खोलिए सरकार। नहीं तो हमें भी कहीं इस आग में जल कर मरना न पड़े।

जमींदार—आखिर हुआ क्या, कुछ कहेगा भी ?

मुंशी—भगवान की कसम खाकर कहता हूँ सरकार, बिल्कुल पागल।

जमींदार—क्या कहा, सरकार पागल ?

मुंशी—नहीं, नहीं सरकार मैं पागल, आप भी पागल, सारी दुनिया पागल।

जमींदार—आखिर बात क्या है, मुंशी ?

मुंशी—सरकार मैंने सुना है कि चन्द्रादेवी अपने वसीयतनामा की जायदाद इन्द्रनगर और दूसरे गाँवों के मजदूर हरिजन लोगों में बाँटने जा रही हैं।

जमींदार—कौन, चन्द्रा ? कहाँ है चन्द्रा ? एक ओर से चन्द्रा प्रवेश करती है। चन्द्रा मैंने सुना है कि तू अपनी जायदाद मजदूरों को देने जा रही है ?

चन्द्रा—जी हाँ, चाचाजी, सच है। मगर आपकी नहीं, अपनी जाबदाद जो पिताजी ने मेरे नाम वसीयत की है।

जमींदार—जरा होश से बातें कर। मेरे जीते जी तेरी मजाल नहीं कि जमींदारी के मामले में दखल दे।

चन्द्रा—चाचाजी मैं अपने हक में स्वतन्त्र हूँ, जो चाहे कर सकती हूँ।

जमींदार—चन्द्रा ! तू मेरी भतीजी है और चन्द दिनों के बाद तेरी शादी होनेवाली है। क्या तुम मेरे खानदान को बदनाम करना चाहती हो ? मेरे खानदान की लड़की ने कभी सभा-सोसाइटी में गयीं, न तू जा सकती है।

चन्द्रा—चाचाजी ! देश की सेवा करने वाले लड़के या लड़कियां खानदान की बदनामी नहीं करते, बल्कि वे खानदान का नाम रोशन करते हैं।

जमींदार—लेकिन मेरे सामने इसकी कोई कीमत नहीं। तू अगर अपनी खैरियत चाहती है, तो अपने इरादे बदल दे।

चन्द्रा—हरगिज नहीं ! मैं ऐसा ही करूँगी, मुझे कोई नहीं रोक सकता। मैं उन गरीबों के लिए अपनी सम्पत्ति तो क्या......

जमींदार—रघुवीरसिंह, क्या देखते हो। बन्द कर दो इस कमबख्त लड़की को। यह मेरी लड़की नहीं, आज से मेरी दुश्मन है। और चलो, इन्द्रनगर चलें, देखें कैसे इनकी सभा होती है ? रघुवीरसिंह बढ़ता है। चन्द्रा डाँटती है।

चन्द्रा—खबरदार !

जमींदार—खुद बन्द कर देता है और बाहर चला जाता है।
शामू का प्रवेश और चन्द्रा का हाथ पैर खोल देना।

शामू—चन्द्रा बिटिया ! चन्द्रा, चन्द्रा......

चन्द्रा—क्या है शामू दादा ?

शामू—कुछ नहीं। हाथ खोल देता है, चलो चन्द्रा, जल्दी करो। चाचाजी हरिजन मजदूरों पर हमला करने गए हैं। जल्दी चलो, नहीं तो सोहन खतरे में फँस जाएगा।

पटाक्षेप

दृश्य छठवाँ

स्थान—हरिजन बस्ती।

समय—दिन का।

सोहन लोगों को समझा रहा है कि हरिजन मजदूर निम्न श्रेणी में काम करते हुए भी देश का बड़ा से बड़ा काम करते हैं और उनका भी उतना ही अधिकार है जितना किसी भारतवासी का......उन्हें चाहिए कि देश की रक्षा करने में वे तनिक त्रुटि न करें। अब वे किसी के अन्याय, अत्याचार या जुल्म को बर्दाश्त नहीं करेंगे। इसके लिए संगठन और आपस में प्रेम की भावना लानी चाहिए।......इन्द्रनगर के हरिजनों पर जैसे अत्याचार दिनोदिन बढ़ते जा रहे हैं, उसका सामना करने के लिए क्या सभी भाई प्रस्तुत हैं ?

बंझु—हम लोग तैयार हैं। सब एक साथ

सोहन—शाबाश मेरे भाइयो ! तुम सब से यही आशा थी।

जमींदार—क्यों रे शैतानों, तुम सब ने नगर भर में क्या शोर मचा रखा है ? तुम सब की क्या मर्जी है ?

बंझु—आपकी क्या मर्जी है ?

जमींदार—हमारी मर्जी देखना चाहता है ? रघुवीरसिंह, एक-एक की खोपड़ी चूर कर दो। (सभी खड़े हैं।) अरे, तुम सब खड़े-खड़े मुँह क्या देखते हो। मेरे हुक्म की तामील करो। रघुवीर, बीरेन, दलीप, खड़े-खड़े क्या मुँह देखते हो।

बंझु—ठाकुर साहब, भूख से रोते बच्चे को आप पीट कर चुप नहीं करा सकते। न हम इतने नादान हैं कि चुप रहें।

जमींदार—छोटी जात, बड़ी बात !

सोहन—ठाकुर साहब, जिन्हें आप छोटी जाति कहते हैं वे समाज का कितना काम करते हैं, क्या आपने सोचा है ? यदि कपड़े धोना, चमड़े की चीजें बनाना, नाले साफ करना, मजदूरी करके पेट भरना छोटी जाति का काम है, तो कान खोल कर सुन लो कि आज से ये सारे काम हम नहीं करेंगे और आप खुद काम करें।

दलीप—सरकार हम इन गरीब भाइयों पर हाथ नहीं उठा सकते।

जमींदार—क्यों, क्या तू मेरे आदेश को नहीं मानेगा ?

दलीप—सरकार, आज तक आपके हुक्म का उल्लंघन हमने कभी नहीं किया। न्याय, अन्याय गलत सही—सब को एक जैसी नजर में रख कर काम किया, क्योंकि यह सब आपका हुक्म था। लेकिन......

जमींदार—लेकिन अब नहीं मानेगा ?

दलीप—चाहे आप फाँसी पर चढ़ा दें, तो भी नहीं।

जमींदार—इसकी वजह ?

दलीप—यही कि आपके जुल्म से नगर भर में लोग तबाह हैं। हाहाकार मचा है, आपके इशारे पर इन गरीब भाइयों के पड़ोस में रह कर भी ज्यादा लगान वसूल किया, लाठी चलाई, पेट भर दाना माँगने वाले की चमड़ी उधेड़ डाली, लेकिन अपनी मर्जी से नहीं, सरकार आपके डर से !

जमींदार—तू मुँह बन्द करता है या तुझे भी......

दलीप—ठाकुर साहब, फौलाद का विस्फोट भी हमारी आवाज को नहीं बन्द कर सकता। यह इन्सानियत की आवाज है।

जमींदार—दलीपसिंह, तुम्हारी यह हिम्मत कि हमारे सामने ऐसी बातें करता है ?

दलीप—इसमें हिम्मत की क्या बात है ? हम गरीब हैं, गरीब के साथ रहेंगे।

जमींदार—तुम सब को तनिक डर व शर्म नहीं ?

दलीप—डर, शर्म आपकी और ऐसे समाज की जिसका आधार ही अन्याय हो ?

बंझु—ठाकुर साहब, आप गरीबों की शक्ति को नहीं रोक सकते।

जमींदार—मैं तुम्हारी जैसी शक्ति को पैर से कुचल दूँगा।

बंझु—लेकिन, लाख करें गरीबों को आप नहीं रोक सकते, जिनकी आहें और आँखों के आँसू शोले बन कर आकाश तक पहुँच गए हैं, उनकी चिनगारियां आपके अन्याय और अत्याचारों को भस्म कर देंगी।

जमींदार—तो देख, मैं खुद एक-एक की चमड़ी उधेड़ डालता हूँ। **कोड़े चलाता है। कोड़ा छीन लिया जाता है। वह लाठी लेकर चलता है। इतनेमें चन्द्रा प्रवेश करती है। लाठी चन्द्रा के सिर पर लगती है, चन्द्रा गिर पड़ती है। कौन चन्द्रा ? हाय रे भगवान ! यह मैंने क्या किया ?**

अपने ही हाथों से अपनी बच्ची का खून किया। भगवान तुम हमारी मदद करो। यह किसी की बड़ी कीमती अमानत है।

मुंशी---बच्ची की हालत बड़ी शोचनीय है।

सोहन---अभी भी आँखें खोलो ठाकुर! आपकी सन्तान होकर चन्द्रा आपके खिलाफ है। न्याय और मानवता के नाम पर अपनी जान देने को तैयार है। अभी भी वक्त है, आँखें खोलिए।

जमींदार---मुंशी देखते क्या हो! जल्दी करो, हमारी चन्द्रा की जान खतरे में है।

जमींदार चन्द्रा को उठा कर ले जाते हैं।

पटाक्षेप

दृश्य सातवाँ

स्थान---जमींदार का घर।

समय---सबेरे का।

जमींदार---डाक्टर साहब, बच्ची की क्या हालत है? बताइए न डाक्टर।

डाक्टर---धीरज रखिए, ठाकुर साहब।

जमींदार---आखिर कुछ तो बताइए डाक्टर साहब।

डाक्टर---चोट तो कम है। हाँ, सदमा है। चोट लगने से पहले वाली बात यदि याद दिला दी जाए, तो सम्भव है कुछ होश हो जाए। तब आशा भी है।

जमींदार---डाक्टर साहब मेरी बच्ची को किसी तरह बचाइए। मैं इसके खातिर सब कुछ करने को तैयार हूँ। इसे बचाइए, डाक्टर यह किसी की कीमती अमानत है। कहीं... नारे लगने की आवाज बाहर मे सुनाई पड़ती है।

डाक्टर---यह कैसी आवाज है। बन्द कराइए इसे, नहीं तो रोगी का रोग बढ़ जाने का भय है।

चन्द्रा---बेहोशी की हालत में, सोहन यह लो वसीयतनामा।

जमींदार---मुंशीजी! सोहन और कुछ मजदूरों को यहाँ बुलाइए।

सोहन का प्रवेश

सोहन---ठाकुर साहब ने बुलाया है? मुझसे क्या काम है?

जमींदार---जल्दी करो सोहन।

सोहन---मैं जल्दी क्या करूँ? डाक्टर आपके पास हैं, लाखों की सम्पत्ति है। हाँ, हमें आज साफ-साफ जवाब दीजिए, कहीं हमें भी।

जमींदार---अभी वक्त नहीं है।

बंझु---ठाकुर अब भी आँख की पट्टी नहीं खुलती। यदि आप चन्द्रा की जान चाहते हैं, तो अब भी लोगों की तड़पती आहों की ओर नजर दें। आज खाट पर चन्द्रा नहीं, मानवता तड़प रही है। इसी तरह न जाने कितनी आत्माएं तड़पती दम तोड़ रही हैं। लेकिन आप जैसे मनुष्य जो चाँदी और सोने के ठीकरों को ही सब कुछ समझते......

जमींदार—बस करो बंझु, अब मुझसे ज्यादा न कहो। आखिर तुम लोग मेरी बच्ची की जान लेकर क्या करोगे?

सोहन—ठाकुर साहब हमें क्या जरूरत कि आपकी चन्द्रा की जान लें। आपने खुद अपनी लड़की का खून किया है। जो मनुष्य मनुष्यता के लिए अपना सब कुछ छोड़ने को तैयार है, क्या आप उसे भी रोक लेंगे? वह प्राणी मर कर भी दिखा देगा कि दुनिया में कोई ऊँच-नीच, छोटा या बड़ा नहीं है।

चन्द्रा—सो...ह...न

सोहन—चन्द्रा, कह कर लिटा देता है,

चन्द्रा—नहीं सोहन, मुझे यहाँ से ले चलो।

सोहन—घबराओ नहीं, चन्द्रा।

चन्द्रा—नहीं सोहन! यहाँ मेरी जैसी कितनी माँ, बहनों को इसी तरह तड़पा कर मार डाला गया है। मुझे यहाँ से ले चलो, मैं यहाँ मरना भी नहीं चाहती। मुझे...मुझे...

सोहन—चन्द्रा......

जमींदार का मन एकदम बदल जाता है। देखता है कि सारी रिआया और उसकी लड़की भी विद्रोह की ज्वाला भड़का रहे हैं।

जमींदार—सोहन, पुरानी बातों को न सोचो, मैं अब समझ गया कि कोई भी ताकत नहीं जो जमाने के खिलाफ जा सके। संसार के जितने मनुष्य हैं, सब समान हैं। आज मजदूरों की बदौलत ही संसार टिका है। तुम गरीबों में ही सब कुछ है। मैं अब तक अन्धा था, लेकिन अब नहीं। मेरी बच्ची को बचाओ।

सोहन—ठाकुर साहब, इसी तरह मेरे पिता ने भी इन्सानियत पर जान दे दी। लेकिन न तो आपके इन क्रूर हाथों ने रुपए लेने से इन्कार किया न आपके मन में जरा परिवर्तन हुआ। गरीब के खून-पसीने की कमाई एक बीघा धरती, उसे भी आपने हड़प लेना चाहा। आपके पास हजारों बीघे खेत हैं। आज जब आपकी लड़की की जान पर आई है, तो आप शानोशौकत, इज्जत, प्रतिष्ठा सब कुछ छोड़ने को तैयार हैं।

दलीप—ठाकुर साहब, हम आपकी बातों में आने वाले नहीं।

जमींदार—दलीप, बंझु, बीरेन, सोहन तुम सबों के सामने, आज मेरा सर जिसमें अमीरी की शान, क्रूरता, शोषण, ईर्ष्या और द्वेष की भावना कूट-कूट कर भरी है, तुम्हारे सामने झुकी है। जी भर के कोस लो मुझे, गाली दो। उन सेठ जमींदारों के मुँह पर थप्पड़ मारो, जिन्होंने देश के अपने ही भाईयों का शोषण किया। कितनों की धरती और सम्पत्ति हड़प ली। अस्पृश्य कह कर सदा से अलग रखा है। धर्म के नाम पर ढोंग रच रखा है। गरीबों की आह और आँसू की कोई कीमत नहीं समझी। गला भर जाता है, चन्द्रा ने जिस प्रकार अपने वसीयतनामे की जायदाद को तुम्हारे बीच बाँटने और कुएँ, तालाब, मन्दिर, पाठशाला बनाने का निश्चय करके लिखित प्रमाण-पत्र भी जो दे दिया है, मैं भी वैसा ही चाहता हूँ। मैं भी आज से तुम्हारी तरह जिन्दगी बिताऊँगा। अपनी सम्पत्ति का पैसा-पैसा तुम्हारे काम में लगाऊँगा। यह पैसा मेरे अकेले का नहीं, तुम्हारा

सब का है। आओ आज से हम सभी मिल कर अपने इन्द्रनगर को एक आदर्श नगर बना कर सचमुच ही इन्द्रनगर ही बनाएँ।

चन्द्रा—चाचाजी ! क्या सच कहते हैं ?

जमींदार—बेटी, तुम जल्दी अच्छी हो जाओ और सोहन के साथ मिल कर सारे काम सम्भालो। आजसे सोहन तुम्हारा साथी है। सोहन इधर आओ। सोहन आता है। आज से इन्द्रनगर को इन्द्रपुरी बना देने का भार तुम पर रहेगा। एक बात देखो, एक सप्ताह बाद गांधी जन्म-दिवस है। बड़े धूमधाम से तुम सब इसकी तैयारी करना।

सब एक स्वर से सोहन भैया जिन्दाबाद ! मानव-धर्म जिन्दाबाद !

पटाक्षेप

दृश्य आठवाँ

भारतमाता का चित्र सजाया गया है। कतार में लड़के, लड़कियाँ खड़े हैं। ठाकुर, मुंशी, सोहन, बंझु, चन्द्रा इत्यादि सभी शामिल होकर एक कोरस गाते हैं।

(कोरस)

बढ़े चलो जवान,
बंध कर एक ही धागे में, आओ चलें हम भाई
देश रक्षा के मार्ग पर करने समाजोत्थान
रखने अपनी शान। बढ़े चलो जवान।

छूतछात को दूर हटाओ, धो डालो कलंक,
एकी तन से, एकी मन से रख लो माँ का मान,
लेकर एक हो किसान ! बढ़े चलो जवान।

बेकारी, भुखमरी औ, आपस की लड़ाई,
राष्ट्रोन्नति के पथ पर, सब को करने हैं कितने काम,
बढ़े चलो मिल कर भाई, एक ही माँ के सब सन्तान।
बढ़े चलो जवान।

पटाक्षेप

★★

भगवान कब हंसते हैं ? भगवान दो अवसर पर हसते हैं,—एक तो तब, जब एक ही मा के या मातृभूमि के पुत्र हाथ में जरीब लेकर जमीन नापते हैं और कहते हैं कि यह मेरी जमीन है, वह तेरी जमीन है और दूसरे समय तब, जब रोगी मरणासन्न हो और फिर भी डाक्टर कहे कि इसे में अच्छा कर दूंगा।

— रामकृष्ण परमहंस

दलित वर्ग अपने पैरों पर खड़ा हो

श्रीमती विमला देवी देशमुख

यदि हमें दलित समाज प्रगतिशील बनाना है, तो हमें आगे बढ़ कर योग्य प्रमाण में अधिकार प्राप्त करने चाहिएँ। योग्य उन्नति प्राप्त कर संसार में मान सम्मान के साथ जीवन व्यतीत करना है, तो दलितों को आनेवाली अनेक विपत्तियों और कठिनाइयों का सामना कर दूसरों के भरोसे पर रहना छोड़ना होगा। उनको अपने ही पैरों पर खड़ा होकर उन्नत मस्तक करना सीखना होगा। अपने ही अधिक परिश्रम से हमें अपने समाज की सर्वांगीण उन्नति करनी होगी।

हमारा समाज शिक्षा की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। अज्ञान के अन्धकार में समाज यहाँ-वहाँ टटोलता फिर रहा है। उसे शिक्षा का प्रकाश मिलना चाहिए। समाज में, दुनिया में तथा इस देश में कहाँ क्या हो रहा है, कौन क्या और किस तरह कर रहा है, हम यह देखे, अनुभव करें, ज्ञान प्राप्त करें और जो कुछ अच्छा, लाभदायक और कल्याणकारी हो उसका अनुकरण करें। अतः हमें हमारे बालक-बालिकाओं को आवश्यक शिक्षा देना परमावश्यक है और इसके लिए हमें अधिक से अधिक त्याग करना चाहिए।

समाज में स्त्रियों का मान सम्मान योग्य प्रमाण में होना चाहिए। पुरुषों के समान उन्हें भी अपनी उन्नति के लिए स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। रथ के दोनों चक्र समान न होंगे, तो वह ठीक नहीं चल सकेगा, उसी प्रकार समाज में स्त्रियाँ समान रूप में उन्नत न होंगी तो समूचा समाज उन्नत नहीं होगा।

ये वनवासी–आदिवासी किन के वंशज हैं? इन्हें उपेक्षित माना गया। इन्हीं उपेक्षितों के उद्धार के लिए ठक्कर बापा जैसे महान् सुधारक ने अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। आदिवासियों के लिए ठक्कर बापा ने जो जीवन उत्सर्ग किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। आदिवासियों के प्रश्न को गांधीजी ने भी अपने कार्यक्रम में स्थान दिया। मगर ठक्कर बापा ने हरिजनों और आदिवासियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के कंकाल रूप को देखा। उन्होंने गौड़ों और भीलों को देखा और उन्हें अपनाया। वे इनके करुण दृश्यों को देख कर कातर हो उठे। उनकी आँखों में अंधेरा छा गया। उन्होंने देखा कि लोगों के तन पर कपड़े नहीं हैं। उन्होंने देखा कि लोगों ने उन्हें पहनने के लिए वस्त्र दिए। बापा ने पंचमहाल में भीलों की सेवा की।

अतः अब ऐसा समय आ गया है कि हम चाहें पिछड़ी जातिवाले हों या आदिवासी हों या हरिजन हों, जो अब तक सोते रहे, वे अब उठ खड़े हों। नए संविधान ने हमें यह सुविधाएँ दी हैं कि हम सब के बराबर बन जाएँ। विधान ने हमारा स्तर समाज में समानता का कायम किया है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अभी हमें समाज में बराबरी का स्थान नहीं मिला है। इसके लिए हमें बड़ा रास्ता पार करना है। हम दूसरे लोगों के बराबर बनने पर ही कन्धे से कन्धा भिड़ा कर नए राष्ट्र का निर्माण कर सकेंगे।

हमें पशुतर जीवन से ऊपर उठना है। गांधीजी ने हमारे उद्धार के लिए यह कहा था :—

'जिस प्रथा की बदौलत हिन्दुओं का एक बड़ा भाग पशु से भी बदतर हालत को पहुँचा है, उसके लिए मेरे रोम-रोम में घृणा व्याप्त हो रही है।'

दलित वर्ग अपने पैरों पर खड़ा हो

'चाहे मैं टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाऊँ, पर दलित जातियों से आत्मीयता न छोड़ूँगा। हम किसी को अस्पृश्य कह सकते हैं, तो असत्य और पाखण्ड से भरे लोगों को।' अपनों का तिरस्कार करना मनुष्यता को खो देना है।'

हमें अपने उद्धार में किसी वर्ग के प्रति अपने हृदय में द्वेष भाव नहीं रखना है, जिनके नीचे हम दबे हैं, उनके हृदय भी हम प्रेम से जीत सकते हैं। हिन्दू धर्म हमें उतना ही प्यारा है, जितना सवर्णों को। उपेक्षित समाज को ऊपर उठाना है। सुधारक हमारे उद्धार में लगे हैं, किन्तु फिर भी हमें अपने प्रयत्नों से ही ऊपर उठना है। हमारा समाज अज्ञान में है, निर्धन है और अनेक बुराइयों मे ग्रसित है, उन सब से हमें मुक्ति पानी है। हरिजन कवियों में महाराष्ट्र में गोरा कुम्हार हुआ, सावला माली हुआ और चोखा मेला महार (धेड़) हुआ। चोखा ने कहा——

हीन पाती माझी देवा
कैसे घड़े तुझी सेवा
मज दूर दूर हो म्हराती
तुज भेटूँ कवण्या रीती
माझा लागताची कर
सितौड़ा फेताती करार

अर्थात्——मेरी जाति हीन है, मुझे शूद्र——नीच कहते हैं। हे भगवान, तुम्हारी कैसे सेवा करूँ। मुझे दूर-दूर होने के लिए कहा जाता है। तुम्हें किस प्रकार मिलूँ। मेरा हाथ लगते ही सवर्ण लोग स्नान करते हैं।'

**

सब भूमि भगवान की है, मनुष्य के लिए ईश्वर की यह सबसे बड़ी देन है। भगवान ने कहा कि जितनी जमीन पर आदमी हाथ से कठोर परिश्रम कर जोते बोए, उतनी जमीन उसकी है, पर उससे अधिक जमीन पर किसी का कोई अधिकार नहीं है। जो लोग अधिक अधिकार रखते हैं, वे अमीरी और गरीबी ——दोनों पैदा करते हैं, ये दोनों ही पाप हैं। हमें इस पाप को मिटा देना है। जिनके पास अधिक सम्पत्ति है, उन लोगों की परीक्षा है, ईश्वर उन्हें क्षमा नहीं करेगा, जो अधिक सम्पत्ति रखते हैं।

हम ग्रामों में क्रांति ला रहे हैं। बड़ी-बड़ी बांध योजनाएं, सिंचायी, विद्युत प्रसार और सामूहिक योजनाओं से, ग्रामों में नए भारत का निर्माण कर रहे हैं। विज्ञान और टेकनिकलज्ञान का संदेश ग्रामों में दूर-दूर तक फैल रहा है। हम ग्रामों में न केवल नई अर्थ व्यवस्था का निर्माण कर रहे हैं, बल्कि उनके सामाजिक जीवन में नई भावनाएं और नए विचार ला रहे हैं।

—सरदार के० एम० पनिकर

**

महिलाएं समाज सेवा में



श्री विनोबा भावे

जो सब से नीचे हैं, जो सब से ज्यादा दु:खी हैं, जो परित्यक्त हैं, जिनकी तरफ किसी का ध्यान ही नहीं जाता, उनकी सेवा में हमारा ध्यान प्रथम जाना चाहिए। यह कोई ऐसा नियम नहीं है कि जिसे किसी ने खोज निकाला हो। परिवार में यही नियम चलता है। परिवार में जो सब से अधिक ज्यादा दु:खी है, उसकी ओर सब का सब से ज्यादा ध्यान जाता है। एक मनुष्य के दु:ख से सारा कुटुम्ब दु:खी होता है। परिवार-वालों की सारी दृष्टि उस दु:खी अवयव को सुखी बनाने में एकाग्र होती है। देह में भी यही नियम चलता है। मान लीजिए कि शरीर में बहुत सारे अवयव ठीक हैं, परन्तु कोई अवयव दु:ख से पीड़ित है, कहीं फोड़ा हुआ है या जख्मी हुआ है, तो शरीर का ध्यान उस ओर जाता है। बाकी के अवयव सुखी होते हैं, तो उनकी ओर ध्यान नहीं जाता। जो जख्मी अवयव है उसकी सेवा में चित्त लगता है, उसी की सेवा में चित्त एकाग्र होता है। दूसरे अवयवों के लिए खाना पीना तो चलता ही है। खाना तो नहीं छूटता है। परन्तु सारा ध्यान जख्मी अवयव को दुरुस्त करने में जाता है। तो जो नियम परिवार और शरीर का है, वही समाज का है।

भारत में सेवा की कमी नहीं है। बहनों में विशेष तौर पर सेवा की भावना होती है, परन्तु यह हमारी सेवा भावना परिवार में कैद हो गयी है। जो कैदी हो गया, उसकी पूरी ताकत प्रकट नहीं हो पाती है। इसलिए हमारी सेवा भावना और प्रेम की जो ताकत है, वह पूर्ण रूप से अपने समाज में प्रकट नहीं हो रही है।

विधवाओं की एकांगी सेवा

हिन्दुस्तान में ऐसी कितनी ही विधवाएँ हैं, जो फिर से संसार में पड़ना उचित नहीं समझतीं और पवित्र जीवन बिताना चाहती हैं। परन्तु उनकी भक्ति का प्रकार समाज सेवा के रूप में प्रकट नहीं होता, बल्कि, बाल बच्चों और संसार से अलग रहने का उनका जितना निश्चय होता है, उतना ही उनके मन में शायद यह भी निश्चय रहता है कि हमको दुनिया की सेवा क्या करनी है। शायद सेवा भी करनी हो, तो घर की ही सेवा है, यह वे समझती हैं। अनासक्ति से, परमात्म-भावना से ही हुई समाज की सेवा का उन्हें खयाल ही नहीं है। वे सेवा करना चाहती हैं, तो सिर्फ बाल-बच्चों की सेवा जानती हैं, या तो फिर चिंतन, मनन और ध्यान करें, यह वे सोचती हैं। जब से वे विधवा बन गयीं, उनके खयाल से सेवा का क्षेत्र गया, इसलिए वे तपस्वी जीवन बिताती हैं। वे तपस्वी जीवन बिताती हैं यह तो अच्छा है। वे भारत के लिए भूषण हैं। परन्तु जन-समूह और दुखियों की सेवा में लगना भी तपस्या का एक उत्तम प्रकार है। उसमें शायद उनको यह डर रहता है कि जन-समाज की सेवा में लग जाएँ, तो कहीं आसक्ति न लग जाए और कहीं फँस न जाएँ। शायद यह भी है कि यदि ऐसी स्त्रियाँ समाज की सेवा में लगेंगी तो पुरुषों को भी कुछ अच्छा नहीं लगेगा।

भारत में समाज सेवा को भक्ति का रूप प्राप्त नहीं हुआ। भक्ति का रूप केवल स्तोत्र पठन, ध्यान, चिंतन, उपवास, व्रत इत्यादि ही है। वे भी भक्ति के रूप हैं, इसमें कोई शक नहीं, परन्तु भक्ति का सब से उत्तम रूप निष्काम, निरपेक्ष और अनासक्त जन-सेवा में है, उसमें ईश्वर स्मरण होता है और वृतनिष्ठा और ब्रह्मचर्य भी होता है, सब कुछ उसमें हो सकता है।

कुमारियाँ आजीवन ब्रह्मचारिणी बनें

यह मैंने विधवाओं की बात प्रकट की, परन्तु अपना पूरा-पूरा जीवन पहले से ही समाज को अर्पण करे, यह भावना स्त्रियों में अत्यन्त कम है। इसप्रकार के पुरुष भी कम होते हैं, लेकिन वैसी स्त्रियाँ तो करीब-करीब नहीं ही होती हैं। यही माना जाता है कि स्त्रियों को तो शादी करनी ही चाहिए। इसके सिवा उनकी कोई गति नहीं है। यह गलत विचार है। यह तो ठीक है कि साधारणत: स्त्री पुरुष सब विवाहित होते हैं और विवाह के जरिए भी काफी सेवा हो सकती है। परन्तु विवाह में पड़े बिना भी समाज की सेवा करनेवाले पुरुष होते हैं। स्त्रियों के लिए हिन्दू धर्म में सहूलियतें कुछ कम हैं। उनमें धर्मशास्त्र का दोष है सो नहीं, लेकिन, हिन्दू समाज में एक प्रथा पड़ गयी है। गार्गी, वाचक्नवी जैसी महाज्ञानी स्त्रियाँ प्राचीन काल में हो गयी हैं। मीराबाई और आंडाल जैसी स्त्रियाँ भी हो गयीं हैं। लेकिन ऐसी मिसालें बहुत कम हैं। हमारे समाज में यह बड़ी कमी रह गयी है। ऐसी स्त्रियाँ भी हो सकती हैं, जो कुमारी ही हों और उसी जीवन से देश-सेविका बन कर समाज सेवा में तन्मय हो जाएँ।

परिवार की महिलाएँ बाहर आएँ

जो स्त्रियाँ घर और परिवारों में काम करती हैं, उन्हें भी घर व परिवार के अलावा बाहर के काम का कुछ मौका मिलना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि स्त्री पुरुष में यह भेद रहेगा कि स्त्री का काम अक्सर परिवार में होगा और उसका संस्कारिता देने का काम प्रधान रहेगा। ऐसा तो रहेगा ही, क्योंकि वह कुदरती है, फिर भी यदि ऐसा है कि पुरुष घर में ध्यान न दें और स्त्रियाँ बाहर ध्यान न दें, तो समाज अच्छा नहीं चलेगा। दोनों का दोनों तरफ योग क्षेत्र चाहिए। आज तो यहाँ तक हो गया है कि हजारों पुरुष रसोई करना जानते ही नहीं हैं। वे समझते ही नहीं हैं कि उनके ज्ञान में कमी है, बल्कि शायद उसे भूषण ही समझते होंगे। कभी रसोई करने का मौका आया तो वे उसे अभाग्य ही समझते हैं। किसी घर की स्त्री किसी कारण रसोई न कर सकी, तो पड़ोसी की बहन आकर बना देगी, लेकिन वह पुरुष नहीं बनाएगा, बनाना जानता ही नहीं होगा, फिर भी अगर लाचार हुआ, तो होटल से खरीद लेगा। जो खाना चाहता है उसे रसोई बनाना आना ही चाहिए। परन्तु हमारे समाज में यह दोष रह ही गया है। घर के कामों में किसी प्रकार का ध्यान और दिलचस्पी पुरुष लोग नहीं रखते। वही हालत अपने देश में स्त्रियों की है। याने, दूसरे देशों में अच्छी हालत है, सो मैं नहीं कहना चाहता। मैंने सुना है कि स्विटजरलैण्ड में स्त्रियों को मतदान का अधिकार ही नहीं है। और वे चाहती भी नहीं हैं, बल्कि ऐसे काम में पड़ना वे अपने मन में नीच कर्म मानती होंगी। यह काम वे पुरुष के लायक मानती होंगी। इस तरह घर का काम और बाहर का काम ऐसा बँटवारा उचित नहीं है। यह घर है और उसमें दरवाजा बनाया है तो बाहर की हवा अन्दर आ सकती है। मान लीजिए कि आप बाहर देख नहीं सकते हैं, तो घर जेल हो जाएगा। कुछ रोमन कैथोलिक बहनें संन्यासिनी हैं, लेकिन जिस तरह मैं चाहता हूँ कि वे सेवामय बनें, ऐसी वे नहीं होती हैं। उनकी स्वतन्त्र संस्था होती है। उन संस्थाओं के इर्द-गिर्द ऐसी दीवारें होती हैं कि मालम होता है कि यह कोई जेल है। लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिए। उसको बाहर की सृष्टि का दर्शन होना चाहिए। यह तो उन्होंने संन्यासिनियों के लिए बनाया, लेकिन हमने करीब करीब घरवाली बहनों के लिए भी यही जेल की-सी हालत

बनायी है। हमारी बहनों को बाहर का दर्शन नहीं होता है। वे घर में ही कैद होकर रहती हैं। स्त्रियों को बाहर की तरफ भी देखना चाहिए।

स्त्रियाँ अपना गुण देकर समाज सेवा करें

आज तक पुरुषों ने समाज का कार-बार चलाया। किन्तु वह अच्छा नहीं चलाया। पच्चीस साल के अन्दर दो विश्व युद्ध हो चुके। तीसरा कब होगा, उसकी रोजमर्रा चर्चा चल रही है। यह पुरुषों के कामों का परिणाम है। इसलिए समाज-सेवा के काम में स्त्रियों को पड़ना चाहिए, लेकिन अपना गुण लेकर ही बढ़ना चाहिए। पुरुषों का गुण स्वीकार कर नहीं, क्योंकि पुरुषों का गुण स्वीकार करके अमेरिका और रूस में कुछ सेवा कार्य चल रहा है, वहाँ पुरुषों के समान बहनें भी हाथ में बंदूक लेती हैं। वहाँ बहनों की पलटनें बनती हैं और वे सेवा की मदद के लिए तैयार रहती हैं। उसको वे स्त्रियों की प्रगति का कार्य मानते हैं। लड़ाई में पुरुष कम पड़ रहे हैं, इसलिए स्त्रियाँ उनकी मदद में बंदूक लेकर जाएँ, यह बात नहीं है, बल्कि पुरुषों ने जो हिंसामय समाज बनाया है, उस हिंसा में से समाज को मुक्त करने के लिए स्त्रियों को अपना गुण लेकर बाहर आना चाहिए। अब यह दृष्टि हमारे ध्यान में आनी चाहिए।

तीन मुख्य बातें

विधवा बहनों को जनसेवा में पड़ना चाहिए और उनकी सेवा अनासक्तिपूर्वक चलनी चाहिए। कुछ कुमारिकाएँ ऐसी होनी चाहिएँ, जो आजीवन पवित्र जीवन बिताएँ और समाज को आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने की कोशिश करें। स्त्रियों को घर के समान बाहर भी ध्यान देना चाहिए। आज समाज की रचना हिंसा की बुनियाद पर हुई है। उसे बदलना है। पुरुषों को भी घर के काम में ध्यान देने के लिए प्रेरित करना होगा। समाज में स्त्रियों का इतना त्रिविध कार्य पड़ा है। स्त्रियों को उद्योग की तालीम मिलनी चाहिए। उनको शिक्षा भी मिलनी चाहिए। देश की स्त्रियाँ ऐसी तेजस्वी निकलें कि जो समाज का परिवर्तन करने में समर्थ हों, तो हम समझेंगे कि यह कार्य यशस्वी हुआ।

स्त्रियों के आगे बढ़ने की योजना नए समाज का पावर हाउस होगी और उसकी सब ओर शक्ति फैलेगी। आसपास की जनता के साथ इसका गहरा सम्बन्ध होना चाहिए। लोगों के जीवन से ओतप्रोत हो जाना चाहिए। जो लड़कियाँ तैयार हों, वे उत्तम जीवन व्यतीत करें और जहाँ भी जाएँ, अपने सुन्दर जीवन की सुगन्ध ले जाएँ। और आसपास के वातावरण को खुशबूदार बनाएँ। "गीता प्रवचन" जैसी किताबें एक दफा पढ़ने की नहीं है। उसका सतत अध्ययन होना चाहिए। हर लड़की आत्मनिष्ठ होनी चाहिए, जो शरीर को सेवा का साधनमात्र समझे और अपने शरीर से भिन्न समझे।

**

छुआछूत तथा किसी को नीचा और किसी को ऊँचा समझने का भाव हिन्दू समाज का कोढ़ है। रोग जब तक शरीर में रहता है, तब तक शरीर स्वस्थ नहीं हो सकता। समाज रूपी शरीर में भी जब तक ऐसे कोढ़ लगे रहेंगे, तब तक वह अपना विकास नहीं कर सकता। इस रोग को जैसे भी हो, हम जल्द से जल्द दूर करें। अस्पृश्यता हिन्दू समाज का कोढ़ है।

—महात्मा गांधी

**



महात्मा बुद्ध

पीड़ित मानवता के उद्धार के लिए अवतार



महात्मा बुद्ध की जातिगत व्यवस्था

श्री परमानन्द दोषी, एम० सी०, एल० एस०-सी०

पुरातत्व विभाग, भारत सरकार, मध्य-पूर्वीय क्षेत्र

भारत ही क्यों, विश्व के समस्त जीवित धर्मों में बौद्ध धर्म की उत्कृष्टता स्वतः प्रमाणित है। यों, प्रत्येक धर्म के अनुयायी को उसका धर्म प्रिय होता है और अन्य धर्मों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ मालूम पड़ता है। यह भी सत्य है कि सभी धर्मों के जो मूल तत्व हैं वे न्यूनाधिक एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। किन्तु, धर्मों के विस्तृत विवरणों के निरपेक्ष विश्लेषण और परीक्षा से यह प्रकट होता है कि विभिन्न धर्मों में, बहुत-कुछ साम्य होते हुए भी कहीं-कहीं अन्तर अवश्य है। यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि किसी धर्म-विशेष की विशिष्टता की कसौटी उसके अनुयायियों की अतिशयोक्तिपूर्ण और प्रशंसात्मक उद्घोषणाएँ नहीं होतीं, बल्कि कार्य और स्थान की दूरव्यापी परिधि को लाँघ कर अपने अस्तित्व को बनाये रखने, अपने रूप और क्षेत्र का विस्तार करने तथा अन्य धर्मों की प्रतियोगिता में जीवित बने रहने की क्षमता ही किसी धर्म की वरेण्यता को प्रमाणित करती है। इन सभी दृष्टियों से देखने पर बौद्ध धर्म एक सर्वगुण सम्पन्न धर्म सिद्ध होता है। उपर्युक्त सारे गुणों की स्पष्ट झलक इसमें मिलती है। बौद्ध धर्म के इतना व्यापक और स्थायी होने का रहस्य भी यही है। अतः यहाँ कुछ पंक्तियों में, बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध की जाति-भेद सम्बन्धी धारणाओं, मान्यताओं और स्थापनाओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है।

क्षत्रियों का प्राधान्य

जिस काल में बौद्ध का आविर्भाव हुआ था, उससे काफी दिनों पूर्व से ही जाति-भेद की परम्परा भारत में कायम थी। वेदकालीन भारत तो प्रच्छन्न रूप से जाति-भेद के लिए कुख्यात था ही; परन्तु इसके पूर्व का काल भी इससे अछूता हो, ऐसी बात नहीं है। सप्तसिंधु-प्रदेश की जो सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि व्यवस्थाएँ प्रकाश में आयी हैं वे इस बात के यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि जाति एवं वर्ण-व्यवस्था का उस काल के जन-जीवन में समावेश था। महाभारत के कई स्थल इस उक्ति की पुष्टि करते हैं। आर्यों के इस देश में आगमन के पूर्व ही जाति-भेद के विष-वृक्ष में समस्त सामाजिक जीवन को आच्छादित कर लिया था। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।९०।१२) की एक ऋचा, जिसे उस काल में अन्यतम मान्यता प्राप्त थी :—

आर्यों के आगमन के पूर्व

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैस्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

इसका अर्थ यों है—एक विराट् पुरुष का मुख ब्राह्मण था। बाहु क्षत्रिय था। उसकी जाँघें वैश्य थीं। और उसके पाँवों से शूद्र उत्पन्न हुआ। यह ऋचा बतलाती है कि आर्यों के इस देश में आगमन के पूर्व

विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति के कैसे-कैसे सिद्धान्त समाज में प्रचलित थे। ब्राह्मणों का सिंहासन काल के प्रहार से डोलता रहा एवं उनकी महत्ता और प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर घटती गयी। जिस अनुपात से ब्राह्मणों के महत्व घटते थे, उसी अनुपात से, बल्कि उससे भी अधिक मात्रा में, क्षत्रियों के महत्व में वृद्धि हो रही थी। क्षत्रियों के महत्व बुद्ध-काल से वर्द्धमान एवं विकसित होते रहे। क्षत्रियों के विकासोन्मुख मान के प्रमाण स्वरूप बृहदारण्यक, १।४।११ का यह अंश द्रष्टव्य है :—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव। तदेकं सन्न व्यमवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत् क्षत्रं. . . .

अर्थात्—पहले केवल ब्रह्म था, परन्तु अकेले रहने के कारण उसका विकास नहीं हुआ। उसने क्षत्रिय जैसी उत्कृष्ट जाति उत्पन्न की। देवलोक के इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान—ये क्षत्रिय थे। अतः क्षत्रिय जाति से उत्कृष्ट कोई दूसरी जाति नहीं है और इसीलिए ब्राह्मण अपने को हल्का समझ कर क्षत्रिय की उपासना करता है।

जाति-भेद की निःसारता

महात्मा बुद्ध के समय में क्षत्रियों का महत्व बढ़ता जा रहा था, परन्तु क्षत्रियों के लड़ाई-भिड़ाई के जो कार्य होते थे वे बुद्ध के विचारों एवं बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रतिकूल होते थे ; क्योंकि कहाँ बौद्ध धर्म का मूल मंत्र "अहिंसा" और कहाँ युद्धलिप्सा ! इन दोनों बातों के परस्पर विरोधी होने के कारण ही क्षत्रियों को महात्मा बुद्ध का विशेष समर्थन नहीं प्राप्त था। एक क्षत्रिय के ही प्रति उनकी धारणा अच्छी या खराब क्यों रहे, इसी कारण समग्र जाति-भेद व्यवस्था ही उन्हें अनुपयोगी और अवांछनीय प्रतीत हुई।

इस बात के प्रमाण बौद्ध ग्रन्थों में प्रचुर परिमाण में प्राप्त हैं। विभिन्न निकाय, जातक, गाथा तथा इसी प्रकार के अन्यान्य बौद्ध साहित्य में ऐसी कथा-कहानियां तथा कथोपकथनों का अभाव नहीं है जिनसे उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता सहज ही सिद्ध होती है। आगे की पंक्तियों में उन्हीं ग्रन्थों से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। "सुत्तनिपात" और "मज्झिमनिकाय" के एक कथोपकथन का विवरण इस प्रकार है :—

"बात उन दिनों की है जिन दिनों बुद्ध भगवान इच्छानंगल नामक ऐसे गाँव के निकटवर्ती उपवन में रहते थे जहाँ ब्राह्मण जाति के लोगों की ही प्रमुखता और प्रचुरता थी। उसी गाँव के दो ब्राह्मण किशोरों में एक वार जाति-भेद के प्रश्न को लेकर विवाद छिड़ गया। मनुष्य जन्म से श्रेष्ठ होता है अथवा कर्म से—यही विवाद का विषय था। जब वे आपस में ही उस प्रश्न को हल करने में असमर्थ रहे तो वे दोनों महात्मा बुद्ध के पास पहुँचे। दोनों के अपने-अपने तर्क प्रस्तुत कर लेने के उपरान्त भगवान बुद्ध बोले, "तृण, वृक्ष आदि वन वनस्पतियों में विभिन्न जातियाँ पाई जाती हैं। यही बात कीड़े-मकोड़े आदि क्षुद्र प्राणियों में भी हैं। साँपों, पानी में रहनेवाले मत्स्यों और आकाश में उड़नेवाले पक्षियों की भी अनेक जातियाँ हैं। उनकी भिन्नता के चिह्न उन प्राणि-समुदायों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। परन्तु मनुष्यों में भिन्नता का चिह्न नहीं पाया जाता। बाल, कान, नाक, मुँह, होंठ, भौंह, गला, पेट, पीठ, हाथ, पाँव आदि अवयवों में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से पूर्णतया भिन्न नहीं है। अर्थात् पशु-पक्षियों में आकारादि से जैसे विभिन्न जातियाँ पाई जाती हैं, वैसी मनुष्यप्राणी में नहीं है। सब मनुष्यों के अवयव लगभग समान ही होने से मनुष्यों में जाति-भेद निश्चित नहीं किया जा सकता, परन्तु मनुष्य की जाति-कर्म से निश्चित की जा सकती है।

क्या वह ब्राह्मण है ?

"यदि कोई ब्राह्मण गाएँ पाल कर निर्वाह करता हो, तो उसे ब्राह्मण नहीं, ग्वाला कहना चाहिए। जो शिल्प-कला से आजीविका चलाए वह कारीगर है। जो व्यापार करे वह बनिया, दूत का काम करनेवाला दूत, चोरी से जीविका चलानेवाला चोर, युद्ध-कला से पेट पालनेवाला योद्धा, यज्ञ-योगों से जीवन-निर्वाह करने-

वाला बालक और राष्ट्र पर आधार रख कर जीविका चलानेवाला राजा है। परन्तु इन में से किसी को भी जन्म के कारण ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता।"

महात्मा बुद्ध के कथन

"जो सारे संसार के बन्धनों को काट डालता है, किसी भी सांसारिक दुःख से नहीं डरता, जिसे किसी भी बात की आसक्ति नहीं होती, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। कमल-पत्र पर के जल-बिन्दु की तरह जो इहलोक के विषय-सुखों से अलिप्त रहता है, उसीको मैं ब्राह्मण कहता हूँ......"

"जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता, और न अब्राह्मण ही। कर्म से ही ब्राह्मण और अब्राह्मण होता है। किसान कर्म से होता है, कारीगर कर्म से होता है, चोर कर्म से होता है, सिपाही कर्म से होता है, याचक कर्म से होता है और राजा भी कर्म से ही होता है। कर्म से ही सारा जगत् चलता है। जिस प्रकार धुरी पर आधार रख कर रथ चलता है, उसी प्रकार सारे प्राणी अपने-अपने कर्म पर आधार रखते हैं।"

भगवान बुद्ध के तर्कपूर्ण भाषण के पश्चात् दोनों किशोर ब्राह्मण बड़े ही प्रभावित हुए और उनके उपासक बन गए। यह वृतान्त "मज्झिमनिकाय" के "वाशिष्ठसूत्त" से उद्धृत है।

"मज्झिमनिकाय" के "अस्सलायनसूत्त" में आश्वलायन और महात्मा बुद्ध के बीच हुए वाद-संवाद से भी यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि बुद्ध भगवान को किसी जाति-विशेष के प्रति कोई आग्रह नहीं था।

कथा इस प्रकार है—जिन दिनों भगवान बुद्ध श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के आवास में रहते थे, उन्हीं दिनों विभिन्न स्थानों के लगभग पाँच सौ ब्राह्मण श्रावस्ती में गए हुए थे। उनमें गौतम के इस सिद्धान्त की बड़ी चर्चा थी कि चारों वर्गों को मोक्ष मिलता है। सभी ब्राह्मणों ने मिल कर गौतम के इस सिद्धान्त को तथ्यहीन सिद्ध करने की ठानी और शास्त्रार्थ के लिए निघंटु, छन्दःशास्त्र, वेद-वेदांग आदि में पारंगत आश्वलायन नामक एक कुमार को अगुआ बनाकर सब के सब भगवान बुद्ध के पास पहुँचे। वाद-विवाद का प्रमुख विषय पुरुषसूक्त की ऋचा का वह अंश था जिसमें ब्राह्मणों के ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने की बात कही गयी है। महात्मा बुद्ध आश्वलायन से प्रश्न पर प्रश्न करते गए और कुमार आश्वलायन उनके उत्तर देता गया और उन्हीं प्रश्नोत्तरों के द्वारा उन्होंने चातुर्वर्ण्य—शुद्धि की बातें कुमार आश्वलायन के मन-मस्तिष्क में इस भांति पिला दीं जिससे वह (कुमार आश्वलायन) उनका परमोपासक और भक्त बन गया।

चार वर्ण

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के कर्त्तव्य-निर्धारण के सम्बन्ध में यह जो गलत धारणा फैली हुई थी कि ब्राह्मण की परिचर्या चारों वर्ण कर सकते हैं; क्षत्रियों की परिचर्या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर सकते हैं; वैश्यों की परिचर्या वैश्य और शूद्र ही करें और शूद्र की परिचर्या केवल शूद्र ही कर सकता है, इसकी भी तथ्यहीनता और निस्सारता भगवान बुद्ध ने प्रतिपादित की है, जिसका उल्लेख "मज्झिमनिकाय" के ९६ संख्यक एसुकारीसूत्त में मिलता है। एसुकारी नामक एक ब्राह्मण ने इसका प्रसंग भगवान बुद्ध के सम्मुख एक बार छेड़ा था और अन्त में वह उनके तर्कों से ऐसा पराजित हुआ कि उनका शिष्य बन कर रह गया।

जाति-भेद का खोखलापन

जाति-भेद के खोखलापन की भगवान बुद्ध आजीवन भर्त्सना करते रहे। उनके इन प्रयत्नों के प्रशंसक उनके जीवन-काल तक ही लोग रह सके, अथवा उनके समर्थक केवल उनके समकालीन लोग ही रहे, ऐसी बात नहीं है। "मज्झिमनिकाय" का सूत्त संख्यक ८४ "मधुरसूत्त" के नाम से प्रसिद्ध है। मथुरा के तत्कालीन शासक अब अवंतिपुत्र और कात्यायन के कथोपकथनों के द्वारा भी यह निष्कर्ष निकाला

गया [illegible] ब्राह्मण-वर्ण की श्रेष्ठता कोरे प्रचार के सिवा अन्य कुछ नहीं है। यह घटना महात्मा बुद्ध के महा-परिनिर्वाण के पश्चात् की ही है।

जाति-भेद अप्राकृतिक है

उपर्युक्त सारे सूत्त भगवान बुद्ध की जाति-भेद-धारणा को स्पष्ट कर देते हैं। "वाशिष्ठसूत्त" में जाति-भेद को अप्राकृतिक मानने की बात है, तो "अस्सलायनसूत्त" में ब्राह्मणों के ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने की बात को तथ्यहीन प्रमाणित किया गया है। "एसुकारिसूत्त" में ब्राह्मणों के द्वारा सभी वर्णों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्धारण को अनाधिकारिक बतलाया गया है और "मधुरसूत्त" में यह स्पष्टतया दिखला दिया गया है कि आर्थिक एवं नैतिक दृष्टि से जाति-भेद की कल्पना पूर्णतः थोथी और अर्थहीन है। इन सारे सूत्तों पर गंभीरता एवं सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से इस बात की पुष्टि के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं कि भगवान बुद्ध जाति-भेद को नितान्त गर्हित, अवांछनीय और अनावश्यक समझते थे।

**

धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे

भारतवर्ष की एक इकाई, राष्ट्रत्व और देशभक्ति का सरस राग ऋषियों ने वर्णन किया है। भारत के प्रांत, नदियां, सरोवर, तीर्थ, आश्रम तथा नगरों के वर्णन में सदा जागरूक रह गया है। भारत की भूखण्डता तथा एकत्व का स्मरण प्रतिदिन प्रत्येक भारतीय स्नान, पूजा और संकल्प के समय करता था। उससे समग्र भारत के स्मरण को कहा गया, न कि क्षेत्र विशेष का।

भारत भूमि को इतना महत्त्व दिया गया कि देवगण भारतीयों की धन्यता के गान करते हैं। यह भारत देश स्वर्ग—तथा मोक्ष प्राप्त करने का सुखद स्थल है और देव होने के उपरांत मानव भारत में जन्म लेकर कल्याण प्राप्त करता है।

कहा है :—

गायन्ति देवाः खलु गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्ग भूते भवन्ति भूयःपुरुषः सुरत्वात ॥

स्वर्ग में कल्प की आयु पाने की अपेक्षा भारत में क्षण भर की आयु प्राप्त करना श्रेष्ठतम है। इस कर्म-भूमि में क्षण भर में किए गए कर्मों का संयास कर मानव भगवान के अभय पद को सद्यः प्राप्त करता है।

कल्पायुषां स्थान जयात् पुनर्भावात् क्षमा पुषां भारत भू जुयो बरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यास्यः संयान्त्यमयं परं हरेः ॥

भारत में जन्म लेना देवताओं के भी ईर्ष्या का विषय है। देवगण भारत में जन्म लेने के लिए तरसा करते हैं। और भारतीयों के शोभन कार्यों की भारी प्रशंसा करते हैं कि उन पर स्वयं भगवान प्रसन्न रहते हैं। भारत में जन्म लेना भगवान की सेवा का साधन है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, और इसलिए भारत में उत्पन्न होने के लिए हमारी भी स्पृहा है। —अथर्ववेद मंत्र ४१

धर्म और सामाजिक विधान

श्री भँवरमल सिंघी, एम० ए०

भारत में धर्म का सदा दबाव अधिक रहा है। हरएक प्रश्न पर, वह व्यक्तिगत हो, या सामाजिक अथवा राजनीतिक, उसे धर्म के साथ जोड़ दिया गया। हमने खान-पान और रहन-सहन को भी धर्म के खूंटे से बाँध दिया है। धर्म तत्वचिंतन के लिए है, उसका आध्यात्म रूप है, किन्तु हमारे जिन सामाजिक और सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक बातों का धर्म या कहिए कि आध्यात्मिकता से दूर दराज का भी सम्बन्ध नहीं, उनको भी हम ने धर्म का चोगा पहना दिया। इसलिए साहित्य, कला, नृत्य-संगीत, शासन और विवाह आदि के सामाजिक प्रश्नों में धर्मादेश ही सब कुछ हो गए। सारा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन धर्म के विधि-निषेधों में बँध गया। और उसका परिणाम यह हुआ कि जिनके हाथ में धर्म की बागडोर थी, उन्हींके हाथ में सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यों की भी बागडोर थी। विधायक और प्रशासक दोनों एक ही हुए। अतएव, सारी समाज व्यवस्था के संहिताकार और सूत्र संचालक धर्माचार्य बन गए। चूंकि धर्म का एकाधिकार लगभग ब्राह्मण वर्ग के हाथ में सीमाबद्ध था, इसलिए सारी प्रभुता का केन्द्र ब्राह्मण बन गया और इस धर्मोपजीव ब्राह्मण सम्प्रदाय ने अपनी स्थिति को बिल्कुल सुरक्षित बना कर रखने के उद्देश्य से धर्म को ईश्वर प्रणीत और धर्म के आदेशों को ईश्वरीय विधान बता कर जन-साधारण से उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंका करने या उन पर अँगुली उठाने का भी अधिकार छीन लिया। ब्राह्मण वर्ग में भी जिन लोगों ने संन्यास लेकर साधुत्व का वेश बनाया, वे तो मानो हर प्रकार से अखण्ड सत्ता के स्वामी बन गए और समाज का साधारण व्यक्ति ही नहीं, राजा तक उनका मुखापेक्षी हो गया। इस एकछत्र सत्ता भोग की स्थिति ने निहित स्वार्थों की सृष्टि कर दी, जो स्वाभाविक ही थी। ये निहित स्वार्थ शासक वर्ग और साधु संन्यासी वर्ग के बीच पारस्परिक हितलाभ के लिए गठबन्धन के परिणाम थे। यह गठबन्धन सहस्रों वर्षों तक रहा और आज भी है। इनके हाथ में इतनी सत्ता आ गयी थी कि बड़े-से-बड़े तूफान भी इस गठबन्धन को न तोड़ सके। अंग्रेजों के शासन काल में योरप की औद्योगिक उन्नति और फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के परिणामवत, भारत में भो नयी हवा का प्रवाह आया, किन्तु धर्मादेशों की कठोर चट्टानों पर उन प्रवाह और झोंकों का कोई प्रभाव न पड़ा। वे अडिग थे। १८५७ की क्रान्ति ने धार्मिक निहित स्वार्थों को और मजबूत बना दिया और अंग्रेजों ने उनकी प्रसन्न करने के लिए यह एलान कर दिया कि इस देश के धार्मिक मामलों में वे जरा भी हस्पक्षेप न करेंगे। इस प्रकार १८५७ की जन-क्रान्ति की विफलता ने जहाँ एक ओर राजनीतिक आकांक्षाओं को धक्का पहुँचाया, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक सुधार के कानूनी रास्ते बन्द कर दिए। ब्रिटिश शासकों ने राजनीतिक और सामाजिक प्रगति की कीमत पर राज्य-भक्ति का सौदा किया। उसके बाद कई वर्षों तक सामाजिक जड़ता के विरुद्ध मानो कहीं कोई आवाज ही नहीं पनप पायी, परन्तु जो आग एक बार जल चुकी थी, उसका बिल्कुल बुझना संभव न था। शासन और धर्म का गठबन्धन किस प्रकार जन-जीवन के प्रति खेलवाड़ कर रहा था, उस पर शोषण और अत्याचार हो रहे थे, यह बात उभरती चली गयी। तब सामाजिक सुधारकों का अभियान फिर वेग लेकर उठा। धर्म ने, धर्म-गुरुओं ने ईश्वर का नाम लेकर शासन द्वारा किए गए धर्म में न-हस्तक्षेप के वादों की दुहाई देकर इस अभियान को थोपने और विफल करने का प्रयत्न किया। देश के प्रगतिशील एवं प्रगतिगामी तत्वों में जोरों का संघर्ष हुआ। समाज सुधार के मामलों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन करनेवाले और सामाजिक प्रगति तथा परिवर्तन के पक्षपाती एक ओर हो गए और शासक एवं प्रतिक्रियावादी तत्व-धर्म-गुरु तथा धर्मोपजीवी दूसरी ओर हो गए। यह विभाजन स्पष्ट था।

१९४७ में राजनीतिक नक्शा बदला। शासन में उन लोगों का बहुमत हो गया, जो सामाजिक मामलों में प्रगतिशील दृष्टि रखते थे। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मामलों में धर्म का हस्ताक्षेप और धर्म

के दृष्टिकोण को कतई पसन्द नहीं किया गया। राजनीतिक उथल-पुथल से उत्पन्न हुई स्थिति के शान्त होने पर नए शासक दल ने वर्षों से रुके हुए समाज सुधार सम्बन्धी कानून का द्वार फिर से खोला। बहुत से प्रश्नों को तो संविधान की रचना के समय ही सुलझा दिया गया और यह निश्चय किया गया कि धर्म निरपेक्ष राज्य का उद्देश्य सामने रख कर देश का शासन किया जाएगा, मानो धर्म की रीढ़ ही तोड़ दी। इस चोट से सारा तथा-कथित धर्म वर्ग तिलमिला उठा और अपने धर्म पर महान् खतरा, तथा धर्म डूबा' आदि के नारों से आकाश गुंजायमान कर दिया। पर नए विधान के निर्माताओं के जबर्दस्त बहुमत ने इस हो-हल्ले की पर्वा न की और फिर क्रम से हिन्दू विधान सम्बन्धी कई विधेयक स्वीकृत किए। हिन्दू कोड को प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने राष्ट्रीय सरकार का महान् कदम प्रकट कर धर्म के घायल शेरोंको पुनः छेड़ दिया और इस कानूनके विरोध में धर्म रक्षा, समाज रक्षा के नाम पर बहुत कुछ संगठित विरोध हुआ। पर किन्तु इस विरोध के आगे नेहरूजी चट्टान की तरह खड़े रहे, वे जरा भी न हिले। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू कोड के सारे विधान सरलता से संसद ने स्वीकृत किए।

हिन्दू कोड के विधानों का संसद से स्वीकृत होना सामाजिक क्षेत्र में नयी क्रान्ति का बीज बपन करने-वाला हुआ। इसने यह बता दिया कि सामाजिक क्षेत्र में धर्म का कोई हस्तक्षेप न माना जाएगा।

दलितों और स्त्रियों के अधिकार सम्बन्धी कानून संसद से स्वीकृत हुए हैं, किन्तु उनके स्वीकृत होने पर भी धर्म और धार्मिक तत्वों के षड्यन्त्र और उसके नाम पर निहित स्वार्थ वालों की पैंतरेबाजियों का अभी जरा नाश नहीं हुआ है। जो लोग धर्म के नाम से पलते हैं उनका काम है कि हर मौके पर नए विचार और नए परिवर्तनों का विरोध करना। इस विरोध से वे अपने निर्बल ईश्वर और उसके धर्म तथा शास्त्रों की रक्षा करना कहते हैं। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे अपने अन्नदाता सेठ-साहूकार और जमींदार तथा जागीरदार की सेवा करते हैं। इस तत्व का जब तक अन्त न होगा तब तक जन-जीवन अज्ञान, अन्धविश्वास और रूढ़ियों के पाश से बाहर न निकल सकेगा। इनके काले कारनामे कब तक छिपे रह सकते हैं। उन्हें स्वयं ही यह भय है कि बकरे की माँ कब तक खैर मनाएगी। जिस दिन हम ऐसा विधान बना सकेंगे कि ये तत्व न रहें, उनकी आवाज न रहे और राष्ट्र तथा समाज की प्रगति में बढ़ना हरएक व्यक्ति के लाजिमी करार दिया जाए, उस दिन भारत भूमि पर नया आलोक और नए जीवन का पदार्पण होगा।

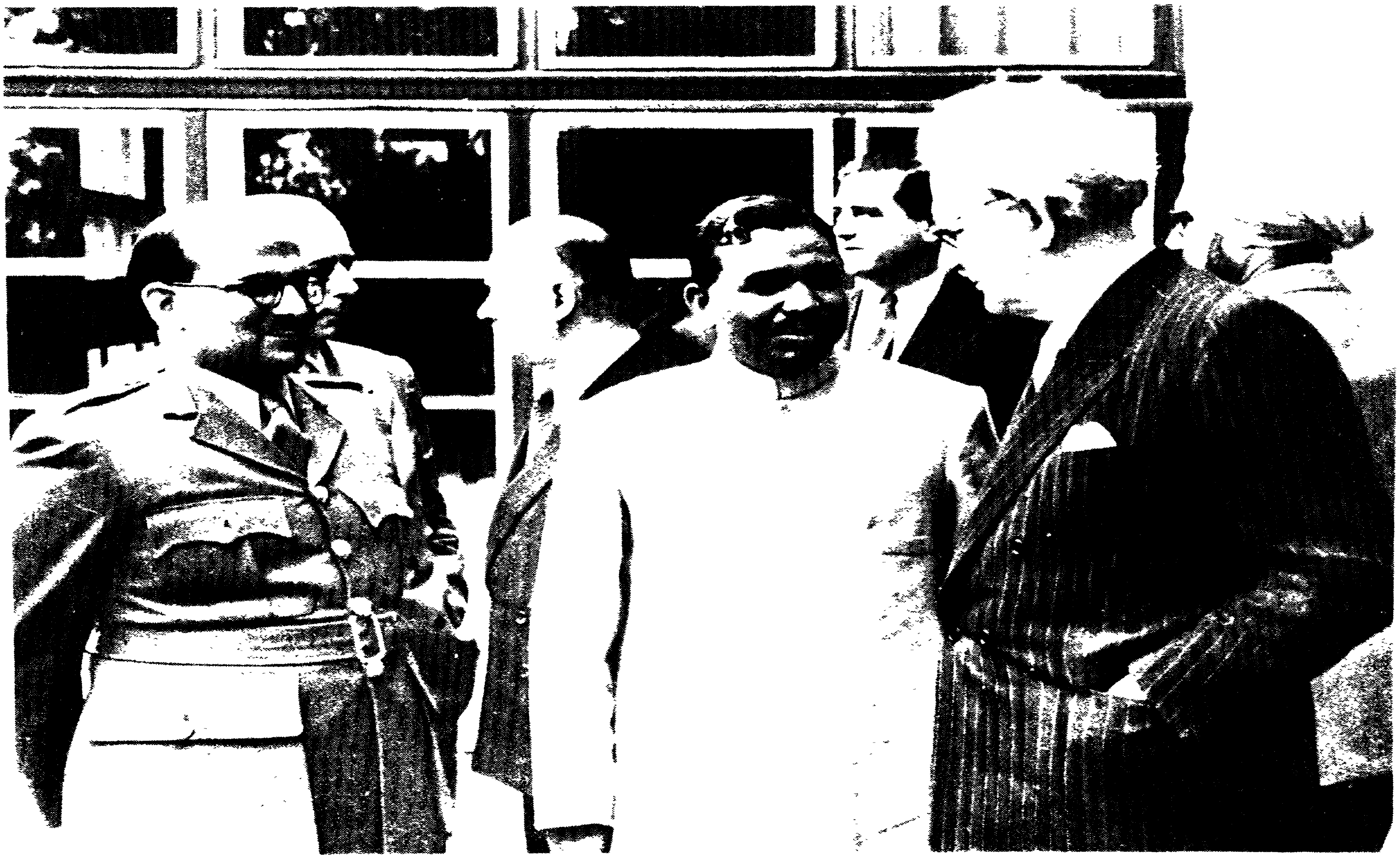
**

हे धरती, तू बड़ी कृपण है, कठिन श्रम और एड़ी चोटी का पसीना एक कर देने के बाद तू हमें अन्न प्रदान करती है। बिना श्रम के तू हमें अन्न दे दिया करे, तो तेरा क्या घट जाएगा ?

धरती मुसकरायी,—'मेरा तो इससे गौरव ही बढ़ेगा, किंतु तेरा गौरव सर्वथा लुप्त हो जाएगा।'

'तू चल उठ, यहाँ क्या गोमुखी में हाथ डाले जप रहा है, यदि भगवान के दर्शन करने हैं, तो वहाँ चल, जहाँ किसान जेठ की दुपहरी में हल चला रहे हैं और चोटी का पसीना एड़ी तक बहा रहे हैं।'

—कविवर रवीन्द्रनाथ



विदेश के––एक आयोजन में बाबू जगजीवनरामजी



नई दिल्ली में उप-राष्ट्रपति डाक्टर राधाकृष्णन, श्री जगजीवनरामजी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट दे रहे हैं।



श्री जवाहरलाल नेहरू के साथ बाबू जगजीवनराम

हरिजन समस्या

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

समाज कल्याण तथा वित्त मंत्री राजस्थान

प्राचीन सभ्यता, उदार संस्कृति एवं गम्भीर तत्व गुणोंके आधारपर विश्व के इतिहासमें भारत का स्थान सदा शिरोमणि रहा है। सर्वप्रथम मानवता ने यहीं संस्कार प्राप्त किया। यहाँ ही एक सुन्दर समाज-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ और ज्ञान की उस ज्योति से शनैः-शनैः विश्व के अन्य भाग आलोकित हुए। ओजस्वी भावनाओं से पूर्ण भारत उस समय जातपांत व छूआछूत की अप्राकृतिक श्रेणियों में विभक्त नहीं था। कालान्तर में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' व "आत्मवत् सर्वभूतेषु' की महिमामयी लोक-कल्याणकारी भारतीय परम्परा के विपरीत उसमें संकुचित स्वार्थ साधन की भावना इतनी प्रवृत्त हो गई कि हम साधारण मानवीय कर्त्तव्यों को ही भूल गए।

मानव का विभाजन

व्यक्ति की इस अत्यधिक स्वार्थपरता तथा समष्टि हित के प्रति उदासीनता के कारण सामाजिक संघर्ष और विषमताएँ उत्पन्न हो गईं। सभी देशों में साधन सम्पन्न वर्ग साधनहीन वर्गों का शोषण करते पाए जाते हैं; किन्तु हमारे देश में तो यह स्थिति और भी विषम हो गई है। यहाँ जातपांत और सम्प्रदाय की सैकड़ों दीवारों से मानवता को विभाजित कर दिया गया है और अनेक जातियों पर छुआछूत की अयोग्यता भी लाद दी गई है।

जातपांत की उलझनें

जातपांत और तदजन्य छुआछूत की भावना हमारे धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के लिए बहुत ही घातक सिद्ध हुई है। पिछली शताब्दियों का इतिहास हमें यह बता रहा है कि जातिभेद, साम्प्रदायिक संघर्ष एवं सवर्ण व अवर्ण की धारणाएँ हमें पतन और दासता के गहरे गर्त में उतारने के लिए जिम्मेदार हैं। महावीर, भगवान बुद्ध, चैतन्यमहाप्रभु, नामदेव, तुकाराम, कबीर, दादू, गुरु गोविन्दसिंह, स्वामी दयानन्द, केशवचन्द्र सेन आदि ने जातपांत और ऊँच-नीच के भेदभावों पर प्रहार किए, किन्तु कालान्तर में उनके अनुयायी अपने प्रवर्तकों के आदर्शों को निभा नहीं सके और जातपांत के प्राचीन बन्धनों पर नई जातपांत के बन्धन और जकड़ दिए गए। इस्लाम और ईसाई-धर्म का जब प्रादुर्भाव हुआ, तो उसमें जातपांत का बन्धन नहीं था किन्तु भारत के मुसलमान और ईसाई भी जातपांत में उलझे हुए हैं।

महात्मा गांधी का नेतृत्व

महात्मा गांधी ने प्रचलित कुरीतियों का विरोध करके एक समन्वयमूलक जीवन धर्म प्रतिपादित किया और राष्ट्र को संगठित करने के लिए विभिन्न जातियों में एकता और सम्प्रदायों में सहिष्णुता लाने का प्रयत्न

किया। दलित और अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों को 'हरिजन' नाम देनेवाले महात्मा गांधी हैं। उन्होंने हरिजनों के उत्थान कार्य को राष्ट्रीय महासभा के रचनात्मक कार्यक्रम में स्थान दिया। तब से अस्पृश्यता निवारण में प्रगति हुई है। सन् १९३२ में जब ब्रिटिश सरकार निर्वाचन के लिए अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने लगी, तो उन्होंने अपने अनशन से उस कुचेष्टा को असफल किया। इस सम्बन्ध में २५ सितम्बर १९३२ को स्वर्गीय महामना पंडित मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में हिन्दुओं के प्रतिनिधियों की एक सभा में यह प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत किया गया कि अब से किसी आदमी को जन्म से अछूत नहीं समझा जाएगा और अब तक जो आदमी अछूत माना जाता था, उसको भी सार्वजनिक कुंओं, सड़कों व अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के व्यवहार के सम्बन्ध में वही अधिकार होंगे, जो अन्य हिन्दुओं को हैं। और अवसर मिलते ही इस सम्बन्ध में कानून बना दिए जाएँगे। इसके उपरांत आप हरिजनों की स्थिति सुधारने की ओर अधिक ध्यान देने लगे। इस कार्य के लिए श्री घनश्यामदास बिड़ला तथा श्री ठक्कर बापा की अध्यक्षता में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की गई। स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर समता व समानता के उच्च लोकतान्त्रिक मूल्यों के आधार पर देश का विधान बनाया गया।

संविधान द्वारा अस्पृश्यता का अन्त

संविधान में पिछड़े हुए वर्गों की अयोग्यताओं को दूर करने के लिए समुचित प्रावधान रखा गया है, जिससे वे नागरिकों की समता में आकर विकास के समान अवसरों का उपभोग कर सकें और राष्ट्रोत्थान के कार्यों में साझीदार बन सकें।

संविधान की धारा १७ के अनुसार अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। संविधान के अन्तर्गत राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, राज्य जनता के पिछड़े वर्गों के शैक्षणिक, आर्थिक व सांस्कृतिक उन्नति का ध्यान रखे और हर प्रकार के अन्याय व शोषण से उनकी रक्षा करे।

संविधान की धारा ३३० व ३३२ के अनुसार अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जन-जातियों के लिए संसद व राज्य विधान सभाओं में दस वर्ष के लिए स्थान सुरक्षित रखे गए हैं। संसद में एक विधेयक स्वीकृत करके छुआछूत को अपराध घोषित कर दिया गया है जो समस्त राष्ट्र में जारी है। राजस्थान में भी कानून द्वारा छुआछूत व तद्जन्य अयोग्यता का किसी भी रूप में आचरण करना निषिद्ध घोषित कर दिया गया है। राज्य की उच्च सेवाओं में १२॥ प्रतिशत व चतुर्थ सेवाओं में अनुसूचित जन-जातियों के लिए १५ प्रतिशत रिक्त स्थान सुरक्षित रखे गए हैं, जिनका लाभ उठाकर वे आगे बढ़ रहे हैं। संसद व राज्य विधान सभा में भी उनका समुचित प्रतिनिधित्व है। राजस्थान के संसद में अनुसूचित जातियों के तीन एवं अनुसूचित जन-जातियों के दो सदस्य हैं। राज्य विधान सभा के कुल १७६ सदस्यों में से २८ अनुसूचित जातियों एवं २० अनुसूचित जन-जातियों के स्थान सुरक्षित हैं। राज्य की पंचायतें एवं नगरपालिकाओं में भी उनके लिए स्थान सुरक्षित हैं।

राजस्थान में अस्पृश्यता का निवारण

राजस्थान में सन् १९५१ में समाज-कल्याण विभाग की स्थापना द्वारा पिछड़े हुए लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के आन्दोलन को एक नवीन दिशा मिली है। पिछड़े हुए वर्गों के आर्थिक, सामाजिक, व शैक्षणिक उन्नति के लिए बहुमुखी योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। प्रथम पंचवर्षीय-योजना के काल में इन कार्यों पर ९४ लाख रुपए व्यय हुए हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में समाज कल्याण कार्यों के लिए ३.५९ करोड़ से भी ऊपर धनराशि रखी गई है, जिससे इन कार्यों का काफी विस्तार हो सकेगा। सदियों के शोषण के फलस्वरूप व्याप्त अज्ञान व गरीबी का अन्त करने व समाज सुधार के जो कार्य किए गए हैं, उनमें पिछड़े हुए वर्गों का जीवन स्तर उन्नत हुआ है, उनमें उन्नत जीवन, व्यतीत करने की चेतना पैदा हुई है और वे उन्नतवर्गों के समकक्ष आने के लिए प्रयत्नशील हैं।

अस्पृश्यता व उससे उत्पन्न कोई भी अयोग्यता दंडनीय घोषित कर दी गई है। सार्वजनिक भोजनालय, कुएँ, तालाब, मन्दिर आदि सब हरिजनों के लिए खुले हैं और उनमें प्रवेश करने में उनके साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव करना दंडनीय है। अब जनता संविधान के महत्त्व को समझने लगी है और छुआछूत दूर करने की ओर आगे बढ़ रही है। राज्य में मनाए गए गत समाज कल्याण सप्ताह के दौरान में राजस्थान के विभिन्न भागों में स्वयं जनता ने आगे आकर अनेक कुएँ, व सार्वजनिक महत्त्व के स्थान हरिजनों के लिए खोल दिए व मन्दिरों में उनका स्वागत किया। यह महान शुभ लक्षण है। किन्तु कुछ कुओं, दुकानों व मन्दिरों के खोलने ही से उनकी समस्या हल नहीं हो जाती। अस्पृश्यता राक्षसी बहुमुखी है। अब शहरों की बनिस्बत ग्रामों में और सामाजिक क्षेत्र की बनिस्बत आर्थिक क्षेत्र में यह अधिक दिखाई देती है।

मैला उठाने के कारण मेहतर इस बीमारी के शिकार हैं। नगर पालिकाओं को सर पर मैला उठाने की अमानवीय प्रथा का शीघ्र अन्त करना चाहिए। इसी प्रकार ग्रामों में मुर्दा मवेशी उठाने के कारण मेघवाल इस व्याधि से पीड़ित हैं। यद्यपि संविधान में प्रदत्त अधिकारों के अनुसार सभी जातिएँ अपनी इच्छानुसार धंधा करने के लिए स्वतंत्र हैं, किन्तु यत्र-तत्र इस प्रश्न पर गाँव वालों व हरिजनों के बीच तनातनी के समाचार मिलते हैं। ऐसे अवसरों पर ग्राम पंचायतें ठेका देकर इस प्रश्न को हल करती हैं। मुर्दा मवेशी ढोने का ऐसा तरीका निकालना चाहिए जिससे उसका सीधा सम्बन्ध शरीर से न रहे। मैला उठाने तथा मुर्दा मवेशी ढोने की स्वच्छ विधियाँ खोजनी चाहिएँ। ये हल निकल जाने पर किसी भी सवर्ण के शिक्षित वर्ग के लोग भी निःसंकोच आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण से इस धंधे को करने लगेंगे। इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि पिछड़ी हुई जातियों को दी जाने वाली विशेष सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए अन्य वर्गों में भी उनमें सम्मिलित होने की स्पर्धा दिखाई देती है। अस्पृश्यता का जड़मूल से अन्त करने पर ही भारत में बसने वाली विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के बीच हार्दिक एकता स्थापित होगी। महात्मा गांधी ने हमसे कहा है कि जब छुआछूत जड़मूल से नष्ट हो जाएगी, तब ये सारे भेद-भाव अपने आप मिट जाएँगे और कोई अपने आपको दूसरे से ऊँचा न समझेगा। गरीबों और दलितों का शोषण बन्द हो जाएगा और चारों ओर परस्पर प्रेम और सहयोग देखने में आएगा।

शोषण का अन्त

शोषण की भावना पर आधारित छुआछूत की भावना का अन्त हो जाने पर अपने आप मानवता को विभाजित करने वाली दीवारें गिर जाएँगी और हम सवर्ण व अवर्ण की संघर्षमयी स्थिति से निकल कर सत्य, अहिंसा, ईमानदारी व परिश्रम के आधार पर शोषण रहित आदर्श समाज की स्थापना कर पाएँगे और उस प्राचीन ऋषि वाणी का संदेश फिर से हमारा मार्ग दर्शन करेगा, जिसमें कहा गया है —

"सब सुखी हों, सब निरामय हों और सब श्रेय को देखें।"

विवेक और एकता से जब हम खेतों व कारखानों में उत्पादन बढ़ाएंगे तो देश को समृद्ध एवं शक्तिशाली बनाने के अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे। हमारा गौरवपूर्ण अतीत, हमारा महादेश, उसकी महती समस्याएं हमारे पौरुष व कर्त्तव्य भावना को चुनौती हैं। देश में आदर्श भावना का विलोप हो गया, यह बात नहीं है। अपनी गौरवपूर्ण प्राचीन परम्पराओं व महात्मा गांधीजी के त्याग और तपस्या से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक महापुरुष इस चुनौती का मुकाबला करने के लिए निस्वार्थ भाव से मानवता की सेवा करने में लगे हुए हैं।

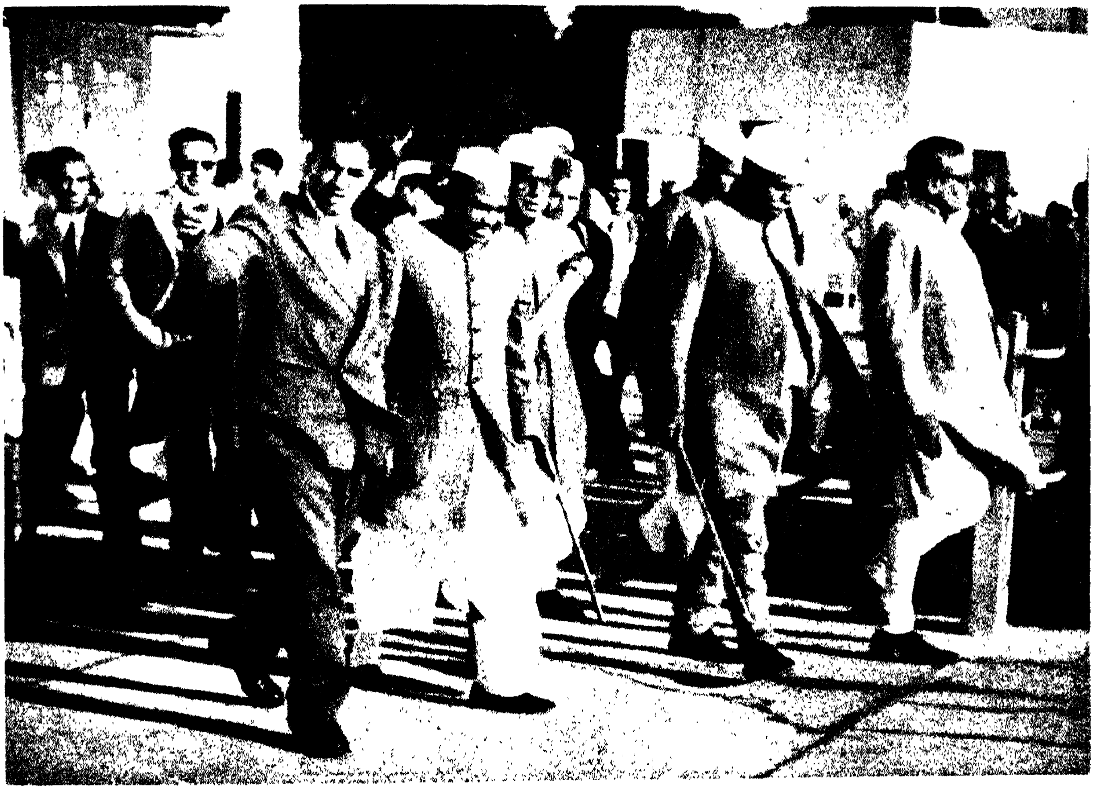
जात-पांत के विरुद्ध मोर्चा

श्री जगजीवन राम

परिगणित जातियों के अन्दर एक ऐसा दल है, जो यह मानता है कि उन की वर्तमान शोचनीय अवस्था का मूल कारण, उन का हिन्दू धर्ममें होना है। उनका खयाल है कि ज्यों ही वे हिन्दूधर्म एवं समाज के घेरे से निकल जाएंगे, त्योंही वे अछूत न रहेंगे एवं उनकी सामाजिक और आर्थिक अयोग्यताएँ दूर हो जाएंगी। इस विचार का मैंने कभी समर्थन नहीं किया और परिगणित जातियों द्वारा सामूहिक धर्म परिवर्तन के विचार का सदा प्रतिरोध किया है। भारतीय दलित जातीय संघकी नीति भी यही रही है। यदि किसी व्यक्तिको यह विश्वास हो जाता है कि वह जिस धर्मको स्वीकार करनेवाला है, वह उसके जन्मके धर्मसे श्रेष्ठ है और वह यदि इस विश्वास से धर्म परिवर्तन करता है, तो ऐसे धर्म परिवर्तन के विरोध का कोई कारण नहीं। सामूहिक धर्म परिवर्तन के मामले में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता और इस प्रकार के सामूहिक धर्म परिवर्तन की भावना का सदा और सर्वदा विरोध करना चाहिए।

लौकिक लाभके लिए अथवा कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए धर्म परिवर्तन को कमजोरी और कायरता का चिह्न माना जाता है। मैं आज भी यह मानता हूँ कि हिन्दू धर्मके सच्चे स्वरूप पर जितने कलुषित आवरण चढ़ा दिए गए हैं, उनको हटा कर, हिन्दूधर्म का सुधार करके उसको अपने गौरवपूर्ण स्थान पर स्थापित किया जा सकता है। वर्णव्यवस्था और जातपांतका जल्दसे जल्द अन्त होना चाहिए। जातिप्रथाको मिटाने के लिए हमें तो कमर कस कर जेहाद बोल ही देना है।

**



जगजीवनरामजी का लोकसभा में राष्ट्रपति के साथ प्रवेश



बाबू जगजीवनरामजी और अभिनंदन ग्रंथ के प्रबंध-संपादक
श्री क्षितेश्वरप्रसाद बी० ए०, एल० एल० बी०

पंचम खण्ड

नए समाज के निर्माता

राजा राममोहन राय



राजा राममोहन राय समाज सुधार आन्दोलन के जनक थे। नए भारत के वे निर्माता थे। उन्हें वर्तमान भारत का पिता कहा जाता है। सामाजिक क्षेत्र में उनका नेतृत्व अत्यन्त प्रभावशाली था। उनके युग में समाज धर्मान्धता से ओत-प्रोत था, रूढ़ियों से ग्रसित था, लोगों का नैतिक पतन हो रहा था और शिक्षित वर्ग पथ-भ्रष्ट हो रहा था; ऐसे काल में राजा राममोहन राय समाज के पुनर्निर्माण के लिए आगे बढ़े। उनका पदार्पण राष्ट्र और समाज के लिए मंगलजनक हुआ।

राजा राममोहन राय का जन्म खानाकुल कृष्णनगर के समीप राधानगर ग्राम में हुआ था। यह ग्राम बंगाल की हुगली जिला में आरामबाग के अन्तर्गत है। राजा राममोहन राय धनी जमींदार परिवार के थे। नवाबी शासन में बंगाल के नवाब ने उनके पितामह श्री कृष्णचन्द्र बन्द्योपाध्याय को 'राय रायन' की उपाधि प्रदान की थी। यह वह समय था, जब लोग नवाब का काम करते हुए अर्थ उपार्जन द्वारा जमींदारी खरीदते थे। राजा राममोहन राय का परिवार नवाबी नौकरी से जमींदार बना। जो लोग नवाब के यहाँ काम करते, वे नवाबी अदबकायदे को मानते और फारसी तथा अरबी सीखते। पर ब्राह्मण होते हुए भी राममोहन राय को मुसलमानी अदब कायदा सीखना पड़ा और अरबी तथा फारसी आदि भाषाएँ अंगरेजी के साथ सीखीं।

राजा राममोहन राय के प्रारम्भिक जीवन का विशेष पता नहीं लगता। यह प्रकट है कि उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम की पाठशाला में प्राप्त की। घर में ही उन्होंने फारसी का अध्ययन किया। यह वह समय था, जब जमींदारों के हिन्दू लड़कों को मुंशी लोग फारसी पढ़ाते थे। राममोहन राय ने जहाँ पटना में अरबी भाषा का अध्ययन किया वहाँ काशी में संस्कृत भी सीखी। वे संस्कृत में निपुण हुए। राजा राम-मोहन राय के परिवार में धार्मिक कट्टरता न थी। इसलिए उन्हें अन्य भाषाएँ सीखने की पूरी छूट थी।

राममोहन राय अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में पारंगत हुए। इन भाषाओं से उनका ज्ञान बढ़ा। उन्होंने संस्कृतिक और सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं पर मनन किया। परिणाम यह हुआ कि राममोहन राय के उच्च ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने पर भी उनमें तथा उनके परिवार में समाज सुधार की भावना उत्पन्न हुई। यद्यपि परिवार सामाजिक रूढ़ियों के विनाश में इतना आगे नहीं बढ़ा था, जितना राजा राममोहन राय बढ़े थे। राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध आवाज उठायी थी। इसके सिवा वे बाल-विवाह, बहु-विवाह और वृद्ध विवाह के भी विरुद्ध में थे। उन्हें यह प्रकट हुआ कि किस प्रकार से ये प्रथाएँ समाज का विनाश कर रही हैं। जब राममोहन राय वयस्क हुए, तब उन्होंने सामाजिक अनाचारों के विरुद्ध मोर्चा खड़ा कर दिया।

राममोहन राय के पच्चीस वर्ष पारिवारिक जीवन में व्यतीत हो गए। धनी जमींदार परिवार में जन्म लेने के कारण उनका जीवन लाड़-प्यार से बीता। यही कारण हुआ कि पच्चीस वर्ष तक वे किसी काम में आगे न बढ़े। इसके बाद वे ब्रिटिश कलक्टरों के पास जाते और उनके दीवान तथा मुख्तार बन कर

देश में सर्वत्र घूमते। इससे राममोहन राय को अपनी आँखों से देश की स्थिति के निरीक्षण का अवसर मिला। करीब सन् १८०० में वे कलकत्ता आए। कलकत्ते में ब्रिटिश अधिकारियों और व्यापारियों से उनका सम्पर्क बढ़ा। सन् १८१४ के लगभग में वे कलकत्ते में स्थायी रूप से रहने लगे। अब वे इस स्थिति में नहीं थे कि अंग्रेजों की नौकरी करते और हाजिरी करते। अब अंग्रेजों तथा धनियों से उनका सम्पर्क एक धनी व्यक्ति के रूप में था। वे अपना स्वतंत्र व्यापार करते थे। जमीन में रुपया लगाने से उनकी आमद बढ़ रही थी। किन्तु इस बीच में उन्हें फिर भी नौकरी करने की इच्छा उत्पन्न हुई और वे सरकारी नौकरी के द्वारा वर्ष में बारह हजार रुपए उपार्जन करने लगे थे।

कलकत्ते में राजस्थान के व्यापारी भी व्यापार करते थे, किन्तु वे विद्या-विहीन थे। पर राजा राममोहन राय अंग्रेजों के समान शिक्षित व्यापारी थे। धन था, तो उनके पास विद्या भी थी। इसलिए उनका धन उपार्जन अंग्रेज व्यापारियों के समान ही था। उनमें सरस्वती और लक्ष्मी दोनों का संयोग था।

उस काल में समाज में प्रतिष्ठा व वंश की कुलीनता बड़ी जमींदारी से होती थी। जिसके पास जितनी अधिक जमीन होती थी, उसका उतना ही अधिक सम्मान होता था। वंश का गौरव भी सम्मान का कारण बनता था। पर जब अंग्रेज आए, तब नया अर्थ युग आया, जिसमें कुल का स्थान विद्या ने लिया और जमीन का स्थान मुद्रा ने लिया। जिसके पास जितनी जमीन हुई, वह उतना ही धनी माना गया। राममोहन राय के पास अतुल धन था, तो उनमें विद्या का भंडार भी था। संस्कृत, फारसी और अरबी के अतिरिक्त अंग्रेजी का उन्होंने अध्ययन किया था। इसलिए उनके पास न धन का अभाव था, न विद्या का। यही कारण था कि कलकत्ते में उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा थी और मान सम्मान बहुत अधिक था।

व्यापार धन्धे में भी उनका बहुत समय बीत गया। सन् १८१४ से १८३० के मध्य का काल उनका कार्यक्षेत्र रहा। ये करीब १६ वर्ष होते हैं, इन वर्षों में उन्होंने सामाजिक क्षेत्र का नेतृत्व किया। १९ नवम्बर १९३० को वे विदेश-यात्रा में गए और उसके तीन वर्ष उपरान्त २० सितम्बर १९३३ को उनका देहान्त हो गया। इसलिए वे सार्वजनिक क्षेत्र में बड़ी प्रौढ़ अवस्था में आए थे।

धार्मिक समस्याओं और संस्कारों पर राममोहन राय ने गम्भीर विचार किया। समाज में जितनी धार्मिक व्यवस्थाएँ प्रचलित थीं और वे जिस रूप में थीं तथा जिस रूप में हिन्दू धर्म प्रचलित था, राममोहन राय का ध्यान उसके अध्ययन के लिए आकर्षित हुआ। इसके उपरान्त वे अपने विचार समाज के समक्ष रखने में समर्थ हुए। पर उस समय देश में फारसी व अरबी का अधिक प्रचार था। नवाबी शासन में वे दोनों राज-भाषाएँ थीं। अतएव, राममोहन राय ने "मनाजे रातुल आदियान" नामक पहली फारसी पुस्तक चुस्त जबान में लिखी। उसे पढ़ कर कोई यह नहीं कह सकता था कि यह बंगाल के एक हिन्दू की लिखी हुई है। यदि उस पर उनका नाम न होता, तो लोग यही कहते कि वह किसी ऊँचे दर्जे के मौलवी की लिखी हुई है। इस पुस्तक के अवलोकन से यह सहज में प्रकट होता है कि राममोहन राय का अरबी-फारसी में कितना अधिकार था। उनकी दूसरी पुस्तक 'तुहफातुल मुहाबीदीन' है। अरबी और फारसी के विद्वान् राममोहन राय की इन रचनाओं को पढ़ कर चकित हो गए थे। योरोपियनों ने जब इन पुस्तकों को पढ़ा, तब उन्होंने उनके दार्शनिक विवेचनों में बलनी तथा वालटेयरके दार्शनिक तत्व पाए। उनकी पिछली पुस्तक का मौलवी अब्दुतला ने अंग्रेजी में अनुवाद किया, जिसका नाम 'ए गिफ्ट टू वेस्ट' है। इसकी भूमिका राजा राममोहन राय की लिखी हुई है जिसमें उन्होंने प्रकट किया है कि संसार में वे जहाँ भी गए, उन्होंने यह अनुभव किया कि सर्वत्र एक ही ईश्वर है, उसके एक होने में कोई मतभेद नहीं है, उसके निरूपण में, उसके ध्यान में, चिन्तन में जरूर मतभेद है, खाइयाँ हैं, यही विषमता की दीवारें भिन्न धर्म और मजहब के नाम से खड़ी हैं। यदि यह विभेद की भावना मिट जाए, तो फिर यह संघर्ष न रहे। हमारा जो पालनकर्त्ता है, वही योरप का पालन करता है। किन्तु हम इस सिद्धान्त को भूल कर धर्म के नाम पर अत्याचार करते हैं जो सबसे बड़ा पाप है। मानव जीवन में हमें इस

दुष्कर्म से बचना चाहिए। ईश्वर की प्राप्ति के लिए पूजा, पाठ, और माला फेरना नहीं है, ईश्वर के रूप में जो मानव हमारे सामने हैं, उनकी सेवा ही ईश्वर की सेवा है। अतएव, सेवा ही सब से बड़ा धर्म है।

राममोहन राय ने हिन्दू वेद शास्त्र, उपनिषद् और अन्य धर्म ग्रन्थों का मन्थन कर कई आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। केवल हिन्दू धर्म ही नहीं, ईसाई धर्म ग्रन्थों के परिशीलन द्वारा उनकी भी आलोचनाएँ कीं। जब लोगों ने उनके विचारों का प्रतिवाद किया, तब राममोहन राय न उनका तीव्र खण्डन किया। वे अपने भाषण और वक्तव्य से तथा लेखों से विरोधियों को निरुत्तर कर देते थे। वे कहते थे कि धर्म आत्मा के अनुभव की चीज है, वह जोर-जबर्दस्ती से किसी पर लादा नहीं जा सकता। राममोहन राय पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनका झुकाव ईसाइयों की ओर था। हम यह नहीं कहते कि ब्रह्म समाज के अन्य नेताओं ने क्या कहा, किन्तु राममोहन राय को जितना हिन्दुओं के विरोध का सामना करना पड़ा, उतना ही ईसाइयों का। वे ईसाइयों के धर्म प्रचार को ठीक नहीं मानते थे। कलकत्ते की ब्रह्म समाज में उन्होंने जिस ब्रह्म को परमात्मा का रूप प्रकट किया, उस एकेश्वरवाद से किसी धर्म का कोई विरोध न था। वेद, उपनिषद्, ईश्वर का एक रूप प्रकट करते हैं, तो मुसलमान और ईसाई भी एक ईश्वर को मानते हैं। इसलिए राममोहन राय ने ईश्वर के चिन्तन के सम्बन्ध में सभी धर्मों का सार लिया।

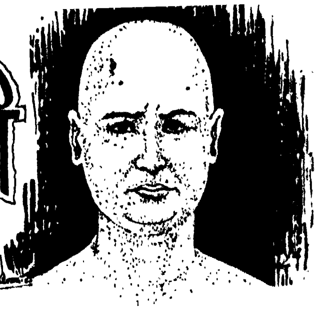
धर्म, समाज और नागरिक जीवन में राममोहन राय के विचार एक दायरे में सीमित न थे। वे कहते हैं कि यदि कोई पदार्थ, रीति-रिवाज या प्रथा विदेश की है और उसमें जन-कल्याण निहित है, तो यह न समझना चाहिए कि उस पर हमारा अधिकार नहीं है और हमारे लिए अनुकरणीय नहीं है। सभ्यता किसी एक देश की सम्पत्ति नहीं है। इसलिए वे कहते हैं कि न हमारे यहाँ की सब चीजें खराब हैं, और न विदेशों की। इसलिए पश्चिम के जो विचार समाज के कल्याण के लिए थे, उन्होंने उन्हें ग्रहण करने में हिचक न की।

इस महत लक्ष्य से राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। वस्तुतः वे ब्रह्म समाज के प्रवर्तक थे। उन्होंने इस संस्था के द्वारा देश को एक नया प्रकाश दिया। इस संगठन द्वारा उन्होंने शिक्षा और सामाजिक संस्कारों में नयी क्रान्ति की। उनकी इस संस्था ने अनेक सुधारकों को जन्म दिया। ब्रह्म समाज के अन्तर्गत लाखों लोग आए और उसके अनुयायी बने। आर्य और बौद्ध के समान 'ब्रह्म' भी एक सुधारक सम्प्रदाय बना।

राममोहन राय ने बंगला भाषा की भी श्रीवृद्धि की। अपनी सामाजिक रचनाएँ बंगला गद्य में लिख कर, बंगला में गद्य की शैली का निर्माण किया। उन्होंने बंगला में जो आलोचनाएँ लिखीं, उनसे भाषा में नए-नए शब्दों की सृष्टि हुई। उन्होंने धर्म के सिवा सामाजिक जीवन को नए रूप में गढ़ा। कुरीतियों और रूढ़ियों के विरुद्ध में भीषण आन्दोलन किया, देश के नए निर्माण में उन्होंने पूर्वीय और पश्चिमीय विचारों का समन्वय किया। इस प्रकार राजा राममोहन राय देश, धर्म और समाज को नया रूप देने में सब से पहले सुधारक हुए। इसलिए उन्हें नए भारत का निर्माता कहा जाता है। आज जिस भारत को हम देख रहे हैं, उसके पुराने रूप को नए साँचे में ढालने और नया सृजन करने में वे सबसे प्रथम अग्रसर हुए थे। वे सामाजिक क्रान्ति का शंखनाद करने में पहले सुधारक थे। उन्होंने सर्वप्रथम धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति की। नए रूप में आवाज उठायी थी। उनकी आवाज भारत और विश्व के लिए थी। और वह किसी एक युग तथा एक काल के लिए न थी। अतएव, राजा राममोहन राय की वाणी सारे जगत् के लिए और सब काल के लिए गूँजी।

—ओंकारलाल शास्त्री

महर्षि दयानन्द सरस्वती



फर्डिनेन्ड लासेल ने लिखा है : "शासन पद्धति सम्बन्धी प्रश्न मुख्यत: अधिकार का प्रश्न नहीं वरन् शक्ति का प्रश्न होता है। किसी देश की वास्तविक शासन पद्धति का अस्तित्व उस देश में पाई जानेवाली शक्ति की वास्तविक दशा में ही होता है। इसलिए राजनीतिक रचनाओं का मूल्य और स्थिरता तभी होती है जब वे समाज में कार्यत: विद्यमान शक्तियों की अवस्थाओं को ठीक-ठीक प्रकट करती है।. . .इसलिए जो भी शक्ति अपनी सफलता चाहती है उसे पहले समाज की शक्ति को माप लेना जरूरी है। जिन देशों ने गुलामी के बन्धन तोड़े हैं, या किसी और रूप में प्रगति की है, उन्होंने सब से पहले ऐसी ही सामाजिक शक्ति का संचय किया था। अरब जाति की अद्भुत राज शक्ति का कारण हजरत मुहमम्मद का इसलाम मत था जिसने उस क्षीण जाति में सामाजिक क्रान्ति पैदा करके उसे ऊपर उठा दिया। लूथरने जिस सुधार घोषणा का स्वर उठाया था उसीने आगे चलकर सारे योरप में राजनीतिक उथल पुथल मचा दी। प्राचीन भारत में तथागत बुद्ध की समाजिक क्रान्ति की नींव पर ही चन्द्रगुप्त और अशोक के साम्राज्य स्थापित हुए थे। गुरु नानक की सामाजिक विचार-धारा गुरु गोविन्दसिंह के समय में आकर राजनीतिक शक्ति का कारण बनी। हमारी वर्तमान मुक्ति का का आधार भी पिछली शताब्दी की सामाजिक क्रांति ही थी। उसीकी नींव पर बाद में स्वतंत्रता संग्राम का महल खड़ा हुआ।

भारत में यह क्रम ऐतिहासिक रूप से तथागत बुद्ध से आरम्भ होता है। परन्तु तेरहवीं शताब्दी और उसके आसपास जितने सुधार आन्दोलनों का जन्म हुआ उनका कारण मुस्लिम सम्पर्क था। उसी प्रकार १९वीं शताब्दी में जितने सुधार आन्दोलनों का जन्म हुआ उनका कारण योरोपियनों विशेषकर अंग्रेजों का आगमन था। मुगल साम्राज्य यों तो सन् १८५७ तक चलता रहा; किन्तु वास्तव में उसका अन्त १७५७ में ही हो गया था। १९वीं शताव्दी की द्वितीय दशाब्दी में मराठों की शक्ति का अन्त भी हो गया था और चौथी दशाब्दी में (१८३९) सिक्ख साम्राज्य के नेता महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु हो जाने पर अंग्रेज भारत के वास्तविक शासक बन गए थे। इन विजेताओं के साथ इनकी सभ्यता और संस्कृति भी इस देश में आई। शुरू-शुरू में ईसाई धर्म प्रचारकों ने हिन्दू धर्म पर खुले हमले किए, उस समय दोष चुन-चुन कर उसकी खिल्ली उड़ाना ही पादरियों का धर्म रह गया था। इसलिए इस काल में सुधार आंदोलनों के जन्म का एक कारण इस आक्रमण का प्रतिकार करना था। परन्तु मात्र यही कारण नहीं था। आक्र-मण के बावजूद पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा ने भारतवासियों को बहुत प्रभावित किया। ब्रिटिश शासन और ईसाई प्रचारकों के सम्पर्क से उनमें नई चेतना उसी प्रकार पैदा होने लगी कि जिस प्रकार द्वार बन्द हो जाने पर भी सूर्य का प्रकाश अन्दर पहुँच ही जाता है। राजा राममोहनराय, (१७७४-१८३३) ने सन् १८२८ में ब्राह्म समाज की स्थापना और सन् १८२९ में सती और बाल हत्या जैसी बर्बर प्रथाओं को राज्य के कानून द्वारा बन्द कराने की चेष्टा की। आचार्य जावड़ेकर के शब्दों में "हिन्दू धर्म में सुधार किए जाएँ, एकेश्वरी धर्म का सर्वत्र प्रचार करके यह बताया जाए कि सब धर्मों का अंतरंग एक ही है और इस तरह संसार के धर्म-भेदों का अन्धकार दूर करने वाले सार्वत्रिक विश्व धर्म के सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैलाना उनकी बड़ी महत्त्वाकांक्षा थी"

आधुनिक भारत के लोग ईसाई धर्म को हिन्दू धर्म से किसी प्रकार अच्छा नहीं मानते थे। परन्तु वे मानते थ कि ईसाइयों में बहुत से अच्छे लोग हैं।

ब्राह्मसमाजी पश्चिमी शिक्षा से बहुत प्रभावित हुए और आगे चल कर ब्रह्मानन्द केशब बाबू के समय में तो वे वेदों के "ब्रह्म" से बहुत दूर हट गए। ब्राह्म समाज का प्रभाव केवल बंगाल ही तक सीमित रहा। लेकिन बम्बई और अहमदाबाद में इसी से मिलते जुलते एक और सुधार आन्दोलन का आरम्भ हुआ। महाराष्ट्र में सुधार आंदोलन १९ की शताब्दी के आरम्भ से ही चल पड़ा था। इन्हीं की नींव पर सन् १८६७ में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। लेकिन इसके नेता हिन्दू धर्म के बड़े नेता थे और प्रार्थना समाज को उसका एक सुधारक पंथ मानते थे। यह समाज भी बहुत जोर नहीं पकड़ सका, क्योंकि सन् १८८० में तिलक और आगरकर ने आजन्म देश सेवा की दीक्षा लेने वालों का दल खड़ा करने की जो प्रथा डाली उससे प्रार्थना समाज की सुधारक मंडली का तेज फीका पड़ने लगा। इस काल के दूसरे समाज सुधारक आन्दोलनों में ईश्वरचन्द विद्यासागर का विधवा विवाह आन्दोलन उल्लेखनीय है। रामकृष्ण परमहंस यद्यपि इस स्तर के सुधारक नहीं थे, लेकिन उन्होंने विवेकानन्द का निर्माण करके लोक सेवा और राष्ट्रीयता को प्रमुखता दी। "भौतिक प्रगति और प्रवृत्ति-परता को प्रधानता देकर वेदान्त को कर्म प्रबल बनाना, ईसाई पादरियों की तरह धर्माचरण में लोक सेवा को प्रधानता देना और धर्म के आधार पर राष्ट्रभक्ति और स्वाभिमान की ज्योति जलाकर लोगों में स्वाधीनता के विरुद्ध क्रांति का भाव फैलाना स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन का उद्देश्य था।

स्वामी दयानन्द सरस्वती इसी काल में आर्य समाज को लेकर सामने आए। कई रूपों में यह आन्दोलन सबसे व्यापक था। यद्यपि पंजाब इसका मुख्य केन्द्र माना जाता था परन्तु इसका प्रभाव आज के उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बंगाल, बिहार आदि पर भी पड़ा था और खूब पड़ा था। स्वामी दयानन्द एक बात में भिन्न थे। दूसरे आन्दोलन किसी न किसी रूप में पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित थे; परन्तु स्वामी दयानन्द प्राचीन सभ्यता के प्रबल समर्थक थे। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे और अंग्रेजी से अनभिज्ञ तथा सन्यासी होने के कारण पश्चिमी सभ्यता का उन पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ा था। उन्होंने मथुरा के दन्डी स्वामी विरजानन्द से शिक्षा ग्रहण करके उन्हीं की आज्ञा से तत्कालीन भारत में फैले हुए पाखन्ड और अविद्या के विरुद्ध जेहाद बोल दिया। इनकी तमाम शिक्षाएँ वेदों पर आधारित थीं। इन्होंने वेदों से प्रमाण देकर सिद्ध किया कि परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान वेदों में है। वेदाध्ययन का अधिकार सब मनुष्यों को है। मूर्त्ति पूजा, वेद विरुद्ध है। श्राद्ध भी वेद विरुद्ध है। चातुर्वर्ण जन्म सिद्ध नहीं; किन्तु गुण और कर्म पर अवलम्बित है। समुद्र यात्रा, खानपान और अंतर्जातीय विवाह वर्जित नहीं हैं। विधवा विवाह भी उचित है। अस्पृश्यता त्याज्य है।

स्वामी दयानन्द की विचारधारा कुछ अंशों में राजा राममोहनराय की विचारधारा से मिलती थी। लेकिन बाद में उनमें बहुत अन्तर आ गया। आज बीसवीं शती के उत्तरार्ध में इन सुधारों का मूल्यांकन करने में हम समर्थ न हो सकें, लेकिन आज से सौ साल पहले की स्थिति में अपने को रखकर यदि हम इसपर विचार करेंगे, तो निस्संदेह इस निर्णय पर पहुँचेगें कि स्त्री शिक्षा का व्यापक प्रचार तथा अछूतपन और वर्जनशील का घोर विरोध करके ही स्वामी दयानन्द ने भारत की राजनीतिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया था। उस काल में जब विवाहित स्त्री पुरुष का दिन में एक दूसरे का मुँह देखना पाप समझा जाता था, तब स्वामी दयानन्द ने यह घोषणा की "प्राचीन काल में स्त्रियों को विद्या प्राप्ति का अधिकार था। वे आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत धारण करती थीं और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरु गृह में वास आदि संस्कार होते थे। उन्होंने स्त्री शुद्रोनाधियाताम" का खण्डन करके "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" इस मंत्र की घोषणा की।

वस्तुत: एक नेता के शब्दों में "ऋषि दयानन्द १९वीं शताब्दी में नारी जाति को अपने गौरवशाली पूर्व पद पर स्थापित कराने के लिए मसीहा के रूप में अवतरित हुए।"

हमारे समाज के जिस दूसरे अंग के लिए स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन की बाजी लगाई, वह तथाकथित शूद्रों का था। तथागत बुद्ध के काल से लेकर अनेक सन्त और महात्मा इस बुराई को मिटाने की चेष्टा कर रहे थे लेकिन उसका कोई विशेष प्रभाव समाज पर नहीं पड़ सका था। इसका प्रमुख कारण यह था कि लोग धर्म और समाज व्यवस्था को एक मान कर चलते थे। वे धार्मिक अधिक और सुधारक कम थे। दयानन्द पहले सुधारक थे जिन्होंने इस ओर सक्रिय कदम उठाया। उन्होंने अपनी ओजस्वी बाणी में उनके लिए समानाधिकार का प्रतिपादन किया। यह बतलाया, "यदि परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रों को पढ़ाने के विषय में न होता तो वह उनके शरीर में वाक और श्रोत्र इन्द्रियाँ क्यों रचता।...जहाँ कहीं निषेध किया है उसका अभिप्राय यह है कि जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ नहीं आए वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शुद्ध शूद्र कहाता है।" "श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने ऋषि दयानन्द के प्रमाणों के आधार पर ही शूद्रों को वेद पढ़ाने के अधिकार की अधिकारी व्यवस्था दी।" "यथे माम वाचनम् कल्याणी मा वदानि जनेस्य:" आदि मंत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझाया। किसानों को वास्तविक राष्ट्र निर्माता बतलाते हुए स्वामीजी ने लिखा "राजाओं का राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं और राजा उनका रक्षक है।" अपने जीवन के अन्तिम काल में तो उन्होंने तत्कालीन वर्ण व्यवस्था को मरण व्यवस्था कहा। उनका मत था कि "प्राचीन काल में एक वेदोक्त धर्म होने के कारण खान पान और विवाह आदि व्यवहार सारे भूगोल में परस्पर होते थे। जब से ईसाई मुस्लिम आदि के मत मतान्तर चले, आपस में वैर विरोध हुआ, उन्होंने मद्यपान और मांस आदि का खान पान स्वीकार किया उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया।"

इसप्रकार समुद्र यात्रा का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा "प्रथम आर्यवर्त के लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है, वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है।...धर्म हमारी आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छा काम करते हैं, तो हमको देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर जाने में कुछ दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप करने में लगता है।"

इस प्रकार सहस्त्रों वर्षों से रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से ढके हुए हिन्दू धर्म को स्वामी दयानन्द ने उसके सच्चे रूप में प्रकट किया। उन्होंने धीरे-धीरे चलने की नीति नहीं अपनाई। बल्कि घन की चोट की। इस दृष्टि से वे अपने समकालीन सुधारकों से बहुत आगे हैं और इसी कारण वे उग्र भी मालूम देते हैं। उन्होंने निर्भीकता के साथ या कह सकते हैं किसी सीमा तक क्रूरता के साथ जो कुछ उन्हें बुरा लगा उसे स्पष्ट रूप में कहा। उन्होंने वेदों के अतिरिक्त किसी भी धर्म ग्रन्थ को मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने मूर्त्ति-पूजा, अवतारवाद, तीर्थ और पौराणिक कर्मकाण्ड को एकदम निषिद्ध घोषित किया। उनकी इन बेलाग और उग्र बातों का एक परिणाम यह हुआ कि उनका विरोध अति प्रबल हो उठा। वे प्रचण्ड तार्किक थे। विद्वान् भी थे। लेकिन जिस समय वे उग्र हो उठते थे उस समय भारतीय सन्त परम्परा से बहुत दूर दिखाई देने लगते थे। उन्हीं के समकालीन रामकृष्ण परमहंस जब उनसे मिलने के लिए गए तो उस भेंट का उन पर जो प्रभाव पड़ा, उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है: "दयानन्द से भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ी बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्षस्थल सदैव आरक्त दिखाई पड़ता था। वे बैखरी अवस्था में थे। रात-दिन लगातार शास्त्रों की ही चर्चा किया करते थे। अपने व्याकरण ज्ञान के बल पर उन्होंने अनेक शास्त्र वाक्यों के अर्थ में उलट-फेर कर दिया है। मैं ऐसा करूँगा; मै अपना मत स्थापित करूँगा? यह कहने में उनका अहंकार दिखाई देता है।"

एक सन्त पर दयानन्द का ही प्रभाव पड़ सकता था। परन्तु ऊपर से दिखाई देने वाले इस रूप के भीतर वह कुछ और भी थे। अहंकार उनमें भले ही रहा हो, पर अपने को उन्होंने बड़ा कभी नहीं माना। उन्होंने बहुत बड़ा दावा भी नहीं किया। वे तो अपने चारों ओर फैले हुए पाखण्ड को देख कर तिलमिला उठे थे और उसको दूर करने के लिए उन्होंने चारों ओर प्रहार करना भी आरम्भ कर दिया था। पर इस प्रहार में द्वेष नहीं था, घृणा नहीं थी। भले उनका मूल्यांकन सही न हो लेकिन उद्देश्य खरा था। उन्होंने कहा है: "मेरी कोई नवीन कल्पना या मत मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु जो सत्य है उसे मानना, मनवाना और जो असत्य है, उसको तोड़ना, तुड़वाना अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्यावर्त के प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु आर्यावर्त व अन्य देशों में जो-जो अधर्मयुक्त चाल-चलन हैं, उनको स्वीकार न करना और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनको त्याग नहीं करना चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म के बाहर है।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य क्या था। उन्होंने वेदों के अतिरिक्त किसी भी धर्म ग्रन्थ को मानने से इन्कार कर दिया था। इसी मान्यता के परिणाम स्वरूप उनका वह एकता सम्मेलन विफल हो गया था जो उन्होंने जनवरी सन् १८७१ के कैसरी दरबार के अवसर पर बुलाया था। वर्तमान भारत में विभिन्न धर्मावलम्बियों को एक मंच पर लानेवाला वह पहला सम्मेलन था। स्वामीजी ने इसमें यह प्रस्ताव रखा था कि यदि हम सब लोग एकमत हो जाएँ और एक ही रीति से देश का सुधार करें, तो आशा है, देश शीघ्र सुधर जाएगा।

लेकिन ऐसा न हो सका। इस सभा के एक सभासद बाबू नवीनचन्द्र राय के शब्दों में: "इस विषय में बहुत बातचीत हुई। पर मौलिक विश्वास में हम लोगों का उनसे मतभेद था इसलिए जैसा वे चाहते थे, एकता न हो सकी।" बाबू केशवचन्द्र सेन की जीवनी में भी इस घटना का स्पष्ट उल्लेख है: "बाबू केशवचन्द्र सेन जब फिर दिल्ली में स्वामीजी से मिले, तो उन्होंने कहा कि वे बहुत बातों में उनसे सहमत हैं, लेकिन एक बात उनकी समझ में नहीं आती कि बिना वेद का सहारा लिए धर्म शिक्षा कैसे दी जा सकती है।" इन बातों से और उनके तमाम जीवन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वेदों को ही सब कुछ मानते थे। आज वेदों को अपौरुषेय कहना बेशक हँसी की बात जान पड़ती हो, लेकिन उस काल में इसी के आधार पर उन्होंने अपने आन्दोलन को चलाया। इससे जान पड़ता है कि व्यावहारिकता में वे बहुत निपुण नहीं थे। लेकिन बात ऐसी नहीं है। तसबीर का एक और पहलू है जिसे उनके अनुयायी देखने से इन्कार कर देते हैं। हमने उनके जीवन को और भी कई लोगों की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। उसमें कई अद्भुत बातें मालूम हुई हैं। बाबू देवेन्द्र मुखोपाध्याय ने अपने जीवन के २० वर्ष खपा कर स्वामी दयानन्द की जीवनी के सम्बन्ध में बहुत सी सामग्री इकट्ठी की है। वे आर्य समाजी नहीं थे, लेकिन जिस अपूर्व श्रद्धा से उन्होंने स्वामीजी के जीवन पर प्रकाश डाला वह उनकी लगन को प्रमाणित करता है। उन्होंने लिखा है कि "इस सम्मेलन के तीन साल बाद दिसम्बर १८८० में स्वामीजी आगरा गए और सेंट पीटर्स के विशप महोदय से उन्होंने कहा, "यदि हम और आप तथा अन्य धर्मों के बुद्धिमान नेता केवल उन बातों का प्रचार करें, जिन्हें सब मानते हैं, तो एकता स्थापित हो सकती है। हमारे मुकाबले पर फिर नास्तिक ही रह जाएँगे।"

इस बात से जान पड़ता है कि स्वामीजी ने उस समय वेदों पर जोर देना छोड़ दिया था। अहमदाबाद के सामाजिक नेता रायबहादुर भोलानाथ साराभाई के जीवन चरित्र में एक और अद्भुत घटना का वर्णन मिलता है। स्वामी दयानन्द को उसमें डिप्लोमेटिक रिफार्मर कहा है।" एक समय भोलानाथ ने दयानन्द से कहा, "स्वामीजी आप वेदों को ईश्वर प्रणीत बताने का प्रयत्न करते हैं सो बुद्धिमान लोगों के सामने तो व्यर्थ है।" इस पर दयानन्द ने कहा, "यह सब बात तो सच है, परन्तु भोलानाथजी ऐसा समझाए बिना लोग सब अपने संग कैसे आने वाले और अपनी गाड़ी चले कैसे?"

इसी सम्बन्ध में एक और बात का पता चला है। कहते हैं कि स्वामीजी ने देहरादून के बाबू ज्योतिप्रसादजी को एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने स्वीकार किया था कि वेदों में अनेक गलतियाँ हैं। पहले मैं उन सब का अर्थ कर लूं; फिर उसके बाद उन गलतियों को छाटूंगा। एक समय आर्यसमाज में उस पत्र को लेकर बड़ा आन्दोलन उठा था। पर बाद में कहते हैं, वह पत्र नष्ट कर दिया गया। हमें इस विवाद में पड़ने की जरूरत नहीं है। लेकिन उनके जीवन का अध्ययन करने पर हमें इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि स्वामी दयानन्द का निरन्तर विकास हुआ है। हमारा अनुमान है कि प्रारम्भ में वे वेदों पर बहुत जोर देते थे, परन्तु अन्त में वे इस बात को समझने लगे थे कि यह बात इतनी आवश्यक नहीं है। सत्यार्थप्रकाश लिखते या लिखाते समय उनकी जो मान्यताएँ थीं पूना के व्याख्यान में वे उनसे आगे बढ़ गए थे। उसी व्याख्यान में उन्होंने विधवा विवाह को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

स्वामीजी समय को भी देखते थे। खानपान में भेद न मान कर भी उन्होंने सर सैयद के घर भोजन नहीं किया। ऐसा करेंगे, तो लोग हमें मुसलमान कहेंगे और हमारी बात न सुनेंगे। ऐसा उनका मत था। हमारा विश्वास है कि यदि वे कुछ दिनों और जीवित रहते, तो वेदों पर उनके नए मन्तव्यों का हमें लाभ मिलता। उन्होंने पंडित हरिश्चन्द्र से कहा था: "मेरा उद्देश्य सब को आपस में मिलाना है। कोलों से लेकर ब्राह्मण तक में जातीयता की ज्योति जगाना चाहता हूँ। मेरा खण्डन हित सुधार के लिए है।" इस कथन में उनके सारे जीवन का उद्देश्य समा गया है। क्या यह आश्चर्यजनक बात नहीं है कि उन्हें मुसलमानों का सब से बड़ा विरोधी कहा गया है, लेकिन आर्य समाज की नींव एक मुसलमान के बंगले पर ही रखी गई थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त सर सैयद अहमद ने जिन शब्दों में उन्हें याद किया था वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि स्वामीजी किसी के विरोधी नहीं थे। वे सब के मित्र थे। सब का सुधार चाहते थे।

स्वामीजी ने किसी नए धर्म का न प्रचलन किया और न किसी नए दर्शन का प्रतिपादन किया है। बल्कि उनकी मान्यता का आधार विशुद्ध वेदान्त ही है। वैसे उन्हें विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक माना गया है। आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, वे तीनों को स्वतंत्र रूप में स्वीकार करते थे। लेकिन बहुत से विद्वान् मानते हैं कि वे मूलतः अद्वैत के ही उपासक थे। वस्तुतः एक महान् समाज सुधारक के रूप में उनका जो योगदान है, दर्शन के क्षेत्र में उनकी वैसी कोई मौलिक मान्यता नहीं जान पड़ती। उनके ऐकेश्वरवाद को पैगम्बरी ऐकेश्वरवाद के विरोध में वैदिक ऐकेश्वरवाद कहा जाता है। पर हमारी मान्यता है कि ऐसी कोई बात नहीं थी। वे द्वैतवाद के समर्थक थे या अद्वैत के इस वाद-विवाद में पड़ कर हम तो यह मानते हैं कि वे परम आस्तिक थे। यहाँ तक कि उन्होंने छः दर्शनों को एक समान आस्तिक माना। इन क्षेत्र में उनका सब से बड़ा योग वेदों के अर्थ करने की रीति में है। उन्होंने महिधर, सायण, और दूसरे पाश्चात्य विद्वानों की प्रचलित मान्यताओं का खण्डन करके निरुक्त प्रणाली को स्वीकार किया। उन्होंने कहा वेद में केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, उसमें विज्ञान की भी सारी बातें प्रच्छन्न हैं। इस क्षेत्र में उन्हें सब से बड़ा समर्थन मिला योगी अरविन्द से। उन्होंने लिखा: "वेदों के भाष्य के विषय में मेरा पूर्ण विश्वास है कि अन्त में चाहे वेदों का कोई भाष्य प्रामाणिक माना जाए, परन्तु स्वामी दयानन्द की प्रतिष्ठा सब से बढ़ कर की जाएगी। क्योंकि उन्होंने सत्य अर्थों को खोज निकाला। अर्थात् धातु का अर्थ यौगिक शब्दों से निकालना उन्ही का काम था।"

जब भारत में गड़बड़ और अविद्या तथा अन्धकार के घोर बादल छाए हुए थे और सदियों से जनता भ्रम-जाल में फँसी हुई थी तब दयानन्द के चक्षुओं ने दीर्घ दृष्टि से उस दृश्य को देखा जिसने सत्य को प्रकट किया और जो कुछ भारत के लिए आवश्यक था उस पर वह चट्टान के समान दृढ़ हो गए, उसने उस द्वार की कुंजी को पा ली जो द्वार सहस्त्रों वर्षों से बन्द पड़ा था। और बन्द पड़े हुए स्रोत को तोड़ कर शुद्ध पवित्र जल की धारा बहा दी।

इसप्रकार स्वामी दयानन्द में सन्तों की नम्रता और निरहंकारिता भले ही न हो और तत्कालीन हिन्दुत्व को निन्दित और आक्रान्त देखकर उनसे ऐसी आशा करना दुराशा ही थी, लेकिन इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उन्होंने जो मार्ग अपनाया था, उसी पर चल कर नए भारत के निर्माताओं ने एक ऐसे तंत्र का निर्माण किया जिसकी परिणति हमारी राजनीतिक ही नहीं मानसिक मुक्ति में भी हुई। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि स्वामीजी ने देश में कई नूतन अन्ध विश्वासों को जन्म दिया किंतु उनके अनुयायियों के कारण ऐसा हुआ नहीं, अथवा आर्यसमाज निर्जीव होकर रह जाता। यह दोष लगानेवाले इस बात को भूल जाते हैं कि उन्होंने ही आत्मविश्वास की यह ज्योति जगाई थी, जिसके प्रकाश में हमने आगे बढ़ना सीखा। विकास क्रम में वह एक अनिवार्य कड़ी थी। जनतन्त्र और तर्क के इस युग में जिसके संस्थापकों में वह स्वयं थे, सब को मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता है, लेकिन इस तथ्य से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि जिस सत्य की खोज के लिए दयानन्द ने राजसी वैभव को त्याग कर फकीरी का बाना पहना था वह आज प्रकट हो चुका है कि मनुष्य सब समान हैं। जन्म से न कोई बड़ा है न छोटा।

—श्री विष्णु प्रभाकर

**

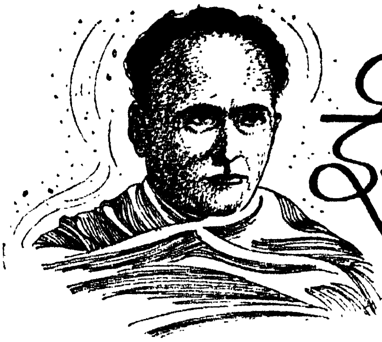
स्विटजरलैंड के एक भाई साथ में यात्रा कर रहे थे। ग्रामों में उन्होंने जितना दारिद्रय देखा, उतना पहले कभी नहीं देखा था। इतने दारिद्रय का उन्हें ख्याल भी नहीं था। वे मुझे कहने लगे, "यह सब मैं देखता हूँ, परन्तु आश्चर्य इस बात का लगता है कि उन के चेहरे पर दुःख नहीं, आनन्द ही दीखता है। इसका कारण क्या है? 'हमने कहा,' यह भारत का चमत्कार है। दुःख में भी वे हँसते हैं। रोनी सूरत आपको यहाँ बहुत कम दीखेगी। घर में बहुत दारिद्रय होगा, पर दुपहर में कभी भी उनके यहाँ जाकर रहिए, वे आपको खिलाएँ वगैर नहीं भेजेंगे। यह भारत की बादशाही है। भारतीय कहता है कि मैं दुनिया का बादशाह हूँ।"

— विनोबा

**

बाहर से ढके हुए अदृश्य शब्द भी प्रकट होते हैं, कोई समझता नहीं है कि उनके अन्दर में क्या रहस्य है। पर इतने पर भी हरएक कोई उनका उपयोग करता है और अनेक व्यक्ति उनके लिए संघर्ष करते हैं, जीवित रहते हैं और मरते हैं, जो वस्तुएं उन्हें प्रिय होती हैं, उनकी वे अटकल लगाते हैं, कि यह है, वह है। हमें यह मानना चाहिए कि मनुष्य इतना गुस्ताख नहीं होता है, और न राजनीतिज्ञ ही इतना गुस्ताख होता है, तथा कूट-नीतिज्ञ भी इतना भयंकर नहीं होता हैं, जितने ये छिपे हुए—अदृश्य शब्द।

— रस्किन



ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

जब राजा राममोहनराय कलकत्ता महानगरी में अपने धार्मिक विचारों का प्रचार कार्य कर रहे थे, ठीक उसी समय २६ सितम्बर सन् १८२० ई० को पश्चिम बंगाल के एक छोटे से ग्राम में पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का जन्म हुआ। उस समय राममोहनराय और ईश्वरचन्द्र की उम्र के बीच काफी व्यवधान था। लेकिन दोनों के जन्म स्थानों में अधिक व्यवधान नहीं है। दोनों का जन्म हुगली नदी के जहानाबाद, (आरामबाग) परगने में हुआ था। दोनों ही बन्द्योपाध्याय वंश के कुलीन ब्राह्मण परिवार के थे। विद्यासागर का जन्म वर्तमान मेदिनीपुर जिले के घटाल परगने के वीरसिंह ग्राम में हुआ था। सचमुच १६ वीं सदी के इन दो महापुरुषों के जन्म का सादृश्य आश्चर्य में डाल देनेवाला है। यदि दोनों के बीच कहीं फर्क था तो वह केवल पारिवारिक मर्यादाओं में था। राजा राममोहन राय उस जमाने के अभिजात वंश में पैदा हुए थे जिस पर नवाबी, मुसलमानी, शिक्षा संस्कृति का यथेष्ट प्रभाव था। दूसरी ओर विद्यासागर का जन्म एक दरिद्र ब्राह्मण परिवार में हुआ था जिस पर तत्कालीन ब्राह्मणवाद का पूरा प्रभाव था। ऐसे परिवार में जन्म लेकर विद्यासागर में उदारता, सहिष्णुता, तेजस्विता और दृढ़ता का अपूर्व समन्वय देखा गया।

गाँव की पाठशाला में पढ़ लेने के बाद विद्यासागर आठ वर्ष की अवस्था में अपने पिता के साथ कलकत्ता चले आए, यहाँ संस्कृत कालिज में व्याकरण की तृतीय श्रेणी में उनको भर्ती किया गया। इस समय प्रसिद्ध हिन्दू कालिज और संस्कृत कालिज पाश्चात्य और प्राच्य विद्या के दो ऐतिहासिक केन्द्र थे। कलकत्ते की गोल-दीघी, (वर्तमान कालिज स्क्वायर) अंचल के एक ही अहाते में अवस्थित थे। एक ही इमारत के एक भाग में संस्कृत कालिज था और दूसरी तरफ हिन्दू कालिज के जूनियर और सीनियर विभाग थे। हिन्दू कालिज में धनियों के बच्चे पढ़ते थे और संस्कृत कालिज में गरीब ब्राह्मणों के लड़के। शिक्षा पद्धति की दृष्टि से दोनों में विभिन्नता थी। सन् १८२६ साल के जून महीने से सन् १८४१ के दिसम्बर महीने तक अर्थात् १२ वर्ष ५ महीने तक विद्यासागर ने संस्कृत कालिज में अध्ययन किया। इन १२ वर्षों के एक युग को बंगाल के समाज सुधार के इतिहास में जागरण काल कहना चाहिए। १८२६ में राजा राममोहन राय कलकत्ते में थे। १८२६ में लार्ड बेंटिंग ने सती प्रथा को कानून बना कर बन्द किया। हिन्दुओं ने धर्मसभा की स्थापना करके बेंटिंग के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया। दूसरी तरफ हिन्दू कालिज के शिक्षित छात्रों ने शासन के विरुद्ध बगावत की घोषणा कर दी। इस समय मिशनरियों के द्वारा धर्म परिवर्तन की चेष्टा चल रही थी। तात्पर्य यह कि इस समय बंगाल में वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, आन्दोलन-प्रतिआन्दोलनों की एक बाढ़-सी आई हुई थी। संक्रमण काल के इन सुदीर्घ १२ वर्षों में विद्यासागर ने अपना छात्र-जीवन व्यतीत किया। संघर्ष के इन दिनों में उनका व्यक्तित्व प्रस्फुटित होने लगा। सामाजिक और राजनीतिक घटनाओं के इन घात-प्रतिघातों में उनके भावी जीवन का निर्माण हुआ।

छात्र जीवन शेष होने के बाद विद्यासागर की नियुक्ति संस्कृत कालिज के अध्यापक-पद पर हुई। हम यह भी कह सकते हैं कि बंगाल के शिक्षाविद् का जीवन विद्या-मन्दिर से प्रारम्भ हुआ। इसके बाद १८४६ में उनकी नियुक्ति संस्कृत कालिज के सहायक मंत्री के पद पर हुई। किन्तु कालिज के पठन-पाठन व्यवस्था में

परिवर्तन करने के विषय में उनका कालिज के मंत्री श्री **रसमयदत्त** से मतभेद हो गया और आपने १८४७ के जुलाई महीने में अपने पद से इस्तीफा दे दिया। बाद में वे फोर्ट विलियम कालिज के कोषाध्यक्ष बने। पुन: साहित्य के शिक्षक की हैसियत से उनकी नियुक्ति संस्कृत कालिज में हुई। उस समय आपने पठन-पाठन की शिक्षा पद्धति में परिवर्तन सम्बन्धी जो रिपोर्ट शिक्षा परिषद में उपस्थित की उसका बड़ा ही ऐतिहासिक महत्व है। इस वक्त विद्यासागर की उम्र ३०, व ३२ वर्ष की थी।

१८५१ से १८५३ तक की शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन के महान् कार्य में वे जुटे रहे। सचमुच उस समय प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा पद्धति का संयोग संस्कृत कालिज में हुआ। बाद में मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा के प्रचलन में, ग्रामों में मिडिल स्कूलों की स्थापना में, स्वतंत्र विद्यालयों की स्थापना में (मेट्रोपोलिटन इन्स्टीटयूट) स्त्री-शिक्षा के प्रसार में और पाठय पुस्तकों की रचना में विद्यासागर का पूरा हाथ रहा। इन कार्यों में आपने अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया। राजा राममोहन राय ने धर्म के क्षेत्र में जो काम किया, जिस मार्ग को अपनाया, उसी मार्ग को अपना कर विद्यासागर ने सामाजिक क्षेत्र में काम करके आदर्श उपस्थित किया। धर्म के सम्बन्ध में विद्यासागर ने कभी कुछ नहीं कहा और न उन्होंने, किसी धार्मिक आन्दोलन में योगदान दिया। शिक्षा के ही द्वारा समाज के कल्याण, संस्कार और प्रगति का काम किया। बंगाल की शिक्षा की उन्नति का जो अजस्र स्रोत विगत एक सौ वर्षों से बहता चला आ रहा है, उसके प्रवर्तक पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे।

व्यक्ति की दृष्टि से विद्यासागर के समान उदार व्यक्ति बहुत कम संख्या में पाए जाते हैं। बंगाल के अधिवासियों में "विद्यासागर" के रूप में जितने परिचित हैं, उतने ही या उससे कहीं अधिक "दया-सागर" के रूप में परिचित हैं। उनकी आय का अधिकांश भाग गरीबों और असहायों की सेवा में खर्च होता था। सैकड़ों विद्यार्थियों की शिक्षा का भार वे अपने खर्च से चलाते। अनेकों विधवाएँ उनके दान से अपना प्रतिपालन करतीं। विधवा-विवाह कानून बन जाने पर उन्होंने विधवाओं का पुनर्विवाह कराया और इस पुनीत कार्य में उनको इतना खर्च करना पड़ा कि वे ऋणी हो गए। वे कभी भी प्रकाश रूप में दान नहीं करते। उनका दान गुप्त होता था।

एक बार माइकेल मधुसूदन ने विदेश से पत्र द्वारा विद्यासागर से आर्थिक सहायता माँगी थी, कि "आप हमारे देश के प्राचीन ऋषियों की तरह ज्ञानी हैं एवं योरोपियन लोगों की भाँति संयमी और दृढ़व्रती हैं तथा माँ बाप के समान आप का स्वभाव स्नेहयुक्त एवं कोमल है। अत: आपको छोड़ कर मैं अपनी व्यथा किस से कहूँ ?" माइकेल के उक्त वर्णित गुणों का सम्मिश्रण विद्यासागर में था।

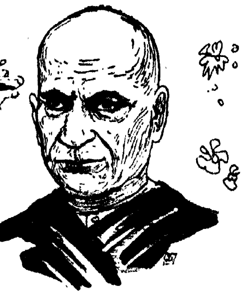
बंगला गद्य साहित्य में विद्यासागर का अवदान बड़े महत्व का है। उनके द्वारा ही बंगला भाषा की बहुत कुछ बुनियाद रखी गई। वे साहित्य में नई पद्धति अथवा नई स्टाइल के प्रवर्तक के रूप में अमर हैं। इसीलिए तो रवीन्द्रनाथ ने उन्हें बंगाल गद्य साहित्य का आदि गद्यकार बताया है।

बंगला सन् १२९८ के १३ श्रावण को इस शिक्षा-विशारद की मृत्यु हुई। १३०२ में विद्यासागर की चतुर्थ मृत्यु वार्षिकी के अवसर पर कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने कहा था, "विद्यासागर का समाज निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रहा है। जहाँ उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा काम किया है, वहाँ साहित्य में भी उनका बड़ा महत्व है। उन्होंने निर्धनों और अनाथों को आर्थिक दान देकर समाज का जो कल्याण किया, उसे भी भुलाया नहीं जा सकता। आज वे इस संसार में नहीं हैं, लेकिन उनके महत् चरित्र का जो अक्षयवट् समाज में फैला हुआ है उसके नीचे बैठ कर आनेवाली सन्तान को एक नया संकेत मिलता है। एक नई दीक्षा मिलती है।"

—विनय घोष

**

स्वामी श्रद्धानन्द



स्वामी श्रद्धानन्दने अपनी आत्मकथा का कुछ अंश लिखा है। उसको वे पूरा न कर सके उसमें आपने अपने को जिस रूप में उपस्थित किया है, वह आपके यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है। अन्य अनेक महापुरुषों की तरह आपने भी जब पतन की ओर से विमुख होकर आत्मोन्नति की ओर अपने को लगाया, तब आप सदा उसी मार्ग पर अग्रसर होते गए। वास्तव में आपकी जीवन गाथा 'कल्याण मार्गके पथिक' की सफल यात्रा की स्फूर्तिदायक कहानी है। वह किसी भी विवेक भ्रष्ट व्यक्ति को शतमुखी पतन से बचा सकती है और कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित कर सकती है। मालूम नहीं कि आपमें कब के संस्कार थे, जो इस प्रकार खिल उठे और जिनके कारण आपका कायाकल्प होकर आप महात्मा पद पर प्रतिष्ठित होनेके बाद आदर्श सन्यासी के रूपमें प्रकट हुए। अपने चरित्र से आपने यह सिद्ध कर दिया कि अपने यौवन में भोग-विलास और ऐश्वर्य के उपभोग में फंस जानेवाला व्यक्ति भी ब्रह्मचर्यका उद्धारक, महात्मा और आदर्श सन्यासी बन सकता है, गुरुकुल सरीखी महान शिक्षा संस्था की स्थापना करके अट्ठारह वर्ष तक उसके आचार्य पद पर सुशोभित रह कर ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के पुनरुद्धार का यश सम्पादन कर सकता है। एक तहसीलदार के घरमें जन्म लेकर और नायब तहसीलदारी के साथ जीवनमें प्रवेश करनेवाला सरकारी नौकरीका परित्याग कर अन्तमें सत्याग्रही एवं राजद्रोही बन कर जेल तकमें जा सकता है। नास्तिकता की लहरमें जानेवाला भी धर्मके लिए सर्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कर आदर्श धर्मवीर बन सकता है। गहरे पतन के बाद इतने महान् उत्कर्षमय आदर्श जीवन की प्राप्ति आपके जीवन की लम्बी कहानी का सार है, जो ज्योतिस्तम्भ की तरह दिव्य प्रकाश को फैलाकर दूसरों के लिए पथ प्रदर्शन कर सकती है।

आपका जन्म फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी १९१३ विक्रमी को जिला जालन्धर के तलवन ग्राममें उस परिवार में हुआ था जो अपने ही परिश्रम से असाधारण स्थिति को प्राप्त हुआ था। भगवत भक्ति, सज्जनता, वीरता, निर्भीकता, स्पष्टवादिता और सत्यपरायणता आदि गुण आपको विरासत में मिले थे। पिता लाला नानकचन्द बहुत ही स्पष्टवादी थे, इसीलिए वे नौकरी में कहीं टिक नहीं सके। कपूरथलामें वे थानेदार थे। वहां से त्यागपत्र देकर चले आए, फिर सियालकोट में फौजदारी में खजांची नियुक्त हुए। वहाँ के अफसर से लड़ कर चले आए। अमृतसर और लाहौर में की गई सरकारी नौकरी भी निभ न सकी। १८५७ की राज्य क्रान्ति में उनका भाग्य भी खिल उठा। निराश हो उन्होंने दिल्ली का रास्ता पकड़ा और हिसार पहुँचने ही वाले थे कि दिल्लीमें विद्रोह का शंख फूंक दिया गया। हिसार में गोरी फौज का साथ देने और एक चौधरी के यहाँ से ब्रह्म भोज के लिए तैयार की गई सामग्री लेकर गोरी फौज की भोजन व्यवस्था कर देने के फलस्वरूप उनको हिसार का कोतवाल नियुक्त कर दिया गया। उसके बाद मेरठ, सहारनपुर तथा नेपाल की लड़ाई में अंग्रेजों का साथ देनेके कारण उनको बांसबरेलीकी पुलिस लाइन्स का चार्ज दे दिया गया। इन्हीं दिनों में छठी सन्तान के रूपमें चरित्रनायक का जन्म हुआ। जन्मका नाम वृहस्पति रखा गया, जो व्यवहार में नहीं आया। व्यवहार का नाम मुंशीराम था। पिताजी की बदायूं, बनारस, मिर्जापुर, फिर बनारस और बलिया आदिमें पदवृद्धि होकर बदली होती रही। मुंशीराम की पढ़ाई का सिलसिला कहीं न जम सका। बनारस और बलिया में कुछ नियमित पढाई हो सकी। बलिया से पिताजी ने बनारस भेज कर वहां के कालिज में भर्ती करा

दिया। तब लगातार साढे चार वर्ष तक पढ़ाई का क्रम जारी रह सका। कुछ समय आवारागर्दी में भी बीता। इन्हीं दिनों में कुछ दुर्गुण भी आवारागर्दी के कारण लग गए। एक आध घटना चरित्र की निर्बलता सम्बन्धी भी घट गयी, परन्तु सहसा ही सावधान हो गए। विचारों में पहले कुछ नास्तिकता का संचार हुआ। फिर एक बार ईसाई बन जानेका भी निश्चय किया। मांस, मदिरा, जुआ तथा हुक्का आदिके दुर्व्यसनों का प्रारम्भ ही इन्हीं दिनोंमें हुआ।

आपका विवाह पंजाब में स्त्री शिक्षाके प्रवर्तक लाला देवराजजी की बहन के साथ हुआ। उस समय की सामाजिक स्थिति और आपकी मनोदशा का कुछ पता आपके अपने शब्दोंमें लगता है। अपने विवाह की चर्चा करते हुए आपने लिखा है कि "मैं विवाह के धूम धड़क्के से निवृत्त होकर बहुत निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधू युवा मिलेगी परन्तु अभी वह बाल्यावस्था में ही थी। फिर निश्चय किया कि मैं उसे स्वयं पढ़ाऊँगा और इस विचार ने मुझे बहुत संतोष दिया। मैंने उसी समय बालविवाह कुप्रथा के भयंकर परिणाम अनुभव किए थे और इसीलिए आर्यसमाज में प्रवेश करते ही मैंने इस के संशोधन में बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाह का खयाल ही मेरे अन्दर न डाला जाता, तो काशी से ग्रेजुएट बनकर में किसी अन्य ऊँची दशामें चला जाता। कम से कम यदि धर्मपत्नी की आयु सोलह वर्ष की होती और परस्पर की प्रसन्नता से आँख खोलकर विवाह होता तो मैं उस अन्धकूप में गिरने से बच जाता, जिस में आगामी दो ढाई वर्ष गिरा रहा।"

विवाह के बाद ड़ेढ वर्ष तलवन में बिता कर पिताजी के बरेली चले जाने से आप भी वहाँ चले गए। इलाहाबाद में एफ० ए० की परीक्षा में बैठे। किन्तु सफल न हो सके। बरेली का डेढ़ वर्ष का जीवन नाच, रंग, तमाशों के अन्धकूप में बीता। मदिरापान का दुर्व्यसन चरम सीमा पर पहुँच गया। उन दिनों की मानसिक स्थिति का चित्रण करते हुए आपने फिर लिखा है कि "मैं अपने जीवन में दूसरी बार ऐसा पतित हुआ कि पुरानी गिरावट का संस्कार फिर जाग उठा। घंटों बेहोश पड़ा रहा, परन्तु आत्मा में कोलाहल मच हुआ था। प्रातःकाल भ्रमणार्थ दूर निकल गया और एकान्त में बैठकर अनुभव करता रहा। उस दिन शाम को ही लौटकर भोजन किया। दूसरे दिन से ही काया फिर पलट गई। नाच, तमाशे, दावतों में जाना बन्द हुआ और फिलासफी का स्वाध्याय शुरू हो गया। बोतल और गिलास भी कुछ कालके लिए बिदा हो गए। इस बार के पतन में आशा की झलक केवल वह अनुसंताप था, जो आत्मा अनुभव करती रहती थी। पश्चात् की यह भावना परीक्षा देने के लिए अलीगढ़ जाने पर मन्द पड़ गई।

बरेली के इस घोर अन्धकारमय जीवनमें १४ श्रावण संवत् १९३६ को स्वामी दयानन्द सरस्वती के बरेली आने पर उनका जो सत्संग मिला, वह कुछ ऐसे ही संस्कार छोड़ गया कि उसके बाद आपका कायाकल्प हो गया। आप दुपहर के समय शंका-समाधान और रात को व्याख्यान के समय सब से पहले उपस्थित होते और अंत तक बने रहते। जीवन का यह उतार चढ़ाव निरन्तर बना रहा। पत्नी की सेवा भावना ने भी कुछ जादू दिया, परन्तु धूप छाया का सिलसिला काफी समय बना रहा।

पुत्र का मन पढ़ाई में लगता न देख कर पिताजी ने अपने प्रभाव से नायब तहसीलदार बनवा दिया। एक ही मास बाद स्थानापन्न तहसीलदार का पद मिल गया। परन्तु अंग्रेज अफसरों के साथ मेल नहीं बैठ सका। तीन ही मास चौकरी का यह क्रम चल सका। पिताजी के सामने सिवा पुलिस की नौकरी के दूसरा कोई विचार न था ; परन्तु आपका मन उधरसे फिर चुका था। पिताजी ने अंतमें घर का कामकाज संभालने और लाहौर जाकर वकालत की परीक्षा देनेके लिए घर भेज दिया। घर का कामकाज और परीक्षा की तैयारी साथ-साथ चलने लगी। दो बार असफल होने के बाद तीसरे वर्ष मुख्त्यारी की परीक्षा पास की जा सकी। इस बीच उत्थान पतन का सिलसिला भी बना रहा। पिताजी भी पेनशन लेकर घर आ गए। आप ने जालंधर में मुख्त्यारी का धंधा शुरू कर दिया। १३, कार्तिक संवत् १९४० को स्वामी दयानन्द का देहान्त

होने पर आपके ही प्रयत्नों से जालन्धर में शोकसभा का आयोजन किया गया, परन्तु जालन्धर में भी पुराने व्यसनों ने आ घेरा और मदिरा मांसका अव्याहत दौर चलता रहा। इस बीच कुछ समय वकालत करने में भी बिताया। जालन्धर में अपने एक मित्रके मदिरापान में चूर होकर वेश्यागमन करने की घटनाकी हृदय पर कुछ ऐसी चोट लगी कि घर आकर शराब की बोतल को पास की गली में जो फेंका, तो उस व्यसन से सदा के लिए छुट्टी मिल गई और एक नए जीवन का सूत्रपात हो गया। इसी कारण दूसरे दिन सवेरे ही आप लाहौर चल दिए। वहाँ वकालत की परीक्षा पास की। जालन्धर में हृदय ने जो चोट खायी थी, उसने जब गहरा रंग पकड़ा, तब आपका झुकाव ब्राह्मसमाज और उसके बाद आर्यसमाज की ओर हुआ। ब्राह्म समाज के सारे साहित्य को पढ़नेके बाद भी जब आत्मा को सन्तोष न हुआ, तब "सत्यार्थ प्रकाश" का अध्ययन किया और आर्यसमाज के विधिवत् सदस्य बन गए। पहले ही दिन आर्यसमाज में आपका जो व्याख्यान हुआ, उसका सार यह था कि "हम सबके कर्त्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिएं। जो वैदिक धर्म के एक-एक सिद्धान्त के अनुकूल अपना जीवन नहीं ढाल सके, उस को उपदेशक बनने का साहस नहीं करना चाहिए। भाड़ेके टट्टुओं से धर्मका प्रचार नहीं हो सकता। इस पवित्र कार्यके लिए स्वार्थत्यागी पुरुषों की आवश्यकता है।" इन शब्दों में उनके भावी नवजीवन का स्पष्ट चित्र देखा जा सकता है। मांस और हुक्के आदि का भी परित्याग उन्होंने उसी प्रकार किया जैसे शराब का किया था और वह केवल इसलिए किया था कि स्वामी दयानन्द ने उनका निषेध किया है। अपने को सच्चा आर्यसमाजी बनाने की भावना का हृदय में संचार होना था कि सारे दुर्व्यसन छूट गए और जीवन सहसा ही एक नए ढाँचेमें ढल गया।

जीवन की उत्थान पतन की लम्बी कहानी का यह संक्षिप्त विवरण केवल यह दिखाने के लिए दिया गया है कि स्वामीजी सुधारकी पहली सीढ़ी आत्म सुधार को मानते थे और आत्म सुधार प्रारम्भ होता है व्यक्तिगत जीवन से। उस व्यक्तिगत जीवन का निर्माण स्वामीजी ने जिस रूपमें किया वह निराश से निराश हृदय में भी दिव्य आशा का संचार कर सकता है। इसप्रकार लाला मुंशीराम ने कल्याण मार्ग का पथिक बन कर महात्मा पद की प्रतिष्ठा प्राप्त की और बाद में सन्यासी बनकर लोक कल्याण के कार्य पर अपनेको न्यौछावर कर दिया। उनकी जीवन कहानी अत्यन्त प्रेरणाप्रद और स्फूर्तिदायक है।

आर्यसमाज की स्थापना स्वामी दयानन्द ने की, किन्तु उसका वर्तमान रूपमें निर्माण और संगठन आपने ही किया। प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाके रूप में उनका संगठन स्थापित करनेवाले आप ही हैं। स्वयं दृढ़ आर्य बनने की जो धुन आपमें समाई, तो कितनों को ही दृढ़ आर्य समाजी बना डाला। आर्य समाज में डी० ए० वी० कालिज की शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में जो चर्चा शुरू हुई उसने सहसा ही मांसाहार के विवाद का रूप धारण कर लिया और उसके कारण दो दल बन गए। स्वभावतः कट्टर आर्य समाजी बन जाने से वे मांसाहार के विरोधी थे और विरोधी दल के अगुवा थे। इस नाते सारे पंजाब और बादमें समस्त भारत में आप आर्य समाज के अद्वितीय नेता माने गए। आर्य समाजियों को आर्य समाज के आदर्शों तथा सिद्धान्तों और कार्यक्रम पर सुदृढ़ रहने की आप हमेशा ही प्रेरणा देते रहते थे। बींसवी सदी के पहले चरण (१९०७) में लाला लाजपतराय तथा भाई परमानन्द आदि के कारण सारे ही आर्य समाज को राजद्रोह का मूल कारण बताया जाता था और यह कहा जाता था कि जहाँ आर्यसमाज का जोर है वहाँ राजद्रोह भी प्रबल है। इसी कारण आर्य समाजियों के घोर दमन का सिलसिला शुरू किया गया, अनेक आर्य समाजियों पर जहाँ तहाँ मुकदमे चलाए गए। सत्यार्थ प्रकाश को जप्त करने के लिए राजद्रोही ग्रन्थ बता कर मामले दायर किए गए और पटियाला में आर्यसमाज मन्दिर पर ताला लगा कर सभी सदस्यों पर राजद्रोह का मामला चलाया गया। ऐसे कठिन अवसर पर आर्यसमाज को अपनी नैतिकता पर कायम रख कर आर्य समाजवादियों में कोई दीन हीन भावना न पैदा होने देने का सारा श्रेय एक मात्र आपको है। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय की १९०७ में मांडले में की गई नजरबन्दी पर जब कुछ क्षेत्रोंमें उनके आर्यसमाजी न होने की बात कही गई तब

लाहौर पहुँच कर आपने बहुत महत्वपूर्ण भाषण दिए। आर्यसमाज पर कहीं कोई संकट आता, तो वहाँ सबसे पहले आप पहुँचते। पटियाला के मुकदमे की पैरवी की सारी व्यवस्था आपने ही की। वर्षों आप पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष रहे।

आर्यसमाज की दृष्टि से गुरुकुल की स्थापना आपका सबसे बड़ा काम है और शिक्षाके क्षेत्रमें वह अपने ढंगका एक अद्‌भुत प्रयोग था। विक्रमी १९५३ में आपने उसके सम्बन्ध में अपने पत्र "सद्धर्म प्रचारक" में चर्चा प्रारम्भ कर दी थी। नवम्बर १९५८ तक यह चर्चा चलती रही। तब पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभाने गुरुकुल स्थापित करने और स्वामी दयानन्द के "वेद भाष्य" को पूरा करने का निश्चय किया। जो बोले सो कुंडा खोले वाली बात हुई। अगस्त १८९८ को आपने ३० हजार रुपए जमा करने का संकल्प करके यह घोषणा कर दी कि यह धन राशि जमा होने तक मैं घर नहीं लौटूंगा। ८ एप्रिल १९०० को केवल नौ मासमें आपने ४० हजार रुपया जमा कर लिया। इन्हीं दिनों में आपको आर्य जनता ने महात्मा पद से विभूषित किया। २ मार्च १९०२ को गुजरानवाला से ३४ ब्रह्मचारियों को लेकर हरिद्वार के उस पार गंगा के किनारे कांगड़ी गांवके समीप में गुरुकुल की स्थापना की गई और होली की छुट्टियों में २१ से २४ मार्च तक विशेष उत्सव मना कर उद्‌घाटन विधि सम्पन्न की गयी। दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करते हुए गुरुकुल एक स्वतंत्र राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बन गया, जिसके लिए स्वामीजी ने सर्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर न केवल अपना तन किन्तु मन और धन भी अर्पित कर दिया। अपना पत्र, प्रेस, पुस्तकालय और जालन्धर की कोठी आदि सब कुछ भेंट कर दिया। आर्य जनता ने भी प्रति वर्ष हजारों व लाखों की भेंट करते हुए धन की कमी नहीं रहने दी। कुरुक्षेत्र, दिल्ली, गुजरात आदिमें उसकी शाखाएँ स्थापित की गईं। आप बंगाल और मद्रास में भी उसकी शाखाएँ स्थापित करने के प्रयत्न में रहे। बहुत वर्षो के बाद स्त्री शिक्षाके लिए भी गुरुकुल के ढंग पर कन्या गुरुकुल स्थापित किया गया, जो इस समय देहरादून में चल रहा है। विक्रमी १९८० में जब गुरुकुल का रजत जयन्ती महोत्सव मनाया गया तब उसमें विद्यार्थियों की संख्या १००० से ऊपर थी और २० लाख से भी अधिक रुपया जनता उसके लिए दे चुकी थी। गुरुकुल के स्वरूप, महत्व और विशेषताओं के सम्बन्ध में जितना लिखा जाए थोड़ा है। यहाँ हम केवल दो एक सम्मतियाँ ही उद्धृत कर रहे हैं। इंगलैंड के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री मि० रेमजे मेक्डानल्ड १९१४ में गुरुकुल आए थे। उन्होंने इंगलैंड लौटकर "डेली क्रानिकल" में जो लेख लिखा था वह उस के राष्ट्रीय स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालता है। उन्होंने लिखा था कि "भारत के राजद्रोह के सम्बन्ध में जिन्होंने कुछ थोड़ा सा भी पढ़ा है, उन्होंने गुरुकुल का नाम अवश्य सुना होगा जहाँ आर्य समाजियों के बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं। आर्यों की भावना और सिद्धान्तों का यह अत्यन्त उत्कृष्ट मूर्त्त रूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाज के सम्बन्ध में जितने भी सन्देह किए जाते हैं, वे सब गुरुकुल पर लाद दिए गए हैं। इसलिए सरकार की इसपर तिरछी नजर है, पुलिस अफसरों ने इस के सम्बन्ध में गुप्त रिपोर्ट की है और अधिकांश ऐंग्लो इंडियन लोगों ने इसकी निन्दा की है। सरकारी लोगों के लिए गुरुकुल एक पहेली है, अध्यापकों में एक भी अंगरेज नहीं है। अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिए पंजाब यूनीवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें यहाँ काममें नहीं लाई जातीं, सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिए यहाँ से किसी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता है और विद्यार्थियों को विद्यालय से अपनी ही उपाधियाँ दी जाती हैं। सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घबराए हुए सरकारी अधिकारी के मुंह से इसके लिए पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुल के विषय में यह अन्तिम राय नहीं हो सकती। सन् १९३५ के प्रसिद्ध लेख में मैकाले के सम्मति प्रकट करने के बाद भारत में शिक्षा के क्षेत्र में यह पहला ही प्रशस्त प्रयत्न किया गया, उस लेखके परिणामों से प्रायः सभी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है कि गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने उस असंतोष को कार्य में परिणत करते हुए शिक्षाके क्षेत्रमें नया परीक्षण नहीं किया।"

उसके क्रांतिकारी सामाजिक रूप का परिचय लन्दन के एक और पत्र "दि न्यू स्टेट्समैन" के २० जून १६१४ के लेखसे मिलता है। उसमें लिखा गया था कि "भारतीय दृष्टि से इस संस्था की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण विशेषता जात पांत के भेद व अन्तर को मिटाना है। उसमें ब्राह्मण से लेकर मेहतर तक सभी जातियों के बालक शिक्षा पाते हैं। सबका एक सा रहन सहन और जीवन है। जात पांत का भेद-भाव भारत में खूब गहरी जड़ें पकड़े हुए है, पश्चिम की शिक्षा और आदर्शों के सहारे भी उसकी जड़ों को खोदना कठिन है। परन्तु यहाँ गुरुकुल में उसकी जड़ें बड़ी सफलता के साथ काट दी गयी हैं, पश्चिम के नाम पर अनुकरण नहीं है बल्कि पूर्वके पुराने और सुन्दर आदर्शों को पुनर्जीवित करने की दृष्टि से। आर्यसमाज को शिक्षा के कार्य का यह एक नमूना है और शिक्षा का यह कार्य उस महान समाज सेवा के कार्य का छोटा सा हिस्सा है, जो आर्यसमाज उत्तरी भारत में कर रहा है। आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से प्रायः रहित प्रतिभाशून्य ब्रिटिश अधिकारी एकाएक घबरा जाते हैं। वे यह नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं। इसलिए वे उसमें राजद्रोह का सन्देह करने के आदी हो गए हैं।

गुरुकुल के आकर्षण और विशेषताओं के सम्बन्ध में इन दो सम्मतियों के बाद कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं रहती। हिन्दीके माध्यम से सम्पूर्ण शिक्षा देनेवाली यह पहली संस्था है। मेहनत मजदूरी करके और भोजन में कमी करके गुरुकुल के ब्रह्मचारियों और कर्मचारियों ने १५०० रुपए दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के लिए भेजे थे। उसी समय से गांधीजी का गुरुकुल ने प्रेम सम्पादन कर लिया था। गांधीजी के लिए महात्मा शब्द का प्रयोग सबसे पहले गुरुकुल द्वारा दिए गए मानपत्रमें ही किया गया था। गांधीजी ने गुरुकुल के उत्सव की व्यवस्था को कांग्रेस के लिए अनुकरणीय बताते हुए उसकी अनेक बार प्रशंसा की थी, यहाँ यह बात बताने की आवश्यकता नहीं कि शिक्षा के प्राचीन वैदिक आदर्श को पुनर्जीवित करने के लिए गुरुकुल की स्थापना की गई थी और उन आदर्शों को मूर्त रूपमें देनेका पूर्ण प्रयत्न आपके ही कारण किया जा सका।

१२ एप्रिल १६१७ को सम्वत् १६७४ की पहली बैशाख को आपने हरिद्वार और कनखलके बीच स्थित मायापुर वाटिका में सन्यास आश्रम में प्रवेश किया और यह कहते हुए स्वयं अपना नाम श्रद्धानन्द रखा कि मेरे सम्पूर्ण जीवन में मुझे एकमात्र श्रद्धाका ही सहारा रहा है। गुरुकुल और आर्यसमाज तक अपने को सीमित न रख कर आपने विस्तृत कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया। प्रत्यक्ष राजनीति से पृथक् रहते हुए भी आपकी वृत्ति राष्ट्रीयता से ओतप्रोत थी। धर्मको आप जिस व्यापक दृष्टि से देखते थे राजनीति उसका एक अंग थी। गुरुकुल की स्थापना और उसका संचालन भी मुख्यतः राष्ट्रीय दृष्टिकोण से किया गया था। अपनी धर्म प्रधान वृत्ति के कारण ही आप गांधीजी के सत्याग्रह को धर्मयुद्ध कह कर उसमें सम्मिलित हुए थे। गुरुकुल से अलग होते हुए आपने उसके प्रधान को २५ सितम्बर १६२० को लिखे गए पत्रमें लिखा था कि "इस समय मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि का भविष्य निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्माजी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जीवन और मृत्युका प्रश्न हो गया है। इसलिए मैं इस कार्यमें शीघ्र ही लग जाऊँगा। यदि आपकी सम्मति में इस काममें लगने के लिए मुझे गुरुकुल व आर्यसमाज के अन्य कार्यों से अलग हो जाना चाहिए, तो जैसा पत्र आप तजवीज करेंगे, मैं पब्लिक में प्रकशित करूँगा। मैं इस कार्यसे रुक नहीं सकता, मुझे यह काम इससमय सर्वोपरि दिखता है।"

इस पत्र से स्पष्ट है कि स्वामीजी को गांधीजी के आन्दोलन ने कुछ स्वाभाविक रूप से ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। गुरुकुल और आर्यसमाज में रहते हुए भी आप राजनीति से पृथक् नहीं थे, परन्तु उसमें कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते थे। सूरत कांग्रेस के भंग होने पर राजर्षि गोखले ने आपको अत्यन्त मर्मस्पर्शी पत्र लिखा था और आपके साथ उनका बहुत ही निकट सम्पर्क बना रहा। गुरुकुल से आकर दिल्ली में स्वामीजी गांधीजी से मिले। स्वामीजी की योजना यह थी कि देश में कुछ ऐसे क्षेत्र तैयार किए जाएँ, जिनमें असहयोग

को पूर्ण बना कर लगानबन्दी का सत्याग्रह शुरू किया जाए और आन्दोलन को कहीं भी केन्द्रित न रखा जाए। आपने पंजाब में पाँच जिले इसप्रकार तैयार करने का दायित्व लेने की इच्छा प्रकट की और गांधीजी से गुजरात में पाँच जिले तैयार करने को कहा। दिल्ली में रह कर रौलट एक्ट के विरुद्ध हुए आन्दोलन का संचालन घण्टाघर के नीचे गोरखों की नंगी किरचों के सामने हजारों लोगोंका नेतृत्व करते खड़ा होना, जामा मजिस्द की वेदी से वेद मंत्रों के उच्चारण के साथ भाषण देना और कई सप्ताह तक दिल्ली से अंग्रेजी राज्य को समाप्त करके सच्चा स्वराज्य कायम करना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित हो गई हैं। पंजाब जब फौजी शासन के भीषण अत्याचारों तथा अमृतसर के जलियानवालाबाग में हुए हत्याकाण्ड सरीखे नृशंस दमन से कराह रहा था और बाहर से किसी का भी यहाँ आना जाना निषिद्ध था तब सब से पहले अमृतसर पहुँचनेवाले स्वामीजी थे। समाचार पत्रों में वहाँ की स्थिति पर आपने प्रकाश डाला और कांग्रेस पर जोर डाल कर जाँच समिति की नियुक्ति करवाई, जिसमें गांधीजी, देशबन्धुदास और पंडित मोतीलाल नेहरू सरीखे नेता सम्मिलित थे। अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन होना असम्भव बना दिया गया था। पर वह आपके ही प्रयत्न से हो सका और आप ही उसके स्वागताध्यक्ष चुने गए। मुहावरेदार ठेठ हिन्दी में कांग्रेस के मंच से दिया गया वह पहला ही भाषण था और उसमें आपने राष्ट्र के नैतिक जीवन के निर्माण और हरिजनों के उद्धार आदि विषयों पर कांग्रेस के मंच से पहली ही बार चर्चा की थी। राजनीतिक दृष्टि से तब पहली ही बार समाज सुधार के महत्व का प्रतिपादन किया गया था। फिर आपको "सिखों के गुरु के बाग" में सत्याग्रह करने के कारण अमृतसर में कारावास का दंड दिया गया। कलकत्ता कांग्रेस के विशेष अधिवेशन और नागपुर तथा अहमदाबाद के अधिवेशनों में भी आप गांधीजी का समर्थन करने के लिए उपस्थित हुए थे।

यह देश का दुर्भाग्य था कि आप कांग्रेस में अधिक दिन न रह सके, कारण इसका यह था कि आप समाज सुधार को राष्ट्र-निर्माण के लिए अनिवार्य मानते थे। एक करोड़ की तिलक स्वराज्यनिधि के विनियोग का प्रश्न जब लखनऊ कांग्रेस समिति के सामने विचार के लिए उपस्थित हुआ तब आपका सुझाव यह था कि पाँच लाख की धनराशि हरिजनों के उद्धार के लिए अलग रख देनी चाहिए। कांग्रेस के दूसरे नेता इससे सहमत नहीं हुए। उन्होंने आपके इस प्रस्ताव का कुछ उपहास भी किया। बस, आपने कांग्रेस छोड़ दी और दिल्ली लौट कर दलितोद्धार सभा की स्थापना करके हरिजन सेवा का काम शुरू कर दिया। कुछ मुस्लिम नेताओं से दलितों के सम्बन्ध में जो मतभेद, विवाद तथा वितंडावाद प्रारम्भ हुआ, उसके कारण शुद्धि तथा संगठन का आन्दोलन भी प्रारम्भ किया और हिन्दू महासभा में एक नया जीवन फूँक दिया। कुछ वर्ष बाद समाज सुधार, के दूसरे प्रश्न विधवा विवाह पर हिन्दू नेताओं के साथ आपकी पटरी बैठ न सकी। महामना पंडित मदनमोहन मालवीय ने कांग्रेस स्वराज्य पार्टी के विरुद्ध नेशलिस्ट पार्टी का संगठन करके हिन्दू महासभा का उपयोग कांग्रेस के विरुद्ध अपनी पार्टी और चुनाव के लिए करना चाहा, तब आपने विधवा विवाह और चुनाव के प्रश्न पर हिन्दू महासभा को भी छोड़ दिया। चुनाव में आपने पंडित मोतीलाल नेहरू का साथ दिया। हिन्दू समाज में नव-जीवन पैदा करने की आकांक्षा रखते हुए और उसके लिए प्रयत्न करते हुए भी आप हिन्दू महासभा की साम्प्रदायिकता से कभी सहमत नहीं हुए और साम्प्रदायिकता के दृष्टिकोण से आपने मुसलमानों का विरोध किया।

दो विषयों की चर्चा करना आवश्यक है। एक तो यह कि जब आपने आर्यसमाज में प्रवेश किया तब पिताजी और घरवालों के कट्टर सनातन-धर्मी होने से आपको भी भीषण धर्म-संकट का सामना करना पड़ा। जात-बिरादरीवालों के विरोध और बहिष्कार की धमकियाँ भी आपको मार्ग से विचलित नहीं कर सकीं। गुरुकुल के उत्सव से लौटते हुए आर्य समाजियों पर हरिद्वार में कुछ पंडों के बहकाने पर एक उत्तेजित भीड़ ने हमला कर दिया। बलवे के अपराध में अनेक हिन्दू गिरफ्तार किए गए। आपने उस मुकदमे में सरकार का साथ न देकर उसे वापस लेने को मजबूर किया। जब भी कभी इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित हुए तब आपने सदा ही सत्याग्रही-वृत्ति से काम लिया। देश में कहीं भी अकाल, बाढ़ तथा भूकम्प आदि के दैविक

संकट उपस्थित होते तब गुरुकुल से सदा ही एक अच्छी धनराशि जमा करके भिजवाते और यथासम्भव स्वयं भी वहाँ पहुँच जाते।

दूसरे जिस विषय की चर्चा करना आवश्यक, है वह है आपका हिन्दी प्रेम। सम्वत् १९४६ में आपने कुछ साथियों के साथ मिल कर आर्यसमाज के लिए उर्दू में "सद्धर्म प्रचारक" नामक पत्र निकालना आरम्भ किया। यह अनुभव होते ही कि आर्यसमाज का सारा काम हिन्दी में होना चाहिए, आपने १ मार्च १९०७ को अपने पत्रको एकाएक हिन्दीमें प्रकाशित करना शुरू कर दिया। आर्यसमाज में हजारों लोगों ने केवल "सद्धर्म प्रचारक" के हिन्दी में किए जाने से हिन्दी का अभ्यास किया। आर्यसमाज की छोटी बड़ी कन्या पाठशालाओं में हिन्दी को ही अपनाया गया था। किन्तु गुरुकुल में आदिसे अन्त तक सारी शिक्षा का माध्यम हिन्दी को रख कर जो प्रयोग किया गया था वह अपने ढंगका पहला था। गुरुकुल से १९१८-१९ में "श्रद्धा" नामसे साप्ताहिक पत्रिका आपने निकाली। दिल्ली से १९१९-२० में 'विजय" और १९२४-२५ में "अर्जुन" दैनिक पत्र प्रारम्भ किए गए थे। हिन्दी पर आपका पूर्ण अधिकार था। अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के पदसे मुहावरेदार ठेठ हिन्दी में आपने जो भाषण दिया था उस का अंग्रेजी में अनुवाद करना कठिन हो गया था। अनेक ग्रन्थ भी आपने लिखे। उर्दूके गढ़ दिल्ली में हिन्दी को रोपने का श्रेय आपको ही है। आपके ही कारण दिल्लीमें हिन्दी और हिन्दी पत्रकारिता प्रतिष्ठित हुई। दक्षिण भारत तथा मद्रास में आपने १९१९ में हिन्दीका प्रचार गुरुकुल के कुछ स्नातकों को भेज कर सबसे पहले शुरू किया था। आपकी इस हिन्दी सेवा के कारण विक्रमी १९७० में भागलपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चौथे वार्षिक अधिवेशन का आपको अध्यक्ष चुना गया था। सम्भवतः वह पहला ही अवसर था जब कि साहित्यिक योग्यता की अपेक्षा हिन्दी सेवाको प्रधानता दी गई थी।

यह भी आपके जीवन की समाज सुधार की दृष्टि से एक उल्लेखनीय घटना है कि केवल १६ वर्षकी आयुमें धर्मपत्नीका देहान्त हो जाने पर घर, परिवार तथा जात बिरादरीवालोंके अत्यन्त आग्रह करनेपर भी विवाह करने का विचार नहीं किया। समाज सुधार की दृष्टि से इससे भी अधिक बड़ी बात यह है कि अपनी संतानों का विवाह जातबिरादरी के बन्धन त्याग कर किया। कन्या अमृतकला के विवाह पर काफी तूफान खड़ा हो गया, परन्तु आप अपने विचार से टस से मस न हुए। गुरुकुल में जात बिरादरी के सामाजिक भेदभाव और धार्मिक पक्षपात आदि को जड़मूल से मिटा दिया गया था।

एक धर्मान्ध मुसलमान अब्दुल रशीद को २३ दिसम्बर १९२६ को (४ पौष सम्बत् १९८३) मृत्युने निमित्त बना कर आपके साथ बहुत बड़ा विश्वासघात किया और उससे आपके महान व्यापक जीवन पर संकीर्ण साम्प्रदायिकता का एक काला परदा पड़ गया। महीनों से आप बीमार चले आ रहे थे और आपके पारिवारिक चिकित्सक डा० अन्सारी आपकी चिकित्सा कर रहे थे। उनको पूरा विश्वास था कि वे आपको मृत्युसे बचा लेगें। लेकिन, अब्दुलरशीद ने बीमारी की हालतमें बिस्तर पर पड़े हुए आप की छाती पर गोलियां दाग कर ७१ वर्ष की आयुमें आप की इहलीला समाप्त कर दी। सच तो यह है कि आपकी मृत्यु ने डाक्टर अन्सारी और अब्दुल रशीद के रूपमें मानव के दो रूप उपस्थित किए। एक वह है जो स्वामीजी को बीमारी के मुँह से बचाने के लिए मृत्यु के साथ जूझ रहा था। और दूसरा वह जिसने उनको मृत्यु के घाट उतार दिया। एक मानव हृदयमें विद्यमान प्रकाश का प्रतीक है तो दूसरा अंधकार का। सभी देशों, जातियों, समाजों, सम्प्रदायों और समयोंमें ऐसे देव और असुर पाए जाते हैं उनका सम्बन्ध किसी विशेष देश, जाति, समाज, सम्प्रदाय अथवा समय के साथ नहीं है। स्वामीजी की इस गौरवमय जीवनगाथा के बाद उनके महान् व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं। आपने अपने जीवन को प्राचीन वैदिक प्रणाली के ढांचे में ढाल कर जो आदर्श उपस्थित किया वह हमें सदैव कल्याण मार्ग की ओर प्रेरित करता रहेगा। देशके सार्वजनिक जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिस पर पड़े हुए आपके पद चिह्न हमारा पथ प्रदर्शन नहीं कर रहे हैं। —सत्यदेव विद्यालंकार

**

गोपाल गणेश आगरकर

एक ही समय में भारत में ऐसे दो महापुरुष हुए, जिन्होंने एक दूसरे से भिन्न क्षेत्र में कदम रखा। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने राजनीतिक क्षेत्र में सिंह गर्जना की, तो उनके सहयोगी, श्री गोपाल गणेश आगरकर ने सामाजिक क्रान्ति का आह्वान किया और यह घोषित किया कि बिना समाज सुधार के राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ने का कोई अर्थ नहीं रहता है। लोकमान्य तिलक चाहते थे कि वे अपने आन्दोलन में सुधारक और प्रतिक्रियावादी सनातनी आदि सब का सहयोग प्राप्त करें, शक्ति का विभाजन न हो। किन्तु आगरकर ने आवाज की कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ समाज सुधार आवश्यक है। जब तक देश में सामाजिक क्रान्ति न होगी, तब तक हमारा राजनीतिक आन्दोलन कोई अर्थ नहीं रखता है। भारत में आगरकर सामाजिक क्रान्ति के महारथी थे। महाराष्ट्र ने महामना गोखले, रानाडे और चन्द्रावरकर प्रभृति अनेक सुधारकों को पैदा किया।

१८४० में महाराष्ट्र म समाजसुधार आन्दोलन का आरम्भ श्री बालशास्त्री के द्वारा हुआ। वे सामाजिक जागरण के सूत्रधार थे। उस समय समाज में कितनी धार्मिक कट्टरता थी, उसका आज अनुमान नहीं किया जा सकता, किन्तु युवा बालशास्त्री ने एक ओर जहाँ, 'दर्पण' तथा 'दिग्दर्शन' जैसे पत्रों का प्रकाशन कर सुधार आन्दोलन छेड़ा, विधवा विवाह के समर्थन तथा जाति प्रथा के विरुद्ध में क्रान्तिकारी पुस्तकें प्रकाशित कर समाज में हलचल पैदा की, वहाँ दूसरी ओर शुद्धि और विधवा विवाह की ओर क्रियात्मक कदम रखा। बालशास्त्री बम्बई के प्रसिद्ध एलफिन्स्टन कालिज के अध्यापक थे। देश के दुर्भाग्य से उनका युवा अवस्था में ही देहान्त हो गया था। पर उन्होंने जो शुद्धि और विधवा विवाह का आन्दोलन उठाया था, उससे वे हिन्दू समाज के क्रोध के भाजन बन गए थे। उन्होंने बम्बई में शेषाद्रि नामक एक व्यक्ति को ईसाई धर्म से पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिया था। इससे वे समाज के क्रोध के पात्र बन गए। लोग उनकी हत्या करने तक के लिए तैयार हुए थे। वह ऐसा ही समय था। उस समय न तो समाचार-पत्र निकलते थे और न शिक्षा का प्रचार था। समाज पुराने विचारों के दायरों में बन्द था। बंगाल और महाराष्ट्र के आन्दोलन से सती प्रथा बन्द हो गयी थी। विधवाओं के उद्धार के लिए विधवा विवाह का प्रचार आरम्भ हुआ था। किन्तु प्रश्न था, जात-पाँत के उन्मूलन का, यह हुए बिना नए समाज की रचना कब सम्भव थी। अतएव, श्री दादाबा पांडुरंग ने एक सुधार संस्था 'परमहंस मंडली' नामक स्थापित की। यह संस्था समाज की क्रोध न बने और शांति रूप से उसका कार्य चले, इसलिए वह प्रकट में न आई।

इस मंडली ने प्रकट किया कि हिन्दू समाज में जातिभेद प्रथा न रहनी चाहिए। विधवाओं का पुनर्विवाह किया जाए। साथ ही इस संगठन ने मूर्त्ति पूजा का भी विरोध किया। इस संस्था में सीमित कार्यकर्त्ता रखे गए थे, जो सिद्धान्ततः इन विचारों को मानने वाले थे। किन्तु यह कार्य तब न चल सका, जब किसी एक सदस्य ने समाज के सामने इस संस्था का पर्दाफाश कर दिया। जातीय बहिष्कार के भय से बहुत से व्यक्ति संस्था से खिसक गए।

किन्तु इस संस्था ने जो बीजवपन किया था, सामाजिक विचार क्रान्ति का जो पौधा खड़ा किया था, वह मुर्झाया नहीं, इस सुधारवादी संस्था की नींव से महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इस नए

संगठन का संचालन श्री महादेव गोविन्द रानाडे और श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर प्रभृति विद्वान् और कट्टर सुधारवादी महापुरुषों के हाथ में आया। कुछ काल तक प्रार्थना समाज ने महाराष्ट्र में धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति की ओर तेजी से कदम बढ़ाया। इस संगठन से नवयुवकों ने लोक-प्रियता प्राप्त की, किन्तु बंगाल के ब्रह्मसमाज के समान उसका प्रभावशाली अस्तित्व कायम न हुआ और न उसके अनुयाइयों की बड़ी संख्या हुई।

१८८० में श्री गोपाल गणेश आगरकर सामाजिक क्षेत्र में आए। उनके साथ ही विष्णु शास्त्री प्रभृति भी थे। लोकमान्य तिलक उनके सहयोगी होते हुए भी सामाजिक आन्दोलन से अलग थे। किन्तु फिर भी महाराष्ट्र के इन तीन महापुरुषों ने न केवल महाराष्ट्र में, बल्कि सारे देश में सामाजिक चेतना उत्पन्न करने में अग्रभाग लिया।

आगरकर सतारा के निवासी थे, १८५६ में टेंगू नामक ग्राम में उनका जन्म हुआ था। यह ग्राम सतारा जिले में पड़ता है। घर की स्थिति साधारण थी। करहाड़ में साधारण शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त उन्होंने अदालत में काम पकड़ लिया। पर उनका ध्यान फिर भी ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिए बना रहा। कुछ समय बाद उन्होंने मुँसिफी अदालत के काम से अवकाश ले लिया। इस अदालत के एक मुंसिफ आगरकर से बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने सोचा कि यह युवक होनहार है। अत: उन्होंने आगरकर को कुछ सहायता देकर रत्नागिरी भेज दिया। किन्तु रत्नागिरी में आगरकर जिस व्यक्ति के पास आए थे, उनका स्वर्गवास हो गया था। फिर वहाँ उनका किसी से परिचय न था कि अपनी कोई व्यवस्था करते। वे करहाड लौट आए, किन्तु इस धुन में रहे कि किसप्रकार शिक्षा प्राप्त की जाए। करहाड के अस्पताल में कम्पाउन्डर होने पर भी उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का साधन प्राप्त न हुआ। इसलिए उन्होंने इस काम को भी छोड़ दिया और अकोला आ गए। यहाँ उनके मामा रहते थे। इच्छा और अनिच्छा से मामा के घर पर रूखा-सूखा खाकर अत्यन्त कष्टों के बीच में आगरकर ने १८७३ में अंग्रेजी की इंट्रेन्स परीक्षा पास की।

आगरकर का लक्ष्य यहीं समाप्त न हुआ। वे एम० ए० पास करना चाहते थे। मेधावी छात्र को देख कर कई अध्यापकों ने कुछ समय तक के लिए छात्र-वृत्ति की व्यवस्था की। इससे वे कालिज की फीस देने में समर्थ हुए और डेक्कन कालिज में भर्ती हो गए। पर इतने से तो काम चलना नहीं था। भोजन और पुस्तकों की व्यवस्था के लिए फिर भी परिश्रम करना पड़ता था। युवा आगरकर पत्रों में लेख लिखते और उससे उन्हें दस-पाँच रुपए मिल जाते थे। पहनने के लिए पूरे वस्त्र न थे। बिस्तर में केवल एक चद्दर थी। बाद में उन्हें जूनियर छात्र-वृत्ति मिलने लगी। अपने कालिज की प्रतियोगिता के कार्यक्रम में उन्होंने जो भाषण दिया और निबन्ध पढ़ा, उसमें वे सफल हुए और उन्हें सौ रुपए पुरस्कार में मिले। एक निर्धन व्यक्ति को यकायक सौ रुपए प्राप्त होना आगे बढ़ने के लिए बड़ा प्रोत्साहन था।

पर एम० ए० की परीक्षा देना आसान न था। आगरकर ने चेष्टाएँ कीं, किन्तु कोई परिणाम न निकला। तब उन्होंने नाटक लिखना आरम्भ किया। कलम के धनी थे, विचारधारा में क्रान्ति थी। वे रात में जग-जग कर नाटक लिखने में बढ़े, किन्तु उसके लिए भी पूरा समय और हृदय की स्थिरता चाहिए। इस अवस्था में एक प्रोफेसर ने उनकी सहायता की और उनकी फीस जमा कर दी। दिन-रात के अथक परिश्रम और कष्ट सहन के जीवन से युवा आगरकर का स्वास्थ्य क्षीण हो गया था। वे दमे के शिकार हो गए, किन्तु फिर भी उन्होंने पढ़ना नहीं छोड़ा। आगरकर इतिहास और दर्शन की एम० ए० की परीक्षा में सफल उत्तीर्ण हुए। इसप्रकार आगरकर का कर्मठ जीवन निर्माण हुआ।

उस काल में शिक्षा का इतना अधिक प्रचार नहीं था। आजकल की तरह तब बी० ए०, एम० ए० सड़कों पर नौकरियों के लिए मारे नहीं फिरते थे। एम० ए० पास कर आगरकर के लिए उच्च वेतन का काम मिलना कठिन न था। परन्तु कालिज की शिक्षा में जिन दार्शनिकों ने उनके मस्तिष्क में स्थान कर लिया था, इससे उन के जीवन का लक्ष्य सरकारी नौकरी प्राप्त करना और अधिक अर्जन करना मात्र नहीं था।

लोकमान्य तिलक के सहयोग में आने पर आगरकर का जीवन सार्वजनिक सेवा की ओर मुड़ गया था। एक निर्धन युवक ने जिन कष्टों को पार कर इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, अब उसके दिन फिर सकते थे, उनकी आदरणीया माता ने आकांक्षा की थी कि उनका पुत्र शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त उच्च वेतन प्राप्त करेगा। पर उन्होंने प्यारी माता को लिखा :

"माँ यह मत सोचना कि कदाचित् मेरा पुत्र उच्च शिक्षा प्राप्तकर उसे अधिक वेतन का बड़ापद मिलेगा और अबतक के हम लोगों के कष्ट के दिन बदल जाएँगे। पर आज माँ, यह आशा न रखना। माँ, मैं अपने जीवन में अपने भरण पोषण के सिवा अधिक धन जमा करने की आकांक्षा नहीं करता। मुझे अधिक सुख नहीं चाहिए। मैं जो अधिक आय करूँगा, वह सब सेवावृत्ति में लगा दूँगा।"

पूना का न्यू इंगलिश स्कूल कई महापुरुषों के सहयोग से चला था। १८८० में श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने इस स्कूल की स्थापना की थी। यह शिक्षा-संस्था सुधारकों को कार्यक्षत्र में अग्रसर करने की साधन थी। चिपलूणकर के साथ स्कूल में तिलक और आगरकर भी अध्यापक थे। तिलक और आगरकर में बड़ा स्नेह था। दोनों अगाध मित्र थे। और हरकाम में एक साथ रहते थ। जब १८८१ में लोकमान्य ने केसरी और मराठा पत्रों का प्रकाशन शुरू किया, तब केसरी के पहले सम्पादक आगरकर थे। केसरी ने देशी रियासतों का सदा पक्ष लिया और उस का सूत्रपात आगरकर के समय से हुआ। केसरी ने पहले अंग्रेजों के खिलाफ कोल्हापुर के महाराज का पक्ष लिया उसके परिणाम स्वरूप आगरकर और तिलक दोनों को तीन मास और दस दिन की सजा हुयी थी। जेल जानेका यह प्रथम प्रयोग था। आगरकर स्कूलमें प्रधान थे। यह स्कूल कालान्तर में कालिज बन गया। इस समय तक भी आगरकर के साथ तिलक थे। किन्तु बादमें इन दोनों मित्रोंमें मतभेद शुरू हुआ।

आगरकर केसरी के सम्पादक थे और उसमें लिखते थे, किन्तु वे चाहते थे कि उन का पत्र सामाजिक आन्दोलन में बढ़े। आगरकर के मस्तिष्क में सामाजिक क्रान्तिके विचार गूंजते थे, तब वे केसरी में कैसे रह सकते थे। १८८४ में बम्बई के प्रसिद्ध पारसी समाज सुधारक मलाबार शेटने बालविवाह निषेध के लिए कानून बनाने का प्रस्ताव रखा, तब आगरकर ने उसका जोरोंसे समर्थन किया। किन्तु लोकमान्य तिलक और अन्य सभी सहयोगी इन सब सुधारों के विरुद्ध थे।

गरम राजनीति के उपासक आगरकर और तिलक दोनों ही थे। किन्तु दोनोंमें मतभेद इस बात का था कि देश में पहले किस आन्दोलन को छेड़ा जाए, राजनीतिक परिवर्तन हो या समाज सुधार। बात यह नहीं थी कि लोकमान्य समाज सुधार नहीं चाहते थे या वे कट्टर धर्मावलम्बी थे। धर्मशास्त्र में लोकमान्य का गहरा अध्ययन था। किन्तु वे राजनीतिक संघर्ष के मध्यमें समाज को विभाजित करने के पक्षमें कदापि न थे। सामाजिक आन्दोलन छिड़ने पर जनता का बहुत बड़ा समुदाय स्वराज्य आन्दोलन का साथ न देता। हकीकत में स्थिति भी यह थी कि सुधारवादी पक्ष में चंद इने गिने लोग थे। अतएव यह व्यावहारिक न था कि अंग्रेजों से मोर्चा लेने के लिए समाज की पूरी शक्ति का उपयोग न किया जाए।

लोकमान्य का यह विचार सैद्धान्तिक था कि समाज सुधार के लिए हमें सरकार के पास दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम अपना सुधार कर अपने कार्योंका समाज पर प्रभाव डालें। तिलक कहते थे कि हम लोकमत में परिवर्तन करें, किन्तु इस के साथ ही वे यह भी कहते थे कि अभी देशमें इतना राजनीतिक जागरण नहीं है कि हम राजनीतिक आन्दोलन के साथ सामाजिक आन्दोलन भी छेड़ दें। इस अवस्था में राजनीतिक आन्दोलन आगे न बढ़ पाएगा। सुधार तो स्वतंत्रता प्राप्त होने पर भी हो सकते हैं।

पर आगरकर तो सामाजिक क्रान्ति के लिए बेचैन थे। वे लोकमान्य तिलक से सहमत न हुए। उन्होंने कहा कि हिन्दू समाज में कीड़े लग गए हैं, जो उसे खोखला कर रहे हैं, निर्बल समाज इतना शक्तिहीन और क्षीण हो गया है कि वह किस साहस से आगे बढ़ेगा। विनाशकारी रूढ़ियों और परम्पराओं से मुक्त होने

पर ही समाज में तेज आएगा। आगरकर कहते कि यदि समाज की कायापलट हो जाए, तो नए रूपमें उसमें जो शक्ति आएगी और जिस तेजीसे वह आगे बढ़ेगा, कि तब फिर अंग्रेजों को भागना ही पड़ेगा। आगरकर अपने तर्कों के आगे लोकमान्य की बातें न सुनते थे।

"तिलक तुम अपना व्यवहारवाद संदूक में बन्द करके रखो। समाज इतना सड़ गया है और उसमें इतनी दुर्गन्ध आ रही है कि इस शव को लेकर हम कैसे युद्ध छेड़ सकेंगे। इन कमजोरों के बल पर स्वराज्य आ भी जाए, तो सोचो बादमें क्या दुर्दशा होगी। उस स्वतंत्रता का क्या अर्थ रहेगा। तुम चाहते हो कि छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं का विवाह हो, बाल विधवाएँ बढ़ें और हम इन अत्याचारों, दुष्कर्मों और पापों का नाम न लें।

आगरकर ने लोकमान्य तिलक से कहा कि, अब उनका दूसरा मार्ग है। केसरी से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और सामाजिक क्रान्ति की आग उगलनेवाला 'सुधारक' पत्र निकाला। १८८८ में 'सुधारक' का जन्म हुआ था। केसरी सामाजिक मामलों में मौन था और 'सुधारक' समाज में उथल पुथल का आन्दोलन करता था। आगरकर के लिए इस क्षेत्रमें कोई साथी न हो, यह बात न थी। अनेक युवक सुधार क्षेत्रमें आगे बढ़े हुए थे। दादोबा पांडुरंग तरवड, गोपालराव हरि देशमुख जिन्होंने उपनाम "लोकहितवादी" रखा था, बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। लोकहितवादी की रचनाएँ केवल सामाजिक क्रान्ति का आह्वान करती थीं। वे पश्चिमीय आधारों पर समाज सुधार के पक्षपाती नहीं थे। इसी समय महाराष्ट्र में विष्णुबुवा ब्रह्मचारी आगे आए थे और उन्होंने ईसाइयों का मुकाबला किया था। ब्रह्मचारी भी भारतीय संस्कृति के आधार पर समाज सुधार चाहते थे।

इसी समय में ज्योतिराव गोविन्दराव फुले हुए, वे ब्राह्मणेत्तर आन्दोलन के प्रवर्तक थे। उन्होंने अस्पृश्यों को अपनाया। उन के लिए स्कूल स्थापित किया। उन की शक्ति केवल अस्पृश्यों तक ही सीमित न थी, बल्कि सवर्णोंमें होनेवाले बाल विवाह और विधवाओं पर होनेवाले अत्याचारों पर वे अपनी आवाज उठाते थे। वे पथभ्रष्ट या गर्भवती महिलाओं की रक्षा करते थे। पंढरपुर में 'बाल हत्या प्रतिबंधक गृह' की स्थापना के सिवा अन्य प्रसूत्ति गृहों की स्थापना में भी उन्होंने योगदान दिया था। फुले भी ब्राह्मणवाद के सख्त विरोधी थे। वे कहते थे कि हमें ब्राह्मणों से मुक्त होना चाहिए। ईश्वर और हमारे बीचमें ब्राह्मणों की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं है। सामाजिक आन्दोलन के लिए उन्होंने "सत्य शोधक समाज" का निर्माण किया था। फुलेजी के मित्र कृष्णराव पांडुरंग भालेकर ने समाज सुधार के क्षेत्रमें 'दीनबन्धु' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। फुले की रचनाएँ इस पत्रमें प्रकाशित होती थीं। महाराष्ट्र में अस्पृश्यता निवारण का आन्दोलन फुले के द्वारा आरम्भ हुआ था। सन् १८६३ में उन्होंने महाराष्ट्र में एक विधवा का पुर्नविवाह कराया, उससे उनके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हो गया। फुलेजी ने समाज में आधारभूत परिवर्तन लाने के लिए रूढ़ियों का धर्म शास्त्रों के आधार पर खण्डन किया और जो धर्म व्यवस्थाएँ, रूढ़ियों का समर्थन करती थीं, उन्होंने उनका तीव्र प्रतिवाद किया।

महाराष्ट्रमें आगरकरके समयमें समाज सुधारके क्षेत्रमें इन सब व्यक्तियों के सिवा अन्य अनेक विभूतियाँ भी आगे आयी थीं, जिनमें रानाड़े, डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर और श्री वापन आबाजी मोडक तथा फुले थे। बंगाल में केशवचन्द्र सेन का ब्राह्म समाज ईसाई धर्मके आगे नत था। किंतु महाराष्ट्र ने यह न चाहा। डा० भंडारकर ने कहा कि हमारे धार्मिक तथा सामाजिक सुधारका यह अर्थ नहीं है कि हम अपने धर्म तथा संस्कृति को खो दें। भंडारकर और रानाड़े ने मूर्तिपूजा आदिका खंडन किया, किन्तु उन्होंने यह कभी न माना कि प्रार्थना समाज हिन्दू धर्म से अलग है। इन सभी महान सुधारकों को हिन्दू धर्मका बड़ा अभिमान था और गीता तथा उपनिषदों की शिक्षा उनमें भरी हुई थी। किन्तु महाराष्ट्र के सामाजिक क्षेत्रमें सच्चे जागरण का श्रेय आगरकर को है। उन्होंने 'सुधारक' में उस बातको लिखा जो बुद्धि और तर्क से सिद्ध होती थी। व्यर्थ ईमान और विश्वास लाने तथा श्रद्धा पैदा करने की चर्चा आगरकर को ग्राह्य न थी। जिस पक्ष में

दकियानूसीपन होता था, आगरकर उसके ही विरोध में बढ़ते । सुधारक के प्रकाशन से, आगरकर को दो अढाई रूपए की प्रति मास बचत होती थी, हमें उसे ही उनकी आय कहनी चाहिए । कारण, पत्र के प्रथम वर्ष के अन्तमें केवल ३० रुपए की बचत हुयी थी ।

हिन्दू समाजमें पूर्व गौरव, परम्परा और प्राचीनता आदि की भावनाएँ जड़ पकड़ गयी थीं । समाज के इन वातावरण में सुधारक के लिए आगे बढ़ना तलवार की धार पर चलना था । राजनीतिक क्षेत्रमें बहुत जल्दी यश मिलता है, कार्यकर्ता नेता बन जाता है, उसका सन्मान होने लगता है । वह भले ही सरकार का विरोधी हो, और अधिकारी क्षेत्र उसका शत्रु हो, किन्तु धर और समाज में उसकी पूजा होती है, किन्तु सुधारक के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है । घर और समाज सर्वत्र विरोध का मोर्चा खड़ा है । यदि युवक दृढ़व्रती न हो, तो उसका सुधार क्षेत्रसे भाग जाना स्वाभाविक है । किन्तु आगरकर कमजोर मिट्टी के न बने थे । लोग भले उनका निरादर करें, गालियां दें और उन्हें क्षति पहुँचाएँ, किन्तु वे अपने विचारों से पीछे हटनेवाले न थे । नए सुधारों का प्रचार करने के कारण एक दो बार नहीं, बीसों बार उन्हें मार डालने की धमकियाँ दी गयीं । किन्तु आगरकर ने ऐसे पत्र और सन्देशों को हंस कर पढ़ा और सुना और यही कहा कि समाज की बलिवेदी पर मेरी गर्दन तैयार है । उन्हों ने जो मार्ग ग्रहण किया था, समाज सुधार का जो व्रत लिया था उस से वे नहीं हटे, एक क्षण के लिए भी उन्होंने यह न सोचा कि वे क्यों इन कांटोंके मार्गों पर चल रहे हैं । उन्होंने सामाजिक परम्पराएँ, अन्धविश्वास और रूढ़ियों का जबर्दस्त विरोध किया । आगरकर की ओजस्वी लेखनी महाराष्ट्रीय तर्कशीलता और निडरता कब अपने पथ से विचलित हो सकती थी । पूना के जीवन और सुधारक से आगरकर का क्या काम चलता था । महाराष्ट्र में बड़ौदा और इन्दौर की रियासतें सुधारप्रिय थीं । बड़ौदा नरेश और बड़ौदा के दीवान सुधारप्रिय होते आए हैं । होलकर दरबार ने आगरकर को अपने यहाँ उंच्च वेतन पर बुलाया; किन्तु उन्होंने कहा कि मुझे अपनी 'रियासत' के कामों से अवकाश नहीं है । उन्होंने उस प्रलोभन को ठुकराकर सुधार क्षेत्रके आन्दोलन को न छोड़ा । कालिज से ही उनकी केवल आय थी । १८९२ में जब प्रिंसिपल आप्टे की मृत्यु हो गयी तब पुराने प्रोफेसरों में आगरकरजी ही थे । अतः वे कालिज के प्रिंसिपल हुए । किन्तु इतने पर भी उनका रहन-सहन साधारण था । वे बड़े मितव्ययी थे उनकी साधारण आयका बड़ा भाग सार्वजनिक कार्यमें लग जाता था । शिक्षा के काल में उन्हें जो आर्थिक कष्ट झेलना पड़ा और उनका स्वास्थ्य गिरा, वह फिर न सम्हला । अध्यापक जीवन में भी उन्हें सामाजिक आन्दोलन की व्यग्रता रहती थी । दमाका रोग बढ़ता चला गया । सन् १८९५ में आगरकरजी का देवलोक हो गया ।

आगरकर भारत में समाज सुधारक के आन्दोलन को जन्म देनेवाले अग्रणियों में थे । उन्होंने अपनी रचनाओं में समाज सुधार के सभी विषयों की गहरी चर्चा की । हिन्दू समाज में प्रचलित प्रत्येक प्रथा पर उन्होंने चिंतन किया और उसके गुण-दोष प्रकट किए । जाति भेद, चातुर्वर्ण्य और अन्ध विश्वास पर उनकी ओजस्वी लेखनी ने जो लिखा, वह समाज सुधार साहित्य की नीव है । राजा राममोहनराय सुधारक हुए, किन्तु उनका जीवन आगरकर के समान तपस्वी न था । फिर उनके समान हिन्दुत्व राममोहन राय में न था । ईसाइयों से प्रभावित होनेके कारण वें राजनीति में दबे हुए थे । किन्तु आगरकर अंततः लोकमान्य के साथी थे । वे कैसे नरम विचार के रहते । यद्यपि उनके समाज सुधार के क्षेत्र में नरमदल के नेताओं का जमघट था, किन्तु आगरकर अकेले एक ऐसे क्रान्तिवादी थे जो सामाजिक क्रान्तिवादी राजनीतिक दासता को कब चाहते ? इसलिए वे राजनीतिक क्षेत्र में होनेपर भी पीछे नहीं रहे । वे कहते थे कि जब हम अन्याय मूलक उन धार्मिक व्यवस्थाओं का बिरोध करते हैं, तब हम बेहूदे सरकारी कानूनों का कैसे समर्थन कर सकते हैं । अन्यायी कानूनों का बिरोध करना हमारा हक है । इसलिए वे न तो सरकार से दबते थे, और न रूढिवादियों से । आगरकर का मत था कि जो सत्य है, उसे भी किसी स्वर्गके गरजसे न कहना ठीक नहीं है । हम सत्य बात कहने से कभी पीछे न रहेंगे ।

—भालचन्द्र शर्मा

**

ज्योतिबा गोविंद फुले

महाराष्ट्र में समतावादी की स्थापना करनेवाले इस प्रथम समाज सुधारक का जन्म पूना में १८२७ में हुआ था। वे जाति के माली थे। एक वर्ष की आयु में ही इनकी माता का देहान्त हो गया था। अत: पालनपोषण का भार इनके पिता को ही संभालना पड़ा।

सात वर्ष की आयु में आपने स्कूल जाना प्रारम्भ कर दिया। स्कूल के बाद बाग का काम भी करते रहते थे। बाद में पिता ने इन्हें एक अंग्रेजी स्कूल में दाखिल कर दिया। जहाँ इनकी पाँच वर्ष तक और शिक्षा मिली। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध वंडखोर बासुदेव बलवन्त फड़के के माँग जाति के गुरु लहूजी बुबा के पास रह कर इन्होंने लाठी गतका व पटेबाजी का अभ्यास किया। इन्हीं दिनों आप पर ईसाई धर्म प्रचारकों की कार्य पद्धति तथा समाज सेवा की भावना का प्रभाव पड़ा और आपने भी उनका अनुकरण कर समाज को शिक्षित बनाने व ऊँच-नीच का भेदभाव मिटा कर समता स्थापित करने का अपना कार्य जोर-शोर से शुरू कर दिया।

सर्वप्रथम १८४१ में आपने कुछ ब्राह्मण मित्रों की सहायता से पूना में एक लड़कियों का स्कूल खोला। इस कार्य में आपने समाज का तथा समाजका विरोध करने से डरनेवाले अधिकारियों का तीव्र विरोध सहन करना पड़ा। आपकी पत्नी सावित्रीबाई ने समाज के मानापमान की चिन्ता किए बिना तथा पुरानी परम्परा का परित्याग कर इस कार्य में पूरा योग दान दिया। शीघ्र ही इस स्कूल की १८४३ में दो शाखाएँ और खुल गईं। संस्था के दूसरे वर्ष के वार्षिक समारोह में ३००० लोग उपस्थित थे। इस नवीन और अभिनन्दनीय कार्य के लिए आपका सार्वजनिक रूप से स्वागत किया गया तथा सरकार की ओर से २०० रुपए मूल्य का शाल भेंट किया गया।

लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध करने के बाद आपने १८४२ में अपने व्यय से अस्पृश्यों के लिए पूना में दो स्कूल चलाए। महार माँग आदि को शिक्षा देने के लिए आपने १८४३ में एक समिति बनाई। स्कूल के लिए जगह की तंगी होने पर रा० ब० गोंवडे ने अपनी जगह स्कूल के लिए दे दी। १८४८ में इस स्कूल में २५८ लड़के हो गए और तीन शाखाएँ खुल गईं। लड़कों को पानी पिलाने के लिए आपने एक टंकी बनवाई। तथा अपने घर की टंकियाँ भी खुलवा दीं।

ब्राह्मणादि उच्च वर्णों में विधवा स्त्रियों के कष्टों को देख कर आपने विधवा विवाह का प्रचार किया। इस प्रकार का एक विवाह १८६४ में सम्पन्न भी कराया गया। इसीप्रकार पथ-भ्रष्ट होने पर गर्भपात कराने

की स्थिति में स्त्रियाँ न आएं इसके लिए आपने अपने घर के पास ही १८६४ में बालहत्या प्रतिबन्धक गृह की स्थापना की यहाँ पर गुप्त रूप से प्रसूति की व्यवस्था की गई थी। पंढ़रपुर का सुप्रसिद्ध "बाल हत्या प्रतिबन्धक गृह" भी आप की प्रेरणा का परिणाम था।

इसप्रकार समाज के विरोध का मुकाबला करते हुए आपका समाज सेवा का कार्य जारी रहा। इस कार्य को ठोस आधार पर खड़ा करने के लिए आपने २४ सितम्बर १८७३ में "सत्य शोधक समाज" की स्थापना की। ब्राह्मणादिकों की दासता से तथा उनके कृत्रिम व कर्मकाण्डी ग्रन्थों से समाज को मुक्त करने के लिए ही इस समाज की स्थापना की गई। परमेश्वर की प्राप्ति के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है यह इस संस्था का ध्येय वाक्य था। इस समाज में प्रति रविवार को प्रार्थना व १५ दिन में १ बार व्याख्यान होते थे। पुरोहितों के बिना ही विवाह करने व मराठी में ही मंगलाष्टक बोलने का उपदेश दिया जाता था। इस समाज की अन्य शाखाएँ खुल गईं तथा सदस्य संख्या ३०० से भी अधिक हो गईं। १८८५ में इस समाज का एक जुलूस निकला। इसमें भाग लेनेवालों में न्यायमूर्ति श्री रानडे भी थे।

कोल्हापुर प्रकरण में श्री तिलक और श्री आगरकरपर मानहानि का मुकदमा चला था। उस समय श्री फुले ने ही उन्हें अपने यहाँ छिपा कर रखा, उनकी जमानत की व्यवस्था की तथा जब वे जेल से छूट कर आए तब बम्बई में उनका सार्वजनिक स्वागत किया।

अनिवार्य शिक्षा के बिना समाज की स्थिति में सुधार संभव नहीं है, यह आपका दृढ़ मत था। तथा आपने इस बात का प्रचार भी किया। हन्टर कमेटी के सामने दिए गए अपने बयान में भी आपने इसी बात पर बल दिया। रायगढ़ में स्थित शिवाजी की समाधि के जीर्णोद्धार का प्रश्न भी आपने उठाया और उसे सुधारने के लिए प्रयत्न किया। जिस समय ड्यूक आफ यार्क पूना आए उस समय भारत के किसानों की वास्तविक स्थिति दिखाने के लिए वे गरीब किसानों की घोंगड़ीवपंचाकी पोषाक पहनकर ही उनसे मिलने गए।

समाज-शास्त्रियों ने निरन्तर अभ्यास करके जो सिद्धान्त ढूंढ़ निकाले थे, उनका आपने आत्म-प्रेरणासे प्रतिपादन किया। अन्य सुधारकों की तरह आपने केवल सुधार के लिए उपदेश या मार्ग प्रदर्शन करके ही अपनी कार्य-पूर्त्ति नहीं समझी, अपितु उसके लिए सक्रिय कार्य किया। समाज की रचना को मूल से बदलने के लिए उस समाज के आधार ब्राह्मण तथा वेद पुराणों पर इन्होंने तीव्र आक्रमण किया। आपने इस कार्य के लिए बड़ी सरल और मन में बैठनेवाली भाषा का प्रयोग किया। इस खण्डन मंडन के कार्य में आनेवाली विपत्तियों को आपने सहर्ष झेला और आपने प्रचार का नया मार्ग प्रकार स्वीकार किया। यदि यह कहा जाए, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि आपने प्रायः सभी समाज सुधारों के कार्यों का श्रीगणेश किया और उनकी गणना हम महाराष्ट्र के प्रथम समाज सुधारकों में कर सकते हैं। उनका देहावसान १८९० में हो गया।

—श्री अनन्तहरि जोशी

**

हरिजनों को अन्याय के सामने घुटने न टेकने के लिए दृढ़ रहना चाहिए। ऐसा रुख अपनाने के लिए, उन्हें जो भी कीमत चुकानी पड़े, उसकी कोई चिंता न हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे उन लोगों के विरुद्ध हो जाएँ, जो उन पर अत्याचार करते हैं. हिंसा का आश्रय लें। उनमें बदला लेने की भावना न आनी चाहिए, किंतु साथ ही वे अन्याय के आगे सर न झुकाएँ।

— जगजीवनराम



कर्मयोगी जगजीवनराम

श्री अवनीन्द्रकुमार

भारत के राजनीतिक क्षितिज में श्री जगजीवनराम का उदय एक प्रकाशमान नक्षत्र के समान हुआ। २ सितम्बर १९४६ में उन्होंने पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में केन्द्रीय मंत्रिमंडल में प्रवेश किया। आज इस घटना को व्यतीत हुए एक युग बीत गया। केन्द्रीय मंत्रिमंडल में अनेक मंत्री बने बिगड़े और कइयों को त्यागपत्र देना पड़ा, परिस्थितियों वश हटना तक पड़ा, किन्तु श्री जगजीवनराम बराबर मोर्चे पर बने रहे, उन्होंने एक विभाग के उपरान्त दूसरे विभाग का मंत्रित्व स्वीकार किया। दो आम निर्वाचन हुए और इतने संघर्ष हुए किन्तु जगजीवनरामजी केन्द्रीय मंत्रिमंडल में अपने स्थान पर नक्षत्र के समान स्थिर और दीप्तमान रहे। उनकी प्रभा कभी म्लान नहीं हुई। वे निरन्तर पथ-प्रदर्शन करते रहे। उन्होंने केन्द्रीय मंत्रिमंडल में एक के स्थान पर दूसरा पद ग्रहण किया।

भारत की राजनीति में एक हरिजन नेता के रूप में जगजीवनरामजी एक शक्तिशाली प्रवाह के साथ आए और वही आपको इस ऊँचे स्थान पर पहुँचाने में समर्थ हुआ। जब आपने सर्वप्रथम मंत्रित्व की शपथ ली थी, तब देशके एक पत्र ने आपके सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्गार प्रकट किए थे :

"अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ के अध्यक्ष श्री जगजीवनराम प्रथम राष्ट्रीय सरकार के सबसे कम उम्र के सदस्य हैं। मंत्रिमंडल में उनके मनोनीत होने से सब प्रसन्न हैं और लोगों ने यह कह कर उनका स्वागत किया है कि इससे हरिजनों की आशाओं के पूर्ण होने का युग निकट आया है।"

कहना न होगा कि इस पत्र ने आपको केन्द्रीय सरकार के स्थान पर आपके नाम के आगे "अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ के अध्यक्ष" का विशेषण दिया, जो स्वाभाविक है। इस सीढ़ी के बल पर ही श्री जगजीवनरामजी ३८ वर्ष की आयु में केन्द्रीय मंत्री हो सके। किन्तु यह भी सत्य है कि यह सीढ़ी उन्हें बनी बनायी नहीं मिल गयी। इस सीढ़ी को उन्होंने ही गढ़ा है और उसे मजबूत बनाया है तथा व्यापक बनाया है।

श्री जगजीवनरामजी को लोग आदर और सम्मान से बिहार की परम्परा के अनुसार "बाबूजी" कहते हैं। केवल बिहार में ही नहीं, बल्कि नई दिल्ली और इतर सब क्षेत्रों में छोटे-बड़े सभी उन्हें बाबूजी कहते हैं।

यह प्रश्न उठता है कि श्री जगजीवनरामजी क्यों आगे बढ़े और दूसरा कोई क्यों नहीं आगे बढ़ सका? इसका कारण जगजीवनरामजी का अपना व्यक्तित्व है। उनका हृदय बहुत अधिक संवेदनशील है। वे अपने पड़ोसी, समाज और देश के दुःख और कष्टों को अपना मानते हैं और शरीर के किसी अंग में पीड़ा होने पर जैसे सारी शक्ति उसे दूर करने में लग जाती है, उसी प्रकार वे अपनी सुख सुविधाएँ और मानापमान का ख़याल छोड़ कर लोगों के कष्टों को दूर करने में आगे बढ़ते हैं।



पण्डित जवाहरलाल नेहरू के साथ श्री जगजीवनराम

उन्होंने २६ वर्ष की युवा अवस्था में जो प्रण किया, जो व्रत लिया और जिस संकल्प से उन्होंने जीवन का मोड़ लिया, उसमें फिर परिवर्तन करने की कभी आवश्यकता नहीं आयी। २६ वर्ष के युवक ने सर्वात्मना भाव से अपने दलित बंधुओं के उत्थान और उद्धार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के आई० सी० एस० के त्याग की पंक्ति में आपका त्याग जोड़ लेता है। यूनिवरसिटी की परीक्षा पास कर घर को महल बनाने की अपेक्षा उन्होंने सार्वजनिक सेवा का व्रत लिया। उनका जैसा दृढ़ निश्चय, अटूट संकल्प, महान् शक्ति और अगाढ़ धैर्य बिरले लोगों में मिलेगा।

जगजीवनरामजी में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो अन्यत्र सहज सुलभ और संभव नहीं हैं। महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी की वक्तृत्व शैली को आपने ग्रहण किया है। जगजीवनरामजी का शान्त और प्रभावपूर्ण भाषण यदाकदा हमें महामना मालवीयजी का याद दिलाता है। उनका भाषण तल स्पर्शी होता है, बुद्धि को झकझोरता है और हृदय को आह्वान करता है। जगजीवनरामजी हरिजनों के एक छत्र नेता होते हुए भी समस्त हिन्दू जाति के कल्याण की कामना करते हैं। वे हिन्दू समाज में विघटन नहीं पैदा करना चाहते हैं।

जगजीवनरामजी पर जहाँ महामना मालवीयजी का प्रभाव पड़ा, वहाँ वे रामायण के अमर गायक गोस्वामी तुलसीदासजी से भी प्रभावित हुए। जगजीवनरामजी ने गोस्वामी तुलसीदासजी को महान् सुधारक माना। बाबू जगजीवनरामजी केवल समाज सुधारक ही नहीं हैं, बल्कि वे यह भी जानते हैं कि समाज से कितने कदम आगे रहना चाहिए। वे लोक संग्रही हें और समदृष्टि से काम लेते हैं। सार्वजनिक सभाओं में वे जनता की भाषा में गांधीजी के समान बोलते हैं।

डा० अम्बेदकर ने अपने नेतृत्व में इस तत्व को नहीं समझा, इससे वे भारतीय राजनीति में हिन्दू समाज के नेतृत्व में सफल न हो सके। यह सत्य है कि हरिजन समाज में डाक्टर अम्बेदकर की जैसी बौद्धिक शक्ति के कम लोग देश में रहे, किन्तु उनमें व्यवहार कुशलता तथा नेतृत्व की गम्भीरता का अभाव था। पर जगजीवन-रामजी में ये सब गुण कूट-कूट कर भरे हुए हैं। उन्हें नजदीक से देखिए या दूर से देखिए, विदेशों के मंत्रियों से बातें करते हुए देखिए या प्रेस प्रतिनिधियों तथा सरकारी अधिकारियों के बीच में देखिए, उनमें व्यवहार कुशलता और जीवन की सरलता पाएँगे। उनके मुख पर जो स्थित हास्य रहता है वह चारों ओर प्रसन्नता बिखेर देता है। वे जिससे बातें करते हैं, वह व्यक्ति अनुभव करता है कि मानो वह उनके अत्यन्त निकट है, आत्मीय जन है, ऐसा प्रेरणादायक व्यक्तित्व जगजीवन बाबू का है। अतएव, सार्वजनिक जीवन में वे एक अत्यन्त कुशल संगठनकर्ता हैं। एक शासक के लिए ये सब गुण अत्यन्त वांछनीय हैं। इससे लोग सहज में उनके पास पहुँच सकते हैं और वे भय तथा आतंक का अनुभव नहीं करते। हकीकत भी यह है कि जगजीवनरामजी मंत्री होने पर भी हर किसी से मिल सकते हैं, किसी को कोई रोक-टोक नहीं कि उनसे न मिलने पाए। कलकत्ते में वे जब आते हैं और राजभवन में ठहरते हैं, तब द्वार पर पुलिस को इजाजत रहती है कि उनसे मिलनेवालों को रोका न जाए। इस अवस्था में वे अनेक कामों को रोक कर सब से मिलते हैं और उनके दुःख दर्द सुनते हैं।

अधिकांश लोग जिस सीढ़ी के सहारे ऊँचे चढ़ते हैं, ऊँचाई पर चढ़ने पर उसे छोड़ देते हैं, ग्रेट ब्रिटेन, के प्रथम मजदूर सरकार के प्रधान मंत्री श्री रेम्जेमेकडनल्ड एक उदाहरण हैं। पर भारत में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। विट्ठल भाई पटेल तथा श्री जगजीवनरामजी जिस सीढ़ी से चढ़े उसे उन्होंने छोड़ी नहीं। बल्कि, उन्होंने उसे शक्तिशाली बनाया। उच्च पद पर पहुँच कर भी जगजीवन बाबू में हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के समान विनम्रता तथा शालीनता है। बिहार शील और नम्रता के लिए देश में प्रसिद्ध है। तब जगजीवनरामजी में एक स्वाभाविक अंग के रूप में इन गुणों का प्रकट होना आश्चर्यजनक नहीं है।

विनम्रता होने पर भी आपमें निर्भयता है। समाज तथा देश के हित को प्रकट करने में वे कभी कोई संकोच नहीं करते और न किसी का लिहाज करते हैं। पीड़ित समाज के लिए मर मिटने की भावना जगजीवन-

रामजी में है। अपने स्पष्ट विचारों को प्रकट करने में वे किसी धनी, किसी अधिकारी और अपने बड़े-से-बड़े का लिहाज नहीं करते। शोषित वर्ग तथा दलित समाज के हितों की हानि तथा उपेक्षा होते देख कर वे गांधीजी तक की आलोचना करने से नहीं चूके और उनके इस काम से उनके अनेक कांग्रेसी मित्र स्तब्ध रह गए, इसकी उन्हें कीमत भी चुकानी पड़ी। १९४६ में बिहार में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनने पर उन्हें नहीं लिया गया। हरिजन प्रतिनिधि के रूप में वे सीधे केन्द्रीय मंत्रिमंडल में पहुंचे। इस अवस्था में उनका वह सीढ़ी छोड़ना कब सम्भव था।

आप पहले मंत्री हैं, जिनका अल्पवय में अर्थात् पचास वर्ष की आयु होने से पूर्व ही प्रति वर्ष जन्म दिवस पर अभिनन्दन किया जाता है। यह परम्परा बनी हुई है। यह अभिनन्दन उसकी एक कड़ी है।

श्री जगजीवनरामजी भोजपुरी हैं और अपनी बोली अच्छी तरह बोल लेते हैं। इससे वे अपने प्रान्त के लोगों से उनके दिल में प्रवेश कर बातें करते हैं। उनसे बातें करनेवाला व्यक्ति उनमें स्नेह और सहानुभूति की धारा बहती हुई पाता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि न केवल हरिजन, बल्कि वे सवर्ण हिन्दुओं के पीड़ित वर्गों के भी ढाल हैं, नेता हैं, रक्षक हैं।

हरिजनों की माँगें पेश करते समय सवर्ण हिन्दुओं से वे कोई द्वेष प्रकट नहीं करते। डा० अम्बेदकर के समान उन्होंने हिन्दुओं का दिल दुखनेवाली कभी कोई बात नहीं कही। सामाजिक अत्याचारों की बातें कहते हुए भी उनके हृदय में विद्वेष की भावना नहीं है। यही कारण है कि जगजीवनरामजी सवर्ण हिन्दुओं का हृदय जीत सके हैं। उनसे भी सम्मान पाते हैं, आदर पाते हैं और उन्हें अपनाने का प्रयत्न करते हैं। सवर्ण हिन्दुओं का दिल जीत लेना जगजीवनरामजी के व्यक्तित्व की महानता का सूचक है।

उनका यह नेतृत्व आगे अधिक विकास पाएगा। अनेक युवक यह कहते हैं कि यदि कभी किसी हरिजन को प्रधान मंत्री या राष्ट्रपति होने का देश ने अवसर दिया तो देश के इस अनन्य सेवक श्री जगजीवनरामजी को मिलेगा। इस समय देश में उनका जितना व्यापक प्रभाव है, उनकी जितनी ख्याति है, लोकप्रियता है, उससे यह कहा जा सकता है कि उनके लिए यह सब कुछ प्राप्त करना असम्भव नहीं है। जिस दिन राष्ट्र यह पूरा करेगा, उस दिन हम राष्ट्रपिता द्वारा हरिजनों के दिए हुए वचन को पूरा करेंगे।

**

'क्षुधा' समस्त राजनीतिज्ञों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यह लोकतंत्र शासन के विकास पथ में जबर्दस्त रोड़ा है। लोग अन्न और जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध न होने पर सहसा यह विश्वास करने लगते हैं कि वे किसी शासन को पलट कर अथवा आर्थिक व्यवस्था को मिटा कर उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।'

—लॉर्ड वायडग्रोर



महात्मा गान्धी

श्री रसूल अहमद

गांधीजी के जीवन पर जब हम एक दृष्टि डालते हैं तो हमें ऐसा महसूस होता जैसे हम में और उनमें परस्पर एक संघर्ष चलता रहा--भारतीय जनता और उनमें तथा आधुनिक युग और उनमें। इस संघर्ष का परिणाम कभी ऐसा मालूम हुआ कि मानो हमने गांधी पर विजय प्राप्त कर ली ; परन्तु बहुत जल्दी ही हमारा यह भ्रम दूर भी होता रहा है।

गांधीजी के भारत के राजनीतिक जीवन में आने के बाद से ही इसप्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गयी और उनके देहावसान तक यही स्थिति बनी रही।

हमारे राजनीतिक जीवन में जब गांधीजी का पदार्पण हुआ और उनके विचार देश में यत्रतत्र सुनाई पड़ने लगे तो तब शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति रहा होगा जिसकी दृष्टि में गांधी के उन विचारों का—सत्य और अहिंसा का कोई मूल्य रहा होगा। अतः यह स्वाभाविक था कि उनके विचार सुने-अनसुने कर दिये जाएँ। परन्तु ऐसा होने पर भी राजनीतिक क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का कोई मूल्य न मानते हुए भी, बल्कि विरोध करते हुए भी, अपने आपको ऐसा समझाते रहे कि वह गांधीजी का अनुकरण कर रहे हैं ; उनकी बातों को मानते हुए उनके साथ-साथ चल रहे हैं। बहुधा ऐसा भी होता रहा कि लोग स्पष्ट रूप से गांधीजी से मतभेद प्रदर्शित करते हुए भी अपने आपको उनके पीछे चलने के लिए मजबूर पाते थे। और इसप्रकार समय-असमय पर देश के अधिकांश लोग गांधीजी को अपना नेता मानते रहे।

सर्वसाधारण जनता के लिए, विचारशील व्यक्तियों के लिए यह स्वाभाविक था कि राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी के सत्य और अहिंसा के साथ अपने-आपको पूर्ण रूप से मिला न पाएँ, क्योंकि राजनीति के क्षेत्र में सत्य और अहिंसा जैसे सिद्धान्तों को उन्होंने सुना ही न था। इस दशा में स्वाभाविक था कि जो लोग गांधीजी को उनके इस प्रकार के विचारों के अनुसार सच्चा मानते थे वे अपने-आपको उनके साथ पूर्ण रूप से मिला न पाते थे। परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे लोगों का होना भी स्वाभाविक था जो गांधीजी के सत्य और अहिंसा जैसे सिद्धान्तों को बृटिश साम्राज्य को चमका देने की ही बात समझते थे। इसप्रकार के विचारों की गांधीजी के मन पर क्या प्रतिक्रिया होती होगी, इसका अनुभव करना सरल नहीं है। जो लोग गांधीजी के सत्य और अहिंसा के सम्बन्ध में इसप्रकार के विचार रखते थे, अथवा वे लोग जो राजनीति के क्षेत्र में इसप्रकार की बातों का कोई मूल्य नहीं समझते थे और ऐसे लोग भी थे जो गांधीजी को बृटिश साम्राज्य का एजेण्ट कहने में भी किसी प्रकार का संकोच न करते थे और साथ ही ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी जो गांधीजी को बोलशेविकों का एजेण्ट बताते थे।

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ से अन्त तक भारतीय जनता तथा आधुनिक युग उनके सम्बन्ध में परस्पर विरोधी कल्पनाएँ करता रहा है। राजनीतिक क्षेत्र जो हत्या और षड्यन्त्रों का क्षेत्र समझा जाता रहा हो, यदि कोई व्यक्ति सत्य, प्रेम, अहिंसा आदि सिद्धान्तों की बातें करे तो स्वभावतः ही लोग या तो यह समझ लेंगे कि यह व्यक्ति राजनीति के लिए बिल्कुल अयोग्य है, अथवा यह कि इस प्रकार की बातों से वह विरोधी को धोखा देना चाहता है, या फिर यह कि वह विरोधी गुट का व्यक्ति है। अतः भारतीय जनता

के कुछ व्यक्ति जिनका तत्कालीन राजनीति एवं सामाजिक नीति से सम्बन्ध रहा, गांधीजी के सम्बन्ध में इस प्रकार की बातों के सिवा ग्रौर क्या सोच सकते थे। परन्तु विरोधी दल के लिए इसप्रकार के विचार मान्य होते, यह गांधीजी के जीवन को देखते हुए किसी प्रकार ग्रावश्यक न था।

गांधीजी के जीवन के उस लम्बे समय पर, जब उनके विचारों ग्रौर कार्यों से देश-विदेश के लोग कभी हँस पड़ते थे ग्रौर कभी चौंक पड़ते थे, जब हम दृष्टि डालते हैं तो एक बात स्पष्ट रूप से हमें दिखायी देती है ग्रौर वह बात यह कि वह हमें हमारे पूर्वाग्रहों के ग्रनुसार कभी दिखायी नहीं देते। हम ग्रभी ग्रपने पूर्वाग्रहों के ग्रनुसार उनके सम्बन्ध में कोई राय बनाने बैठे ही थे कि उन्होंने कोई-न-कोई ऐसा कार्य कर दिया कि हमें चौंक कर फिर उनके सम्बन्ध में नये सिरे से विचार करना पड़ा। यही वह स्थिति थी जो गांधीजी के सम्बन्ध में देश ग्रौर विदेश के लोगों की, उनके जीवन-पर्यन्त बनी रही।

गांधीजी के सम्बन्ध में जब हम विचारपूर्वक कोई निर्णय करना चाहते हैं, तो हमें स्पष्ट ही यह मान लेना पड़ता है कि देश ग्रौर विदेश के लोगों ने विभिन्न दृष्टि से उन्हें ग्रकेला ही छोड़ दिया था। यह बात ठीक है कि बहुत दिनों तक गांधीजी ग्रपने-ग्रापको एकमात्र ग्रकेला नहीं समझते रहे थे; वह इस धोखे में रहे कि कम ही क्यों न हो, उनके कुछ-न-कुछ संगी-साथी हैं, कुछ लोग ऐसे हैं जो सत्य ग्रौर ग्रहिंसा के ग्राधार पर मानव-समाज की रचना करने में विश्वास रखते हैं ग्रौर जिनके सामने मनुष्य-मनुष्य के बीच किसी प्रकार के कृत्रिम भेदभाव नहीं हैं। पर एक समय ऐसा ग्रा गया जब गांधीजी को स्पष्ट रूप से सत्य का पता चल गया ग्रौर वह किसी प्रकार के धोखे में नहीं रह सके। एक प्रकार से यह स्वाभाविक भी था। ऐसा व्यक्ति जिसका सारा जीवन सत्य के प्रयोग में बीता हो, सम्भव न था कि ग्रन्त तक धोखे में रह सकता ग्रौर उसके सामने सत्य प्रकट न होता। ग्रतः उसे मालूम हो गया कि वह ग्रकेला है, उसके ग्रागे-पीछे, दाएँ-बाएँ कोई नहीं है।

यही नहीं, विभाजन के बाद ऐसी स्थिति भी उत्पन्न हो गयी कि मानो गांधी का व्यक्तित्व ग्रसत्य ग्रौर हिंसा से ढँक जानेवाला है। गांधीजी को मुसलमान ग्रौर हिन्दू एक साम्प्रदायिक नेता के रूप में रखने का प्रयत्न कर रहे थे, उस रूप में जो उसकी पूर्वाग्रह के ग्रनुसार हो। पर क्या यह सम्भव था? उस व्यक्ति के लिए जिसका सारा जीवन सत्य ग्रौर ग्रहिंसा के प्रयोग में बीता हो? कदापि नहीं। यही कारण है कि विभाजन के बाद हिन्दू समझे जानेवाले—प्रचलित संकीर्ण ग्रर्थों में—गांधीजी का, एक हिन्दू कहलानेवाले व्यक्ति के हाथों बलिदान हुग्रा।

इसप्रकार एक ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में जिसका पूरा जीवन सत्य ग्रौर ग्रहिंसा के मार्ग पर चलने ग्रौर दूसरों को चलाने के प्रयत्न में बीता हो जब हम उस बलिदान के सम्बन्ध में विचार करने लगते हैं तो स्वभावतः थोड़ी देर के लिए हम चकित-से रह जाते हैं। सोचने लगते हैं कि ऐसा कैसे हो गया। परन्तु गांधीजी के जीवन को देखते हुए उनके उस जीवन के मिशन पर जब हम विचार करते हैं जिसके लिए उनका जीवन था ग्रौर फिर साथ ही उन परिस्थितियों को देखते हैं जो ग्राज़ादी ग्रौर विभाजन के साथ-साथ उत्पन्न हो गई थीं तो गांधीजी का इस रूप में बलिदान उनके जीवन की एक स्वाभाविक परिणति ही मालूम होती है। उनके जीवन के इस रूप से हुए बलिदान ने उनके उस वास्तविक रूप को बचा लिया जो सत्य ग्रौर ग्रहिंसा की एकान्त निष्ठा के साथ जीवन भर प्रयोग करनेवाले एक ऐसे मानव का रूप था जिसका कृत्रिम भेदभावों से कोई सम्बन्ध न था।

निस्सन्देह गांधीजी के लम्बे जीवन में जिस प्रकार उनके सम्बन्ध की पूर्व-निर्धारित धारणाग्रों को समय-समय पर बदलना पड़ा है, उसी प्रकार विभाजन के कुछ दिनों पूर्व ग्रौर बाद में उनके सम्बन्ध में देश के हिन्दू ग्रौर मुसलमानों की जो धारणाएँ बनने लग गयी थीं, उनको उनके बलिदान ने बदल दिया। साथ ही यह भी सिद्ध कर दिया कि हमने सचमुच उन्हें ग्रकेला छोड़ दिया है। हम केवल उनको धोखा ही देना चाहते थे; साथ चलने के लिए तैयार न थे। ग्रतः उनके सत्य ग्रौर ग्रहिंसा के प्रयोगों ने हमारे ग्रसत्य ग्रौर हिंसा से उन्हें ग्रलग कर लिया।

साथ ही उनके बलिदान ने हमारे सामने इस सत्य को भी स्पष्ट कर दिया कि गांधी के साथ चलने के लिए केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि हम हिन्दू या मुसलमान हों, न यही आवश्यक है कि हम इस देश या उस देश के हों—अर्थात् कोई व्यक्ति या समुदाय केवल इसीलिए ही गांधी का साथी नहीं हो सकता कि वह उस जाति या धर्म या समुदाय का व्यक्ति है, जो गांधी की जाति या धर्म का कहा जाता था और न इसलिए ही कि कोई व्यक्ति या समुदाय उनके जीवन-काल में उनके सम्पर्क में अधिक रह सका है, उनके साथ चल सका है। न यही आवश्यक है कि जो व्यक्ति गांधी की जाति या धर्म का न रहा हो, गांधी के देश का भी हो, उसका गांधी के साथ चल सकना सम्भव ही नहीं है, प्रत्युत् उनके बलिदान ने हमें बताया कि यह कदापि आवश्यक नहीं है कि गांधी के साथ चलनेवाला व्यक्ति किसी विशेष समुदाय, जाति या धर्म या देश का हो, क्योंकि गांधी किसी विशेष जाति, धर्म और देश का नहीं है। यह बात और है कि उसके शरीर का सम्बन्ध किसी विशेष जाति या देश से हो और इसकारण उसके शरीर के साथ कैसा भी व्यवहार करने का अधिकार उसे मिल जाए। वह उसकी हत्या भी करे, उसकी मूर्त्तियाँ भी बनाये और उसे राष्ट्रपिता भी कहे। परन्तु इतने मात्र से वह उसका नहीं है, वह उन सब का है, और वह सब उसके साथी हैं जिनका सत्य और अहिंसा में विश्वास है, अर्थात् जिनका मनुष्य की मनुष्यता में विश्वास है। यही कारण है कि आज संसार के विचारशील व्यक्ति गांधी के मार्ग पर चलने में ही कल्याण समझ रहे हैं।

•

गांधीजी और पूना पैक्ट

भारत के राजनीतिक प्रश्नके निपटारे के लिए ब्रिटिश अधिकारियों ने एक के बाद एक तीन गोलमेज परिषदें लंदन में बुलाईं। उसके बाद १९३२ में उस समय के ब्रिटिश प्रधान मन्त्री राम्से मेक्डानल्ड ने साम्प्रदायिक निर्णय देकर भारत के नए तैयार होनेवाले संविधान में अन्त्यजों को हिन्दू जाति से अलग मताधिकार दिया और इसप्रकार राष्ट्र के शरीर पर एक और शस्त्राघात करके उसके टुकड़े करने का प्रयत्न किया। गांधीजी पहले से ही इस किस्म के अलग मताधिकार के विरुद्ध थे, क्योंकि इसमें उन्हें भारत में आपसी झगड़े के बीज दिखाई देते थे और और अन्त में देश का नाश जान पड़ता था। इसलिए १९३१ के गांधी ईर्विन समझौते के बाद ब्रिटेन के आमंत्रण पर जब वे कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गोलमेज परिषद् की बैठक में भाग लेने गए, तब उन्होंने इस साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध पहले से ही अपना मजबूत विरोध प्रकट कर दिया था। उसी समय उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों को चेतावनी देते हुए कहा था कि नए संविधान में भारत के अन्त्यजों को यदि अलग मताधिकार दिया जाएगा, तो मैं उसका अपनी सारी शक्तिसे प्राणों की बाजी लगा कर भी विरोध करूँगा।

उस समय गांधीजी के कहे हुए वचनों में निहित गांभीर्य को ब्रिटिश सत्ताधीशों नें समझा नहीं। उन्होंने सोचा कि यह तो गांधीजी की खाली धमकी ही है, इस पर कभी अमल न होगा। परन्तु जब यह निर्णय प्रकाशित होने की तैयारी में था, तब गांधीजी ने उस समय के भारत मन्त्री श्री सेम्युअल होर और प्रधान मन्त्री श्री राम्से मेक्डानल्ड के साथ पत्र व्यवहार करके हिन्दुओं और अंत्यचजों के बीच स्थायी भेद पैदा करनेवाला साम्प्रदायिक निर्णय न देनेका अनुरोध किया और दलीलें देकर उन्हें समझाने के प्रयत्न किए। परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं हुआ। गांधीजी उस समय जेल में थे। और जेल में रह कर इस निर्णय के विरुद्ध प्रचार करके लोगों को समझा नहीं सकते थे। इसलिए सब प्रयत्न असफल हो जाने के बाद यह निर्णय रद्द घोषित न हो जाए, तब तक आमरण उपवास करने का उन्होंने फैसला किया। और यह फैसला उन्होंने अधिकारियों को बताया। २० सितम्बर को गांधीजी ने उपवास शुरू किया। देखते-देखते यह समाचार भारतवर्ष में बिजली की तरह फैल गया। सारा देश तिलमिला उठा। जगह-जगह गांधीजी को बचा लेने के लिए प्रयत्न होने लगे। भारत के कोने-कोने से दिल्ली और लंदन तार गए। लोकमत के उग्र दबाव का अन्त में लंदन

पर असर हुआ और ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री को अपने निर्णय में परिवर्तन करना पड़ा। उसने यह बात स्वीकार की कि यदि भारत के अन्त्यज स्वयं ही अलग मताधिकार का विरोध करते हों, संयुक्त मताधिकार स्वीकार करते हों और जिस मुद्दे पर दोनों पक्ष मिल कर कोई समझौता कर लें, तो उस समझौते के आधार पर इस साम्प्रदायिक निर्णय में फेरबदल करने में ब्रिटेन को आपत्ति नहीं होगी।

उनकी इसप्रकार की घोषणा के बाद भारत के बड़े-बड़े नेता अन्त्यजों के नेता डा० भीमराव अम्बेडकर को समझाने की कोशिश करने लगे। श्री अम्बेडकर ने तो हाथ में आए हुए इस सुवर्ण अवसर से पूरा लाभ उठाने का निश्चय कर रखा था। इसलिए वे रूठ कर बैठ गए। अन्तमें बड़े-बड़े नेताओं ने उन्हें मनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। साम्प्रदायिक निर्णय से मिलनेवाली बैठकों से भी अधिक बैठकें देकर अन्त में उन्हें मना लिया गया और उनके साथ समझौता हो गया। इस आशय का तार विलायत भेजा गया, तब ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री ने अपने साम्प्रदायिक निर्णय का उतना भाग रद्द घोषित किया। और यह समाचार भारत आने पर अन्तमें गांधीजी का उपवास छूटा।

यह परिणाम लाने में पंडित मदनमोहन मालवीय, श्री घनश्यामदास बिड़ला और अन्य प्रथम पंक्तिके नेताओं ने जो अग्रगण्य भाग लिया, उसमें ठक्कर बापा का नाम भी लिया जा सकता है। गांधीजी के उपवास शुरू होने के समाचार दाहोद में मिलते ही ठक्करबापा दाहोद से सीधे पूना दौड़ गए। यरवदा जेल में गांधीजी से मुलाकात की। उपवास से पहले की उनकी मनोभूमिका समझी। उपवास के पीछे रहा उनका दृष्टि-विन्दु भी समझा। और गांधीजी से यह समझकर कि वे देश से क्या चाहते हैं, खास तौर पर सवर्ण हिन्दुओं से क्या चाहते हैं, बम्बई में सर्वदल सम्मेलन करने और सम्मेलन के सामने गांधीजी की बात रखने में बापाने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया।

दूसरी तरफ डा० भीमराव अम्बेडकर को, जो मौका देख कर घात लगाए और मुंह फुलाये बैठे थे, मना लेने में, उन्हें राजी करने का रास्ता निकालने में और सब को सर्वमान्य समझौते पर लाने में बापाने सुलह करानेवाले के रूपमें बहुत महत्वपूर्ण भाग लिया।

उस समय सबसे विवादास्पद विषय यह था कि अलग-अलग प्रान्तोंमें अन्त्यजोंको किस अनुपातमें सीटें दी जाएँ। इसमें लोदियन कमेटी के विवरण में अलग-अलग प्रान्तों में हरिजनों की जो संख्या बतायी गयी थी, उसका आधार स्वीकार किया गया था,। इस विवरण में मद्रास, बम्बई, सिन्ध सहित, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त और आसाम प्रान्तों के हरिजनों की जो संख्या दी गयी थी वह तो ठीक थी। परन्तु बंगाल और युक्तप्रान्त, मौजूदा उत्तर प्रदेश, के आंकड़े निश्चित नहीं थे।

इस मामले में बंगाल के हरिजनों की आबादी के आंकड़ों के बारे में सवर्ण और अवर्ण हिन्दू दोनों एकमत हो गए थे। परन्तु उत्तरप्रदेश का प्रश्न अब तक नहीं निपटा था। डा० अम्बेडकर ने सारा हिसाब लगाकर यह मांग की थी कि अलग-अलग प्रान्तोंमें कुल मिलाकर १७५ सीटें हरिजनों के लिए सुरक्षित रखी जाएँ। परन्तु साइमन कमीशन के विवरण को आधार माना जाए, तो हरिजनों को १७५ के बजाय १३१ सीटें मिलनी चाहिए थीं। अन्तमें बातचीत के परिणाम स्वरूप हरिजनों को १४८ सीटें देकर उनके मनका समाधान कर दिया गया था।

यह बात उनके गले उतारने में भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों की आबादी, हिन्दू आबादी में उनका अनुपात, आम आबादी में उनका अनुपात, उन्हें कितनी सीटें मिलनी चाहिएं, इत्यादि तथ्य इकट्ठे करने में ठक्कर बापा ने खूब परिश्रम किया था। उन्होंने उन दिनों जागरण करके लोदियन कमीशन के विवरण, साइमन कमीशन के विवरण और अलग-अलग समय में हुई भारत की जनगणना के विवरणों आदि के पन्ने पल्टे थे। और बड़ी मिहनत करके अलग-अलग कमेटियों तथा नेताओं को आंकड़े मुहैया किए थे। इतना ही नहीं, पूना समझौते द्वारा हरिजनों को और किसी फैसले से जो मिलनेवाला था उससे अधिक मिला है,

यह हकीकत उन्होंने आंकड़ों और दलीलों से सिद्ध करके हरिजनों के मनका समाधान करने का सफल प्रयत्न किया था।

बापा ने अपने "व्हाट दे हैव गेन्ड" नामक लेख में जो तफसीलें दी हैं, वे उन की अध्ययनशीलता और उद्योगपरायणता की अच्छी प्रतीति करा देती हैं।

यरवदा समझौते का समर्थन करनेवाले इस लेख के अन्तिम भागमें सारे प्रश्नकी समीक्षा करते हुए बापा लिखते हैं: "गांधीजी के प्राण बचाये जा सके, यह एक ही चीज पूना समझौते का औचित्य दिखाने के लिए काफी है। परन्तु तथाकथित सवर्णों और जिन्हें वे अछूत बताते हैं, उन हरिजनों के बीच इस ऐतिहासिक उपवास ने जो एकता स्थापित की, उस सिद्धि को अलग रखें, ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री को अपना निर्णय बदलना पड़ा, इस बातको भी एक तरफ रख दें, तो भी इस समझौते का नैतिक मूल्यांकन कम नहीं करना चाहिए। उसने ब्रिटेन और दुनिया को यह बात बता दी कि हिन्दुत्व में अब भी सामाजिक सजीवता और सांस्कृतिक एक वाक्यता मौजूद है। और वह स्वयं अपने प्रयत्न से अपना राजनीतिक भविष्य भी निर्माण कर सकता है।

इस उपवास से हिन्दूधर्म और हिन्दू जाति ने अपनी भीतरी एकता का दर्शन किया है और ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री और उनके मंत्रिमंडल की तरफ से बार-बार दी गयी इस चुनौती का कि भारतीयों को अपने साम्प्रदायिक प्रश्नों का निराकरण स्वयं ही कर लेना चाहिए, इस उपवास ने कारगर तरीके पर जवाब दिया है, यह कहें तो मैं अतिशयोक्तिपूर्ण दावा करता हूं, ऐसा नहीं माना जाएगा। साम्प्रदायिक निर्णय ने राष्ट्रवादियों के डर को वाजिब ठहराया, तो यरवदा समझौते ने गोलमेज परिषद् में कुछ भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा प्रधान मंत्री से घरके झगड़े में पड़कर निपटारा करने के लिए किए गए अनुरोध में गांधीजी ने शरीक होने से जो इन्कार किया था, उसका औचित्य सिद्ध कर दिखाया।

इस लेखमें जैसे बापाने हरिजनों के मनका समाधान करने का प्रयत्न किया है, वैसे ही समझौते से अस्पृश्यों ने जरूरत से ज्यादा हिस्सा छीन लिया, इस खयालवाले सवर्ण हिन्दुओं को भी समझाने की कोशिश की है। इसी लेखमें उन्होंने एक जगह लिखा है कि:

"कुछ लोग इस समझौते से कि १४८ सीटें हरिजनों को देनेका जो निश्चय हुआ है,उस की तुलना पिछले अगस्त में प्रधान मन्त्री के लिए हुए साम्प्रदायिक निर्णय में उल्लिखित ७१ सीटें के साथ करते हैं और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अन्त्यजों को जरूरत से ज्यादा दिया गया है। परन्तु वे यह बात भूल जाते हैं कि अछूतों को ७१ सीटों के सिवाय हिन्दू जाति की अथवा साधारण सीटों के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार मिला था। इसके अलावा, यह भी याद रखना चाहिए कि दलित वर्ग को दिया जानेवाला अलग मताधिकार कम से कम बीस वर्ष तक जारी रहा होता, जब कि यरवदा समझौते के अधीन इस चीज का तुरन्त अन्त हो गया है।"

थोड़ेमें कहे तो इस समझौते की तहमें बापा की पहली दृष्टि यह थी कि इस से गांधीजी के जीवन की परीक्षा हो रही है। और सब दलीलें तो उनके सरल और समाधानमूलक स्वभाव ने ही दृढ निकाली थीं।

इस प्रकार यरवदा समझौता हुआ। गांधीजी का उपवास छूटा, देश और संसार के लिए उनके बहुमूल्य जीवन की रक्षा हो सकी और यह परिणाम लाने में बापा स्वयं भी अपने यथाशक्ति प्रयत्न द्वारा हाथ बंटा सके, इस से उनके आनन्द की सीमा नहीं रही। इसप्रकार बम्बई में एकत्र हुए सवर्ण नेताओं का गांधीजी को बचा लेने का तात्कालिक हेतु तो सिद्ध हुआ, परन्तु साथ ही वे यह भी समझते थे कि जब तक हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म में से अस्पृश्यता का पाप नष्ट नहीं हो जाता, तब तक देश पर आफत के जो बादल छाये हुए हैं,वे सदाके लिए नहीं बिखर सकते। जब तक अस्पृश्यता नहीं मिटती, तब तक गांधीजी के मन को भी चैन नहीं पड़ेगा। और ऐसा होगा तो गांधीजी का खतरा हमेशा बना ही रहेगा। इन दिनों में जैस उन्होंने अस्पृश्यता के अस्तित्व के कारण गांधीजी की आन्तरिक व्यवस्था को समझा,वैसे ही अस्पृश्यता रूपी राक्षस का संहार करके हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज को शुद्ध करने की जरूरत को भी समझा। साथ ही पूना समझौते के अनुसार वे अछूतों के

लिए कुएँ, तालाव, धर्मशालाएँ और सार्वजनिक उपयोग के स्थान खोल देने के लिए उसे कानूनी रूप देने का प्रयत्न करने को भी रजामंद हुए थे। स्वराज्य की स्थापना तक यह चीज कानूनी रूप ग्रहण न करे, तो स्वराज्य की पार्लियामेंट में यह कानून पास कराने का भी वे वचन दे चुके थे।

इन सारी परिस्थितियोंको ध्यानमें रख कर बम्बईमें इकठ्ठे हुए नेता यरवदा समझौता करके ही नहीं रुके, बल्कि वे भारत से अस्पृश्यता का काला मुंह कैसे हो, इस का भी विचार करने लगे। और विचार के अन्तमें गांधीजी की प्रेरणा, आशीर्वाद, और मार्ग दर्शन द्वारा उन्होंने अस्पृश्यता नष्ट करने के लिए एक भारतव्यापी संस्था की स्थापना की। इसका नाम अखिल भारतीय अस्पृश्यता निवारण संघ रखा। गांधीजी ने इस संघ के अध्यक्ष पद के लिए श्री घनश्यामदास बिड़ला का नाम सुझाया। परन्तु बिड़ला जी को ऐसा नहीं लगा कि वे अकेले हाथ से इस भागीरथ कार्यको चला सकेंगे। इसलिए उन्होंने अध्यक्षपद सम्भालने के लिए गांधीजी के सामने एक शर्त रखी। और वह यह कि इस संघके मन्त्री का काम करने को श्री ठक्कर बापा तैयार हों। गांधीजी ने इस बात का तुरन्त स्वागत किया और ठक्करबापा से संघका मंत्रिपद स्वीकार करने को कहा। बापा पर भील सेवा मंडल के संचालन की बहुत बड़ी जिम्मेदारी थी। साथ ही लड़ाई के दिनों में मंडल को मुसीबतों का भी काफी सामना करना पड़ा था। इसलिए भील सेवा के काम को इसप्रकार छोड़कर दिल्ली जाकर हरिजन सेवक संघ का मंत्रिपद संभालना बड़ा कठिन था। परन्तु बापू ने बापाको समझाया। उनके हृदय से अपील करके कहा कि "भील सेवा मंडलका काम उपयोगी तो है, परन्तु देश और हिन्दू जाति के इतिहास की इस घड़ीमें हरिजन सेवा अधिक जरूरी है। इसकी जड़में सारे राष्ट्र की आत्मशुद्धि करने, उसे ऊँचा उठाने की आध्यात्मिक भावना विद्यमान है। ऐसा करने के लिए उच्च नैतिक बलवाले मनुष्यों की इस कार्यमें पहली आवश्यकता है। हिन्दू जातिने सदियों तक स्पृश्यता जारी रख कर जो पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त करना है। इस मामले में बापा जैसे व्यक्ति ही पहल कर सकते हैं।

अन्तमें गांधीजी की बात बापा की समझ में आ गयी और उन्होंने संघका मंत्रिपद स्वीकार कर लिया। इसप्रकार भारत से अस्पृश्यता का नाश करने के लिए अस्पृश्यों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने और सवर्णों के हृदयों में पश्चात्ताप की भावना जाग्रत करके उन्हें अपने पाप का प्रायश्चित्त करने की प्रेरणा देनेके लिए अस्पृश्यता निवारण संघ की स्थापना हुई। बादमें जब गांधीजी ने अछूतों के लिए "हरिजन" शब्द अपनाया, तब इससंघ का नाम बदलकर हरिजन सेवक संघ रखा गया।

सवर्ण नेताओं की बम्बई में जो बैठक की गयी थी, उसमें अस्पृश्यता निवारण संघ की नीति और कार्यक्रम तैयार कर लिए गए और संघ के अध्यक्ष और मन्त्री के हस्ताक्षरों से प्रकाशित किए गए एक सम्मिलित वक्तव्य में इसप्रकार घोषित किए गए :—

"यह संघ भारत में सबप्रकार के प्रचलित अस्पृश्यता के कलंक से हिन्दू जाति को सभी शांतिमय उपायों द्वारा मुक्त करेगा।

"यह संघ सवर्णों के मानस में जड़मूल से ऐसा परिवर्तन करने का प्रयत्न करेगा, जिससे वे हरिजन भाइयों को अपने बराबर समझें और उनके साथ वैसा ही बर्ताव करें। परन्तु जाति प्रथाका नाश और अन्तर्जातीय भोजन वगैरा संघके कार्यक्षेत्र की मर्यादा के बाहर रहेंगे।

'अस्पृश्यता की संज्ञा के फलस्वरूप देश में जो अनेक बुराइयां फल फूल रही हैं, उन सबसे भारत में रहनेवाली समस्त जातियों को सभी शांतिपूर्ण साधनों द्वारा संघ मुक्त करेगा। हमारी प्रजाके एक पददलित विभाग को जो अनेक प्रकार के नागरिक अधिकारों के उपभोग से वंचित रखा गया है और उनके लिए जो रुकावटें पैदा कर दी गयी हैं, उन्हें दूर करके हमारे ये पददलित भाई सब प्रकार के नागरिक अधिकार भोग सकें, इसके लिए संघ सभी प्रयत्न करेगा।

"संघ का कार्यक्षेत्र सवर्ण और जिन्हें अब तक अछूत माना गया है उन हरिजनों, दोनों प्रकार के लोगों में रहेगा, और जब तक अस्पृश्यता का छोटा सा भी निशान बाकी रहेगा, तब तक संघ सवर्णों को धीरज से समझा बुझा कर अपना काम जारी रखेगा, इतने पर भी उसके काम का मुख्य झुकाव तो रचनात्मक ही रहेगा। शिक्षा की दिशामें हरिजनों और दलितों को ऊँचा उठाने और उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति सुधारने उन की प्रगति करने का काम मुख्य रहेगा। यही कार्य अस्पृश्यता निवारण की दिशा में हिन्दू समाज को तेजी से आगे बढ़ा सकेगा।"

संघके कार्यक्रम का ब्यौरा समझाते हुए उसी बयान में बताया गया है कि "भारत भरमें अस्पृश्यता निवारण का काम व्यवस्थित ढंग से होने के लिए उसे २२ प्रान्त और १८४ केन्द्रों में बांट दिया गया है। प्रत्येक केन्द्रके लिए ३,००० रुपए की रकम का प्रबन्ध करने को कहा गया है। इसप्रकार सारे देश के सभी केन्द्रोंमें काम शुरू हो तो प्रतिवर्ष ६ लाख रुपए खर्च होनेका अन्दाज है। इतनी रकम केन्द्रीय कोष और प्रान्तों तथा जिलों से होनेवाले चन्दे से प्राप्त कर ली जाएगी। इसप्रकार यह हिसाब लगाया गया कि संघ के कार्यके लिए प्रति वर्ष छः लाख रुपए की रकम इकट्ठी की जाए और हर साल खर्च कर डाली जाए।"

"यह कार्यक्रम पांच वर्ष तक जारी रखने का इरादा है। इस कार्य के साथ ही भारत हित वर्धक मंडल, इंडिया वेलफेयर लीग के संचालक बंबई के श्री डेविड का एक सुझाव भी जोड़ दिया गया है। इस सुझाव के अनुसार १००० हरिजनों की प्रारंभिक शिक्षा से लेकर ऊँची शिक्षा तक का खर्च जुटाना है। उनके सुझाए हुए मार्गके अनुसार देशमें कमसे कम १००० धनवान मनुष्यों को आगे आना चाहिए और प्रत्येक धनवान सज्जन को एक-एक हरिजन विद्यार्थी की शिक्षा की जिम्मेदारी अपने सर पर ले लेनी चाहिए। डेविड का यह सुझाव हमें, अध्यक्ष और मन्त्री को बहुत मुनासिब लगा है और हम आशा रखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति और कुछ नहीं तो कम से कम हरिजन विद्यार्थियों का खर्च उठाएगा।"

इस प्रकार बम्बई में संघ की स्थापना का काम पूरा हुआ। उसके बाद अनुकूलता की दृष्टि से संघ का मुख्य कार्यालय दिल्ली में रखा गया। और तब ठक्कर बापा ने दाहोद का निवास छोड़ कर दिल्ली में रहना शुरू किया। भील सेवा मंडल के रोजमर्रा के काम की जिम्मेदारी अपने पुराने, विश्वस्त और अनुभवी साथी कार्य-कर्ताओं पर डाल कर इस मिशन पूरा करने की उन्होंने कमर कसी। और इसप्रकार बापा ने हरिजन सेवक संघके नए कार्य का श्रीगणेश किया।

सबसे पहला काम उन्होंने सारे देशमें दौरा करने, प्रान्त-प्रान्त में हरिजनों की स्थिति का अध्ययन करने, सवर्णों के हृदय पिघलाने और अस्पृश्यता के विरोध में जोरशोर से प्रचार करने का किया। इन छः महीनों में दिल्लीमें वे मुश्किल से महीने में आठ दस दिन बिताते थे। बाकी के बीस बाइस दिन और कई बार तो सारा महीना वे लम्बे सफर में गुजारते थे। एक बार में ठक्करबापा ने देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में दौरे किए। भूख, थकावट और जागरण की उन्होंने परवा नहीं की। जगह-जगह घूमकर उन्होंने हरिजनों के प्रश्न समझे, तथ्य इकट्ठे किए और अखबारों में अपनी यात्रा के अनुभव और विवरण दिए। हरिजनों की कैसी स्थिति है, इसका हुबहू चित्र दिया।

प्रवास में वे जहाँ-जहाँ गए, वहाँ हरिजनों की असली हालत आँखों देखने का उन्हें मौका मिला और उन्होंने यह देखा कि सवर्ण भाइयों ने धार्मिक मान्यता के झूठे भ्रममें पड़कर हरिजनों को कैसी करुण स्थितिमें डाल दिया है, उन पर वे कैसे-कैसे जुल्म कर रहे हैं। हरिजनों की बस्ती गांवके बाहर ऐसी गंदी जगह पर होती, जहाँ सारे गांव का कूड़ा करकट डाला जाता था। अच्छे कपड़े नहीं पहन सकते थे। कहीं-कहीं शक्ति होने पर भी शादीमें बारात का जुलूस नहीं निकाला जा सकता था और इसी तरह के दूसरे काम नहीं हो सकते थे। वर राजा घोड़े पर बैठकर या पालकी में नहीं निकल सकता था। सोने चांदीके जेवर नहीं पहने जा सकते थे। इसतरह हरिजनों पर भांति-भांति के प्रतिबन्ध रूढ़ियों के रूपमें प्रचलित थे। इनके सिवा वे गांव की चौपाल,

मन्दिर, रास्ते, कुएं और पाठशालाएँ वगैर सार्वजनिक उपयोग के स्थानोंमें नहीं जा सकते थे और न उनका उपभोग अथवा उपयोग कर कसते थे। और दक्षिण में तो कहीं-कहीं यह हालत थी कि सवर्ण हरिजनों की परछाई भी अपने पर नहीं पड़ने देते थे। अगर किसी पर उनकी परछाईं पड़ जाती तो वह भ्रष्ट हो जाता था। साथ ही दक्षिण के कुछ भागों में हरिजनों को 'सेवकम् सेवकम्' "बोलते हुए चलना पड़ता था। शहरों से गांवों के हरिजनों की स्थिति और भी खराब थी।

इस स्थिति में हरिजन कहीं सिर उठाते तो, सवर्ण उन पर क्रुद्ध होकर उनका बुरा हाल करते थे। उन्हें पशुओं की तरह मारते पीटते, उनके झोपड़े जमींदोज कर डालते या आग लगाकर जला देते। कभी-कभी बहुत अधिक मारके कारण हरिजनों की मृत्यु भी हो जाती। इनमें से अधिकांश की तो दाद फरियाद भी नहीं सुनी जाती और यदि कोई हरिजन सेवक उनकी मदद करने का प्रयत्न करता तो उसकी भी दुर्दशा होती। सवर्ण उन का सामाजिक बहिष्कार करते और अन्य कई प्रकारसे उन्हें परेशान करते।

अधिकांश हरिजन तो सवर्णों से इतने ज्यादा दबे हुए रहते थे कि कोई सवर्ण यदि पाठशाला, धर्मशाला तालाब, कुएँ वगैर: सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करने के नागरिक अधिकारों का उपयोग करने के लिए हरिजनों को उत्साह दिलाते भी, तो वे उनके कहने पर ध्यान न देते और कहते, "अरे, बाबा, हम जहाँ पड़े हैं, वहीं ठीक हैं। व्यर्थ हमें दुखी करने क्यों आए हो?"

इसप्रकार देश भरमें हरिजनों की आर्थिक स्थिति ज्यादातर खराब थी। इसके सिवा सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित रहने के कारण ऊपर बतायी हुईं और न बताई हुईं अनेक प्रकार की दिक्कतें भी उन्हें उठानी पड़ती थीं। यहाँ तक कि अधिकांश हरिजनों और सवर्णों को इसमें कोई बुराई ही नहीं दिखाई देती थी। "हरिजन सामाजिक रूपमें अछूत हैं, आर्थिक दृष्टिसे गुलामों से भी बदतर हैं और धार्मिक हैसियत से जिन मन्दिरों को हम खास तौर पर ईश्वर के धाम कहते हैं, उनके दरवाजे इनके लिए बन्द हैं।" गांधीजी के ये वाक्य बापाने अपने प्रवास में जगह-जगह चरितार्थ हुए पाए।

दूसरी तरफ गांधीजी के सितम्बर मास के 'धर्मप्रवर्तक' उपवास के बाद सवर्णो में इने गिने स्थानों पर ही सही, जागृति पैदा हो गई थी। उन्हें हरिजनों के प्रति किए जाने वाले छुआछूत के पाप का भान हो गया था और परिणाम स्वरूप छुटपुट स्थानों में प्रायश्चित की गंगोत्री बहनी शुरू हो गई थी। २० सितम्बर १६३२ से २ अक्तूबर तक के समय में गांधीजी के उपवास के फलस्वरूप और ठक्कर बापा तथा अन्य बहुत से हरिजन सेवकों के प्रयास के कारण देशभर में लगभग १५० मंदिर खुल गये थे और इसीप्रकार कितनी ही पाठशालाओं में हरिजन विद्यार्थियों को प्रवेश मिलने लगा था। बम्बई, दिल्ली, नागपुर, पूना और बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय में हरिजनों के साथ सहभोज के कार्यक्रमों का भी सफलतापूर्वक आयोजन किया गया था। परन्तु यह सब तो समुद्र में बूंद के बराबर था। सैकड़ों वर्षो से अस्पृश्यता का कीड़ा हिन्दू धर्म को भीतर से कुतर रहा था। उसे पूरी तरह निकाल डालने के लिए व्यवस्थित, संगठित और बड़े पैमाने पर अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन छेड़ने की और साथ-साथ रचनात्मक दृष्टि से जगह जगह काम शुरू कर देने की जरूरत थी। ठक्करबापा रात-दिन एक करके भारत के लगभग तमाम प्रान्तों में खूब घूमे। जहाँ रेल नहीं जाती थी ऐसे भागों में भी घूमकर हरिजनों की दशा सुधारने के लिए और अस्पृश्यतारूपी राक्षस का संहार करने के लिए देशभर में २२ प्रान्तीय शाखाओं और १७८ जिला केन्द्रों का जाल बिछा दिया। और उनके द्वारा अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन सब मोर्चों पर छेड़ दिया।

इसप्रकार बापा जब देश के अलग-अलग भागों में प्रवास कर रहे थे और हरिजन सेवा के कार्य में मन और कर्म से डूब गए थे, तब अचानक एक दिन गांधीजी के उपवास के निर्णय की खबर मिली, सारे देश में यह समाचार फैल गया था कि यह उपवास सन् १६३३ के मई मास से शुरू होगा। आठ दिन पहले उसकी किसी को खबर भी नहीं थी। जेल में उनके साथ रहनेवाले श्री महादेवभाई और सरदार बल्लभभाई

पटेल तक को नहीं थी। २७ एप्रिल को आधी रात के समय जब गांधीजी के मनमें मंथन चल रहा था, तब तो वे निश्चिन्त सो रहे थे। मनोमंथन के फलस्वरूप गांधीजी ने यह निर्णय किया और रात के डेढ़ बजे उन्होंने बयान तैयार करके दूसरे दिन सबेरे प्रार्थना के बाद सरदार बल्लभभाई पटेल के हाथ में रख दिया। महादेव भाई की पिछली रात का जागरण होने के कारण गांधी जी के आदेश से वे वापस सो गए थे। दुबारा जागे तभी उन्हें इस का पता चला।

इस दुःखद समाचार से बहुतों को धक्का लगा। बहुतों को दुःख हुआ। परन्तु गांधीजी को अन्तर की जो आवाज सुनाई दी, उस पर अमल करने से उन्हें कैसे रोका जा सकता था? इस कदम के बारे में सरदार बल्लभभाई ने एक पत्र में लिखा था, 'बापू ने इस बार की हुई प्रतिज्ञा में किसी की सलाह या सम्मति ली ही नहीं। इस बार की प्रतिज्ञा केवल धार्मिक थी, इस कारण इसमें किसीकी सम्मति का सवाल ही नहीं था।'

"रात को एक बजे जब हम नींद में पड़े हुए थे, तब उन्होंने अपना निर्णय किया और डेढ़ बजे उठकर वह वक्तव्य तैयार कर लिया जो प्रसिद्ध हुआ। मैंने देखा कि उस में फेरबदल की जरा भी गुंजाइश नहीं रखी गयी थी। फिर भी इस बारे में पूछकर विश्वास कर लिया और जब जान लिया कि निर्णय हो ही चुका है, तब तो मुझे विश्वास हो गया कि मेरे लिए ईश्वर के आधीन होने के सिवा कोई चारा ही नहीं।..."

"...प्रतिज्ञा के गुण दोषों का विचार करने पर ऐसा लगा कि यरवदा समझौते के बाद हिन्दू समाज के कुछ भाग के बर्ताव और खास तौर पर सनातनी और कुछ शिक्षित हिन्दुओं के प्रचार के ढंग को देखते हुए जल्दी या देर से उपवास तो आने ही वाला था। फिर इतनी सी बात के लिए शोक क्यों किया जाए कि उपवास थोड़े दिन और न टाला जा सका?"

जो मनोदशा, समझ और दृष्टि सरदार बल्लभ भाई की थी, लगभग यही मनोदशा ठक्करबापा की थी। इसलिए वे तो गांधीजी के उपवास को ईश्वरेच्छा मान कर उसके आधीन हो गए और किसी भी प्रकार का शोक करने के बजाय गांधीजी के अस्पृश्यता निवारण के कार्य में ही दुगने वेग से जुट गए।

अस्पृश्यता की भावना के कारण हिन्दू समाज ने हरिजनों की कैसी करुण और भयंकर दशा कर दी थी, इसका चित्र लेखों और भाषणों द्वारा वे जनसमाज के सामने रखते ही रहे। गांधीजी के उपवास के दौरान में उन्होंने "भंगी बस्ती या नरक" शीर्षक से इलाहाबाद, दिल्ली, कलकत्ता, मथुरा और भावनगर वगैरः "बड़े शहरों के मेहतरों मुहल्लों, उन्हीं के पास खड़े किएजानेवाले पाखानों, उनके झोपड़ों के सामने ही उड़ेली जानेवाली मैले की टोकरियों और गाड़ियों का जो कंपकंपानेवाला चित्र दिया, वह इतना हूबहू है कि पढ़नेवाले के मुंह को दुर्गन्ध से भर देता है। तब जिन्हें दिनरात इस मैली गंदी जगह में नरक के ढेर के बीच रहना पड़ता है उनकी दशा क्या होती होगी? हिन्दू समाज के हाथ से भंगी भाइयों की यह जो दुर्दशा हुई है, उसे दूर करना सवर्णो का धर्म है या नहीं? यह दशा कैसे दूर हो? इस विषय में समझाते हुए लेख के अन्तिम भाग में ठक्करबापा लिखते हैं, "हमारे शिक्षित्र वर्ग के लोग जब तक भंगियों के मुहल्ले में जाकर नहीं बसते, चौबीसों घण्टे उनके सुख दुःख में भाग नहीं लेते, दिन रात उनकी सेवा नहीं करते, तब तक इस नरकबास से उन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी।"

"पतित से पतित लोगों के, चोर डाकुओं के, हत्यारे लोगों के निवास स्थान में जाकर हमारे साधु संतों ने सेवा की है। गुजरात में स्वामीनारायण की ऐसी सेवा प्रसिद्ध है। भाई रविशंकर ने चोर डाकुओं के बीच रह कर उनके जीवन पलट दिए हैं। विदेशी भी ऐसी सेवा करने यहाँ आते हैं। भंगी तो चोर, डाकू और हत्यारों से हजार दर्जे अच्छे हैं। उनकी दीन हीन दशा सुधारना हमारा धर्म है। परन्तु हमने आज तक इस तरफ ध्यान ही नहीं दिया। इस नरकबास की ओर एक निगाह डालने तक की परवा नहीं की।

"अब हमारी आँखें कुछ-कुछ खुली हैं, गांधीजी के महा व्रत से हमारी निद्रा कुछ-कुछ उड़ी दीखती है। ऐसी महा विपत्ति के समय हरिजनों की क्या सेवा हो सकती है, इस का विचार करना चाहिए। आशा है कि यह सब चार दिन का तमाशा नहीं हो रहेगा और गांधीजी का महा व्रत पूरा होते ही दलित हरिजनों की सेवा का हमारा जोश ठंडा नहीं पड़ जाएगा। दीन दलितों की हाथ की प्रलयाग्नि से बचना हो, तो हम जालिमों को आज ही इसी क्षण चेत कर सावधान हो जाना चाहिए।"

८ तारीख को शुरू हुआ उपवास २९ तारीख को पूरा हुआ। उस समय गांधीजी के कुछ साथी कार्यकर्ता पूना पहुँच गए थे। ठक्करबापा भी इस पवित्र दृश्य के साक्षी बनने के लिए पूना गए थे। और बापू ने प्रार्थना पूरी करने के बाद दुपहर के बारह बजे प्रेमलीला बहन ठाकरसी के हाथ से मुसंबी के रस का प्याला लिया, तब उनके साथी, सेवक, डाक्टर, और हरिजन वगैर: बड़ी संख्या में उनके पास बैठे थे। महादेवभाई के वर्णन के अनुसार "सब हरिजन भाई सच्चे हरिजन सेवक ठक्करबापा और जमनालालजी के चारों ओर घेरा डाले बैठे थे।"

गांधीजी ईश्वर की कृपा से बच गए। २१ दिन का उपवास पूरा हुआ और गांधीजी ने पारणा किया। इस शुभ अवसर पर कस्तूरबा गांधी, सरदार वल्लभभाई पटेल, मालवीयजी, राजाजी, श्री जमनालाल बजाज आदि नेताओं ने जो संदेश भेजे थे, उनमें ठक्करबापा ने भी बापू के अनशन की सफलता के लिए ईश्वर का आभार व्यक्त करने वाला यह संदेश भेजा था :—

"राजाजी के कथनानुसार आज चमत्कार हो गया। हम सब ईश्वर का जितना आधार मानें उतना ही थोड़ा है। "रघुपति राघव राजाराम" की धुन पंडितजी लगा रहे थे, बापू की अंगुलियाँ ताल दे रही थीं, ईश्वर परायणता का इससे अधिक सबूत शंकाशीलों के लिए और क्या चाहिए? अगर मैं यह कहूँ कि हरिजनों की सेवा अब अधिक हो, जोर से हो, धार्मिकता और सर्व व्यापी हो और इसमें सारा देश भाग लेगा, तो यह मेरी धृष्टता नहीं मानी जाएगी। जिस धार्मिकता से इस आन्दोलन को पुष्टि मिली है, उससे अधिक जोर से वह सफल हुआ। हम हरिजनों को पूरी तरह अपनाएँ और दुनियाँ में ऊँचा सर करके और छाती तान कर चल सकें, इतनी मुराद हमारी ईश्वर पूरी करे।"

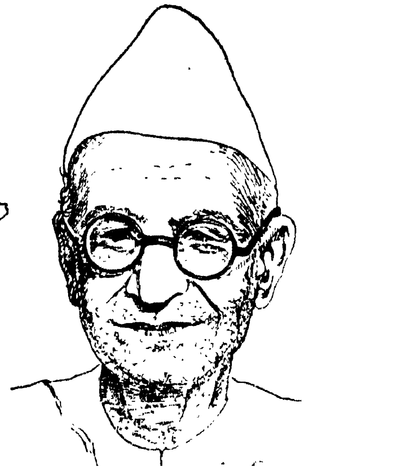
—कान्तिलाल शाह

**

मेरे सपनों का भारत—मैं एक ऐसे विधान के निमित्त चेष्टा करूंगा, जो भारत को हर तरह की गुलामी व प्रभुता से मुक्त करेगा और जरूरत पड़ने पर उसे अपराध करने का भी अधिकार दूंगा। मैं एक ऐसे भारत के निर्माण के लिए प्रयत्नशील रहूंगा, जिसे गरीब से गरीब व्यक्ति भी अपना देश समझेगा—ऐसा देश, जिसके निर्माण में उसका हाथ रहा है और जहां उच्च तथा नीच वर्ग के आदमियों का श्रेणी किया जाना नहीं होगा तथा जहां पर सब जातियों के लोग पूरे मेल जोल से रह सकेंगे। ऐसे भारत में अस्पृश्यता तथा मादक द्रव्य जैसे अभिशापों के लिए कोई स्थान नहीं होगा। स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के बराबर होंगे।

– महात्मा गान्धी

ठक्कर बापा



श्री कान्तिलाल शाह

ठक्कर बापा का नाम और हरिजन सेवा दो जुदे अंश नहीं हैं। ठक्कर बापा ने हरिजन, आदिवासी और पिछड़े हुए वर्गों के लिए जीवनदान दिया। हरिजन सेवक संघ के मंत्री के रूप में उनकी सेवाएँ कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। ठक्कर बापा ने हरिजन सेवक संघ के मंत्री के रूप में गांधीजी की हरिजन उद्धार के कार्यक्रम की यात्रा में और संस्था के निर्माण में जो सेवाएँ कीं, उनका यह चित्रण है :—

बापू का उपवास होने के बाद ठक्करबापा फिर अपने काम में लग गए और पहले के समाप्त कार्यक्रम के अनुसार प्रान्त प्रान्त में घूम कर प्रवास करने लगे तथा जहाँ-जहाँ अनुकूलता मिली, वहाँ हरिजन सेवा के केन्द्र स्थापित करने और हरिजनों के प्रति कर्त्तव्य पालन के लिए सवर्णों के हृदय में जाग्रत करने में अपनी सारी शक्ति लगाने लगे।

हरिजनों की सेवा में इतने तन्मय हो गए थे कि दौरे के दौरान में एक दिन अचानक एक विचार उनके मनमें आया कि गांधीजी यदि अस्पृश्यता निवारण के लिए सारे देश में घूमें और जगह-जगह प्रत्यक्ष उपदेश देकर लोगों के अन्तःकरण को जाग्रत करें तो इस काममें अच्छी सफलता मिल सकती है। उसी दिन गांधीजी के नाम एक पत्र उन्होंने लिख डाला और अपने काम में लग गए। दो दिन बाद उन्हें गांधीजी का पत्र मिला। उसमें इस आशय की बात कही गयी थी कि "आपका विचार उत्तम है। इसलिए मैं उसका स्वागत करता हूँ। अब मुझे किसप्रकार और कहाँ-कहाँ दौरा करना होगा, इसका कार्यक्रम आपको तैयार कर लेना है। और तदनुसार मुझे सूचना दीजिए तो हम प्रवास शुरू कर दें।"

गांधीजी का जबाव पाकर बापा के हर्ष का पार नहीं रहा। उन्हें सपने में भी यह खयाल न था कि प्रवास के दिनों में मामूली तौर पर लिखे हुए उनके इस पत्र का इतना सुन्दर और तात्कालिक उत्तर मिलेगा। ठक्करबापा ने अलग-अलग प्रान्तों के कार्यकर्त्ताओं के साथ पत्र व्यवहार करके गांधीजी का प्रवास क्रम बनाया और बाद में उसमें छोटे मोटे जरूरी सुधार करके इस सम्बन्ध में एक वक्तव्य निकाला।

"गांधीजी की हरिजन यात्रा के लिए एक कार्यक्रम तय किया गया। परन्तु हरिजन कार्य की प्रगति का विचार करने पर उसमें कुछ परिवर्तन अनिवार्य हो गए हैं। योजना यह है कि गांधीजी की यात्रा नौ महीने तक अर्थात् ८ नवम्बर से ३१ जुलाई १९३४ के अन्त तक जारी रहे। इस यात्रा की तारीखें और प्रान्तवार ब्यौरा दिया गया। प्रत्येक प्रान्त के कार्यक्रम का ब्यौरा संबंधित प्रान्तों के हरिजन सेवक संघ के

मंत्री और अध्यक्ष तय करेंगे। जो सूचनाएँ पहले जारी की गई हैं, उनके अनुसार क्रम निश्चित करना है। परन्तु ये तीन नियम तो पालने ही चाहिएं :

१. हर रोज दुपहर के चार घण्टे जहाँ तक हो सके १० से २ बजे तक सार्वजनिक कार्य बन्द रखे जाएं, ताकि नहाने धोने, खाने और पत्र व्यवहार के लिए समय मिल जाए।

२. दिन के कार्य का आरम्भ सुबह ६-३० से पहले न हो और रात के ८ बजे से ज्यादा काम न रहे।

३. जहाँ तक हो सके, मोटर की अपेक्षा रेल की यात्रा ही पसन्द की जाए। परन्तु जहाँ मोटर की यात्रा के बिना काम न चले वहाँ वह यात्रा प्रतिदिन ७५ मील से ज्यादा नहीं होनी चाहिए।

यात्रा का प्रारम्भ मध्यप्रान्त में स्थित श्री जमनालाल बजाज के निवासस्थान वर्धा से हुआ। उपवास के बाद गांधीजी बहुत ही कमजोर हो गए थे, इसलिए लगभग डेढ़ मास तक उन्होंने वर्धा में आराम किया। और उसके बाद ७ नवम्बर की तारीख को उन्होंने हरिजन यात्रा शुरू की। वर्धा में श्री जमनालालजी ने लक्ष्मीनारायण का मन्दिर बनवाया था और हरिजनों सहित तमाम वर्गों के लिए किसी भी प्रकार के भेदभाव के बिना खोल दिया था। इसके बाद एक और मन्दिर राममन्दिर भी वर्धा में बापू के निवासकाल में खुला। इन मन्दिरों में दर्शन करके गांधीजी ने कार्यारम्भ किया। उसी दिन वर्धा से नौ मील दूर स्थित सेलू गाँव में एक सज्जन ने अपना मन्दिर हरिजनों के लिए खोल देने की घोषणा की। उस शुभ अवसर पर गांधीजी वहाँ गए और अस्पृश्यता निवारण का संदेश दिया। इसके बाद मध्यप्रान्त में वे नागपुर, कामठी, रामटेक, तुमसर, देवली, यवतमाल, अमरावती, खामगाँव, अकोला, चीलखदा, बडनेरा वगैरह गाँवों और शहरों में घूमे। जगह-जगह सभाएँ हुईं। नागपुर में तीस हजार की बड़ी सार्वजनिक सभा के सामने गांधीजी ने अस्पृश्यता निवारण के सम्बन्ध में व्याख्यान दिए। इन सब गाँवों में हरिजनकार्य के लिए चंदा हुआ। पहले ही सप्ताह में १४,८१२ ६ २ रुपए चंदे में मिले। इसीतरह दूसरे सप्ताह के दौरे में उन्हें ६,८७८ २ ६ रुपए मिले। दो सप्ताह में गांधीजी ने कुल ५०० मील की यात्रा की। प्रवास के दौरान में पंडित लालनाथ और उन की मंडली ने गांधीजी के कार्य में रुकावटें डालने के प्रयत्न किए। गांधीजी जहाँ जाते, वहाँ वे मोटर के आगे लेट जाते, उनके पैर पकड़ लेते और इसप्रकार उनके मार्ग में कठिनाइयाँ पैदा करते। परन्तु गांधीजी धर्म कार्य समझ कर जिसे अपना चुके थे, उस प्रिय यात्रा को छोड़ देने वाले नहीं थे। वे प्रेम से समझा बुझाकर पंडित लालनाथ और दूसरे विरोधियों के दिल जीतने का प्रयत्न करते।

मध्यप्रान्त का एक भाग पूरा करके दौरा करते-करते गांधीजी जब्बलपुर पहुँचे। इसप्रकार के तेज दौरे और भरे हुए कार्यक्रम के कारण उनके खून का दबाव बढ़ गया। इसलिए जब्बलपुर में उन्हें चार दिन आराम करना पड़ा। डा० अन्सारी ने उनकी देखभाल की और तबियत सुधरते ही उनकी यात्रा आगे बढ़ी। दिसम्बर के पहले सप्ताह में उन्होंने ६०० मील की यात्रा पूरी की। और लगभग २१००० रुपए हरिजन कोष में इकट्ठे किए। मध्यप्रान्त का दौरा खत्म करके गांधीजी दिल्ली गए और वहाँ एक सप्ताह रह कर लगभग एक दर्जन सभाओं में भाषण दिए। वहाँ से चल कर कुछ समय वर्धा में आराम करके दक्षिण भारत की यात्रा शुरू की। बेजवाड़ा, मछलीपट्टम, मद्रास वगैरह स्थानों पर उन्होंने भाषण दिए। प्रत्येक स्थान पर उन्हें थैलियाँ भेट की गयीं। मद्रास में समुद्र तट पर एक लाख के जनसमूह के समक्ष उन्होंने भाषण देकर लोगों से अस्पृश्यता का नाश करके हिन्दू धर्म का कलंक मिटाने का अनुरोध किया। इसके बाद उन्होंने गुन्टूर, कोकोनाडा, इलौर, राजमहेन्द्री, विशाखापट्टनम् वगैरः स्थानों का दौरा किया और कुल मिलाकर एक हजार मील से ज्यादा की यात्रा की। ७६ गाँवों में गए और ६८,४३० रुपए जमा किए। वहाँ से आगे बढ़कर वे मैसूर गए। वहाँ से बंगलोर होकर उन्होंने मालाबार, कोचीन, त्रावणकोर वगैरः स्थानों का दौरा किया। जगह-जगह मंदिर, कुएँ, धर्मशालाएँ, आदि हरिजनों के लिए खुलने लगे थे, लोग बड़ी संख्या में गांधीजी की सभा में उपस्थित होते थे और हरिजन कोष में रुपया देते थे। इसप्रकार

उनकी यात्रा और हरिजन सेवा का कार्य वेग के साथ चल रहा था। इतने में एक ऐसी घटना हुई, जिसने उनके प्रवास को रोक दिया। १५ जनवरी १९३४ को बिहार में भारी भूकम्प हुआ। हजारों आदमी मारे गए। तीन मिनट में ही उत्तर बिहार में अधिकांश शहर मिट्टी में मिल गए। ९०० मील की रेलवे का नाश हो गया। पुल टूट गए। रास्ते टूट गए। लाखों देहाती बेघरबार के हो गए। उस समय बिहार के सबसे बड़े नेता राजेन्द्रप्रसाद जेल में थे। सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। उन्होंने गांधीजी को बिहार की परिस्थिति का समाचार दिया। तो भी गांधीजी ने जहाँ तक हो सका, हरिजन यात्रा जारी रखी। बाद में जब उन्हें महसूस हुआ कि उनका धर्म उन्हें वहाँ बुला रहा है, तब वे हरिजन यात्रा स्थगित करके मार्च मास में बिहार जाने को तैयार हुए। हरिजन यात्रा की इस पहली मंजिल के अन्त में एक अखबारी प्रतिनिधि से हरिजन कोष की प्रगति के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने पर उन्होंने बताया कि "दौरे में २ मार्च तक ३,५२,१३०९७ रुपए इकट्ठे हो सके हैं। हिसाब किताब जानने वाले कार्यकर्त्ता हमारी मंडली के साथ प्रवास करते हैं और केन्द्रीय बोर्ड के सदा जाग्रत रहने वाले मंत्री ठक्करबापा की सीधी देखरेख में दिन रात काम करते हैं। कई बार उन्हें रात में जाग कर काम करना पड़ता है। और कोष में प्राप्त हजारों चाँदी और ताँबे के सिक्कों का हिसाब मिलाने के लिए आधी रात तक दिया जलाना पड़ता है। यह सब रुपया दिल्ली के केन्द्रीय कार्यालय में भेजा जाता है। और वहाँ बैंक में सुरक्षित रखा जाता है। ये हिसाब बार-बार जाँचे जाते हैं और हरिजन बोर्ड की समय-समय पर होनेवाली बैठकों में पेश किए जाते हैं।

हरिजन यात्रा में गांधीजी जहाँ-जहाँ गए, वहाँ-वहाँ सभी जगह ठक्करबापा बापू की छाया की तरह उनके साथ ही रहे। इनका मुख्य काम गांधीजी के प्रवास की व्यवस्था करना, उनका समय पत्र ठीक करना, एकत्रित होने वाले चंदे को संभाल कर रखना और भिन्न-भिन्न प्रदेशों में हरिजनों की स्थानीय परिस्थितियों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी इकट्ठी करना था।

गांधीजी की इस यात्रा का विरोध कुछ सनातनी करते और उनके मार्ग में विघ्न डालते थे। गांधीजी अहिंसा और प्रेम के प्रभाव से विघ्न दूर करते थे। परन्तु हरिजन यात्रा ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गई, त्यों-त्यों कुछ सनातनी लोगों का धीरज टूटता गया और असहिष्णुता बढ़ती गई। बिहार के भूकम्प के बाद गांधीजी ने फिर हरिजन यात्रा शुरू की, तब जसीडीह स्टेशन पर पंडों ने गांधीजी पर हमला किया और वे जिस मोटर में बैठे थे, उस पर लाठी प्रहार करके उसकी पिछली छत्री तोड़ डाली। गांधीजी उस वार से बाल-बाल बचे। इसीप्रकार की और भी दो घटनाएँ बिहार में हो गईं। गांधीजी ने "हरिजन बन्धु" के एक अंक में "तीन दु:खद प्रसंगों में उसका जो हूबहू वर्णन किया है, उसमें ठक्करबापा भी कैसे इस हमले के शिकार हुए थे, इसका थोड़ा सा चित्र इस प्रकार है :—

". . . दूसरे दिन २६ तारीख को सुबह दो बजकर दस मिनट पर देवगढ़ जाने के लिए जसीडीह जंकशन से गाड़ी पकड़नी थी। पंडित लालनाथ अपनी टोली के साथ हर स्टेशन पर उतरते और "हम इन्हें हरिजन काम के लिए आगे नहीं बढ़ने देंगे" के नारे लगा कर गाते और दूसरी घोषणाएँ करते। इससे मेरी वह रात बिगड़ गई। मेरी जानकारी के अनुसार उन्हें किसी ने ये प्रदर्शन करने पर सताया नहीं था। जैसा हमेशा होता है, हर स्टेशन पर मुझसे मिलने झुंड के झुंड लोग आते थे। मैं अपनी यात्रा बन्द कर दूं, इस ढंग से सनातनी मुझे सताने का प्रयत्न करते। परन्तु लोग शान्त रहते। इस प्रकार मैं जसीडीह पहुँचा, जहाँ पर मानव सागर उमड़ रहा था। स्टेशन पर दिया बत्ती का बंदोबस्त ठीक नहीं था, इसलिए मैं किसीका मुँह नहीं देख सकता था। पुलिस तो वहाँ थी ही। मुझे सही सलामत ले जाने में स्वयंसेवकों के साथ वह भी थी।

"जहाँ टिकट लिए जाते हैं, उस दरवाजे पर पहुँचने के बाद हम दम घुटनेवाली भारी भीड़ में से गुजरे। बीच-बीच में काले झंडेधारी थे। अत्यन्त कठिनाइयों के बीच पुलिस कर्मचारियों और स्वयंसेवकों ने मुझे मोटर गाड़ी में बिठाया। ठक्कर बापा जो मेरे साथ ही आनेवाले थे, न आ सके। गाड़ी को वहाँ अधिक

देर ठहराना खतरनाक मालूम हुआ। इसलिए गाड़ी धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी। गाड़ी की छत पर सख्त चोटें पड़ने लगीं। मुझे लगा कि छत अभी टूट कर चूर-चूर हो जाएगी। इतने में छत के पिछले हिस्से पर एक प्रहार हुआ। काँच के टूटे हुए टुकड़े मेरे पास गिरे। शशिबाबू को, जो आगे की बैठक पर बैठे थे, विश्वास था कि यह पत्थर की चोट है काँच तोड़ने के लिए लगायी गयी है। मुझे इसका पक्का पता नहीं। परन्तु मैंने इतना जान लिया कि में अधिक नहीं तो भारी आघात से बच गया!"

जसीडीह स्टेशन पर हुई घटना के सम्बन्ध में देवगढ़ में व्याख्यान देते हुए गांधीजी ने कहा था :— "परन्तु यहाँ भाषा में तो सभ्यता है ही नहीं, लोग मार-पीट पर उतर आए हैं। सबेरे जल्दी ही अढाई बजे मैं जसीडीह स्टेशन पर उतरा तो उन्होंने तिरस्कारभरी वाणी से आकाश को गुंजा दिया। वे हिंसक भी बन गए। उनसे होता तो वे मोटर की छत्री अवश्य तोड़ डालते। छत्री पर भारी चोटें तो पड़ीं हीं। पिछला कांच तोड़ डाला गया और में ईश्वरकी कृपा से ही गम्भीर चोट से बचा। में मानता हूँ कि मुझे शारीरिक हानि पहुँचाने की उनकी इच्छा नहीं थी। छत्री पर लाठियाँ मार कर और काँच तोड़ कर उन्हें केवल मुझ पर अपने रोष का प्रदर्शन करना था। परन्तु उनका हेतु कुछ भी हो, उनका कृत्य अवश्य हिंसक था। उसके शायद ऐसे परिणाम होते, जिनसे उन्हीं को खेद होता।"

देवगढ़ की गांधी स्वागत समिति के मन्त्री और कांग्रेस महासमिति के सदस्य श्री शशिभूषण राय ने, जो गांधीजी की मोटर में थे, इस घटना का वर्णन करते हुए बताया कि, "जसीडीह में गांधीजीके शरीर पर हमला करनेवाले बैद्यनाथधाम के पण्डे थे। उनके नेता देवगढ़ के कुछ पण्डे थे, जो बिहार प्रान्तीय वर्णाश्रम संघ के पदाधिकारी हैं और देवगढ़ में रहते हैं।"

"गांधीजी २६ एप्रिल को प्रातः २–१० बजे जसीडीह स्टेशन पहुँचे। पुलिस द्वारा किए गए प्रबन्ध के अनुसार स्वागत समिति के पाँच सदस्यों को प्लेटफार्म पर जाने दिया गया था। गांधीजी और ठक्कर बापा को उसी गाड़ी से आए हुए स्वयंसेवक घेर कर चलने लगे। दरवाजे पर गांधीजी को एक दो मिनट रुकना पड़ा, क्योंकि मोटर का रास्ता काले झंडेवाले पण्डों ने रोक लिया था। मैंने स्वयंसेवकों की कतार को रुक जाने का हुक्म दिया और उन्हें प्लेटफार्म पर रह कर संघ के दूसरे आदमियों को मदद करने को कहा। श्री बालेश्वरसिंह को, जिन्हें गांधीजी का अंग रक्षक मुकर्रर किया गया था और जो दायीं तरफ खड़े थे, गांधीजी को संभालने का हुक्म दिया। में मोटर को तैयार रखने को आगे गया।

"गांधीजी मुश्किल से दरवाजे के बाहर निकले। उस समय उनके मुंह के सामने और सिर के ऊपर जोर-जोर से काले झंडे फहराये जा रहे थे। बालेश्वरसिंह ने और दूसरों ने अपने सिरों पर और हाथों पर वार झेल कर गांधीजी की रक्षा की। ठक्कर बापा हमसे अलग पड़ गए और हम गांधीजी को अकेले ही मोटर तक ले जा सके। मोटर की अगली बैठक पर पण्डित विनोदानन्द झा और हम बैठे थे। गांधीजी ने पूछा कि ठक्कर बापा कहाँ हैं? हमने कहा कि वे दूसरी मोटर में आएँगे। गांधीजी की मोटर के आगे स्वयंसेवकों की लारी चल रही थी। गाड़ियां धीरे-धीरे चलने लगीं, परन्तु थोड़ी ही दूर पर रोक दी गईं। इसलिए गांधीजी की मोटर को लारी से आगे निकल जाना पड़ा। मोटर आगे चली तो बन्द मोटर की छत्री पर लाठियों की मार पड़ी। इसलिए मोटर को बहुत नुकसान हुआ। यह देख कर कि गांधीजी की जान जोखिम में है, कैप्टन सत्यनारायण पाण्डेय मोटर के पीछे कांच की तख्ती की रक्षा करते हुए खड़े रहे। परन्तु वे नीचे गिर गए और दूसरी मोटर के नीचे दब गए। उन्हें गम्भीर चोट पहुँची और वे अस्पताल में गए। इसप्रकार मोटर का पिछला भाग अरक्षित हो गया, तो और पत्थर फेंके जाने लगे। उनमें से एक पिछले हिस्से में लगा और दूसरे से गांधीजी के सिर से लगी हुई पीछे के काँच की तख्ती टूटी। तख्ती मोटी होने के कारण उसने पत्थर के वेग को रोका, नहीं तो उससे गांधीजी के सिर को गहरी चोट लगती। मैंने गाड़ी की जाँच की है और जैसा गांधीजी ने कहा कि मुझे इसमें जरा भी शंका नहीं कि वह पत्थर गांधीजी के सिर को ताक



हरिजन उद्धार के लिए प्राणरत

महात्मा गाँधी और श्री ठक्कर बापा

कर ही मारा गया था और उसीसे तख्ती टूटी थी। इसप्रकार लाठी की मार सहन करती मोटर धीरे-धीरे पचास गज चल कर भीड़ से बाहर निकली और फिर आजादी के साथ चलने लगी। इसप्रकार देवगढ़ के काले झंडे वालों पण्डों और दो तीन मारवाड़ियों के हमलों से भगवान ने गांधीजी को बचा लिया। स्वयंसेवकों के कप्तान श्री मदिया के सर और पीठ पर सख्त घाव लगे। इसके सिवा गांधीजी को बचाने की कोशिश करने में २४ स्वयंसेवकों को चोटें आई।"

ऐसे प्रसंग पर ठक्कर बापा के मन की स्थिति भी अस्थिर रहती थी। गांधीजी के प्रति भक्तिभाव के कारण उन्हें चिन्ता होती थी कि कहीं गांधीजी को चोट न पहुँचे फिर भी उन्हें हमेशा यह श्रद्धा रहती थी कि गांधीजी इन सब विघ्नों को पार करके अन्त में सुरक्षित रूप में बाहर आएँगे। कठिनाइयों में से मार्ग निकालने की गांधीजी की शक्ति में उन्हें पूरा विश्वास था।

एप्रिल मास पूरा बिहार के दौरे में बीता। उसके बाद मई मास की ४ तारीख को गांधीजी ठक्कर-बापा और उनकी मण्डली उड़ीसा के लिए रवाना हो गयी। यहाँ गांधीजी को पैदल यात्रा करने का विचार सूझा। बाद में ठक्कर बापा और उत्कल के कार्यकर्त्ताओं के साथ उन्होंने इस बारे में चर्चा की। ठक्कर बापा और उत्कल के कार्यकर्त्ता दोनों ने यह राय जाहिर की कि शुरू में तय किए हुए कार्यक्रम के अनुसार ही यात्रा करनी चाहिए। परन्तु गांधीजी ने पैदल यात्रा का मर्म उन्हें समझाया तो अन्त में ठक्कर बापा और उड़ीसा के कार्यकर्त्ता दोनों सहमत हो गए। जगन्नाथपुरी से कटक तक ५५ मील का रास्ता पैदल तय करने का निश्चय किया और उसके अनुसार दौरा शुरू हो गया। उसका बहुत ही रसप्रद वर्णन ठक्कर बापा ने अपने छोटे भाई डा० केशवलाल ठक्कर के नाम प्रवास के तीसरे दिन के पत्र में किया है। यह पत्र सहृदय बापा की कोमल भावना और आदर्शनिष्ठा की झाँकी करानेवाला होने के कारण यहाँ पूरा उद्धृत किया जाता है :—

"पुरी जिले का दांड मुकुन्दपुर गाँव
११-५-१९३४

"भाई केशवलाल,

तुम्हारा पत्र बहुत दिनों से नहीं आया। मेरा खयाल है कि तुम्हारा पत्र मिले बहुत दिन हो गए। सम्भव है, मैंने उत्तर नहीं दिया हो। इसलिए तुम मेरे खत का इन्तजार कर रहे होगे।

गांधीजी को नयी सृष्टि की रचना और पुरानी का अन्त करने में देर नहीं लगती यह अभी अभी हुआ है। राजनीतिक मामले में उन्होंने जो किया उस की बात मैं नहीं लिखता इसका तो जिन्हें दुःख हुआ हो, जो बर्बाद हो गए हों, वे रोना रोएँगे। मैं तो हरिजन यात्रा के सिलसिले में लिख रहा हूँ। अब तक रेल और मोटर से छः महीने यात्रा की। बीच में बिहार भूकम्प के कष्ट निवारण का काम आ गया और उसके लिए एक मास बिहार में लगाया। वह ठीक था। ऐसा करना जरूरी था। परन्तु अभी तक जिन-जिन प्रान्तों का दौरा करना बाकी रहा है, वहाँ घूमने में रुकावट आ गयी। अभी बंगाल, उत्तर-प्रदेश, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र और सिन्ध इतने प्रान्त बाकी रहे हैं। इन सब की यात्रा बिहार भूकम्प के दिनों से पहले जितने दिन आए थे उनसे आधे दिनों में पूरी कर लेनी थी। ऐसा करने में ३१ जुलाई आ जाती और गांधीजी के जेल से छूटने का एक वर्ष पूरा हो जाता अथवा उनके वापस जेल में जाने का समय आ पहुँचता।

परन्तु इतने में ही बुढ़ऊ को ईश्वरीय आदेश मिल गया। विचार स्फुरणा तीव्र हो गयी। "बस, अब मैं तो रेल व मोटर से तंग आ गया हूँ। शहरों के लोगों के "गांधीजी की जय" के नारों से मेरे कान बहरे हो गए हैं। मुझसे अब यह सहन नहीं हो सकता। हरिजन यात्रा करने का जो व्रत लिया है, उसे ३१ जुलाई तक तो पूरा करना ही है। परन्तु वह रेल मोटर से न करके पहले के यात्रियों की तरह पैदल करना है।" उनका यह हठ पिछले दस-पन्द्रह दिन से शुरू हुआ।

मेरी दलील थी कि आगे की यात्रा के लिए प्रान्तों को बचन दिए जा चुके हैं, कार्यक्रम बन चुका है। पहले दो तीन बार के कार्यक्रम झूठे साबित हो चुके हैं। इसलिए अब फिर उन्हें एक बार निराश नहीं होना पड़े, वरना लोग कहेंगे कि हमने वचन-भंग किया।

"प्रान्तोंवाले यदि सब हाँ करते हों, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" यह दलील भी उस समय दी, जब गांधीजी मुझ पर अधिक दबाव डालने लगे।

इतने में तो हम जगन्नाथपुरी में आ पहुँचे। काठ की मूर्तिवाले जगन्नाथजी के गाँव में आने पर एकदम जोश आया। उड़ीसा के कार्यकर्त्ताओं को बुलाया। पहले मैंने अकेले उनके साथ चर्चा की। मैंने, 'प्रोस' और 'कान्स' इस विचार के पक्ष और विपक्ष बापू को बताए। उन सब ने निश्चय किया कि प्रत्येक जिले में जहाँ जाने के वचन दिए जा चुके हैं वहाँ जरूर जाएं, परन्तु उन स्थानों पर आधा दिन या एक दिन उनकी इच्छानुसार हम पैदल चलने का बन्दोबस्त कर देंगे। उस दिन गांधीजी का मौन था। दूसरे दिन उनके रूबरू इस प्रश्न की चर्चा हुई।

वे कहने लगे, "मैं ऐसे समझौते, कम्प्रोमाइज से खुश नहीं होता। मुझे तो पूरा लड्डू चाहिए।" बूढ़े के मैग्नेटिज्म, आकर्षण, या हिप्नोटिज्म, तन्त्रविद्या के कारण सब चुप हो गए।

"हम आध्यात्मिक मूल्यों, स्पिरिच्युअल वेल्यूज को नहीं समझते। आपको पैदल यात्रा में धार्मिकता प्रतीत होती हो, तो आप भले ही वैसा कीजिए। हम तो आपके चलाए चलेंगे।" नरम उड़िया भाइयों ने कहा।

"बस, दूसरे ही दिन मंगलवार ता० ९ को सवेरे साढ़े पाँच बजे पैदल यात्रा प्रारम्भ कर दी। आज तीसरा दिन है। संघ चलता रहता है। रोज आठ मील की यात्रा दो हिस्सों में सुबह-शाम मिल कर करते हैं।"

"अपने राम तो पहले ही दिन पाँच मील चल कर दोनों पैरों में चप्पल की रगड़ से तीन छाले कर बैठे।"

"गांधीजी ने एक 'लड़की', अर्थात् राजकोट वनिता विज्ञान की सुपरिण्टेण्डेण्ट सुशीला (बम्बई म्युनिसिपैलिटी के स्वर्गीय रा० ब० की लड़की) से कहा कि "ठक्कर बापा के पैर बहुत थक गए हैं। उन पर गरम पानी डाल कर सेंक करो।" हमारी पहले की बुढ़ियाओं जैसे उपाय इस बूढ़े को खूब आते हैं। "छालों को फोड़ना मत" बोअर युद्ध में सफर करते हुए मेरा यही हाल हुआ था। पहले साबुन और गरम पानी दो और नमक का पानी पैर पर डालो, बाद में घी की मालिश करो।" इस प्रकार बापू ने मेरे पैरों का इलाज कराया। इससे थकान और छालों की तकलीफ कम हुई। उसी दिन शाम से बैल गाड़ी में बैठने का इन्तजाम किया। अब थोड़ा गाड़ी में और थोड़ी पैदल यात्रा करता हूँ।"

"पिताजी और माँ के साथ तुम लोगों ने जगन्नाथपुरी की पैदल यात्रा की थी और उसका जो वर्णन करते थे, वह सब याद आ रहा है। १९२१ में भी याद आता था और अब १९३४ में भी याद आ रहा है। संघ पहले दिन तो छोटा था। दूसरे तीसरे दिन से बढ़ता गया। गाँवों के लोग गांधीजी का संघ देखने, दर्शन करने के लिए रास्ते पर भीड़ में खड़े रहते हैं। बुढऊ घुटने के ऊपर तक धोती पहने, नंगे शरीर और गंजे सिर, दोनों तरफ एक-एक 'लड़की' के कन्धे पर हाथ रख कर दौड़ता हुआ चलता है। कल जब उन्हें जरा छाला पड़ने को हुआ तो जूते हाथ में ले लिए। आज भी मैंने उन्हें नंगे पैर चलते देखा। अब सड़क पर कंकड़ नहीं, इसलिए नंगे पैर चलना ठीक रहता है।" मैं गाड़ी से उतर कर चल रहा था, तब उन्होंने यों कहा :—

"आज पुरी से २१ मील पर आ पहुँचे हैं, एक पक्के मकान में डेरा है।" मैं अपना बिस्तर बिछा कर यह पत्र लिख रहा हूँ। पास के कमरे में केले के पत्ते की पत्तलें लग रही हैं। उड़िया और हिन्दी भाषा की बातें चलती रहती हैं।" 'बापा' से कह रहे हैं कि खाने को चलिए।

"हमारा रोज का कार्यक्रम इस प्रकार है :

"१. सुबह चार बजे सब उठते हैं। मैं ३, ३-३० बजे उठ जाता हूँ। गांधीजी तो एक-दो बजे ही उठ जाते हैं। और बस्ता खोल कर पत्र लिखने बैठते हैं। और अपने प्रसिद्ध टेढ़े-मेढ़े गुजराती अक्षर

निकालते हैं। ४ से ४-२० शौच, ४-२० से ४-४० प्रार्थना, ४-४० से ५-१५ बाँधा बूंधी व नाश्ता, ५-३० बिदाई।"

"२. चार से सात मील की यात्रा करना। ७।। बजे देर में देर आठ बजे पहुँचना। जाते ही गाँव में सभा करना। फिर वहाँ जाना जहाँ आगे जानेवाले आदमियों ने ठहरने का बन्दोबस्त कर रखा हो। स्नान करना, कपड़े धोना, रसोई बनाना। यह मौसम गरमी का होने से आम का उपयोग अच्छा होता है।"

"३. ग्यारह बजे खा-पीकर पत्र-व्यवहार, आराम, नींद। दो से तीन बजे तक पूर्व व्यवस्था के अनुसार भाषण तथा तीन से चार तक बापू से बाहर के आदमियों की मुलाकात वगैरह। ४ से ४।। तक फुटकर काम। बाद में भोजन और ५।। शाम को कूंच।"

"४. ५।। से ७ तक तीन से चार मील का प्रयाण। जाते ही सभा में प्रार्थना, बाद में सभा। फिर जहाँ पहले से डेरे का प्रबन्ध किया गया हो वहाँ जाकर १० बजे तक पत्र-व्यवहार, व्यवस्था, काम-काज और सो जाना।"

"सबेरे रोज साढ़े पाँच बजे निकल पड़ने में बड़ा आनन्द आता है।"

अमृतलाल वि० ठक्कर के वन्देमातरम्

उड़ीसा की पैदल यात्रा पूरी करने के बाद गांधीजी वर्धा और बम्बई में कांग्रेस की कार्य समिति में भाग लेने गए। बम्बई में वे ता० १७ और १८ दो दिन ठहरे। उसके बाद वे और ठक्कर बापा वगैरह सब ता० १९ को पूना गए। वहाँ भी वे अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन चला रहे थे। ता० २५ को पूना की म्युनिसिपैलिटी ने मानपत्र देने का निश्चय किया। गांधीजी, ठक्कर बापा और उनकी मण्डली मोटर में बैठ कर उस सभा में जा रही थी। उस समय किसी धर्मान्ध सनातनी ने पागल बन कर गांधीजी की मोटर पर बम फेंकने का प्रयत्न किया। सौभाग्य से जिस मोटर को उसने गांधीजी की मोटर समझा था वह उनकी न थी। इसलिए गांधीजी बच गए। ठक्कर बापा भी बच गए। परन्तु उस मोटर में बैठे हुए दूसरे आदमी घायल हुए। हाँ, उन्हें विशेष चोट नहीं पहुँची और तत्काल साल संभाल हो जाने से एक भी आदमी की प्राण हानि नहीं हुई। गांधीजी ने इस कृत्य को पागलपन का काम मान कर उसकी निन्दा की और यह आशा प्रकट की कि इस काम को किसी समझदार सनातनी का समर्थन न होगा। पूना से गांधीजी अहमदाबाद गए और वहाँ से काठियावाड़ का दौरा किया। इसके अलावा जिस जिस जगह का दौरा बाकी रह गया था उसकी पूर्ति करने पर वे अजमेर, करांची, लाहौर, कलकत्ता, कानपुर, लखनऊ और बनारस वगैरः शहरों में घूमे और इस प्रकार ९ मास की हरिजन यात्रा पूरी हुई। इस यात्रा के दौरान में गांधीजी और ठक्कर बापा ने १२,५०० मील का सफर किया। आठ लाख रुपए हरिजन कोष में इकट्ठे किए गए। इसके सिवा प्रत्येक प्रान्त और गाँव-गाँव के सवर्णों और हरिजनों में नई जागृति और नयी चेतना आयी।

गांधीजी की हरिजन यात्रा तो पूरी हुई, परन्तु ठक्कर बापा के हरिजन कार्य सम्बन्धी प्रवास का तो अन्त ही नहीं था, ज्यों-ज्यों काम आगे बढ़ने लगा। १९३४ में जुलाई मास में उन्होंने सिन्ध के कुछ कार्यकर्त्ताओं के साथ मरुप्रदेश के देहाती इलाकों में ऊँट पर २०० मील का सफर किया और दक्षिण सिन्ध के हरिजनों की स्थिति का ब्योरेवार विवरण प्रकाशित करके बताया कि "थरपारकर जिला विशाल मरुप्रदेश है उसका क्षेत्रफल १३,६०० वर्गमील और आबादी ४,६८,००० से कुछ ज्यादा है। इस आबादी में २० फी सदी यानी ९४,००० हरिजन हैं। उनमें ३५,००० मेघवाल, ४८,६०० भील, ९१०० कोली और १,००० दूसरी विविध जातियों के लोग हैं। इन तीनों जातियों को कट्टर हिन्दू समान रूप में अछूत मानते हैं, क्योंकि वे सब मुर्दार मांस खाते हैं। इस प्रदेश में आबादी कम होने से गाँव बहुत छोटे-छोटे होते हैं, इसलिए उनमें पाठशाला चलाना आर्थिक दृष्टि से बहुत मुश्किल है।

"इस प्रदेश के हरिजनों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। यहाँ सहकारी समितियाँ न होने से लेन-देन का इजारा बनियों के हाथ में है। वे भारी ब्याज लेते हैं। इसके सिवा ये साहूकार गरीबों से जबरन् बेगार कराते हैं। इस प्रदेश में पानी का प्रश्न बड़ा विकट है। कुएँ में १०० से ३०० फुट नीचे पानी होता है। और कुआँ बनाने का खर्च ३०० से १५०० रुपए तक होता है। सौभाग्य से यहाँ हरिजनों को सार्वजनिक कुओं से पानी भरने दिया जाता है। यद्यपि पानी भरने के लिए उनका अलग समय होता है।"

"इस इलाके में दो हरिजन आश्रम चलाये जाते हैं। एक जोधपुर रेलवे लाइन से आठ मील दूर गकरों में और दूसरा सिन्ध की एक दक्षिणीय सरहद में जो रेलवे से १०० मील से अधिक अंतर पर नगर पार कर है। पहले में अक्षर ज्ञान के अतिरिक्त ऊन और रूई कातना बुनना और चमड़े का काम सिखाया जाता है। निरक्षरता की मरुभूमि में ये दो आश्रम मीठे झरनों के समान हैं। अन्य दो आश्रमों की खास जरूरत है। एक छछ्रो के पास है और दूसरा माथी में है। ये दो आश्रम चलाने से कम से कम ३०० रुपए मासिक चाहिएं। परन्तु उसकी सुविधा अभी नहीं हो सकती। मगर यहाँ इससे अधिक जरूरत तो सारा समय देने वाले सेवा-भावी मंत्री की है, जो रेतीले टीलों के प्रदेश में ऊँट पर सफर करके इस वीरान मुल्क में रहनेवाले हरिजनों का मित्र और मार्गदर्शक बनें।"

हरिजन यात्रा में उन्होंने हरिजनों की सबसे बड़ी और रोजमर्रा की कठिनाई पानी की देखी। इसलिए प्रवास के अन्त में उन्होंने "हरिजन बन्धु" में "हरिजनों को पानी दो" नामक लेख लिखा, जिसे पढ़कर आज भी सहृदय मनुष्य हिल जाता है :—

"काठियावाड़ की मेरी एक मास से अधिक की हरिजन यात्रा १५ दिसम्बर १९३४ को पूरी हुई है। और अब कच्छ की आठ दिन की यात्रा भी पूरी होने आई है।"

"अपने इस दौरे में मैं ७२ गाँवों और ११८ हरिजन मुहल्लों में मैं घूमा हूँ। इसके अलावा पचास गाँवों के हरिजनों ने स्वयं अपनी कठिनाइयां मुझे कह सुनाई हैं। जहाँ-जहाँ हरिजनों के सुख दुःख सुनने और उनकी स्थिति की कल्पना प्राप्त करने बैठता, वहीं हरिजनों ने खुद अपने गाँव या आसपास के गाँवों की एसी शिकायतें कह सुनाईं कि "अपने पानी के लिए हमें चोरी करनी पड़ती है। पकड़े जाने पर हमारी औरतों पर पत्थरों के बार होते हैं, घड़े फोड़े जाते हैं, जहाँ स्त्रियां बच्चों के पोतड़े धोती हों या गाय भैंस" पैरों से कीचड़ रौंद कर पानी को गन्दा कर देती हों, ऐसे तालाब के गन्दे पानी पर हमें गुजर करना पड़ता है। मवेशियों के कुंड के कीड़े पड़े हुए पानी पर निर्वाह करना होता है। इस तरह के कुंड का पानी प्राप्त करने के लिए भी कहीं कहीं तो हमें फी घर हर साल एक रुपया चड़स वाले को देना पड़ता है।"

"ऐसी खून उबालनेवाली, हृदय को हिला देनेवाली दीन हीन हरिजनों की हाय सुनकर एक काठिया-वाड़ी और एक हिन्दू के नाते में शर्मिन्दा होता हूँ।"

ब्रिटिश हिन्दुस्तान के खास गुजरात में तो ताल्लुका और जिला बोर्डों ने, म्युनिसिपैलटियों ने तथा ग्राम और प्रान्त पंचायतों ने बाकायदा ऐसे तख्ते कुओं पर लगाए हैं कि सार्वजनिक कुएँ हरिजनों के लिए खुले हैं। और तदनुसार हरिजन किसी किसी जगह सार्वजनिक कुओं का बेरोकटोक उपयोग करने लगे हैं तथा दूसरे स्थानों पर ऐसा पर्यत्न करने लगे हैं।

"ऐसी स्थिति काठियावाड़ में कब आएगी? राजा और प्रजा हरिजनों के प्रति अपना फर्ज समझने लगें और इसमें बरसों बीत जाएँ तब तक हवा के बाद जीवन की प्राथमिक आवश्यकता पानी के बिना हरिजनों को तड़पाना हमारे मनुष्यत्व को शोभा नहीं देता। इसलिए आपद धर्म समझकर हरिजनों के लिए अलग कुएं बनवाने की हरिजन सेवक संघ ने हिम्मत की है।"

"कुओं की मांग हरिजनों की तरफ से चारों ओर से आ रही है। इस मांग को एक दो वर्ष में पूरा नहीं किया जा सकता। इस साल हरिजन सेवक संघ के मार्फत समस्त काठियावाड़ में लगभग सौ कुएं बनवाने

का काठियावाड़ के राज्यों और संघों की ओर से सहायता मिल जाएगी, इस विश्वास से कई जगह बनाने का वचन दे चुका हूं।"

"हरिजनों को पानी देने के लिए मेरी मांग बड़ी नहीं है। औसतन् हर कुएं पर २५० रुपए खर्च आएगा। इस हिसाब से काठियावाड़ और वृहद् काठियावाड़ में ऐसे सौ दानवीर हरिजनों का हार्दिक आशीर्वाद लेने को बाहर निकल ही आएंगे, यह श्रद्धा रख कर काठियावाड़ हरिजन सेवक संघ को कुओं का काम हाथ में लेने की सूचनाएँ देकर मैं अपने स्थान दिल्ली में जा रहा हूँ।"

इस बयान के बाद काठियावाड़ में, जहाँ हरिजनों के लिए पानी की बिलकुल व्यवस्था नहीं थी, कुएँ खुदवाना शुरू हुआ और यह काम कुछ वर्ष तक चालू रख कर हरिजनों के पानी का प्रश्न कुछ हद तक बापा ने हल किया।

१९३५ के साल में हरिजन कार्य की काफी प्रगति हुई। गांधीजी और ठक्करबापा के सतत प्रवासों और प्रयत्नों के कारण अस्पृश्यता निवारण तथा हरिजन सेवा का कार्य काफी आगे बढ़ा। दो वर्ष में भिन्न-भिन्न प्रान्त और खास तौर पर दक्षिण में काफी संख्या में हरिजनों के लिए मन्दिर खुलने लगे। परन्तु १९३६ में त्रावणकोर राज्य ने हरिजनों के लिए राज्य के तमाम मन्दिर खोल देने की जो घोषणा प्रकाशित की, उसने अस्पृश्यता निवारण के काम को जबरदस्त वेग दिया। दक्षिण में अस्पृश्यता का किला बड़ा मजबूत होने पर भी उसमें इससे बड़ी दरार पड़ गई। इन वर्षों में बापा ने भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक हरिजन कार्य के संगठन के लिए और अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन के लिए सख्त और सतत प्रवास किए थे। १९३५ में गुजरात का दौरा करके उन्होंने अपने अनुभवों और इकट्ठे किए हुए ब्योरों की एक लेखमाला लिखी। इसी तरह दक्षिण भारत में १९३५ के फरवरी से एप्रिल तक प्रवास करके मद्रास प्रान्त के अधिकांश मार्गों में दौरा किया और वहाँ के हरिजन कार्य को अधिक संगठित किया। उसके बाद उन्होंने अक्तूबर से दिसम्बर तक कलकत्ता और आसाम का प्रवास किया। इस बार के दौरे में उन्होंने आसाम के हरिजनों की संख्या उनके नाम पटनी, जोगी, माली, केवट, सूत्रधार, ढेली, मोची, महार, मेहतर, वगैरः अलग-अलग जातियों, उनकी आर्थिक और सामाजिक दोनों प्रकार की स्थितियों, हरिजन होने के कारण सवर्णों की तरफ से और दूसरी तरह उठानी पड़ रही परेशानियों और मुश्किलों आदि के तथ्य इकट्ठे करके उनका वर्णन "आसाम की हरिजन यात्रा" शीर्षक से "हरिजन बन्धु" में दिया। इस लेख के शुरू में उन्होंने दौरे का ब्योरा देते हुए बताया :—

"आसाम प्रान्त में छठी बार यात्रा करके अभी लौटा हूँ। इस बार तो पूरा एक मास वहाँ के अलग-अलग जिलों के दौरे में लगाया। पहाड़ी जातियों का अध्ययन करने, जल प्रलय के कष्ट में राहत पहुँचाने का काम करने, हरिजन कार्य की देखरेख और व्यवस्था करने या गांधीजी की हरिजन यात्रा की जमादारी करने के लिए और दूसरे अलग-अलग कारणों से पिछले नौ वर्ष में मैंने इस प्रान्त में ६ बार सफर किया है। इसलिए इस प्रांत पर मेरी ममता बढ़ती गई है।"

इस प्रान्त के हरिजनों की स्थिति का ब्योरा देकर आगे लिखा :—"आसाम की कुल आबादी ९२।। लाख है। उसमें ५२ लाख हिन्दू, २८ लाख मुसलमान, १० लाख एनिमिस्ट और ढाई लाख ईसाई हैं। इस में हरिजनों की कुल आबादी २८.७ फी सदी है और हिन्दू धर्मावलंबियों के लोग ५० प्रतिशत से अधिक हैं। प्रत्येक सवर्ण के साथ एक-एक अवर्ण है; यह स्थिति कैसे सहन की जा सकती है? इसलिए आसाम के अवर्णों को ऊँचा उठाने के लिए भगीरथ प्रयत्न करने की आवश्यकता है। किसी भी प्रान्त में हरिजनों का इतना भारी अनुपात नहीं है। और फिर आसामी भाइयों की दूसरे प्रान्तों से आए हरिजनों के प्रति जितनी लापरवाही है उतनी और कहीं नहीं पायी जाती। यह स्थिति सुधारने के लिए बहुत बड़ा प्रयत्न करने की जरूरत है। इसमें समस्त भारत के नेता साथ दें, यह जरूरी है। क्या ठेठ पूर्वी कोने में पड़े हुए आसाम की पुकार सुनी जाएगी?"

२८ अक्तूबर, १९३५ से १४ नवम्बर, १९३६ तक की उनकी डायरी के अन्त में इस अर्से में उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न भागों में कितना दौरा किया और संघ के दिल्ली कार्यालय में कितने दिन बिताए, इसका हिसाब लगाया गया है। उसके आंकड़े बताते हैं कि इन ३८४ दिनों में उन्होंने १६२।। दिन मुख्य केन्द्र दिल्ली में और २२१।। दिन दौरे में गुजारे थे। और उनमें आसाम, बंगाल, वर्धा, बम्बई, दाहौद, आगरा, नागपुर, काश्मीर, जम्मू, पंजाब, सिन्ध, गढ़वाल, राजपूताना, कानपुर, पूना, भड़ौंच, अलमोड़ा, दक्षिण हैदराबाद, केरल और उड़ीसा के कुछ भागों में भ्रमण किया और हरिजन सेवा के कार्य को वेग दिया था।

१९३७ में कांग्रेस के पदग्रहण करने का निश्चय करने के बाद कुछ प्रान्तों में जब कांग्रेस सरकार सत्तारूढ़ हुई, तब अस्पृश्यता निवारण और हरिजन सेवा के कार्य को काफी सहारा मिला। ठक्करबापा ने इस वर्ष में भी अलग-अलग प्रान्तों का दौरा किया। वे कांग्रेसी मंत्रियों से मिले, उनके सामने हरिजन सेवा की विस्तृत योजना, दुःख और आपदाओं का वर्णन किया था। ठक्करबापा ने उनका सारा वक्तव्य और उनके हर मुद्दे का विवरण "हरिजन बन्धु" के २४-१०-३७ के अंक में "ओखा मंडल के हरिजन" शीर्षक से दिया था।

हरिजनों के लिए मन्दिर प्रवेश की मनाही कर दी गई है, इसप्रकार के वक्तव्य में की गई शिकायत के सम्बन्ध में बापा ने लिखा :—

"सनातनी लोगों में अभी तक एक ऐसा वर्ग मौजूद है, जो हरिजन सेवकों अर्थात् हरिजनों को सुविधाएँ दिलवाने की कोशिश करनेवालों के लिए भी मन्दिरों के द्वारा बन्द कराता है। तब हरिजनों की तो बात ही क्या की जाए ? · · · बड़ौदा सरकार ने राज्य के मन्दिर हरिजनों के लिए कभी के खोल दिए हैं। यह द्वारकाधीश का मन्दिर राज्य का नहीं, राज्याश्रित है, परन्तु हरिजन सेवकों के लिए अभी मनाही हुई है। इसका परिणाम भी अच्छा होगा।"

उनकी बेगार और मार सम्बन्धी शिकायत का अंश उद्धृत करके बापा ने टीका करते हुए लिखा कि, "बेगार का कष्ट हरिजनों को भारत के किस भाग में नहीं है ? ताजीरात हिन्द की ३७४वीं धारा ७५ वर्ष से लागू है। वह ऐसी लगती है कि मानो बेगार करनेवालों का उपहास करने को बनाई गई। मुफ्त बेगार कराने के अलावा गालियाँ और मार पड़ने के उदाहरण तो अनेक स्थानों में मिलते हैं। इस मार से हरिजनों के मर जाने की मिसालें भी मिलती हैं। यह स्थिति भगवान कब सुधारेगा ? इस प्रश्न का उत्तर जो मुझे सूझता है, वह यह है कि हरिजन हिम्मत करके अदालत में बेगार करानेवालों पर मुकदमा चलाएं और सब मजिस्ट्रेट भी भगवान का डर रख कर कानून के अनुसार ३७४वीं धारा पर पूरी तरह अमल करके बेगार कराने-वाले को पूरे बारह मास की जेल यात्रा कराएँ।"

अपने वक्तव्य में गोमती स्नान के लिए नियत हरिजन घाट का वर्णन करके हरिजनों ने बताया था कि "इस घाट पर ऊँची जाति के कम से कम हजार आठ सौ आदमी रोज टट्टी जाते हैं।" इस पर टीका करते हुए बापा ने अपने हृदय का दुःख उड़ेल कर लिखा कि "हरिजनों के लिए अलग-अलग रखे गए गोमती तीर्थ की यह भयंकर दशा मैं स्वयं नहीं देख सका था। परन्तु द्वारका के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं द्वारा अस्पृश्यता मिटाने के लिए सब क्षेत्रों से कैसे लड़ा जाए और उसमें सरकार किस प्रकार मदद दे, इस बारे में उनसे विस्तृत चर्चा की। अस्पृश्यता मिटाने और हरिजनों को आगे बढ़ाने की बात तो कांग्रेस के संविधान में ही थी। इससे प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की तत्परता और बापा का इस क्षेत्र का अनुभव और ज्ञान वगैरः बातें इकट्ठी हो गईं। इसलिए हरिजन काम बड़ी तेजी से आगे बढ़ने लगा। सरकार और संघ दोनों का हेतु हरिजनों की शिक्षा की दृष्टि से अधिक उन्नतिशील और प्रगतिशील बनाना और सरकारी नौकरियों में उन्हें काफी हिस्सा दिलवाना था। दोनों की मिली जुली कोशिश से इस दिशा में काफी काम हुआ। हरिजनों के लिए साधारण शिक्षा पर होने वाले खर्च के अलावा प्रत्येक राज्य ने हरिजनों की शिक्षा और दूसरे कल्याण कार्य के लिए अलग रकम का प्रबन्ध किया। बम्बई राज्य में १९३७-३८ में ५६,००० रुपए की रकम

की व्यवस्था की गई थी जो बढ़कर १६३६-४० में १,६१,००० रुपए तक पहुँच गई। मद्रास में १६३७-३८ में ७,१७,८७२ रुपए १६३८-३६ में ७,७८,७६४ रुपए और १६३६-४० में ८,४६,०२२ रुपए हरिजनोंकी शिक्षा के लिए खर्च किए गए। इसप्रकार हरिजन सेवक संघ के प्रचार से और सरकार की मदद से प्रत्येक प्रान्त में नई-नई पाठशालाएँ खुलीं। इसके अलावा सरकारी स्कूल व कालिजों में हरिजनों को बिना रुकावट के प्रवेश मिलने की सुविधा पैदा की गई। साथ ही कुछ स्थानों पर हरिजनों द्वारा कुएँ, तालाब, और रास्ते वगैरः के उपयोग के विरुद्ध सवर्णों ने जो रुकावट पैदा की थीं, उसे भी कानून की सहायता से दूर करने की कोशिश की गई। इन सब कामों के लिए बापा ने सारे हिन्दुस्तान में जगह-जगह एक से अधिक बार दौरा किया और भिन्न-भिन्न राज्यों में शासनकर्ताओं के साथ लम्बी चर्चा करके हरिजनों के कष्ट दूर करने का प्रयत्न किया।

लोगों में अस्पृश्यता की भावना कहाँ तक घर कर चुकी थी, इसका अंदाज भी बापा को अलग-अलग समय अलग-अलग प्रदेशों में किए गए प्रयास में मिलता था। १६३७ के अक्टूबर में बापा श्री रामेश्वरी नेहरू, श्री छगनलाल जोशी के साथ सौराष्ट्र के दौरे पर निकले थे। उस समय द्वारका में सवर्णों की ओर से खूब विरोध किया गया था। हरिजनों के लिए तो रोक थी मगर श्री ठक्कर बापा और रामेश्वरी नेहरू जैसे सवर्ण जाति के नेताओं को भी द्वारकाधीश के मंदिर में जाने से वहाँ के पण्डों ने रोक दिया था। इस सम्बन्ध में बहुत ही बड़ा उहापोह हुआ था। बापा और श्रीमती रामेश्वरी नेहरू ने द्वारका और ओखा में वहाँ के हरिजनों की स्थिति के बारे में तथ्य जुटाए। वहाँ के कुछ पढ़े-लिखे हरिजनों ने उन्हें एक लिखित वक्तव्य भी दिया था। उसमें उन्होंने होनेवाली असुविधाएँ, जैसे कि बेगार, मार, मन्दिर प्रवेश निषेध, अंग्रेजी पढ़ाई की मनाही, गोमती स्नान के लिए नियत सवर्णों के टट्टी जाने की खुली और गंदी जगह आदि के भयंकर वर्णन भरी सभा में दिए। और कहा कि निर्लज्ज बन कर गलियों में टट्टी बैठने की स्थिति तो सुबह सात बजे मैंने खुद घूम कर देखी। मांडवी—कच्छ, में भी यही स्थिति अभी तक बनी हुई है व अधिकांश गाँवों में यह रिवाज थी। परन्तु मांडवी और द्वारका में वह अब तक जरा भी कम नहीं हुयी और न पाखाने का प्रयत्न हुआ। यह कितनी शर्म की बात है।

"भंगियों की सुविधा का थोड़ा भी विचार किए बिना हमारे शहरी लोग पाखाने बनाते हैं। हम चाहें जैसी गंदी कर दें, डब्बे भी न रखें, धोने की सुविधा भी भंगी को न दें, तो भी उसे साफ तो करना ही पड़ता है। और यहाँ तो शहर की गली-गली में खुले पाखाने होते हैं। इसलिए बेचारे भंगी का दम ही निकल जाता है। साथ ही गायकवाड़ राज्य में अदालत के दरवाजे में उन्हें घुसने न दिया जाए और स्कूल के कमरे में अलग बिठाया जाए, यह तो आश्चर्य की बात कही जाएगी।"

वक्तव्य देने वाले हरिजन भाइयों को आश्वासन देते हुए बापा ने लेख के अन्त में बताया कि "प्रगति के मार्ग में अग्रसर हुए लोगों को इस परीक्षा में पास होना ही पड़ेगा। परन्तु जहाँ शक्ति और उत्साह न हो, वहाँ ऐसे विघ्न आने पर मार्ग अधिक बिकट लगना स्वाभाविक है। जहाँ अपनी स्थिति का सच्चा भान नहीं हुआ हो, वहाँ परिस्थिति की यह विषमता मालूम नहीं होती। परन्तु परीक्षा में तो उत्तीर्ण होना ही पड़ेगा और उसमें हिम्मत खो देने से आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

१६३८ का वर्ष हरिजन यात्रा में बिताने के सिवा बापा ने जनसेवा की विविध प्रवृत्तियाँ हाथ में लीं। इस वर्ष में मध्य प्रान्त और बरार की सरकार द्वारा म्युनिसिपैलिटी के भंगियों की स्थिति की जाँच करने के लिए नियुक्त जाँच समिति के अध्यक्ष के तौर पर उन्होंने काम किया। उसमें भंगियों की स्थिति के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी और आँकड़े इकट्ठे करके उनकी आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी स्थिति सुधारने के लिए बापा ने निश्चित सिफारिशें कीं। उसी साल बापा को उड़ीसा प्रान्त की सरकार ने पृथक् एरिया की जाँच समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया। हरिजन सेवा के सिलसिले में बापा ने उड़ीसा, मध्य भारत के देशी

राज्य और दक्षिण राजपूताने के राज्यों में प्रवास किया। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में जल-संकट का सामना करने के लिए कष्ट निवारण कार्य का संगठन किया।

१९३९ में गांधीजी के कहने और बम्बई सरकार के सुझाव पर बापा ने पश्चिम खानदेश के आदिवासियों के लिए कल्याण केन्द्र जारी कराए और उनके द्वारा भील-सेवा का काम आगे बढ़ाया। इसीके साथ अन्य प्रान्तों के आदिवासियों की सेवा की ओर उन्होंने ध्यान दिया। उड़ीसा के देशी राज्यों में धनकेनाल और तालचेर में जब राज्य-सत्ता का जुल्म बढ़ गया और कुछ लोग हिजरत करके उड़ीसा प्रान्त के इलाके में चले आए, तब बापा ने इन दुःखी निर्वासितों और हिजरातियों के लिए कष्ट निवारण केन्द्र स्थापित करके अन्न और आश्रय की तत्काल व्यवस्था कर दी।

१९३९ में महायुद्ध की नीति के कारण कांग्रेस सरकारों ने इस्तीफे दे दिए। इससे हरिजन उद्धार के लिए कांग्रेस सरकारों ने हरिजनों को कानून की, सरकारी नौकरियों की, शिक्षा की और अन्य जो सुविधाएँ कर दी थीं, उन्हें काफी धक्का पहुँचा। परन्तु हरिजन सेवक संघ का काम तो चलता ही रहा। उसी वर्ष में बापा ने जीवन के सत्तर वर्ष पूरे किए। सारे देश ने उनकी सुवर्ण जयन्ती मनायी।

**

'एक लोक-कल्याण राज्य में सब के न्याय के लिए संयोजित अर्थ-व्यवस्था का निर्माण और विकास होना चाहिए। बिना आर्थिक समानता के प्रभावशाली राजनीतिक लोकतंत्रता का प्राप्त करना संभव नहीं है। एक क्षुधा पीड़ित व्यक्ति और पीड़ित समाज के लिए स्वतंत्रता का क्या अर्थ है? वह स्वतंत्रता को न खा सकता है और न पी सकता है।'

— हॉवसन

आचार्य विनोबा भावे

भारत भूमि ऋषियों की भूमि है। आज हमारे मध्य में महात्मा गांधी नहीं हैं, तो उनके स्थान पर आचार्य विनोबा हमारा नेतृत्व कर रहे हैं। आज के समाज में सम्पत्ति में छोटे-बड़े भेद मिटा कर वे नए समाज की रचना करने के लिए देश में क्रान्ति पैदा कर रहे हैं। विनोबा ने जो हरिजन सेवा की है, वहाँ तक कोई सुधारक या यह कहिए कि कोई हरिजन नेता तक नहीं पहुँच सका। मदान म जो लोग टट्टियाँ जाते, विनोबा अपने हाथ से साफ करते। तेलांगाना के हरिजनों के प्रति की गयी उनकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहगी।

यहाँ हम विनोबा के कुछ विचार प्रकट करते हैं :—

प्रश्न : समाज में लोग हरिजनों को अलग रखते हैं, होटलों में भी नहीं आने देते, तो क्या किया जाए?

विनोबा : उनको नहीं आने देते तो दूसरे लोग उनमें न जाएँ। यही उसका हल है। वे लोग कहें कि, मैं भूखा हूँ, इसलिए मैं आपकी दूकान में आता हूँ। मेरे जैसा वह भी भूखा है, लेकिन उस भूखे को आप खिलाते नहीं हो। मुझे भी तो भूख है, आप भूखे को खिलाते नहीं हैं, तो उसे क्यों आना चाहिए। कुएँ पर पानी भरने नहीं देते, तो दूसरे लोग भी न जाएँ। पानी न पिएँ। संन्यासी, हरिजन सेवक संघ के कार्यकर्ता भी उस कुएँ पर न जाएँ। जब तक आपको पानी नहीं मिलता, तब तक वह पानी नहीं पिएगा। स्वामी को मरने दो बिना पानी के, फिर देखो, एक स्वामी के बलिदान से कल दस कुएँ खुल जाएँगे।

प्रश्न : शहरों में भंगी काम करनेवाले ज्यादातर हरिजन हैं, उस प्रथा को मिटाने के लिए क्या किया जाए?

विनोबा : गांधीजी के मरने के पहले मैं एक गाँव में भंगी का काम करता था। रोज घंटा-डेढ़ घंटा काम करता था। पहले लोग रास्ते पर बैठते थे, वहाँ मिट्टी डाल कर फिर वह फावड़े से उठा कर खेत में डालता था और उसको मिट्टी से ढक देता था। रोज यह काम चलता था। फिर गाँव के लोग भी मदद में आने लगे। लेकिन एक दिन मैं उस गाँव में गया और देखा कि गाँव बिल्कुल साफ है। मैंने गाँववालों से पूछा, कि अरे फसल क्यों नहीं आयी। लोगों ने उत्तर दिया : आज गणेश चतुर्थी का दिन है, तो गाँव वालों ने सोचा कि आज गणेश के दिन बाबा को काम नहीं करने देंगे। इतना परिवर्तन बाद में हो गया था। काम चला तो परिणाम यह हुआ कि लोग फिर पैखाने में जाकर बैठने लगे और मिट्टी डालने लगे। लोगों में सुधार होने लगा।

यदि हम भंगी का काम मिटाना चाहते हैं, तो युवकों को सामने आना चाहिए और इस काम को उठाना चाहिए। पैखानों में सुधार करने होंगे। यदि अच्छे पढ़े-लिखे लोग यह काम करने लगेंगे तो सरकार को पैखाने की पद्धति में सुधार करना पड़ेगा और वह करेगी। बड़े-बड़े शहरों में मेहतर पैखाना नहीं उठाते हैं। इस विषय में दूसरा काम हमको यह करना है। आज जो भंगी का काम करते हैं, उनके बच्चों को भंगी के काम करने की मनाही होनी चाहिए। सरकार का उस तरह का कानून होना चाहिए। अर्थात् ऐसा लोकमत तैयार करना पड़ेगा। उनके बच्चों को दूसरे धंधे सिखाने चाहिएं। उनकी शिक्षा की व्यवस्था की जाए। उन्हें वेद, उपनिषद् पढ़ाना होगा। इसतरह उनको नया धंधा और आध्यात्म विद्या सिखानी होगी और तब इस धंधे से उनकी मुक्ति होगी।

श्री निवास गुप्त

•

शिवनारायण स्वामी

श्री रामानन्ददास, एम० पी०

शिवनारायण सन्त सम्प्रदाय की स्थापना शिवनारायण स्वामी ने की थी, जो लगभग १६१० में, बलिया जिले के एक राजपूत परिवार में पैदा हुए थे। कहते हैं कि सम्राट् मुहम्मदशाह उनके मतावलम्बी बन गए थे और बलीअल्ला, अबरू और नाजी जैसे शायर उनकी आध्यात्मिक साधना को बड़ी श्रद्धा की नजर से देखते थे। श्री शिवनारायण स्वामी विशुद्ध अद्वैतवादी थे और मूर्त्ति पूजा के प्रबल विरोधी थे। वे ईश्वर को निराकार और निर्गुण मानते थे। वे एकनिष्ठ भक्ति, जीवन की विशुद्धता, आत्म संयम और मानव प्रेम की शिक्षा देते थे। जिस सम्प्रदाय की स्थापना उन्होंने की, उसके द्वारा सभी मतों और जातियों के लोगों के लिए द्वार खुले हुए थे और वे चाहते थे कि सभी मतों के माननेवाले मिल कर एक विश्व धर्म का निर्माण करें। उनके ग्रन्थों में इस पर जोर दिया गया है कि यह संसार दुःखमय है, यह 'काल देश' है, और मानव चेष्टा का एकमात्र ध्येय होना चाहिए 'काल देश' से क्रमशः 'सन्त देश' की ओर अग्रसर होना, जहाँ परमानन्द की प्राप्ति है। उनकी भाषा, उस युग के अन्य सन्तों की भाषा की तरह प्रतीकात्मक है। हो सकता है कि 'काल देश' द्वैत अर्थात् विश्वात्मा से मानवात्मा के पृथकत्व का प्रतीक हो और 'सन्त देश' अद्वैत अर्थात् उसके एकीकरण का। यह सम्प्रदाय मनुष्य शरीर, पदार्थ और भौतिक विश्व को अपवित्र और पापमय तो मानता है, किन्तु त्याग की शिक्षा न देकर चालीस विकारों की परिशुद्धि और 'हुकुम नामा' में वर्णित चालीस आदेशों के पालन के द्वारा आत्म शुद्धि पर जोर देता है। श्री शिवनारायण स्वामी की मुख्य पुस्तकें हैं :— "गुरु अन्यास" या "ज्ञान दीपक" "सन्त विलास", "सन्त आखीर", "रूपसारी", "सन्त महिमा", "लौ परवाना", "सन्त उपदेश", "सन्त विचार", "शब्दावली", और "हुकुमनामा"। इनमें से प्रथम दो बहुत पवित्र माने जाते हैं तथा विधिवत पूज्य हैं, और उनका वर्णित विषय है—'मानवात्मा का अनादि से एकात्म्य की चाह।' "सन्त अखीर", "सूरत शब्द योग" का वर्णन है, जो कबीर द्वारा प्रसिद्ध की हुई साधना का एक प्रकार है। अन्य सन्त सम्प्रदायों की तरह ही यह सम्प्रदाय भी प्रारम्भ में हिन्दू कट्टरता के प्रति एक विद्रोह था। हम स्पष्ट पाते हैं कि इसमें प्राचीन और मध्ययुग की हिन्दू विचारधारा के चिह्न हैं और इसकी जड़ें समन्वित हिन्दू संस्कृति और परम्परा में समाहित हैं। इस्लाम का भी इस पर असर है, लेकिन वह उतना स्पष्ट नहीं। इस प्रकार के सैकड़ों सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय मिलेंगे, जिनके विश्वास, कर्मकाण्ड, विधि निषेध आदि भिन्न-भिन्न हैं। साधारणतः इन भिन्नताओं की उत्पत्ति सामुदायिक विशेषताओं में मानी जाती हैं, किन्तु विशेष विश्लेषण करने पर हिन्दू धर्म से इनका घना सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

सन्त सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदायों की आवश्यकता कब और कैसे पड़ी ? क्यों सभी सन्त सम्प्रदायों में संन्यास पर ज्यादा जोर दिया गया है ? क्या संन्यास की भावना जो हिन्दू धर्म की विशेषता है, केवल सन्त सम्प्रदाय में ही है ? क्या संन्यास और स्वर्ग की धारणा उन दिनों की सामाजिक और आर्थिक स्थितियों का परिणाम है ? ऐसा क्यों हुआ कि हिन्दू धर्म के सुधार आन्दोलन भिन्न-भिन्न दलों में बँटने के बदले धीरे-धीरे हिन्दू धर्म में ही खप गए ? जब हम हिन्दू धर्म के इस तेजी से बदलते हुए रूप की ओर ध्यान देते हैं और पाते

हैं कि इसकी जानकारी प्राप्त करने के सिलसिले में चारों ओर चक्कर काट कर वहीं पहुँच गए हैं जहाँ से रवाना हुए थे, तो हमारे दिमाग में इसतरह के प्रश्न अवश्य उठते हैं।

रविदास या रैंदास थे जाति के चमार, पर उनका धार्मिक जीवन बड़ा ऊँचा और गम्भीर था। कहते हैं कि चित्तौड़ की महारानी उन्हीं की शिष्या थी और मीराबाई ने भी उन्हीं की देख-रेख में अपना आध्यात्मिक शिष्यत्व पूरा किया था। सिक्खों के ग्रन्थ साहब में रविदास के तीस पद हैं। कबीर ने भी उनके प्रति बड़ा आदरभाव दिखलाया है। रविदास एकमात्र निस्सीम ईश्वर के पुजारी थे, जो सब धर्मों और मतों से परे हैं और आदि अन्त से रहित है। कबीर की तरह ही उन्होंने भी उपदेश दिया कि ईश्वर अपने भक्तों के हृदय म निवास करता है और उसे संस्कारों और धार्मिक विधियों द्वारा नहीं पाया जा सकता। वह उसीको मिलेगा जिसने दैवी प्रेम के दर्द को पहचाना है। रविदास के कथनानुसार सब से बड़ा धर्म है मनुष्य की सेवा। जिस अष्टांग साधना अथवा आठ मार्गों का प्रतिपादन उन्होंने किया वे आध्यात्मिक जीवन के सरल नियम मात्र हैं, जिन पर आचरण कर गृहस्थ भी परम ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं। रविदास के चरणों की धूलि अपने सिर पर रखने में ब्राह्मण तक पुण्य मानते थे। पर रविदास ने अपना खान्दानी पेशा नहीं छोड़ा।

परन्तु रामानन्द ही ऐसे धर्म प्रवर्त्तक हुए जिन्होंने उत्तरी भारत के चिन्तन और ज्ञान के दर्शन तथा दक्षिण भारत और महाराष्ट्र के सम्पूर्ण आत्म समर्पण, प्रपत्ति अथवा भक्ति सम्प्रदाय का समन्वय किया और उसे रामभक्ति का जनप्रिय रूप देकर प्रचारित किया। लेकिन उनके राम वेदान्त के निरपेक्ष ब्रह्म नहीं, बल्कि किसी भी अपूर्णता से रहित, प्रेम और दया के भगवान हैं जो सभी हृदयों के प्रियपात्र, सखा और स्वामी हैं। कहते हैं कि उनके बारह शिष्य—जिनमें मुख्य हैं, रविदास जो चमार थे, कबीर जो जुलाहा थे, धन्ना जो जाट किसान थे, और सेन जो हजाम थे ; इस्लाम के आगमन से जो संकट उत्पन्न हो गया था और हिन्दू समाज छिन्न-भिन्न होने जा रहा था, उसका सामना उन्होंने प्रेम, दया और समता का सन्देश देकर किया। वैष्णवों में उच्च स्थान के अधिकारी होकर भी, उन्होंने अपनी आत्मा की पुकार सुन कर उस उच्च पद का त्याग किया।

अन्य सन्तों की तरह कबीर की शब्दावली भी बड़ी प्रतीकात्मक है। वैसे देखने में उसमें साधारण दुनियादारी और छोटी-छोटी बातों का उल्लेख है, परन्तु वस्तुतः इन्हीं के सहारे उसमें विश्वविद्या, सत्य निरूपण, साधना आदि निगूढ़ विषयों की चर्चा है और मानव प्रयत्नों की वांछित दिशा का संकेत है। उन्होंने समाधि के कुण्डलिनी योग का "सूरत शब्द जोग" का विस्तृत वर्णन किया है। "सूरत" जीवात्मा का शुद्ध रूप है जिससे सत्य या तत्व का बोध होता है। परन्तु इसके चारों ओर इन्द्रिय विषयक दैहिक इच्छाओं के बादल छाए हुए हैं और "सूरत" उसमें बन्दी है। कभी-कभी आध्यात्मिक आनन्द के क्षणों में ये बादल थोड़ी देर के लिए फट जाते हैं और तब "सूरत" को "अनहद शब्द" या अपने अन्तर का प्रवाहमान कर विश्व संगीत सुनायी पड़ता है। "योग का उद्देश्य", "सूरत" और "अनहद नाद" को मिलाना है, परन्तु कबीर ने योग का यह रूप साधारण लोगों के लिए नहीं बतलाया। उनके लिए उन्होंने सहज मार्ग निर्दिष्ट किया।

गुरु नानक जिस क्षेत्र के निवासी थे, वहाँ की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति भिन्न थी। वहाँ सब से मुख्य आवश्यकता इस्लाम और हिन्दू धर्म के समन्वय की थी। यद्यपि गुरु नानक के दार्शनिक विचारों और हिन्दुओं के बहु ईश्वरवाद में नाममात्र का भेद था, उन्होंने बहुत से मुसलमानी सिद्धान्त भी ग्रहण कर लिए थे। हिन्दू परम्परा और संस्कार के बन्धनों से वे इतने मुक्त थे कि उन्होंने अपने अनुयायियों को मूर्ति पूजा और हिन्दुओं के धार्मिक कर्मकाण्डों से रोक दिया। मुसलमान तो मुसलमान बल्कि किसी भी मत के लोग उसके सम्प्रदाय को अंगीकार कर सकते थे। सिक्ख मत में सच्चा बन्धुत्व था और वह परम्परागत जाति भावनाओं से मुक्त था।

गुरु नानक मुख्यतः कबीर से ही प्रेरित हुए थे। वे अधिक अच्छे संगठनकर्ता थे। उन्होंने अपने मत के सम्यक् विकास के निरीक्षण के लिए धार्मिक संस्थाएँ स्थापित कीं। उन्होंने मन, वचन और कर्म में

एकता पर जोर दिया। उनके अनुसार गृहस्थ वह है जिसमें ब्राह्मणों का ज्ञान, क्षत्रियों का पराक्रम, वैश्यों की व्यवहार बुद्धि और शूद्रों का सेवाभाव हो। उन्होंने बतलाया कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मार्ग भिन्न-भिन्न नहीं हैं, बल्कि सबों के लिए एक ही गति है। उन्होंने बहुत से स्तुति ग्रन्थों की रचना की जिनमें "जप जी" और "आशादीबार" मुख्य हैं। हिन्दुओं में गीता का जो स्थान है, सिक्खों में वही स्थान "जप जी" का है। यद्यपि ईश्वर के बारे में गुरु नानक की कल्पना बहु-ईश्वरवाद की है, पर उसमें एकेश्वरवाद के भी बहुत से तत्व हैं। वे कहते हैं—"ईश्वर एक मात्र सर्वोच्च सत्ता है, जो भय, द्वेष रहित स्रष्टा, अमर, अजात और स्वतः स्थित है। और अपनी ही दया से दिव्य प्रकाश देने वाला है। अपनी इच्छा से उसने अवतारों की रचना की है। माया, संसार और ब्रह्म, जो सृष्टि के कारण हैं, सो सब वही हैं। वह स्वयं ही सत्यम्, सुन्दरम् और हृदय की शाश्वत कल्याणकारी वृत्ति है। प्रारम्भ में ईश्वर से वायु उत्पन्न हुआ, वायु से जल, और जल से विश्व तथा विश्व में विश्वात्मा की प्रेरणा से जीव बने।" नानक के विकासवाद से हमारा जो भी मतभेद हो, उनका एकेश्वरवाद कुछ-कुछ रहस्यवादी बँधी स्थापनाओं की अपेक्षा अधिक सुसंगत है, यद्यपि वह कुछ-कुछ रहस्यवादी होते हुए भी गुरु नानक ने बताया कि धर्म का मार्ग पाने के लिए विश्व की अपवित्रताओं के मध्य पवित्र बन कर रहो। पवित्र वह है जो हृदय मन्दिर में ईश्वर को स्थापित रखता है और जो ईश्वर से प्रेम करता है, वह सबों से प्रेम रखता है और प्रेम का अर्थ है सेवा।

इन मतों की स्थापना उन मुक्त मानव आत्माओं द्वारा हुई जिसका दृष्टिकोण सब बातों को यथातथ्य स्वीकार कर लेने का नहीं था, जो वेदों और शास्त्रों को अन्तिम वाक्य नहीं मानते थे, जो गुरु की, पूसेज आत्मज्ञान प्राप्त कर हो चुका हो, किन्तु अपने प्रयत्नों द्वारा, सत्य का दर्शन अथवा अनुभव करना चाहते थे। यह प्रवृत्ति मूलतः हठधर्मिता की थी, क्योंकि आत्मज्ञान का सिद्धान्त, धर्म और आध्यात्मवाद पर ब्राह्मणवाद के एकाधिपत्य के प्रति विद्रोह व्यक्त करता था। सन्तों नें विद्वेषजनक और अन्यायपूर्ण वर्ण व्यवस्था के प्रति विरोध का नेतृत्व किया। इनमें बहुतों के सम्प्रदाय में दीक्षित होने की जो विधियाँ थीं, वें वर्ण व्यवस्था को चुनौती देती थीं। शिवनारायणणी मत के दीक्षार्थियों को अन्य उपस्थित लोगों के काटे हुए पान का बीड़ा खाना पड़ता तथा सम्मिलित थाली में भोजन करना पड़ता। स्वामी मत में एक ही थाली में खाने का रिवाज था और इसके अनुयायियों में बहुतसे मुसलमान भी थे। सन्तों का भक्ति मत भी देवताओं या ईश्वर को प्रसन्न करन का प्रयत्न नहीं था, बल्कि द्वैत के निराकरण का साधन था। इससे भी ब्राह्मणवाद पर आघात पहुँचा।

उच्च वर्ण के हिन्दू, मुसलमान विजेताओं से मिल गए थे और उनके संयुक्त शोषण का पूरा भार निम्न वर्गीय जातियों और समुदायों के लोगों पर पड़ता था, जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े और दबे हुए थे। इसी निराशा और अन्धकारपूर्ण स्थिति के कारण ये सन्त सम्प्रदाय फैलें। बाहरी अभावों पर विजय प्राप्त करने का साधन तो उनके पास नहीं था अस्तु उनका ध्यान आन्तरिक विजय की ओर केन्द्रित हुआ। अपने सन्तों की पुस्तकों के प्रति इन मतावलम्बियों के अतिशय सम्मान भाव, उनके रहस्यमय रिवाज, औरों से गुप्तता और दुराव रखने की वृत्ति, ये सभी ब्राह्मणीय सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध उनके दिल में जमी हुई कटुता को ही प्रतिविम्बित करते हैं। सामाजिक दृष्टि से जो दलित थें उनकी चेतना मे यह भावना आ गयी थी कि "ब्राह्मणो, तुम हमें नीच और अपवित्र मानते हो तुम हमें वदों के ज्ञान से वंचित रखते हो, तीर्थों में हमें जाने नहीं देते, मन्दिरों के दरवाजे हमारे लिए बन्द कर देते हो तुम्हे अपने धर्म और ईश्वर पर नाज है। ठीक है। तुम्हारे दिल में जो आए, करो। हम चले अपना दूसरा ईश्वर ढूंढ़ने। वह तुम्हारे ईश्वर से न नेकी में कम है, न शक्ति में, न रहस्यमयता में। अब हमारे अपने मन्दिर होंगे, अपने तीर्थ स्थान। हमारे अपने ग्रन्थ होंगे, धर्म ग्रन्थ होंगे। वे तुम्हारे उत्तमोत्तम धर्म ग्रन्थों की बराबरी करेंगे और सब से बड़ी बात तो यह है कि तुम ईश्वर और मनुष्य के बीच मध्यस्थ बन कर हमारी तरफ से कुछ नहीं कहते और हमेशा उन कुलीनों का साथ देते हो। रखो यह पुरोहिती को अपने घर! हमें मनुष्य और भगवान

के बीच तुम्हारी मध्यस्थता मंजूर नहीं।" इसप्रकार की भावना मुसलमानों की विजय के पश्चात् एक सामाजिक आवश्यकता में परिणत हो गयी थी। बहुत दूर तक सन्त सम्प्रदायों ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, भिन्न-भिन्न कालों में, उन सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के कारण, जो अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के निमित्त एक नया मार्ग ढूंढ़ रही थीं, इन मतों का प्रचार और प्रसार हुआ। क्षेत्रीय विशेषता, सामाजिक और आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक सांस्कृतिक गठन की भिन्नता के कारण, प्रत्येक सम्प्रदाय में अपनी एक विशिष्टता और आवश्यकता विशेष की पूर्ति का आग्रह तो था, परन्तु सब के अन्दर एक ही भावना काम कर रही थी, और वह थी ब्राह्मण पोषित शारीरिक और आत्मिक बन्धन, धर्मान्धता, खर्चीले क्रिया कर्म, पुरोहिती और असमानता से मुक्ति पाना। इस भावना से स्वभावतः अनेक उच्च विचार वाले ब्राह्मणों और क्षत्रियों को भी अपनी ओर आकर्षित किया और अन्य तथाकथित ऊँची जातियों के लोग भी इस ओर आकृष्ट हुए, लेकिन, बौद्धमत की तरह ही, जिन सामाजिक शक्तियों पर इन मतों का आधार था वे कमजोर और अपरिक्व थीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि कट्टर हिन्दू धर्म ने धीरे-धीरे इन्हें आत्मसात् कर लिया। दूसरी ओर जिन सन्तों के पीछे शक्तिशाली कारण थे, यथा सिक्ख धर्म, वे धीरे-धीरे हिन्दू धर्म से अलग जा पड़े और उनकी मौलिक ताजगी और ताकत में कमी नहीं आयी।

बहुत लोगों की धारणा है कि आधुनिकता के सहसा आघात से भारतीयों ने अपनी पुरानी मानसिक आदतें और धार्मिक वृत्तियाँ त्याग दी हैं। उनका विश्वास है कि भारतीय मानवता के विकास में, अपेक्षाकृत, अब धर्म का बहुत महत्व रह गया है। लेकिन यह धारणा भ्रामक है। अतीत काल में धर्म ही मुख्य स्रोत था, जिससे राष्ट्र की सक्रिय शक्ति प्रवाहित होती थी। आधुनिक युग में वही धारा अजस्र प्रवाहित हो रही है। अतीत से हमारा सम्पर्क टूट चुका है, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। अतीत काल में, भारत में सब प्रकार के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आन्दोलन हुए हैं, परन्तु देश के अन्तरतम को वे कभी भी स्पर्श नहीं कर सके। जितने भी जन आन्दोलन यहाँ हुए, वे एक नए धर्म, नए सत्य के नाम पर हुए और अगर ये नए आन्दोलन के परिणाम स्वरूप आज का भारत अपनी पूर्ण राजनीतिक ऊँचाई तक उठने में समर्थ हो सका है, तो उसका श्रेय भी रामानन्द, कबीर, नानक और चैतन्य की परम्परा के उस महान् सन्त महात्मा गांधी को है।

सन्तों ने लोगों का वर्ग विभाजन स्वीकार नहीं किया और प्रायः यही जोर दिया कि सबों के लिए मार्ग एक ही है। किन्तु उन्हें यह बात माननी ही पड़ी कि व्यक्तियों की प्रवृत्ति, प्रकृति और आध्यात्मिक विकास में भिन्नता है और सब का एक ही आध्यात्मिक मार्ग अनुसरण लाभप्रद करना नहीं हो सकता। अतः उन्हें व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न मानसिक क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन बतालाने पड़े।

सन्त मलूकदास एक खत्री परिवार में इलाहाबाद जिले के कड़ा ग्राम में पैदा हुए थे। इनकी रचनाओं की संख्या नौ मानी जाती हैं। मलूकदास ने "सतगुरु" को "ब्रह्म" के सदृश माना है और कभी-कभी "ब्रह्म" को इसी नाम से सम्बोधित किया है। सिक्खों के नवें गुरु, तेगबहादुर, सन्त मलूक से कड़ा में मिले थे और कहा जाता है कि औरंगजेब ने भी उनका सम्मान किया था। उन्होंने कभी अलग सम्प्रदाय स्थापित करने की चेष्टा नहीं की, किन्तु उनके शिष्यों ने इनका संदेश दूर-दूर तक फैलाया। इनके अनुयायी पुरी से लेकर मुल्तान तक सारे उत्तर भारत में पाए जाते हैं। सम्प्रदाय की मुख्य "गद्दियाँ" पुरी, इलाहाबाद, लखनऊ, मुल्तान, जयपुर, तथा वृन्दावन और गुजरात तथा नेपाल में भी हैं।

कहते हैं कि शिवनारायणी मत के संस्थापक, सन्त शिवनारायण ने इन्हीं मलूकदास के शिष्य सन्त दुखहरण से धार्मिक दीक्षा ली थी। सन्त दुखहरण एक कायस्थ परिवार के थे और जिस समय सन्त शिव-नारायण ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया, उस समय वे बलिया जिले के ससना बहादुरपुर ग्राम के निकट एक

जंगल में रहते थे। सन्त दुखहरण की दो रचनाएँ, "पुष्पावली" तथा "भक्तमाल" प्राप्य हैं। तथा उनसे पता चलता है कि सन्त परम्परा से वे पूर्णतः अभिज्ञ थे।

सन्त शिवनारायण का जन्म लगभग १७१० ई० में बलिया जिले के चन्दवार ग्राम में हुआ था। इनके पूर्वज कन्नौज से आए थे। ये क्षत्रिय थे और इनके पिता का नाम था बाघराय। चौबीस वर्ष की उम्र में ही इन्होंने ख्याति प्राप्त कर ली थी और दिल्ली के बादशाह, मुहम्मद शाह इनसे बहुत प्रभावित हुए थे।

सन्त शिवनारायण सात वर्ष की अवस्था में ही गुरु की खोज में घर से निकल पड़े थे। दूर-दूर तक इन्होंने यात्रा की थी और प्राणायाम तथा चिन्तन के द्वारा इन्हें दिव्य प्रकाश का दर्शन मिला था। इनके मुख्य शिष्यों में रामदास, सदाशिव, लखनराम गेन्दा आदि थे जिनकी उक्तियों का संग्रह शिवनारायणी सम्प्रदाय के एक ग्रन्थ "शब्दावली" में किया गया है। अनुयायियों में सभी धर्मों के लोग हैं और बलिया के कुछ ईसाई भी इस मत में दीक्षित हैं।

सम्प्रदाय के मुख्य मठ ससना बहादुर, मैलसरी, चन्दवार, मरसरा, पवरिया तथा मनियार में हैं तथा इसके मन्दिर कानपुर और बम्बई में भी हैं। कहते हैं कि इस मत के अनुयायी रंगून और कलकत्ता से लेकर लाहौर, करांची तथा पेशावर तक फैले हुए हैं। प्रारम्भिक अनुयायियों में तथाकथित उच्च जातीय हिन्दुओं की संख्या काफी थी, किन्तु अब वे केवल तीस प्रतिशत के लगभग हैं। सम्प्रदाय में स्त्री सन्तों के अधिकार पुरुष सन्तों के समान ही हैं और वे कहीं-कहीं मठों की अधिष्ठात्री भी रही हैं।

शिवनारायणी सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण नियम है, प्रत्येक क्षेत्र के लिए पाँच व्यक्तियों की एक समिति का निर्माण। इसे सभी स्थानीय सन्त मिल कर निर्वाचित करते हैं। समिति के पदाधिकारियों को महंत वजीर या मंत्री, कातिब या लेखक, अदली या कोषाध्यक्ष तथा छड़ीबरदार या सिपाही कहा जाता है।

यही परम्परा सन्त शोभीरामजी की थी। यद्यपि धर्म ग्रन्थों का अध्ययन उन्होंने नहीं किया, परन्तु सन्तों के मुख्य उपदेश उन्हें भली-भाँति हृदयंगम थे। उन उपदेशों पर आचरण करने का परिणाम यह हुआ कि उनकी आत्मा बहुत समृद्ध हुई। श्री जगजीवनराम के समान प्रवृत्ति के वे थे और इसलिए इस आन्तरिक समृद्धि का आस्वादन वे बचपन में ही कर सके।

**

षष्ठ खण्ड

राजनीति के प्राङ्गण में

हम देश के टुकड़े न होने देंगे



श्री जवाहरलाल नेहरू

चाहे हम कन्याकुमारी में रहें या रामेश्वर में, चाहे काश्मीर में रहें, चाहे पूर्व में या पश्चिम में, हम एक हैं—एक मुल्क है, जिसको कोई तोड़ नहीं सकता। इसको हम किसी को तोड़ने नहीं देंगे। ग्यारह वर्ष हुए जब पहली बार कौमी झण्डा फहराया गया था। यह एक खास दिन था, हमारे इतिहास में और दुनिया के इतिहास में। वह खास दिन इसलिए था कि इतना बड़ा मुल्क आजाद हुआ, जिस शान के साथ आजाद हुआ और जिस तरह वह शान्ति के रास्ते पर चल कर आजाद हुआ, वह भी एक अनोखी बात थी, दुनिया के लिए मिसाल-सी हो गयी थी।

ग्यारह वर्ष हो चुके हैं और ये ग्यारह वर्ष कशमकश के रहे, परेशानी के रहे। शुरू ही में हमने यह निश्चय बनाया था, ग्यारह वर्ष पहले और झण्डा उठाया था। हमारे दिल खुश थे कि आखिर मंजिल पूरी हुई।

लेकिन, अभी उस दिन का आफताब गिरा भी नहीं था कि दूसरी तरफ की खबरें हमारे पास आने लगीं। कहाँ तो हम यह शेखी करते थे कि हमने शान्ति से, सभ्यता से, अहिंसा से आजादी ली और कहाँ यह खबरें हमारे पास आयीं कि हमारे यहाँ या हमारे पड़ोसी मुल्क में भाई-भाई को मार रहा है, बहन-बहन को मार रही है। एकदम यह तस्वीर आयी, एक दूसरे ढंग की तस्वीर और वह झगड़ा-फसाद आप के और हमारे दिल्ली शहर तक फैला था। हमने देखा कि कितनी करीब फतह होती है हार के, क्योंकि अगर सुबह आफताब निकलने के वक्त वह हमारी एक फतह की निशानी थी, तो वही शाम हुई कि जब हमारी हार की झलक की शक्ल में हमारे सामने आयी। हार थी दुश्मन पर, हमने फतह पायी। हार थी अपनी कमजोरियों से, अपनी नाइत्तफाकी से, जो कि सब से खतरनाक बात होती है। शेर का सामना शेरों की तरह हमने किया, पर साँप ने हमें आकर पीछे से काटा। मैं इसलिए आपको याद दिलाता हूँ कि यहाँ फिर ऐसे साँप फैले हुए हैं, जो पीछे से काटते हैं। जो हमको कमजोर करते हैं, जो हमें जलील करते हैं और यह सब जो हमने किया-कराया, उसको नाश करने की कोशिश करते हैं।

हमने एक बड़ी यात्रा का इन्तजाम किया है। स्वराज्य की यात्रा खत्म हुई तो उससे बड़े, उससे मुश्किल सफर का इन्तजाम किया। जिस सफर में इस मुल्क के छत्तीस-सैंतीस करोड़ आदमियों को, सब को जाना है, मिल कर जाना है, हाथ में हाथ मिला कर ताकि वह सब खुशहाल हों, ताकि उनकी मुसीबतें कम हों, ताकि जिन्दगी की जो जरूरियात हैं, हरएक को मिलें।

आप जानते हैं, कि मुसीबतों का इस मुल्क ने सामना किया। तकलीफ हुई, परेशानियाँ हुईं, लेकिन हिन्दुस्तान का सर तो नहीं झुका, क्योंकि आखिर में जैसा कि हमने एक साम्राज्य का मुकाबला किया, उससे यह जमाना आ गया हमारे इम्तहान का कि कितना हम मुसीबत में मिल कर रह सकते हैं, कहाँ तक हम मिल कर काम कर सकते हैं। ऐसे मौकों पर, जब आपस में फूट हो, आपस में लड़ाई हो, हाथ उठाए एक इंसान दूसरे के ऊपर, तब क्या उसके माने हैं? क्या हम अपने पुराने सबक भूल गए हैं? क्या हम गांधीजी को भूल गए हैं? क्या हम हजारों वर्ष के हिन्दुस्तान के इतिहास को भूल गए हैं, या भूल जाएँ? क्या हमारा जो भविष्य है, जिसके लिए हम काम कर रहे हैं, उसको भूल सकते हैं? क्या हम अपने बच्चों को भूल गए? क्या याद रहा हमको, जब हम एक दूसरे के ऊपर हाथ उठाते हैं और झगड़े-फसाद करते हैं? किसी सियासी बात को हासिल करने के लिए या जो कुछ भी उसकी वजह हो, मैं नहीं जानता। आखिर बात क्या है? दिल में जरूर खुशी है, लेकिन दिल में रंज भी है और उसकी वजह यह है कि ग्यारह वर्ष बाद भी ऐसी बात हिन्दुस्तान के बाज हिस्सों में हो रही है और आज के दिन हो रही है, जो कि झगड़ा-फसाद करते हैं और जलाते हैं तथा एक दूसरे को मारते हैं। तो हमें इन सब से आगाह होना है लोगों की गफलत से। किसी को बुरा-भला कहना हमारा काम नहीं है।

हमें काम करना है। कर्त्तव्य पालन करना है। हमारा कर्त्तव्य क्या है? कुछ भी कर्त्तव्य हो, कुछ भी पालिसी हो, कुछ भी नीति हो, जाहिर है उसमें हम एक ही तरह से कामयाब हो सकते हैं कि हम मिल कर, शान्ति से काम करें। जाहिर है मोटी-सी बात है जो हमें समझ लेनी चाहिए, नही तो हमारी सारी ताकत जाया हो जाती है। हम एक दूसरे को अपनाएँ और कोई जरिया इसके अलावा इस मुल्क में नहीं है। चाहते तो हम यह हैं और हम लम्बी आवाज से दुनिया से बात भी करते हैं। और दुनिया को नेक सलाह देते हैं। हमने पंचशील का झण्डा उठाया और लोगों की भी तवज्जह उस तरफ हुई और मुल्कों पर भी असर उसका हुआ। लेकिन फिर कभी-कभी अपने मुल्क की तरफ देख कर कि क्या यहाँ हो रहा है, सिर झुक जाता है, शर्म आ जाती है। तो फिर मेरी आपसे दरख्वास्त है और मुल्कवालों से दरख्वास्त है कि और सवालों पर हम गौर करें जरूर और रास्तों पर हम चलें लेकिन पहली बुनियाद तो यह है—हम अपने को सम्भालें, हम एक दूसरे से लड़ाई का सिलसिला छोड़ें। हम यह समझ लें कि हिन्दुस्तान में आजादी है, समाजवाद है, प्रजातन्त्र है। अगर हम लड़ाई, झगड़ा करके फैसला करना चाहते हैं, लड़ कर धमकी देकर, तो जिससे आप लड़ेंगे, वह आपसे लड़ेंगे। तो न आप हासिल करेंगे, न वह करेगा।

जैसा कि आजकल की दुनिया का हाल हो गया है कि बड़े-बड़े मुल्क वादविवाद, एटम बम और गोले लेकर बैठे हैं, दुनिया को तबाह कर सकते हैं। यह ताकत हरएक में है, लेकिन दुनिया को सम्भालने की ताकत लड़ाई के जरिये से किसी में नहीं, वह अमन के जरिए से ही है। हलके-हलके यह बात उनके सामने आती है कि लड़ाई से सारी दुनिया तबाह हो जाएगी।

दुनिया में, याद रखिए, कुछ हिन्दुस्तान की वक्त है, हिन्दुस्तान एक दानिशमंद मुल्क समझा जाता है, एक समझदार मुल्क समझा जाता है, जो आसानी से हाथ किसी पर नहीं उठाता, अक्सर लोगों का यही खयाल है। कहां तक सही है, कहां तक गलत है, आप समझें। क्योंकि वह सही भी है और गलत भी। जाहिर है कि हमने पिछले जमाने में खासकर गांधी जी के जमाने में इसकी जबरदस्त मिसालें दीं, अपने सब्र की, अपनी अहिंसा की। पर जो लोग उन्हें बदनाम करें, वे अपने को बदनाम करें, हिन्दुस्तान को बदनाम करें, यह कैसी बात है? हम होशियार लोग हैं और कैसे हम अपने सिद्धांतों को भूल जाते हैं इससे किसी मसले का ताल्लुक नहीं है, किसी नीति का ताल्लुक नहीं है। अलग-अलग नीति हो सकती है और हम उस पर चल सकते हैं। हमारा आजाद मुल्क है और हरएक को अख्तियार है अपने अलग-अलग खयाल रखने का, औरों को सिखाने का, औरों को समझाने का, लेकिन किसी को अख्तियार नहीं, जबर्दस्ती से, हथियार से, लाठी से, बंदूक से दूसरों की राय बदलने की कोशिश करने का या फैसला कराने का। इससे क्या नतीजा निकलता

है? इसका नतीजा कोई फैसला नहीं है। इसका नतीजा तो तबाही ही है। यह हुल्लड़बाजी, लड़ाई है। और क्या हम इतने जमाने तक हिन्दुस्तान की आजादी के लिए लड़ कर और उसको हासिल करके फिर अपनी कमजोरी की इस खाई में, खंदक में और कुएं में गिरेंगे। गौर करने की बात है कि हमारे नौजवान आजकल अच्छे हैं, जबर्दस्त हैं, हिन्दुस्तान के चमकते हुए भविष्य का नजारा है। भविष्य के सिर का बोझा वे उठावेंगे और जिसको वे आगे चलाएँगे और जिसके लिए उन्हें तैयार होना हैं वे जो छोटे झगड़े में पड़ते हैं और इससे न सिर्फ अपने को बेकार करते हैं, बल्कि मुल्क की भी कोई खिदमत नहीं करते। इसलिए यह हमारे लिए सोचने की बात है। यह सवाल बड़ा है और हमें समझना है अपने को कि हमें किधर जाना है। जाहिर है कि अगर इतनी हजार मुसीबतों का सामना करके हम यहां पहुँचे हैं, जहां आज हैं तो किसी की धमकी से, किसी की कमजोरी से, यह काम छुटनेवाला तो नहीं है। यह काम हमें जारी रखना है और हिम्मत से जारी रखना है, चाहे कितनी ही रुकावटें आएं, कितनी ही मुसीबतें आएं और चाहे हम कमजोर भी हो जाएं, लेकिन अपनी कमजोरी को पकड़कर और निकालकर उसे फेंक देना और सर ऊँचा करके फिर आगे बढ़ना है।

ग्यारह बरस का जमाना हुआ। यह बहुत बड़ा जमाना एक मुल्क की जिन्दगी में नहीं है फिर भी एक माकूल वक्त है। अब ग्यारह बरस को देखिए। क्या हिन्दुस्तान की हालत थी ग्यारह बरस पहले, क्या आज दुनियां की महफिलों में हालत है, या घर में अपनी हालत है। हजार शिकायतें हैं आप को, मुल्क के रहने वालों को। और आप की और मुल्क की जो शिकायतें हैं उनमें बहुत कुछ सही हैं, कुछ गलत हैं, एक नहीं, कई मुसीबतें हैं। यानी हिन्दुस्तान की फसलें खराब होने की, बाढ़ की, वक्त पर पानी बरसने की और अकाल की। चीजों के भाव बढ़े हुए हैं और आजकल काफी मुसीबत है लोगों के सामने। मुनासिब है उनका शिकायत करना। इसे में इनकार नहीं करता, अगर वह शिकायत करें इस बात की। ऐसी हालत में भी लोग ऐसे हैं, चाहें व्यापार करते हों या कुछ और जो लोगों की मुश्किलों से फायदा उठाते हैं, अपने फायदे के लिए। जो बजाय इसके कि इस वक्त मदद करें, औरों के लिए एक बोझ हो जाते हैं और गलत रास्ते पर चलते हैं। चोर बाजारी होती है। इन बातों की अगर आप शिकायत करें तो सही आपकी शिकायत है, क्योंकि जो ऐसे काम इस मौके पर करें और जो मुल्क की जनता को इस तरह से नुकसान पहुँचाएँ, हानि पहुँचाएँ, तो क्या बात है? यह उनकी कमजोरी हो सकती है। कमजोरी, लेकिन ऐसी हालत में जो भी इस मौके पर यह करें, वे मुल्क के साथ गद्दारी करते हैं। और उनको समझना चाहिए कि बजाय इसके कि वे मुल्क की खिदमत करें, मुल्क को बचाएँ, वे मुल्क के साथ गद्दारी करें तो फिर इसका नतीजा उनके ऊपर और मुल्क पर क्या होगा?

खैर, ये सवाल हैं बड़े-बड़े। हमारे सामने दुनिया के सवाल हैं, हम भी दुनियां का एक हिस्सा है, इसलिए उन सवालों में भी भाग लेना पड़ता है। लेकिन हमारे सामने असली सवाल मुल्क का है, हमारे घर का, हमारे शहर का, मुहल्ले का और हमारे पड़ोसी का। चाहे हम कन्याकुमारी में रहें या रामेश्वरम् में, चाहे कश्मीर में, चाहे पूर्व में या पश्चिम में रहें। हम एक हैं—एक मूल्क है जिसको कोई तोड़ नहीं सकता, जिसको हम किसी को तोड़ने नहीं देंगे। हम आप हिन्दुस्तान के बाशिन्दे हैं, नागरिक हैं, सिटीजन्स हैं, हम इस या उस मुहल्ले के खाली नहीं हैं, इस शहर के नहीं हैं, इस प्रदेश के नहीं, दक्षिण के नहीं, पूर्व और पश्चिम के नहीं, यह बात समझ लें, क्योंकि जो इसके खिलाफ हाथ उठाएगा, सिर उठाएगा और हिन्दुस्तान की एकता को कमजोर करने की कोशिश करेगा, उसका हमें मुकाबला करना है, चाहे कोई बाहर की ताकत हो, चाहे अन्दर की। सबसे अव्वल बात, सबसे पहली बात हिन्दुस्तान की एकता और हिन्दुस्तान की आजादी कायम रखने की है।

फिर खुशहाली का सवाल है। हम कहते हैं कि हम अपने मुल्क को समाजवाद ही तरफ ले जाएँगे। माना कि हमारे पैर फिसले हैं, हममें कमजोरियाँ आयी हैं। हमसे गलतियां हुई हैं और होंगी, गलती से

कौन बच सकता है। लेकिन जिस चीज की जरूरत है वह यह है कि हमारे दिल में और दिमाग में एक आग जलती रहे, उसमें एक चीज ढलती रहे अपने मकसद की तरफ और हम ठोकर खाकर कहीं गिरें, तो हमें ताकत हो फिर उठकर आगे बढ़ने की।

कुछ लोग समझते हैं कि वह जमाना खत्म हो गया जबकि हिम्मत की जरूरत थी, जबकि हम जोर दिखाते थे एक साम्राज्यवादी ताकत और शान के खिलाफ। इस धोखे में कोई न पड़े कि अब हममें ताकत नहीं है। बल्कि इस मुल्क में अब भी जान है, पहले से ज्यादा जान है। गफलत में कभी हम पड़ जाते हैं और हमारे लोग पड़ जाते हैं और उस गफलत में पड़कर सभी बातें भूल जाते हैं। शायद अच्छा है कि हमारे ऊपर सदमें पहुँचे और हमारे ऊपर और चोट हों, जो हमें फिर यह याद दिला दें कि हम क्या चीज हैं, हमारा मुल्क क्या है, हमारे क्या कर्त्तव्य और फर्ज हैं और सही रास्ते पर हमें ला दें।

**

भारतीय संस्कृति में आज से नहीं, बहुत पहले से भिन्न-भिन्न वर्गों और सम्प्रदायों की संस्कृतियों का एक सुन्दर सामंजस्य रहा है। अत्यंत उदार भावना विदेशी संस्कृतियों को अपनाने में भारतीय संस्कृति बरतती रही है। यदि उन अलग-अलग बाहरी संस्कृतियों को भारतीय संस्कृति से पृथक् करने का प्रयत्न किया जाए, तो भारतीय संस्कृति की आत्मा का हनन करना होगा। क्योंकि भारतीय संस्कृति का मूलाधार इसकी शाश्वत आधुनिकता है। जब कभी इस सिद्धान्त को ओझल में किया गया, भारतीय संस्कृति दूषित हो गई और समाज में विश्रृंखलता आ गई। मैं यह मानता हूँ कि किसी देश की संस्कृति धर्म पर शत-प्रतिशत निर्भर नहीं रहती।

— जगजीवनराम

**

भारत में लोकतंत्र शासन

श्री जी० एस्० पथिक

विश्व का एक बड़ा भाग लोकतंत्र देशों के अन्तर्गत माना जाता है, यद्यपि दूसरा भाग भी लोकतंत्र को अपनाने का दावा करता है। लोकतंत्र जनता का प्रतिनिधित्व करता है। लोकतंत्र को समाज विशेष के जीवन से अलग नहीं किया जा सकता है। उसके रूप और व्यवहार अंतर रखते हैं। अतीत में भी जुदे जुदे देशों के भिन्न भिन्न प्रकार के जीवन में अंतर रहता आया है। एनथियन ने लोकतंत्रता को गुलामी पर आधारित माना। साम्यवादी लोकतंत्रता एकदलीय पद्धति को मानती है और पूंजीवादी लोकतंत्रता प्रतियोगिता की स्वतंत्रता को स्वीकार करती है। लोकतंत्रता में स्थानीय तत्व होने चाहिएँ। ग्रेट-ब्रिटेन की पूंजीवादी लोकतंत्रता अमेरिका की पूंजीवादी लोकतंत्रता से सर्वथा भिन्न है। फिर चीन, यूगोस्लोविया और भारत की लोकतंत्रताएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। यूगोस्लोविया और चीन की लोकतंत्रता रूसी छाप की साम्यवादी लोकतंत्रता है। सारे जगत के लिए लोकतंत्र की एक परिभाषा करना सम्भव नहीं है।

लोकतन्त्र जीवित तत्व हो

कैसा दुस्तर कार्य जार्ज बर्नार्ड शा संसार के प्रमुख चिंतक और राजनीतिज्ञों के सन्मुख रखना चाहते थे कि वे एक स्थान पर जुटें और सदा सर्वदा के लिए लोकतंत्र का एक अर्थ घोषित कर दें। यह अनहोनी बात कब सम्भव थी। लोकतंत्रता जनसाधारण की विचारधाराओं से जन्म लेती है और लोगों की विचार-धाराएं भिन्नता रखती हैं। कहना न होगा कि विचित्रताएँ रखती हैं। हरएक व्यक्ति की विचारधारा उसकी अपनी चीज है और उससे विचित्र तत्व प्रकट होते हैं। लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति भूतकाल के प्रति निराशा प्रकट करता है और वर्तमान के प्रति नयी आशाप्रद योजनाएं गढ़ता है। ये भाव थोपे नहीं जा सकते हैं। यह कहना निरी हिमाकत है कि किसी देश की अमुक छाप की लोकतंत्रता सच्ची लोकतंत्रता है और तब फिर वह देश अपने जगत के पार के दूसरे देशों को उसे भाग्यशाली लोकतंत्रता कह कर विक्रय करता है। पर आज संसार में यह सब हो रहा है। किन्तु हकीकत यह है कि लोकतंत्रता जड़ पदार्थ नहीं है, जिसे बेचा जा सके। वह जीवित तत्व है और विकसित वस्तु है और उसे किसी एक ढांचे में नहीं ढाला जा सकता है। इसलिए अमेरिका, रूस, यूगोस्लोविया, चीन और भारत की लोकतंत्रताएं अपने अपने रूप में हैं।

लोकतन्त्र में वैयक्तिक अधिकार

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् चार विजेता शक्तियों ने यह आकांक्षा की, कि जर्मनी को लोकतंत्रीय बना दें। उद्देश्य महान रहा और वह फिर एक रहा, किन्तु इतने पर भी वे स्वतः रजामंद न हुए कि जर्मनी में लोकतंत्र की क्या पद्धति हो और उसका कैसा व्यवहार हो। सोवियट रूस ने पूर्व जर्मनी में लोकतंत्रीय सरकार कायम की, जिसका आधार एकदलीय था, क्योंकि सोवियट विचारों में जनता के हित लेनिनवाद अर्थात् एक दल की पार्टीमें पूर्ण सुरक्षा पा सकते हैं। दूसरी ओर पश्चिमीय देशों ने पश्चिम जर्मनी में लोकतंत्र शासन इस सिद्धान्त पर कायम किया कि दूसरे दल सरकार का विरोध कर सकेंगे। दोनों पक्ष यह मानते हैं कि लोकतंत्र सरकार जनता के हित की सरकार है, किन्तु मतभेद इस बात में है कि क्या लोग अपनी सच्ची आवश्यकताओं को भले प्रकार जानते हैं या नहीं। पश्चिम की विचार दृष्टि से लोकतंत्र समाज में गलत होने का अधिकार रखना उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि सही होने का अधिकार रखना है। पर साम्यवादी इस तत्व को स्वीकार नहीं करते।

लोकतन्त्रीय जीवन

लोकतंत्र की विचारधारा के मतभेद के अतिरिक्त यह खयाल किया जा सकता है कि क्या पश्चिमीय ढंग के लोकतंत्र को अत्यन्त प्राकृतिक रूप में लोकतंत्र कहा जा सकता है। इस दृष्टि से लोकतंत्र मुश्किल से दो हजार वर्ष का है, जब कि इस पृथ्वी पर बसते हुए मानव को बीस लाख वर्षों से अधिक समय बीत गया। लोकतंत्रीय समाज वयस्क समाज है, जब कि एकाधिकार में समाज शिशु के अनुरूप माना जाता है। वहां समाज शिशु रूप में सुरक्षा और आश्रय चाहता है। पर लोकतंत्र शासन के रूप में वह उन लोगों में विकास पाता है एवं जीवित रहता है, जिन में लोकतंत्रीय जीवन है तथा जिन के सामाजिक गठन ने लोकतंत्रीय रूप को स्वीकार किया है। किन्तु यह स्वीकार करना आसान नहीं है। कारण, लोकतंत्रीय जीवन का व्यवहार जीवन का अत्यन्त दुस्तर रूप है। उसका अत्यन्त दृढ़ता और लगन से निर्माण होता है। उसकी पैदाइश प्रकृतिजन्य नहीं होती है।

जीवन की स्वतन्त्रता

संसार के लोकतंत्रीय देशों की तुलना करते हुए कर्ट लेनिन ने जर्मनी और अमेरिका के लोकतंत्रीय जीवन के उदाहरण पेश किए। उन्होंने कहा कि अमेरिका और जर्मनी के पारिवारिक जीवन की भिन्नताएं यह प्रकट करती हैं कि एक देश किसप्रकार बालक को लोकतंत्रीय जीवन का बनाता है और दूसरा देश बालक में एकाधिकार की कूटनीतियां विकसित करता है। जो व्यक्ति जर्मनी से अमेरिका तथा अन्य किसी लोकतंत्रीय देश में आता है, वह वहां के बालकों की स्वतंत्रता देख कर प्रभावित होता है, तरुणों का व्यवहार वयस्कों के प्रति और वयस्कों का व्यवहार तरुणों के प्रति समानता के आधार पर रहता है। किन्तु जर्मनी में वयस्क का यह नैसर्गिक अधिकार है कि बालक पर शासन हो और बालक का यह कर्त्तव्य है कि वह वयस्क का आदेश माने। अमेरिका और अन्य लोकतंत्र देशों के सामाजिक जीवन में बालक और वयस्क के प्राकृतिक सम्बन्ध श्रेष्ठतर और निम्नतर के रूप में नहीं हैं। बल्कि दो व्यक्तियों के रूप में हैं, जिन्हें सिद्धान्ततः एक समान अधिकार प्राप्त हैं। अभिभावक सन्मानपूर्वक बालकसे व्यवहार करते हैं। जब माता पिता अपने बालकों से किसी विषय पर कुछ कहते हैं, तो वे बड़ी नम्रता से अपने भाव रखते हैं। वे बालक को यह अनुभव होने देते हैं कि वे उसके मत का सन्मान करते हैं। किन्तु जर्मन माता पिता अपने बालकों को उनकी बात मानने के लिए चंद घंटों का नोटिस देते हैं।

लोकतन्त्र में सामाजिक जीवन

अब एक पेचीदा प्रश्न उठता है कि यदि लोकतंत्र ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है, जो पुस्तक से सीखा जा सके या ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसकी नकल की जा सके और ऐतिहासिक आधार पर उसका व्यवहार किया जा सके, तो क्या भारतीय जीवन में पश्चिमीय ढंग का लोकतंत्र खप सकता है? इस देश में उसकी गहरी जड़ें जम सकती हैं? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें उन देशों के आदर्श और सामाजिक ढांचे का विश्लेषण करना आवश्यक है, जहां लोकतंत्र शासन के रूप में सफल हुआ है। इस अनुसन्धान के लिए हम इंगलेंड और अमेरिका दो में से किसी एक देश के जीवन को देखें। इन देशों के सामाजिक ढांचों में समाज की समानता के आधार पर पश्चिमीय लोकतंत्र का निर्माण हुआ है। इंगलेंड में राजवंश है, सामन्तवर्ग है, यद्यपि वह शासन से पृथक है, किन्तु अमेरिका और अन्य लोकतंत्रीय योरोपीय देशों में लोगों का जीवन जाति विशेषता से परे है। वहां ये बातें किसी रूप में भी नहीं हैं। आज के अनेक सामन्तवादी परिवारोंको अतीत में कोई नहीं जानता था और कल के अनेक सामन्तवादी परिवारों को आज कोई नहीं जानता है। इन देशोंमें कोई भी व्यक्ति अतीतके सुख

वैभव पर नहीं पलता है। हाल की उपलब्धियां ही वर्तमान स्तर का निश्चय करती हैं। धन और सम्पदा निसन्देह महत्वपूर्ण तथ्य हैं, किन्तु उसे हरएक व्यक्ति को अर्जन करना पड़ता है। वहां का जीवन कुछ व्यक्ति या उनके परिवारों के हाथ में स्थायी रूप से सारी सम्पत्ति नहीं जमा कर देता है। वहां लोग अपने परिश्रम से विकास पाते हैं। आगे बढ़ने के लिए किसी पर कोई रोकटोक नहीं है। जो व्यक्ति अपने बचपन में भूखों मरते थे, या छोटा काम करते थे, वे अपने कठोर परिश्रम और अपनी योग्यता से बड़े बड़े पदों पर पहुँच गए या बड़े बड़े उद्योगों का संचालन करने लगे। जन्म के कारण किसी व्यक्ति पर अयोग्यता नहीं लादी जाती है, हीन नहीं माना जाता है। उन देशों में धर्म की पूर्ण स्वतंत्रता है। धर्म ईश्वर और मानव के बीच का सम्बन्ध माना जाता है। राज्य की ओर से उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। हरएक व्यक्ति किसी भी धर्म को मानने के लिए स्वतंत्र है। धर्म के खतरे का नारा उन देशों में नहीं लगता है। लोगों में धर्म के प्रति सार्वभौम सहिष्णुता है। लोगों को भाषण, पत्र सम्पादन, सभा, संगठन और विचार प्रकट करने की पूरी आजादी है। पर ये सब चीजें उन देशों के लोकतंत्रीय जीवन में निरर्थक होतीं, यदि वहां के लोगों का चरित्र और सामाजिक जीवन सामाजिक न्याय, धार्मिक सहिष्णुता, आर्थिक स्वतंत्रता, और जातिगत एकता पर कायम न होता। इन देशों का आर्थिक जीवन अनेक प्रतियोगिता करनेवाले दलों को निर्माण करने वाला होता है। परिणाम यह होता है कि सम्पत्ति का सदा वितरण और विकेन्द्रीकरण होता रहता है। व्यक्तिगत रूप में लोगों के पास सम्पत्ति का जमाव नहीं होता है।

भारतीय लोकतंत्र में रोड़े

अब हम अपने को देखें। हमारा सामाजिक जीवन, सामाजिक असमानताएँ और धार्मिक असहिष्णुता म घिरा है और जमीन तथा सम्पत्ति का कुछ परिवारों के हाथ में एकीकरण है। आम जनता दरिद्र और दीन हीन है, साधन हीन है, लोगों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है। दासता की भावना आज भी बनी हुई है। हमारा सामाजिक जीवन सम्प्रदायवाद और जातिप्रथा पर कायम है। जाति प्रथा के भेदभाव और सामाजिक रूढ़ियाँ समाज के प्रगतिशील होने में अवरोधक हैं। अन्तरजातीय विवाह और सहभोज पर जाति प्रथा ने बंधन लगा रखे हैं। यदि कोई आगे बढ़े तो उसे अपवित्र हुआ माना जाता है। छुआछूत की भावना समाज में विद्यमान है। अछूतों को स्पर्श नहीं किया जाता है। ये सब बातें सामाजिक समानता के सर्वथा विपरीत हैं। जमींदारी प्रथा ने जमीन के वितरण में असमानता पैदा की और जाति प्रथा ने समाज के विशिष्ट वर्ग के हाथ में सम्पत्ति का जमाव किया। स्वेच्छाचारियों द्वारा धर्म संघर्ष की आग सुलझाई जाती है। अन्ध विश्वास और अज्ञानता ने समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार पाना असम्भव कर दिया। जनता आर्थिक कष्टों के दबाव से बेतरह सिसक रही है। एक ओर लोग क्षुधा पीड़ित हैं, तो दूसरी ओर कुछ लोगों के हाथ में सम्पदा जमा है। रूढ़ियों की दासता के कारण हमें अपने में विश्वास नहीं रहा। अपना चरित्र, अपनी योग्यता और अपना सन्मान सब कुछ खो बैठे।

भारतीय लोकतंत्र का अपना रूप

अपने समाज के इस जीवन में हम ने लोकतंत्रीय शासन में प्रवेश किया है। अतएव समाज की इस स्थिति में जिन पर परराष्ट्र के नेतृत्व का भार पड़ा है, उस सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त है कि हिमालय-सा भार अपने कंधे पर उन्होंने साहसपूर्वक उठाया है। इन भयानक परिस्थितियों में लोकतंत्र के नन्हें से कोमल पौधे को सींचना आसान काम नहीं है। परिस्थितियाँ चुनौती देने वाली हैं, भीतर और बाहर दोनों ओर से ऐसे प्रयत्न होते हैं कि यह लोकतंत्र का पौधा नष्ट हो जाए, किन्तु यह सब होने पर भी सौभाग्यवश जिन चोटी के व्यक्तियों के हाथ में राष्ट्र का नेतृत्व है, शासन का भार है, वे सभी परिस्थितियों में सामना करने की महान

क्षमता रखते हैं। सुदृढ़ आधार पर लोकतंत्र संस्थाओं का विकास हुआ है। हमने लोकतंत्र को अपना ही रूप दिया है। इस देश की भावनाओं पर उसका निर्माण हुआ है। हमने बुद्धिमानी से दूसरे देशों के कदमों पर चलने से इन्कार कर दिया। हमने किसी भी लोकतंत्र देश का अनुसरण नहीं किया। हमने अपनी परम्पराएं और अपनी विचारधाराओं के आधार पर लोकतंत्र का रूप दिया है।

हम लोकतंत्र को विकसित करने में बढ़ रहे हैं। अछूतपन और जमींदारी प्रथा को मिटा कर नए समाज की रचना की ओर कदम बढ़ा है। सामन्तवाद का अन्त हो गया है। जोतदार किसानों के नए कानूनों ने भूमिहीन किसानों में नया जीवन पैदा किया है। जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, धर्म और लिंग के भेदभाव के बिना राज्य की नौकरियां सबके लिए उपलब्ध की गयीं। आर्थिक विकास देश में लोकतंत्र की सुदृढ़ नींव रखने वाला है। यदि पंचवर्षीय विकास योजनाएं सफल होती हैं, भारत का आर्थिक निर्माण सम्पन्न होता है, जिसके परिणाम स्वरूप देश से गरीबी और बेकारी मिटती है, तो यह विकास अभ्युदय का प्रतीक होगा और देश में लोकतंत्र शासन की गहरी नींव डालेगा। संसार की निगाह आज भारत के आर्थिक विकास पर लगी हैं। एशिया और अफ्रीका आदि देशों में भारत ही केवल एक देश है, जो सच्चे अर्थ में लोकतंत्र शासन का अनुयायी है। उसके पड़ोस में दूसरा देश चीन है, जो साम्यवादी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत है। दोनों ही देश आर्थिक विकास में अग्रसर हैं। भारत लोकतंत्र व्यवस्था में उत्पादन की वृद्धि में लगा है। संसार का लोकतंत्र यह सोचता है कि यदि भारत का आर्थिक विकास पूरा न हुआ और वह बेकारी न मिटा सका तो उसका लोकतंत्र समाप्त हो जाएगा और भारत में लोकतंत्र न रहने पर एशिया से लोकतंत्र बिदा हो जाएगा।

भारत में संसदीय लोकतंत्र

भारत संसदीय लोकतंत्र शासन में खड़ा हुआ है। पर केवल भारत में ही नहीं; सारे संसार में संसदीय लोकतंत्र परीक्षा के अन्तर्गत है। संसदीय लोकतंत्र से तात्पर्य संसद में कई दलों के प्रतिनिधित्व से है। जिन देशों में लोकतंत्र शासन की दृढ़ स्थापना हुई है, वे भी आज अस्थिर हो रहे हैं और उसके भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित हैं। योरप में अभी हाल में फ्रांस से लोकतंत्र शासन बिदा हो चुका है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् फ्रांस में कई बार चुनाव हुए, किन्तु हर बार किसी एक दल का इतना अधिक बहुमत न हुआ कि वह स्थिर रह सके। इसलिए वहां बार बार सरकारें बनीं और बिगड़ गयीं। परिणाम यह हुआ कि फ्रांस के आर्थिक क्षेत्र में अनस्थिरता आ गयी। तब वहाँ संसदीय लोकतंत्र के स्थान पर एकाधिकारी शासन का विधान स्वीकृत हुआ। संसार ने आश्चर्य से देखा कि फ्रांस में डिक्टेटरशिप के विधान में ८० प्रतिशत लोगों ने मतदान दिए, जिसमें ६० प्रतिशत लोगों ने एकाधिकार शासन का समर्थन किया। पर फ्रांस जिसके जीवन के रोम रोम में लोकतंत्रता की भावना व्याप्त है, एकाधिकार शासन में कितने दिनों तक चल सकेगा। यह सब देख कर ही प्रसिद्ध चिन्तक श्री हेरोल्ड लस्की को यह कहना पड़ा कि "हमारे लोकतंत्र की सच्ची परीक्षा अब होने वाली है और यह देखना है कि वह इस नई हलचल में टिकता है या नहीं। यह कहना नई हलचल की गहराई प्रकट करता है। जो देश लोकतंत्र को जन्म देने वाले हों उनमें ही आज संसदीय लोकतंत्र पर गहरा प्रहार हो रहा है।

निर्दल शासन लोकतंत्र नहीं

एशिया और अफ्रीका में जो देश स्वतंत्र हुए हैं, और जहां संसदीय लोकतंत्र का शासन स्थापित हुआ है, वहां भी नए विचार उठ रहे हैं। नियंत्रित लोकतंत्र और व्यवस्थित लोकतंत्र जैसे नए रूप प्रकट हुए हैं। इससे यह साबित होता है कि संसदीय लोकतंत्र की वर्तमान पद्धति जिसमें अनेक दलों को स्थान मिलता हो, अनुपयुक्त साबित हो रही है। वह लोगों की बढ़ती हुई आकांक्षाओं को रचनात्मक कार्यों में

लगाने के लिए कारगर नहीं हो रही है। कुछ भारतीय राजनीतिज्ञों पर यूगोस्लोविया के दलहीन लोकतंत्र शासन का प्रभाव पड़ा है, किन्तु आरम्भ में यूगोस्लोविया में साम्यवादी शासन था और एक दल का राज था। स्टेलिन से संघर्ष के बाद जब यूगोस्लोविया में नया शासन कायम हुआ, तब भी वहां एक दल बना रहा। कई दल खड़े नहीं हो पाए, जिससे कि यह कहा जाए कि वहां सब दलों का विलीन होकर एक दल का शासन कायम हुआ है। वहां अब भी मार्शल टिटो डिक्टेटर के रूप में हैं। दलहीन लोकतंत्र शासन और रूस के एक दलीय लोकतंत्र शासन के अतिरिक्त, बहुदलीय लोकतंत्र, दो दलीय लोकतंत्र और दलरहित लोकतंत्र आदि कई रूप जनता की बेचैनी से प्रकट हुए हैं। भारत में दलहीन लोकतंत्र शासन कैसे स्थापित हो सकेगा? क्या कांग्रेस, कम्यूनिस्ट और प्रजा समाजवादी आदि प्रमुख राजनीतिक दल विलीन होकर एक प्रोग्राम बना सकेंगे? अलबत्ता यह सम्भव है कि यदि वामपक्षी दल एक दल में विलीन होकर देश में दो दलीय शासन का निर्माण करें और विधान में संशोधन कर अप्रगतिशील दलों का अस्तित्व गैर कानूनी करार दें, तो यह कुछ सम्भव हो सकता है। किन्तु प्रजासमाजवादी और कम्यूनिस्ट कब एक में मिल सकते हैं? पर यदि वामपक्षी दल और कांग्रेस एक में मिल कर सरकार बनाएँ और जो दल अवशेष रहें, वे विरोधी दल रहें, तो शासक दल एकाधिकारी बन जाएगा।

भारतीय लोकतन्त्र की अग्नि परीक्षा

पश्चिम एशिया के नए लोकतंत्र देशों में लोगों का जीवन इसप्रकार नहीं रहा कि वे सच्चे अर्थों में लोकतंत्र शासन में प्रगति कर सकें। एशियाई देशों में अशांति, हड़तालें, प्रदर्शन, हत्याएँ और अन्त में शासन का खात्मा आदि ऐसी बातें हैं, जिनसे यह नहीं कहा जा सकता है कि ये देश लोकतंत्र शासन के उपयुक्त हैं। इंडोनेशिया में गृह युद्ध का रूप ग्रहण किया, बर्मा में अराजकता फैली और अब शासन सैनिक सत्ता के हाथ सौंप दिया गया है। लंका में जातिगत दंगे हुए और थाईलेंड में अनेक बार सैनिक विद्रोह हुआ। पाकिस्तान में कथित लोकतंत्र शासन का स्वस्थ रूप नहीं बन पाया। इस पृष्ठभूमि में एशिया में केवल भारत ऐसा देश है, जिसने संसदीय लोकतंत्र को कायम रखा है। इस देश ने लोकतंत्र संगठनों का विस्तार ग्रामों तक किया है। भारत में दो आम निर्वाचन हो चुके और अनेक राजनीतिक दलों के विस्तार पाने पर भी संसदीय लोकतंत्र दृढ़ आधार पर है। यह आश्चर्यजनक है कि कम्यूनिस्टों को भी संसदीय लोकतंत्र में आना पड़ा और मत द्वारा उन्होंने केरल में अपना शासन कायम किया। यह नहीं कहा जा सकता कि कम्यूनिस्टों ने लोकतंत्र के संसदीय ढांचे में अपनी कोई आस्था प्रकट की। क्या इन सब परिस्थितियों में भारत लोकतंत्र शासन में स्थिर रह सकेगा? सारा लोकतंत्र जगत हमारे लोकतंत्र के प्रयोग की ओर आशा और भय से देख रहा है। आशा इस रूप में है कि यदि भारत में लोकतंत्र शासन विजयी हुआ, उसकी गहरी नींव पड़ी, तो एशिया में लोकतंत्र विस्तार पाएगा, किन्तु यदि भारत में लोकतंत्र असफल हुआ, तो उसका मोड़ साम्यवाद की ओर होगा। यह दूसरा रूप संसार के लोकतंत्र देशों को भयभीत कर रहा है।

लोकतन्त्र की नींव आर्थिक प्रगति

देश की आर्थिक प्रगति पर लोकतंत्र टिकता है। यदि लोकतंत्र शासन लोगों को रोटी और कपड़े का सवाल हल न कर सके, रोजगार न दे सके, तो फिर उसका स्थिर रहना कठिन है। इस लक्ष्य ने ही आर्थिक विकास योजनाओं को जन्म दिया। पहली पंचवर्षीय योजना लोकतंत्र व्यवस्था में सफल हुई और दूसरी योजना में देश आगे बढ़ रहा है। पहली योजना हमारे जीवन की बुनियादी रूढ़ियों को दूर करने के लिए थी और दूसरी योजना हमारे सामाजिक और आर्थिक ढांचे में नए परिवर्तन लाने के लिए है। दस वर्षों के लोकतंत्र शासन में विकास योजनाओं द्वारा हम ने अनेक बड़े बड़े निर्माण किए। औद्योगिक क्षेत्र में भारत

का नक्शा बदल गया। बड़े बड़े बांधों के निर्माण द्वारा जल संचय और विद्युत उत्पादन की उल्लेखनीय योजनाएं हैं। एंजिन, मोटर, हवाई जहाज, समुद्री जहाज, मशीनें, कल पुर्जे, रासायनिक पदार्थ और इस्पात के विशाल उद्योग खड़े हुए हैं। मिट्टी के तेल के नए स्रोत निकले, देश में पेट्रोल तैयार होने लगा। यदि सौराष्ट्र से मिट्टी का तेल निकलने लगा,तो पांच वर्ष उपरान्त भारत को प्रति वर्ष २०० करोड़ रुपए की नई आय होगी। उस अवस्था में भारत अन्य देशों को ऋण देने में समर्थ हो सकेगा। केम्बे में तेल अधिक गहराई में नहीं निकला है, जब कि मध्यपूर्व के तेल के कुएं अधिक गहरे हैं और उनमें से अनेक कुछ दिनों में सूख जाएंगे और तब भारत विश्व में तेल के क्षेत्र में अपनी प्रधानता कायम करेगा।

किन्तु इस सब विकास के मध्य में देश में विकट समस्याएं उपस्थित हैं, जो लोकतंत्र की नींव को हिला सकती हैं। एक ओर महान निर्माण हो रहा है, तो दूसरी ओर समाज के सभी श्रेणियों के लोगों में बेचैनी पैदा हो रही है। यहीं हमारे लोकतंत्र की अग्नि परीक्षा है। यदि हमारी विकास योजनाएं समाज में एकता और सदभावनाएं पैदा कर सकें तो यह कहा जा सकेगा कि हमारा भविष्य उज्ज्वल है। पर यदि हमारा यह प्रयोग असफल होता है, तो हमें शासन के वर्तमान रूप से बिदा ले लेनी होगी।

हमारे मार्ग में खतरे

दस वर्षों के संसदीय लोकतंत्र के प्रयोगों से हमें कुछ अच्छे और बुरे अनुभव प्राप्त हुए। आज बालिग मताधिकार पर लाखों और करोड़ों व्यक्तियों के मतों द्वारा सरकार का निर्माण होता है और सर्वत्र जनता के प्रतिनिधिगण शासन में भाग लेते हैं। जनता में चेतना आयी है। वह सरकार को बना बिगाड़ सकती है। यह स्वस्थ प्रवृत्ति है किन्तु इस दिशा में कुछ और आवश्यक है। संसदीय लोकतंत्र साधन हैं न कि लक्ष्य। अतएव हमें पद्धति का परीक्षण करना है। जिस लक्ष्य के लिए भारत खड़ा है, उसमें क्या वह आगे बढ़ सकता है। राजनीतिक स्वतंत्रता, राष्ट्रीय विलीनकरण, उपयुक्त शासन, सस्ता और तुरन्त न्याय, सामाजिक सुरक्षा, अन्न वस्त्र और छाया की व्यवस्था, बेकारी का मिटना और सामाजिक नवीनकरण आदि के लिए भारत खड़ा है। यदि इनके हल में शासन को सफलता न मिली, तो लोकतंत्र का भविष्य उज्ज्वल न कहा जाएगा। देश के सामने लोगों को भोजन देना और बेकारी मिटाना ये दो सब से बड़े प्रश्न हैं। अन्न का उत्पादन देश में बढ़ न सका। ग्यारह वर्षों में विदेशों से १४०० करोड़ रुपए का अन्न खरीदा गया जिससे कि लोग जीवित रह सकें। अब हम भी साठ से सौ करोड़ रुपए का अन्न प्रति वर्ष खरीदते हैं। अन्न का उत्पादन बढ़ता भी है, तो भी पर्याप्त नहीं होता है। लोगों को दो वक्त भोजन न मिल सके, धंधा न मिल सके, तो कोई शासन कब तक स्वस्थ रूप में टिक सकता है? हमारा खाद्यान्न उत्पादन ३० लाख टन से गिर कर २० लाख टन रह गया। और उसके दाम १८ प्रतिशत बढ़ गए। दूसरी ओर हमारे सामाजिक जीवन में गत पांच वर्षों में २५० से ३०० लाख जन संख्या में वृद्धि हुई। ७० लाख नए मुंह प्रति वर्ष बढ़ते हैं जब कि खाद्यान्न का उत्पादन उस अनुपात में नहीं बढ़ पाता। इन समस्याओं के हल हुए बिना हम लोकतंत्र व्यवस्था को कैसे कायम रख सकेंगे?

**

सप्तम खण्ड

हमारा बिहार



जब बिहार ने विश्व का नेतृत्व किया

प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र,

एम० ए० एल-एल० बी० एम० एल० सी०

आज का बिहार प्राचीन काल में तीन राज्यों में विभक्त था। ये तीन राज्य थे:--मगध, अंग और विदेह। किन्तु वैदिक साहित्य में इन तीनों में से एक का भी नाम नहीं मिलता है। ऋग्वेद संहिता में "कीकट देश का नाम उल्लिखित है, जिसे इस समय मगध कहते हैं। इसी भूभाग का वैदिक युग में "कीकट" नाम था। "कीकट" को अनार्यों का देश कहा गया है। ये लोग यज्ञ, दान, व होम आदि पुण्य कर्मों में श्रद्धा नहीं रखते थे।" बाद में यह कीकट नाम लुप्त हो गया और उसके स्थान पर मगध नाम पड़ा। मगध नाम की व्युत्पिति इसप्रकार बताते हैं। "मग" अर्थात् सद् धारण करने वाला। यहाँ के लोग सूद लेने का व्यवसाय करते थे। इसलिए इसका नाम मगध पड़ा। अथर्ववेद में मगध और अंग देशों के नाम मिलते हैं। वैदिक काल के आर्य मगध, अंग, आदि देशों को बहुत हेय दृष्टि से देखा करते थे। आगे चल कर इन सब देशों में बिना तीर्थ यात्रा के जाना शास्त्र वर्जित माना जाने लगा। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार मगध, अंग, बंग, कलिंग, आदि पूर्वी देशों में आर्य सभ्यता का उस स्तर पर प्रचार नहीं हुआ था जिस स्तर पर ब्रह्मावर्त में। यहाँ के लोगों ने पूर्ण रूप से वैदिक धर्म एवं आर्य संस्कृति को ग्रहण नहीं किया था। बहुत सम्भव है कि इसी कारण से मगध देश की निन्दा की गयी है। किन्तु जहाँ तक विदेह का सम्बन्ध है, वह बहुत पहले ही आर्य सभ्यता का केन्द्र बन गया था। शतपथ ब्राह्मण में विदेह शब्द का उल्लेख मिलता है। सरस्वती नदी के तट पर अवस्थान करने वाले आर्य गण पूर्व की ओर अब तक नहीं आए थे। वे सदा नीरा, और गंडक नदी के तट तक आए। इस प्रकार आर्यों का पश्चिम से पूर्व की ओर आगमन हुआ, विदेह शीघ्र ही समस्त आर्यावर्त में प्रसिद्ध हो गया। विदेह के राजा जनक बहुत बड़े ब्रह्म ज्ञानी थे। ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ याज्ञवल्लक्य इनकी राज्य सभा के पंडित और राज पुरोहित थे। याज्ञवल्क्य से विद्या सीखने कुरु, पांचाल आदि देशों से ब्राह्मण आया करते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा जनक के ब्रह्मज्ञान एवं विद्वता की बड़ी प्रशंसा की गई है।

जहाँ तक बिहार नाम का सम्बन्ध है प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में यह नाम नहीं मिलता। बौद्ध धर्म के प्रचारित होने पर "बिहार" शब्द मठ या देवालय के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। मदिनी कोश में बिहार के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं। "बिहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालय।" भगवान बुद्ध का एक नाम "सुगत" भी है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस प्रदेश के बहुत से बिहार या बौद्ध मन्दिर होने के कारण ही इसका नाम मुसलमानों के आक्रमणकाल के समय में बिहार पड़ गया। श्रीहर्ष कृत नैषधीय चरित के प्रथम सर्ग में बिहार शब्द का उल्लेख हम पाते हैं। "अमूचरास्तस्य नृपस्य सादितो जिनोक्षिषु श्राद्धतयेव

सन्धवा: । बिहार देशं तमवाप्य मंडली मकारयन् भूरि तुरंग मानसि । मुसलमानों के समय में बिहार नाम पड़ा, इसका एक प्रमाण यह है कि १४वीं शताब्दी के आरम्भ में गयासुद्दीन तुगलक शाह के सिक्कों पर उत्तरबिहार के लिए तिर्हुत शब्द प्रयुक्त है। जब मुसलमानों ने इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य जमाया तब मगध और अंग भी इस प्रदेश के अन्तर्गत आ गए। नालन्दा में बौद्धों का जो विशाल "बिहार" था उसका विध्वंस इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बीन कासिम ने किया और उसने नालन्दा को इस प्रदेश की राजधानी समझ कर मगध प्रदेश को बिहार नाम से अभिहित किया। बाद में जब मुसलमानों का आधिपत्य अंग नदी के आर पार के देशों पर स्थापित हो गया तब अंग, मगध, तिर्हुत और मिथिला सब बिहार प्रदेश के अन्तर्गत आ गए और इसका नाम बिहार प्रसिद्ध हो गया। अंग्रेजों के शासन काल में यह नाम कायम रहा।

वैदिक साहित्य की अपेक्षा हम महाकाव्य युग में बिहार के विभिन्न स्थानों का उल्लेख विशेष रूप में पाते हैं। बाल्मीकि रामायण में मिथिला और अंग देश का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

"रामो पि परमां पूजां गोतमस्य महात्मनः। सकाशाद विधिवत् प्राप्य जगम मिथिलांततः।"
"अशरीरः कृतः कामः क्रोधाद्धिवेश्वरेणह। अनंग इति विख्यात सीदाप्रभृति राघव। सचांग विषयश्च श्रीमान् यत्रांग स मुनोच ह। तस्याथमाश्रमः पुण्यस्तस्येमे मनुयः पुरा।

रामायण काल में बिहार के मिथिला भूभाग की ख्याति विद्या एवं ज्ञानचर्चा के कारण सबसे अधिक थी। किन्तु महाभारत काल में मगध की राजनीतिक प्रसिद्धि सारे भारत में थी। महाभारत के अद्वितीय वीर योद्धा एवं महादानी कर्ण अंग देश के राजा थे। मगध का राजा जरासन्ध बड़ा प्रतापी था। उसने तत्कालीन भारत को एकच्छत्र साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया था। बौद्ध धर्म के उदय एवं अभ्युत्थान के साथ-साथ मगध भारत के राजनीतिक क्षेत्र में गौरवगरिमा की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। मगध के नंद वंश ने सम्पूर्ण आर्य भारत को विजय करके बंगाल से पंजाब तक और हिमालय से लेकर नर्मदा नदी के तट प्रदेशों तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। उत्तर भारत के सर्वप्रथम विजयी सम्राट वस्तुतः नन्द वंशी शुद्र राजा ही थे। नंदवंश के उत्तराधिकारी मौर्यवंश के राजाओं ने अपने पूर्वजों की कीर्त्ति को अक्षुण्ण ही नहीं रखा वरन् उसमें और भी वृद्धि कर दी। इस समय मगध साम्राज्य ने भारत के इतिहास में जो गौरव प्राप्त किया वह अभूतपूर्व था। इतिहासकार ने लिखा है :—

"भारत के इतिहास में मगध अपनी गौरवगरिमा की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। भारतीय इतिहास में मगध ने वही स्थान प्राप्त किया है जो स्थान एथेन्स को यूनान के इतिहास में और एसेक को इगलैंड के इतिहास में प्राप्त है। मगध साम्राज्य का प्रताप और उसकी सामरिक शक्ति उस समय इतनी बढ़ी हुई थी कि विश्व विजयी महान् सिकन्दर की सेना को भी व्यास नदी के तट से आगे बढ़ने का दु:साहस नहीं हुआ। इतना ही नहीं बल्कि सिकन्दर की सेना ने भारत के जिन भागों पर अधिकार किया था, उन्हें उसके वीर सेनापति सेल्यूक्स को पराजित करके मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने दासत्व से मुक्त किया। प्राचीन फारस साम्राज्य के जिन सब प्रदेशों को सिकन्दर ने अपने अधिकार में कर लिया था उनमें भी कुछ भाग को चन्द्रगुप्त को प्रदान करके सेल्यूकस को भारत से प्रस्थान करना पड़ा। इसप्रकार मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने भारत में एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना कीं थी जितना बड़ा साम्राज्य भारत के इतिहास में इससे पूर्व और या उसके बाद में किसी भारतीय सम्राट द्वारा स्थापित नहीं हो सका। इस समय सारे भारत में मगध साम्राज्य सबसे बढ़ कर शक्तिशाली था। और इसकी प्रसिद्धि सुदूर विदेशों तक फैल गई थी। सारा भारत राजनीतिक एकता के सूत्र में आबद्ध था। और सुशासन की छाया में सर्वत्र शान्ति एवं सुव्यवस्था प्रतिष्ठित हो गई थी।

मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त और अशोक का राज्यकाल भारत के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है। इससमय मगध साम्राज्यवाद का जिस रूप में उत्थान तथा उसके पराक्रम एवं वैभव का विस्तार हुआ, उसका दूसरा उदाहरण कदाचित ही अन्यत्र मिल सकता है। कौटिल्य रचित "अर्थशास्त्र" में चन्द्रगुप्त की शासन

प्रणाली और ग्रीक दूत मेगस्थनीज के ग्रन्थ में अशोक की राज्य समृद्धि का जो परिचय मिलता है उससे सहज ही हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि आज से लगभग बाइस तेईस सौ वर्ष पहले इस देश की शासन प्रणाली और यहां का प्रशासन कितना समुन्नत एवं सुव्यवस्थित था। तत्कालीन ऐतिहासिक विवरणों से पता चलता है कि राजतांत्रिक शासन होने पर भी राजा स्वेच्छाचारी नहीं होता था। चन्द्रगुप्त ने स्वेच्छा से अपने शासन व्यापार के सम्बन्ध में कितनी ही समितियों का गठन करके उनके हाथ में प्रशासन सत्ता प्रदान की थी। राजधानी पाटलिपुत्र के प्रशासन और उन्नति साधन का भार एक समिति के ऊपर था। यह समिति अनेकांश में वर्तमान काल की नगरपालिका जैसी थी।. पाटलिपुत्र की नगरपालिका समिति में तीस सदस्य थे। यह समिति ६ विभागों के आधार पर उपसमितियों में विभक्त थी। प्रत्येक में पाँच पाँच सदस्य थे।

प्रथम विभाग पर शिल्प कला सम्बन्धी विषयों की देखभाल का भार था। श्रमजीवियों का जिस हिसाब से पारिश्रमिक मिलना चाहिए,इसका निर्धारण और उपयुक्त पारिश्रमिक प्राप्त करके वे यथोचित रूप में कार्य करें इसका तत्वावधान और कारीगर लोग उत्कृष्ट माल तैयार करें इसका निरीक्षण, ये सब काम इस विभाग के आधीन थे। उस समय शिल्पी, कारीगर आदि एक प्रकार से राजा के ही कर्मचारी समझे जाते थे। यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर की आँख या उसके हाथ को नष्ट करके उसे अक्षम बना डालता तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था।

पर राष्ट्र विभाग

तत्कालीन मौर्य साम्राज्य के साथ अनेक विदेशी राज्यों का सम्बन्ध था। उस समय विदेशों के कितने ही राजदूत तथा यात्री पाटलिपुत्र में आकर रहा करते थे। विदेशी पर्यटक भी आते जाते रहते थे। पर राष्ट्र विभाग के राज कर्मचारी बड़ी तत्परता एवं यत्न के साथ इन विदेशियों की खोज खबर लिया करते थे। इतना ही नहीं, उनके लिए उपयुक्त वासस्थान एवं अनुचर आदि का भी प्रबन्ध करते थे और आवश्यक होने पर उनकी चिकित्सा की आम व्यवस्था भी करते थे। किसी विदेशी की मृत्यु होने पर यथारीति उसकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की जाती और इस विभाग के कर्मचारी उसके परित्यक्त सम्पत्ति आदि का विक्रय कर उसके उत्तराधिकारी के पास भेज दिया करते थे।

जन्म मृत्यु विभाग

इस विभाग के अधिकार में जन्म मृत्यु की तालिका तैयार करने का काम था। सरकार की जानकारी के लिए और कर निर्धारण की सुविधा की दृष्टि से विशेष सावधानी एवं सुव्यवस्था के साथ यह कार्य संचालित होता था।

व्यापार विभाग

वाणिज्य व्यापार के पर्यवेक्षण का भार इस विभाग पर था। उपयुक्त मूल्य में मुख्य वस्तुओं की बिक्री हो और सरकार द्वारा प्रवर्त्तित माप तौल काम में लाए जाएँ, इसकी ओर इस विभाग के कर्मचारी का ध्यान विशेष रूप से रहता था। व्यवसायियों से एक निर्दिष्ट राजशुल्क लेकर व्यवसाय करने की अनुमति दी जाती थी। जो एकाधिक वस्तुओं का व्यवसाय करते थे उन्हें निर्दिष्ट शुल्क का दूना देना पड़ता था।

वाणिज्य व्यापार

व्यवसायी नए और पुराने माल को अलग-अलग करके रखें, इसके लिए एक विशेष कानून बना हुआ था। जो व्यवसायी इस कानून का उलंघन करता था उसे अर्थ दंड दिया जाता था। नए और पुराने माल पर एक ही दर से कर नहीं लगता था।

व्यापार कर वसूल विभाग

वाणिज्य व्यवसाय की बिक्री से जो धन प्राप्त होता, उसका दशमांश राज्य को कर के रूप में देना पड़ता था। इस करके वसूल करने का भार एक पृथक् विभाग पर था। यदि कोई व्यवसायी सरकार को इस कर से वंचित करने के अपराध में पकड़ा जाता या भ्रष्चाटार करता तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था।

पाटलिपुत्र में ही नहीं, मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत तक्षशिला, उज्जयिनी आदि बड़े-बड़े नगरों में नगर-पालिका समितियाँ थीं जिन पर नगर का प्रशासन एवं सुप्रबन्ध का भार सौंपा गया था।.

बाजार, बंदरगाह, मन्दिर, धर्मशाला आदि सार्वजनिक संस्थाए भी राज कर्मचारियों के तत्वावधान में थीं।

प्रशासन विभाग

दूरवर्ती प्रदेशों का प्रशासन कार्य परिचालित करने के लिए एक-एक राज प्रतिनिधि नियुक्त किए गए थे। साधारणत: राजवंश के लोग ही राज प्रतिनिधि नियुक्त होते थे।

दूरवर्ती प्रदेशों के राजकर्मचारी किस रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं, इसकी जानकारी के लिए संवाद-लेखक एवं संवाद-वाहक रखे जाते थे। वे कर्मचारियों पर लक्ष्य रखा करते थे और नगर या ग्राम में जहाँ जो कुछ घटित होता उस के समाचार केन्द्रीय प्रशासन को दिया करते थे। इनके सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान करके प्राचीन ऐतिहासिक एरियन ने लिखा है कि वे कभी सत्य का अप्रलाप नहीं करते और उस समय मिथ्या भाषण करना भारतीयों के स्वभाव के विरुद्ध था।

राजस्व विभाग

राजस्व और कृषि विभाग के अध्यक्ष को जमीन का लगान निर्धारित करते समय इस बात की ओर भी लक्ष्य रखना पड़ता था कि जमीन की सिंचाई किस तरह हो सकती है। आमतौर से राजा उत्पन्न पदार्थ का एक चतुर्थांश राजकर के रूप में ग्रहण करता था। इसके सिवा सिंचाई के लिए जल कर के रूप में भी कृषकों को राज कर देना पड़ता था। इन सब के अतिरिक्त राजा आवश्यकतानुसार प्रजा से चन्दा भी लिया करता था। इसप्रकार विभिन्न नाम और विभिन्न दृष्टियों से प्रजा को अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे।

गुप्तचर विभाग

प्रजावर्ग के मनोगत अभिप्राय और प्रशासन के सम्बन्ध में उनके विचार की जानकारी के लिए राजा की ओर से अनेक गुप्तचर नियुक्त होते थे। इनकी कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में भी कितने ही नियम और कानून बने हुए थे। राजकार्य साधन के लिए ये कोई कार्य बिना किसी हिचक के कर सकते थे।

कृषकों को राजा के युद्ध कार्य में कभी सक्रिय सहायता नहीं देनी पड़ती थी। यहाँ तक कि आक्रमणकारी और आक्रान्त दोनों पक्ष समान रूप में इनकी रक्षा करते थे। मेगास्थनीज ने लिखा है कि अनेक बार ऐसा देखा जाता था कि दोनों पक्षों में घनघोर संग्राम चल रहा र और पास में ही कृषक निश्चिन्त होकर कृषि कार्य कर रहे हैं।

सिंचाई विभाग

खेतों की सिंचाई के लिए चन्द्रगुप्त ने एक पृथक् विभाग की स्थापना की थी। जमीन की माप करने का भार भी इसी विभाग पर था। प्रत्येक कृषक को सिंचाई के लिए आवश्यकतानुसार पानी मिल सके, इसके लिए यही विभाग उत्तरदायी था। जिस प्रान्त में नदी नाले नहीं थे, वहाँ नहर खोद कर दूर के जलाशय से पानी लाने का प्रबन्ध किया जाता था।

दण्ड विधि

उस समय भारतवासी साधारणत: अत्यन्त सत् एवं सच्चाई और ईमानदार प्रकृति के होते थे। जिस समय अशोक के शिविर में ग्रीक दूत मेगस्थनीज वास करता था, वहाँ लगभग चार लाख मनुष्य थे। इतनी जन-संख्या होते हुए भी वहाँ दैनिक चोरी का नाम न था। इस सम्बन्ध में ग्रीक दूत ने लिखा है कि लोग साधु प्रकृति के थे और दण्डनीय अपराधों के लिए कठिन दण्ड देने की व्यवस्था थी। कोई किसी की अंग हानि करता तो उसका वही अंग नष्ट कर दिया जाता था। इसके सिवा अपराधी का हाथ काट दिया जाता था, किन्तु राजकार्य में नियुक्त किसी शिल्पी या कारीगर की अंग हानि करने पर अपराधी को प्राणदण्ड दिया जाता था। झूठी गवाही देने पर हाथ-पाँव और नाक का अग्रभाग काट दिया जाता था।

समाज जीवन

उस समय अधिकांश मनुष्य ग्रामों में वास करते थे। और उनकी जीविका का मुख्य साधन कृषि था। मध्यवित्त और साधारण दोनों वर्ग के लोग कृषि के शान्तिपूर्ण व्यवसाय में लगे हुए थे। कुछ बड़े भू-स्वामी भी थे जिनकी समाज में उच्च मान प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय भी कृषि व्यवसाय द्वारा जीविका निर्वाह करते थे। कृषि व्यवसाय पर किसी एक ही वर्ण का एकाधिकार नहीं था। भू-स्वामीगण सूद पर रुपया उधार देने का व्यवसाय भी करते थे। विशेषकर नगरों में रहनेवाले बड़े बड़े भू-स्वामी ग्रामों में रहनेवाले लोगों के साथ रुपया उधार देने का कामकाज करते थे। अभिजातवर्ग के भू-स्वामी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। उनके पास दास, बैल, गाएँ और भैंस आदि गृह पालित पशु तथा धन के रूप में सोना, चाँदी आदि द्रव्य होते थे। साधारण वर्ग के किसान अपना खेत जोत कर तथा दूसरों के खेतों में मजदूरी करके अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे।

कृषि उत्पादन और उपयोग

खाद्य पदार्थों में चावल का स्थान प्रमुख था। खेतों में सब से अधिक धान की खेती हुआ करती थी। राजकीय परिवारों में तीन वर्ष के पुराने सुवासित चावल का व्यवहार होता था। उत्सव अनुष्ठान आदि के अवसर पर चावल को विशेष रूप से सुवासित किया जाता था। भोजन में भात के साथ ताजा घी और लाल मछली का विशेष रूप से व्यवहार किया जाता था और यह अति स्वादिष्ट भोजन समझा जाता था। जातक ग्रन्थों में धान की खेती का पूर्ण विवरण किया गया है। खेत तैयार हो जाने पर हल कर्षण का उत्सव होता था। इस अवसर पर सर्वप्रथम राजा हल कर्षण करता था और वह इस बात का सूचक होता था कि फसल बोने का समय आरम्भ हो गया है। अनाज पकने पर खेतों के मालिक दीन-दुखियों को अन्न की सहायता देते थे। धान के अतिरिक्त गेहूँ, जौ, सरसों तथा दूसरे अन्नों की भी उपज की जाती थी सब प्रकार की साग-सब्जियाँ और फल प्रचुर परिमाण में पैदा किए जाते थे। बागीचों में, आम, केला, नारियल, खजूर, अंगूर आदि के पेड़ और पौधे विशेष रूप में पाए जाते थे। आम के ऐसे भी वृक्ष थे जिनमें वर्षभर फल लगते थे।

कपास की खेती व्यापक रूप से होती थी। घरों में स्त्रियाँ महीन सूत कातती थीं जिनसे कपड़े बुने जाते थे। सूत को विभिन्न रंगों में रँगने की कला भी प्रचलित थी। रेशम के कीड़ों को पालने और उनसे सूत निकालने की प्रक्रिया भी लोग जानते थे। रेशमी वस्त्र का व्यवहार अभिजात वर्ग के लोग करते थे। ईख की खेती व्यापक रूप से होती थी और उससे गुड़ और शक्कर तैयार होती थी। भोजन में शहद का भी व्यवहार किया जाता था।

[illegible]

पशु पालन

ग्रामीण जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग था, पशु-पालन व्यवसाय। अच्छे अभिजातिक बैल और साँड़ पाए जाते थे। उस समय दूर-दूर तक यातायात एवं वाणिज्य व्यवसाय का मुख्य वाहन बैलगाड़ी थी। इसलिए अच्छे ढंग से पशु-पालन पर पूरा ध्यान दिया जाता था। साँड़ों को गृहस्थजन खिलाते थे और गायों के प्रति पूज्य भाव रखते थे। प्रत्येक भू-स्वामी या कृषि व्यवसायी की अपनी गोशाला होती थी, जिसमें बहुत-सी गाएँ रहा करती थीं। वर्ष में कुछ दिनों के लिए जब खेतों में भरपूर फसलें लगी रहती थीं गायों को एक चरवाहे के आधीन जंगल में चरने के लिए भेज दिया जाता था। गाय और बैल के अतिरिक्त घोड़ा तथा दूसरे जानवरों के पालने का व्यवसाय होता था। अच्छी अभिजाति के घोड़ों की बड़ी माँग थी। सिन्ध प्रदेश के उत्तम अश्व रथों में जोते जाते थे और सेना के उपयोग में आते थे। सिन्धी घोड़ों का व्यवसाय सारे देश में चलता था। सिन्धी गधों का व्यापारी लोग माल ढोने और फेरी लगा कर माल बेचने के लिए उपयोग करते थे। जिन पशुओं का मांस लोग खाते थे, उन्हें भी अपने घरों में पालते थे।

व्यापार एवं वाणिज्य

व्यापार एवं वाणिज्य उन्नतिशील थे। कारीगरी की वस्तुएँ प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत होती थीं और बिकती थीं। एक-एक जाति के कारीगरों का सुसंगठित संघ था। देश के विभिन्न भागों में अनेक नगर स्थापित हो चुके थे और ये नगर ही वाणिज्य व्यवसाय एवं वस्तु निर्माण के केन्द्र बन गए थे। विभिन्न नगर परस्पर राज मार्ग द्वारा सम्बन्धित थे। सुदूर स्थानों में व्यापार के लिए सार्थवाह चलते थे जिनके साथ बैलगाड़ियाँ होती थीं। जल मार्ग से भी व्यापार होता था। नावों द्वारा लोग बड़ी-बड़ी नदियों को पार करते थे। मरुभूमि की यात्रा रात में की जाती थी, दिन में नहीं। व्यापारी अधिकतर सार्थवाह के साथ चला करते थे।

राजमार्गों में स्थान

राजमार्गों में स्थान-स्थान पर विश्राम-गृह निर्मित थे, जहाँ सब श्रेणी के यात्री ठहरा करते थे। प्रत्येक राज्य के मुख्यालयों में भी इस प्रकार के विश्राम-गृह बने हुए थे, जहाँ केवल ठहरने का ही नहीं, बल्कि भोजन, पान और आमोद-प्रमोद की भी व्यवस्था रहती थी। व्यापारी आराम से विश्राम-गृह में ठहर सकें और उनके पण्य सुरक्षित रहें. इसके लिए समुचित प्रबन्ध था।

शिक्षा

प्रारम्भिक शिक्षा का व्यापक प्रचार था। ग्राम पाठशालाओं में निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। साधारण लिखना-पढ़ना और गणित की शिक्षा सभी को दी जाती थी। लकड़ी की पाटी और भोजपत्र लिखने के साधन थे। शिक्षण कार्य प्रायः पुरोहित या गाँव के मठ मन्दिर के पुजारी, साधु आदि किया करते थे। अपने माता-पिता और अन्य अभिभावकों से बालक पौराणिक कथाएँ सुन कर कंठस्थ कर लेते थे।

प्रारम्भिक पाठशालाओं के अतिरिक्त महाविद्यालय, कालिज भी धनधान्य पूर्ण ग्रामों अथवा छोटे-छोटे नगरों में स्थापित थे। मध्यवित्त तथा धनिक वर्ग के लोग अपने बालकों को महाविद्यालयों में भेजते थे। महाविद्यालय में अनेक अध्यापक होते थे और वे अपने परिवार के साथ वहीं रहते थे। उनके भरण-पोषण का भार स्थानीय जनगण पर होता था। सम्पन्न छात्र गुरु-दक्षिणा के रूप में कुछ धन दिया करते थे। छात्रों के भोजनादि की निःशुल्क व्यवस्था की जाती थी।

महा विहार

उस समय के विश्वविद्यालयों में तक्षशिला प्राचीनतम विश्वविद्यालय था। तक्षशिला के उपरान्त नालन्दा का स्थान था। नालन्दा विश्वविद्यालय विद्या एवं ज्ञान विज्ञान, धर्म, दर्शन आदि का केन्द्र था। इसकी प्रसिद्धि केवल देश में ही नहीं विदेशों में भी थी। विदेशों से भी शिक्षार्थी यहाँ ज्ञानार्जन के लिए आते थे। भगवान् बुद्ध के समय में ही नालन्दा में एक बौद्ध बिहार की स्थापना हुई थी। मौर्य सम्राट् अशोक के शासन काल में एक शिक्षण संस्था का रूप इसने ग्रहण किया था। तदुपरान्त बालादित्य के राज्यकाल में नालन्दा एक विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया था। इस विश्वविद्यालय में १५०० अध्यापक और १० हजार छात्र अध्ययन एवं अध्यापन करते थे। समग्र साम्राज्य में उस समय चार महा विहार थे। वज्रासन, नालन्दा, उदन्तपुरी और विक्रमशिला। इनमें नालन्दा का स्थान सर्वप्रथम प्रधान था। यहाँ बौद्ध धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त ब्राह्मण दर्शन, जैन दर्शन, साहित्य, वैदिक शास्त्र, कला कौशल आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। यह एक आवासिक विश्वविद्यालय था जहाँ अध्यापक और शिक्षार्थी साथ रह कर अध्ययन व अध्यापन करते थे।

आश्रमों में गुरुगृह में जहाँ शिक्षा दी जाती थी वहाँ गुरु सन्तानवत् छात्रों के प्रति स्नेह भाव रखते थे। आश्रम में धार्मिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

सामरिक शिक्षा में बाणविद्या का महत्व सब से बढ़ कर था। इसके लिए अनेक केन्द्र स्थापित थे, जहाँ धनुषबाण का प्रशिक्षण दिया जाता था। धनुर्विद्या की कलाओं में गणना होती थी और इस कला में जो कुशल होते थे उन्हें उच्च वेतन दिया जाता था। तक्षशिला में इस कला की शिक्षा विशेष रूप में दी जाती थी। इस प्रकार मल्ल विद्या की शिक्षा देने का प्रबन्ध था। बड़े-बड़े शक्तिशाली मल्ल जो अपनी विद्या में कुशल थे, इसकी शिक्षा देते थे। समय-समय पर नगरों में उनके दंगल होते थे और दंगल देखने के लिए सारा नगर उमड़ पड़ता था।

चिकित्सा

समाज में चिकित्सा का प्रमुख स्थान था। उसकी उपयोगिता सब लोग स्वीकार करते थे। वैद्यक शास्त्र में ये निपुण होते थे। चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व वे रोग का निदान कर लेते थे। एक श्रेणी के चिकित्सक वे थे जो सर्प-विष चिकित्सा में निपुण थे। पशु चिकित्सा की भी व्यवस्था थी। राज परिवारों में एवं धनिक घरों में धाइयाँ नवजात शिशुओं के पालन-पोषण के लिए नियुक्त की जाती थीं। इन धाइयों को शिशु-पालन का पूर्ण ज्ञान होता था।

संगीत

समाज में संगीत विद्या का प्रचलन था। और संगीतज्ञों का समाज में उच्चतर सम्मान था। उच्च शास्त्रीय संगीत को विशेष मर्यादा दी जाती थी। बनारस और उज्जैन उस समय संगीत विद्या के केन्द्र थे। बनारस में संगीत की उच्च शिक्षा दी जाती थी और देश के विभिन्न भागों से शिक्षार्थी वहाँ संगीत की शिक्षा प्राप्त करने आते थे। नर्तकियाँ कंठ संगीत, यंत्र संगीत एवं नृत्य कला में निपुण होती थीं।

शिल्पकला

ग्रामों में विभिन्न वर्गों के कारीगर रहते थे जिनमें बढ़ई, लुहार, कुम्भकार, तथा हाथी-दाँत पर काम करनेवाले मुख्य थे। ये सब कारीगरी विद्या में निपुण होते थे। बढ़ई द्वारा रथ आदि तयार किए जाते थे। लुहार खेती के औजार तथा लोहे की छुरी, भाला तथा अस्त्र-शस्त्र आदि प्रस्तुत करने में निपुण होते थे।

राजा के कर्त्तव्य

न्याय विचार के लिए राजा प्रति दिन एक बार प्रजा के सामने उपस्थित होते थे। उस समय वे स्वयं ही अभियोग सुनते और उसका विचार करते थे। इसके सिवा यज्ञ, पूजा, युद्ध, मृगया या उत्सव के अवसर पर भी राजा सर्वसाधारण के समक्ष प्रकट होते थे। ऐश्वर्य का जीवन यापन करने पर भी सम्राट् के मन में प्रजा का हित और देश की शान्ति का खयाल रहता था। दरबार ऐश्वर्य के साधनों से भरपूर रहता था। स्वर्ण और माणिक मुक्ता के पात्र एवं बेलबूटेदार वसन आदि देख कर आँखें चौंधियाँ जाती थीं। मोतियों की मालाओं से युक्त सोने की पालकी पर सवार होकर राजा सर्व-साधारण के सामने उपस्थित होता था। राजा घोड़े की सवारी भी करता था। मनोरंजन के लिए मलयुद्ध तथा बैल, भैंस, हाथी और गैंड़े की लड़ाइयाँ प्रदर्शित होती थीं। साँड़ों की दौर हुआ करती थी। राजा स्वयं इन सब में सम्मिलित होता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सम्राट् के दैनिक कार्यक्रम का जो विवरण दिया गया है उससे पता चलता है कि सम्राट् का जीवन भोग-विलास का न होकर निरन्तर क्रियाशीलता का होता था। सम्राट् धर्मपूर्वक शासन कार्य चलाएँ और सब के साथ समता का व्यवहार करें। प्रजा की सुख समृद्धि में ही अपनी सुख समृद्धि समझें। अशोक के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि सम्राट् तक पहुँचने की स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी बाधा के थी। अशोक ने अपने एक प्रस्तर लेख में लिखा है कि सार्वजनिक कार्य के लिए वह सदा तत्पर रहता है और वह प्रत्येक क्षण चाहे जहाँ जिस अवस्था में हो वह सूचना प्राप्त होने पर कार्य सम्पन्न करने के लिए तैयार रहता है। सम्राट् कोई महत्वपूर्ण कार्य करने के पहले अपनी सचिव परिषद् का परामर्श ले लेते थे।

महान् सम्राट् अशोक

अशोक को अपने पितामह चन्द्रगुप्त से एक विशाल एवं सुव्यवस्थित साम्राज्य प्राप्त हुआ था। उसके जैसा प्रजा-वत्सल्य नरेश दूसरा नहीं हुआ। अपने कलिंग के शिला लेख में उन्होंने घोषणा की थी :—

"सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं और जिसप्रकार मैं अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ उसी प्रकार मैं प्रजा के ऐहिक एवं पारलौकिक हित और सुख की कामना करता हूँ।" अशोक ने एक नए प्रकार के कर्मचारियों की नियुक्तियां की जिनकी संज्ञा "धर्म महापात्र" थी और जो प्रजा के ऐहिक एवं पारलौकिक कल्याण सम्पादन में निरत रहते थे। मौर्य दण्ड-नीति कठोर थी। अशोक ने धर्म महापात्रों की दण्ड-नीति की कठोरता कम करन का निर्देश दिया था। अपने राज्याभिषेक की वर्ष-तिथि के अवसर पर कैदियों को कारागार से मुक्त करने तथा प्राण-दण्ड पाए हुए अपराधियों के जीवन की अवधि तीन दिन और बढ़ाने का भी आदेश प्रचारित किया था।

शासन के कठोर उत्तरदायित्व के साथ असोक ने उदारता एवं सहृदयता का भी समावेश करके राजा का जो आदर्श उपस्थित किया था, वह आज भी शासकों के लिए अनुकरणीय है। बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद अशोक ने दिग्विजय के लिए कभी सैनिक अभियान नहीं किया। उन्होंने राज्य शासन एवं लोक-धर्म में जिस आदर्श की स्थापना की उसके कारण ही, उनकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ महामना सम्राट् के रूप में की जाती है।

शिकार राजा का प्रधान व्यसन था। बड़ी धूमधाम के साथ राजा शिकार के लिए बाहर निकलता था। हाथी पर सवार होकर दुर्गम वन में शिकार किया जाता था। शिकार के समय भी राजा अंग-रक्षिकाओं से परिवेष्ठित रहता था।

उस समय सवारियों में विशेषत: ऊँट, घोड़े आदि का व्यवहार किया जाता था। धनीजन हाथी की सवारी किया करते थे। धनी मानी व्यक्ति चार घोड़े की गाड़ी पर सवार होकर बाहर निकलते थे। घोड़े की सवारी सामान्य रूप से प्रचलित थी।

ब्राह्मण धर्म

उस समय ब्राह्मण धर्म की सर्वत्र प्रधानता थी। महान् त्याग, उच्च विचार, पवित्र आचरण एवं गम्भीरता के कारण समाज में ब्राह्मणों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। राजा उनके परामर्श से शासन कार्य चलाते थे। बौद्ध श्रमण भी ब्राह्मण साधुओं की भाँति ही वन में रहते और कन्द-मूल पर निर्वाह करते थे। इन्द्र, कृष्ण और बलराम की पूजा की जाती थी। गंगा नदी और वृक्षों की भी पूजा होती थी।

इसमें अणु मात्र भी सन्देह नहीं कि भारत की प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा में बिहार का स्थान असामान्य गौरवपूर्ण था और मौर्यकालीन बिहार राजनीतिक क्षेत्र में उस समय सम्पूर्ण जगत का नेतृत्व करता था।

★★

हिन्दी के विकास में बिहार की महान् देन

श्री श्रीरंजन सूरिदेव

निःसन्देह हिन्दी की उत्पत्ति बिहार में हुई और हिन्दी साहित्य के इतिहास की नींव भी यहीं पड़ी, केवल नींव ही नहीं पड़ी, वरन् उसका प्रथम परिच्छेद भी बिहार में ही लिखा गया। बताना न होगा कि संस्कृत की गोद से निकली हुई हिन्दी जिन प्राकृत और पाली भाषाओं के प्यार के आकार में परिपुष्ट होकर आज राष्ट्रभाषा के आसन पर समासीन है, उन भाषाओं प्राकृत, पाली और अपभ्रंश का भी केन्द्र स्थल मूल-भूमि बिहार ही है।

सभी जानते हैं कि तीर्थङ्कर महावीर और बोधिसत्व बुद्ध इन दोनों महापुरुषों का आश्रय पाकर प्राकृत और पाली अपने समय में जनभाषा या राष्ट्रभाषा बन गई थीं एवं अपभ्रंश ने जैन और बौद्ध सिद्धों के धार्मिक प्रवचन के माध्यम से जनजीवन के अन्तर्मन में वरेण्य स्थान प्राप्त कर लिया था।

वस्तुतः बिहार में जैन और बौद्ध महापुरुषों तथा सिद्धों की उपर्युक्त जनभाषा ही परिष्कृत होती हुई राष्ट्रभाषा हिन्दी के रूप में परिणत हो गई।

बिहार को ही यह गौरव प्राप्त है कि उसने हिन्दी को न केवल सरपा, जैसा कि प्रथम कवि और चिन्तक दिया वरन् ज्योतिरीश्वर जैसा सबल गद्यकार भी दिया। आज से सात सौ वर्ष पूर्व के ज्योतिरीश्वर हिन्दी के प्रथम गद्य लेखक थे, यह विवाद विषय उनकी अमूल्य कृति वर्णरत्नाकर में निर्विवाद है। सात कल्लोलों के परिच्छेदों में विभाजित वर्णरत्नाकर में सात विशद वर्णनाएँ जैसे नगर वर्णना, नायक वर्णना, ऋतु वर्णना आदि प्रस्तुत की गई हैं जिनमें मानव जीवन के व्यवहार और उपयोग में आनेवाली विविध वस्तुओं का समुचित और सांगोपांग चित्रण हुआ है।

बिहार के कविकोकिल विद्यापति ने केवल बौद्ध सिद्धान्तर हिन्दी के आदि कवि के रूप में विख्यात हैं, वरन् समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की परिपाटी के सन्धि स्थल पर मेरु की तरह अपनी प्राचीनता और अर्वाचीनता को सिद्ध करने वाले के रूप में भी उनकी शाश्वती प्रतिष्ठा है।

परवर्ती हिन्दी साहित्य पर विद्यापति की प्रवृत्ति और शैली का पर्याप्त प्रभाव होता है। यदि विद्यापति जैसा आदि स्रोत न रहता तो मध्यकालीन हिन्दी की भक्ति और रीति की धारा का प्रस्फुटन सम्भव न होता। कहना न होगा कि एकमात्र विद्यापति की प्रतिभा से ही उत्तरी भारत की समस्त हिन्दी साहित्यिक धाराओं को नवीन उन्मेष मिला।

बिहार में विद्यापति के बाद मध्यकालीन शिव शक्ति और कृष्ण भक्ति शाखा में उमापति कवयित्री चन्द्रकला, हरपति, भानुकवि, जीवनाथ, श्रीधर, गोविन्द, महेश ठाकुर, लोचन, गोविन्ददास, कुंजनदास, बबुअन आदि, भक्ति शाखा में धरणीदास, दरिया साहब, शिवनाथदास आदि और तदन्तर्गत सरभंग सम्प्रदाय में टेकमनराम भिनकराम, भीखराम, आनन्दराम, रजपत्ती आदि हिन्दी सर्जकों के नाम बड़े सम्मान के साथ लिए जाते हैं।

राममार्गी शाखा में शिवदीन बलदेव कवि सन्त सूरजदास रामेश्वरदास, शिवप्रसाद, रामा, कोलेश्वर बाबा आदि ने राम भक्ति साहित्य को प्रशंसनीय समृद्धता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त गोसाई साहित्य के सर्जकों में साहब रामदास, लक्ष्मीनाथ, गोसाई रामरूपदास के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल भारतीय राजनीति का मुगल काल है जिसे हिन्दुओं का सामाजिक और सांस्कृतिक आपत्काल कहा जाता है। आद्यन्त मुगल काल में बिहार की कोई स्वतंत्र स्थिति न रहने के कारण शान्ति का अत्यन्ताभाव बना रहा। धर्म और राज्य दोनों प्रकार के आश्रय निराश्रय हो गए थे। अतः बिहार

का तत्कालीन हिन्दी साहित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध नहीं है। कम-बेश जो भी साहित्य उपलब्ध होता है, वह मुख्यतः मिथिला दरबार के द्वारा प्राप्त आश्रय के कारण ही है।

बिहार की पुण्यभूमि मिथिला ने अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों के कारण वैष्णव शैव और शाक्त तीनों सम्प्रदायों का एक वैचित्र्यपूर्ण समाहार उपस्थित किया है। बिहार का मध्यकालीन साहित्य परिमाण में विचेय है सही, परन्तु गुण में पांक्तेय है। जो भी हो यह असंदिग्ध है कि बिहार का तत्कालीन साहित्य भाव और शैली दोनों दृष्टियों से अधिकांशतः मौलिक और प्रभावक भी है।

बिहार के निर्गुण भक्ति साहित्य की सम्पन्नता के प्रसंग में यह कहना समीचीन होगा कि दरियापंथी और सरपंथी साहित्य के विषय में उसके एकमात्र बिहारी गवेषक डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रकाशित शास्त्रीजी की "सन्तकवि दरिया : एक अनुशीलन" तथा प्रकाश्यमान सन्तमत का सरभंग सम्प्रदाय पुस्तकें अत्यधिक प्रामाणिक हैं।

गोसाईं साहित्य मिथिला के वैष्णव भक्तों की एक विशिष्ट देन है। इन वैष्णवों में प्रायः सभी उच्च कुलागत थे। जनता इन्हें गोसाईं के नाम से पुकारती थी। इन लोगों ने देश भाषा मिश्रित हिन्दी के माध्यम से सगुण भक्ति के प्रचार में अधिक योग दिया।

रीतिकालीन शृंगार शाखा में मंगनीराम, मोदनारायण, माधव, श्रीपति, महीपति, चक्रपाणि, नन्दीपति तपसीराम, रामाप्रियाशरण, जिन्होंने "सीतायतन" नामक एक वृहत् काव्य ग्रन्थ लिखा था और जिसकी एक प्रति मिश्रबन्धुओं को छत्रपुर दरबार में मिली थी तथा सूर्यपुरा रियासत के राजा राजराजेश्वरीप्रसाद प्यारे कवि आदि बिहारी कवियों की साहित्यिक देन हिन्दी संसार के लिए महान् महत्व का विषय है।

यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दी साहित्य के रीतिकाल तक का समग्र भारतीय साहित्य भोगवादियों, सम्प्रदायवादियों एवं कोरे दर्शनवादियों से संकुल रहा। जीवन का जन से कोई लगाव नहीं रह गया था। ऐसे समय में बिहार की मिथिला में किरतनिया नाटकों के निर्माण ने प्रशंसनीय प्रतिष्ठा प्राप्त की। नाटक में जन-जीवन की आत्मा बसती है। मिथिला के किरतनिया नाटकों के द्वारा विलासमग्न राजतंत्र से यंत्रित जन-जीवन को ईषत् स्फुरण स्पन्दन मिला। ऐसी सम्भावना की जाती है कि यह नाटक बंगाल के कीर्तन या यात्रा की शैली पर मिथिला में उमापति द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ और इसीलिए लोग देशी भाषा में उसे किरतनिया कहने लगे।

हिन्दी में सब से पहला उक्त किरतनिया संज्ञक मिश्रित भाषा निबद्ध नाटक विद्यापति का ही लिखा प्राप्त होता है—"गोरक्ष विजय नाटक"। कहा तो जाता है कि यह नाटक महाराज शिवसिंह के आदेश से पन्द्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में लिखा गया था।

विद्यापति के अतिरिक्त अन्यान्य बिहारी नाटककारों में गोविन्द, देवानन्द, उमापति उपाध्याय, रमापति उपाध्याय, लालकवि, गोकुलानन्द, शिवदत्त, रत्नपाणि, भानुनाथ, हर्षनाथ आदि के नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकनीय हैं।

इसप्रकार जैन व बौद्ध सिद्धों के काल—आदिकाल से रीतिकाल, सातवीं व आठवीं से सत्रहवीं, अट्ठारहवीं शती तक ध्यान से देखने पर यह अस्पष्ट नहीं रह जाता कि बिहार में साहित्य की एकतान परम्परा आदितः चली आ रही है, जो समस्त हिन्दी साहित्य में अपना मूर्द्धन्य स्थान रखती है। कदाचित् किसी को यह अस्वीकार्य नहीं होगा कि जब भी हिन्दी के विकास सम्बन्धी किसी विषय पर विवेकशालियों की विवेचनात्मक बुद्धि उद्बुद्ध होगी तब बिहार की साहित्यिक साधना और सर्जना को प्राथमिकता देनी पड़ेगी।

आधुनिक काल में अट्ठारहवीं उन्नीसवीं शती की आधुनिक हिन्दी गद्य की पहली किरण बिहार के क्षितिज पर फूटी। एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता द्वारा प्रकाशित पंडित सदल मिश्र आरा शाहाबाद निवासी रचित "चन्द्रावती" परिष्कृत हिन्दी गद्य का पहला ग्रन्थ है। यह पुस्तक फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ता की वर्ना-

स्कूल बुक सोसाइटी के अधिकारियों के आदेश से पाठ्य पुस्तकों के लिए गद्य निर्माण की आवश्यकता पूरी करने के उद्देश्य से लिखी गई थी। सदल मिश्र की भाषा कुछ-कुछ पुरानी शैली की होने पर भी उसकी शब्द योजना और पदविन्यास अत्याधुनिक यानी बीसवीं शती की हिन्दी के निकटतम है। बाबू श्यामसुन्दर दास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी गद्य के प्रतिष्ठापकों में सदल मिश्र को पांक्तेयता प्रदान की है और कहा है कि मिश्र जी की भाषा में आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास पाया जाता है। उदाहरणत: :—

"उस वन में व्याघ्र और सिंह के भय से वह अकेली कमल के समान चंचल नेत्रवाली व्याकुल हो ऊँचे स्वर से रो-रो कहने लगी कि अरे बिधना तैंने यह क्या किया और बिछुरी हुई हिरनी के समान चारों ओर देखने लगी।"

—सदल मिश्र : चन्द्रावती

हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक युगों को गति मन्थर होते हुए भी बिहार में गद्य निर्माण का काम अप्रतिहत रूप से हुआ। यहाँ के मिशनरी तथा पादरियों ने भी धर्म प्रचार के निमित्त हिन्दी को आधार बनाया। सन् १८०९ ई० में इंजिल का अनुवाद "नए धर्म नियम" नाम से मुद्रित हुआ और सन् १८१८ ई० में बाइबिल का हिन्दी अनुवाद पूरा होकर प्रकाशित हुआ। इन पादरियों के प्रचार केन्द्र थे मुंगेर और भागलपुर। मुंगेर के पादरी जान साहब कविता भी करते थे। हिन्दी में उनकी मुक्ति मुक्तावली प्रकाशित है। यह बात बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण से भी स्पष्ट होती है।

उन्नीसवीं शती का माध्यम हिन्दी गद्य की "प्रगति की दृष्टि से" विशेष महत्व का नहीं कहा जाएगा। कचहरियों में उर्दू की प्रधानता थी और पाठ्य पुस्तकों में अरबी, फारसी के शब्द का बोझ था। इस दिशा में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्दी भाषा के सुधारने में प्रयत्नशील अवश्य थे, किन्तु उर्दू का व्यामोह छूटा न था। उन्हीं की लिखी पाठ्य पुस्तकें बिहार के स्कूलों में भी चलती रहीं। पिनकाट साहब की लिखी "बाल दीपक" नामक पाठ्य पुस्तक भी जो चार भागों में खड्गविलास प्रेस पटना से निकली थी बिहार के स्कूलों में पढ़ाई जाती थी।

बिहार के शिक्षा क्रम में परिमार्जित हिन्दी गद्य पुस्तकों का प्रचार तब हुआ जब भूदेव मुखोपाध्याय के सदुद्योग से बिहार में हिन्दी पाठ्य पुस्तकों की रचना होने लगी। इस क्षेत्र में भूदेव मुखोपाध्याय की जो सप्रयत्न देन रही उसे हिन्दी-जगत् कभी भूल नहीं सकता। सन् १८८० ई० में भूदेव मुखोपाध्याय की उत्प्रेरणा से ही बाबू रामदीनसिंह ने बिहार दर्पण नामक पुस्तक लिखी, जिसमें बिहार के तेईस महापुरुषों की जीवनियाँ संकलित हैं। उसी समय बिहार में हिन्दी के प्राण प्रतिष्ठापक पं० केशवराम भट्ट बिहार शरीफ निवासी ने हिन्दी में व्याकरण लिखा, जिसको प्रामाणिक मान कर हिन्दी ग्रन्थों की रचना होने लगी। उन्नीसवीं शती के आठवें दशक में ही मुंशी राधालाल ने एक शब्दकोष हिन्दी में तैयार किया जो तत्कालीन सरकार द्वारा पुरस्कृत और प्रशंसित हुआ। यह कोष और उपर्युक्त भट्टजी का हिन्दी व्याकरण दोनों पुस्तकें हिन्दी में अपने विषय की पहली और कदाचित् सब से पहली पोथी हैं। इसके बाद तो गणपतसिंह बंगाली के हिन्दी प्रेमी गोविन्द बाबू, लक्ष्मणलाल, रामप्रकाश लाल, सीताराम शरण, भगवान प्रसाद, श्री रूपकलाजी, श्यामबिहारीलाल, संजीवनलाल, पं० बलदेवराम, बाबू गोकर्णसिंह आदि की गद्य में लिखी विविध विषयक पाठ्य पुस्तकें चल निकलीं। इस प्रकार स्वल्पकालिक प्रयास से ही शिक्षा के क्षेत्र में बिहार ने हिन्दी का ढिंढोरा निनादित कर दिया।

उसी समय 'बिहार बन्धु' नामक हिन्दी पत्र निकला जिसके द्वारा लगातार तीस वर्षों तक पं० केशवराम भट्ट ने हिन्दी की शैली को परिमार्जित करने का भगीरथ प्रयत्न किया। अतिशयोक्ति न होगी कि हिन्दी का जो पौधा बीसवीं शती में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने "सरस्वती" के द्वारा उगाया उसका बीजारोपण पच्चीस वर्ष पहले ही भट्ट जी ने किया। भट्ट जी बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन थे। वे भारतेन्दु के साथ हिन्दी उन्नयन में योग देनेवालों में विशेष उल्लेख्य हैं। उस समय बिहार की हिन्दी आराधना में स्पृहणीय तत्परता आ गई। फलस्वरूप बिहार के कोने-कोने से पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं जिनमें भारत रत्न हरिश्चन्द्र कला

पीयूष प्रवाह सारन सरोज, चम्पारण चन्द्रिका, क्षत्रिय पत्रिका, खत्री हितैषी आदि पत्र आदर्श प्रमाणित हुए। भारतेन्दु युग में पंडित केशवराम भट्ट के नाटक, निबन्ध, व्याकरण, आलोचना एवं पत्र सम्पादन के द्वारा बिहार में हिन्दी की प्रगति सदा अग्रसर रही।

बिहार के उद्‌भट वैयाकरण, दार्शनिक, पत्रकार, वक्ता, अनुवादक, कवि तथा नाटककार पंडित विजयानन्द त्रिपाठी "श्री कवि" भारतेन्दु के प्रिय मित्रों में थे। उन्होंने उस समय साहित्य निर्माण में पूरा योग दिया। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दशम अधिवेशन पटना के स्वागताध्यक्ष पद से उन्होंने जो अपना मुद्रित भाषण पढ़ा था वह परिष्कृत हिन्दी गद्य का सुन्दर नमूना है। बिहार के हरिश्चन्द्र युगीन वयोवृद्ध साहित्यसेवी पंडित चन्द्रशेखर मिश्र चम्पारन, श्री यशोदानन्द अखौरी आरा, बाबू शिवनन्दन सहाय आरा, पंडित भुवनेश्वर मिश्र दरभंगा, सूर्यपुराधीश राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह शाहाबाद, पंडित गोपीनाथ मुजफ्फरपुर, रईस महाराजकुमार बाबू नर्मदेश्वर प्रसाद सिंह ईश दिलीपपुर शाहाबाद, रईस बाबू जैनेन्द्रकिशोर आरा, पंडित नकछेदी तिवारी अजानकवि डुमरांव शाहाबाद, दीनदयालसिंह भदवर शाहाबाद, लालदास दरभंगा, मुंशी ब्रजबिहारीलाल मदुकपुर शाहाबाद आदि ने हिन्दी गद्य में युगान्तर उपस्थित कर दिया। ये सब के सब हिन्दी उर्दू के भेद को दूर करने के पक्षपाती थे। बाबू रामदीनसिंह के द्वारा तो न केवल भारतेन्दु की रचनाओं के प्रकाशन का सर्वप्रथम श्रेय बिहार को मिला प्रत्युत् बिहारी लेखकों के सहयोग से हिन्दी के उत्थान का संकल्प भी बहुत अंशों में पूरा हुआ। वस्तुत: बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में बिहार ने हिन्दी की प्रगति में जो योग दिया वह सर्वथा श्लाघ्य और स्तुत्य है।

बीसवीं शती के पूर्वारण तक हिन्दी के प्रति लोक रुचि जागरित हो चुकी थी। सन् १६०० में इण्डियन प्रेस प्रयाग से सरस्वती निकली। हिन्दी का सौभाग्य कहिए कि सन् १६०३ में उसका सम्पादन सूत्र आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथ में आया। फलत: सरस्वती के सदुपयोग से हिन्दी साहित्य का प्रवाह शत सहस्र धाराओं में फूट निकला। द्विवेदीजी के लगातार बीस वर्षों के अकथ प्रयास के परिणामस्वरूप भारतेन्दु युगीन हिन्दी के तपस्वियों द्वारा सींची सजाई गई हिन्दी की वाटिका लहलहा उठी। हिन्दी संवर कर निखर उठी।

राजा कमलानन्द सिंह द्विवेदी युग के सर्वप्रथम बिहारी लेखक थे। आपने बंगला साहित्य विशेषत: वंकिम साहित्य का सुन्दर अनुवाद हिन्दी को दिया। द्विवेदी युग के दूसरे श्रेष्ठ बिहारी महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा थे। ये मौलिक विचारों के उत्कृष्ट गद्य लेखक थे। वे अपनी उद्‌भट विद्वत्ता और अद्‌भुत स्मरण शक्ति के चलते जंगम विश्वकोष कहलाते थे। महान् दार्शनिक तथा चिन्तक होकर भी उन्होंने अपने हृदय से विनोद का अपनोदन कभी नहीं किया। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से प्रकाशित योरोपीय दर्शन तथा रामावतार शर्मा निबन्धावली नामक पुस्तकें उनके सम्बन्ध में उपर्युक्त लिखित विशेषताओं को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। सचमुच महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा और महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ये दोनों साहित्य महारथी हिन्दी को शाश्वती प्रतिष्ठा दे गए हैं।

पंडित सकलनारायण शर्मा इस युग के धुरन्धर बिहारी लेखक हैं। उन्होंने हिन्दी गद्य को एक नई दिशा दी है। व्याकरण संगत भाषा लिखने में उनकी लेखनी सदा सावधान रहती है। शर्माजी ने शिक्षा का सम्पादन तथा आरा नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के साथ-साथ नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। द्विवेदी युग के द्विवेदी जी द्वारा विशेष स्नेह प्राप्त लेखकों में बिहार के कृतविद्य साहित्यसेवी प्रो० अक्षयवट मिश्र "विप्रचन्द्र" हिन्दी गद्य रचना के पारंगत विद्वान् हो गए हैं। उन्होंने पण्डितराज जगन्नाथ की संस्कृत रचना भामिनी विलास का हिन्दी गद्यानुवाद प्रस्तुत किया था। उनके अतिरिक्त सरस्वती के बिहारी लेखकों में पंडित जनार्दन झा, पंडित गिरीशचन्द्र मोहन मिश्र, पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, बाबू ब्रजबल्लभ आदि के नाम अविस्मरणीय हैं। ब्रजबल्लभ जी अपने युग के उपन्यास सम्राट् थे। तथा

मैथिली कोकिल विद्यापति नामक आलोचना पुस्तक लिख कर सब से पहले उन्होंने ही यह सप्रमाण सिद्ध किया कि महाकवि विद्यापति बिहार के थे, न कि बंगाल के। बिहार के हिन्दी क्षेत्र में विद्यापति की सादर प्रतिष्ठा कर उन्होंने हिन्दी साहित्य की चिरस्थायी सेवा की है। उपन्यास के क्षेत्र में अपनी एक ही रचना विमाता से सर्वप्रिय बनने वालों में दरभंगा के बाबू अवधनारायण का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। बिहारी सम्पादक श्री गोकुलचन्द प्रसाद वर्मा और छपरा निवासी पं० जीवानन्द शर्मा इस युग में बिहार के अच्छे पत्रकार हुए।

इस युग में पटना के नामी बैरिस्टर डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल की हिन्दी में शोध सेवाएँ स्तुत्य हैं। वे इतिहास और पुरातत्व के ठोस विद्वान् थे। पटना स्थित जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट से आज भी उनका नाम हिन्दी-जगत् में उजागर है। आरा के पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा विलक्षण प्रतिभाशाली लेखक थे। उन्होंने हिन्दीजगत् को श्री शिवपूजन सहाय जैसा साहित्यिक शिष्य देकर हिन्दी को सनाथ कर दिया। उस अमर साहित्यिक का कीर्ति स्तम्भ अशोक स्तम्भ की तरह सदा गर्वोन्नत रहेगा।

द्विवेदी युगीन एतत्प्रकार के हिन्दी साहित्य के उन्नायकों में पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, प्रो० राधाकृष्ण झा और पं० रामदहिन मिश्र के नाम बड़े उज्ज्वल हैं। हिन्दी साहित्य के शास्त्रीय पक्ष को प्रबल पुष्टरूप में उपस्थित करनेवालों में मिश्र जी का प्रयास अपरिमेय है। बिहार में हिन्दी साहित्य की शास्त्रीय आलोचना का जहाँ तक प्रश्न है, आपका स्थान आलोचक आचार्य मम्मट के समकक्ष है। इनके अतिरिक्त हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रों में जिन्होंने पर्याप्त काम किया, उनमें श्री दामोदर सहाय कविकिंकर, श्री पारसनाथसिंह, श्री रघुवीरनारायण श्री पीर मुहम्मद मूनिस, श्री नरेन्द्र नारायण सिंह, पं० योगानन्द, श्री देवेन्द्र किशोर जैन आदि उल्लेखनीय विभूतियाँ अग्रगण्य हैं। यहाँ पर यह कहना अप्रासांगिक न होगा कि सुप्रसिद्ध चन्द्रकान्ता उपन्यास के लेखक बाबू देवनन्दन खत्री की लोकप्रियता का आंशिक भागी बिहार भी है।

द्विवेदी युग के बाद बीसवीं शती के प्रथम द्वितीय दशक से हिन्दी का अखण्ड प्रवाह बिहार के उर्वर साहित्य क्षेत्र में और भी अतुल वेग से गतिशील हो उठा। परम्परा पुष्ट बिहार की हिन्दी के समक्ष अब कोई गत्यवरोध नहीं रह गया था। बिहार के इस हिन्दी युग को हम वर्तमान या अत्साधुनिक युग कहेंगे। यह युग सर्वथा स्वतंत्र रूप में बहुत पैमाने पर पल्लवित पुष्पित और फलित हुआ। यह युग बिहार के ही नहीं, वरन् समस्त हिन्दी संसार के लिए वह स्वर्णिम युग है, जिसमें एक से एक बिहारी लेखक और गवेषक आविर्भूति हुए।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् और बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी बिहार की हिन्दी संस्थाओं द्वारा होनेवाली सक्रिय हिन्दी सेवाओं से यह प्रकट है कि बिहार में हिन्दी की प्रगति हर कदम अपनी निखार पर है।

इस वर्तमान युग के हिन्दी साहित्य के बिहारी सर्जकों में श्री राजा राधिकारमणप्रसादसिंह, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, श्री मथुराप्रसाद दीक्षित, श्री जनार्दन प्रसाद झा, श्री देवव्रत शास्त्री, पं० नन्दकिशोर तिवारी, श्री शिवपूजन सहाय, डा० धीरेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, प्रो० नलिन विलोचन शर्मा, श्री उमानाथ, प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, प्रो० हरिमोहन झा, डा० विश्वनाथ प्रसाद, डा० देवसहाय त्रिवेदी, पं० जगन्नाथराम शर्मा, श्री रामखेलावन पाण्डेय, श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र, माधव, श्री ब्रजशंकर वर्मा, श्री रामधारीसिंह दिनकर, पं० मोहनलाल महतो वियोगी, श्री केदारनाथ मिश्र, 'प्रभात', श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, श्री रामदयाल पाण्डेय, श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा मुक्त, श्री आरसीप्रसादसिंह, श्री हंसकुमार तिवारी आदि यशस्वी कथाकार , उपन्यासकार, नाटककार, पत्रकार, आलोचक, कवि, गवेषक, तथा मौलिक विचारकों के नाम मूर्द्धन्य हैं जिनकी युगान्तरकारिणी महामहिम कृतियों और साहित्य साधनाओं से हिन्दी संसार अपरिचित नहीं है तथा जिनके निरन्तर योगदान से हिन्दी दिनानुदिन प्रगति करती हुई राष्ट्रभाषा पद की अधिकरिणी होकर तदनुक्रमशः विश्वभाषा बनने की तैयारी में तत्पर है।

**

गौरवशाली बिहार के प्राङ्गण में

श्री बच्चूप्रसाद सिंह

विश्व के इतिहास पर दृष्टि-निक्षेप करते ही यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि समग्र संसार में सांस्कृतिक सम्पन्नता की दृष्टि से भारत का स्थान सर्वोच्च है। और उसी क्षण इस विचार के साथ ही मानस पटल पर किसी अज्ञात अनजाने चतुर चितेरे की तूलिका अनायास अनवरत चलने लगती है। अनेकों रंग विरंगे चित्र बनते हैं, मानव मन को चन्द्रमा की शीतलता और ऊषा की अरुणिमा एक ही साथ सुलभ हो जाती है; वर्त्तमान के वातायन से अतीत को निहारना कितना स्वर्णिम, कैसा सुखद दीखता है। मन इस पथ पर आते ही मचलने सा लगता है। ललित भावनाओं से तरंगित मन यही बार-बार प्रश्न करता है, कि ये पत्थर के ऊबड़ खाबड़ टुकड़े कदाचित बोल पाते, ये ढहती दीवारें अपनी इमारत की बुलन्दी का इज़हार कर पातीं, इन बेजान बुतों को ज़बान मिल जाती और गंगा-यमुना की कलकल निनादिनी धारा अपनी रवानी के साथ कभी अपनी कहानी भी कह पातीं। विवशता है? लेकिन कैसी? यदि कालिदास की यह उक्ति—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' कई शताब्दियों बाद आचार्य जगदीशचन्द्र बोस के प्रयोगों से सत्य सिद्धि हो सकती है, तो वैशाली और नालन्दा के खंडहर भी बोल सकते हैं। प्रश्न है कि हम और आप उस ध्वनि को तेज कोलाहल की अवनि से सुन सकने में समर्थ हों—तब।

दीप्तमान प्रदेश

सांस्कृतिक गौरव-गरिमा किसी भी राष्ट्र की सबसे बड़ी निधि है और जिस तरह अपने देश के मस्तक पर हिमाच्छादित हिम-किरीट हिमालय और पैर पखारनेको तीन ओर से नीलवर्ण निस्सीम नदीश विद्यमान हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के हृत्प्रदेश में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता के उपकरण संजोये वैशाली, नालन्दा, बौद्ध गया, राजगिर और पाटलिपुत्र के भग्नावेष प्रस्तुत हैं। आज यदि संसार रोम और मिस्र के खंडहरों को देख कर दंग रह जाता है तो उसे वैशाली और नालन्दा के दर्शन करके भी श्रद्धा से नतमस्तक होना पड़ता है। भारत की महानता की ध्वजा यदि आज संसार में लहरा रही है तो उसकी जड़ इसी गौरवमयी भूमि में गड़ी है, जिसके कणकण से, प्रतिक्षण पंचशील का स्वर निस्तृत होता रहता है। यह वही भूमि है जिसने सीता को अवतीर्ण किया, जहाँ वर्द्धमान महावीर का प्रादुर्भाव हुआ, बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ और जिसने महात्मा चाणक्य की मेधा और चन्द्रगुप्त के भुज-बल को पनपाया और जिसने क्रूर अशोक को अशोक महान् बनाया। यही वह भूमि है, जिसने विश्व में सर्वप्रथम वैशाली में प्रजातन्त्र की स्थापना कर संसार को राजनीति में मार्ग दर्शन किया, जहाँ के आम्र कानन से भुवन-मोहिनी गणिका आम्रपाली की नूपुर-ध्वनि और उसके विलास बोझिल सौरभ की सुरभि आज भी झरती है, उस आमवृक्ष का कोना-कोना आज भी बुद्धं शरणं गच्छामि' के उस पावन पुनीत मर्मवाणी से ओतप्रोत है। धन्य है, वह बिहार की भूमि जिसने राजा जनक का ज्ञान, देवी सीता की शक्ति, वर्द्धमान का आविर्भाव, बुद्ध का बुद्धत्व, चन्द्रगुप्त का शौर्य, अशोक की महानता, वैशाली का प्रजातंत्र, आम्रपाली की रूप-गुण संपदा, शेरशाह का शासन, बाबू कुंवरसिंह के शस्त्रों की झंकार और राष्ट्रपिता गांधी का प्रथम एवं सफल नेतृत्व पाया।

ऐतिहासिक महत्व

बिहार की इस ऐतिहासिक परम्परा की जड़ अत्यन्त गहरी है और इसका प्रारंभ मानव सभ्यता के आरम्भ के साथ ही जुड़ा है। सारे प्रदेश में इतिहास के महत्त्वपूर्ण अंक बिखरे पड़े हैं और इसका कारण है कि संसार के दो अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध धर्मों के संचालक और संस्थापक बुद्ध और महावीर का कार्यक्षेत्र बनने

का सौभाग्य इसी अंचल को प्राप्त हुआ। नालन्दा का विश्व-विश्रुत विश्वविद्यालय, वैशाली का विशाल गढ़, शेरशाह का मकबरा, गुरु गोविन्दसिंह का जन्म स्थान इसी प्रान्त के गौरव-स्थल हैं। बिहार का उल्लेख भारतीय साहित्य के प्रत्येक प्रमुख क्षेत्रों में सुलभ है। अथर्ववेद में व्रात्य नाम की एक जाति विशेष का वर्णन है जिसे इतिहासकार आर्यों के आगमन के पूर्व मगध में वास करनेवाली जाति बताते हैं। उपनिषद् रामायण, महाभारत और पुराणों में वर्णित तथ्यों के अनुसार प्राचीन बिहार चार राज्यों में विभक्त था—विदेह, वैशाली, अंग और मगध। इन सभी राज्यों में वैशाली का स्थान सर्वोपरि है। इसने ही ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व प्रजातंत्र की स्थापना कर सारे मानव समाज के समक्ष एक उज्वल आदर्श उपस्थित किया था। वाल्मीकि रामायण में इसका उल्लेख किया गया है कि जब राम और लक्ष्मण राजर्षि विश्वमित्र के साथ मिथिला जा रहे थे तो उन्होंने गंगा पार कर वैशाली का निरीक्षण किया था। बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित इस वैशाली की स्थापना राजा विशाल ने की थी और उन्हें रामायण में रघुवंशी इक्ष्वाकु का पुत्र माना गया है। राजा विशाल दशरथ के समकालीन थे और विष्णुपुराण में इस राजवंश के चौंतीस राजाओं की एक सूची दी गई जिसका प्रारंभ नाभाग नामक नृप से किया गया है और उसीके दसवें राजा सुमति थे। वैशाली में गणतंत्र का गठन बुद्ध के प्रादुर्भाव के बहुत पूर्व हुआ था। चूंकि महाभारत में जब महारथी भीष्म ने गणतंत्रों के नाश होने के कारण तथा उनकी उन्नति के मार्गों का निर्देश किया था तो निश्चय ही उनकी दृष्टि में वैशाली का आदर्श गणतंत्र था। बुद्ध ने अपने प्रवचनों में वैशाली को प्राचीन गणतंत्र के नाम से सम्बोधित किया है। इस गणतंत्र के सात हजार सात सौ सात सदस्य थे और सभी को समानाधिकार प्राप्त थे। शासन कार्य सबके अलग-अलग थे; किन्तु सारे गणतंत्र के लिए कानून एक ही सर्वोच्च सभा बनाती थी। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है कि वैशाली में एक के नीचे दूसरे अनेक न्यायालय थे। न्याय व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि किसी अपराधी को तभी दण्डित किया जा सकता था जब कि उसे सात न्यायालयों ने एकमत हो दोषी प्रमाणित किया हो और विशेषता तो यह थी कि उसे कोई भी एक न्यायालय निर्दोष मान मुक्त कर सकता था। वैयक्तिक स्वतंत्रता का ऐसा प्रमाण विश्व इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। और वह कहीं आज भी उपलब्ध नहीं है। भारत के प्राचीन गौरव का प्रहरी वैशाली का खंडहर आज खोदा जा रहा है, रहस्य के आवरण हटते जा रहे हैं और अतीत की स्वर्णिम देदीप्यमान झाँकी प्रकाश में आ रही है। १९५६ में राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने जैन-दर्शन और प्राकृत के अध्ययन के लिए एक महाविद्यालय की नींव डाली है, जहाँ स्नातकोत्तर अध्ययन की सभी सुविधाएँ सुलभ रहेंगी।

नालन्दा

इतिहास के पृष्ठ उलटिए और आपको नालन्दा के दर्शन होंगे। इस महान् विश्वविद्यालय की स्थापना हुएनसंग के मतानुसार शंकरादित्य द्वारा की गई थी, किन्तु लामा इतिहासज्ञ श्री तारानाथ का मत है कि इसकी स्थापना अशोक ने की थी। शंकरादित्य संभवतः गुप्त वंश के प्रथम कुमार गुप्त का ही दूसरा नाम है जिसका राज्यकाल पाँचवीं सदी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

नालन्दा विश्वविद्यालय को हर्षवर्द्धन देवपाल आदि सभी राजाओं का सहयोग प्राप्त था और यही कारण है कि इसका नाम विश्व के सभी विद्या केन्द्रों में सर्वाधिक महान बन सका। मात्र अध्ययन-अध्यापन ही नहीं; शोध-कार्य में नालन्दा अपनी समता नहीं रखता था। चीन, जापान, मंगोल, कोरिया, तिब्बत और लंका से ज्ञान-पिपासु यहाँ आकर अध्ययन करते थे। इस विद्यापीठ में प्रवेश पाना बड़ा ही कठिन था, चूँकि प्रवेश के पूर्व बड़ी कठिन परीक्षा होती थी और हुएनसंग ने लिखा है कि दस में दो या तीन व्यक्ति ही सफल हो पाते थे। विदेश से आने वाले विद्यार्थी प्रायः अपने विषय के प्रकांड पंडित होते थे और वे ज्ञान के शीर्ष का स्पर्श करने के निमित्त ही यहाँ आते थे। नालन्दा से उत्तीर्ण छात्र को समग्र विश्व में मान्यता दी जाती थी।

अध्ययन की प्रणाली विवेचना-मीमांसा पर आधारित थी और सभी छात्र एक दूसरे को पूर्णता तक पहुँचाने में सहारा देते थे। एक शिक्षक की देखरेख में पाँच शिक्षार्थी थे और इनकी संख्या दस हजार थी। अध्ययन के विषय एक सौ थे और अध्यापन कार्य सब समय चलता था। वेद, उपनिषद्, बौद्ध धर्म, दर्शन, चिकित्सा, योगशास्त्र, न्याय विद्या, हेतु विद्या, शब्द विद्या और व्याकरण तथा कानून की शिक्षा होती थी। विश्वविद्यालय के आचार्य शीलभद्र का नाम विश्वविख्यात है। उनके अतिरिक्त धर्मपाल, नागार्जुन, आर्यदेव, दिननाग आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। नालन्दा का पुस्तकालय बड़ा ही विशाल था, जिसके तीन खंड थे—रत्नसागर, रत्नोद्धि और रत्नरंजक। सभी ज्ञान के सागर थे।

नालन्दा का अर्थ है 'कमल का दाता' आज भी इसके चारों ओर कमल से पूर्ण सरोवर की झाँकी मन को मोह लेती है। इसी खंडहर पर बिहार सरकार ने नव नालन्दा महा बिहार की स्थापना की है जहाँ पाली की शिक्षा दी जाती है और ये क्षात्र बिहार विश्वविद्यालय से एम. ए. का प्रमाण-पत्र प्राप्त करते हैं।

राजगिर

नालन्दा से बढ़िए फिर राजगिर के दर्शन करें। महाभारत, वायुपुराण और श्रीमद्भागवत में इसका नाम बृहद्रथपुर है। जरासंघ के पिता का ही नाम बृहद्रथ था। यह वह स्थान है जहाँ कृष्ण ने कंसवध के बाद जरासंघ की हत्या की थी। उसे 'रणभूमि' कहते हैं और वह आज भी विद्यमान है। इसी राजगिर में गृद्ध कूट पर्वत है जहाँ बुद्ध बिहार करते थे और उनके महापरिनिर्वाण के बाद अजातशत्रु ने यहीं के एक स्तूप में उनका क्षारविशेष रखा था। आज राजगिर का सबसे अधिक महत्त्व जैन-तीर्थ होने के कारण है। यहाँ सात गर्म और ठंढे जल के झरने हैं जिनके नाम परशुराम, भारद्वाज, विश्वमित्र, गौतम, दुर्वासा और वशिष्ठ हैं। पीपला गुफा, देवदत्त गुफा और सप्तपर्णी गुफा का तो सौन्दर्य ही निराला है।

बौद्ध गया

राजगिर के बाद बौद्ध गया को देखें। बौद्धों के लिए यह उतना ही पवित्र है जितना हिन्दुओं को काशी, मुसलमानों को मक्का और ईसाइयों के लिए बथेलहम है। निरंजना नदी के किनारे स्थित बौद्ध गया वही स्थान है जिसने बुद्ध को ज्ञान का प्रकाश देकर शाक्यमुनि से बुद्ध बनाया। तपस्या के जीवन से ऊबे हुए बुद्ध ने सुजाता की खीर यहीं खाई और बैशाख पूर्णिमा के दिन दिनकर की आभा के साथ ही बुद्ध ने भी उस बोधिवृक्ष की छाया में ज्ञान की आभा प्राप्त की और वे 'सम्म सम्बुद्ध बने।

बोधि-वृक्ष

वह बोधिवृक्ष भी धन्य है, जिस पर एक सप्ताह तक बुद्ध निर्निमेष दृष्टि से देखते रह गए थे, आज वहाँ अनिमेष लोचन मन्दिर हैं। इसके अतिरिक्त और छः मन्दिर हैं, जहाँ बुद्ध ने ध्यान किया था—प्रथम अनिमेष लोचन फिर चनकरमण, रत्नागार आदि। यह बोध गया का मन्दिर बड़ा सुरम्य और प्रतिपल दर्शनीय है। बिहार सरकार ने अभी इस मन्दिर की व्यवस्था का उत्तरदायित्व बौद्धों और हिन्दुओं की एक संयुक्त समिति के हाथ में दे दिया है।

हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता

हमारे बिहार का महान ऐतिहासिक गौरव है और उसकी कथा बड़ी विस्तृत है। उसे किसी प्रबंध-निबंध की लघु काया में बाँध सकना कदापि संभव नहीं है। इतिहास की इन विस्मृत घटनाओं को कुरेदने

मात्र से ही मन में कुछ कवि जैसी कल्पना पंख फड़-फड़ाने लगती है और तब हम दिनकरजी की पंक्तियों में कह उठते हैं—

कल्पने ! धीरे धीरे बोल !
पग पग पर सैनिक सोता है, पग पग सोते वीर।
कदम कदम पर यहाँ बिछा है ज्ञानपीठ गंभीर।
यह गह्वर प्राचीन, अस्तपित गौरव का खंडहर है।
सूखी हुई सरित का तट यह उजड़ा हुआ नगर है।
एक एक कण इस मिट्टी का मानिक है अनमोल।
कल्पने ! धीरे धीरे बोल !

**

'धर्म' शब्द भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। हिन्दू धर्म जीवन की वास्तविकताओं से परे नहीं रहा है। वेद, उपनिषद् और आरण्यक सभी भारतीय संस्कृतिक के पूर्णांग को प्रकट करते हैं। महाभारत में जिस समाज का उल्लेख किया है और हिमालय ने जिस हिन्दू सभ्यता को पुरस्कृत किया है, उसका प्रवाह आज तक बना हुआ है। जैन और बौद्ध धर्म भी कर्म और माया के विश्वासों को बदल नहीं सके। बुनियादी तौर पर समाज के व्यवहार, रीति-रिवाज अनेक परिवर्तनों में भी पूर्ववत बने रहे।

— सुनीतकुमार चटर्जी

बिहार का आर्थिक विकास

श्री सुखदेवप्रसाद बरनवाल

आर्थिक सम्भावनाओं की दृष्टि से, भारत के प्रायः दूसरे सभी राज्यों की अपेक्षा, बिहार अधिक सम्पन्न राज्य है। फिर भी, अर्थशास्त्री नीमियर के शब्दों में "अभी वह भारत का सबसे दरिद्र प्रदेश है।" इसका प्रधान कारण यहाँ की आर्थिक सम्भावनाओं का अब तक भरपूर लाभ न उठाया जाना है। इस प्रदेश की सुविस्तीर्ण उर्वर भूमि, अपार खनिज सम्पदा, बहुमूल्य वन वैभव और औद्योगिक विकास के लिए उपलब्ध विपुल श्रम शक्ति का जब तक समुचित रूप से उपयोग नहीं किया जाता, यहाँ के जन जीवन की दीनता और दरिद्रता का तब तक अन्त नहीं हो सकता। इन आर्थिक सम्भावनाओं के उपयोग के अनुपात पर ही इस प्रदेश के आर्थिक विकास की गतिविधि निर्भर करती है।

पिछड़ा प्रदेश

बिहार की वर्त्तमान आर्थिक दशा का अनुमान हम इसीसे लगा सकते हैं कि यहाँ की लगभग ८७ प्रतिशत जनता एक अत्यन्त पिछड़े उद्योग कृषि पर निर्भर करती है। समस्त भारतीय संघ में कृषि निर्भरता का यह प्रतिशत सबसे अधिक है। यहाँ की औद्योगिक आबादी भारत के अन्य प्रदेशों की तुलना में न्यूनतम अर्थात् मात्र ३.९ प्रतिशत है। एक औसत भारतीय की वार्षिक आमदनी जहाँ २५६ रुपया है, वहाँ एक औसत बिहारी की वार्षिक आमदनी केवल १४७ रुपया ७० नए पैसे हैं। मतलब यह कि एक औसत बिहारी एक औसत भारतीय से बहुत गरीब है। अत्यधिक कृषि निर्भरता किसी भी क्षेत्र, प्रदेश या देश की पिछड़ी अर्थ व्यवस्था के लक्षण माने जाते हैं और इस अर्थ में बिहार एक अत्यन्त पिछड़ा प्रदेश है। बिहार को भारत का कदाचित् सबसे अधिक ग्राम्यकृत प्रदेश माना जा चुका है। सन् १९४१ में भारत की नगर आबादी औसत्त १२८ थी, वहाँ बिहार की नगर आबादी इस औसत से बहुत ही कम, अर्थात् ५.८ प्रतिशत थी।

वैभव में अभाव

इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि बिहार का आर्थिक विकास अन्य सभी क्षेत्रों की अपेक्षा, यहाँ के औद्योगिक भविष्य पर मुख्य रूप से अवलम्बित है। यहाँ के प्रकृतिप्रदत्त साधनों के ययेष्ट विकास और उपयोग की दिशा में भरपूर चेष्टा न होने के कारण ही बिहार को "वैभव में अभाव का राज्य, लैंड आफ पावर्टी इन प्लेंटी" की संज्ञा से अभिहित किया गया है। अब भारत के स्वतंत्र होने के बाद से, हाथ में ली जाने वाली राष्ट्रीय विकास योजनाओं ने देश के अन्य राज्यों के साथ-साथ बिहार राज्य को इसके प्रशासनिक कर्णधारों, उद्योगपतियों, समाजसेवियों, अर्थशास्त्रियों और सर्वसाधारण जनता को उपयुक्त दिशा में यथासाध्य चेष्टा करने का पूरा-पूरा अवसर प्रदान किया है, जिसका अच्छी तरह लाभ उठाना चाहिए। पंचवर्षीय योजनाओं का इस क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग और बड़ी यशस्वी भूमिका रही है और रहेगी। प्रथम पंचवर्षीय योजना इस प्रदेश में भी वांछित सफलता के साथ क्रियान्वित की जा चुकी है और द्वितीय योजना के कार्यक्रम भी निर्धारित गति से लागू किये जा रहे हैं। इन योजनाओं पर तथा इनके विभिन्न पहलुओं पर हम किंचित् विस्तारपूर्वक आगे विवेचन करने का प्रयास करेंगे। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि स्वतंत्र भारत की केन्द्रीय सरकार

और बिहार की राज्य सरकार ने बिहार के आर्थिक विकास के लिए अपने सीमित साधनों के आधार पर जो भी कार्यक्रम अपनाए हैं, उनसे हमें एक सुनहले भविष्य का आभास मिलता है।

इस स्थल पर हम क्रमशः बिहार के आर्थिक सम्भावनाओं की चर्चा करेंगे।

खनिज सम्पदा

सबसे पहले हम इस प्रदेश में प्रकृति द्वारा प्रदत्त उस विपुल खनिज पदार्थ का उल्लेख करना प्रसंगानुकूल समझते हैं, जो किसी भी देश या प्रदेश के सम्पूर्ण आर्थिक विकास में सबसे अधिक महत्त्व की भूमिका अदा करने वाला संसाधन, रिसोर्स माना जाता है। बिहार में सारे भारत का विशालतम सर्वसमृद्ध खनिज भूखंड है और इसीसे यह प्रदेश भारत का रूर प्रदेश, रूर आफ इण्डिया माना गया है। यहाँ प्रतिवर्ष कुल मिला कर ३२,८५,८९,६८४ रुपए के मूल्य के खनिज द्रव्य विभिन्न प्रकार की खानों से निकाले जाते हैं और अभी भी कहा जाता है कि यहाँ बहुत सारी खनिज सम्पदा अलक्षित ही भूगर्भ में पड़ी है। सब प्रकार के औद्योगिक ढाँचे के लिए आवश्यक दो महत्त्वपूर्ण खनिज द्रव्य, लोहा और कोयला, बिहार की खानों से इतने बड़े परिमाण में उपलब्ध होते हैं और हो सकते हैं, कि सम्पूर्ण देश के औद्योगिक विकास की आवश्यकताएँ केवल बिहार पूरी कर दे सकता है। कोयला इस प्रदेश में प्रति वर्ष १,८५,८८,३०० टन, देश का ५३.६८ प्रतिशत, और लोहा १७,६५,६६७ टन, देश का ४८.२८ प्रतिशत अभी निकाला जाता है। इसीप्रकार अन्य महत्त्वपूर्ण खनिज पदार्थों में तांबा ३,६६,०५७ टन, देश भर का १०० प्रतिशत, अबरक ६,०७७ टन, देश भर का ६०.३४ प्रतिशत, वस्तु निर्माण सामग्री, चूना पत्थर, स्लेट एवं अन्य १५,८०,१६२ टन, देश भर का १६ प्रतिशत, एबेसटस ४७,१६३ टन, देश का ४६.१४ प्रतिशत, बाकसाइट देश भर का ३०.१५ प्रतिशत, कोकिंग कोयला ८३ प्रतिशत, फायरक्ले ७६ प्रतिशत और चीनी मिट्टी ४७.५५ प्रतिशत उपलब्ध होती है। बिहार के खनिज इतिहास में सन् १८६३ से सन् १६१४ तक की अवधि बहुत महत्त्व की है। सन् १८६३ में ही यहाँ कोयले की खुदाई आरम्भ हुई थी। लोहे की निकासी सन् १०६३ के आसपास आरम्भ हुई। इसी तरह अन्य खानों में भी अवधि के भीतर हाथ लगाया गया।

कई खनिज उत्पादन

बिहार की खनिज सम्पदा कितनी उत्कृष्ट है, यह इसी से प्रकट है कि बिहार की लौह शिलाओं में ६७ प्रतिशत शुद्ध लोहे का अंश पाया जाता है और इस कारण यहाँ का लोहा सारे संसार में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अमेरिका में मिनीसोटा और निसीजेन खानों में हाल में प्राप्त श्रेष्ठ लोहे की तुलना में भी बिहार आगे पाया गया है। बिहार के लोहे की दूसरी विशेषता यह है कि फ्लक्स की मदद के बिना ही यह भट्ठियों में पिघलता है, जो दूसरे देश में पाए जाने वाले लोहे के लिए असम्भव है। अबरक के उत्पादन में भारत सारे विश्व का नेतृत्व करता है, ऐसा कहा जाता है और भारत में अबरक के सबसे अधिक उत्पादन का गौरवपूर्ण श्रेय बिहार को ही है। कोटि और परिमाण, दोनों ही दृष्टियों से बिहार का स्थान न केवल देश के अबरक उत्पादन में, अपितु सारे संसार में पहला है। ताँबे की सबसे प्रसिद्ध पेटी बिहार में ही है।

लोहा और कोयला

औद्योगिक उपयोग की दृष्टि से बिहार में मूल खनिजों की स्थिति अत्यन्त सुविधाजनक है और लगभग सभी उपयोगी खनिज एक ही क्षेत्र के आसपासमें स्थित हैं। लोहा और कोयला, जो मुख्य औद्योगिक खनिज माने जाते हैं, चूना पत्थर और फायर कले, जो धातुओं के गलाने के काम आते हैं, मेंगनीज, जिसका उपयोग इस्पात, विद्युत और रासायनिक पदार्थों आदि के निर्माण क्रम में आवश्यक होता है, आदि सभी खनिज द्रव्य

छोटा नागपुर के पठार और दामोदर घाटी के क्षेत्र में उपलब्ध है। और इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध है कि बिहार में इन खनिज द्रव्यों की सहायता से अभी अनेकानेक उद्योग विकसित किए जा सकते हैं और इस तरह यहाँ की भारी कृषि निर्भरता को दूर करके औद्योगिक निर्भरता का श्रेयस्कर प्रयास किया जा सकता है। अब तक जमशेदपुर, डालमियानगर आदि स्थानों में उद्योगपतियों के द्वारा जो कुछ इस दिशा में किया जा सका है, वह अत्यन्त सराहनीय होते हुए भी अपर्याप्त है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में भी कुछ कार्य हुए हैं, पर उतने से सन्तोष नहीं किया जा सकता है। द्वितीय योजना में कुछ बड़े कारखानों के आयोजन की बात निहित है और आशा है कि तृतीय योजना के काल में बिहार में कई बड़े कारखानों की स्थापना हो जाएगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी विपुल खनिज सम्पदा के बल पर बिहार एक दिन अवश्य भारत का औद्योगिक प्रदेश बन जाएगा। कच्चे माल की यह बहुलता पक्के माल के उत्पादन में अवश्य ही सहायक होगी।

वन वैभव

किसी भी देश या प्रदेश की अर्थ व्यवस्था में वन सम्पत्ति का महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है। सामान्यतः यह समझा गया है कि किसी देश या प्रदेश के क्षेत्रफल का २० से २५ प्रतिशत भाग वन होना चाहिए। बिहार में पहले इसकी कमी थी, किन्तु इधर सरकारी तौर पर किए जाने वाले प्रयत्नों के फलस्वरूप बिहार में क्षेत्रफल का २० से २१ प्रतिशत भाग वन विस्तृत हो सका है। पहले सरकारी नियंत्रण व व्यवस्था के अभाव में बिहार में वन सम्पदा का बड़ा ह्रास होता रहा है। कुल्हाड़ी चला-चला कर लोगों ने क्रूरतापूर्वक यहाँ के जंगलों को बरबाद किया, किन्तु राज्य की अर्थ व्यवस्था में उन जंगलों का महत्त्व समझ कर राज्य सरकार ने सन् १९४६–'४७ से ही वन सुरक्षा का प्रबन्ध करना आरम्भ कर दिया। सन् १९४६ में स्वीकृत किए गए बिहार वन कानून का विशेष महत्त्व रहा। सन् १९४६–४७ ई० में ही जहाँ केवल २८८३ वर्गमील वन क्षेत्र सरकारी नियंत्रण में था, वहाँ सन् १९५१–५२ में बढ़कर १३०० वर्गमील हो गया। इससे राज्य सरकार की आमदनी बहुत बढ़ी, यद्यपि इसके लिए काफी खर्च भी करना पड़ा। सन् १९५१–५२ में सरकार को जंगलों से ६१,८०,००० रुपए की आमदनी हुई और सरकार ने इस पर ५० लाख १५ हजार रुपए का खर्च किया, अर्थात् ११ लाख रुपए से अधिक की बचत सरकार को हुई। अब सरकार ने कई स्थानों पर वन सम्बन्धी प्रशिक्षण के केन्द्र भी खोल रखे हैं।

वन पदार्थों में नए उद्योग

बिहार में जंगलों से वर्षा की यथेष्ट मात्रा उपलब्ध करने, मिट्टी कटाव की रोकथाम करने, जलवायु का नियंत्रण करने आदि के अप्रत्यक्ष लाभों के अतिरिक्त अनेक प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ भी उठाए जाने की पूरी संभावना है। भारत में कुल मिलाकर लगभग ४००० किस्म की लकड़ियाँ पाई जाती हैं और सौभाग्य से बिहार के जंगलों में ये सभी किस्में उपलब्ध हैं। बिहार के जंगलों में अनेक ऐसी चीजें मिलती हैं, जिनका उपयोग कई उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल के रूप में हो सकता है, जैसे लकड़ी, बाँस, सबई घास, रेशम, और लाख के कीड़े पालने वाले पेड़ आदि। बिहार ही ऐसा प्रदेश है, जहाँ तीनों तरह के रेशम के कीड़े ऐरी, शहतूत और तसर पाए जाते हैं। लकड़ी जिसमें साल प्रमुख है, बिहार में जितने परिमाण में मिलती है, उतने परिमाण में शायद भारत के अन्य किसी भी प्रदेश में नहीं मिल पाती। बिहार में पाया जाने वाला बाँस मकान बनाने के काम में आने के अलावा कागज बनाने के लिए भी अत्यधिक उपयोगी है; क्योंकि वह छोटा और पतला होता है। डालमियानगर का कागज कारखाना इस प्रदेश में उपलब्ध बाँस पर ही निर्भर करता है। सबई घास कागज बनाने के काम में आती है। भारत के कुल उत्पादन के ८२ प्रतिशत पदार्थ बिहार उत्पादन करता है। इस तरह हम पाते हैं कि इस प्रदेश के जंगलों की आर्थिक सम्भावनाएँ अनन्त हैं, जिनका

उपयोग और विकास किए जाने पर प्रदेश के उद्योग जंगलों में प्राप्त होने वाले कच्चे माल का लाभ उठा कर चलाए जा सकते हैं, यथा रेशम का उद्योग अभी और विकसित हो सकता है, कागज के कुछ और कारखाने खुल सकते हैं, लाख के कारखानों की संख्या में वृद्धि की जा सकती है, दियासलाई के कारखाने चलाए जा सकते हैं, और इस प्रकार इस भूभाग में खेती पर अनावश्यक रूप से भार स्वरूप अवलम्बित लोगों को तरह तरह के रोजगार देकर कृषि निर्भरता का परिणाम घटाया जा सकता है। इस ओर राज्य सरकार और पूंजीपतियों का ध्यान आकर्षित किया गया है, यह सन्तोष का विषय है।

कृषि व्यवस्था

बिहार भारत का सब से बड़ा कृषि प्रधान प्रदेश है। यहाँ की लगभग ८७ प्रतिशत जनता खेतों पर जीविका चलाती है। फिर भी, यहाँ की खेती बड़ी अनार्थिक परिस्थितियों में होती है। राज्य सरकार ने ने भूमि सुधार की योजनाओं के अन्तर्गत न केवल राज्य की बंजर और परती भूमि में खेती की व्यवस्था की है, अपितु इन अनार्थिक परिस्थितियों में भी सुधार लाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्यक्रम अपनाए हैं। जमींदारी उन्मूलन का कदम इनमें प्रमुख था। अब सीमित सहकारी कृषि प्रणाली का प्रचार किया जा रहा है। भूमि की सीमा के निर्धारण की व्यवस्था होने वाली है, जिसका विधेयक बिहार विधान सभा के विचाराधीन है। सिंचाई के लिए अनेक बड़ी-छोटी योजनाएँ लागू हो रही हैं। धान की जापानी ढंग से खेती के प्रयोग व्यापक पैमाने पर किए जा रहे हैं। "अधिक अन्न उपजाओ", "अधिक रब्बी पैदा करो" आदि के अभियान भी चले व चलाये जा रहे हैं। इसतरह स्थिति में सुधार लाने के अन्य कई उपाय काम में लाए जा रहे हैं।

विभिन्न उत्पादन

बिहार की कुल ४ करोड़ ७ लाख की जन-संख्या के लिए कुल भूमि लगभग ४ करोड़ ५४ लाख एकड़ उपलब्ध है। किन्तु, यहाँ प्रति व्यक्ति खेती भूमि का औसत ०.५ एकड़ पड़ता है, जो दूसरे प्रदेशों की अपेक्षा न्यूनतम है। ऐसी अवस्था में यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि यहाँ का किसान अपने प्रदेश के लिए कम अन्न उपजा कर पाता है। फिर भी, बेचारा खेती से सिमटा रहता है, क्योंकि यहाँ साधनों के बाहुल्य के बावजूद औद्योगीकरण बहुत ही अल्प हो सका है। धान, गेहूँ, रब्बी आदि खाद्य फसलों और ईख, जूट, तम्बाकू आदि नकदी फसलों का उत्पादन बहुतायत से होता है। दोनों प्रकार की फसलों के लिए बिहार की भूमि में उर्वरता कूट-कूट कर भरी हुई है। योजनापूर्वक इस उर्वरता का लाभ उठाना हमारा कर्त्तव्य है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि व्यवस्था के विकास को प्राथमिकता देकर और द्वितीय योजना में भी इसे अत्यन्त महत्व का स्थान देकर सरकार ने इस कर्त्तव्य के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया है। जहाँ तक आकस्मिक दैवी प्रकोपों, सूखा व बाढ़ आदि का प्रश्न है, इनसे तब तक सुरक्षा का आश्वासन नहीं मिल सकता, जब तक वृहद् नदी घाटी योजनाएँ यथा कोसी योजना, गंडक योजना आदि पूरी नहीं होतीं। कृषि के विकास, सिंचाई व्यवस्था की उन्नति और खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि बिहार के स्वस्थ आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पहलू हैं।

गृह उद्योग

बिहार जैसे प्रदेश के लिए, जहाँ खेती पर आबादी का अधिक भार, खेती का पिछड़ापन, बेरोजगारी और पूंजी का अभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं, गृह उद्योगों की उपयोगिता बहुत अधिक है। प्राचीन काल में बिहार अपने विशिष्ट गृह उद्योगों के लिए बड़ा विख्यात रहा है, जिनके नष्ट हो जाने के बावजूद

अभी तक उनकी परम्परा स्थान-स्थान पर कायम है। बिहार के एक प्रमुख अर्थशास्त्री श्री रामावतारलाल के अनुसार,—"मुंगेर और दरभंगा में सींकी, बाँस और मूंज की शिल्पकारी, पटना, मुंगेर, पूर्णिया और मुजफ्फरपुर में कम्बल का काम, गया और सारन में धातु के बरतन, सिंहभूमि और हजारीबाग में तांबे का काम, महिसी में बटन का काम, दरभंगा, संथाल परगना, पूर्णिया, हजारीबाग और रांची में कताई बुनाई, मधुबनी, पंडौल, दरभंगा के कोकटी कपड़े, उत्तरी बिहार के पूर्वी जिलों में खादी का उत्पादन, सीतामढ़ी और दरभंगा में चमड़ा उद्योग, पटने में कसीदा और जरी का काम, गया, रांची और सहसराम में पत्थर की कला, भागलपुर, मानभूमि और संथाल परगना में रेशम उद्योग, पलामू, रांची और हजारीबाग के जंगली इलाकों में चटाई, टोकरी वगैर: का काम अर्द्ध विकसित अवस्था में हैं, मगर ये सिद्ध करते हैं कि बिहार में घरेलू धन्धों की एक पुरानी परम्परा है।"

ग्राम-ग्राम में उद्योग

इस प्रदेश में अभी गृह उद्योग के विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं, यथा—हाथ-करघा, चमड़ा, लाह, कागज, लकड़ी, रेशम, सीप बटन, और ताड़गुड़, मिट्टी और चीनी मिट्टी के बरतन और ऊन इत्यादि। इस दिशा में राज्य सरकार का गृह उद्योग विभाग तथा बिहार खादी व ग्रामोद्योग मण्डल, जिसके अध्यक्ष बिहार के भूतपूर्व उद्योग मन्त्री श्री महेशप्रसाद सिंह हैं, विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं। पूंजी की कमी और बेरोजगारी की समस्या इस बात का प्रमाण देती है कि बिहार का आर्थिक विकास यहाँ विकेन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था के सहारे जिसमें गृह उद्योगों का अधिक महत्व है, बहुत ही सुलभ बनाया जा सका है। राज्य सरकार ने गृह उद्योग सम्बन्धी प्रशिक्षण तथा सहकारी पद्धति पर गृह उद्योगों के संचालन की जो व्यवस्थाएँ अपनायी हैं, वे बड़े श्रेयस्कर पग हैं, जिनकी हर हालत में सराहना की जानी चाहिए। सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत जो आर्थिक विकास के कार्यक्रम ग्राम-ग्राम में चलाए जा रहे हैं, उनमें गृह उद्योगों की स्थापना और प्रगति पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

कृषि और उद्योग का संतुलन

इन पंक्तियों में हमने बिहार की आर्थिक संभावनाओं पर पर्यवेक्षण कर यह देखा है कि किस प्रकार इन संभावनाओं का लाभ उठा कर इस पिछड़े राज्य का आर्थिक भविष्य सुधारा जा सकता है। प्राकृतिक साधनों के बाहुल्य और औद्योगिक संभावनाओं की सम्पन्नता के बावजूद अमेरिका, जो आज सारे विश्व का आर्थिक नेता बन बैठा है, विश्व में अग्रगण्य स्थान न बना पाता, यदि वह अपनी खनिज सम्पत्ति की बदौलत एक संतुलित अर्थ व्यवस्था को जन्म देने में सफल नहीं होता, जिसमें कृषि और उद्योग का विकास साथ-साथ होता है। इस दृष्टि से अर्थशास्त्रियों के मतानुसार संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद भारत का ही स्थान है जहाँ उपलब्ध प्रचुर खनिज सामग्री का समुचित उपयोग कर कृषि और उद्योग का संतुलित विकास किया जाना सम्भव है। और भारत में भी ऐसी संभावनाओं का अधिकतम संयोग बिहार प्रदेश में है। इसलिए, यह आवश्यक है कि केन्द्र या राज्य की सरकार बिहार के आर्थिक विकास की कोई भी योजना जारी करते समय "संतुलित कृषि और उद्योग" की बात को अच्छी तरह ध्यानपूर्वक मन में रखे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

प्रथम पंचवर्षीय योजना में बिहार के लिए १९० विकास योजनाओं के लिए पहले ५७ करोड़ २९ लाख रुपए का व्यय कूता गया था। पर बाद में कुछ संशोधन के फलस्वरूप वह व्यय ६७ करोड़ ७९॥ लाख रुपए हो गया। ३१ मार्च १९५६ को प्रथम योजना की अवधि समाप्त हुई। कुल ७२ करोड़ ५१ लाख रुपए, अर्थात् अनुमित राशि से लगभग ४ करोड़ अधिक खर्च हुए। जहाँ तक योजना के क्रियान्वित करने का प्रश्न

है, बिहार की प्रगति सराहनीय रही। कृषि, भूमि सुधार, पशु-पालन और दुग्धालय, सामुदायिक योजनाएँ और राष्ट्रीय विस्तार सेवा, ग्राम विकास, चिकित्सा और जन-स्वास्थ्य आदि के क्षेत्रों में पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विशेष प्रगति रही। उद्योग और यातायात के विकास पर कुल राशि का केवल १६.१ प्रतिशत खर्च किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में बिहार को अपेक्षाकृत कम खर्च करने का अवसर मिला। प्रथम योजना में जहाँ भारत भर में औसत एक आदमी पर २६ रुपए खर्च हुए, वहाँ बिहार में औसत एक आदमी पर १६ रुपए के खर्च का अवसर मिला, अर्थात् औसत भारतीय के औसत बिहारी को इस योजना का कम लाभ नसीब हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

द्वितीय पंचवर्षीय योजना का निरूपण, इस राज्य ने भी, महत्वकांक्षाओं के साथ किया और इसमें योजना आयोग की सक्रिय सहानुभूति भी पहले की अपेक्षा अधिक अंशों में सुलभ हो सकी। प्रथम योजना में बिहार का पाँचवाँ स्थान था, द्वितीय योजना में इसका तीसरा स्थान आता है। प्रथम योजना में बिहार में औसत एक आदमी पर लगभग १६।। रुपए व्यय हुए, द्वितीय योजना में औसत एक आदमी पर लगभग ४९ रुपए के व्यय की व्यवस्था है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना बिहार के लिए १ अरब ९० करोड़ २२ लाख रुपए की है। यह कुल ४४८ विकास योजनाओं का समुच्चय है।

द्वितीय योजना में विभिन्न मदों के लिए की गयी व्यय व्यवस्था निम्नप्रकार है :—

मद	व्यय राशि (रुपयों में)
कृषि	१४,१९,६३,०००
सिंचाई	३२,५८,५०,०००
विद्युत्	२६,८५,१७,०००
यातायात	१६,९५,०९,०००
सहकारिता	३,५८,८७,०००
राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास	१७,४५,००,०००
चिकित्सा और जन-स्वास्थ्य	१६,११,७१,०००
उद्योग	१२,३१,००,०००
शिक्षा	२२,८३,०८,०००
पशु-चिकित्सा और पशु-पालन	१,४९,९४,०००
कल्याण कार्य	५,७०,००,०००
वन विकास	४,१७,६८,०००
आवास	५,९२,४३,०००
प्रचार	४३,३७,०००
पंचायत राज्य	१,९०,००,०००
सांख्यिकी	५१,८६,०००
मत्स्य-पालन	५४,२४,०००
अन्य फुटकर कार्य	६,६४,३३,०००
कुल व्यय राशि	१,९०,२२,००,०००

हमारी प्रगति

यह सर्वथा स्पष्ट है कि द्वितीय योजना के लक्ष्यों की प्राप्ति के बाद बिहार के आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा, क्योंकि इस योजना में राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक संभावनाओं के कुछ-न-कुछ उपयोग का कार्यक्रम रखा गया है। दामोदर घाटी योजना, कोसी योजना, मोकामा में गंगा-पुल, सिन्दरी का खाद का कारखाना, कई रेल मार्गों का निर्माण आदि कार्यक्रम जहाँ राष्ट्र व राज्य की प्रथम योजना के सुनहरे कार्यक्रमों के सूचक रहे हैं, वहाँ गंडक घाटी योजना, बरौनी का प्रस्ताविक थरमल विद्युत्केन्द्र, बरौनी का ही प्रस्ताविक वृहद् तैल शोध कारखाना, बोकारो का प्रस्तावित चतुर्थ इस्पात का कारखाना, रांची का प्रस्तावित वृहद् यंत्रों का कारखाना और इसीतरह के अन्य संभावित उद्योग द्वितीय योजना में बिहार के आर्थिक विकास के लिए व्यवस्थापित कार्यक्रमों की महत्ता सिद्ध करनेवाले हैं। द्वितीय योजना के निजी क्षेत्र में उद्योगपतियों तथा व्यवसायियों का सहयोग अपेक्षाकृत अधिक सुलभ हो रहा है, जो सचमुच हार्दिक सन्तोष का विषय है।

योजना काल में जब तक हर बिहार वासी कठोर साधना का व्रत लेकर राज्य की प्रगति के लिए कार्य नहीं करता, तब तक योजना के महान् लक्ष्यों की प्राप्ति संभव नहीं है।

**

'सहकारिता के अंतर्गत संयुक्त खेती में जमीन का स्वामित्व संयुक्त रूप में सब के पास रहता है, अर्थात् जमीन पर हरएक किसान का अधिकार बना रहता है, किंतु उत्पादन का बँटवारा जमीन के अनुपात से किया जाता है, संयुक्त खेती में कुछ शर्तों पर किसान अपनी जमीन अलग रख सकते हैं। किंतु सामूहिक रूप की सहकारी खेती में भूमि का स्वामित्व सहकारी समिति का होता है, और पैदावार का बँटवारा श्रम के आधार पर किया जाता है। सेवा-सहकारिता की खेती में आपसी सहयोग से खेती होती है। सिंचाई बुआई, खाद व बीज आदि में किसान सहयोग से काम करते हैं। इसे सहकारिता पर आधारित व्यक्तिगत खेती कह सकते हैं।'

—जी० एस० पथिक

बिहार का सदाकत आश्रम

श्री 'राकेश'

हमारा प्राचीन इतिहास इसका साक्षी है कि भारतीय संस्कृति के उद्भव, विकास एवं प्रसार के प्रमुख केन्द्र बिन्दु हमारे आश्रम हैं। इन आश्रमों द्वारा समाज को आध्यात्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक एवं सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में "पथ-प्रदर्शन" मिलता था। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र का बक्सर स्थित आश्रम ही था, जहाँ राम लक्ष्मण को जीवन क्षेत्र की विविध सैद्धान्तिक और व्यावहारिक शिक्षा मिली थी। आधुनिक भारत में जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए युग पुरुष राष्ट्रपिता गांधीजी ने साबरमती आश्रम तथा सेवाग्राम आश्रम की स्थापना की थी—उसी क्रम में सदाकत आश्रम की भी नींव दी गयी थी—यह कहना उपयुक्त होगा।

सन् १९१७ में राष्ट्रपिता बापू जब चम्पारन आए तो उन्होंने बिहार में राष्ट्रीय संस्था का अभाव अनुभव किया। उनकी इच्छा हुई कि यहाँ एक राष्ट्रीय संस्था का निर्माण किया जाए—जिससे देश के राजनीतिक आन्दोलन की आकांक्षाओं को बल मिले। पर उस समय उसका कोई व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका।

१९२१ में नागपुर कांग्रेस अधिवेशन के उपरान्त जब असहयोग आन्दोलन का शंखनाद हुआ, तब गांधीजी, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, ब्रजकिशोर बाबू, मौलाना मजरूलहक़ प्रभृति महापुरुषों ने 'बिहार विद्यापीठ' की स्थापना की। सर्वप्रथम पटना-गया रोड में किराए के एक मकान में उसे खोला गया। बाद में पटना के पश्चिमी भाग दीघा में, गंगा के दक्षिणी तट पर साठ बीघा जमीन प्राप्त की गयी। इसके लिए ७० हजार रुपए स्वयं महात्मा गांधी ने झरिया के खान मजदूरों से चन्दे में प्राप्त किए थे। इसप्रकार १९२१ में जब महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन छिड़ा तो बिहार के सहस्त्रों विद्यार्थी सरकारी स्कूल एवं कालिजों को छोड़ कर आन्दोलन में भाग लेने लगे। स्वर्गीय मजरूलहक़ पटना इंजीनियरिंग कालिज के छात्रों को लेकर राष्ट्रीय जागरण का कार्य करने लगे।

धीरे-धीरे इस संस्था का क्रमिक विकास हुआ। भवन का निर्माण हुआ जिसमें छात्रों ने भी श्रम-दान दिया। छात्रों और कार्यकर्त्ताओं के इसी केन्द्र का नाम सदाकत आश्रम अर्थात् सत्य का आश्रम पड़ा। मौलाना मजरूलहक़ सिवान (छपरा) के धनी-मानी सम्भ्रान्त व्यक्ति थे और थे बड़े राष्ट्रवादी। हक़ साहब विलायत में महात्मा गांधी के सहपाठी रह चुके थे। और शायद गांधीजी की पुरानी मित्रता ने ही उन्हें असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने की ओर आकर्षित किया था।

१९२२ के फरवरी मास में बिहार विद्यापीठ को सदाकत आश्रम में लाया गया। १९२५ में डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद स्थायी रूप से सदाकत आश्रम में ही निवास करने लगे। उन्हें ही बिहार विद्यापीठ के कुलपति का भार संभालना पड़ा। उन दिनों राष्ट्रीय कांग्रेस का खूब जोर था। आन्दोलन आँधी की तरह चल रहा था। पर कांग्रेस का ठोस संगठन नहीं था। बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का अपना निजी भवन तक नहीं बन पाया था। अतः प्रान्तीय कांग्रेस का कार्यालय सदाकत आश्रम में ही रखा गया। उसके साथ ही बिहार विद्यापीठ का कार्य यहीं पर चलता रहा। अब तो बिहार कांग्रेस कमेटी का निजी भवन सदाकत आश्रम के उत्तर-पूर्वी भाग में बन गया है।

बिहार में स्वतन्त्रता की लहर दौड़ पड़ी। विदेशी सरकार की हुकूमत को बदल देने की अहिंसात्मक प्रवृत्तियों को बल एवं सम्बल प्राप्त होता गया। सारे प्रान्त में जगह-जगह पर राष्ट्रीय विद्यालयों का निर्माण तेजी से हुआ, जिसका निर्देशन आश्रम से हुआ करता। हमारी आजादी की लड़ाई बढ़ चली तूफान की तरह और सदाकत आश्रम उसका केन्द्र बिन्दु बना।

विद्यापीठ के आचार्य

विद्यापीठ के प्राचार्यों में स्वर्गीय अब्दुलबारी, श्री जगतनारायणलाल, श्री एम० एस० शर्मा, श्री कृष्ण-वल्लभसहाय, श्री जगलाल चौधरी, श्री रामचरित्रसिंह, श्री बद्रीनाथ वर्मा, श्री बलदेवसहाय, श्री रामदास गौड़, श्री रामविलक्षण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विद्यापीठ के प्राचार्य तथा विद्यार्थियों को एक ओर विद्यालय से सम्बन्ध था तो दूसरी ओर देश की राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करना था तथा समय-समय पर आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना था। जब-जब आन्दोलन जोर पकड़ता सदाकत आश्रमकी जब्ती होती, पुलिस का पहरा बिठा दिया जाता, आश्रम तथा विद्यापीठ में ताले जड़ दिए जाते। प्राचार्यों, विद्यार्थियों तथा कार्यकर्त्ताओं को कारावास में डाल दिया जाता। इसप्रकार आश्रम राष्ट्रवादियों का केन्द्र बना रहा।

देशवासी स्वावलम्बी बनें, आत्म-निर्भरता की भावना बलवती रहे, अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को काम मिले, इस लक्ष्य से भिन्न-भिन्न उद्योगों की शिक्षा दी जाने लगी। दियासलाई, कागज और साबुन बनाना, मधुमक्खी पालन, तेलघानी, खंडसारी, चर्मालय, ताड़-गुड़, धान-चक्की, खादी-कताई और बुनाई आदि के गृह उद्योग खोले गए। ये उद्योग आज भी देश की समृद्धि में वृद्धि करते चले आ रहे हैं।

राष्ट्रपिता गांधीजी आश्रम में कई बार आए और उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को जागृत किया। पण्डित मोतीलाल नेहरू, सरदार पटेल, भूलाभाई देसाई, श्रीमती सरोजनी नायडू, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, श्रीमती कमला नेहरू, श्री सी० एफ० एनड्रयूज, श्री सोरेन, मीरा बहन, अब्दुल गफ्फार खाँ, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, हकीम अजमल खाँ, श्री शरतचन्द्र बोस, सेठ जमनालाल बजाज आदि अनेक नेता आश्रम में आए और उसकी गतिविधियों को देखा।

१९४७ में, जब सभी नेता जेल से बाहर आए तो आश्रम के पूर्वी तथा उत्तरी भाग में, एक गोशाला—'राजेन्द्र गोकुल'—की स्थापना की गयी। गो-सेवा का महत्व राष्ट्रीय विचारों के अनुकूल ही है। इससे सारे प्रदेश में गो-पालन बढ़ा।

१९४८ में, आश्रम के प्रांगण में गांधीजी के विचारों के अनुकूल नई तालीम पाठशाला बालकों के लिए खोली गयी। इस पाठशाला के बालक देश के भविष्य के निर्माणकर्त्ताओं के रूप में आगे आ रहे हैं, जिससे देश की आजादी अक्षुण्ण रहे और लोगों के काम करने की भावना मृतप्राय न हो। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र की पूँजी में योग दे, इसलिए १९५६ में भारत सरकार के खादी कमीशन ने यहाँ एक क्षेत्रीय विद्यालय खोला। यह कहना अनुचित न होगा कि यहाँ का वातावरण एवं कार्य अनुपम है। खादी कमीशन के सहयोग से खादी ग्राम उद्योग महाविद्यालय ८ जुलाई, १९५७ में खोला गया। यहाँ क्षेत्रीय विकास अधिकारियों को आठ मास की शिक्षा दी जाती है। औद्योगिक एवं शिल्प संस्थाओं का यह निर्माण राष्ट्रहित में हुआ।

आश्रम का संचालन प्रबन्ध समिति के द्वारा होता है जिसके अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा मन्त्री श्री नथुनीसिंह है। श्री कृष्णसिंह, आचार्य बद्रीनाथ बर्मा, श्री बैद्यनाथ चौधरी आदि इस प्रबन्ध समिति के सदस्य हैं। आश्रम की व्यवस्था का भार सन् १९२१ से लेकर १९३० तक राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद पर रहा। तदुपरान्त १९३० से १९३७ तक आचार्य बद्रीनाथ बर्मा ने भार संभाला। फिर १९३७ से आज तक व्यवस्था का भार कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री नथुनीसिंह पर है। श्री नथुनीसिंह भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में तीन बार जेल-यात्रा में गए।

आश्रम की निजी सम्पत्ति में एक प्लाट ६० बीघा का है और दूसरा प्लाट ५० बीघे से अधिक श्री भगवानदासजी ने प्रदान किया। तीसरा फ्लाट गदाधर प्रसाद ट्रस्ट (मुजफ्फरपुर) है, जिसकी वार्षिक आय लगभग तीन हजार रुपए है। श्री पी० आर० दास, श्री महावीरप्रसाद आदि नियमित रूप से कार्य करते हैं। समय-समय पर दान भी एकत्र कर लिया जाता है।

बिहार विद्यापीठ के संचालन में बिहार सरकार का उद्योग विभाग भी हाथ बँटाता है। खादी कमीशन बम्बई, खादी उद्योग महाविद्यालय तथा क्षेत्रीय विद्यालय का व्यय देता है। भिन्न-भिन्न उद्योगों को चलाने के लिए अलग-अलग भवन हैं। कार्यालय के एक बड़े सरंजाम में अम्बर चर्खा, पेटी चर्खा, किसान चर्खा, करघा, बुनाई मशीन आदि तैयार करने की व्यवस्था है।

हाल में ही दो सौ व्यक्तियों के लिए आश्रम के पूर्वी किनारे पर एक आवास-गृह बनाया गया है, जिसमें १८ कमरे हैं—दो बड़े कमरे हैं और कुछ छोटे कमरे हैं। दो सौ व्यक्तियों के लिए एक अलग भोजन-गृह भी आश्रम के पश्चिमी भाग में है।

आश्रम के प्रांगण में एक प्रदर्शनी है, जिसमें प्रत्येक जिलों की वस्तुएँ कृषि औजार तथा वस्त्र आदि के नमूनों का अपूर्व संग्रह क्रमिक-विकसित रूप में है। आश्रम के एक भाग में ग्राम उद्योग की प्रयोगशाला है। ब्रज बाबू के स्मारक स्वरूप 'ब्रजकिशोर स्मारक भवन' का निर्माण हुआ है। इसमें बिहार निर्माताओं में मौलाना मजरूलहक़, डा० अनुग्रहनारायण सिंह और मुहम्मद जुबेर आदि के तैल-चित्र रखे गए हैं।

आश्रम बड़े ही मनोरम ग्राम के सघन निकुंज में अवस्थित है—जिसके उत्तर में गंगा की कलकल धारा प्रवाहित होती है। दक्षिण में पाटलिपुत्र सहयोग समिति भवन, सहयोग की भावना को उद्दीप्त करता हुआ शिला की तरह अटल है। पश्चिमीय भाग में, देश का सब से बड़ा "होली फेमली हासपिटल" सेवा की भावना को प्रश्रय देता है तथा पूर्व में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का कार्यालय, कर्त्तव्यपरायणता का परिचय देता हुआ देश के निर्माण में संलग्न है। इसी आश्रम में रह कर राष्ट्र के जन-हितकारी, दलितों के प्राण, श्री जगजीवन बाबू ने देश की आजादी की लड़ाई को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया था और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मंत्रि-पद का भार भी बड़े ही कुशलता से सम्भाला था।

**

नए भारत के निजी क्षेत्र के उद्योगों का संगठन लिमिटेड कम्पनियों से बदल कर सहकारी संगठनों में परिवर्तित होना है, जिसमें उद्योगपति का स्थान है और मजदूरों का भी, किंतु उसमें कोई किसी का शोषण न कर पाएगा और न अपार सम्पत्ति जमा कर सकेगा। तब उद्योगपतियों के समान मजदूर भी कारखानों पर अपना स्वामित्व समझेंगे और सब मिल कर एक लगन से काम करेंगे। आओ, हम सब इस ओर बढ़ें।

—श्रीमती इंदिरा गांधी

चम्पारन

श्री नृपेन्द्रनाथ गुप्त

चम्पारन कहने मात्र से एक बारगी ही राष्ट्रपिता बापू की कर्मभूमि की याद आ जाती है। चम्पारन का इतिहास वैसे बहुत पुराना है,किन्तु आधुनिक इतिहासको यदि गांधी युगका इतिहास कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं। महात्माजी के चम्पारन जाने के पूर्व वहाँ की प्रजाने अन्याय और जुल्म के खिलाफ संघर्ष किया था, किन्तु संगठित होकर अहिंसात्मक लड़ाई के अस्त्र से महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो सफलता प्राप्त की, उसकी कोई समता नहीं। दक्षिण अफ्रीका से लौट कर महात्माजी ने पहला मोर्चा चम्पारन में खड़ा किया। उस समय होमरूल के लिए एक लहर पैदा हुई थी। भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद और बिहार विभूति स्वर्गीय डा० अनुग्रहनारायणसिंह ने उस समय इस आन्दोलन को चम्पारन के लिए महसूस किया। यदि चम्पारन और खेड़ा आन्दोलन का आकलन किया जाए तो उससे स्पष्ट आभास मिल जाएगा कि असहयोग और सत्याग्रह की बुनियाद यहीं पड़ी, जिसका विराट् रूप समय-समय पर देखने को मिला और फलस्वरूप हमें आजादी मिली।

चम्पारन को विरासत में इतना बड़ा ऐतिहासिक महत्व मिला। ३५३१ वर्ग मील जिले की आबादी १९५१ की जनगणना के अनुसार करीब २५ लाख है। शहरों की गणना अंगुलियों पर की जा सकती है। मुख्य तीन शहर हैं—मोतीहारी, जो जिले का प्रधान कार्यालय है, बेतिया जो व्यापारिक महत्व का केन्द्र है और रक्सौल जो नेपाल जाने के लिए बिहार का मुखद्वार है। सैकड़े तीन आदमी शहर में रहते हैं; बाकी देहात के सीधे-साधे ग्रामीण हैं। चम्पारन का दक्षिणी भाग जो मुजफ्फरपुर और सारन जिले से लगा है, घनी आबादी रखता है जब कि उत्तरी हिस्से में जल-वायु खराब होने के कारण बहुत कम लोग बसना पसन्द करते हैं। इन लोगों का मुख्य धन्धा खेती है। चम्पारन की जल-वायु पूर्णिया की तरह अच्छी नहीं बतायी जाती है। बरसात के दिनों में नदियाँ इतना उग्र रूप धारण कर लेती हैं कि घर-घर मलेरिया आदि ज्वरों का प्रसार हो जाता है। गंडक और सिकरहना नदी के किनारेवाले गाँवों में जल-वायु का ऐसा प्रकोप है कि वहाँ के अधिकांश लोग घेंघा और फाइलेरिया से पीड़ित रहते हैं।

यहाँ की लोकप्रिय नदी नारायणी है। गंगा नदी की तरह नारायणी को भी सम्मानित होने का सौभाग्य प्राप्त है। गजग्राह की पौराणिक कथा इसी नदी से सम्बन्धित है। यह नदी हिमालय के त्रिवेणी नामक स्थान से निकलती है। इसी को गंडक भी कहा जाता है। दूसरी नदी छोटी गंडक सोमेश्वर पहाड़ से निकल कर चम्पारन का सीना चीरती हुई बहती है। इसी को हरहा, सिकरहना और बूढ़ी गंडक कहते हैं। ये नदियाँ प्रायः पाटें बदलती रहती हैं। इसलिए चम्पारन में नीलें अधिक हैं। इन्हीं नीलों का उपयोग साहबों ने किया था।

इस जिले की जमीन दो प्रकार की है। सिकरहना के उत्तर की जमीन जितनी उपजाऊ है उतनी दक्षिण की नहीं है। उत्तर में धान की अच्छी फसल होती है जब कि दक्षिण में मकई, गेहूं तथा निलहे साहबों के जमाने में नील की पैदावार दक्षिण में ही अधिक थी। मुख्य खाद्य धान ही है। इसीलिए देहाती कहावत मशहूर है—"अजब देश मंझौआ, जहाँ भात न पूछे कौआ।" किन्तु अब वैसी स्थिति नहीं है। मंझौआ चम्पारन का ही एक मुख्य प्रमंडल है जहाँ के बागड़ प्रसिद्ध हैं। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी पुस्तक "चम्पारन में महात्मा गांधी" में लिखा है—"चम्पारन में बहुत से लोग ऐसे हैं जिनमें बुद्धि कम है। वे गिनना नहीं जानते, ठीक से बातें नहीं कर सकते, दूसरों की बातें समझते भी नहीं, बेमौके हँस देते हैं। आस-पास के लोग इन्हें बागड़ कहते हैं, और बिहार प्रान्त के अन्य जिलों में "मंझौआ के बागड़" प्रायः कहावत सी

हो गयी है।" यद्यपि उपर्युक्त विचार सन् १९१९ के है; किन्तु वस्तुस्थिति में कुछ अधिक परिवर्तन नहीं आया है। अभी भी अधिकांश जनता अशिक्षित और गंवार है। बिहार के अन्य जिलों की तरह हिन्दुओं की संख्या अधिक है। मुसलमानों की संख्या करीब ५ लाख होगी। ईसाइयों की संख्या भी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। १९२१ की जनगणना के अनुसार चम्पारन में उनकी संख्या २७७५ थी, किंतु १९५१ में १०००० से भी अधिक है। थारू नामकी एक जाति जो अन्यत्र नहीं पाई जाती है, चम्पारन में इसकी संख्या ५० हजार के आसपास है। इसे पिछड़ी जातियों में सम्मिलित कर लिया गया है। ये लोग बड़े सच्चे और उदार किस्म के होते हैं। दूसरों को कष्ट पहुँचाना इन्हें आता ही नहीं है। अन्याय और जुल्म का मुकाबला नहीं करते। बड़े धर्मभीरु हैं।

चम्पारन की मुख्य भाषा हिन्दी है। जिले की प्रधान बोली भोजपुरी है। कुछ क्षेत्रों में मिथिला भाषा का असर है। थारुओं की बोली आदिम भाषा मिश्रित भोजपुरी है। हिन्दू मुसलमान दूध पानी की तरह मिले जुले हैं। ईसाइयों का रहन सहन भिन्न है। भारत पाकिस्तान विभाजन के बाद बंगालियों की भी बस्तियाँ बेतिया तथा आसपास के इलाकों में बसा दी गयी हैं।

चम्पारन का इतिहास

चम्पारन का अपभ्रंश रूप ही चम्पारन है। पुराणों में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। कहा जाता है कि राजा उत्तानपाद यहीं के राजा थे। ध्रुव की अटल प्रतिज्ञा की भूमि यही है। बाल्मीकि मुनि की तपस्या भूमि यही थी। जानकी जी को बनवास की अवधि भी यहीं काटनी पड़ी थी। लवकुश का जन्म और भगवान् राम का पुत्रों से युद्ध यहीं हुआ था। कहते हैं कि राजा विराट की राजधानी यहीं थी। ईसा के प्रायः ६०० वर्षों पूर्व लिच्छवी वंश का राज्य चम्पारन में ही था। मनन्दनगढ़ आदि पुराने स्थानों में पुराने सिक्के और अन्य अवशेष चिह्न पाए जाते हैं। बौद्धों के भग्नावशेष बहुतायत से चम्पारन में पाए जाते हैं। राजा अशोक के बनाए कई स्तम्भ इस जिले में हैं। चीनी यात्रियों ने चम्पारन का उल्लेख किया है। यहाँ फाहियान और हुएनसांग ने कई दिनों तक अपना पड़ाव डाला था। गुप्तकाल में भी चम्पारन एक मुख्य क्षेत्र में उल्लिखित था। राजा हर्षवर्धन ने अपने साम्राज्य का विस्तार यहाँ तक किया था।

इसके बाद तेरहवीं शताब्दी तक कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। चौदहवीं शताब्दी में सिमरा और सुगांव राज्यों की स्थापना हुई। सुगांव का ठाकुर राजा शिवसिंह राज्य में ही मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा १४०२ में बन्दी बना लिए गए,उनकी रानीलखिमों ठाकुरानी ने कवि विद्यापति के साथ नेपाल राज्य की शरण ली। १२ वर्षों तक राजा शिवसिंह का कोई समाचार नहीं मिला तो रानी जलती चिता में कूद कर सती हो गई। राजा शिवसिंह की स्मृति अभी भी वहाँ की जनता के बीच ज्यों की त्यों बनी है। १६वीं शताब्दी में सम्पूर्ण चम्पारन पर मुसलमान शासकों का कब्जा हो गया था। सिकन्दर लोदी उसका प्रथम शासक हुआ था। १८वीं शताब्दी में जब अलीवर्दी खाँ बिहार और बंगाल का नवाब घोषित किया गया तो उसने फिर चम्पारन में लूट खसोट की। सम्पूर्ण बेतिया राज्य भी खाँ के कब्जे में आ गया था।

सन् १७६० में मुसलमान शासकों और अंग्रेज व्यापारियों के बीच चम्पारन के लिए लड़ाई हुई, बादशाह शाहआलम बुरी तरह परास्त हुआ। पूर्णिया का सूबेदार खादिम हुसैन खाँ हार कर बेतिया राज्य की ओर भागा जिसका पीछा मीरजाफर का बेटा मीरन और जनरल क्लौड ने किया। मीरन की मृत्यु बिजली गिरने से यहीं हो गई किन्तु जनरल क्लौड ने बेतिया के राजा से कर वसूल किया। मीरकासिम ने भी बेतिया पर राज्य किया। किन्तु १७६५ में बादशाह शाहआलम ने खिराज में चम्पारन को अंग्रेजों के हाथ सुपुर्द कर दिया। थोड़े ही दिनों के बाद राजा युगलकिशोर ने अंगरेज शासकों से विद्रोह किया। किन्तु वे हारकर बुन्देलखंड भाग गए। चम्पारन की हालत संभलती न देखकर अंग्रेजों ने सन् १७७१ में

मझौआ और सिमरा को राजा युगलकिशोर सिंह को पुनः सम्मान के साथ बुला कर सुपुर्द किया। उनके सम्बन्धी श्रीकृष्णसिंह को भी दो परगने मेहसी और बबरा दिए गए, जो आगे चलकर दमामी बन्दोवस्त के आधार पर सन् १७९३ में बड़े जमींदारों में बांट दिए गए। अभी हाल तक तीन जमींदारियाँ बेतिया, रामनगर और मधुबन थे, जिन्हें बिहार सरकार ने जमींदारी प्रथा समाप्त करने के सिलसिले में अपने संरक्षण में ले लिए।

निलहे गोरों का आगमन

१७९३ ई० में दमामी बन्दोवस्त ने ठेकेदारी प्रथा को जन्म दिया। पहले कुल ठेकेदार भारतीय थे,किन्तु बादमें अंग्रेज व्यापारियोंने ऊँख और नीलकी खेतीसे प्रभावित होकर चम्पारनमें अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया। सबसे पुरानी कोठी कर्नल हिक्की ने बारा में स्थापित की। पीछे यरकौलिया, पिपरा, मोतीहारी और राजपुर में निलहे साहबों की कोठियाँ स्थापित हुईं। सन् १८७५ के बाद अंग्रेजों ने सम्पूर्ण चम्पारन में अपनी कोठियाँ स्थापित कर लीं। सन् १८८८ में बेतिया राज्य ने अपना ऋण चुकाने के लिए टी० गिल्वन के माध्यम से ८५ लाख रुपए का ऋण कम्पनी से लिया। इसके एवज में अंग्रेजों के साथ राज्य मुकर्ररी और ऋण चुकाने के लिए मालगुजारी देने का निश्चय हुआ। मुकर्ररी ठेका मिलने से उनकी स्थिति काफी मजबूत हो गई। नील की खेती में अधिक लाभ होने के कारण कोठीवालों ने ऊँख की खेती कम कर दी। नील की खेती से अधिक आमद होने से गोरे साहबों ने तरह तरह के जुल्मों का सहारा लिया। हुकुमत ने भी उनका ही साथ दिया।

सन् १८६० में हरिश्चन्द्र मुखर्जी के प्रयास से बंगाल में निलहे गोरों पर एक कमीशन बैठाया गया। उनमें शहादत देते हुए फरीदपुर के मजिस्ट्रेट श्री ई० डब्लू० एल० टावर ने हृदयद्रावक दृश्य का चित्रण उपस्थित किया :—"मैजिस्ट्रेट होने के कारण मेरे पास कई ऐसे रैयत भेजे गए थे जिनकी देह भालों से छेदी गई थी। मुझे ऐसे लोग मिले हैं जिनको मि० फोर्ड ने गोली मार कर गिरा दिया था। मैंने यह भी लिपिबद्ध किया है कि किस तरह कुछ लोग पहले भाले भोंककर मारे गए हैं और बाद में उनकी लाशें गायब कर दी गई हैं। इस प्रकार से नील तैयार करना मेरे विचार में सिर्फ खून बहाना है।" कमीशन ने टावर के वक्तव्य को सही माना और उनकी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप निलहे गोरों की कोठियाँ समाप्त हो गयीं।

यद्यपि उस रिपोर्ट का प्रभाव चम्पारन पर भी पड़ा और यहाँ के किसान बराबर विरोध का इजहार करते रहे किन्तु उसकी कोई सुनबाई नहीं हुई। सन् १९१७ में महात्मा गांधीजी ने ज्यों ही चम्पारन में पैर रखा कि सरकारी अधिकारियों में खलबली मच गई और कोठीवालों ने गांधीजी के चम्पारन प्रवेश का विरोध किया। गांधीजी रैयतों के सुख दुःख का विवरण तैयार करने लगे। डॉ०राजेन्द्रप्रसाद और स्व०डॉ० अनुग्रह नारायणसिंह आदि नेताओं ने महात्मा गांधी का इस कार्य में हाथ बंटाया। चम्पारन की जनता कोठीवालों के अत्याचार से पहले से ही जल भुन कर खाक थी। गांधीजी ने चम्पारन आकर उस आग को और भड़काया।

महात्मा गांधी का आन्दोलन

सन् १९१६ में कांग्रेस के लखनऊ सम्मेलन में बिहारी नेता बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद ने चम्पारन के नीलवरों के जुल्म की जाँच करने का प्रस्ताव रखा कि "कांग्रेस सरकार से प्रार्थना करती है कि उत्तर बिहार के अंग्रेज नीलवरों और उनके रैयतों के बीच वैमनस्य और कृषि सम्बन्धी अशान्ति के सम्बन्ध में जाँच करने और उनके दुःख दूर करने के उपाय बताने के लिए वह सरकारी और गैर सरकारी लोगों की एक कमेटी नियुक्त करे।" कांग्रेस का यह शायद प्रथम सम्मेलन था, जिसमें कृषक प्रतिनिधि की हैसियत से

श्री राजकुमार शुक्ल ने प्रस्ताव का समर्थन किया था। इसी प्रस्ताव के परिणामस्वरूप सन् १९१७ में महात्मा गांधी स्वयं चम्पारन की स्थिति देखने आए। इस सन्दर्भ में श्री रामकुमार शुक्ल और पीर मुहम्मद मूनिस ने जो काम किया वह चम्पारन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। १० एप्रिल १९१७ को महात्मा गांधी पटना में स्व० मजहरूलहक और श्री कृष्णसहाय से मिलकर मुजफ्फरपुर में आचार्य कृपलानी के यहाँ ठहरे। वहीं ११ एप्रिल को बिहार प्लान्टर्स एसोसिएशन के मंत्री श्री जे० एम० विल्सन को चम्पारन जाने का कारण बतलाया और कहा कि "मैं चम्पारन में कोठीवालों और रैयतों के बीच जो अनबन है उसकी जाँच करना चाहता हूँ और इस जाँच में आप की सहायता चाहता हूँ।" इसी आशय का पत्र तिर्हुत डिवीजन के कमिश्नर को लिखा। किन्तु मि० मौरशेड ने गांधीजी को चम्पारन जाने से रोका। उनको चम्पारन से जितना रोका गया, उनका सन्देह उतना ही बढ़ता गया। १५ एप्रिल १९१७ को महात्माजी ३ बजे मोतीहारी स्टेशन पर पहुँचे। १६ एप्रिल को जलवली पट्टी ग्राम आए। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने उन दिनों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "यह बैशाख का महीना था, धूप कड़ी थी, पछवां हवा खूब जोरों से बह रही थी। बाहर निकलते ही देह झुलस जाती थी। महात्माजी को हाथी पर चढ़ने का भी अभ्यास नहीं था, तिस पर भी एक हाथी पर तीन आदमी थे और उस पर तुर्रा यह कि पछवां हवा और धूल की वृष्टि थी। पर यहाँ तो महात्माजी के हृदय में रैयतों के दुखों को दूर करने की धुन थी, धूप और धूल क्या कर सकती थी।"

"१८ एप्रिल चम्पारन इतिहास में ही नहीं वरन् भारतवर्ष के इतिहास का महत्त्वपूर्ण दिन था, जब कि महात्मा गांधी जेल जाने की तैयारी कर रहे थे। महात्माजी के जेल जाने के बाद का सारा कार्यक्रम निश्चित कर लिया गया था। श्री मजहरुल हक और श्री ब्रजकिशोर प्रसाद का द्वितीय जत्था था। तत्पश्चात् श्री धरणीधर और रामनवमीप्रसाद का तृतीय जत्था और बाबू शम्भूशरण और बाबू अनुग्रहनारायण सिंह चतुर्थ जत्थे के संचालक थे। आन्दोलन को जोर पकड़ता देखकर सरकार को झुकना पड़ा। सारे भारत में इस घटना से खलबली मच गई। सभी समाचार पत्रों में महात्माजी के साथ कमिश्नर के दुर्व्यवहार की निन्दा की गयी। गांधीजी ने अपना आन्दोलन जारी रखा। परिणामस्वरूप निलहे गोरों को चम्पारन के किसानों को मुक्ति देनी पड़ी। राजनीतिक उथल पुथल तब से यहाँ बराबर बनी रही। गांधीजी ने देश को आह्वान किया; किन्तु आरंभ चम्पारन से ही मिला। सन् १९४२ के आन्दोलन में भी यह जिला किसी से पीछे न रहा। दुर्भाग्य की बात है कि आजादी के बाद चम्पारन को वह रुतबा नहीं मिल सका जो इसके पूर्व इसे प्राप्त था।

चम्पारन का सांस्कृतिक महत्व

चम्पारन में साहित्य, संगीत एवं कला को राजदरबारों द्वारा पहले से ही महत्ता प्राप्त थी। दरबारी युग की समाप्ति के पश्चात् द्विवेदी युग में श्री चन्द्रशेखर मिश्र को अपूर्व ख्याति मिली। इसके पूर्व संत कवियों की परम्परा में सरभंग सम्प्रदाय, कबीरपंथी आदि ने साहित्यिक क्षेत्र को अपनी कृतियों, वाणियों तथा उपदेशों से परिपूर्ण किया। हिन्दी साहित्य के मुस्लिम लेखकों में पीर मुहम्मद मूनिस का नाम किसी से पीछे नहीं है। वे बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भी अध्यक्ष बनाए गए। प्रजापति मिश्र और मूनिस साहब का सहकार बराबर बना रहा। मूनिसजी के अन्तिम दिन बड़े कष्ट में व्यतीत हुए। राष्ट्रीय जागरण में इनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

आधुनिक काल में रामजीशरण विन्ध्याचल "कविकिंकर" हिन्दी के सिवा फारसी के भी विद्वान हैं। "कृष्णायन" के प्रकाशन में इन्हें अपना सर्वस्व अर्पण करना पड़ा जिसका पुरस्कार बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् ने सम्मान देकर पुरस्कृत किया। गोपालसिंह "नैपाली" ने एक समय अपने गीतों की धूम से "बच्चन" को भी दबा दिया था। "नवराष्ट्र" के सम्पादक देवव्रत शास्त्री चम्पारन के ही गौरव स्तम्भ हैं।

ब्रजकिशोर नारायण, विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त, प्रो० रामसंजीवन सिंह, रमेश झा, शकुन्तला अग्रवाल एम० एल० ए०, आदि की कविताएँ समय समय पर जनमानस के हृदय को झकझोर देती हैं। कथा एवं नाट्य साहित्य ने खत्रीजी और गहमरीजी को चम्पारन में जीवित रखा। डॉ० दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, जो सम्प्रति बी० एन० कालिज पटना के प्राचार्य हैं, ब्रजकिशोर नारायण, चन्द्रदेव नारायण, विन्ध्याचल प्रसाद गुप्त आदि ने चम्पारन की परिधि से बाहर निकल कर राज्य व्यापी ख्याति प्राप्त की है। निबन्ध साहित्य भी चम्पारन के लेखकों से अछूता नहीं बचा। देवव्रत शास्त्री, डॉ० विद्यार्थी आदि इस अंग के ख्याति-लब्ध लेखक हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में चम्पारन ने १८८३ में "चम्पारन चन्द्रिका" का श्री गणेश किया। इसके बाद "चम्पारन हितकारी" का प्रकाशन हुआ; किन्तु वह भी "चन्द्रिका" की तरह असमय में ही काल कलवित हो गया। सन् १९१८ में "कुसुमाञ्जली" मासिक का प्रकाशन किया गया। इसीप्रकार सन् १९२१ में "निर्भीक" साप्ताहिक बालोपयोगी पत्र "विकास", सन् १९३१ में "किसान सेवक", १९३८ में त्रैमासिक "तरुण", सन् १९४३ में साप्ताहिक "सागर", १९४३ में "अग्रहरि", "मस्ताना" अंकुश", "अमन सभा समाचार" "चम्पारन समाचार", "चम्पारन", "राष्ट्र सन्देश", "मजदूर" आदि सामाजिक, साहित्यिक एवं राजनैतिक पत्र निकले। आजकल मासिक "पंचायत" और पाक्षिक "अंगार" का सफल प्रकाशन हो रहा है। इसी बीच में साप्ताहिक "आवाज", "नया चम्पारन" मासिक "गृहस्थ" का प्रकाशन हुआ; किन्तु समय के थपेड़ों के आगे टिक नहीं सके।

"बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इतिहास" में श्री ब्रजशंकर वर्मा ने लिखा है कि जिस समय चम्पारन में जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई थी, उस समय बिहार प्रान्त या किसी दूसरे प्रान्त में जिला सम्मेलन की स्थापना नहीं हुई थी। राजनीति की तरह सांस्कृतिक बिहार का नेतृत्व भी चम्पारन ने ही किया।

**

विश्व विश्रुत नालंदा

श्रीमती सावित्री शुभा

"नालं ददातीति नालंदा" अर्थात् जो प्रचुर मात्रा में कमल नाल दे सके, वही नालंदा है। श्री बुद्धघोष ने नालंदा शब्द की व्युत्पत्ति इसप्रकार की है। और यह अक्षरशः सत्य भी है। क्योंकि, आज भी नालंदा में बड़ी पुष्करणियाँ हैं जिनमें पर्याप्त कमल नाल विकसित पाए जाते हैं।

विश्व का केन्द्र

बिहार की राजधानी पटना से लगभग साठ मील दक्षिण पूर्व में प्राचीनभारत का विश्व विख्यात शिक्षा एवं संस्कृति का केन्द्र नालंदा अवस्थित है। पूर्वी रेलवे के बख्तियारपुर जंक्शन से बिहार-बख्तियारपुर लाइट रेलवे पर नालंदा नामक रेलवे स्टेशन है। स्टेशन से करीब डेढ़ मील की दूरी पर नालंदा है। पटना से नालंदा जाने के लिए पक्की सड़क कलकत्ता मार्ग पर है। प्राचीन नालंदा का स्थान आज बड़गाँव ने ले लिया है, जो एक बड़ा गाँव है। पर हजारों वर्ष पूर्व यही नालंदा भारत ही में क्यों, समस्त विश्व का विद्या मन्दिर था। संसार के कोने-कोने से शिक्षार्थी मगधराज की इस पावन नगरी में अवस्थित विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। शताब्दियों तक लुप्त रहने के बाद पुरातत्व विभाग द्वारा की गई खुदाई के जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं, उनका विस्तार एक मील लम्बा और आधा मील चौड़ा है। इसके सभी विहार स्तूप एक निश्चित ढाँचे पर एक पंक्ति में बने हुए हैं। सन् ४५० के लगभग नालंदा के शिक्षण की प्रसिद्धि चरम सीमा पर थी।

प्राचीन इतिहास

बौद्धों के धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से इस बात का पता लगता है कि महात्मा बुद्ध के काल में नालंदा एक उन्नतिशील गाँव था। उन्हीं ग्रन्थों में इस बात का भी उल्लेख है कि वहाँ लेपर नामक एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति रहता था, जो बड़ा ही अमीर था और सुख भोग की सामग्रियों से परिपूर्ण था। कहा जाता है कि उस काल में नालंदा में हजारों मकान थे। यही नहीं, जैन साहित्य में भी नालंदा का विशिष्ट स्थान पाया जाता है। जैन सम्प्रदाय के चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने नालंदा में ही चौमासा व्यतीत किया था। यहीं के प्रकांड विद्वान् श्री इन्द्रभूति थे जो बाद में गौतम गन्धर के नाम से जैन जगत् में पूजित हुए। अतः नालंदा जैन सम्प्रदाय वालों के लिए भी महत्वपूर्ण तीर्थ स्थान है।

बुद्ध भगवान ने स्वयं नालंदा में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। और तिब्बत के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री तारानाथ के अनुसार बौद्ध सन्त सारिपुत्त और मग्गलायन का जन्म स्थान नालंदा ही है। वस्तुतः नालंदा के इतिहास में सब से अपूर्व घटना सारिपुत्त का निर्वाण है। इतिहास विशेषज्ञों का विश्वास है कि सारिपुत्त का देहावसान उसी कोठरी में हुआ था जिसमें उनका जन्म हुआ था। बौद्ध जगत् में सारिपुत्त का मूर्द्धन्य स्थान था। भगवान बुद्ध ने सारिपुत्त के सम्बन्ध में अनेक बार उद्गार प्रकट करते हुए कहा था—"एक दग्गाभिक्खवे पञ्जपलन्तानयादिद सारिपुत्तं" अर्थात् सारिपुत्त मेरे शिष्यों में सब से अधिक ज्ञान सम्पन्न हैं। सारिपुत्त के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए भगवान बुद्ध ने यह भी कहा था—"सारिपुत्तेन गत दिसाय... गमननत्थि" अर्थात् जिस दिशा में एक बार सारिपुत्त गए उस दिशा में मेरे लिए जाने की जरूरत नहीं है। यह कथन इस बात का प्रबल प्रमाण है कि सारिपुत्त कितना महान् था। इसीलिए सारिपुत्त के जन्म तथा निर्वाण का स्थान रहने के कारण नालंदा पूजा और साधना का केन्द्र बन गया। नालंदा के आस-पास बौद्ध भिक्षुओं ने अनेक मठ बनवाए। बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ विद्याभ्यास भी करते थे।

जो प्रौढ़ भिक्षु थे वे नवागन्तुकों को पाठ पढ़ाया करते थे। इस प्रकार कालान्तर में सातवीं सदी के बाद बौद्ध मतानुयायियों ने ऊँची शिक्षा के लिए नालंदा महाविहार की स्थापना की। महाविहार शब्द को ही आधुनिक शब्द में विश्वविद्यालय कह सकते हैं। इतिहास से यह भी पता चलता है कि नागार्जुन के समकालीन सुविष्णु ने नालंदा में १०८ विहार की संस्थापनाएँ की थीं। सम्राट् अशोक ने यहाँ एक विहार बनवाया था, इस बात का भी उल्लेख मिलता है। जो हो, नालंदा के सम्बन्ध में सब से विस्तृत वर्णन हुएनसांग की भारत यात्रा में मिलता है। हुएनसांग सुप्रसिद्ध चीनी यात्री था जो सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में नालंदा में आया था। हुएनसांग ने नालंदा स्थित विशाल अट्टालिकाएँ और गगनचुम्बी वेधशालाएँ आदि का सजीव वर्णन किया है। भवन इतने ऊँचे बने थे कि जिनके वातायनों से सूर्य और चन्द्र के मिलन स्थान देखे जा सकते थे। बौद्ध धर्म के प्रचारकों के लिए चार मंजिला भवन बने हुए थे। नालंदा के तालाब बड़े ही भव्य थे, जिनमें नील कमलों की भरमार थी।

कहा जाता है कि जावा के राजा बालपुत्र देव ने भी नालंदा में विहार बनवाया था।

विद्या का सर्वोच्च केन्द्र

आधुनिक विश्वविद्यालयों की भाँति प्राचीन नालंदा विश्वविद्यालय नहीं था। नालंदा विश्वविद्यालय मात्र "स्नातकोत्तर अध्ययन" के लिए ही था।

यहाँ बंगलौर स्थित वर्तमान "विज्ञान भवन" की भाँति विशेषतः गवेषण कार्य होता था। वस्तुतः नालंदा उन दिनों एशिया का सब से उच्च ज्ञान-केन्द्र था। यही कारण था कि आधुनिक काल की यातायात सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव में भी दुर्गम मार्ग की कठिनाइयों का ध्यान किए बिना ही ज्ञान पिपासु लोग सुदूर देशों से पैदल ही यहाँ आया करते थे। नालंदा में चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, लंका, पूर्वी द्वीप समूह आदि देशों के विद्वान् आए थे। विदेशी छात्रों में हुएनसांग और इत्सिंग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने नालंदा विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन रख छोड़ा है। कोरिया के दो छात्रों का भी उल्लेख मिलता है। पहला आर्य वर्मा ६३० में नालंदा आया था और वह यहाँ ही सत्तर वर्ष की उम्र में मरा था। दूसरा छात्र ह्वी ई साठ वर्ष की उम्र में यहीं मरा था।

नालंदा विश्वविद्यालय में प्रवेश पाना सरल नहीं था। जो प्रवेश के लिए आता, उसकी सर्वप्रथम भेंट द्वारपाल से होती थी। द्वारपाल उससे कुछ प्रश्न करता था। यदि उत्तर सन्तोषजनक मिलता तो वह भीतर जाता। वहाँ फिर विशेषज्ञों की समिति द्वारा जाँच परीक्षा होती थी। ये परीक्षाएँ इतनी कठिन होती थीं कि दस विद्यार्थियों में अधिक से अधिक दो या तीन ही सफल होते थे। यहाँ की शिक्षा के स्तर का अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि विश्वविद्यालय का द्वारपाल विभिन्न विषयों का पंडित होता था और किसी भी विषय पर धारा प्रवाह बोल सकता था। फिर विश्वविद्यालय के आचार्यों के पांडित्य का कहना ही क्या था।

विश्वविद्यालय के आचार्य और छात्र

नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य देश के चुने हुए विद्वान् होते थे। विद्वता में उनके सान की कोई समता नहीं थी। हुएनसांग ने उनमें से कतिपय के सम्बन्ध में लिखा है। वह स्वयं योग विद्या में विशिष्टता प्राप्त करने के लिए यहाँ आया था। इस विद्या में उस काल से सब से बड़े अधिकारी विद्वान् शीलभद्र थे जो नालंदा विश्वविद्यालय के कुलपति थे। उनकी तर्क शक्ति बड़ी ही प्रखर थी। अन्य आचार्यों में धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति, जिनमित्र, प्रभामित्र और ज्ञानचन्द्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कांची निवासी धर्मपाल सात वर्षों तक नालंदा में अध्यापन करने के बाद बुढ़ापे में सुवर्ण द्वीप चले गए थे। नालंदा का इतिहास बहुत लम्बा है और इस अवधि में बराबर योग्य ही आचार्य रहे। कहना अत्युक्ति न होगा कि नालंदा

के आचार्य परिपक्व मस्तिष्क के होते थे। दूसरी सदी के नागार्जुन, जो सुप्रसिद्ध रसायनशास्त्री थे, बहुत समय तक अपने मुख्य शिष्य आर्य देव के साथ नालंदा में रहे थे। योगाचार्य स्कूल के संस्थापक, असंग अपने जीवन के पिछले भाग में एक युग तक नालंदा में रहे थे। असंग के बाद उनके शिष्य वसुबन्धु नालंदा के प्रधान बने। और फिर वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नग प्रधान बने, जो बड़ा ही प्रसिद्ध बौद्धिक तार्किक था। चीनी यात्री हुएनसांग ने नालंदा में छात्र और अध्यापक के रूप में बारह वर्ष बिताए थे।

सच तो यह है कि नालंदा इतनी बड़ी "रेजीडेन्शियल यूनिवर्सिटी" थी कि आज के युग में भी यह संभव नहीं है। छात्रावास में रहनेवाले छात्रों की संख्या दस हजार के लगभग थी। आचार्य ५ : १ के अनुपात में थे। ऐसा समझा जाता है कि पाँच छात्रों पर एक शिक्षक का होना आवश्यक था।

पढ़ाई की पद्धति और पाठ्यक्रम

पढ़ाई की पद्धति अनोखी थी। पढ़ाई वाद-विवाद के माध्यम से होती थी। इस क्रम में हुएनसांग ने लिखा है कि शिक्षा और वाद-विवाद के लिए दिन भर का समय था। नए और पुराने छात्र आपस में दिन-रात विचार-विमर्श करने के पश्चात् अन्तिम निर्णय पर पहुँचते थे। यहाँ के आचार्य जैसे कर्त्तव्यपरायण थे, छात्र भी वैसे ही थे। प्रतिदिन शिक्षक एक सौ लेक्चर दिया करते थे। इसप्रकार हमें समझना चाहिए कि प्रतिदिन एक सौ विभिन्न श्रेणी के छात्र पढ़ाए जाते थे। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि विद्यार्थीगण शिक्षा के सभी घंटों में अवश्य ही उपस्थित रहा करते थे।

नालंदा विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम विशद और उदार था। पाठ्यक्रम में तत्कालीन संसार का ज्ञान व अन्य सभी प्रकार के ज्ञान सम्मिलित थे। यहाँ बौद्ध साहित्य के साथ-साथ हिन्दू-शास्त्रों का भी अभ्यास कराया जाता था। यहाँ चारों वेदों के अध्ययन के साथ-साथ हेतु विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, जादू विद्या आदि का अध्ययन कराया जाता था। इसप्रकार नालंदा में ज्ञान के सभी क्षेत्रों में उच्च शिक्षा दी जाती थी। इसीलिए कानून का अधिकारी विद्वान् होते हुए भी हुएनसांग महायान सम्प्रदाय का था और इत्सिंग हीनयान सम्प्रदाय का था। इत्सिंग यहाँ दस वर्षों तक अध्ययन करता रहा था। यहाँ यह बतलाना अप्रासांगिक न होगा कि बुद्ध भगवान को व्यक्ति मान कर प्रतीकों की पूजा होती है और महायान में देव रूप में उनकी पूजा होती है। आठवीं सदी के बाद बौद्ध धर्म मंत्रदान के नाम से विख्यात हुआ जिसका प्रधान केन्द्र नालंदा था। इस मत के प्रसिद्ध विद्वान् यहाँ निवास करते थे। इसप्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक हिन्दू और बौद्ध शिक्षण प्रणालियों के आधारभूत सिद्धान्तों और प्रयोगों का प्रश्न है, वहाँ तक इन दोनों प्रणालियों में कोई विशेष अन्तर नहीं मालूम पड़ता है। बौद्ध शिक्षण प्रणाली में मुख्य बात यह रही कि शिक्षक केवल ब्राह्मण ही नहीं रहे, क्योंकि बौद्ध धर्म में जाति विभेद नहीं था। दूसरी बात, संस्कृत के बदले शिक्षा प्राकृत में दी जाने लगी, क्योंकि वह सरल और व्यावहारिक भाषा थी।

विद्यार्थी जीवन

नालंदा विश्वविद्यालय में विभिन्न विरोधी विचारधारा के छात्र पढ़ा करते थे। विश्वविद्यालय का द्वार सभी धर्म, सम्प्रदाय और विचार के लोगों के लिए खुला था। विश्वविद्यालय का बौद्धिक जीवन विरोधात्मक होते हुए भी सर्वत्र शान्ति व्याप्त रहती थी। विद्यार्थी जीवन में सदैव समन्वय और भाईचारा बरता जाता था। यहाँ सहिष्णुता संस्कृति का आधार मानी जाती थी। वस्तुतः नालंदा की शिक्षा प्रणाली शिक्षण स्वातंत्र्य का परीक्षण थी। यही कारण था कि नालंदा अपने सीमा क्षेत्र में जातीय समस्याओं को हल करने में सदा सक्षम रहा। नालंदा के विद्यार्थी स्वयं भी शान्ति और अनुशासन पालन में अग्रसर रहे। यूनानचांग ने लिखा है कि सातवीं सदी में शुरू से अन्त तक कोई भी छात्र संस्था के विरुद्ध "दोषी विद्रोही" नहीं हुआ। इसका प्रमुख कारण यही था कि विश्वविद्यालय सम्बन्धी विषयों का निर्णय छात्रों पर ही छोड़ दिया

जाता था। अपराधों के निर्णय छात्र ही करते थे। शिक्षा में अधिनायकवाद अपनाया जाता था और छात्रों के शारीरिक मामलों में प्रजातंत्रात्मक पद्धति अपनाई जाती थी।

विश्वविद्यालय का पुस्तकालय

नालंदा के अध्यापक और छात्र एक वृहत् पुस्तकालय के अभाव में अपने ज्ञान विज्ञान की अभिवृद्धि समुचित रूप से नहीं कर पाते थे। इस बात को मद्दे नजर रखते हुए विश्वविद्यालय को एक अपना पुस्तकालय संस्थापित करना पड़ा। जिस विशेष क्षेत्र में पुस्तकालय अवस्थित था उसे धर्मगंज कहा जाता था। कालान्तर में यह पुस्तकालय इतना विशाल बन गया कि वह हजारों छात्रों और सैकड़ों अध्यापकों के लिए पर्याप्त था। चीनी यात्री इत्सिंग यहाँ से चार सौ संस्कृत पुस्तकों की प्रतिलिपि उतरवा कर चीन ले गया था। यह पुस्तकालय नौ मंजिलवाले रत्नोदधि, रत्नसागर तथा रत्नरंजक नामक तीन भवनों में प्रतिष्ठित था।

विश्वविद्यालय की व्यवस्था

नालंदा विश्वविद्यालय की व्यवस्था वैदिक गुरुकुल पद्धति पर हुई थी। इसीलिए वह अत्यन्त भव्य और व्यवस्थित रूप में चलता रहा। यद्यपि यहाँ छात्र और आचार्य दस हजार से अधिक थे, पर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर्मचारियों की संख्या भी हजारों थी। विश्वविद्यालय को छात्रों के दैनिक जीवन की सामग्रियों, पोशाक, भोजन, बिछावन, दवा आदि का प्रबन्ध करना पड़ता था। शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी।

विश्वविद्यालय से सम्बद्ध व्यक्तियों के भोजन के लिए प्रतिदिन चार सौ मन चावल की आवश्यकता होती थी। और इसी अनुपात से सैकड़ों मन दूध और मक्खन की भी जरूरत होती थी। इसप्रकार प्रतिदिन खर्च होनेवाले चावल, मक्खन और दूध विश्वविद्यालय के ही खेतों और डेयरी फार्म से आते थे।

विश्वविद्यालय की व्यवस्था में इतनी बड़ी रकम लगती थी। उसकी पूर्ति दानवीर और राजाओं तथा नागरिकों के अनुदान और दान से होती थी। अनुदान में विशेषतः जमीन और गाँव मिलते थे। हुएनसांग के समय में उत्तर भारत के सब से बड़ा राजा हर्षवर्द्धन से एक सौ गाँव विश्वविद्यालय को दान में मिले थ। इत्सिग के समय में दो सौ से भी अधिक गाँव हो गए थे। इस सिलसिले में यह भी पता चलता है कि जमीन कर देने से मुक्त रहती थी। जमीन जोतने-बोने के लिए जो मजदूर रखे जाते थे, उनकी मजदूरी भी राजा ही देता था। इसप्रकार दान पाते-पाते अन्ततोगत्वा विश्वविद्यालय स्थानीय क्षेत्रों का सब से बड़ा काश्तकार बन गया था। इसप्रकार से प्राप्त धन का उपयोग विश्वविद्यालय के प्रबन्धक उचित रूप से करते थे। विश्वविद्यालय को कई शासकों का संरक्षण प्राप्त था। राजा हर्षवर्द्धन का उल्लेख तो ऊपर की पंक्तियों में हो ही चुका है। पाल वंशीय राजा भी विश्वविद्यालय के संरक्षक थे। राजा वालादित्य ने यहाँ एक बुद्ध मन्दिर बनवाया था। इसके अतिरिक्त इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि विश्वविद्यालय के संचालन-हेतु अनेक राजाओं ने काफी दान दिए थे।

इत्सिग का कथन है कि विश्वविद्यालय के खर्च की स्वीकृति महंतों की साधारण सभा देती थी। यदि कोई जन सूचना के बिना ही, मनचाहा काम कर लेता तो उसे निष्कासित कर दिया जाता था। कुलपति के स्तर के कतिपय महंतों को यह अधिकार प्राप्त था, जो समुदाय के हित में व्यक्तिगत रूप में भी किसी निर्णय की घोषणा कर सकते थे और जिसके लिए धारा सभा की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं थी। इसप्रकार हम देखते हैं कि विश्वविद्यालय के कोष और अर्थ के प्रबन्ध का आधार जनतांत्रिक था।

नालंदा विश्वविद्यालय न केवल शुद्ध धार्मिक और दार्शनिक अध्ययन का केन्द्र था; वरन्, उद्योग और दस्तकारी के प्रशिक्षण का भी केन्द्र था। नालंदा का कला विभाग पत्थर और धातु की मूर्त्तियाँ बनाने

के लिए अत्यन्त ही प्रसिद्ध था। धातु की मूर्त्तियों के सुप्रसिद्ध कलाकार धीमान और विरयास थे। इन्होंने वज्रयान की अनेक धातु प्रतिमाएँ तैयार की थीं। ऐसी सुन्दर प्रतिमाएँ नालंदा के अतिरिक्त और कहीं भी तैयार नहीं की गईं।

नालंदा में विदेशी भारतीय की तरह रहते थे। और अपना नाम संस्कृत में रख लेते थे। नालंदा के विद्वान् विदेशों में जाकर भारतीय विचारों के सन्देश देते थे। तिब्बत के त्रिपिटक में बताया गया है कि नालंदा की पुस्तकें और यहांके विद्वानों ने तिब्बत की सभ्यता और संस्कृति में बड़ा ही योगदान दिया था। नालंदा के विद्वानों ने तिब्बत जाकर आर्य देव, शीलभद्र और धर्मपाल की कृतियों के अनुवाद तिब्बती भाषा में किए थे। ऐसे विद्वानों में संत रक्षिता (७४६ ई० के लगभग) और पद्म संभव, (७४७ ई०) के नाम प्रमुख हैं।

नालन्दा का पतन

एक हजार वर्ष से अधिक काल तक नालंदा अनेक धार्मिक शिक्षिकों एवं दार्शनिकों के केन्द्र रूप में रहा। पर प्रकृति के नियमानुसार जिसका चरमोत्कर्ष होगा उसका पतन भी अवश्य होगा। नालंदा का भी पतन होकर ही रहा। नालंदा के पतन के साथ ही बौद्ध धर्म का भी लोप होना आरम्भ हो गया। नालंदा के पतन के अनेक कारण हैं। बौद्ध धर्म की इतनी जल्दी उन्नति हुई उसका प्रधान कारण उसका राजधर्म होना था। साथ ही, नालंदा शाही अनुदान पर बराबर फलता फूलता रहा। पर पाल वंशीय राजाओं के बाद के राजाओं द्वारा नालंदा को संरक्षण मिलना एकदम ही बन्द हो गया। दूसरे, बौद्ध धर्मावलम्बियों में अनेक गुट हो जाने के कारण भीतरी कमजोरी आ गई, जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म की नींव हिल गई। तीसरे, बौद्ध धर्म जनतांत्रिकता की ओर बढ़ने लगा जिसके कारण बुद्धिजीवियों का नैतिक समर्थन मिलना बन्द हो गया। इसप्रकार सातवीं सदी से बौद्ध धर्म का ह्रास होना शुरू हुआ। बौद्ध धर्म के पतन का सब से तात्कालिक कारण बौद्ध धर्म पर दार्शनिक प्रहार था। कुमारि भट्ट ने ८ वीं सदी में और शंकराचार्य ने ६ वीं सदी में बौद्ध धर्म पर ऐसा प्रबल आघात किया कि उसका अन्त हो गया।

इधर १२०५ के लगभग महम्मद बख्तियार ने नालंदा पर ऐसा धावा किया कि उसमें लगभग सभी भिक्षु जान से मार डाले गए और पुस्तकालय भी जला डाला गया। "तबकत्त नसीरी" के वर्णन से पता चला है कि बख्तियार का पुत्र मुहम्मद खिलजी ने केवल दो सौ घुड़सवारों की मदद से नालंदा विश्वविद्यालय पर कब्जा कर लिया और उसे किले के रूप में परिवर्तित कर डाला। इसप्रकार विश्व विश्रुत नालंदा का विनाश हुआ।

उपसंहार

आज लगभग आठ सौ वर्ष बाद नालंदा के गौरवमय इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। प्राचीन नालंदा विश्वविद्यालय के भग्नावशेषों से सटे ही बिहार राज्य सरकार ने यहाँ "पाली अनुसन्धान प्रतिष्ठान" की स्थापना की है। प्रतिष्ठान का शिलान्यास भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के कर-कमलों द्वारा १६ नवम्बर १६५१ को हुआ था। बौद्ध जगत् के सभी देशों से उस अवसर पर शुभ संदेश प्राप्त हुए थे। अमेरिका ने दस हजार डालर पुस्तकें तथा पुस्तकालय के लिए अन्य सामान खरीदने के लिए दिए हैं। आज प्रतिष्ठान का कार्य नियमित रूप से चल रहा है। तिब्बत, जापान और फ्रांस के विद्वान् भी अध्यापन का कार्य कर रहे हैं तथा बौद्ध धर्मावलम्वी विभिन्न देशों के छात्र अध्ययन कर रहे हैं।

परमेश नालंदा को पुनः वह गौरव प्रदान करे, जहाँ एक दिन समस्त विश्व की सर्वतोमुखी प्रवृत्तियाँ केन्द्रीभूत रहा करती थीं।

**

बौद्ध गया

श्रीमती विद्योत्तमा बरनवाल

भारत में बौद्ध धर्मावलम्बियों के पवित्र तीर्थ स्थान होने के कारण, जिन चार स्थानों ने अपना अन्तर्राष्ट्रीय महत्व बना लिया है, उनमें सब से प्रमख बौद्ध गया है। यहीं पर गौतम ने प्रज्ञालाभ किया और "सम्य सम्बद्ध" होकर भगवान बद्ध की संज्ञा से अभिहित हुए। इसलिए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तीन तीर्थधामों का माहात्म्य इसी बौद्ध गया की अनुकम्पा से प्रतिष्ठित हुआ। नेपाल राज्यवर्ती कपिलवस्तु के अन्तर्गत लम्बिनी इसलिए प्रसिद्ध हुई, कि भगवान बद्ध ने वहाँ जन्म ग्रहण किया था, सारनाथ इसलिए ख्याति पा सका कि उनका धर्मचक्र यहीं से प्रवर्तित हुआ और कुशीनगर इसलिए प्रतिष्ठा लाभ कर सका कि भगवान ने वहीं परिनिर्वाण प्राप्त किया। सांसारिक जीवन की व्यस्तताओं से दूर, शान्त वन-एकाकी में कलकल करती हुई निरंजना नदी के पवित्र तट प्रदेश में, जेठिया पहाड़ी के अंचलस्थ एक परम प्राचीन बोधि वक्ष के नीचे यदि गौतम ने एक दिन प्रज्ञालाभ न किया होता, तो आज भारत का इतिहास ही कुछ दूसरे रूप में हमें देखने को मिलता, विश्व में शान्ति और अहिंसा का कदाचित् नामोनिशान न होता, मानवता का अवशिष्टांश भी कहीं दष्टिगोचर न होता। यही कारण है कि आज भी भगवान बुद्ध के प्रति श्रद्धा रखनेवाला कोई भी व्यक्ति बौद्ध गया पहुँचने पर न केवल वहाँ के महाबोधि मन्दिर में भगवान बुद्ध की विशाल मूर्त्ति के समक्ष नतमस्तक होता है, अपितु उस पवित्र स्थल की मिट्टी भी अपने माथे पर लगाता है।

कलकत्ते से २८५ मील पश्चिम, पूर्व रेलवे पर अवस्थित गया नगर से सीधे सात मील दक्षिण, बौद्ध धर्मावलम्बियों का सब से महान् तीर्थधाम, बौद्ध गया आज भी भगवान बद्ध के जीवन के मधुरतम संस्मरण सम्पूर्ण संसार के सामने प्रस्तुत कर रहा है। हर समय संसार के भिन्न-भिन्न भागों के तीर्थ-यात्रियों और दर्शनार्थियों की यहाँ भीड़ सी लगी रहती है।

अपने राज वंश सुलभ समस्त सुखों का परित्याग करके अध्यात्म ज्योति की प्राप्ति के लिए गौतम को अनेकानेक विख्यात गुरुओं के शिष्य होने पर भी जब कोई संतोष नहीं हुआ, तो उन्होंने कठोर तपश्चर्या से शान्ति लाभ करने का प्रयत्न किया था। और साधना के इस क्रम में उन्हें कई दिनों तक लगातार उपवास भी करना पड़ा था। उपवास करते-करते वे मरणासन्न हो गए और फिर भी मोक्ष प्राप्ति का कोई मार्ग उन्हें दष्टिगत अथवा बोधगत न हो सका। इस समय तक वे "शाक्य मुनि" कहे जाने लगे थे और उनके अनेक शिष्य भी हो चके थे। किन्तु, उन्होंने जैसे ही उपवास भंग किया कि उनके सभी शिष्य उन्हें एक पदुच्युत भिक्षु मान कर उनसे अलग हो गए। तब, शाक्य मुनि अपने ढंग से जीवन के कठोर रहस्यों को सुलझाने के लिए दृढ़ संकल्प कर, उरुबेला नामक जंगल में प्रागबोधी नामक पहाड़ी की एक गुफा में जाकर यह विनती की कि उन्हें पूर्ण ज्ञान की ज्योति प्राप्त हो। इस पर उनकी छाया गुफा की पथरीली दीवार पर प्रकट हुई, धरती काँप गई, पहाड़ भी हिल गए और नेपथ्य से उन्हें यह वेद वाणी सुन पड़ी कि इस स्थान पर उनका लक्ष्य सिद्ध नहीं होगा। तब वे सेनानी नामक ग्राम की ओर चले गए। इसी ग्राम में, वहाँ के मुखिया की बेटी, सुजाता के हाथों से प्रज्ञपिपासु गौतम ने, अजपाल नामक वट-वृक्ष के नीचे मधु क्षीर ग्रहण किया। वहाँ से आगे बढ़ने पर सोठिया नामक एक घसियारे ने उन्हें घास के कुछ पूले भेंट किए, इन्हीं पूलों के सहारे गौतम ने निरंजना नदी को पार किया और नदी के उस सुविस्तीर्ण तट प्रदेश में आ गए, जिसे आज हम बौद्ध गया के नाम से जानते हैं। यहीं बोधि वृक्ष के नीचे उन्होंने जमीन पर घास फैलाई और पूर्वाभिमुख होकर उस पर बैठे तथा चिन्तन मग्न हो गए।

चिन्तन मग्न होते ही गौतम के मानस में सत् और असत् का भीषण द्वन्द्व आरम्भ हो गया। अनेकानेक असत् प्रलोभन उनके मानस तल में उदित हुए और सब को उन्होंने अपनी चिर जिज्ञासु आध्यात्मिक वृत्ति के प्रताप से पराजित किया। असत् पर सत् विजयी हुआ। और, अन्तोगत्वा वैशाख मास की पूर्णिमा को अरुणोदय के साथ ही प्रज्ञा प्रभाकर की पुनीत रश्मियाँ उनके मानस में फूट पड़ीं। वे "सम्म सम्बद्ध" हुए। गौतम से बुद्ध बन गए। मानव से भगवान हो गए। वैशाख के पूर्ण चन्द्र ने उनकी जिज्ञासा शीतल स्निग्ध कर दी और उषःकाल के नवोदित अरुण ने उन्हें आध्यात्मिक ज्योति देकर विश्व के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसके पश्चात् भगवान बुद्ध सात सप्ताह तक बोधिवृक्ष के चारों ओर सात स्थान पर एक-एक सप्ताह व्यतीत करते हुए परमानन्द चिन्तन करते रहे। फिर उड़ीसा के दो व्यापारियों, तापुस्स और मल्लक को दीक्षा दे उन्हें शिष्य बनाकर वे वहाँ से सारनाथ गए, जहाँ भगवान बद्ध का धर्मोपदेश सर्वप्रथम सुना गया। यहीं से बौद्ध धर्म का चक्र प्रवर्तन हुआ। अपने लगभग कई शिष्यों को धर्म प्रचार के निमित्त विभिन्न स्थानों में भेज कर, भगवान स्वयं फिर उसी उरुबेला जंगल में लौट गए और तीन साधुओं को (जिनके नाम उरुबेला, काश्यप, गया काश्यप और नादि काश्यप बताए गए हैं) दीक्षा देकर शिष्य बनाया। इन तीन साधुओं के साथ ही इनके लगभग हजार शिष्यों ने भी बौद्ध धर्म ग्रहण किया। इन सब को साथ लेकर भगवान बद्ध, "ब्रह्मायसु विष्णुपद" गया गए और वहाँ अल्पकालिक प्रवास करके तत्कालीन राजा बिम्बसार के दरबार राजगृह की ओर चले गए और अपनी प्रज्ञालोक प्राप्ति के स्थान को फिर कभी न लौटे।

बौद्ध गया का महाबोधि मन्दिर, जो वास्तुकला की दृष्टि से अपने ढंग का सब से पुरातन और पवित्र स्मारक माना जाता है, आज भी भगवान बुद्ध की जीवन गाथा बता रहा है। इसका स्थापत्य सौन्दर्य अपूर्व और अनुपम है और इसी की आन्नन्दकृति पर भारत, नेपाल, बर्मा आदि देशों में अनेकानेक मन्दिर बनाए जा चुके हैं। अड़तालीस वर्गफुट के पृष्ठाधार पर निर्मित इस विशाल मन्दिर में, पश्चिम की ओर एक वेदी पर, आसनस्थ मुद्रा में भगवान बुद्ध की जो प्रधान मूर्त्ति है, वह पूर्वाभिमुख में उसी स्थान पर बिठाई गई है, जहाँ बोधिवृक्ष की ओर पीठ करके प्रज्ञालाभ के लिए भगवान बुद्ध ध्यान मग्न हुए थे। मन्दिर के प्राचीरों पर बाहर बने हुए आलों में भी मूर्त्तियाँ रखी हैं। मन्दिर के सारे प्रांगण में संकलित स्तूप हैं, जिनमें बौद्ध सन्तों के अवशेष प्रतिष्ठित हैं। विभिन्न आकार-प्रकार के इन स्तूपों का निर्माण विगत दो हजार वर्षों में समय समय पर किया जाता रहा है। अनेक स्तूप स्थापत्य सौन्दर्य के अपूर्व एवं अनुपम उदाहरण हैं। एक प्रभावशाली तोरण द्वार भी है, जिस पर हिरण, सिंह और अन्य प्रकार की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मन्दिर के चारों ओर पीपल के वृक्ष की शाखाएँ और तनें, कतार में खड़े, इस मन्दिर के बाह्य सौन्दर्य को अभिवृद्धि करते हैं और इसे हरीतिमा की पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। १७० फुट ऊँचे महाबोधि मन्दिर के बाह्य सौन्दर्य की अभिवृद्धि करनेवाले ये पीपल के वृक्ष यद्यपि अपेक्षाकृत नए हैं, पर ये बोधि वृक्ष की नयी डालों से ही उत्पन्न बताए जाते हैं। यह धार्मिक भवन, एक धर्म ध्वजा के समान, दुःख का अतिक्रमण और शांति संधारण की एक सार्वभौम समस्या को सुलझाने के सिद्धार्थ के भागीरथ प्रयत्नों की आज भी विश्व में घोषणा कर रहा है, ऐसा हम कह सकते हैं।

मन्दिर के दक्षिण तथा पश्चिम की ओर भास्कृत पत्थर का एक प्राचीर निर्मित है, जो भारत के प्राचीन स्मारकों में से सब से प्राचीन तथा आकर्षक है। सामान्यतः इसे अशोक कालीन माना जाता है। इसके कुछ स्तंभों पर महत्व के अभिलेख अंकित हैं। स्तम्भ, शिखर प्रस्तर तथा प्रस्तर पट्टिकाएँ, सभी एक-से-एक हृदयग्राही अलंकरण के समान हैं। इनमें कुछ बौद्ध जातक कलाएँ भी उद्धृत हैं।

मन्दिर के पृष्ठ प्रांगण में अवस्थित बोधि वृक्ष संसार का सब से पुराना ऐतिहासिक वृक्ष है। इसी वृक्ष के पाद प्रदेश में एक आसन है, जहाँ बुद्ध प्रज्ञालाभ के लिए बैठे थे, इसे वज्रासन के नाम से जाना जाता है। इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि इसे स्थिरता, अनश्वरता और सभी भौतिक आघातों को सहन करने की शक्ति

से सम्पन्न माना जाता है। बोधि वृक्ष के अतिरिक्त, मन्दिर के पास, ध्यान के अन्य स्थलों में एक अनिमेष-लोचन स्तूप महत्वपूर्ण है। बर्मा के बौद्धों से भेंट के रूप में प्राप्त एक अत्यन्त विशाल घंटा अपने ढंग का है, जो तोरणद्वार के निकट ही लटका हुआ है।

महाबौधि मन्दिर का इतिहास बड़ा रोचक है। प्रियदर्शी अशोक ने बौद्ध गया में संघाराम और मन्दिर बनवाए थे और जनरल कनिंघम के अनुसार, वर्तमान मन्दिर उसी स्थान पर बना हुआ है, जहाँ पर पर अशोक ने मन्दिर बनवाया था। वर्तमान मन्दिर का निर्माण ईसा की दूसरी शताब्दी में, भारोसीथीर्य, इंडो-साइमिशन, सम्राटों द्वारा बनवाया गया था। कुछ विद्वानों के अनुसार इसका निर्माण ईसा की पाँचवीं सदी में हुआ। हुएनसांग के वर्णनों से, जो यहाँ ६३७ ईस्वी में आया था, ऐसा प्रतीत होता है कि यह मुख्य मन्दिर उसी स्थान पर बनवाया गया था जहाँ पर अशोक ने एक विहार बनवाया था। यह दूसरी सदी में एक ब्राह्मण द्वारा तैयार करवाया गया, जो पहले कैलाश पर्वत पर तपस्या करता था और बाद में बौद्ध हो गया था। उस ब्राह्मण ने भगवान शिव की प्रेरणा पाकर बोधिवृक्ष के पार्श्व में एक विहार भी बनवाया जो मन्दिर के दक्षिण में अभी भी वर्तमान है। ४०६ ईस्वी में जब फाहियान गया आया, तो उसने कुल तीन संघाराम देखे, जिनमें बौद्ध भिक्षु अध्ययन करते थे। हुएनसांग के अनुसार विहार की ऊँचाई लगभग १६०, १७० फुट थी। मन्दिर का उपर्युक्त वर्णन वर्तमान मन्दिर से इतना मिलता-जुलता है कि इसमें तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता कि मरम्मत और रद्दोबदल के बावजूद यह वही भवन है, जिसे इस चीनी इतिहासवेत्ता ने देखा था।

बौद्ध गया पर सन् १५०० ईस्वी तथा उसके आस-पास तक बौद्ध महंथों का ही आधिपत्य रहा, ऐसा ऐतिहासिक वर्णनों से प्रकट होता है।

अब स्वाधीन भारत में, भारत सरकार और बिहार की राज्य सरकार ने एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति का निर्माण कर महाबोधि मन्दिर तथा बौद्धगया के अन्य बौद्ध स्मारकों का नियंत्रण व पुनरुद्धार आदि के कार्य अपने हाथों में ले लिए हैं। बौद्ध गया अब तक की भाँति ही भविष्य में भी विश्व को भगवान बुद्ध के अमर संदेशों से प्रेरित करता रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

**

जगजीवनराम की सेवाएं

श्री नारायण सदोबा काजरोलकर

श्री जगजीवनरामजी आज भारत के करोड़ों लोगों के हृदय-सम्राट् माने जाते हैं। उनका दृढ़ चरित्र, निर्भीकता, अडिग विश्वास और कर्त्तव्य-परायणता सदैव भारत के लिए मार्ग-प्रदर्शक ज्योति का कार्य करती रहेगी। उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार मनुष्य निर्धनता में धनी; निम्नता में उच्च एवं सामाजिक अपमानों के मध्य स्वाभिमानी भी हो सकता है। उनके अकाट्य निर्णय तथा व्यावहारिक बुद्धिमत्ता ने अनेक बार देश की रक्षा की है, वास्तव में उनका जीवन ही राष्ट्र-समर्पण, राष्ट्र-भक्ति एवं देश-सेवा की एक कहानी है।

बिहार में आरा शहर, १८५७ आन्दोलन के वीर सेनानी बाबू कुँवरसिंह के प्रसिद्ध स्थान से लगभग एक मील दूर चँदवा नामक एक छोटे से गाँव में ५ एप्रिल, १९०८ को जन्म ले कर श्री जगजीवनरामजी ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम-पाठशाला ही में प्राप्त की। कुछ बड़े होने पर आप आरा टाउन स्कूल में पढ़ने लगे। प्रारम्भ से ही आपने अपनी कुशाग्र-बुद्धि का परिचय देना आरम्भ कर दिया था। अभी प्रवेशिका में ही अध्ययन कर रहे थे कि श्री जगजीवनराम ने महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय के स्वागत का एक आयोजन किया। यह विचार और उसका कुशल प्रबन्ध देख कर मालवीयजी का ध्यान श्री जगजीवनराम की योग्यताओं की ओर आकृष्ट हुए बिना न रहा। मालवीयजी ने श्री जगजीवनरामजी को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन करने का निमन्त्रण दिया। आप इण्टर-साइन्स की परीक्षा में काशी विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण हुए और १९३० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से डिग्री-परीक्षा प्राप्त की। उच्च-शिक्षा प्राप्त करने की भावना देश-भक्ति एवं पद-दलित वर्ग की सेवा की अनिवार्य आवश्यकता के कारण स्थगित करनी पड़ी। विद्यार्थी अवस्था में श्री जगजीवनरामजी ने अपने समाज जागरण के उद्देश्य से रविदास सभा का संगठन किया। जनता के सम्मुख पहले-पहल वे तब आए, जब बिहार में कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की राज्य के हरिजनों की उन्नति के उपाय एवं सिद्धान्तों के विचारार्थ कान्फ्रेंस हो रही थी। शीघ्र ही देश-सेवा के लिए आपका अप्रतिम उत्साह तथा परिगणित जातियों के समुदाय को ऊँचा उठाने की भावना 'सर्वेन्ट्स ऑफ दि अनटचेवल्स सोसाइटी', के संगठन-कर्ताओं से छिपी न रह सकी। उन्होंने श्री जगजीवनराम का संघ के उद्देश्यों की पूर्ति में योगदान देने के उपलक्ष में बिहार राज्य के संघ का मन्त्री चुन कर सम्मानित किया। निःस्वार्थ सेवा के कारण उनमें सभी को विश्वास हो गया और इसी गुण से वह अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठा के उच्चतम शिखर तक जा पहुँचे।

१९३४ में, उन्होंने अखिल भारतीय रविदास सभा का, कलकत्ते में संगठन किया। अगले वर्ष आप अखिल भारतीय दलित जातीय संघ, राष्ट्रीय हरिजनों के एक नए संगठन के महामन्त्री निर्वाचित किए गए, जिसके वे सदैव ही प्रथम एवं दृढ़ कार्यकर्ता रहे हैं। उनके स्फूर्तिदायक नेतृत्व एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व ने समस्त भारत में दलित जाति को संगठित करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया। १९३५ में इस संघ की बिहार शाखा की स्थापना की गई, श्री जगजीवनरामजी इसके पहले प्रधान थे। अगले वर्ष आपने राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी द्वारा उद्घाटित अखिल भारतीय दलित जातीय संघ के अधिवेशन की अध्यक्षता की। १९३७ में आपको बिहार विधान परिषद् का सदस्य नियुक्त किया गया और बाद में आप सभा-सचिव के पद पर आरूढ़ किए गए। सभा-सचिव के रूप में आपके सभी कार्य आपकी निपुणता के परिचायक थे। उच्च-स्तर की राजनीतिज्ञता एवं प्रशासनिक कुशलता आपके प्रत्येक कार्य से सिद्ध होती थी। जिन लोगोंने आपके कार्य को मंत्रालय एवं विधान परिषद् में देखा, वे श्री जगजीवनरामजी की असीम कार्य-क्षमता से प्रभावित हुए बिना न रह सके। सरकारी वक्ता के रूप में आपके भाषण सभी दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण होते थे। व्यर्थ के शब्दों के प्रयोग से रहित थोड़े से शब्दों में ही सरकार के विचार कुशलता से स्पष्ट कर सकने मे आप समर्थ

थे। आपके चातुर्य-पूर्ण प्रस्तुत करने के ढंग एवं अकाट्य तर्कों के कारण ही सरकार को अनेकों बार सफलता प्राप्त हुई। १९३७–३९ के मध्य काल में सरकारी काम की अधिकता होते हुए भी दलित जातियों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को श्री जगजीवनरामजी भूल नहीं गए। इस काल में आपने उत्तर प्रदेश, बंगाल, बम्बई तथा पंजाब में होने वाले परिगणित एवं दलित जाति-संगठन के अनेक सम्मेलनों की अध्यक्षता की। नवम्बर १९३९ में, जब ब्रिटिश सरकार की विरोधी प्रवृत्ति के कारण कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दे दिये, तो श्री जगजीवनरामजी ने भी सभा-सचिव का पद स्वेच्छा से त्याग दिया। १९४० में वैयक्तिक सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया। श्री जगजीवनरामजी उन थोड़े व्यक्तियों में से थे जिन्होंने गिरफ्तारी के लिए अपने को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। १९४१ में मुक्ति के पश्चात् आपने अखिल भारतीय दलित जातीय कान्फ्रेन्स के मेरठ अधिवेशन की अध्यक्षता की और इस पद पर आप १९४८ तक कार्य करते रहे। इसके पश्चात् केन्द्रीय मंत्रि-मण्डल में सम्मिलित होने के कारण इस पद से त्याग-पत्र दिया।

अगस्त १९४२ में बिहार कांग्रेस के सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। श्री जगजीवनरामजी को भी, जब आप बम्बई से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में भाग ले कर लौट रहे थे, तो गिरफ्तार कर लिए गए। आपको सुरक्षा-बन्दी के रूप में हजारीबाग जेल में रखा गया। १९४३ में जेल से मुक्ति होने के पश्चात् आपने विभिन्नों राज्यों में दलित जाति-संगठनों को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से देश के विभिन्न क्षेत्रों का दौरा किया। १९४६ में कानपुर में अखिल भारतीय दलित जातीय संघ के अधिवेशन की अध्यक्षता की। आपने १९४६ ही में आपको बिहार विधान परिषद् का सदस्य चुन लिया गया और दलित जातियों के विचार प्रकट करने के लिये प्रतिनिधि रूप में आपको 'केबिनेट मिशन' द्वारा आमंत्रित किया गया। सितम्बर १९४६ में आप केन्द्रीय अन्तरिम सरकार में श्रम-सदस्य के रूप में सम्मिलित हुए। १५ अगस्त, १९४७ को आप केन्द्रीय सरकार में श्रम-मंत्री के पद पर नियुक्त हुए। इस निर्णय का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया गया। उसी वर्ष जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के ३० वें अधिवेशन में आपने भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का योग्यतापूर्वक नेतृत्व किया। केन्द्रीय सरकार में आपने अन्य मंत्री पदों की अपेक्षा श्रम-मंत्री पद को अधिक पसन्द किया, क्योंकि आपका विचार रहा कि एक सच्चा देश-भक्त राष्ट्र-उत्थान के कार्य में तभी उचित सहयोग दे सकता है, जब वह श्रमिकों की स्थिति में सुधार कर सके। श्रम के क्षेत्र में आपके कार्य चिरस्मरणीय हैं। श्री जगजीवनरामजी की सदैव से ही 'श्रमिकों को उद्योग में साझीदार मानने' की नीति रही है। आपके विचार में स्वार्थी वर्गों द्वारा श्रमिक-शोषण के रोकने का एकमात्र उपाय व्यावसायिक संघों की स्थापना है। जब आपने देखा कि सभी उद्योग-पति व्यावसायिक संघों को मानने और उनसे बातचीत करने की ओर विशेष दिलचस्पी नहीं लेते, तो आपने व्यावसायिक संघ अधिनियम में परिवर्तन तथा संशोधन करके उद्योगपतियों को व्यावसायिक संघों को मानने एवं उनसे विचार-विमर्श करना वैधानिक रूप से अनिवार्य कर दिया गया।

श्रम-मंत्री के रूप में श्री जगजीवनरामजी न केवल भारत में नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रशंसा के पात्र हैं। १९५० में जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के अधिवेशन में आपका निर्विरोध अध्यक्ष चुना जाना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्रम के सम्बन्ध में वे लिखते हैं :

'हम उन श्रमिकों को भुला नहीं सकते, जो असंगठित हैं और ऐसी स्थिति में नहीं हैं कि अपनी माँगें और दुःख उद्योगपतियों, जनता अथवा सरकार के सामने रख सकें। उनकी सहायता करना तथा उनके वेतन, काम की स्थिति और जब कभी उनमें और उद्योगपतियों में कोई विवाद हो, तो उनकी स्थिति का सुधार करना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। यदि मैं और स्पष्ट शब्दों में कहूँ कि आज देश में असंख्य श्रमिक हैं जो संघों, बागों आदि में काम करते हैं और सबसे अधिक महत्त्व के हैं वे लाखों ग्रामीण-श्रमिक जो खेती का काम करते हैं। इन सब श्रमिकों की स्थिति अशिक्षा, अज्ञानता एवं निर्बलता के विचार से बहुत ही असन्तोषजनक है।'

लोगों के आर्थिक शोषण को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय प्रकट करते हुए आप कहते हैं :

'यद्यपि १५ अगस्त को हमें राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, परन्तु अभी हम आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सकें। वास्तविक स्वतन्त्रता तो गरीबी और अशिक्षा के मिटाने और देश के करोड़ों मेहनतकशों को उचित सुख और स्वास्थ्यप्रद स्थान में रहने की सुविधाएँ तथा कम-से-कम दिन में दो बार खाने के लिए भोजन देने में है। यह केवल तभी सम्भव है जब श्रम और पूंजी दो सगे-भाइयों की तरह व्यवहार करें, श्रम की कठिनाइयों का पूंजी द्वारा मान किया जाए और थोड़े से लोगों के हाथों में पूंजी-संचित होने से रोकी जा सके।'

यहाँ श्री जगजीवनरामजी के श्रम-मंत्री के पद पर किए गए सभी कार्यों का वर्णन संभव नहीं है। आपने सभी श्रमिकों, चाहे वे औद्योगिक हों अथवा खेतिहर मजदूर हों, सब की ओर ध्यान दिया। कदाचित् ही श्रमिक जीवन का कोई पहलू हो जिसका आपने सुधार न किया हो। श्रम-मंत्री का कार्य सम्हालने पर आपने कोयला खनिकों की स्थिति का निरीक्षण किया और उन्हें अत्यन्त शोचनीय अवस्था में पाया। आपने उनकी आय बढ़ाने के लिए केवल कदम ही नहीं उठाए, बल्कि कोयला खान प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा बोनस योजना भी प्रारम्भ की ; ताकि उन्हें वृद्धावस्था में सहायता मिल सके। १९५२ के अन्त में प्रॉविडेन्ट फण्ड के कोष में तीन करोड़ रुपए संचित हो गए थे। ६ लाख से भी अधिक कोयला खनिकों ने इस कोष में अपना अनुदान दिया। इसके साथ ही श्रम-कल्याण निधि भी स्थापित की गई। इस निधि में प्रतिवर्ष एक करोड़ के लगभग रुपया एकत्रित किया जाता है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के लिए अच्छे अस्पताल, विद्यालय एवं सुरक्षा-केन्द्रों का भी संचालन किया जा रहा है। इसी प्रकार की सुविधाएँ अबरक (माइका) के मजदूरों को प्रदान करने के लिए उपयुक्त कदम उठाए हैं। भारतीय फैक्टरीज अधिनियम का आपने संशोधन किया, अनेकों विशेषज्ञों के राष्ट्रों से भारत का यह अधिनियम सारे संसार में सर्वश्रेष्ठ है। शोषित श्रमिकों के लिए न्यूनतम वेतन अधिनियम, १९४८ में स्वीकृत करके उनके लिए न्यूनतम वेतन निर्धारण किया जिससे आज वे सुख की श्वास लेने में समर्थ हो सकें हैं। यद्यपि संसद में इसका बहुत विरोध किया गया, परन्तु श्री जगजीवनरामजी के इस दृढ़ निश्चय से कि 'किसी भी उद्योग को जीवित रहने का अधिकार नहीं है, यदि वह अपने श्रमिकों का न्यूनतम वेतन भी न दे सकें, विरोधियों के मुँह बन्द हो गए थे। खेतिहर श्रम-जाँच के लिए भी अकेले आप ही उत्तरदायी हैं। निस्सन्देह, एशिया और सुदूर-पूर्व के देशों में इसप्रकार की कोई सामाजिक व आर्थिक जाँच इतनी बड़ी हुई ही नहीं है। इस जाँच ने खेतिहर श्रमिकों की स्थिति के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तृत रूप में जानकारी प्रकट हुयी। कुछ राज्यों में खेतिहर मजदूरों के लिए न्यूनतम वेतन निर्धारण का कार्य भी आपके आदेशानुसार ही किया गया। श्री जगजीवनरामजी ने ही सब से पहले देश में औद्योगिक गृह-निर्माण योजना का प्रारम्भ किया। सामाजिक सुरक्षा की ओर अधिक झुकाव होने के कारण सन् १९५० में आपने 'सेवायुक्त राज्य बीमा' योजना और इससे दो वर्ष पूर्व 'सेवायुक्त प्रॉविडेन्ट फण्ड' योजना को प्रारम्भ किया। ये योजनाएँ २५ लाख से अधिक मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा सुविधाएँ प्रदान करने वाली हुईं।

१९५२ में श्री जगजीवनरामजी संचार-मंत्री का यह पद ग्रहण किया। राष्ट्र के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान संचार-मंत्रालय को प्राप्त होने के उद्देश्य से अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय किए जा चुके हैं। जिस समय श्री जगजीवनरामजी ने कार्य-भार सम्भाला, डाक-तार विभाग का २००० अथवा इससे अधिक जनसंख्या वाले गाँवों में डाकघर खोलने का कार्यक्रम प्रायः समाप्त हो चुका था। आपने देखा कि जनसंख्या का सिद्धान्त उचित होते हुए भी सभी स्थानों की आवश्यकता पूरी न कर सका। कुछ क्षेत्रों में तो अधिक जनसंख्या वाले गाँव एक दूसरे के बहुत समीप हैं, वर्त्तमान नीत्ति के अनुसार उन सभी में एक-एक डाकघर खोला गया है। दूसरी ओर वे गाँव हैं जिनकी जनसंख्या कम भी है और वे एक दूसरे से बहुत ही अधिक दूरी पर स्थित हैं, जहाँ उचित दूरी में एक भी डाकघर नहीं है। इसलिए, एक नई योजना बनाई गई है, जिसमें जनसंख्या के सिद्धान्त के साथ-साथ डाक-वितरण कार्य में स्थान की दूरी की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया गया है। इस योजना के

अनुसार, ऐसी आशा की जाती है कि किसी भी बस्ती से अधिक से अधिक ३-४ मील की दूरी पर एक डाकघर अवश्य होगा। इस विभाग ने टिकट छापने के लिए फोटोग्रेव्यूर प्रोसेस की आधुनिकतम मशीनें प्राप्त कीं और इन मशीनों द्वारा मुद्रित पहला क्रम, चलाया भी गया। इस सम्बन्ध में श्री जगजीवनरामजी द्वारा दिए गए निर्देशन की 'टिकट एकत्रित करने वालों' ने बड़ी प्रशंसा की। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत ब्रिटिश पोस्ट-ऑफिस से टेलीप्रिन्टर विशेषज्ञ की सेवाएँ प्राप्त कर ली गई हैं। तारबर्की के मंत्रीकरण को देखने तथा टेलीफोन व तार के तारों (कैबल्स) को ज़मीन के नीचे बिछाने की योजना बनाने के लिए एक विशेषज्ञ दल की सेवाएँ प्राप्त करने के लिए प्रयास किया गया। रेडियो-टेलीफोन नियोजन की ओर श्री जगजीवनरामजी का बहुत अधिक झुकाव है। १४ अगस्त, १९५२ को भारत व जापान के बीच सीधी रेडियो-टेलीफोन सर्विस का उद्घाटन किया गया। भारत से ब्रिटेन की सर्विस को ब्राजिल, यूनान, ऑस्ट्रेलिया तथा इज़राइल तक विस्तृत करने के प्रश्न भी विचार में आए।

सहकारी समितियों, कैन्टीनों, रेलवे-मेल सर्विस के विश्रान्ति-गृहों तथा मनोरंजन क्लबों की संख्या में वृद्धि और विभाग की सर्वतोमुखी सुरक्षा-सुविधाओं में तीव्र प्रगति की द्योतक है। नई दिल्ली के नेशनल स्टेडियम में अखिल भारतीय अथलैटिक प्रतियोगिता में हुई। प्रतियोगियों के पद का विचार के बिना ही श्री जगजीवन रामजी ने सभी को राष्ट्रपति भवन में भोज में निमंत्रित किया। वास्तव में वह प्रजातांत्रिक एकता का एक अनुपम उदाहरण था। संचार मंत्रालय सभी दिशाओं में उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। अच्छी हवाई सेवाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से श्री जगजीवनरामजी ने लोक सभा में एक बिल हवाई कॉर्पोरेशन की स्थापना के लिए रखा। चालू फर्मों के राष्ट्रीयकरण में यह प्रथम योजना थी। इसकी सफलता पर ही अन्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण निर्भर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री जगजीवनरामजी के नेतृत्व में यह योजना पूर्ण सफल हुयी।

इसके उपरान्त श्री जगजीवनरामजी ने रेलवे मंत्री का महत्वपूर्ण पद ग्रहण किया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आपने रेलवे के साधनों में विस्तृत विस्तार किया। विश्व बैंक तथा अन्य स्रोतों से रेलवे के विस्तार के लिए महत्वपूर्ण ऋण मिले। सरकारी क्षेत्रों में जो नए उद्योग स्थापित हुए हैं, उनसे रेलवे का क्षेत्र बढ़ गया है।

आज हम श्री जगजीवनरामजी की ५१ वीं जन्म-तिथि मना रहे हैं; मैं करोड़ों देशवासियों की वाणी में आपके लिए स्वास्थ्य और सुख की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि आपका नेतृत्व हमारी आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक समस्याओं का उचित हल निकालने में समर्थ होगा।

**



जगदीशपुर का सेनानी

"मैं अपनी व्यक्तिगत मित्रता तथा अपने प्रति उनकी निष्ठा के आधार पर विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यह सूचना निराधार है।"—टेयलर, कमिश्नर, पटना

"बाबू कुंवरसिंह से जो कुछ सम्भव होगा वे करेंगे, किन्तु उनके पास कोई साधन नहीं। उन्होंने अनेक बार अपनी निष्ठा और सहानुभूति से सम्बन्धित पत्र लिखे हैं। मैजिस्ट्रेट शाहाबाद ने भी कुंवरसिंह के विषय में ब्रिटिश सरकार को लिखा कि विद्रोह के प्रारम्भ में जो सूचनाएँ प्राप्त हो रही हैं, उनमें उनका हाथ बताया जाता है, किन्तु मेरे पास इन पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं। कमिश्नर पर उनके निष्ठावान होने पर पूर्ण विश्वास है और मेरी समझ में नहीं आता कि मैं इन पर क्यों सन्देह करूँ।"

—टेयलर, कमिश्नर, पटना

दिल्ली क्रान्तिकारियों के हाथों में आ चुकी थी। पूरे देश में विद्रोह की आग भभक रही थी। पटना में बहाबहियों का जोर था। लेकिन अंग्रेज भी कुछ कम नहीं थे। उनका दमन उग्र हो चुका था। अंग्रेज यहाँ फँसे ही थे कि २५ जुलाई को दानापुर में लोहा बज उठा। गली-गली यह नारा गूंज रहा था :

"अंग्रेज हिन्दुस्तानी सिपाहियोंसे हथियार छीन रहे हैं। इसे रोको, साहबों को मारो।"

भारतीय सैनिक सोन पार कर आरा की तरफ चले गए। वहाँ की जेल के फाटक खोल दिए गए। ४०० कैदी रिहा हो गए। खजाने पर कब्जा हो गया। ८५००० रुपए हाथ लगे।

और यहाँ अंग्रेज बेचारा अपनी पूरी दानवी शक्ति के बावजूद कुंवरसिंह से मारा गया। जहाँ परास्त हुआ वहाँ गंगा का ही किनारा था।

और तभी अंग्रेजों को यह पता चला। टेयलर महोदय को भी पता चला कि बाबू कुंवरसिंह की निष्ठा और सहानुभूति किधर थी? वह किस के मित्र और किस के शत्रु थे?

और तभी जार्ज ट्रिबिलियन को यह भी मालूम हो सका कि "यदि कुंवरसिंह की अवस्था ४० वर्ष और कम होती अर्थात् वे ८० के बजाय ४० वर्ष के होते तो हमें और भी मुश्किल का सामना करना पड़ता।"

कुंवरसिंह का अस्सी वर्ष वृद्ध शरीर क्या था, लोहा था, इस्पात था, वज्र था, बिजली थी। क्या था कि वह आरा, जगदीशपुर, सहसराम, रोहतास, रीवाँ, बांदा, कालपी, कानपुर, आजमगढ़, गाजीपुर और फिर अन्त में जगदीशपुर की तरफ विद्रोहाग्नि फैलाते, सेना संगठित करते, रसद, पानी जुटाते, बीच-बीच में अंग्रेजों से मुठभेड़ करते, युद्ध में आगे बढ़ते रहे।

यही नहीं वे पत्र-व्यवहार द्वारा आसाम, ग्वालियर, पश्चिमी बिहार में क्रान्ति का शंख भी साथ-साथ बजाते रहे।

जगदीशपुर में उन्होंने ३९९९ अवकाश प्राप्त भोजपुरी सैनिकों को संगठित किया। सहसराम और रोहतास के पठानों को संगठित किया। रीवाँ के जमींदारों, शाहजहाँपुर के ठाकुरों में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह पैदा किया। २००० सैनिक सहित बांदा पहुँचे। बांदा के नवाब ने स्वागत किया। नगरवासियों ने सैन्य संगठन में कुंवरसिंह को हर तरह की मदद दी। अवध से भी अनेक सहस्त्र सैनिक बांदा आए और कुंवरसिंह से क्रान्ति दीक्षा ली। बांदा से वे कालपी आए। ग्वालियर के क्रान्तिकारियों से पहले ही आपका पत्र-व्यवहार था। वहाँ ग्वालियर के क्रान्तिकारियों को भी अपना नेतृत्व प्रदान किया और कानपुर पर हमले के लिए कूंच कर दिया।

कानपुर से लौट कर आजमगढ़, गाजीपुर आदि जगहों से होते हुए वह जगदीशपुर की तरफ चल पड़े। रास्ते में गंगा पड़ी। गुप्तचरों ने सूचना दी कि डगलस और बेली पीछा करते निकट आ गए हैं। कुंवरसिंह ने अंग्रेजों को चकमा दिया। अफवाह उड़ा दी कि कुंवरसिंह हाथी पर बैठ कर गंगा पार करेंगे। कुछ लोग हाथी पर सवार जाते दिखायी भी पड़े। अंग्रेजों ने उन्हें कुंवरसिंह समझ कर पीछा किया। इधर वे रात में नाव से गंगा पार कर रहे थे। आगे-आगे फौज थी; सब से पीछे कुंवरसिंह थे। तब तक सुबह हो गयी। अंग्रेजों को अपनी गलती मालूम हुई। उन्होंने गोलियाँ चलाना शुरू कर दीं। अनेक गोलियाँ बाबू के बालों से पार हो गयीं। कर्नल बेली की एक गोली इनकी कलाई में लगी। गोली आर-पार हो चुकी थी। बाबू कुंवरसिंह ऐसी कलाई लेकर क्या करते। तलवार से काट कर गंगा मइया को चढ़ा दी।

घायल हाथ, ज्वर से कंपित शरीर, सेना अस्तव्यस्त। लेकिन बाबू कुंवरसिंह जगदीशपुर वासियों से ऐसे मिले जैसे वे दिग्विजय कर के लौटे हों।

जगदीशपुर को मिटा डालने में अंग्रेजों ने कोई कसर बाकी न उठा रखी थी। बाबूजी के मन में प्रतिहिंसा की आग और भयानक हो गयी।

अंग्रेजों ने जगदीशपुर घेर लिया, लेकिन उधर बाबू कुंवरसिंह भी जंगल की ओर चल पड़े। जंगल पर जो हमला हुआ उसमें कुंवरसिंह की सेनाओं के छक्के छुड़ा दिए। वे भाग खड़े हुए।

वह फिर जगदीशपुर लौट आए। बन्दनवार सजाए गए। तोरण बँधे। नगाड़े बजे। राज्य अभिषेक हुआ। बाबू कुंवरसिंह को सिंहासनारूढ़ कराया गया। बाबू कुंवरसिंह ने अंग्रेजों की तरफ से लड़नेवाले सिक्ख बन्दियों को रिहा कर सम्मानपूर्वक उन्हें उनके स्थान पहुँचा दिया और इसके बाद सुखपूर्वक वह भी शीघ्र ही स्वर्ग के पथिक बने।

क्या दिग्विजय किसी और जीवन का नाम है? —प्रो० श्रीधर मिश्र

o o o o

कुंवरसिंह को धोखा नहीं दिया। वे सब के कुंवर थे। भारतीय जनता ने अंग्रेजों के रुपयों को ठोकर मारी। लोग अच्छी तरह जानते थे कि वह लक्ष्मी नहीं है; बल्कि भारत के लिए विष है। एक लोक गीत में एक स्त्री अपने पति को कुंवरसिंह के युद्ध में जाने के लिए प्रेरित कर रही है:

जाहु जाहु पिया तुँहु कुंवर की लड़इया में, छोड़ देहु अब कवरइया ए हरि।
होके मरद मरदानी देखाव अब, देशवा में होखता लड़इया ए हरि।।
लागे सरम लाज घर में बइठ जाहु, मरद से बनि के लुगइया ए हरि।
पहिरी के सारी चुरी मुँहवा छिपाई लेहु, राखी लेबी तोहेरी पगरिया ए हरि।।

भोजपुरी के जन-मानस में कुंवरसिंह घुल-मिल गए हैं। वे उनके अपने हो गए हैं। एक गीत में जनता कह रही है :

बाबू कुंवरसिंह तोहरे राज बिनु, अब न रंगइबो केसरिया।
इतले अइले ठेलि फिरंगी, उततते कुंवर दुइ भाई,
गोला बारूद के चले पिचकारी, बिचवा में होत लड़ाई।
बाबू कुंवरसिंह तोहरे राज बिनु, अब न रंगइबो केसरिया।।

जनता प्रतिज्ञा करती है कि कुंवर बाबू, आपके राज्य के बिना हम लोग केसरिया बाना नहीं रँगाएँगे, क्योंकि केसरिया बाना वीर पहनते हैं। और वीरता इसीमें है कि अपने देश से विदेशियों को भगा दिया जाए और अपना झण्डा इस भारत-भूमि पर लहराए। यदि जनता अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण नहीं करती तो उसे अधिकार नहीं कि वे अपने को वीर कहे और वीरों का वस्त्र बाना धारण करे।

कुंवरसिंह की लड़ाई जोर-शोर से चल रही थी। उन्होंने आरा पर जो हमला किया था उसमें वे सफल रहे। आरा पर क्रान्ति का झण्डा लहराने लगा, किन्तु अंग्रेजों ने फिर हमला किया और आठ दिन की स्वतन्त्रता के बाद यहाँ फिर पुनः यूनियन जैक फहराया।

बाबू कुंवरसिंह ने १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम का संचालन बहुत ही सफलतापूर्वक किया। युद्ध विशेषज्ञों का कहना है कि कुंवरसिंह गुरिल्लों की भाँति हमला करते थे, जिससे अंग्रेजों के छक्के छूट जाते थे। कुछ लोगों का कहना है कि प्रारम्भ में अमरसिंह सिपाही विद्रोह में भाग लेने के विरुद्ध थे, किन्तु बाबू कुंवरसिंह के बार-बार कहने पर उन्होंने भी इसमें भाग लिया। एक लोक गीत में कहा गया है, कि कुंवरसिंह ने कई पत्र अमरसिंह को भेजे और कहा कि भाई अमर सिंह! सुनो, ये अंग्रेज चमड़े के टोटे दाँत से कटवाते हैं और क्षत्रियों का धर्म नाश कर रहे हैं। बाबू कुंवरसिंह और अमरसिंह दोनों सगे भाई हैं। बाबू कुंवरसिंह केवल बात के कारण अंग्रेजों से दुश्मनी की –:–

लिखिलिखि पतिया भेजलन कुंवरसिंह, ए सुन अमरसिंह भाइ हो राम।
चमवा के टोटवां दांत से कटावेला, कि छतरी के धरम नसावेला हो राम।।
बाबू कुंवरसिंह बाबू अमरसिंह, दुनेऊ हवें अपने भाय हो राम।
बतिया के कारण कुंवरसिंह, फिरंगिया से रार बढ़ाय हो राम।।

वीर कुंवरसिंह अपने वचन के पक्के थे, उन्होंने केवल अपनी बात के कारण युद्ध में भाग लिया। नयी चर्बीदार कारतूस के आने से उनका क्षत्रित्व जाग उठा। फिर वे पीछे पैर रखनेवाले नहीं थे।

अंग्रेजों ने आरा पर कब्जा करने के बाद जगदीशपुर पर भी धावा बोल दिया। यहाँ भी उनका अधिकार हो गया। बेचारे कुंवरसिंह बहुत ही दुखी हुए। वे जंगल में भाग गए और इधर-उधर छिपते फिरे। उन्हें आशा थी कि बिहार के सभी राजा और जमींदार इस स्वतन्त्रता संग्राम में हमारी मदद करेंगे, किन्तु उनकी आशा निराशा के रूप में परिणत हुई। कुंवरसिंह कह रहे हैं कि एक तो मैंने डुमराव महाराज की आशा की थी, किन्तु वे जंगल के खरगोश की भाँति भाग गए। सभी सोचा हुआ मिट्टी में मिल गया, मैं स्वराज नहीं ले पाया :—

एकत हम आश कइली राजा डुमरांव के, उहौ भागि चलले जइसे बन में के खरहा।
कुल्ही गुनलका रामा मटिया में मिलि गइले, नाहीं लेबै पवनी हम सुराज।।

बाबू कुंवरसिंह अत्यधिक दु:खी हो गए थे। सहसराम के जंगल में कुंवरसिंह ने भाषण दिया, "आज मुझे दु:ख इसलिए नहीं हो रहा है कि मैं युद्ध में हार गया हूँ। दु:ख इसबात का है कि जिस महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मैंने क्रान्ति में भाग लिया, वह पूर्ण होती दिखाई नहीं देती।" सारी सेना एक बार हुंकार कर उठी। इतने में अमरसिंह खड़े हो गए। उन्होंने विनम्रतापूर्वक कहना प्रारम्भ किया, "मैं आपका छोटा भाई हूँ। आपके लिए पुत्रवत् हूँ। मैं आज इस सभा में प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक मैं अपने उद्देश्य को पूरा न कर लूंगा तब तक शस्त्र नीचे नहीं रखूंगा। आपके आशीर्वाद तथा रणदलन सिंह और हरिकिशन-सिंह जैसे पराक्रमी वीरों की सहायता से मैं आज अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होऊँगा।" वीर कुंवरसिंह की सेना में नयी जिन्दगी आ गयी। वे पुन: अपने कर्त्तव्य पथ पर बढ़ चले।

बाबू कुंवरसिंह ने अपनी सेना के साथ मध्यभारत, अयोध्या और लखनऊ होते हुए आजमगढ़ पर आक्रमण किया। इनकी सेना भूखे सिंह की भाँति अंग्रेजी सेना पर टूट पड़ी जिसका नेतृत्व मिलमैन कर रहे थे। मिलमैन को दो बार मुँह की खानी पड़ी। बाबू कुंवरसिंह की सेना में हरियाली छा गयी। चारों ओर प्रसन्नता ही प्रसन्नता। इस आनन्द का वर्णन एक फाग में हुआ। फाग इसप्रकार है :

बाबू कुंवर भोजपुरवा में होली मचाई। गोली बारूद के रंग बनाये, तोपन के पिचकारी,
बिच भोजपुरवा में होली मचल बा, खेलैं कुंवरसिंह भाई।
पहिले जाइ आरा में लड़िहौ, बंगली दिहौ ढहवाई।
सब बन्धुवन के बन्दी छोड़इहौ, जेल देहों तोरवाई।
पहिल लड़ाई कुंवरसिंह जीते दूसरी अमरसिंह भाई।
तीसरी लड़ाई सिपाही सब जीति, चौथे लाट घबड़ाई।

रंग और पिचकारी से तो सभी होली खेलते हैं, किन्तु वीरों की होली खून से ही होती है। जब तक अपना देश स्वतन्त्र न हो, तब तक रंग और पिचकारी में आनन्द कहाँ? वास्तविक सुख तो गोली है और बारूद से होली खेलने में है, जिससे देश आजाद हो सकेगा। फिर रंग से सब होली खेलिए, खूब खुशी मनाइए।

बाबू कुंवरसिंह ने मिलमैन और लार्ड मार्क दोनों को ही आजमगढ़ में परास्त किया। उसके बाद जब वीर कुंवरसिंह जगदीशपुर जाने के लिए गंगा पार कर रहे थे, तभी यकायक अंग्रेजों का आक्रमण हुआ। कुंवरसिंह के दाहिने हाथ की कलाई में एक गोली लगी। उन्होंने अपनी दाहिनी भुजा गंगा माता को चढ़ा दी। किसी भाँति बाबू कुंवरसिंह जगदीशपुर पहुँचे।

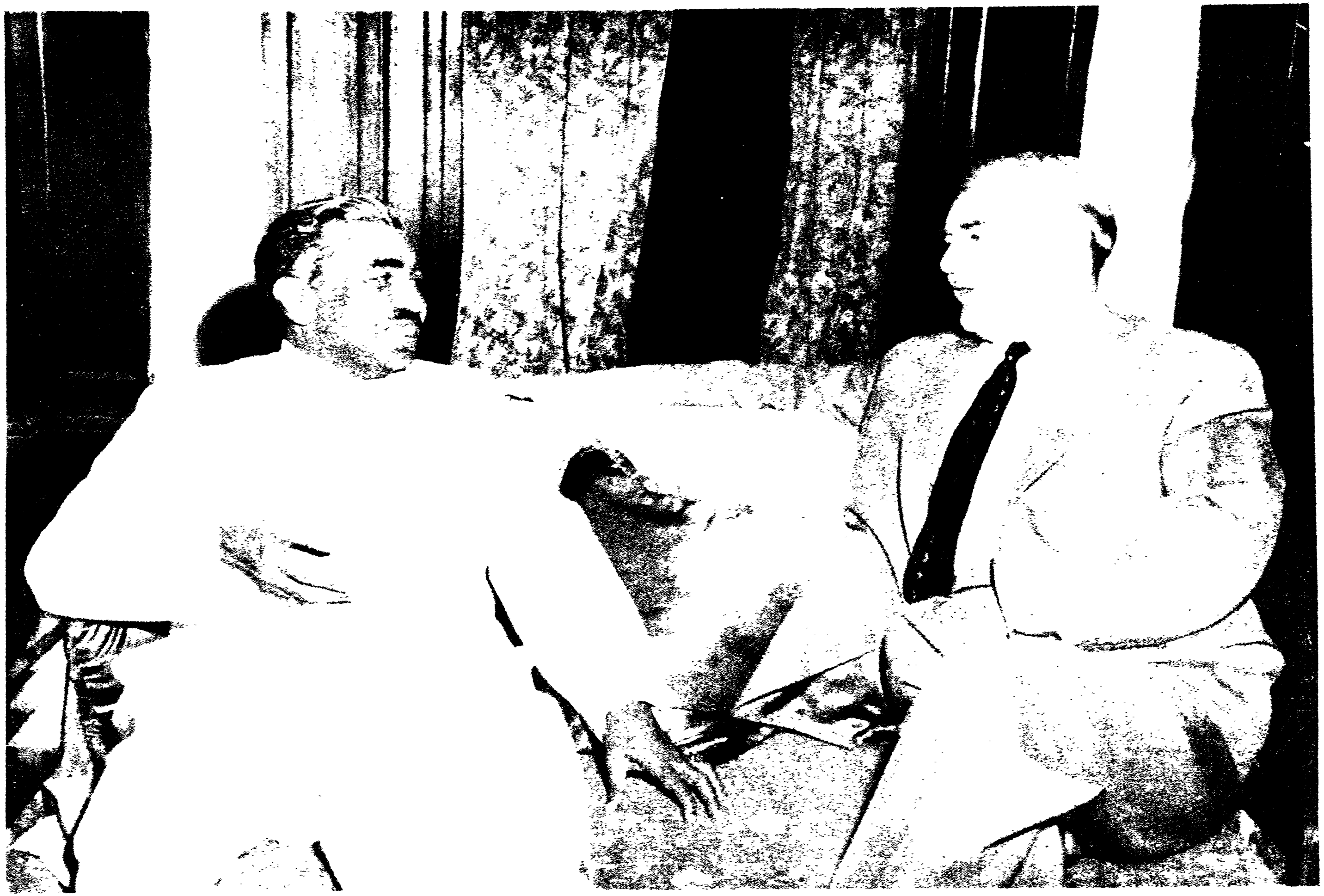
इस बीच जगदीशपुर नष्ट हो चुका था। अंग्रेजों ने यहाँ के मन्दिरों, राजप्रासादों एवं महलों को मिट्टी में मिला दिया था। बाबू कुंवरसिंह ने यूनियन जैक को उतार कर क्रान्ति का झण्डा जगदीशपुर में लहराया। अंग्रेजी सेना ने लिग्राण्ड की अध्यक्षता में जगदीशपुर पर हमला किया। उस अस्सी वर्ष के बूढ़े ने अपनी इतनी वीरता दिखलाई कि अंग्रेजी सेना भाग चली। अमरसिंह ने अपनी तलवार से ग्राण्ड का सिर काट डाला। उनकी जीत हुई। किन्तु २६ अप्रैल १८८५ को वीर कुंवरसिंह स्वर्ग सिधार गए। मृत्यु के समय जगदीशपुर पर स्वतन्त्रता का झण्डा लहराया देख कुंवरसिंह को अनन्त शान्ति मिली फिर भी स्वराज्य प्राप्ति की इनकी आकांक्षा तो अपूर्ण ही रही।

१५ अगस्त सन् १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ। देश के स्वतन्त्रता संग्राम के इन योद्धाओं के जीवन की एकमात्र आकांक्षा पूर्ण हुई। इससे क्या स्वर्ग में इन स्वातन्त्र्य सैनिकों की आत्मा को शान्ति न मिली होगी? —**चेतना**

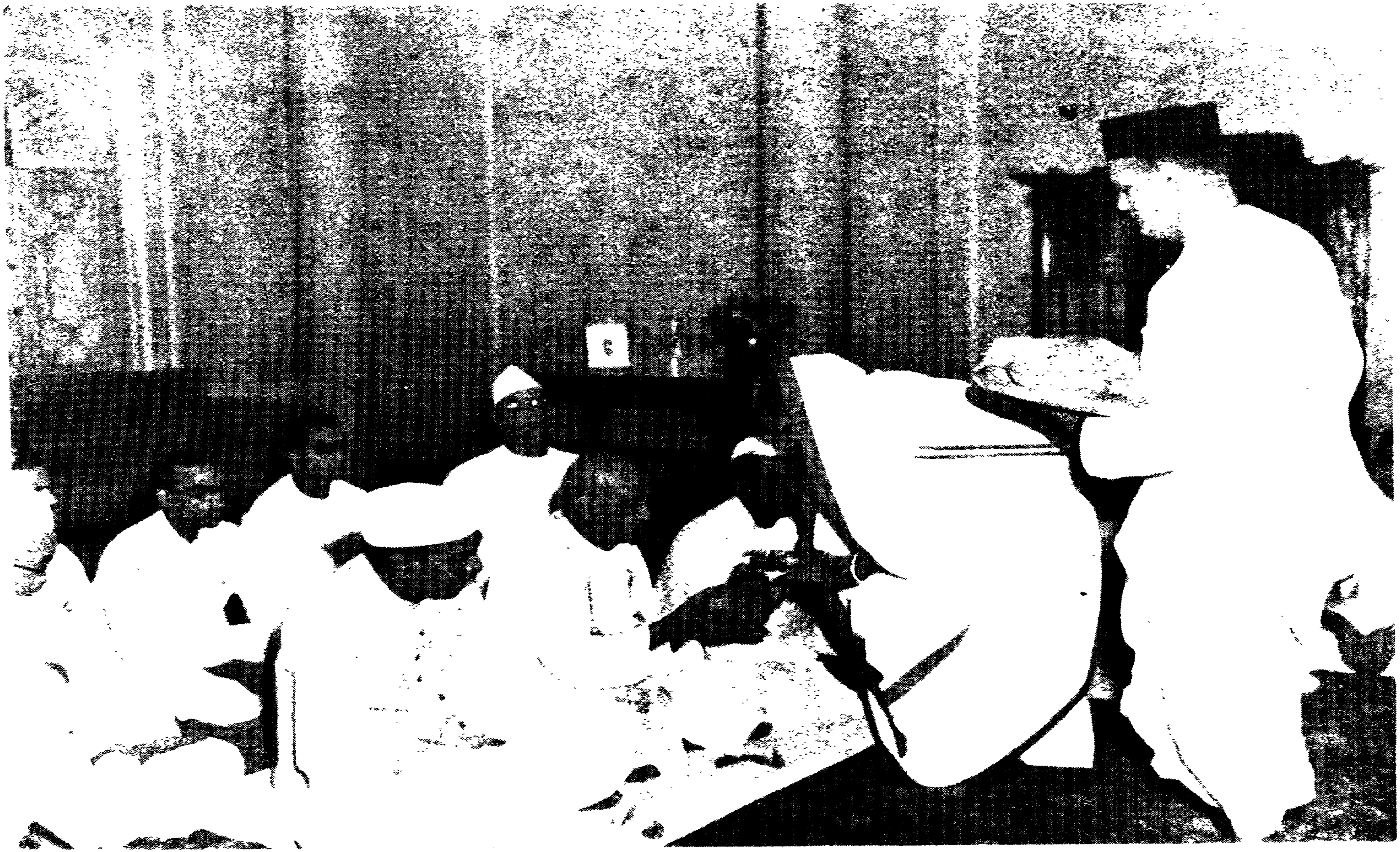
**

अष्टम खण्ड

साहित्य और कला



इंग्लेण्ड के मजदूरदल के नेता श्री बेविन के साथ श्री जगजीवनराम जी बातचीत में संलग्न



स्वागत समारोह में

सरदार वल्लभ भाई पटेल के साथ देश गौरव जगजीवनराम

जगजीवन-विचारवीथी

जगजीवनरामजी के निबन्ध और व्याख्यानों का साहित्य में कोई संकलन उपलब्ध नहीं हैं, यदि वे विचार ग्रन्थ रूप में होते, तो समाज का बड़ा उपकार होता। उनसे सामाजिक समस्याओं के हल में मार्ग दर्शन मिलता ; आर्थिक तथा राजनीतिक गति-विधियों के भी सुझाव मिलते। फिर भी यहां हम उनके कथनों के कुछ चुने हुए उद्धरण देते हैं, जो उन्होंने समय-समय पर प्रकट किए। उनके ये विचार विभिन्न समस्याओं के चिंतन के लिए बड़े उपयोगी हैं।

धर्म और समाज

मुझे भगवान में पूरा विश्वास है, उसकी कृपा का आश्रय पकड़ने में मुझे अवर्चनीय आनन्द प्राप्त होता है जब कोई परेशानी होती है, तो उसी की कृपा से दूर होती है।

भारतीय संस्कृति में आज से नहीं, बहुत पहले से भिन्न-भिन्न वर्ग और सम्प्रदायों की संस्कृतियों का एक सुन्दर सामंजस्य रहा है। अत्यन्त उदार भावना विदेशी संस्कृतियों को अपनाने में भारतीय संस्कृति द्वारा व्यवहार में आयी है। यदि उन अलग-अलग बाहरी सांस्कृतियों को भारतीय संस्कृति से पृथक् करने का प्रयत्न किया जाए तो भारतीय संस्कृति की आत्मा का हनन करना होगा। भारतीय संस्कृति का मूलाधार उसकी शाश्वत आधुनिकता है। जब कभी इस सिद्धान्त की उपेक्षा की गयी, तब भारतीय संस्कृति दोषी समझी गयी और समाज में विशृंखलता पायी गयी। संस्कृति धर्म पर शत-प्रतिशत आधार नहीं रखती है।

परिगणित हरिजन वर्ग के अन्दर एक पक्ष ऐसा भी है, जो मानता है कि उनकी वर्तमान शोचनीय अवस्था का मूल कारण, उनका हिन्दू धर्म में होना है। उनका खयाल है कि ज्यों ही वे हिन्दू धर्म एवं समाज के घेरे से निकल जाएँगे, त्यों ही वे अछूत न रहेंगे एवं उनकी सामाजिक और आर्थिक अयोग्यताएँ दूर हो जाएँगी। इस विचार का मैंने कभी समर्थन नहीं किया। मैंने परिगणित—हरिजन जातियों के द्वारा सामूहिक धर्म परिवर्तन के विचार का सदा प्रतिरोध किया है। भारतीय दलित जातीय संघ की नीति भी यही रही है। यदि किसी आदमी को यह विश्वास हो जाता है कि वह जिस धर्म को स्वीकार करनेवाला है, वह उसके जन्म के धर्म से श्रेष्ठ है और वह यदि इस विश्वास से धर्म परिवर्तन करता है, तो ऐसे धर्म परिवर्तन के विरोध का कोई कारण नहीं है। पर सामूहिक धर्म परिवर्तन के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है और इसप्रकार के सामूहिक धर्म परिवर्तन की भावना का सदा और सर्वथा विरोध करना चाहिए।

न जाने किस धर्मशास्त्र या आचार-शास्त्र के अनुमोदन से निम्न वर्गों के साथ अमानुषिक वर्ताव किया जाता है। सदियों से उनकी उपेक्षा की जा रही है। मैं निराशावादी नहीं हूँ। आज भी मैं यह विश्वास करता हूँ कि इस महान देश के प्रत्येक भाग में इन लोगों के साथ एक दिन न्याय किया जाएगा और समाज उनकी स्थिति सुधारने में हर तरह से प्रयत्न करेगा।

सरकार ने देश के सामने उपस्थित अनेक कठिनाइयाँ और समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना किया है। नवीन भारत के निर्माण का यही आधार है कि नर-नारी के बीचमें कोई भेद न रहे, वर्गहीन समाज की स्थापना हो, जिससे जाति, धर्म और विश्वास के भेद-अभेद का विचार किए बिना प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिए समान अवसर मिले सभी वर्गों के रहन-सहन, सुख-सुविधा एवं जीवन मान में उन्नति हो। इस लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयत्न में परिगणित जातियाँ और अन्य शोषित वर्गों के प्रतिनिधियों का विशेष उत्तरदायित्व है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि वह समय अब दूर नहीं, जब दलित और शोषित जातियों के लोग राष्ट्र के जीवन के सभी क्षेत्रों में दूसरों के समान होंगे तथा वे देश की आर्थिक और नैतिक समृद्धि की वृद्धि में अपना अंशदान देने में किसी से पीछे न रहेंगे।

जब तक भूल-चूक के पुराने पापों का नाम-निशान मिट कर नया अध्याय शुरू नहीं किया जाता, तब तक कोई भी लोकप्रिय सरकार संतोष की साँस नहीं ले सकती।

हिन्दू धर्म तथा समाज के हित के लिए हिन्दू धर्म के कर्णधारों को चाहिए कि वे संसार को बताएँ कि हिन्दू धर्म में संकीर्णता नहीं है।

यदि समाज का कोई अंग पददलित हुआ हो, तो न तो कोई राष्ट्र या समाज शक्तिशाली बन सकता है, और न वह दूसरे देशों के हमलों का मुकाबला कर सकता है।

हरिजन जनता राम और कृष्ण को किसी दूसरे हिन्दू से कम प्रेम नहीं करती और वह हिन्दू-धर्म को छोड़ कर किसी अन्य धर्म में दीक्षित होने की किसी की भी सलाह को न सुनेगी।

कायरों को हर समाज में कुचला जाएगा ; किन्तु हरिजन कायर नहीं हैं।

जिस आन्तरिक शक्ति ने हरिजनों को सदियों तक सामाजिक अत्याचारों को सहन करने में समर्थ किया, वह आन्तरिक शक्ति ही रोटी और न्याय के संघर्ष में उनकी सहायता करेगी।

हरिजन समस्या अब सामाजिक समस्या नहीं रही। अब वह पूर्ण रूप से आर्थिक समस्या बन गयी है, क्योंकि हमारी जातियाँ गरीब हैं, इसलिए हमारा सब से अधिक ध्यान निर्धनता दूर करने की ओर है।

आज विचारों के साथ विचारों से ही लड़ना चाहिए।

सवर्ण हिन्दुओं को हरिजनों का न्यायसंगत तथा उचित भाग उन्हें देना चाहिए। पारस्परिक विश्वास स्थापित करने तथा दोनों वर्गों को धीरे-धीरे एक करने के लिए सिर्फ एक यही मार्ग है।

महात्मा गांधी के निर्देश, संघर्ष के विरुद्ध सहकार, हिंसा के विरुद्ध अहिंसा, घृणा के विरुद्ध प्रेम, तथा विद्वेष के स्थान पर भ्रातृत्व की भावना कायम हो।

युवकों को अस्पष्ट तथा अकल्पनीय आदर्शों के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए, बल्कि पास पड़ोस की अवस्था सुधारने में अपने को खपा देना चाहिए।

एक उच्च कुल का अधिकारी, जो काम करनेवाले श्रमिकों को निकृष्ट मानव समझता है, उनकी वह कभी भी ठीक सेवा नहीं कर सकता।

हिन्दू धर्म अगर शाश्वत -नवीनतावाला धर्म नहीं, तो वह कुछ भी नहीं। अगर वह अपने को परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बना सकता, तो उसे जीवित रहने का कोई हक नहीं।

यदि हिन्दू समाज के ढाँचे के अन्तर्गत, वाल्मीक, रैदास तथा अन्य हरिजन नीच समझें जाते हैं, तो वह उनका अपना दोष नहीं, बल्कि ऊँची जातिवालों का दोष है। वह एक सामाजिक रोग है। यह उनके वदन में नहीं रहता, जिन्होंने गन्दा नाम देकर उन्हें नीच काम करने के लिए मजबूर किया है।

हरिजनों ने अपने मौजूदा पेशों को इसलिए नहीं अपनाया, कि वे सभी कामों को अच्छा समझते थे, बल्कि इसलिए कि समाज ने उन्हें नीच पेशा स्वीकार करने के लिए मजबूर किया।

भंगियों की मुक्ति इसी में है कि ऐसे समाज का निर्माण किया जाए कि जिसमें कोई मेहतर न हो।

अस्पृश्यता की समस्या आर्थिक है, इसलिए उसे उसी विशेष दृष्टिकोण से सुलझाना चाहिए।

पिछड़े हुए लोग जिन्हें यातना सहने और अज्ञानता तथा अंधकार की अमानवीय दासता में रखा जाता है, वे ही मुक्ति पाने पर महात्मा गांधी के राम राज्य के स्वप्न को वास्तविक रूप दे सकते हैं।

जो लोग स्वयं कुचले गए, हैं, वे ही जानते हैं कि जबर्दस्ती कुचले जाने-सताए जाने में कितने कष्ट होते हैं। पर उसके प्रतिकार के लिए हिंसा के मार्ग का अवलम्बन न लेना चाहिए। भारतीय संस्कृति आदमी को सब वादों से ऊपर रखती है, और मानवीय व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप से विकास करने में विश्वास करती है।

अपने कार्य में स्त्रीत्व के सभी गुणों को लाने के लिए सभी तरह से उनके अनुरूप बनो।

जातीयता का किला टूटता जा रहा है, और वह गिरने ही जा रहा है।

यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मजदूर श्रेणी की प्रगति का अर्थ होगा कि कोई भी व्यक्ति जो काम नहीं करता, समाज में स्थान नहीं पाएगा।

जो लोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दृढ़ हैं, और अपमान के जीवन से मृत्यु को अधिक पसन्द करते हैं, वे अवश्य कामयाब होंगे। जो लोग अच्छे उद्देश्य के लिए लड़ रहे हैं, उनके सामने संसार में कोई भी शक्ति खड़ी नहीं रह सकती।

हरिजनों को अन्याय के सामने घुटने न टेकने के लिए दृढ़ रहना चाहिए। इसके लिए उन्हें कीमत भी चुकानी पड़े, तो इसकी कोई पर्वा नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उन लोगों के खिलाफ हो जाएँ, जो उन पर अत्याचार करते हैं; हिंसा का आश्रय लें। उनमें बदला लेने की भावना न आनी चाहिए। किन्तु, साथ ही वे अन्याय के आगे सिर न झुकाएँ।

जंजीर की दृढ़ता उसके सब से कमजोर जोड़ पर ही निर्भर रहती है। यदि जनता का कोई अंग कमजोर रहता है, तो समाज एवं राष्ट्र सम्पूर्णरूप से मजबूत नहीं हो सकता।

अपने मार्ग में आनेवाली रुकावटें तथा बाधाओं को दूर करने में परिगणित जातियाँ—हरिजन समाज भले ही समर्थ न हो, किन्तु उनकी यह असहाय अवस्था बहुत काल कायम न रहेगी। प्रत्येक चीज की एक सीमा होती है। जब किसी व्यक्ति के धैर्य पर बहुत भार डाला जाता है, तो वह अधीर हो उठता है, और प्राय: निराश हो जाता है। निराश में मनुष्य कुछ भी कर डालता है, क्योंकि 'मरता-क्या नहीं करता'—इसे हमें न भूलना चाहिए।

लौकिक लाभ के लिए अथवा आर्थिक कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिए धर्म-परिवर्तन निर्बलता और कायरता का चिह्न है। मैं आज भी यह मानता हूँ कि हिन्दू धर्म के सच्चे स्वरूप पर जितने कलुषित आवरण चढ़ा दिए गए हैं, उन्हें हटा कर हिन्दू धर्म का सुधार कर—उसे अपने गौरवपूर्ण स्थान पर पुन: स्थापित किया जा सकता है। वर्ण-व्यवस्था और जात-पाँत का जल्द-से-जल्द अन्त होना चाहिए। इन कार्यों के लिए राज्य की सहायता, कानून की मदद सदा आवश्यक होती है। मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ, जो यह कहते हैं कि समाज सुधार के क्षेत्र में सरकार को हस्तक्षेप न करना चाहिए। समाज के अन्दर जीवन के नैतिक मानदण्ड को ऊँचा रखने और समाज सुधार के कार्यों में सदा राज्य ने हस्तक्षेप किया है, और राजदण्ड बरता गया है। किसी भी स्मृति को देख लीजिए, उसमें हमें अनेक प्रमाण मिलेंगे। जातियाँ और वर्णों को मिटाने में सरकार को ठोस कदम उठाना चाहिए। जाति प्रथा को मिटाने के लिए हमें कमर कस कर जेहाद बोल ही देना है।

शिक्षा की दृष्टि से परिगणित जातियाँ बहुत पिछड़ी हुई हैं। यदि उनका रहन-सहन और जीवन मान उच्च करना है, तो यह आवश्यक है कि इस दिशा में उन्हें आवश्यक सुविधाएँ दी जाएँ। गरीबी और सामाजिक परिस्थितियों के कारण उनके लिए बच्चों को शिक्षा देना संभव नहीं है।

गरीब हरिजन छात्र ऊँचे अधिकारियों के पास कहाँ तक दौड़-धूप और पैरवी कर सकते हैं, हरिजन भी आगे बढ़ सकें, इसके लिए यह जरूरी है कि सभी राज्यों के बजटों के अन्दर परिगणित जातियों के छात्रों को सभी प्रकार की शिक्षा देने के लिए उदारतापूर्वक व्यवस्था होनी चाहिए। किसी भी बहाने उनके प्रवेश को न रोका जाए। जहाँ जरूरी हो, उनके लिए स्कूल और कालिजों में स्थान सुरक्षित रखे जाएँ। होस्टल उनके लिए बढ़ाने चाहिएं। टेकनिकल शिक्षा को उत्साहित करना चाहिए, जिससे शिक्षित हो जाने पर उनमें बेरोजगारी और बेकारी न फैले।

सभी वर्गों की उन्नति एक ही अनुपात से हो, सब के सुखी हो जाने के बाद आज की यह असमानता न रह जाएगी।

गांधी जी समाज और सत्ता का बहुत दूर तक विकेन्द्रीकरण करना चाहते थे। मार्क्स यह मानता

था कि शोषक वर्ग की प्रचलित अवस्था में सुधार संभव नहीं है। इसलिए शोषित वर्ग का संगठन करके समाज के सभी पंचों को—उसी वर्ग के हाथ में सत्ता दे देनी चाहिए।

मजदूर और किसान

मजदूर वर्ग में उन मजदूरों की संख्या सब से ज्यादा है, जो खेतों में काम करते हैं। लेकिन हमारे लिए शर्म की बात है कि वे ही सब से अधिक पद-दलित हैं। उन पर काम का बोझ सब से अधिक पड़ता है और उन्हें उस हद तक दबाया और शोषित किया जाता है, जिसे आज के समाज में आदमी की प्रतिष्ठा के बिल्कुल खिलाफ समझा जाता है।

मजदूरों को खेत और कारखानों में प्रतिष्ठित करने तथा समाज में उचित स्थान दिलाने में ही वास्तविक स्वराज्य है। आओ, हम सब मिल कर उसके लिए कार्य करें और अपने स्वप्नों का भारत निर्माण करें।

भारत सरकार की श्रम-नीति का लक्ष्य ऐसे वर्गहीन समाज का निर्माण करना है, जिससे कि मजदूर और पूंजीपति उद्योग-धन्धों में साझीदार समझे जा सकेंगे। लाभ का विभाजन केवल हमारा लक्ष्य नहीं है, बल्कि मनोवांछित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए वह साधन मात्र है।

लाभ विभाजन का सिद्धान्त औद्योगिक प्रजातन्त्र की शुरूआत है। इसके लिए हम सब को मिल कर काम करना है, जिससे सरकारी राष्ट्र मण्डल बनाने की दिशा में अधिक प्रगति कर सकें, क्योंकि वह हमारा लक्ष्य है।

यदि सद्भावना से काम लिया जाए, तो सभी विवादों नें समझौता हो सकता है। मजदूर कृतज्ञता के पात्र हैं, क्योंकि राजनीतिक दलों के द्वारा गुमराह करने का प्रयत्न करने पर भी उनकी ओर से इस दिशा में अनुकूल प्रतिक्रिया हुयी है।

श्रम और पूंजी का आपस में जुड़वाँ भाइयों की तरह व्यवहार होना चाहिए।

राष्ट्रीय आय में हरएक खेत और उद्योग घरेलू मोर्चे का एक अंग तथा हरएक मजदूर सिपाही है, जिसकी जागरूकता तथा ईमानदारी के काम पर ही ऊँची कीमतें तथा अभाव के खिलाफ लड़ी जानेवाली हमारी लड़ाई का भविष्य निर्भर है।

खेती-बारी में होनेवाले श्रम की स्थिति का दूसरे श्रम से मुकाबला करने के लिए भारतीयों को मार्क्स के पास जाने की जरूरत नहीं है। खेती-बारी में काम करनेवाले मजदूर की हालत उन पशुओं जैसी है, या उनसे भी बदतर, जो कि खेतों में हल चलाते हैं।

ऐसे उद्योग जो अपने मेहनतकशों के लिए रहन-सहन का उचित स्तर उपलब्ध नहीं करते, जीवित रहने के लिए सामाजिक दावा करने का कोई हक नहीं रखते।

जमीन उनकी है, जो उस पर काम करते हैं। मजदूर योग्य और जिम्मेदार बन सकते हैं, जब उन्हें उचित शिक्षा, अच्छी मजदूरी, रहने के लिए घर तथा पर्याप्त सामाजिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँ। असंतुष्ट श्रम-शक्ति व्यापार में लगायी गयी सब से बुरी पूंजी है।

मजदूर वर्ग पूंजीपतियों का सब से अच्छा ग्राहक है। इसलिए यह नारा होना चाहिए—'इस वर्ग की शक्ति बढ़ाओ।'

जब तक श्रमिकों के मकान की अवस्था आज जैसी रहेगी तब तक तो सरकार और न कोई उद्योगपति समाज में शान्ति की आशा कर सकता है।

यदि आदमी के पास पैसा है तो वह दुश्चरित्र, नीच तथा स्वार्थी होने पर भी बड़ा आदमी समझा जाता है, और आदर्श चरित्र रखनेवाला एक मजदूर अनादर पाता है। पर श्रम के बिना पूंजी का कोई महत्व नहीं है।

किसान और मजदूर राष्ट्र की रीढ़ हैं।

मजदूर का मतलब केवल शारीरिक श्रम करनेवालों से ही नहीं है, बल्कि दिमाग तथा कलम का काम करनेवालों से भी है।

यदि पदार्थों के मूल्य और लाभ को स्थिर करना है, तो मजदूरी को भी स्थिर करना होगा।

यदि मजदूरों के जीवन मान को ऊँचा नहीं उठाया गया, तो देश की समृद्धि संभव नहीं है।

भारत सरकार ने प्रतिज्ञा की है कि वह मजदूरों के साथ न्याय करेगी। सरकार ने इस नीति का का ऐलान किया है कि स्वतन्त्र भारत में मेहनतकश अपनी मेहनत के फल तथा उचित जीवन स्तर का उपभोग कर सकें।

श्रम को व्यापारिक वस्तु न समझना चाहिए और उसे भी नौकरी में मानवोचित अवस्थाओं के प्राप्त करने का हक है।

उद्योग में साझीदार होने के कारण श्रम को साझीदारी से होने वाले लाभ को प्राप्त करने का हक है, लेकिन उसे अपने कर्त्तव्यों को भी पहचानना चाहिए।

गरीबी और अशिक्षा को दूर करने तथा मेहनतकशों को उचित सुविधाएँ, रहन-सहन की स्वस्थ व्यवस्थाएँ एवं कम-से-कम दिन भर में दो बार पेट भर अन्न मुहय्या करने में ही वास्तविक स्वतन्त्रता है।

राजनीतिक हथियार के रूप में की जानेवाली हड़तालों की असफलता निश्चित है और सरकार अपनी सारी शक्ति और साधनों को लगा कर उनका मुकाबला करेगी।

कोई भी सरकार उन कार्रवाइयों के सहने के लिए तैयार नहीं, जो उसे चुनौती देने तथा उसकी हुकूमत को उलटने के लिए की गई हों, चाहे वह फिर मजदूरों के नाम पर कितनी प्रगतिशील क्यों न हों, श्रम (मजदूरों) को ऐसे असामाजिक तत्वों की कुयोजनाओं से अपने को बचाना चाहिए, चाहे वे तत्व फिर उसके अपने ही अन्दर के हों या बाहर के।

किसी एक विशेष पार्टी के आदर्शों को मजबूत करने तथा प्रसार के लिए गरीब तथा अर्द्ध विभुक्षित मजदूरों की अज्ञानता से लाभ उठाना एक अपराध है।

मजदूरों में एकता कायम रहनी चाहिए और उनमें नौकर तथा मजदूर जो मजदूरी कमाते हैं, उनमें विभाजन नहीं होने चाहिए।

यदि मजदूर अपने उद्देश्यों को पूरा करना चाहते हैं तो उन्हें मजबूत आधार पर अपना मोर्चा कायम करना चाहिए।

सरकार मजदूर जनता की दशा सुधारना चाहती है, लेकिन जब तक वे शराब पीने की आदत तथा उनकी उन्नति में बाधा डालनेवाली अन्य आदतों को नहीं छोड़ते तब तक केवल मजदूरी देने से कोई मतलब हल नहीं होगा।

जब तक हम मजदूर वर्ग को रहन-सहन के अच्छे स्तर तथा सम्मान के स्थान का जो उसके लिए उपयुक्त है, विश्वास नहीं दिला देते तब तक हम संतोष की के साथ नहीं बैठे रहेंगे।

मैं मजदूर संघों के स्वार्थपूर्ण नेतृत्व के खिलाफ हूँ, क्योंकि वह पूंजीवाद के विरुद्ध अपने स्वार्थ या पार्टी के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मजदूर संगठनों पर नियन्त्रण रखता है।

श्रम का पूंजीवादियों के बिना भी काम चला सकता है, किन्तु पूंजीवाद श्रम (मजदूर) के बिना काम करने में असमर्थ है।

अपनी समस्याओं के हल के लिए हड़ताल मजदूरों का अन्तिम हथियार है।

हम मिलों और कारखानों को चलाने के लिए सिर्फ मालिकों को नहीं बदलना चाहते हैं कि उन पर मजदूरों का नियन्त्रण हो।

श्रम के गौरव को अवश्य स्वीकार करना चाहिए जो लोग अपनी मेहनत के बल पर रहते हैं, वे समाज के बड़े उपयोगी सदस्य हैं, उन्हें उनका हिस्सा अवश्य मिलना चाहिए। यदि इस नए राष्ट्र को विप्लव से बचाना है तो उनके हितों की अवश्य रक्षा होनी चाहिए।

भारत के पूंजीपतियों ने मुनाफा कमाने के सिवा और कुछ नहीं सीखा है।

मजदूरों को यद्यपि हड़ताल करने का हक है, लेकिन अपने इस अधिकार को सभी समय या बिना सोचे उपयोग में लाना उचित नहीं है।

हमारा उद्देश्य ऐसे समाज का निर्माण करना होना चाहिए जहाँ मजदूर और केवल मजदूर ही सारे उद्योगों के प्रबन्धक हों और जहाँ श्रम को पूंजी के समान स्तर पर स्थापित किया जा सके।

भारत सरकार का श्रम विधान एक दिन औद्योगिक जनतन्त्र में विकसित हो जाएगा।

जब तक कांग्रेस, उद्योग तथा खेत में काम करनेवाले—दोनों तरह के मजदूर समुदाय के साथ अपने सम्बन्धों को फिर से स्थापित तथा मजबूत नहीं कर लेती, तब तक वह लाल धमकी का मुकाबला करने में असफल रहेगी और आँखें बन्द करके देश में अराजकता की शक्तियों को ही केवल खुली छूट देने में बढ़ेगी।

मजदूर वर्ग की अवस्थाओं में कान्तिकारी परिस्थिति के लिए केवल विधान की आवश्यकता नहीं, बल्कि स्पष्ट रूप से कुछ और करने की आवश्यकता है, और वह यह कि लोगों के मनोविज्ञान में परिवर्तन लाया जाए।

खेतिहर मजदूर की समस्या का वास्तविक समाधान भूमि व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने पर ही होगा। इस विषय में सभी एकमत हैं कि भूमि व्यवस्था इस ढंग की होनी चाहिए, जिस से खेत जोतने-वाले काश्तकार और राज्य के मध्य में कोई दलाल न रहे और जमीन उन लोगों के अधिकार में हो, जो खेत जोतनेवाले हैं। कठिनाई तो तब पैदा होती है, जब यह तय करना पड़ता है कि असल में खेत जोतनेवाला कौन है? प्रचलित व्यवस्था के अनुसार कोई भी व्यक्ति असली जोतनेवाला मान लिया जाता है, जो अपने एजेण्ट या मैनेजर द्वारा अपने दिए गए औजारों से शत प्रतिशत मजदूरों से खेती कराता है। विवेकपूर्ण भूमि वितरण के प्रस्ताव के मार्ग में यह परिभाषा ही बड़े विरोध का कारण है। यदि जमीन जोतनेवाला का सही अर्थ माना जाए, तो जमीन का पुनः वितरण बड़ा सरल हो जाए। विधवाएँ, अशक्त और बीमारों को छोड़ कर और कोई भी व्यक्ति जो धार्मिक या सामाजिक या आर्थिक कारणों से हल जोतना और खेती से सम्बन्धित अन्य किसी कार्य को स्वयं और अपने परिवार के निरोग और सक्षम व्यक्तियों के साथ कम-से-कम मजदूरों की सहायता से करने में अपना हेठी समझता है, तो उसे हम असली खेत जोतनेवाला नहीं कह सकते। जहाँ मजदूर खेतों में लगाए जाएँ, वहाँ पदार्थों में नकद मजदूरी नहीं; बल्कि मजदूर की अदला-बदली पर।

भूमि का पुर्नवितरण केवल खेतिहर मजदूरों की अवस्था सुधारने और असली किसान की आर्थिक अवस्था ठीक करने के लिए ही केवल जरूरी नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय हित में भी आवश्यक है। अन्न की पैदावार वृद्धि करने की कोई योजना वांछित फल न देगी, जब तक किसान खेत पर खुद मेहनत न करेगा। भाड़े के मजदूरों द्वारा खेती कराने के बीच भारी अन्तर है और पैदावार पहले की अपेक्षा दूसरे में पन्द्रह से बीस प्रतिशत अधिक होती है।

किसान के स्वयं खेती करने से पैदावार हमेशा अधिक होती है। खेती एक राष्ट्रीय समस्या है और इसका हल भी उसी रूप में करना होगा। केवल जमींदारी अन्त करने तथा राज्य और किसान के बीच के लोगों को हटा देने भर से कृषि समस्या हल न होगी और न कृषि-अशान्ति दूर होगी। भूमि व्यवस्था फिर से नए रूप में निर्माण करनी होगी और इसके लिए दृढ़ संकल्प और साहस से काम करना होगा। चाहे निहित स्वार्थ वालों का, जो अधिकतर बड़े किसान है, विरोध भी क्यों न सहना पड़े। इस समस्या का समाधान इस मंत्र में है—**'जमीन जोतनेवाले की। जोतनेवाले कौन? जो हल चलाए।'**

राजनीति और अर्थ-व्यवस्था

साम्राज्यवादियों से सफल युद्ध लड़नेवाले पण्डित जवाहरलाल नेहरू पूंजीपतियों से नहीं डरते। उन्होंने तो पूंजीपतियों को सुधार करने का एक समय दिया है।

प्रजातन्त्र में किसी भी राजनीतिक दल को सरकार बदलने का हक है, लेकिन उसे यह हक नहीं है कि वह अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोगों को गुमराह करे।

समाजवाद और साम्यवाद के सिवा गांधीवाद भी है, जिसने भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता उपलब्ध की और वह अब उसे आर्थिक समृद्धि भी दिलाएगा।

वैयक्तिक सुधार गांधीवाद का तत्व है, जिसे मार्क्सवाद नहीं स्वीकार करता।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यवहार में आनेवाली भारत की निरपेक्ष नीति का आधार गांधीजी के ही सिद्धान्त हैं। हमें अशिक्षा, शोषण, गरीबी तथा अभाव के विरुद्ध खड़ा होना चाहिए, एवं इनसे भी ऊपर हमें सभी कीमत पर आजादी कायम रखनी चाहिए।

पर्याप्त उत्पादन के बिना राष्ट्रीयकरण का कोई अर्थ नहीं है। जब तक उत्पादन की वृद्धि नहीं की जाती, मजदूरी बढ़ाना व्यर्थ है। द्रव्य केवल विनिमय का एक साधन मात्र है, सम्पत्ति नहीं। मैं न तो साम्यवादी हूँ और न समाजवादी। मैं तो सिर्फ मानव मात्र के गुणों पर विश्वास करता हूँ।

राष्ट्रीय समस्याओं के सुलझाने का केवल उपाय यह है कि उस दिशा में सहकारिता की भावना तथा राष्ट्रीय हित की दृष्टि से प्रयत्न किया जाए।

केवल स्वतन्त्रता प्राप्त करने से ही लोगों का उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता है।

केवल राष्ट्रीयकरण से हमारे मसले हल नहीं होंगे। राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ हमारे चरित्र में परिवर्तन आना जरूरी है। तभी हम जन-साधारण की भलाई के लिए काम करना सीख सकेंगे, जिससे कि फिर एक दूसरे को शोषण करने का अवसर ही न मिल सके।

क्षमता विहीन राष्ट्रीयकरण से कोई लाभ नहीं होगा।

सिर्फ आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी शोषण समाप्त होना चाहिए, क्योंकि उन सब का परस्पर सम्बन्ध है और वे एक दूसरे के साथ गुंथे हुए हैं।

स्वतन्त्रता और अपना शासन अन्तिम उद्देश्य नहीं है, बल्कि वे एक सुखी राज्य की स्थापना में प्रत्येक व्यक्ति का भय और अभाव में स्वतन्त्रता दिलाने के साधन मात्र हैं।

नेता वह है, और उसी का नेतृत्व है, जो जनता को अपने साथ ले चलता है और जो यह देखता है कि जिस सिद्धान्त का वह समर्थन करता है वह अमल में आ सकता है या नहीं।

उत्पादन और वितरण योजना के अनुसार होना चाहिए, इसे हम चाहे राष्ट्रीयकरण कहें या फिर जो कहें।

ऐसे वातावरण में, जो परस्पर अविश्वास और संदेह से भरा हुआ है, और जहाँ विरोधी विचार धाराएँ एक दूसरे के विरुद्ध निर्दयतापूर्वक शीत युद्ध चला रही हैं, केवल भारत ही महात्मा गांधी के शान्ति और प्रेम के संदेश के जरिये इस दुखी दुनिया में अमन चैन की स्थापना कर सकता है।

प्रादेशिकता का नवीनतम भूत जहाँ भी अपना मनहूस सर उठाए, उसे तुरन्त ही कुचल देना चाहिए।

प्रजातन्त्र को चाहे ह्वाइट हाल में पेटेण्ट किया गया हो, चाहे अमेरिका में ताजा किया गया हो, तथा चाहे रूस में विशुद्ध किया गया हो, लेकिन वह एक विडम्बना है, प्रवंचना है, उसे वास्तविकता से कोई मतलब नहीं। किन्तु कांग्रेस ने जिस प्रजातन्त्र को अपनाया, और राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने जिसे हरा-भरा किया, वह भारत में शान्ति और समृद्धि के युग को लाने जा रहा है।

हमारी आजादी संसार की शान्ति के गारण्टी है और हमारा नैतिक तथा भौतिक बल सदा औचित्य तथा न्याय की ओर होगा।

एशियाई देश इस समय राष्ट्रीय जागरण की जबर्दस्त मंजिल से गुजर रहे हैं। इनमें से कोई भी अब किसी विदेशी शक्ति का केवल गुलाम रहना पसन्द न करेगा।

विकासवाद और मानव के प्रकृतिदत्त गुणों के सिद्धान्तों को न माना जाए और न वह चिरकाल तक स्थिर ही रहे तो फिर मानवता के लिए कोई आशा नहीं रहती।

नैतिक मूल्य ही असली मूल्य है, जो संसार में शान्ति स्थापित कर सकते हैं और संसार को बचा सकते हैं।

ज्यों ही संसार में धन दौलत का आदर कम होता जाएगा और उसके स्थान को ईमानदारी और कठिन परिश्रम ग्रहण करेंगे, पूंजीपति भी धन-दौलत का मोह छोड़ देंगे।

देश के लोगों ने स्वतन्त्रता का असली स्वाद नहीं लिया है, क्योंकि वे स्वतन्त्रता को भोजन और वस्त्र के रूप में समझते हैं, जो आज पर्याप्त रूप में उपलब्ध नहीं है।

भारत की आर्थिक समस्या उत्पादन की समस्या पर आधारित है, इसलिए यदि इसका कोई स्थायी हल निकालना है, तो उत्पादन में वृद्धि करनी होगी।

आधुनिक औद्योगिक विकास से हमारी पुरानी देहाती आर्थिक व्यवस्था बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गयी है। इस मौजूदा दुनिया में हमारा पीछे की ओर नजर डालना तथा अपनी पुरानी प्रणाली से शिक्षा ग्रहण करना नहीं भूलना चाहिए।

आजादी ने हमारे राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाया है। गांधीजी ने हमें विकास का मार्ग बताया है, क्रान्ति का मार्ग नहीं, जो हिंसा पर आधार रखता है।

मेहनत और काम, कठिन और ईमानदारी का काम और निरन्तर अधिक से अधिक काम यही आज भारत माता की माँग है।

जो आर्थिक विकास के कार्यक्रम से भागता है, या असंतोष व्यक्त करता है, अथवा किसी और तरीके से उसमें बाधा डालता है, वह चाहे सरकारी कर्मचारी हो, अधिकारी हो, चाहे पूँजीपति हो और चाहे मजदूर, जन-साधारण की निगाह में देशद्रोही हैं।

कानून मानवीय सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के लिए बनाए जाते हैं। इसलिए उनका उपयोग उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होना चाहिए न कि उनके अपने लिए।

बुनियादी महत्व के कारण खाद्यान्न अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौता में सौदा पटाने का एक साधन बन गया है, इसलिए दूसरे देश या सौदाबाजियों पर निर्भर रहने से तथा साथ ही अधिक मूल्य देने से हम अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता की लेन-देन से कोई लाभ नहीं उठा सकेंगे।

नैतिक शस्त्र ऐसे व्यक्ति की रक्षा और उन्नति करता है, जिसकी रचनात्मक शक्तियों का पुनर्निर्माण आवश्यक है, वह दूसरों के अधिकारों का आदर करना सिखाता है।

संसार इस सिद्धान्त को स्वीकार कर चुका है कि अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में है और इस युग में कोई भी ऐसा काम जिसे जनता पसन्द नहीं करती, कोई भी ऊपर से उस पर जबर्दस्ती से नहीं लाद सकता।

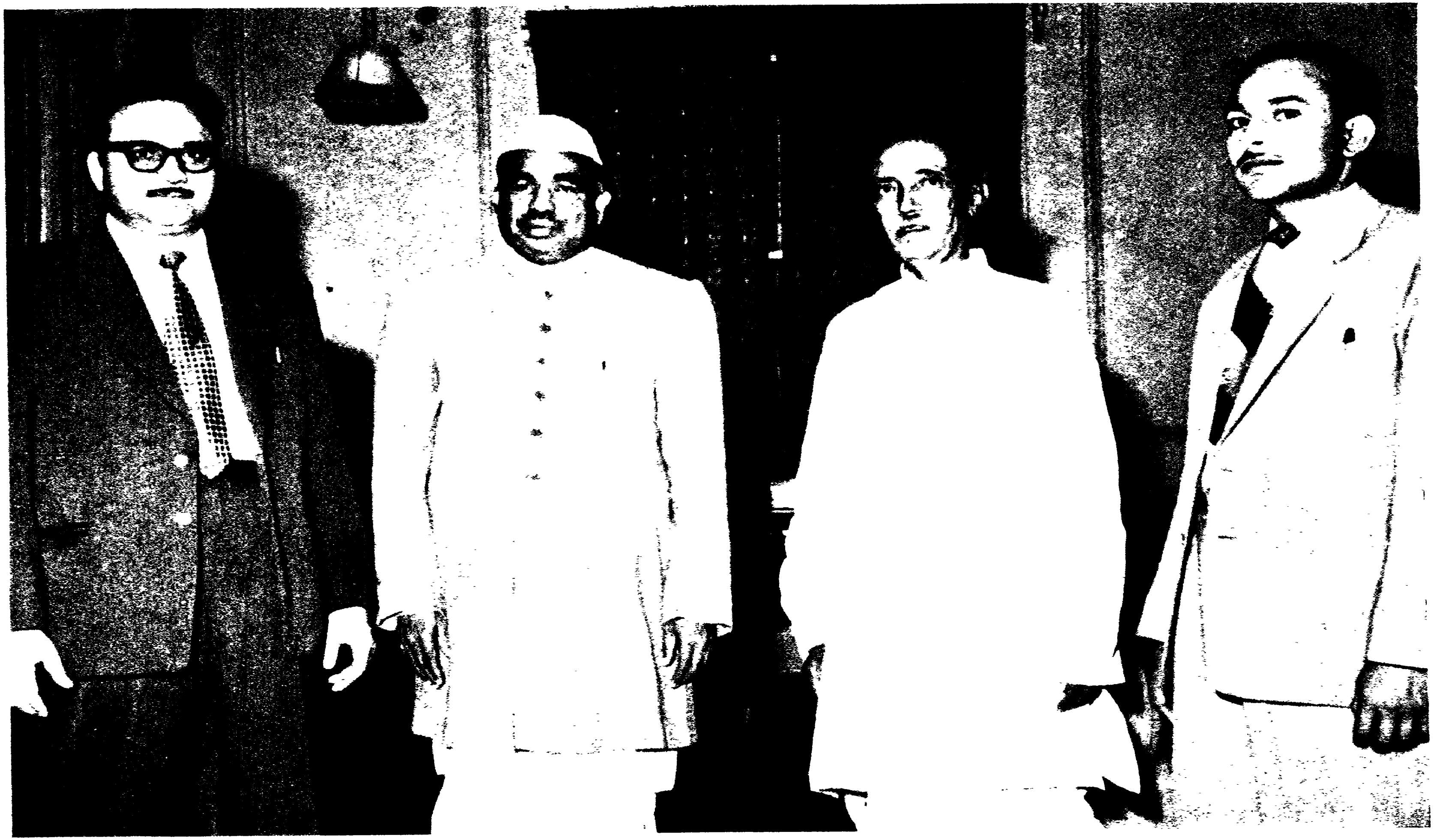
आज के कष्टों के लिए लोगों को ही दोष देना चाहिए। वे चोरबाजारियों, भ्रष्टाचारियों तथा शोषण करनेवालों का, जो कि खून चूसते हैं, बहिष्कार करने के बजाय, उनकी पूजा करते हैं, उनका सम्मान करते हैं, और यहाँ तक कि वे उनके पास सार्वजनिक तथा धार्मिक कार्यों के लिए पैसा माँगने जाते हैं।

मार्क्सवाद और गांधीवाद,, स्वभावतः एक समान हैं, दोनों के बीच में साधनों का भेद है। मार्क्सवाद जहाँ साम्यवाद को बाहर से लागू करने में विश्वास करता है, वहाँ गांधीवाद आन्तरिक विकास के जर्ये उसी उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है।

महात्मा गांधी जैसा महान् क्रान्तिकारी संसार में कभी पैदा नहीं हुआ। राम राज्य के बारे में हम जो कुछ पढ़ते हैं, उससे कहीं अधिक अर्थ उनके राम राज्य के विचार में है।

युवकों को अस्पष्ट तथा अकल्पनीय आदर्शों के पीछे न भागना चाहिए, बल्कि अपने पास पड़ोस को सुधारने में लगा देना चाहिए।

आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था में इसप्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन होने चाहिए, जिनसे समाज के मुट्ठी भर लोग मौज न उड़ा सकें, जब कि लाखों और करोड़ों लोग भूखे मरते हों। ●●



देश गौरव श्री जगजीवनरामजी साथ मे और श्री जी० एस० पथिक
(बायीं ओर) श्री सतीशचन्द्र मिश्र और (दाहिने ओर) श्री क्षितेश्वरप्रसाद खड़े है ।



श्री सतीशचन्द्र मिश्र, बी०ए०

स्वतन्त्र भारत के संविधान में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को इस देश की राष्ट्र भाषा का स्थान दिया गया है। यह निर्णय सभी प्रदेशों के प्रतिनिधियों की सहमति से हुआ है। हिन्दी को यह स्थान अन्तःप्रदेश और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संबंध स्थापित करने के लिए मिला। इसके सिवा प्रदेशों की आन्तरिक शासन व्यवस्था तथा शिक्षा आदि के लिए प्रादेशिक भाषाओं को पूर्ण मान्यता दी गयी है। हिन्दी ने उनका स्थान नहीं छीना है। यह निर्णय किया गया कि प्रदेशों में शिक्षा तथा शासन कार्य अंग्रेजी के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं में हो। इससे यह स्पष्ट है कि अंग्रेजी के प्रभुत्व में प्रादेशिक भाषाओं के विकास में जो दीवार खड़ी थी, उसे हटा दिया गया है। अतएव, हिन्दी के राष्ट्र भाषा होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह प्रदेशों की भाषाओं को मिटा कर उनका स्थान ग्रहण करे। हिन्दी का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। प्रदेशों के पत्र व्यवहार और केन्द्रीय सरकार के प्रशासन में हिन्दी को स्थान दिया गया है।

हिन्दी राष्ट्र भाषा

संविधान के निर्णय के पूर्व देश ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा की मान्यता दी थी। हिन्दी भाषा भाषियों ने नहीं; बल्कि अहिन्दी भाषाभाषी प्रदेशों के नेताओं ने स्वतः आगे बढ़ कर हिन्दी को इस देश की राष्ट्र भाषा घोषित किया। हिन्दी भाषा भाषियों ने कभी यह सोचा तक नहीं था कि हिन्दी राष्ट्र भाषा घोषित की जाएगी। अहिन्दी भाषी प्रदेशों के विद्वानों तथा नेताओं ने हिन्दी को केवल राष्ट्र भाषा ही स्वीकार नहीं किया, बल्कि उसके विकास में भी पूर्ण योगदान दिया। हिन्दी के विकास के प्रति अहिन्दी भाषी विद्वान् और नेतृ-वृन्द की सेवाएँ भुलाई नहीं जा सकती हैं। इन कार्यों का बहुत बड़ा इतिहास है, किन्तु यहाँ हम उन गतिविधियों का केवल किंचित् पर्यवेक्षण करते हैं।

बिहार में हिन्दी

एक समय था, जब बिहार में कैथी और उर्दू का प्रचार था, हिन्दी लिपि तक नहीं थी। पण्डित भूदेव मुखोपाध्याय ने बिहार में देवनागरी लिपि को स्थान दिया था। उनके नेतृत्व में हिन्दी के लेखक बढ़े और हिन्दी का विकास हुआ। उन्होंने ही कहा था कि **'हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा है।'**

बंगाल में हिन्दी का विकास

बंगाल में ईसाई पादरियों और बंगाली विद्वानों ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा होने का गौरव प्रदान किया और उसका शृंगार किया। फोर्ट विलियम किले से पादरियों द्वारा हिन्दी का व्याकरण लिखा गया और उन्होंने ही पण्डित लल्लूलाल मिश्र आदि विद्वानों से हिन्दी में पुस्तकें लिखवायीं। श्री शारदाचरण मैत्र ने देश-भर में देवनागरी लिपि के प्रचार के लिए 'देवनागर' पत्र को जन्म दिया। पण्डित सखाराम देउस्कर ने बंगाल में हिन्दी पत्रकारिता का विकास किया। देउस्करजी महाराष्ट्रीय विद्वान् थे, उन्होंने न केवल हिन्दी में, बल्कि बंगला में भी पहला पत्र प्रकाशित किया था। आज यह कहा जाता है कि अहिन्दी भाषी प्रदेशों के लोग हिन्दी सीखने पर उन लोगों से हीन रहेंगे, जिनकी मातृ भाषा हिन्दी है। पर पण्डित अमृतलाल चक्रवर्ती इस आक्षेप के मुँहतोड़ जवाब हैं। चक्रवर्तीजी ने हिन्दी भाषा और हिन्दी की शैली पर जो अनुपम अधिकार प्राप्त किया था, उससे वे हिन्दी के विद्वान् लेखक और उन पत्रकारों का भी नेतृत्व करने में समर्थ हुए थे, जो कालान्तर में हिन्दी के सम्पादकाचार्य माने गए। चक्रवर्तीजी ने हिन्दी के विद्वानों के मध्य में अपने को कभी हीन नहीं पाया। इस बंगाली विद्वान् को बंगाल में हिन्दी के विकास का श्रेय प्राप्त है। हिन्दी बंगवासी एक बंगाली प्रतिष्ठान से निकला था। अनेक बंगाली लेखकों ने हिन्दी में पुस्तकें लिखीं और बंगाली संस्थाओं से उनका प्रकाशन हुआ। प्रयाग में इण्डियन प्रेस एक बंगाली प्रतिष्ठान है, जो आज पचास वर्ष से हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका "सरस्वती" का प्रकाशन कर रहा है। घोष परिवार ने हिन्दी की जो सेवा की, वह कभी विस्मरण नहीं की जा सकती। उनकी संस्था से अनेक हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। उसने काशी नागरी प्रचारिणी सभा को अपने अनेक साधन प्रस्तुत किए। आज भी यह प्रतिष्ठान हिन्दी की सेवा में रत है। मार्डन रिव्यू के विद्वान् सम्पादक स्वर्गीय रामानन्द चटर्जी सुन्दर हिन्दी लिखते थे। आपने तुलसीदास की रामायण का अच्छा अध्ययन किया था। आपने ही कलकत्ते से 'विशालभारत' मासिकपत्र को जन्म दिया था। श्री विपिनचन्द्र पाल, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, देशबन्धु चित्तरंजनदास और नेताजी सुभाष बोस ने हिन्दी को भारत की राष्ट्र भाषा घोषित किया था। नेताजी ने महसूस किया था कि बिना हिन्दी सीखे अखिल भारतीय नेतृत्व संभव नहीं है। अंग्रेजी के द्वारा वे जनता के हृदयों पर अधिकार नहीं कर सकते। अतः उन्होंने हिन्दी सीखी। नेताजी ने कुछ काल में ही हिन्दी पर इतना अधिकार कायम कर लिया था कि वे हिन्दी भाषियों के समान हिन्दी में भाषण देने और हिन्दी लिखने में समर्थ हुए थे। अनेक बंगाली लेखक और लेखिकाओं ने हिन्दी में विविध रचनाएँ कीं। आज भी श्री सुनीतकुमार चटर्जी के अतिरिक्त आनन्द बाजार पत्रिका के विद्वान् सम्पादक श्री चपलाकान्त भट्टाचार्य और श्री प्रफुल्लचन्द्र सेन हिन्दी पर अपना अधिकार रखते हैं।

महाराष्ट्र और गुजरात में

महाराष्ट्र और गुजरात के महान् नेता और विद्वान् हिन्दी को राष्ट्र भाषा घोषित करने और हिन्दी के विकास में पीछे नहीं रहे। महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक ने घोषित किया था कि 'हिन्दी अखिल भारत की राष्ट्र भाषा है।' वे देश में प्रथम राजनीतिक नेता थे, जिन्हों` हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिया था। सारे भारत में महाराष्ट्र ही एक ऐसा प्रान्त आगे बढ़ा जिसनें मराठी भाषा की मोड़ी लिपि का परित्याग कर देवनागरी लिपि को स्थान दिया। लोकमान्य ` मराठी केसरी में दो कालम हिन्दी के लिए रखे थे। फिर तो अनेक महाराष्ट्रीय आगे बढ़े, जिन्होंने हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि की। लोकमान्य की गीता के हिन्दी में भाष्यकार पण्डित माधवराव सप्रे हिन्दी के विख्यात लेखक और कवियों के मार्ग-दर्शक तथा गुरु थे। स्वराज्य के सम्पादक श्री आगरकर, हिन्दी चित्रमय जगत के सम्पादक श्री भालेराव तथा आज के यशस्वी सम्पादक श्री पराड़करजी आदि ने हिन्दी पत्रकारिता में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया। मराठी रियासतों में श्री सयाजीराव गायकवाड़ और माधवराव सिंधिया ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा घोषित किया। सभी मराठी रियासतों में उर्दू और मराठी के

स्थान पर हिन्दी को स्थान दिया गया। परिणाम यह हुआ कि महाराष्ट्रीय समाज में हिन्दी प्रवेश कर गयी। महाराष्ट्र ने हिन्दी का कभी विरोध नहीं किया। आज काका साहब कालेलकर हिन्दी प्रचार के प्राण बने हुए हैं।

गुजरात भी हिन्दी को अपनाने में पीछे न रहा। स्वामी दयानन्द गुजराती थे, किन्तु उन्हों ने अनुभव किया कि उनका धर्म प्रचार बिना हिन्दी सीखे संभव नहीं है। संस्कृत के द्वारा वह जन-साधारण में चेतना उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः उन्होंने हिन्दी सीखी और हिन्दी में 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखा और धार्मिक ग्रन्थों के हिन्दी में भाष्य किए। वे हिन्दी के ओजस्वी वक्ता थे। भारत के राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने जब देश का नेतृत्व अपने हाथ में लिया, तब उन्होंने बिना किसी लाग लपेट के हिन्दी को भारत की राष्ट्र भाषा घोषित किया था। एक बार उन्होंने दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस के अधिवेशन मे यह कहा था कि जो लोग उनका भाषण हिन्दी में न समझ सकें और हिन्दी में न बोल सकें, वे कांग्रेस में न आएं। हिन्दी गांधीजी की चिरऋणी है।

दक्षिण भारत में हिन्दी

गांधीजी के प्रयत्न से दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार आरम्भ हुआ और उसीका आज यह परिणाम है कि दक्षिण भारत में अंग्रेजी जाननेवालों की तुलना में हिन्दी जाननेवालों की संख्या सहस्त्र गुना अधिक है। दक्षिण भारत में सौ डेढ़ सौ वर्षों में अंग्रेजी का प्रचार अंगुलियों तक रहा, जब कि यह कहा जाता है कि दक्षिण भारत अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने में सब से आगे है, किन्तु कुछ वर्षों के प्रचार से ही दक्षिण भारत में हिन्दी ने महत् स्थान प्राप्त कर लिया है। दक्षिण भारत और बंगाल में जो नेतृवृन्द आज हिन्दी के विरोध में लगा है, वही पिछले काल में हिन्दी के राष्ट्र भाषा होने का समर्थक था।

अंग्रेजी से संघर्ष

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी को किन व्यक्तियों ने राष्ट्र भाषा घोषित किया। हिन्दी भाषी प्रान्त के नेतृवृन्द और विद्वानों ने हिन्दी के सम्बन्ध में कभी कोई माँग नहीं की। पर यह अवश्य है कि जब दूसरी कोई भाषा अंग्रेजी का स्थान लेने में समर्थ नहीं है, तब उन्होंने देश की एकता के लिए हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में स्थान देने के लिए आग्रह किया। उनका यह अनुरोध अहिन्दी भाषी प्रान्तों पर हिन्दी के थोपने का नहीं है। वे यह नहीं चाहते कि बंगला, मराठी और तामिल भाषाएँ मिट जाएँ, तथा अपने प्रदेश में न फूलें-फलें। वे यह अवश्य चाहते हैं कि प्रदेशों में जो राज-काज अंग्रेजी में चल रहा है, उसके स्थान पर प्रादेशिक भाषाएँ जारी की जाएँ। अतः प्रादेशिक भाषाओं का हिन्दी से संघर्ष होने का कोई प्रश्न नहीं है। यह संघर्ष केवल अंग्रेजी से है। प्रदेशों में जो शासन अंग्रेजी में चल रहा है और जो शिक्षा अंग्रेजी में दी जा रही है, उसके स्थान पर प्रादेशिक भाषाएँ जारी की जाएँ। यह माँग प्रादेशिक भाषाओं के उत्थान के लिए है।

देश में हिन्दी का स्थान

चूंकि हिन्दी न केवल २२ करोड़ लोगों में बल्कि देश-भर में बोली और समझी जाती है, इसलिए उसे राष्ट्र भाषा स्वीकार किया गया है। यदि कोई दूसरी भाषा यह स्थान रखती तो उसे राष्ट्र भाषा बनाया जा सकता था। दो सौ वर्षों में भी अंग्रेजी देश में व्यापक स्थान न कायम कर सकी। पर हिन्दी के लिए वह बात नहीं है। अहिन्दी प्रान्तों का हिन्दी को विदेशी भाषा कहना हृदय की कलुषिता का द्योतक है। वह किस अर्थ में विदेशी है? दक्षिण भारत के लोग जब तीर्थ यात्रा करने काशी, प्रयाग और हरिद्वार में आते हैं तब क्या वे अंग्रेजी में बोलते हैं, या तामिल, तेलगू या कन्नड़ में? वे हिन्दी में अपने भाव प्रकट करते हैं। बंगाली, आसामी, उड़िया, महाराष्ट्रीय और गुजराती भी अपने विचार हिन्दी में प्रकट करते हैं। इसी प्रकार उत्तर

प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान के लोग जब दक्षिण भारत, उड़ीसा और आसाम आदि में जाते हैं तब वे हिन्दी में बोलते हैं और लोग उनकी बात समझते हैं। इससे यह प्रकट है कि अहिन्दी प्रान्तों के लिए हिन्दी विदेशी भाषा नहीं है।

अन्तर कहां है ?

फिर हिन्दी और बंगला, मराठी तथा गुजराती आदि के बीच में अन्तर कहाँ है? बंगला को लीजिए, जो शब्द बंगला में बोले जाते हैं, वे ही हिन्दी में बोले जाते हैं। केवल अपभ्रंश का थोड़ा बहुत अन्तर है।

हिन्दी का विकसित साहित्य

यह भी एक गलत प्रचार है कि हिन्दी में कुछ नहीं है। उसका कोई साहित्य नहीं है। यह एक नितान्त भ्रमपूर्ण और मिथ्या धारणा है। हिन्दी एक विकसित भाषा है। वह किसी प्रादेशिक भाषा से किसी भी बात में पीछे नहीं है। उसका काव्य साहित्य विश्व की काव्य रचनाओं से समता करता है। क्या तुलसी, सूर, मीराबाई, कबीर और नानक की रचनाएँ संसार के किन्हीं काव्यों से हीन हैं? वे सर्वोपरि हैं। सुन्दर ग्रन्थावली को जब महाकवि रवीन्द्रनाथ ने देखा, तब वे आश्चर्य में पड़ गए थे। उन्हें यह कहना पड़ा था कि यदि हिन्दी का यह ग्रन्थ मैंने पहले पढ़ा होता तो मेरी गीतांजलि की कुछ और ही रचना हुई होती। हिन्दी का सामयिक काव्य भी अन्य भाषाओं के काव्यों से समता करने में समर्थ है। उपन्यास, नाटक और कहानियाँ आदि ललित साहित्य में हिन्दी में अनेक मौलिक रचनाएँ लिखी गयीं। यह दुर्भाग्यजनक स्थिति रही है कि हिन्दी के साहित्य का अहिन्दी भाषी प्रदेश और विदेशों में प्रचार न हो पाया। प्रेमचन्द्रजी की रचनाओं के प्रचार का जब थोड़ा-सा साधन मिला, तब संसार चौंक उठा कि हिन्दी का उपन्यासकार विश्व के उपन्यासकारों में श्रेष्ठ-तम स्थान रहता है। जयशंकरप्रसाद, निराला और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य ग्रन्थ अपना अनुपम स्थान रखते हैं। इतिहास में भी हिन्दी साहित्य पिछड़ा हुआ नहीं है। अन्य प्रादेशिक भाषाओं तथा अंग्रेजी में हिन्दी के आश्रय से ऐतिहासिक ग्रन्थ लिख गए हैं। गौरीशंकर हीराचन्द, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, प्रभृति इतिहासज्ञों ने हिन्दी में इतिहास पर मौलिक ग्रन्थ लिखे। विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र आदि के विविध अंगों पर पिछले वर्षों में हिन्दी में जितनी तेजी से ग्रन्थ प्रकाशित हुए, उनका किसी को अनुमान नहीं है। पटना में जो हिन्दी प्रदर्शनी हुई, उसमें हिन्दी में प्रकाशित विज्ञान के ही एक हजार ग्रन्थ रखे गए। पूछा जा सकता है कि किस प्रदेश की भाषा में इतने ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं? सामयिक साहित्य पर हिन्दी में बड़ी तत्परता से रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। विज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति के अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित किए जा रहे हैं, जिससे विश्व विद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा दी जा सके। हाइस्कूल, इंटरमिडिएट और बी० ए० तक की शिक्षा के लिए विज्ञान, राजनीति और आर्थिक विषयों के विविध अंगों पर इतने ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं कि यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में उच्च शिक्षा दी जा सकती है।

राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा

यदि हम किसी एक भाषा को राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन नहीं करते हैं तो भारत की राष्ट्रीयता समाप्त हो जाएगी। अंग्रेजी के हट जानेसे प्रादेशिक भाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्थान पाने पर उन का आपसी सम्बन्ध टूट जाएगा। ये भाषा के प्रदेश पूर्व काल की तरह स्वतंत्र नई रियासतें बन जाएंगे। देश की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाएगी। भारत विभाजित हो जाएगा। संसार में सर्वत्र ही तो अंग्रेजी का प्राधान्य नहीं है। और यह भी नहीं है कि बिना अंग्रेजी सीखे उन देशों का विकास न हुआ हो। जिस क्षेत्र में अंग्रेजी का थोड़ा बहुत उपयोग हो सकता है वह बहुत सीमित है। विज्ञान और इंजीनियरिंग आदि के लिए लोग अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाएँ सीख सकते हैं पर उनकी संख्या स्वल्पतम होगी।

बिना भेद-भाव के हिन्दी को स्थान

इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि देश की स्वतंत्रता को अक्षुण रखने और शक्तिशाली राष्ट्र निर्माण के लिए सभी प्रदेशों में हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्थान दिया जाए। हमें प्रादेशिकता की भावना का त्याग करना चाहिए। जब एक प्रान्त का बहुजन समुदाय हिंदी सीख जाएगा तब हिंदी भाषियों से हिंदी सीखने का प्रश्न ही नहीं रहेगा। जब गैर हिंदी प्रान्त के निवासी अंग्रेजी में अपूर्व क्षमता प्राप्त करते हैं तब वे हिंदी में तो कहीं अधिक प्राप्त करेंगे। हिंदी भाषी अन्य प्रदेशों के लोगों की नौकरियां हथियाने का स्वप्न में भी विचार नहीं रखते। अपितु यह अभिवचन दे सकते हैं कि वे कई वर्षों तक अखिल भारतीय नौकरियों के उम्मेदवार तक न खड़े होंगे। देश के लिए वे यह भी त्याग कर सकते हैं। यदि अहिंदी भाषियों को दो भाषाएं सीखनी पड़ेंगी तो हिंदी भाषियों के शिक्षाक्रम में भी यह शर्त लगायी जा सकती है कि अनिवार्य रूप में उन्हें भी किसी एक प्रादेशिक भाषा का अध्ययन करना पड़ेगा।

●●

'राम', तुम्हीं आधार हमारे।
ऋषि जावालि छोड़ कर जिन को
गुह निषाद हैं प्यारे।
वही उबार सकेगा हम को
जिस ने अधम उधारे।
शबरी, बानर भालु बन्धु थे
अरि तक तुम ने तारे।
राम, तुम्हीं आधार हमारे।

—मैथिलीशरण गुप्त

भारतीय संगीत की गतिविधि

'एक कलाविद्'

आज भारतीय संगीत अनेक सीमाएँ पार कर चुका है। वह अपने परों को फैला कर अनेक प्रयोगों द्वारा अपना विकास कर रहा है और उनमें विदेशी तत्वों को भी अन्तर्हित कर रहा है। किन्तु साथ ही वह अपने उन अनेक कलाकारों को खो रहा है, जो संगीत के स्तम्भ थे। कर्नाटक संगीत और भारतीय संगीत-दोनों को ही क्षति पहुँची है। देवास के वयोवृद्ध संगीत के उस्ताद रजबअली का जनवरी १९५९ में स्वर्गवास हो गया। १९५८ के मध्य में कर्नाटक संगीत के वीणा बजानेवाले संगीत कलानिधि, सत्तर वर्षीय शंभाशिव अय्यर और संगीताचार्य टी० पी० सुभाराव और तंजूर नानू को देश खो बैठा। इन सब कलाकारों की अवस्था साठ, सत्तर वर्ष के बीच में थी। उनके निधन से कला की जो क्षति हुई, उसका पूर्ण होना संभव नहीं है। किन्तु हमारे मध्य में अभी ऐसे कलाकार विद्यमान हैं, जिनसे सीख कर हम आगे बढ़ सकते हैं। कर्नाटक संगीत के आचार्य ९३ वर्ष के वयोवृद्ध संगीत-शास्त्र विशारद वासुदेवाचार्य तथा रामानुज आयंगर मौजूद हैं। इनके सिवा अन्य कई संगीतज्ञ हैं, जो कर्नाटक संगीत कला की निधि हैं। ये संगीतज्ञ प्राचीन परम्परा को जिस कुशलता से व्यक्त करते हैं, उसे देख कर दंग रह जाना पड़ता है। इनके गले की तान और राग की दूरी कितनी दूरी तक फैलती है, इसे जिन्होंने सुना, वे मुग्ध हो गए। अलबत्ता, आजकल माइक के साधन से संगीतज्ञ अपनी आवाज अधिक ऊँची नहीं करते हैं। दक्षिण के संगीत की आत्मा राग कम्बोजी, राग सवेरी और राग बिलंहारी के अमर गायकों में विद्यमान है। राग अलपना तथा पल्लवी को आज लोग भूलते जा रहे हैं। पर दक्षिण के इन सभी रागों को हमें जीवित रखना है। इधर संगीत कला को जीवित रखने के लिए दक्षिण में अनेक संगीत शिक्षण संस्थाओं का निर्माण हुआ है। मद्रास तथा अन्नामल विश्वविद्यालयों में संगीत की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। दिल्ली विश्वविद्यालय ने भी भारतीय, कर्नाटक तथा अन्य संगीतों के शिक्षण को अपने यहाँ स्थान दिया है। मद्रास में कर्नाटक संगीत के सेंट्रल कालिज की स्थापना कर्नाटकी संगीत को जीवित रखने के लिए बहुत बड़ा कार्य है। मद्रास की संगीत एकेडमी देश में पहली संस्था है, जो संगीत शिक्षकों का कालिज है। कर्नाटक संगीत को पल्लवित करने के मार्ग में 'संगीत वाद्यालय' (संगीत, वाद्यों का भवन) की स्थापना भी बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है।

अब हम जरा भारतीय संगात की ओर आएँ, जिसका देश में अधिक व्यापक क्षेत्र है। इस क्षेत्र को भी भारी धक्का लगा, उसे जो क्षति पहुँची है, उसका सहज में पूरा होना संभव नहीं है। सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों द्वारा इस कला को गहरी चोट पहुँची है। पुराने राग भूले जा रहे हैं। ध्रुपद, खयाल और ठुमरी तथा गजलों की उपेक्षा हो रही है। इन सब के रूप विकृत हो गए हैं। रेडियो तथा 'संगीत, नाटक एकेडमी' का ध्यान ध्रुपद और खयाल के परिमार्जन की ओर गया है। उदयपुर के महाराज ने भारतीय संगीत म्यूजियम की स्थापना की है। आचार्य पाण्डेय तथा उस्ताद अलाउद्दीन खाँ—दोनों ने ही इस बात पर जोर दिया है कि ध्रुपद राग को पुनर्जीवन दिया जाए और वीणा, रहब तथा सुर शृंगार आदि वाद्यों में परिवर्त्तन किए जाएँ। ध्रुपद के समकक्ष में अलाप और धकार का स्थान है। अलाप राग गायक के व्यक्तित्व को कायम करता है। आज ध्रुपद क्षीण अवस्था को पहुँच रहा है। संगीतज्ञों का कर्त्तव्य है कि उसे जीवित रखें। इस सिलसिले में खयाल, ठुमरी, गजल और पहाड़ी रागों को भी हमें न भूल जाना चाहिए। आज खयाल जिस रूप में गाया जाता है, वह उसका रूप नहीं है। तराना भी अपना रूप खोता जा रहा है। तराना संगीत के आचार्य उस्ताद मुस्ताक हुसैन खाँ और पण्डित शंकर राव पण्डित हैं। ये दोनों कलाकार तराना राग को पुनर्जीवन दे सकते हैं। बीना और मृदंग आदि कई वाद्य हैं, जिनके कलाकार हम खोते जा रहे

हैं। आज हमें ऐसे कलाकार तैयार करने चाहिएँ जो इन वाद्यों को संगीत कला में जीवित बनाए रखें। सारंगी ने रहब आदि वाद्यों का स्थान लिया। सांस्कृतिक संगठनों का यह कर्त्तव्य है कि वे भारतीय संगीतों के सभी वाद्यों को पुनर्जीवित करें, उनमें से किसी वाद्य की महत्ता न घटने दें। इस दिशा में अखिल भारतीय रेडियो और संगीत नाटक एकेडमी के द्वारा प्राचीन वाद्यों की रक्षा हो सकती है। ये संस्थाएँ सभी वाद्य और संगीत के रूपों को कायम रख सकती हैं। राष्ट्रीय स्तर पर संगीत सम्बन्धी नीतियों के निरधारण में संकुचित दृष्टिकोण का उपयोग न होना चाहिए। विशुद्ध कला के पनपने में भेदभाव की नीति का व्यवहार अत्यन्त खेदजनक है। खेद है कि अखिल भारतीय संस्थाएँ संगीत और वाद्यों को उनका पूर्व स्थान कायम करने में बहुत कम आगे बढ़ीं। राष्ट्रीय कला की सब से बड़ी क्षति यह है कि नए कलाकार रहब और बीन (बीणा) सुर श्रृंगार और मृदंग बजाने में आगे नहीं बढ़ते।

अखिल भारतीय रेडियो ने १९५८ के राष्ट्रीय प्रोग्राम में उन उस्तादों और संगीतचार्यों के संगीतों के रेकार्ड पेश किए जो आज हमारे मध्य में नहीं हैं। रेडियो ने 'राग लक्षण' पर एक पुस्तिका भी प्रकाशित की। पर केवल सैद्धान्तिक विवेचन से संगीत की प्रगति नहीं होने वाली है। जब तक इन राग और वाद्यों का प्रदर्शन न हो तब तक केवल चर्चा मात्र से उनकी प्रगति संभव है नहीं। राग में व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति अनेक प्रदर्शनों के बाद अपना विकास करने में समर्थ होता है। एक व्यक्ति जिस राग को अपने सुर से गाने में समर्थ होता है, दूसरा उस राग को उस सुर से गाने में समर्थ नहीं होता है। इससे यह कहा जा सकता है कि हरएक राग का जोड़ एक गायक से दूसरे गायक में अन्तर रखता है। ध्रुपद का राग, खयाल या ठुमरी तथा ठप्पा से सर्वथा जुदा है। हरएक संगीत की स्टाइल या हरएक संगीत का तरीका उन सब के शब्दों का जोर या शब्दों का वजन कहाँ कैसा पड़ता है, तथा गाने की कला, और फिर उनके सुर में वाद्यों का बजना ऐसी बातें हैं, जिनमें व्यावहारिक निपुणता होना आवश्यक है। वाद्यों का सफल बजाना सब से अधिक जरूरी है। बीणा, रहब, सरोद, सितार और फ्लूट का बजाना हरएक व्यक्ति के व्यक्तित्व पर निर्भर है। हरएक व्यक्ति सब वाद्यों में समान क्षमता प्राप्त कर ले, यह कभी संभव नहीं है। उस्ताद विलायत खाँ और पण्डित रविशंकर सितार बजाने में कमाल रखते हैं। १९५८ में इन दोनों कलाकारों ने सितार बजा कर पश्चमीय जनता को मंत्रमुग्ध कर दिया था। शंकर पहला भारतीय कलाकार हुआ, जिसने राष्ट्र संघ के प्रोग्राम में अपना गीत और अपना वाद्य बजा कर संसार के प्रतिनिधियों को चकित किया।

इधर संगीत और वाद्य के क्षेत्र में आर्चेस्टा संगीत का प्रचार बढ़ा है। पर इस देश के लोग अभी संगीत और वाद्य के इस रूप से अधिक प्रभावित नहीं हैं। दल-संगीत में आर्चेस्टा वाद्य तथा संगीत का स्थान है। इस प्रकार के दल-गीत से समाज पर गान का अच्छा प्रभाव पड़ता है। संगीत-शास्त्र की पुस्तकों का नितान्त अभाव है। संगीत के सभी ग्रन्थ, पुराने रूप में मौजूद हैं। संगीत साहित्य का विकास न होने से संगीत-कला की प्रगति रुकना स्वाभाविक है। ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों की रचनाएँ अभी तक नहीं हुईं, जिनका कोई स्थायी स्थान हो। अन्वेषणों और प्रयोगों पर भी कम रचनाएँ निकली हैं। दक्षिण भारत में संगीत एकेडमी की पत्रिका का प्रकाशन एक अच्छा प्रयत्न है।

आज देश पुराने राग भूलता जा रहा है। ग्वालियर में महाराज माधवराव सिंधिया के संरक्षण द्वारा संगीत-कला को बड़ा प्रोत्साहन मिला था। तानसेन अपने जीवन काल में कहीं रहे हों, पर उनके जीवन का अन्त ग्वालियर में हुआ और वहाँ उनकी समाधि आज भी विद्यमान है। तानसेन के सम्बन्ध में यह विख्यात है कि उनके गान से वृक्ष गाने लगते और पर्वत पिघल उठते थे। इतना ही नहीं, दीपक जल उठते और आकाश में मेघ आकर पृथ्वी पर बर्षा करते थे। यह कोई कल्पना की चीज नहीं है। अलबत्ता आज उस राग को भूल जाने से हम यह भले ही आश्चर्य करें। कल तक जब हवाई जहाजों का आविष्कार नहीं हुआ था, रेडियो और वायरलेस का ईजाद नहीं हुआ था, तब संसार हमारे पुष्पक विमान और ऋषियों के मंत्रों की बात को

मिथ्या तथा कपोल कल्पना मानता था। पर ग्वालियर में तानसेन के दीपक राग से जो घटना घटीं उसके चिह्न आज भी विद्यमान हैं। मुहम्मद गौस की दरगाह के समीप में इमली का झुका हुआ वृक्ष शहादत देता हुआ खड़ा है। दूर-दूर से लोग आकर अपने गले का सुर ठीक करने के लिए उसकी पत्तियाँ खाते हैं। तानसेन अपने गान की शक्ति से दीपक जला देते थे। अकबर दरबार के नवरत्नों में तानसेन भी थे। कहा जाता है कि एक दिन दरबार में विजय का समाचार पाने पर तानसेन ने जो दीपक राग गाया, उससे दरबार के दिए जल उठे। किन्तु उसके बाद कहा जाता है कि दीपक राग के गाने से उनके शरीर में जो अग्नि पैदा हुई, वह असहनीय थी। मेघ मलार के गाने से वह गर्मी शान्त हो सकती थी। और मेघ मलार भी दो ही व्यक्ति गा सकते थे, एक तानसेन और दूसरी एक लड़की, जिससे वे प्रेम करते थे। पर तानसेन के शरीर में इतनी व्यथा थी कि वे स्वयं नहीं गा सकते थे। लोग तानसेन को पालकी में डाल कर उस बालिका के पास ग्राम में ले गए जहाँ वह कुएँ पर पानी भरती थी। तानसेनको देख कर उसने मेघ मलार गाया, जिससे वर्षा होने लगी। पर यह सब कुछ हो, उसके पूर्व ही तानसेन के शरीर से प्राण निकल गए थे।

ग्वालियर और पूना संगीत की रक्षा करने में आगे बढ़ा। ग्वालियर में माधव संगीत विद्यालय में संगीत कला की शिक्षा दी जाती है। पूना में भातखण्डे संगीत-शास्त्र के आचार्य हुए। संगीतशास्त्र पर उनके ग्रन्थ प्रामाणिक माने जाते हैं। विष्णु दिगम्बर संगीत के व्यावहारिक ज्ञान में अपनी निपुणता रखते थे। संगीत गान में विष्णु दिगम्बर अपनी अद्‌भुत क्षमता रखते थे। रेडियो और सिनेमा के प्रचार से संगीत और नाट्य कला को गहरा धक्का लगा है। सिनेमा के प्राङ्गण में जो गीत गाए जाते हैं, तथा जिस नृत्य व अभिनय का प्रदर्शन होता है, उससे कला का स्वाभाविक और स्वच्छंद विकास नहीं होता है।

यह मानना पड़ेगा कि संगीत समाज में सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा करता है। स्त्री-पुरुषों के जीवन से जड़ता दूर करने में संगीत और वाद्य का बहुत बड़ा हाथ है। संगीत को साक्षात् भगवान का रूप बताया गया है। सच है, वह समाज और वह व्यक्ति नीरस है, जिसमें संगीत का प्राधान्य नहीं है। संगीत के द्वारा ही मानव जीवन निखरता है। बंगाल और महाराष्ट्र ने संगीत को समाज के जन-जन के जीवन में बिखेर दिया। प्रत्येक घर संगीत का घर बन गया। प्रत्येक घर में हारमोनियम, सितार और तबला बजने लगा। बालिकाओं ने सितार बजाने में निपुणता प्राप्त की। बंगाल में बंगीय ललनाएँ विद्यालयों में जाकर सितार बजाने की शिक्षा प्राप्त करने में आगे बढ़ीं। बंगाल में संगीत और वाद्य का समाज में इतना विस्तार हुआ, कि शुष्क जीवन में कदम रखनेवाले अर्थशास्त्री, वकील, बैरिस्टर और हाईकोर्ट के जज आदि सभी सन्ध्या के समय में संगीत का आलाप करते और वाद्य बजाते हैं।

भारत सरकार और राज्य सरकारें तथा रेडियो से संगीत और वाद्य को प्रोत्साहन मिलता है। केन्द्रीय सरकार के सांस्कृतिक कार्यक्रमों से संगीत और वाद्य को बड़ा बल मिला है। केन्द्रीय सरकार के सांस्कृतिक प्रोग्रामों में समाज से गायब ढोल-वाद्य को भी पुनर्जीवन सा मिला है। नए यंत्रों में अतीत के ढोल को हम भूल ही गए। हमें यह स्मरण न रहा कि ढोल के बजाने पर समाज को जागरण का संदेश मिलता है। हाँ, वह संदेश जो सत्य में विश्वास रखता है। नई दिल्ली के सांस्कृतिक कार्यक्रम में अपनी रंगदार वेश-भूषा में सजे हुए ८०० लोक नृत्यकार तथा संगीतज्ञों ने गणतन्त्र दिवस पर दिल्ली के पथों पर ढोल बजाते हुए जो विजयी प्रदर्शन किया और जिसे लाखों व्यक्तियों ने देखा, उसने यह प्रकट किया कि संसार में भारत महान् लोकतन्त्र का परीक्षण कर रहा है। जब सभ्यता का प्रभात हुआ था, तब लोगों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में ढोल ने महत्वपूर्ण भाग लिया था। कोई ऐसा समाज नहीं है, जिसमें ढोल न बजा हो। हिन्दू दार्शनिकता ने ढोल को रचनात्मक गतिविधि का प्रतीक माना। भगवान शिव ने ढोल को थाम कर प्रकृति को गति दी, जब कि उनके बाएँ हाथ में विद्यमान अग्नि विनाश की प्रतीक है। बौद्धों ने अपने संघों में ढोल के पीटने पर महत्व दिया। ब्राह्मणों ने भी देव मन्दिरों में धार्मिक कृत्यों के अवसर पर ढोल के बजाने का क्रम रखा। प्रार्थना के समय ढोल बजाया गया। बुगल, भेरी तथा शहनाई का उपयोग पर्वतीय क्षेत्रों में अधिक हुआ। ईश्वर को जगाने में समाज ने ढोल का ही उपयोग किया।

ढोल का उपयोग राजनीतिक क्षेत्र में भी हुआ। ढोल पीट कर राज संदेश प्रजा तथा शत्रुओं को पहुँचाया जाता था। ढोल बजा कर बागियों को खबरदार किया जाता था। ढोल पीटते ही सेना कूच करती थी। जिस सेना का ढोल नहीं बजता, उसकी हार प्रकट होती थी।

भारतीय लोकतंत्र में पत्र स्वातंत्र्य

"समाचार-पत्र" की स्वतन्त्रता का अर्थ है कि देश में बिना किसी प्रतिबन्ध और सेंसर के संवादों का प्रकाशन। कानून की मर्यादा के अन्तर्गत शासन तथा अन्य किसी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना लेख, आलोचना और टीका टिप्पणियों का प्रकाशन हो। अतः जनता का यह नैतिक अधिकार है कि वह सरकारी नियन्त्रण और हस्तक्षेप के बिना समाचार-पत्र के माध्यम द्वारा सार्वजनिक हितों के संवाद और विचार प्राप्त करे।

पत्र-स्वातन्त्र्य, जिसे फोर्थ स्टेट कहा जाता है, लोकतन्त्र की आधार शिला है। लोकतन्त्रीय समाज अपने सदस्यों से यह चाहता है कि वे अपने समाज, नगर तथा राष्ट्र की समस्यायों के प्रति क्रियाशील बनें। उनके हल करने में वे बुद्धिमत्तापूर्वक भाग लें। लोकतन्त्र का यह सब से महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि प्रत्येक नागरिक अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने में समर्थ हो और उसे समस्त बातें अवगत हों।

लोकतन्त्र समाज सच्ची और सही घटनाओं का विवरण चाहता है। वह उनके आधार, तत्व और कारण आदि जानना चाहता है और उन पर विवाद तथा मत जानने के लिए भी एक स्रोत चाहता है, अर्थात् वह एक ऐसा माध्यम चाहता है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति तथा दल अपने विचार प्रकट कर सके और अपने दृष्टिकोणों को प्रतिपादन कर सके। इन सब आवश्यकताओं की पूर्त्ति की जिम्मेदारी अधिकतर समाचार-पत्रों पर है। यद्यपि विगत वर्षों में इस दिशा में अन्य साधनों ने भी स्थान लिया है, किन्तु रेडियो और ब्राडकास्टिंग की अपनी अपनी सीमाएँ हैं। अतएव, इन सब साधनों के विकसित होने पर भी राष्ट्र के जीवन में पत्र पत्रिकाओं का स्थान सर्वोपरि है।

कुछ देशों में पत्रों की स्वतन्त्रता को विधान द्वारा स्वीकार किया गया है। अमेरिका के विधान में यह पहला संशोधन किया गया कि "कांग्रेस पत्र स्वातन्त्र्य में हस्तक्षेप के प्रति कोई कानून न बनाएगी।" इस स्वातन्त्र्य के तत्व को आगे चल कर संघीय विधान के चौदहवें संशोधन द्वारा पुनः स्वीकृत किया गया। ग्रेट-ब्रिटेन में विक्टोरिया के शासन में समाचार पत्र की व्यवस्था राज्य नियन्त्रण में थी। पर ज्यों-ज्यों इंगलैण्ड में लोकतन्त्र का विकास हुआ, समाचार-पत्रों को प्रगतिशील स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। आज ग्रेट-ब्रिटेन में प्रभावशाली स्वतन्त्र विचार के पत्र हैं और उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है।

एकाधिकार शासन वाले देशों में पत्र अपनी कोई आवाज नहीं रखते हैं। वे केवल राज्य द्वारा प्रभावित और राज्य द्वारा गठित संवादों का प्रसार करते हैं। रेडियो तथा अन्य स्रोतों पर शासन का नियन्त्रण होने के कारण उन्हें पूरे संवाद भी नहीं मिलते। इतना ही नहीं, शिक्षा का क्षेत्र भी राज्य के प्रचार का माध्यम बनता है। इस स्थिति को स्वतन्त्र जगत् में असह्य माना जाता है। पर इसकी एक दूसरी स्थिति भी है। जो राज्य अपने लक्ष्य में निर्विरोध तेजी से बढ़ना चाहे, और यह सोचे कि उसकी प्रगति के मार्ग में कोई रोड़े न खड़े हों तो उसके लिए यह व्यवस्था अनिवार्य है। एकाधिकारपूर्ण राज्यों में यह निर्णय लोकहित की दृष्टि से माना जाता है। संयोजित राजनीतिक व्यवस्था में राज्य का राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी स्रोतों पर नियन्त्रण होता है। अतएव, संयोजित शासन व्यवस्था किसी भी क्षेत्र में स्वतन्त्रता के अपहरण का कारण नहीं मानी जाती। इस प्रकार की व्यवस्था अविकसित, विशृंखलित और पिछड़े हुए देशों के लिए भी आवश्यक मानी गयी है। इस व्यवस्था से पिछड़े हुए देश तेजी से अपने लक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ होते हैं।

लोकतन्त्रीय देशों में जनता के स्वत्वों और अधिकारों की गारण्टी पत्रों की स्वतन्त्रता में निहित है। वे देश की स्वतन्त्रता के सभी अवयवों की रक्षा करते हैं। पर यदि उन पर रोक लगाई जाएँ और उनके गले में रस्सी डाली जाए, तो उससे यह स्पष्ट प्रकट होगा कि जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया। १७६६ में ब्लेकस्टोन ने कहा था, 'समाचार पत्र की स्वतन्त्रता स्वतन्त्र-राज्य के लिए अनिवार्य है।' जस्टिस जार्ज सदरलण्ड ने लूसानिया के फैसले में कहा था—'स्वतन्त्र समाचार-पत्र शासन और जनता के मध्य में विचारों का समन्वय करने वाले सब से महान् साधन हैं। अतः उन्हें बेड़ियों से जकड़ना देश और राष्ट्र को बेड़ियों से जकड़ना है।'

ब्रिटिश शासन काल में भारतीय समाचार-पत्र अंगरेजों की बेड़ियों में जकड़े हुए थे। पर इस बन्धन के बीच में भी समाचार-पत्रों ने स्वतन्त्रता का युद्ध लड़ा और जीता। उस काल में देश के महान् लोकनायकों ने पत्रों का सम्पादन किया। उनमें लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, मोतीलाल घोष, गणेशशंकर विद्यार्थी आदि हैं। केसरी, मराठा, यंग इण्डिया, अमृत बाजार-पत्रिका और प्रताप आदि पत्रों ने जहाँ स्वतन्त्रता का युद्ध लड़ा, वहाँ उनके सम्पादकों ने पत्रकारों के जीवन का आदर्श भी प्रकट किया। उन्होंने पत्रों की स्वतन्त्रता, निर्भीकता, मर्यादा और पत्रकारिता का लक्ष्य निरधारित किया। इन युवा और वृद्ध पत्रकारों ने देश के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग किया।

लोकमान्य बड़े तेजस्वी पत्रकार थे। उनके सहयोगी श्री नरसिंह चिंतामणि केलकर थे। केसरी के लेखों पर लोकमान्य तिलक पर बम्बई हाईकोर्ट में ऐतिहासिक मुकद्दमा चला। लोकमान्य ने जस्टिस डावर को बड़े आड़े हाथों लिया। अदालत ने यह कहा कि 'क्या तिलक यह नहीं जानते कि वह न्यायाधीश के सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति के सामने खड़े हैं।' इस पर लोकमान्य ने हाइकोर्ट में सिंह के समान गर्जना करते हुए कहा।

उन्होंने कहा—'न्यायाधीश तो इंगलैण्ड के उस राजा द्वारा मनोनीत किया गया है जिसे प्रजा गद्दी पर बिठाती है, किन्तु पत्रकार 'स्वनिर्मित राजा' (Self appointed king) है। उसकी स्थिति न्यायाधीश से कहीं अधिक श्रेष्ठतर है।' लोकमान्य के इन उद्‌गारों से देश में पत्रकार का दर्जा प्रकट हुआ था। लोकमान्य राजनीति में अनेक सूत्रों के निर्माता थे। जिस प्रकार उन्होंने स्वराज्य के सम्बन्ध में कहा कि 'स्वराज्य उनका जन्मसिद्ध अधिकार है और वे उसे प्राप्त करके रहेंगे।' उसी प्रकार उन्होंने पत्रकार को 'स्व-प्राधान्य स्थापित राजा' कहा।' लोकमान्य के इन वाक्यों से जज को चेतना हुई।

इसके बाद महात्मा गांधी पर 'यंग इण्डिया' के लेखों पर मुकद्दमा चला। यद्यपि गांधीजी ने लोकमान्य के समान बहस नहीं की, किन्तु उन्होंने अदालत में जो वक्तव्य दिया, उससे पत्रकार का महत दर्जा प्रकट हुआ। पत्रकार के कन्धों पर जनता के प्रतिनिधित्व की सच्ची जिम्मेदारी है। तिलक और गांधी ने पत्रकारिता का आदर्श प्रकट कर भारतीय समाचार-पत्र की स्वतन्त्रता और मर्यादा का उच्च स्तर प्रकट किया।

गणेशशंकर विद्यार्थी ने पत्रकार की नैतिकता का जो आदर्श प्रकट किया उसे देश के बिरले ही पत्रकार प्रकट कर सके। केलकर और गणेशशंकर विद्यार्थी देश के चरित्रवान पत्रकारों में थे। केलकर ने नरेशों के चेक फ्रेमों में मढ़वा दिए और गणेशशंकर ने ग्वालियर नरेश के सहस्रों रुपए से भरे थाल को यह कह कर लौटा दिया कि इससे उनका 'प्रताप' नष्ट हो जाएगा। इसप्रकार अनेक पत्रकारों ने देश की राज-नीतिक और सामाजिक हलचलों में भाग लिया। अंगरेजों के प्रस्थान की अन्तिम घड़ियों तक भारतीय पत्रों पर बन्दिशें रहीं।

पत्रों की स्वतन्त्रता के अपहरण का बड़ा लम्बा इतिहास है। १८७८ में प्रथम बार 'देशी समाचार-पत्र कानून' स्वीकृत हुआ था, जो अन्त तक जारी रहा। इसके उपरान्त समय-समय पर अन्य कठोर कानूनों की रचनाएँ हुईं। सन् १९०८ में समाचार-पत्रों द्वारा उत्तेजना देने के अपराध का कानून, १९१० का समाचार-पत्र कानून, १९२२ भारतीय रियासतों के लिए कानून, १९३१ भारतीय समाचार पत्र

कानून, १९२३ सरकारी गोपनीयता कानून, १९३२ विदेशी नियन्त्रण कानून, १९३४ देशी राज्य संरक्षण कानून और प्रादेशिक सुरक्षा कानून के सिवा पत्रों के सर पर फौजदारी कानून की राजद्रोह की धाराएँ भी सवार थीं।

विदेशी शासन ने भारतीय पत्रों को इस तरह जकड़ा कि वे श्वांस न ले सकें। इन सब घने अंधकार के दिनों में देश के अनेक कर्मवीरों ने पत्रकारिता ग्रहण की। उन्होंने अपने स्वल्प साधनों से पत्रों का निर्माण किया। पत्रों के संचालन में उनकी कठिनाइयों का आज अनुमान नहीं किया जा सकता है। एक महाराष्ट्रीय पत्रकार सखाराम देउसकर ने बंग भाषा में प्रथम पत्र को जन्म दिया था। उन्होंने ही हिन्दी में 'बड़ा बाजार गजट' कलकत्ते से निकाला था, जिसे वे छाप कर, घर घर जाकर लोगों को सुनाते थे। इन पत्रकारों का साहस, निर्भीकता और आदर्श अनुपम था। तब आजके धनियों द्वारा संचालित पत्रों का अस्तित्व न था। उस समय पत्रों से निरंतर जमानतें माँगी जातीं और वे जब्त होतीं, प्रेस जब्त होते, उनके सम्पादकों को जेलों में ठूँसा जाता, संवादों पर कड़े सेंसर बैठाए जाते और उनके प्रचार पर नियन्त्रण लगाए जाते। अतः ब्रिटिश काल में समाचार-पत्रों के दमन की वीभत्स कहानी है। इतने पर भी पत्रकारिता के क्षेत्र के दीवाने पत्रकारों ने सूखे चने चबा कर, अपने परिवारवालों को भूखों मार कर जिस साधना और तपस्या से पत्रों का संचालन किया, संसार में कहीं उसकी कोई मिसाल नहीं है। कदाचित् उस समय यदि आज के धनियों के पत्र होते, तो स्वतन्त्रता के युद्ध की गाड़ी बैठ गयी होती। देश के जागरण में पत्र न बढ़ पाते। मगर पत्रकारों का एक महान् सम्बल था और वह था जनता का। उसके बल पर वे न तो धनियों के आगे झुके और न सामंतों के आगे और न विदेशी शासन-सत्ता के आगे।

परन्तु देश के स्वतन्त्र होने के पूर्व कुछ उद्योगपतियों ने अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए कई चलते हुए पत्र खरीदे और कई नए पत्रों को जन्म दिया। एक दो उद्योगपतियों के पास पहले से ही शृंखलाबद्ध पत्र थे। मगर देश के स्वतन्त्र होने पर यह होड़ सी लग गयी और बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने पत्रों पर अपना प्राधान्य जमाना शुरू किया। उन्होंने पत्र संचालन को औद्योगिक रूप दिया और उनके निर्माण में लाखों रुपए की पूंजी लगाई। इन जबरदस्त संगठनों के आगे साधारण लोगों का पत्र निकालना स्वप्नवत् हो गया। इन धनियों के मोटे ताजे सचित्र पत्रों के आगे साधारण पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन एक समस्या बन गयी। इन धनी मालिकों की व्यवस्था में उनके फौलादी ढाँचों के नीचे पत्रकारों को मस्तक झुका कर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस नयी व्यवस्था में अतीत का आदर्श कतई मिट गया। आज पत्रकार की कोई नीति नहीं, कोई आवाज नहीं, कोई लक्ष्य नहीं है, जो कुछ लक्ष्य व ध्येय है वह उनके स्वामियों का। उनके निर्देश ही पत्र और पत्रकार की आवाज हैं। आज पत्रों का संचालन उनके मालिकों के आर्थिक हितों के लिए होता है और पत्रकार को उनके स्वर में अपना स्वर मिलाना पड़ता है।

अतीत में भी धनियों के कुछ पत्र थे, पर देश में पूंजीवाद का प्राधान्य न होने के कारण पत्रकारों का प्रभाव बना हुआ था। फिर अधिकांश पत्र पत्रकारों द्वारा स्वतन्त्र रूप में भी संचालित होते थे। यह वह समय था जब धनीवर्ग पत्रकारों के आगे काँपता था। उस समय किसी की शक्ति न थी कि पत्रकारों को हटाए। नीति सम्बन्धी मतभेद संचालक से होने पर पत्रकार स्वयं पत्र छोड़ देते थे। पर आज पत्र संचालन ने चीनी और कपड़े के 'उद्योग' का सा रूप ग्रहण कर लिया है और उसकी नीति तथा सचालन का सारा सूत्र उनके संचालकों के अधिकार में है। इस अवस्था में उद्योगों के मजदूरों के समान ही पत्रकारों की स्थिति है। अतएव, जब पत्र प्रकाशन एक उद्योग बन गया और उनसे धनिकों के भारी लाभ के साथ साथ उनके अन्य आर्थिक हितों की भी पूर्ति होने लगी, तब पत्रकार, के लिए आदर्श और मिशनरी जीवन की कल्पना करना संभव नहीं रहा। उन्होंने भी सरकार से कहा कि उनके आर्थिक हितों के लिए उनकी माँगें ट्रेड यूनियन के मजदूरों के समान पूरी की जाएँ। सरकार को पत्रकारों की इस स्थिति को मानना पड़ा। यह इसलिए किया

गया कि पत्रों में उनका स्थायित्व कायम रहे, उनका शोषण न हो और जब चाहे तब संचालक उन्हें निकाल न सकें। पत्रकारों की अपनी आन्तरिक स्थिति आज नगण्य है। एक पत्रकार के निकाल देने पर पत्र की व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। पर किसी उद्योग में एक अपराधी मजदूर को हटाना उद्योग-पतियों के लिए सम्भव नहीं है। पत्रकारों में संगठन की क्षमता नहीं है। यह स्थिति अत्यन्त क्षोभजनक है। पत्रों के मालिकों ने नेताओं को सम्पादक या डाइरेक्टर बना कर पत्रकार संगठनों को निर्जीव बना दिया है, क्योंकि ये सम्पादक या डायरेक्टर उन पर अपना प्रभाव रखते हैं।

भारत के स्वतन्त्र होने पर लोकतन्त्र का सिद्धान्त प्रयोग में आया। जनता और शासन के बीच का प्रतिरोध मिट गया। सरकार और पत्रों के बीच में एक नया अध्याय खुला। अतएव, पत्रों ने माँग की कि कि सरकार पत्रों के कानूनों की जाँच करे और उनसे उन्हें मुक्त करे। १९४७ में जो जाँच समिति नियुक्त हुई थी, उसने समाचार पत्रों के कानूनों में आवश्यक परिवर्तनों के सुझाव दिए। उसने कहा कि १९३१ का भारतीय समाचार पत्र विशेषाधिकार, कानून रद्द कर दिया जाए। १९३४ का राज्य संरक्षण कानून भी हटा दिया जाए और अन्य कानूनों में अमुक-अमुक परिवर्तन किए जाएँ। इसके सिवा प्रादेशिक सरकारों द्वारा समाचार पत्र परामर्शदात्री मशीनरी का निर्माण हो और राज्य सरकारें उनसे सहयोग तथा परामर्श के बिना पत्रों के विरुद्ध कोई कार्रवाई न करें।

भारतीय संविधान में भाषण और विचार की स्वतन्त्रता दी गई है, किन्तु उसमें सोवियत रूस तथा अमेरिकन विधानों के अनुसार पत्रों की स्वतन्त्रता का कोई उल्लेख नहीं किया गया। सम्भवतः यह खयाल किया गया कि विचार स्वातन्त्र्य में समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता भी आ जाती है। भारतीय संसद में यह बताया गया कि संविध.न में भ.षण और विचार स्वातन्त्र्य के अन्तर्गत पत्रों की स्वतन्त्रता भली-भाँति सुरक्षित है। पर यह भी कहा गया कि एक साधारण नागरिक की अपेक्षा पत्रकार तथा पत्र न तो अपने लिए ऊँचे अधिकारों का दावा कर सकता है और न उसे करना ही चाहिए। यह भी कहा गया कि यदि संविध.न में पत्र-स्वातन्त्र्य का उल्लेख किया गया तो उससे पत्र की स्वतन्त्रता मर्यादित हो जाएगी और उसकी महत्ता न रहेगी। पर संविधान के निर्माण के उपरान्त पत्रों ने अनेक कानूनों को अदालतों में चुनौती दी, जिससे कई कानून गैर-कानूनी क़रार दे दिए गए। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार और पत्रों के बीच में कानून सम्बन्धी गहरी दरार पड़ गई। इसलिए सन् १९५१ में संसद में प्रधान मन्त्री ने संविधान में स्वातन्त्र्य और विचार के सम्बन्ध में संशोधन का प्रस्ताव पेश किया। संविधान की धारा १९, २, के अन्तर्गत ये सीमाएँ थीं : १, मान हानि, अपराध और व्यवहार की मर्यादा २, अदालत का अपमान, ३, राज्य की सुरक्षा और नैतिकता आदि। पर नए संशोधननों द्वारा क्लाज १ का (उप-क्लाज) 'क' इसप्रकार परिणत हुआ कि भाषण और विचार का कोई कार्य देश के वर्तमान कानूनों के प्रयोगों पर रुकावटें डालनेवाला न होगा और न वह राज्य को किसी कानून की रचना करने में कोई रोक ही लगा सकेगा। उप-क्लाज 'क' में अपराध करने के लिए उत्तेजना देना, मानहानि, अदालत का अपमान, विदेशी राज्यों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध में बाधा डालना, सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता तथा मर्यादापूर्ण व्यवहार और राज्य की सुरक्षा के हित में जो रुकावटें डालनेवाले कार्य होंगे, उन सब के लिए कानून द्वारा उचित प्रतिबन्ध लगाए जा सकेंगे। इसप्रकार उप-क्लाज में कई नई बातों का समावेश हुआ।

इस संशोधन की स्वीकृति के समय पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संसद् में यह प्रकट किया कि सरकार का लक्ष्य व्यक्ति तथा समाचार-पत्र की स्वतन्त्रता का अपहरण करना नहीं है। इस नई व्यवस्था द्वारा संसद के अधिकारों का केवल स्पष्टीकरण किया गया है। समाचार-पत्रों में आए दिन जो गैर-जिम्मेदार लेख प्रकाशित होते हैं, उनसे भारत के विदेशी राष्ट्रों के बीच में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को खतरा पहुँचता है। इसके सिवा सार्वजनिक व्यवस्था और अपराधों के लिए उत्तेजना देने के सम्बन्ध में अदालत के नए निर्णयों के कारण सरकार को संविधान में इन संशोधनों को स्थान देना पड़ा है। अन्यथा; संविधान में भाषण और विचार के नाम

पर इतनी अधिक स्वतन्त्रता दे दी गई है कि कोई व्यक्ति किसी की हत्या करने की उत्तेजना देने पर भी अपराधी नहीं ठहरता है। व्यक्ति तथा पत्र की इसप्रकार की स्वतन्त्रता सही नहीं जा सकती। अमेरिकन संविधान में भी विचार स्वातन्त्र्य के अन्तर्गत व्यक्ति तथा पत्र के अधिकारों की सीमाएँ रखी गई हैं।

पर इससे भारतीय पत्रों को कोई संतोष न हुआ। पत्रों ने संविधान में इस संशोधन को भारतीय जनता की स्वतन्त्रता के लिए खतरा और विश्वासघातपूर्ण कार्य माना। उन्होंने कहा कि सरकार ने संविधान के महत सिद्धान्त पर पानी फेर कर पुराने दमनकारी कानूनों को जीवित कर दिया। मगर प्रधान मन्त्री ने इन आरोपों को नहीं माना। उनका कथन था कि लोकतन्त्र की प्रक्रिया को कोई खतरा न पहुँचे, इस लक्ष्य से यह मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण किया गया है। पूँजीवादी पत्र और सनसनी फैलानेवाले गैर-जिम्मेदार पत्रों के कारण समाचार-पत्रों का स्तर गिरता जा रहा है। उससे रक्षा पाने का यह एक उपाय है। मगर पत्रकार सम्मेलन ने यह घोषित किया कि सरकार ने नए सिरे से पत्रों को बेड़ियाँ पहनाईं। इसके उपरान्त ३१ अगस्त १९५१ को सरकार ने 'समाचार-पत्र' अनुचित विषय प्रकाशन विधेयक पेश किया, जो साधारण संशोधन के उपरान्त स्वीकृत हुआ। इस कानून के स्वीकृत होने पर संवादों के पूर्व सेंसर होने की व्यवस्था मिट गई। अधिकारियों द्वारा पत्रों से जमानतें माँगने के सम्बन्ध में नई व्यवस्था दी गई। अधिकारियों की अपेक्षा सेशन-जज को जमानतें माँगने तथा जब्त करने का अधिकार दिया गया। हाईकोर्ट में अपील करने के अधिकार की भी छूट दी गयी। जमानत वापस करने की भी व्यवस्था दी गई, यदि दो वर्ष की अवधि तक पत्र पर कोई कार्यवाही न हुई हो।

इस कानून की कुछ बातें उल्लेखनीय हैं, अर्थात् कोई पत्र लोगों को उत्तेजना देने या भड़काने वाली चीजें न छापे, शासन को हिंसा तथा तोड़-फोड़ के प्रयत्नों से उखाड़ने या गिराने की कोशिश न करे। पत्रों में ऐसी चीजें न छपें, जिनसे लोगों को हिंसा, हत्या और तोड़-फोड़ करने में उत्तेजना या प्रोत्साहन मिले। भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों में शत्रुता, घृणा और नफरत पैदा करनेवाली चीजें भी न छपें। सेना और पुलिस को बरगलाने तथा भड़कानेवाले विषय भी पत्रों में स्थान न पाएँ। खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करने और उनके आमद-रफ्त तथा अन्य सेवाओं को रोकने के लिए पत्रों में लोगों को उत्तेजनाएँ न दी जाएँ। इसके सिवा पत्र अवांछनीय, वीभत्स और गन्दे विषय प्रकाशित न करें। पर साथ ही यह भी कहा गया कि सरकार 'भारत के एटर्नी जनरल या राज्यों के प्रधान कानूनी अधिकारी या एडवोकेट जनरल से परामर्श करने और प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के उपरान्त किसी प्रकाशन को जब्त कर सकेगी।

मगर भारतीय पत्रों के लिए संविधान के अन्तर्गत भाषण और विचार स्वातन्त्र्य की परिधि में अदालत के अपमान का भी कानून है। इस सम्बन्ध में कई बातें विचारणीय हैं। लार्ड हार्डविन ने 'अदालती अपमान' विषय के तीन अंश प्रकट किए हैं अर्थात् अदालत में दुर्व्यवहार करना, मामले की पार्टियों को चिढ़ाना, या गलतफहमी पैदा करना और मामले के फैसले के पूर्व इसप्रकार विचार प्रकट करना, जिससे न्याय पूर्ण फैसला न हो सके। एक दूसरे अधिकारी विचारक लार्ड रसेल ने कहा कि 'जिस लेखन या प्रकाशन से अदालत का अपमान हो, उस पर कोई दोष लगता हो, या उसका दर्जा गिरता हो, तो वे सब कार्य अदालत के अपमान में आते हैं।' पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अनेक कानूनवेत्ताओं का यह स्पष्टमत है कि न्यायाधीश के निर्णय सार्वजनिक आलोचना से परे नहीं हैं। यदि अदालत के निर्णयों की उचित आलोचनाएँ हों, तो उन्हें अपनी हतक न समझनी चाहिए और न लज्जित होना चाहिए। अमेरिका के कानून अदालत और उसकी कार्यवाहियों की उचित आलोचना के लिए छूट देते हैं। समाचार पत्रों के सम्पादक कानून के जानकार नहीं होते और अदालतें उनके कार्यों पर तभी हाथ उठाने का अधिकार रखती हैं, जब कि उन्हें सार्वजनिक न्याय के हित में कार्रवाई करना आवश्यक प्रतीत हो। ब्रिटिश पार्लमेण्ट में लार्ड रसेल ने साफ मना किया कि न्यायाधीश और अदालतों की आलोचना विचारपूर्ण शर्त द्वारा की जा सकती है।

मगर भारतीय समाचार पत्र अदालतों की आलोचना नहीं कर सकते। इस अपराध पर देश में कई प्रसिद्ध पत्रों पर जब तब मुकद्दमे चले, जिनमें सन् १९२४ में नरसिंह चिन्तामणि केलकर का मुकद्दमा अत्यन्त विख्यात है। इसके सिवा भारतीय पत्रों के लिए एक और रुकावट है। अदालतों के समान राज्यों की विधान सभाएँ भी किसी व्यक्ति को अपने अपमान के लिए दंड देने का अधिकार रखती हैं। जनता के प्रतिनिधित्व की सब से बड़ी अदालत होने के कारण वे उस व्यक्ति को दंड देने का अधिकार रखती हैं जो विधान-मण्डल या उसके अध्यक्ष के अपमान करने का साहस करे। विधान की १९४ वीं धारा के अन्तर्गत राज्यों की विधान सभाएँ ग्रेट ब्रिटेन की पार्लमिण्ट के अधिकारों के समान अपने अधिकारों को प्रकट करने के लिए कानून बनाने का अधिकार रखती हैं।

लोकतन्त्र राज्य शासन में एक साधारण व्यक्ति के समान, पत्र भी देश के आम कानून के अन्तर्गत आते हैं। कलकत्ते के एक दंगे में पीड़ित पत्रकारों के सम्बन्ध में बंगाल सरकार एक न्यायाधीश की अध्यक्षता में जो ट्रिब्यूनल नियुक्त किया था, उसने यह स्पष्ट निर्णय दिया कि 'किसी भी सार्वजनिक स्थान पर पत्रकार एक साधारण व्यक्ति की अपेक्षा पुलिस तथा अधिकारी वर्ग से किसी विशिष्ट व्यवहार की आशा नहीं कर सकते। पत्रकार और आम नागरिक दोनों की स्थिति समान है।' इस दृष्टि से सन् १९१४ और सन् १९२३ में प्रिवी-कौंसिल में जो मामले पेश किए गए थे, उनके विचार के समय न्यायाधीशों ने यह प्रकट किया था कि 'समाचार-पत्रों को विशेष अधिकार होने के सम्बन्ध में एक पुरानी सड़ी गली विचारधारा पत्रकारों में बनी हुई है। किन्तु पत्रकार की स्वतन्त्रता जनता की स्वतन्त्रता का एक साधारण अंग है। अतएव, जनता की स्वतन्त्रता जिस हद तक विस्तार पाती है उसी सीमा तक पत्रकार की स्वतन्त्रता है। इसप्रकार कानून के अन्तर्गत पत्रकार कोई विशेष अधिकार या सुविधा नहीं रखता है।' इतने पर भी पत्रकार जनता में सम्मान का स्थान रखते ही हैं। यह राज्य का कार्य है कि पुलिस, अधिकारी वर्ग और अदालतों में उनके पद की मर्यादा कायम करे।

यदि पत्रकारों को अधिक अधिकार प्राप्त हैं, तो उनके कन्धों पर भारी जिम्मेदारियाँ भी हैं। समाचार पत्रों का समाज के प्रति महान् कर्त्तव्य है। समाचार-पत्र की स्वतन्त्रता पर अमेरिकन कमीशन ने यह कहा कि उन पर देश की प्रति दिन की घटनाओं का विस्तारपूर्वक सत्य विवरण देने का महान् भार है। वे इन विवरणों को इस कुशलता से दें कि उनका पूरा सही अर्थ निकले। पत्र आलोचना और सम्मति के विनिमय का कार्य एक संस्था के रूप में करें। पत्रों का कर्त्तव्य है कि वे समाज के विभिन्न दलों के रुखों पर समाचार देने का साधन बनें। समाचार-पत्र वही है, जो अपनी नीति को कायम रखते हुए सभी विचारों के संवाद तथा मतों को स्थान दे तथा सब पक्षों को उनके एक अंग के रूप में निर्देश करे। जो पत्र इस पथ पर अग्रसर नहीं होते, वे समाचार-पत्र कहलाने के अधिकारी नहीं, उन्हें केवल दल विशेष का पर्चा कहा जा सकता है, भले ही वे विशालकाय मोटे ताजे निकलते हों।

एक नागरिक का कथन कुछ व्यक्तियों तक ही प्रभाव डालता है। एक वक्ता अपने श्रोताओं को अपनी ओर खींच सकता है, किन्तु पत्र अपने विस्तृत प्रचार द्वारा देश और विदेश की जनता पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ होते हैं। अतः वे अपने विचारों से समाज को चाहे जिस मार्ग पर ले जाने की अतुल शक्ति रखते हैं। इसलिए एक साधारण व्यक्ति की अपेक्षा पत्र और पत्रकार का स्थान तथा जिम्मेदारियाँ कहीं श्रेष्ठ हैं। वे ऐसी शक्ति हैं, जिनके आगे शासन को झुकना पड़ता है। आज के युग में समाज और राज्य का संचालन समाचार-पत्रों के नेतृत्व पर निर्भर है। देश में शासन व्यवस्था सुसंचालित होने के लिए राज्य तथा अधिकारी-वर्ग के लिए पत्रों का सहयोग अनिवार्य है। वे ऐसी तोपें हैं, जो राज्य और समाज का उलट-फेर कर सकती हैं। पत्रों में सनसनीदार चीजें तथा गुमराह करनेवाले शीर्षक तथा भड़कानेवाले संवाद, द्वेषपूर्ण विज्ञप्तियाँ, काल्पनिक घटनाओं का प्रकाशन तथा तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर देना या सार्वजनिक संगठन, संस्थाओं, समाज, व्यक्तियों तथा अधिकारियों पर दोषारोपण लगाना, उन्हें नीचा दिखाना, बदनाम करना और मिथ्या आरोप

लगाना आदि चिंतनीय कार्य हैं। लोकतन्त्र व्यवस्था में पत्र स्वातन्त्र्य के साए में इन चीजों के छापने वाले पत्र फलते-फूलते हैं। वे यह कब सोचते हैं कि मर्यादा के अन्दर अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग करें? इस सम्बन्ध में वाल्टर विलयम का कथन है :—'सार्वजनिक पत्र एक सार्वजनिक ट्रस्ट हैं, और जो उसका संचालन करते हैं, उनके कार्यों की जिम्मेदारियाँ जनता के प्रति ट्रस्टी के रूप में हैं। अतः सार्वजनिक सेवा की मर्यादा से गिर कर वे ट्रस्ट के प्रति कोई विश्वासघात न करें।'

पर भारत में ऐसे पत्रों का अभाव कम नहीं है, जिन जिन्हें हम सनसनीदार पत्र नहीं कह सकते हैं, जो राजनीतिक भ्रष्टाचार, समाजद्रोही कार्य तथा अन्य कुत्सित प्रवृत्तियों और अनीतियों का अनुसरण नहीं करते हैं। भारत में आज कोई ऐसा प्रदेश नहीं है, जहाँ इस श्रेणी के पत्र न हों। लोकराज्य-व्यवस्था में वे देश और समाज के शत्रु हैं।

प्रोफेसर जाड का कथन है कि 'जिस सरकार के अधिकार में दमन करने की शक्ति है, और हम यह चाहें कि वह उसका उपयोग न करें, किन्तु जब देश में ऐसे पत्रों का प्रकाशन हो, तो सरकार के लिए यह कैसे सम्भव है कि वह उनके विरुद्ध कोई कड़ी कार्रवाई न करे। उसका कठोर कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे पत्रों का दमन करे जो समय असमय सरकार की आलोचना या विरोध करना ही अपना पेशा समझे। मंत्रियों की बातों को तोड़-मरोड़ कर दे, किस सिलसिले में उन्होंने भाषण दिए, उसका कोई उल्लेख न कर उनके किन्हीं अवतरणों या वाक्यों को छाप कर समाज को गुमराह करने में पीछे न रहे, किसी वक्तव्य की कुछ बातें ले लें और शेष सब छोड़ दें, जिससे मिथ्या धारणा पैदा हो, अर्थात् एक शब्द में यह कहा जाए कि वे पत्र अपने शस्त्रागार के कुटिल, कुविचार और दुराग्रह के सभी शस्त्रों को छोड़ें तो उस समय पत्र स्वातन्त्र्य के नाम पर यह कहना कठिनतर होगा कि राज्य अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है।' प्रो० जाड ने पत्रों का जो चित्र खींचा है, भारत में सम्प्रति ऐसे पत्रों का अभाव नहीं है। साम्प्रदायिक तथा जातीय पत्रों के सिवा राजनीतिक वर्गवादी पत्र विष वमन करने में पीछे नहीं हैं। लोकतन्त्र में लेखन स्वातन्त्र्य का यह सर्वथा दुरुपयोग है।

स्वनिर्मित अनुशासन भारतीय पत्रों में बल न पा सका, क्योंकि जिन पत्रों पर अनुशासन लगना चाहिए वे संगठनों के अन्तर्गत नहीं आए। यदि देश के सभी पत्र अनुशासन का पालन करते, तो भारतीय पत्रकारिता का स्तर ऊँचा उठ सकता था। चिकित्सकों के समान यदि भारतीय पत्रकार भी अपने आचरण और व्यवहार के लिए नियम बनाते और उस मर्यादा के भीतर चलते, तो वे देश में स्वस्थ वातावरण पैदा कर सकते थे। उस अवस्था में पत्रों की आवाज प्रभावशाली होती। यहाँ मतभेद और पक्ष विपक्ष का प्रश्न नहीं है कि जिसे मिटा दिया जाए और समाज को मूक बना दिया जाए बल्कि हरएक पत्र अपने मत और विचार को निर्भीकतापूर्वक प्रकट करे। किन्तु उसके लिए यह विचारणीय है कि वह उन संवादों को दे, जो सत्य हों। वह सत्य सवादों का विकृत रूप न दे। सभी विचार, मत और रुचियों के प्रकाशन में पत्र की गम्भीरता प्रकट हो। लेख, संवाद तथा शीर्षक देने में छिछोरापन या पगड़ी उछालने की हरकतें न हों।

भारत जैसा लोकतन्त्र राज्य पत्रों पर नियन्त्रण करने की बात नहीं सोच सकता। वह पत्रों को अधिक स्वतन्त्रता देने के लिए अग्रसर रहा है। यद्यपि इस देश में साम्यवादी पत्र 'जनता का लोकतन्त्र' और पत्र स्वातन्त्र्य का नारा लगाते हैं, किन्तु साम्यवादी देशों में भाषण और लेखन की कोई स्वतन्त्रता नहीं है। वहाँ पत्रों का सचालन राज्य के नियन्त्रण में होता है, यह एक कठोर सत्य है। सोवियत रूस में भाषण और लेखन स्वातन्त्र्य पर नियन्त्रण लगाने की विकृत परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हों या न हुई हों, किन्तु भारत उन विकृत परिस्थितियों का पात्र बना हुआ है। यह दुर्भाग्य है कि इस देश के लोगों ने विदेशों के विकृत चीजों को सदा अपनाया। जो कुछ हो, वस्तु स्थिति यह है कि लोकतन्त्र व्यवस्था में भारत की राष्ट्रीय सरकार ने अनेक पत्रों के निम्नतर आचरण होने पर भी, उन पर कभी कोई हाथ नहीं उठाया। यद्यपि स्वतन्त्र समाचार पत्रों के

लिए 'स्वतन्त्र व्यवस्था' सर्वप्रथम आवश्यक है, किन्तु राज्य के नियन्त्रण के अभाव में देश में स्वस्थ पत्रकारिता के संचालन के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि पत्रकार स्वयं अपने पर नियन्त्रण लगाएँ। देश में ऐसी संस्था की आवश्यकता है, जो पत्रों का साहसपूर्ण प्रतिनिधित्व कर सके, उन्हें निर्देश दे सके, और सनसनीदार चीजें छापनेवाले तथा गुमराह करनेवाले पत्रों की भर्त्सना करें और उन्हें कोई सहयोग न दे। समाचार पत्र अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न करें। इस ओर पत्रकार संस्थाओं का ध्यान जाना चाहिए।

आज यह आवश्यकता है कि नए पत्रों के प्रकाशन के लिए पत्रकारों के सहकारी संगठन तथा पब्लिक ट्रस्ट निर्मित हों, जिनकी व्यवस्था में उनका प्रकाशन हो। यह होने पर ही पत्रकारों का दर्जा ऊँचा उठेगा। आज पत्रों में काम करनेवाले पत्रकार मजदूरों के समान अपना संगठन करते हैं और उन्हीं के समान अपने अधिकारों की माँगें करते हैं। इन सब स्थितियों से वे परे हो जाएँगे, यदि देश में सहकारी तथा ट्रस्ट संगठनों द्वारा नए पत्रों का सर्वत्र प्रकाशन हो। उस अवस्था में पत्रकारों का जीवन स्वयं स्वाभिमानी हो उठेगा और मिशनरी जीवन का निर्माण होगा। तब वे स्वयं नीति निर्धारण करने और देश का नेतृत्व करने में समर्थ होंगे। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इन पत्र पत्रिकाओं को संरक्षण प्रदान करे। पत्र प्रकाशन के ट्रस्ट तथा सहकारी संगठनों को सब चीजें सस्ते मूल्य में प्राप्त हों, और यदि सरकार ऋण दे तो नए पत्र देश में पनप सकते हैं। इन प्रयत्नों से पूंजीवादी व्यवस्था के बलशाली पत्रों का प्रकाशन क्षीण पड़ जाएगा। कहना न होगा कि तभी देश में पत्र हमारे राष्ट्र का मंगलमय निर्माण करने में समर्थ होंगे।

—जी० एस्० पथिक

इति

